वाजसनेयि-माध्यन्दिन
शुक्लयजुर्वेद-संहिता

करपात्र भाष्य-समन्विता

प्रणेतारः

अनन्त श्री विभूषिताः स्वामिकरपात्र महाराजाः

प्रथमोऽध्यायः

भाषानुवादकः

डा० पं० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकरः

मीमांसा वेदान्त साहित्याचार्यः एम. ए. पी-एच. डी.

प्रकाशक :

श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थानम्

कलकत्ता • वृन्दावनम्

श्रीवृन्दावनम् प्रथम संस्करणम् विजया दशमी २०४३ वि०

प्रकाशक—

श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थानम्
कलकत्ता • वृन्दावनम्

मूल्य : पैंसठ रुपये (Rs 65/-)

अस्य ग्रन्थस्य सर्वेऽधिकाराः
राजकीय नियमानुसारेण सुरक्षिताः

पुस्तक प्राप्तिस्थानम्

१। राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पैंट्रो कैमिकल्स लिमिटेड
११३, पार्कस्ट्रीट, साततल्ला, कलकत्ता -700016

२। राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
ब्रह्मकुटीर, डी० २५/१८ नारद घाट
वाराणसी (उ० प्र०)

३। राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
धर्मसंघ विद्यालय रमणरेती, वृन्दावन
मथुरा (उ० प्र०)

४। राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पैंट्रो केमिकल लिमिटेड
४०१/४०४ राहेजा सेण्टर
२१४, नारीमन पोइन्ट, बम्बई ४०००२१

मुद्रक—
श्रीहरिनाम प्रेस
हरिनाम पथ, वृन्दावन—२८११२१
दूरभाष : ४१५

Vajasaneyi-Madhyandin Shukla—Yajurveda—Samhita

(With the Karpatra Bhashya)

BY

Anant Shri Vibhushit Swami Karpatra ji Maharaj

Hindi Translation by

Memansacharya Dr. Pt. Gajanan Shastri

Memansa-Vedanta-Sahityacharya M. A., Ph. D.

PUBLISHER

Shri Radhakrishna Dhanuka Prakashan Sansthana

CALCUTTA ● VRINDABAN

All Rights reserved by the publisher

FIRST EDITION

Shri Vrindavana Vijaya Dashmi—2043

भूमिका

अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य-पूर्वाम्नायगोवर्द्धनमठपुरीपीठाधीश्वर

स्वामी श्रीनिरञ्जनदेवजी तीर्थ महाराज

वेदं वेदनिधिं विद्यां ब्रह्मविद्यां गणाधिपम्।
सरस्वतीं गुरून् सर्वान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥१॥
भूमिका स्वामिपादानां भाष्यस्येयं निगद्यते।
सारभूतैकविंशत्या विदुषां प्रीतिहेतवे ॥२॥
स्वस्वरूपस्थितिर्मोक्षो वेदस्यैकं प्रयोजनम्।
भगवद्भक्तियोगश्च द्वितीयं तत्प्रयोजनम् ॥३॥
अत्रावतारवादोऽपि बहुधा सम्प्रकीर्तितः।
मन्त्रोऽयं स्पष्टमेवाह 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' ॥४॥
शक्या एतादृशा मन्त्राः समुद्धर्तुं सहस्रशः।
सगुणत्वं भगवतः साकारत्वञ्च साधितुम् ॥५॥
कर्मकाण्डप्रवृत्तिश्च वेदोद्देश्यन्तृतीयकम्।
कर्मणामननुष्ठानात् चित्तशुद्धिः कथं भवेत् ॥६॥
कर्मोपासनबोधाख्यं त्रयं वेदेन बोध्यते।
कर्मभिश्चित्तशुद्धिःस्यात् भक्त्या चैकाग्रता भवेत्॥७॥
ततो ज्ञानेन मुक्तिः स्यादेष वेदस्य डिण्डिमः।
सायणाचार्यपादेन महीधरबुधेन च ॥८॥
विदुषा चोव्वटेनापि तथा व्याख्यानमीरितम्।
परं प्रयोजनं मोक्षो वेदस्यास्तीति निश्चितम् ॥९॥
अवान्तरं तथाप्यस्ति कर्मज्ञानं प्रयोजनम्।
यज्ञादीनि च कर्माणि प्रशस्तानि बुधैः सदा ॥१०॥
अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं श्रुति-स्मृति मतानि हि।
'तमेतं ब्राह्मणा' नूनं यज्ञेनेत्यादि वेदवाक् ॥११॥
ज्ञानेच्छायां नियोगं तु यज्ञादीनां ब्रवीति हि।
अतएव महाभागैस्सायणाद्यैः प्रकीर्तिताः ॥१२॥
वेदार्थास्ते समीचीना नान्यैरुक्ताः कथञ्चन।
इतिहासपुराणैश्च सूत्रवाक्यैस्तथैव च ॥१३॥
निरुक्तैः प्रातिशाख्यैश्च शिक्षाव्याकृतिभिस्तथा।
मन्वादिस्मृतिकारैश्च याज्ञिकार्थाः सुसम्मताः ॥१४॥

इदानीन्तनविद्वद्भिर्दयानन्दादिभिस्तु यैः ।
पाश्चात्यैरपि यैः कैश्चिद्भारतीयैस्तदाश्रितैः ॥१५॥
वेदार्था ये कृतास्ते वै न सत्या इति दर्शितम् ।
करपात्रमहाभागैस्ततो भाष्यं प्रकीर्तितम् ॥१६॥
अत्र सर्वोऽपि वेदार्थः समीचीन उदीरितः ।
शिक्षाव्याकृतिकल्पादिसम्मतोऽथ निरुक्तगः ॥१७॥
सर्वथानुमतः सत्य इतिहासपुराणगः ।
पूर्वैराचार्यवर्यैश्च मन्वादिस्मृतिभिस्तथा ॥१८॥
अनुमोदित एवार्थः स्वामिपादैः प्रकीर्तितः ।
एतेषां सर्वशास्त्राणां ज्ञानं येषां न विद्यते ॥१९॥
अज्ञात्वा भाष्यमेतत्ते खण्डनं कर्तुमुद्यताः ।
एतेनैव परास्तास्ते नोत्तरन्तेषु विद्यते ॥२०॥
व्यर्थन्ते खण्डनं कस्मात्कुर्वन्त्यविधिनोदिताः ।
इदन्ते किन्न जानन्ति स्यात्तु मोदकखण्डिका ॥२१॥

—श्रीनिरञ्जनदेवतीर्थ

वेद, वेदनिधि परमात्मा, वेद का ज्ञान करानेवाली अपरा विद्या, परब्रह्म का ज्ञान कराने वाली पराविद्या-ब्रह्मविद्या, विघ्नविनायक गणेश, सम्पूर्ण विद्याओं की अधिष्ठात्री भगवती सरस्वती और सर्वविधज्ञानों के स्रोत अपने सभी गुरुजनों को बार-बार प्रणाम करता हूं ॥१॥

विद्वानों की प्रसन्नता के लिये अनन्त श्रीधर्मसम्राट् ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्री जी महाराज द्वारा विरचित वेदभाष्य की सारभूता 'भूमिका' इक्कीस श्लोकों में लिख रहा हूं ॥२॥

'स्वरूप स्थिति मोक्ष का स्वरूप है'—जहाँ से कभी लौटकर नहीं आना पड़ता वही 'मोक्ष', वेदों का परम प्रयोजन अर्थात् प्रधान प्रयोजन है। 'मोक्षोपयोगी भगवद्भक्ति का लाभ' भी वेदों का अवान्तर-प्रयोजन है ॥३॥

इसी प्रसङ्ग में वेदों के मन्त्र और ब्राह्मण भाग में भगवद्भक्ति के अत्यन्त उपयोगी भगवान् के सगुण-साकार विग्रह और अवतार वाद का भी निरूपण है। **इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समढ़मस्य पा७ सुरे स्वाहा'** (शुक्ल यजुर्वेद संहिता ५. १५) इत्यादि अनेक मन्त्रों में भगवान् के वामन-अवतार का स्पष्ट प्रतिपादन उपलब्ध है ॥४॥

ऐसे और भी हजारों मन्त्र उद्धृत किए जा सकते हैं, जिनसे भगवान् के सगुण-साकाररूप स्वतः स्पष्ट सिद्ध हो जाते हैं ॥५॥

कर्मकाण्ड के विना भगवान् की भक्ति हो ही नहीं सकती, अतः कर्मकाण्ड में प्रवृत्त कराना भी वेद का गौण-उद्देश्य है। कर्मकाण्ड के विना चित्त-शुद्धि नहीं हो सकती, चित्त-शुद्धि के विना ज्ञान नहीं हो सकता। **'ज्ञानमुत्पद्यते पुसां क्षयात् पापस्य कर्मणः। यथाऽऽदर्शतले प्रख्ये पश्यत्यात्मान मात्मनि ॥** (महा० शान्ति० २०४. ८)', **'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥'** (कठो० १. २. २५) इत्यादि वचन-समूह से यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है 'कर्मकाण्ड का चित्त शुद्धि द्वारा ब्रह्म[illegible]सा में विनियोग है', इसी बात में **'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन'** (बृहदारण्य को० ४. ४. २२) इत्यादि श्रुति तथा **'स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्ययासुतैः। महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥** (मनु० २. २८) इत्यादि स्मृति-वचन प्रमाण हैं। 'कर्मकाण्ड से चित्तशुद्धि और भगवान् की भक्ति से चित्त की एकाग्रता

होने पर ज्ञान से मोक्ष होता है।' यही वेद का डिण्डिम घोष है। इसीलिये कर्म, उपासना और ज्ञान —इन तीनों का प्रतिपादन 'वेद' करते हैं ॥६-११½) ॥

इसी अभिप्राय से चतुर्वेद-भाष्यकार सर्वदर्शन-पारावारपारीण सायणाचार्य, उव्वट-महीधर, वेंकटमाधव आदि प्राचीन प्रामाणिक आचार्यों ने भक्ति और मोक्ष को वेद का परम प्रयोजन मानते हुए भी कर्मकाण्ड के ज्ञान को वेद का अवान्तर प्रयोजन मानकर अधिकांश मन्त्रों का कर्मकाण्ड परक भाष्य किया। भगवत्पाद आद्य शङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य आदि सभी पावन साम्प्रदायिक आचार्यों का कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में कहीं मतभेद नहीं, जबकि ज्ञानकाण्ड में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत आदि मतभेदों की भरमार है ॥१२॥

वेद मन्त्रों के प्राचीन आचार्यों द्वारा किए गये यज्ञादि कर्मकाण्ड परक अर्थ भी वास्तविक अर्थ हैं। दयानन्द आदि आधुनिक विद्वानों तथा पाश्चात्य विद्वानों एवं उनकी लकीर के फकीर कुछ भारतीय विद्वानों द्वारा किए अर्थ ठीक नहीं हैं, क्योंकि सायण, उव्वट, महीधर, वेंकट-माधव आदि आचार्यों के अर्थ शिक्षा, कल्पसूत्र, व्याकरण (प्रातिशाख्य)-निरुक्त, छन्द, ज्योतिषशास्त्र, इन वेदाङ्गों से सम्मत हैं। इतिहास, पुराण, पूर्वोत्तर मीमांसा आदि सभी दर्शनशास्त्र और मन्वादि स्मृतिकार भी इन्हीं अर्थों का समर्थन करते हैं। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् श्रीकरपात्र स्वामी महाराज ने 'वेदार्थ पारिजात' नामक वेदभाष्य भूमिका और वेदभाष्यरूप ग्रन्थ लिखा। इसमें जो वेद के अर्थ किये गये हैं, वे शिक्षा-कल्प-सूत्र-व्याकरण-निरुक्त-छन्द-ज्योतिष-प्राति-शाख्य (वैदिक-व्याकरण), इतिहास, पुराण, मन्वादि स्मृतियों से पूर्णरूपेण समर्थित हैं ॥१३-१८½॥

इन सभी शास्त्रों का जिन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं है और स्वामि चरणों के वेदार्थ पारिजात भाष्य को ❀ समझने में भी जो असमर्थ हैं, ऐसे कुछ लोग ग्रन्थ के खण्डन में प्रवृत्त हुए हैं, उनका खण्डन इसी से हो गया कि उन्हें किसी भी पूर्वाचार्य का समर्थन प्राप्त नहीं है, प्रत्युत सिद्धान्त सर्वाचार्य विरुद्ध है। फिर भी दुर्दैव की प्रेरणा से वे खण्डन करने का दुस्साहस कर रहे हैं, क्या वे यह नहीं जानते कि उनके खण्डन की 'मोदक-खण्डिका' हो जायगी।'

श्रीनिरञ्जन देवजी तीर्थ

❀ भाष्य भूमिका को
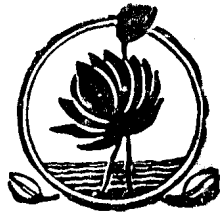
Abstract of Bhumika ; Written by Jagadguru Shankaracharyapad Goverdhan Math Puri Peethadhishwar Swami Shri Niranjan Devji Tirth Maharaj

PREFACE

I repeatedly offer my salutations to the VEDAS, the knowledge of Vedic treasury, various Vidyas, Brahma Vidya, Lord Ganesh, Goddess Saraswati and all my preceptors. I am placing before you the background of the commentary of my teacher for the pleasure of the learned. The first objective, aim and last fruit of the VEDA is attainment of liberation, which is in the form of realising the individual in the self. The second objective is attainment of mingling in devotion with God. Here numerous incarnations of God are also accepted. The sacred formula clearly states that God Vishnu traversed the universe. Thousands of such sacred mantras can be picked up and cited to establish that God has attributes and forms. The third objective of the veda is to indicate the activities in rituals. Without practicing the rituals, how can there be the purity of thought, mind and heart ? The VEDA instruct three disciplines viz. Ritual activity, meditation and knowledge. Through prescribed rituals, one obtains purity of mind and heart. By devotion, one acquires the concentration of mind and heart. Thereafter, by acquiring knowledge, one attains the liberation—such is the declaration of VEDAS. Such learned sages as Sayanacharya, Mahidhar and Uvvat have interpreted the VEDAS in this way. But the highest goal proclaimed by the VEDA is decidedly liberation. Acts like sacrifices (YAGNAS) have been praised by the learned but all such acts are only for the purity of mind and heart—that is the opinion of SRUTI AND SMRITI.

A VEDIC passage declares that the seekers of truth realise Brahman only after performing the sacrifices. The injunction for performance of the YAGNA,DAAN,tapa etc.is for the purpose of creating a desire for the knowledge of Brahman. This is so stated by learned ACHARYAS like SAYAN and others, Other annotators of VEDAS have not interpreted them in such a way as to make common man to underst and the same in consonance with ITIHAS (RAMAYANA AND MAHABHARAT) PURANAS and various SUTRAS, as also NIRUKTA, PRATISAKHYAS, VEDANGAS like SHIKSHA, VYAKARAN, etc. The meaning of the various rituals and VEDA is approved of by SMRITIKARS like MANU and others. Modern scholars like DAYANAND and others

as well as some Western scholars and several Indian scholars imitating those Westerners have interpreted Vedas in their own way. But my teacher has pointed out that their interpretation is not ordinarily understandable. Shri Karpatriji has, therefore, written his own Bhasya, where the complete coherent meaning of the Veda is properly pointed out. That meaning is in consonance with the Vedangas like Shiksha, Vyakaran, Nirukta etc and also sanctioned by Itihas and Puranas and accepted as completely true by ancient Acharyas, and Smritikaras like Manu and others. Swami Karpatriji's interpretation has thus the approval of these authorities. Those people who have no knowledge of all these Shastras and also have not studied the BHASYA of Karpatriji have come forward to refute his interpretation, but they are defeated merely by what is stated above and these dissidents have no reply to give. Their interpretation is neither in order, nor useful in any way. Do they not know that their cake of interpretation will be chewed over and made into pieces ?

प्रकाशकीय

★

अनन्त श्रीविभूषित पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय धर्मसम्राट् श्री स्वामी करपात्री जी महाराज ने वेद की भूमिका के रूप में 'वेदार्थ पारिजात' नामक ग्रन्थ लिखकर आस्तिक सनातनी जगत् को उपकृत किया है जिसका प्रकाशन संथान द्वारा दो भागो में विक्रम सम्वत् २०३३ और २०३७ में हो चुका है। जिसे वर्ष ८५ के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ के रूप में संस्कृत अकादमी उत्तर प्रदेश ने १००००० एक लक्ष मुद्रा प्रदान कर पुरस्कृत किया है और इसका सम्मान बढ़ाया है।

इस भूमिका के अनन्तर चारों वेदों का भाष्य लिखने का सङ्कल्प पूज्य श्री स्वामी जी महाराज का था जिसके अनुसार शुक्ल यजुर्वेद के चालीस अध्यायों का भाष्य पूरा कर ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का भाष्य भी महाराज जी ने लिख दिया किन्तु धार्मिक जगत् के दुर्भाग्य से असमय में ही अपने सभी कार्यकलापों का संवरण कर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त कर लिया। किन्तु ब्रह्मस्वरूप महाराज श्री की कृपा सदा ही जीवों पर बनी हुई है।

महाराज श्री के सान्निध्य में पहले ही यह निश्चय हो चुका था कि संस्थान द्वारा सर्व प्रथम पहले अध्याय के भाष्यका प्रकाशन हो। इसी के आधार पर महाराज श्री द्वारा लिखित मूल संस्कृत राष्ट्र भाषा हिन्दी में अनुवाद करने के लिए मीमांसा साहित्य वेदान्ताचार्य डॉ० पं० श्री गजानन जी मुसलगाँवकर जी को दे दिया गया था। किन्तु अपरिहार्य कई कारणों से वह अभी तक नहीं छप सका था।

वेद भगवान् की ही असीम अनुकम्पा से संस्थान के द्वारा विजय-दशमी के पावन पर्व पर सम्वत् २०४३ विक्रमीय में इस प्रथम अध्याय के भाष्य को मुद्रित कराकर प्रकाशित कर आपकी सेवा में उपस्थित करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है।

इसके पश्चात् ईशोपनिषद नाम से प्रसिद्ध शुक्ल यजुर्वेद संहिता के ४० वें अध्याय का भाष्य भी शीघ्र ही हम प्रकाशित करने जा रहे हैं, जिसका हिन्दी अनुवाद विरक्त शिरोमणि अनेक शास्त्र पारङ्गत परम पूज्य स्वामी श्रीवामदेव जी महाराज की कृपा से सम्पन्न हुआ है। प्रकाशन सम्बन्धी अनेक कठिनाइयों के कारण ही इसके प्रकाशन में इतना विलम्ब हो रहा है।

आशा और विश्वास है कि पूज्य श्री स्वामीजी महाराज की इन अनुपम कृतियों से अपने अपने विश्वास और अधिकार के अनुसार सभी जनों को ऐहिक और आमुष्मिक अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि में अवश्य सफलता प्राप्त होगी।

इस भाष्य की भूमिका लेखक के रूप में तथा हिन्दी अनुवादक रूप में और समय समय पर उपयोगी उचित परामर्श दाता के रूप में तथा प्रूफ पुनरीक्षण कर्ता के रूप में, प्रेस कापी तैयार करने वाले के रूप में और अनुच्छेद साधक (पैराग्राफ) के रूप में तथा प्रकाशन सम्बन्धी सभी साजसज्जाओं
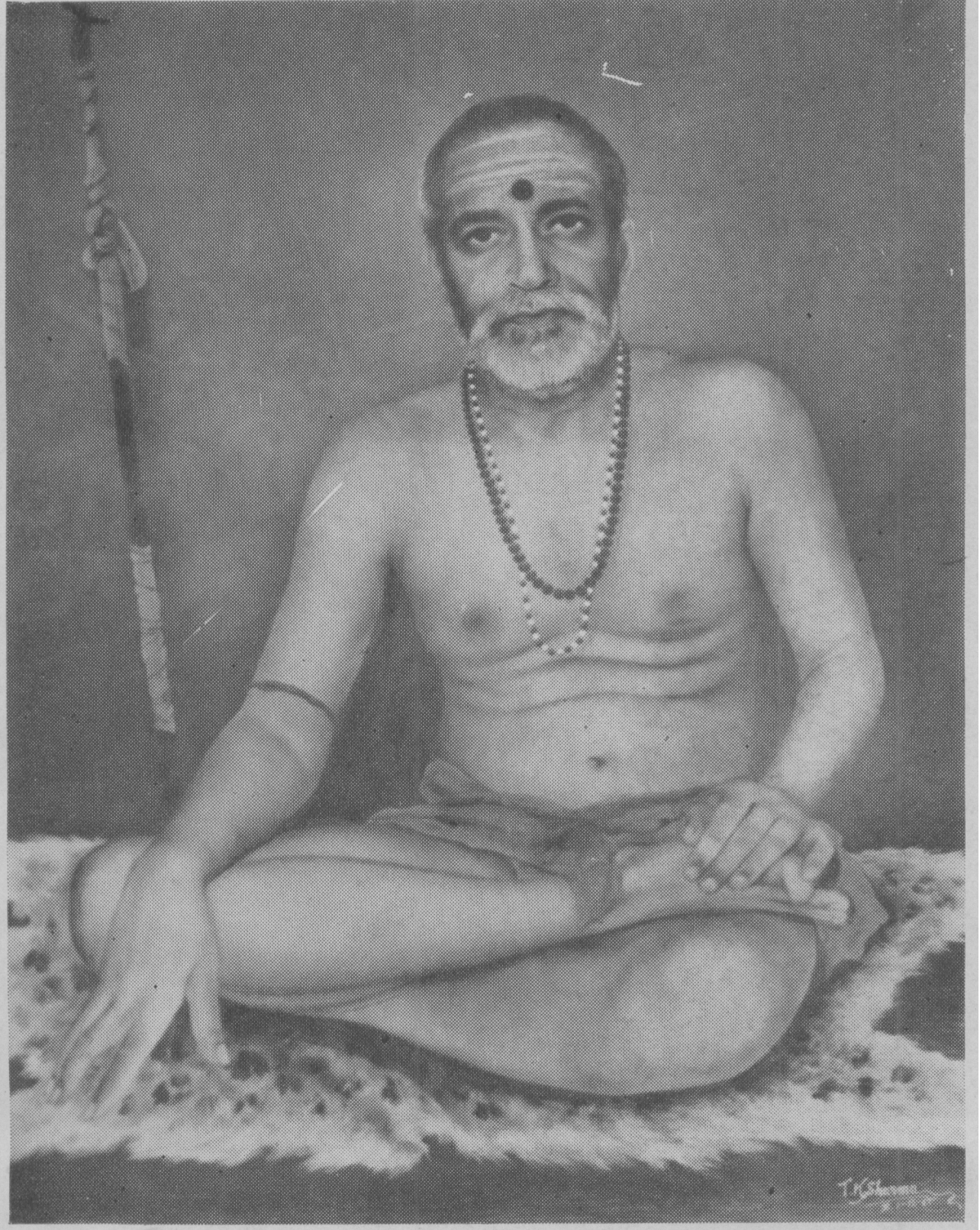
परब्रह्मस्वरूप
धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

को तैयार कर इस अमूल्य ग्रन्थ-रत्न को सब के सम्मुख प्रस्तुत करने वाले परम दयालु के रूप में जिन जिन महानुभावोंने अपनी अहैतुकी कृपा से इस कार्यको सम्पन्न किया है, वे सभी हमारे परम सम्माननीय पूज्य आचार्य विद्वन्मूर्धन्य आत्मीय हैं।

इन सभी के चरणों में धन्यवाद और अभिनन्दन के स्वरूप नतमस्तक होकर सदा ही कृपा की आशा रखते हैं।

जिनके चरणों में धन्यवाद प्रस्तुत हैं, वे हैं --

१. अनन्त श्री विभूषित श्रीमज्जगद्गुरु शङ्कराचार्य गोवर्धन पीठाधीश्वर श्री स्वामी निरञ्जनदेव जी तीर्थ महाराज (पुरी)
२. मीमांसा साहित्य वेदान्ताचार्य डॉ० पं० श्री गजानन जी मुसलगाँवकर (वाराणसी)
३. परम पूज्य श्री मार्कण्डेय जी ब्रह्मचारी (वाराणसी)
४. अनन्त श्री विभूषित स्वामी श्री निश्चलानन्द जी सरस्वती (वृन्दावन)
५. विरक्त शिरोमणि परम सन्त श्री स्वामी वामदेवजी महाराज (वृन्दावन)
६. आचार्य श्री वैद्यनाथ जी झा प्रधानाचार्य निम्बार्क संस्कृत महाविद्यालय (वृन्दावन)
७. श्रीराजवंशी द्विवेदी प्रधानाचार्य धर्मसङ्घ संस्कृत विद्यालय (वृन्दावन)

शेष में हम हरिनाम प्रेस और इसके सुयो य विद्वान् प्रबन्धक एवं सहृदय कर्मचारियों के भी स्नेहपूर्ण सौजन्य भरे मुद्रणादि कार्य के सहयोग तथा सम्पादन को स्मरण कर उन्हें बहुत बहुत धन्यवाद देते हैं।

हनुमान प्रसाद धानुका—अध्यक्ष
श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान

॥ श्री हरिः ॥

श्रीमद् वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता

वेदार्थ पारिजाताख्य भाष्य-विभूषिता

प्रथमोऽध्यायः

दर्शपूर्णमासेष्टिविषया मन्त्राः*

विषय सूची

* तत्राद्याध्याये द्वितीयाध्यायाष्टाविंशतिकण्डिकाश्चेति दर्शपूर्णमासमन्त्राः ।

● अनन्त श्री विभूषित श्री स्वामी करपात्री जी महाराज द्वारा लिखित वेदार्थ पारिजात ग्रन्थ को सन् १९८१ के सर्व-श्रेष्ठ ग्रन्थ के रूप में उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी लखनऊ द्वारा एक लाख रुपये का विश्व-संस्कृत-भारती पुरस्कार—

उत्तर-प्रदेश-संस्कृत-अकादमी, लखनऊ

उत्तर-प्रदेश-संस्कृत-अकादमी

भूमा वै सुखम्

विश्व-संस्कृतभारती-पुरस्कारः

वै० २०३८ (१९८१) वर्षीयः

अनन्तश्री-विभूषितहरिहरानन्दसरस्वती-(स्वामिकरपात्र)

नाम्ने ब्रह्मलीनाय विदुषे संस्कृतभाषा-वाङ्मययोः महनीयसेवाया व्यक्तित्वकृतित्वयोश्च सम्माने एकलक्षरूप्यकाणां संस्कृतभारतीपुरस्कारः सादरं समर्प्यते।

निदेशकः धर्म नारायणः   अध्यक्षः करुणापति त्रिपाठी

● उत्तरप्रदेश के महामहिम राज्यपाल महोदय श्री मोहम्मद उस्मान आरिफ पुरस्कार प्रदान करते हुए। पास में मुख्यमन्त्री श्री नारायणदत्त तिवारी और शिक्षा मन्त्री तथा उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी के अध्यक्ष श्री करुणापति त्रिपाठी जी एवं एकलाख रुपये का पुरस्कार और ताम्रप्रमाणपत्र ग्रहण करते हुए पूज्य श्री स्वामी करपात्री जी महाराज द्वारा स्थापित श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान के अध्यक्ष श्री हनुमान प्रसाद धानुका।

वाजसनेयि – माध्यन्दिन

शुक्ल - यजुर्वेद - संहिता

करपात्र - भाष्य - समन्विता

●

॥ हरिः ॐ ॥

इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा ऽ अयक्ष्मा मा वस्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ॥१॥

अर्थ :

हे शाखे ! धान्य की उत्पत्ति के लिये मैं तुम्हें काटता हूँ, और वृष्टिरूपी रस के लिये तुम्हें एक सी बनाता हूँ- (ऊँचा-नीचापन छील-छालकर ठीक करता हूँ), हे वत्सों ! तुम अपनी माताओं से दूर हो जाओ। हे गौओं ! प्रेरक और प्रकाशमान परमेश्वर तुम्हें यज्ञकर्मोपयोगी बनने के लिये विपुलतृणयुक्त वन में जाने की प्रेरणा दे। हे अवध्य गौओं ! इन्द्र के उद्देश्य से तुम अपने दूध को वृद्धिगत करो। चोर तथा हिंसक व्याघ्रादि पशु तुम्हें मारने में समर्थ न हों। तुम विपुल सन्तति से युक्त बनो, एवं सामान्य व्याधिरहित और प्रबलरोग से भी रहित रहो। इस यजमान के घर दीर्घकाल तक बनी रहो। हे शाखे ! तू यजमान के पशुओं की रक्षा कर।

करपात्र भाष्यम्

ॐ स्वस्ति श्रीगणेशाय नमः । ॐ सरस्वत्यै नमः । ॐ वेदपुरुषाय नमः । सच्चिदानन्दरामाय प्रत्यगानन्दरूपिणे । नमो वेदान्ततात्पर्यगोचराय परात्मने ।।१।। नमः शिवाय शान्ताय त्रिपुरालिङ्गिताय च । प्रत्यक् चैतन्यरूपाय महते परमात्मने ।। २ ।। माध्यन्दिनीयमन्त्राणां व्याख्यां कुर्मः सनातनीम् । कुमतिध्वान्तविभ्रान्तिविध्वंसनपटीयसीम् ।। यद्यप्युव्वटसायणमहीधराद्याचार्यै ब्राह्मणग्रन्थैः सूत्रैः पारम्पर्येण च मन्त्रा व्याख्याता एव तथापि नास्तिकैरर्धनास्तिकै भारतीयैः पाश्चात्त्यैश्च विविधदुस्तर्कानुत्थाप्य व्याकुली कृतो वेदार्थ इति तदपाकरणपूर्वकं वेदार्थवैशद्याय विशेषतः प्रयत्यते ।

२—तत्रानाद्यविच्छिन्नपारम्पर्यप्राप्तो मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदो नित्योऽपि सन् सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन विशिष्टकर्मोपासनादि संस्कृतमतिभिर्हिरण्यगर्भपरमेष्ठ्यादिभिः पूर्वकल्पीया वेदानुपूर्वी स्मर्यते दृश्यते च । 'तत एतं परमेष्ठी । प्राजापत्यो यज्ञमपश्यत् यद्दर्शपूर्णमासौ, (श० ११।१।६।१६) इत्यादि रीत्या दर्श पूर्णमासद्रव्यदेवतामन्त्रादि परमेष्ठिनादृष्टम् । तथा दध्यङ् ह वा आथर्वण एतं शुक्रमेतं यज्ञं विदां चकार (श० १४।१।१।१८) इत्यारभ्य 'तदुहाश्विनोरनुश्रुतमास' (श० १४।१।१।२०) इत्यादिरीत्या प्रवर्ग्यमन्त्राणां दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिरिति गम्यते ।

'प्रजापतिः प्रथमां चितिमपश्यत्' (श० ६।२।३।१०) इत्युपक्रम्य 'स यो हैतदेवं चितीनामार्षेयंवेद' (६।२।३।१०) इत्यादिना फलं चोक्तम् । अत एव 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' (श० ११।५।६।३) इत्यनेन प्रतिमन्त्रम् ऋषिच्छन्दोदेवता विनियोगार्थज्ञानपूर्वकं स्वशाखाध्ययनं विहितम् ।

यस्यास्यमश्वमुपलभ्य वचोऽधिदेवी सप्तस्वरानवसरेऽखिलकर्णपेयान् ।
शश्वन्निनादयति तं यमिनामधीशं वागीशमेव 'करपात्रगुरुं' नमामि ॥

गुरुभिः 'स्वामिचरणैः' मन्त्रव्याख्या यथा कृता ।
तामेव मनसा ध्यात्वाऽनूद्यते राष्ट्रभाषया ॥
गुणसम्पत्तिसिद्ध्यर्थं याचते गुर्वनुग्रहम् ।
गुरुणानुगृहीतो हि विश्वस्तः 'श्रीगजाननः' ॥

यद्यपि उव्वट, सायण, महीधर आदि आचार्यों ने ब्राह्मणग्रन्थ तथा सूत्रग्रन्थ एवं शिष्टपरम्परा प्राप्त अध्ययन के द्वारा मन्त्रों की व्याख्या पहिले ही कर दी है, अब पुनः नवीन व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। तथापि भारतीय तथा पाश्चात्य नास्तिकों और अर्धनास्तिकों ने विविध कुतर्कों को उपस्थित कर वेदार्थ को अव्यवस्थित कर दिया है। अतः उसका निराकरण करते हुए वेदार्थ के व्यवस्थित स्वरूप को विशदता के साथ प्रकट करने का विशेष प्रयत्न किया जा रहा है।

२—अनादि अविच्छिन्न परम्परा से प्राप्त मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदों के नित्य होते हुए भी सुप्त-प्रतिबुद्धन्याय से (निद्रा के बाद जगनेपर पूर्व से स्थित पदार्थों का स्मरण करने के समान) विशिष्ट कर्म, उपासना आदि के अनुष्ठान से निर्मल बुद्धिवाले हिरण्यगर्भादि के द्वारा पूर्वकल्प के वेदों की आनुपूर्वी का स्मरण तथा दर्शन किया जाता है। शत पथ ब्राह्मण बता रहा है कि 'दर्शपूर्णमासेष्टि (यज्ञ) को परमेष्ठी ने देखा।'—अर्थात् दर्शपूर्णमास के द्रव्य, देवता, मन्त्रादि को परमेष्ठी ने देखा। तथा 'दध्यङ् ह वा' से 'तदुहाश्विनोः'—तक शत पथ ब्राह्मण के द्वारा प्रदर्शित 'प्रवर्ग्य-मन्त्रों' के द्रष्टा 'दध्यङ' आथर्वण ऋषि हैं—यह ज्ञात होता है।

'प्रजापतिः प्रथमां', से प्रारम्भ करके 'स यो हैतदेवं' इत्यादि शतपथ ब्राह्मण के द्वारा फल भी बताया गया है। अतएव 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'—स्वाध्याय (अपनी वेदशाखा) का अध्ययन करना चाहिये—इस विधि के द्वारा प्रत्येक मन्त्र के ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग तथा अर्थज्ञान सहित स्वाध्याय के अध्ययन (अपनी वेदशाखा के अध्ययन) का विधान किया गया है।

३— योऽवा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति (आर्षे० ब्रा० १।१।६) इत्यार्षेयब्राह्मणम्। 'एतान्यविदित्वा योऽधी तेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म-निर्वीर्यं यातयामं भवत्यथान्तराश्वगर्तं वा पद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रवामीयते पापीयान् भवति' (अनुक्रम० १।१) इति कात्यायनोक्तेः। ऋष्यादिज्ञाने फलश्रवणाच्च 'अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवदथ योऽर्थवित्तस्य वीर्यवत्तरं भवति जपित्वा हुत्वेष्ट्वा तत्फलेन युज्यते' (अनुक्रम० ११)।

युगह्रासाच्छक्तिह्रासानुरोधेनाल्पायुषाल्पप्रज्ञजनानुजिघृक्षोर्या ब्रह्मपरम्परया प्राप्तं वेदं वेदव्यासश्चतुर्धा-विभज्य स्वशिष्येभ्यः पैलवैशम्पायनजैमिनिसुमन्तुभ्यः क्रमादृग्यजुः सामाथर्वाख्यांश्चतुरो वेदानुपदिष्टवान्। ते च स्व-शिष्येभ्य उपदिष्टवन्तः। एवं परम्परया सहस्र शाखो वेदोजातः। स च प्रतिकल्पं प्रवर्तते। तत्र यजुर्वेदः कृष्णं शुक्ल मिति द्वेधा विभक्तः। तदुक्तम्—

४— सायणेन— कृष्णं शुक्लमिति द्वेधा तत्कृष्णं तैत्तिरीयकम्। वैशम्पायनशिष्येण याज्ञवल्क्येन यद्यजुः॥ अधीत्य वान्तमाचार्यकोपभीतेन योगिना॥ गुरुः शिष्यमुवाचेत्थं क्रुद्धः केनापिहेतुना॥ प्रत्यर्पय मदीयां त्वं विद्यामित्यर्पयत् स च। योगसामर्थ्यतो विद्यां मूर्तां कृत्वाऽवमत्तदा॥ गृह्णीत तद्यजुर्वान्तमित्यन्यान् गुरुरब्रवीत्। अन्ये तित्तिरयो-भूत्वा किञ्चित्तानप्यभक्षयन्॥ प्रवर्तितः खण्डशस्तैर्नसम्यग्गम्यते नृभिः। आध्वर्यवं क्वचिद् धौत्रंक्वचिदित्यव्यवस्थया॥

३—"जो व्यक्ति ऋषि, छन्द, देवता, ब्राह्मण को न जानकर केवल मन्त्र से यजन कराता है अथवा अध्यापन करता है, वह स्थाणुत्व को प्राप्त होता है, अथवा गर्त में गिरता है"—यह 'आर्षेय ब्राह्मण' का वचन है। महर्षि कात्यायन ने भी अनुक्रमणिका में कहा है कि "इनको जाने बिना जो अध्ययन करता है, या अध्यापन करता है, जप करता है, होम करता है, यज्ञ करता है, अथवा यज्ञ कराता है, उसका वेद (ब्रह्म) निर्वीर्य, यातयाम (पर्युषित) हो जाता है। जीवन के अनन्तर वह अधम श्वयोनि (श्वगर्त) में जाता है, अथवा स्थाणु हो जाता है, मृत्यु को प्राप्त होता है, वह पापों से युक्त (पापी) हो जाता है।" ऋषि आदि के ज्ञान में यह फल श्रुत है कि "इनका ज्ञान प्राप्त करके जो अध्ययन करता है, उसका ज्ञान, वीर्यवत् (सवीर्य) होता है, जो अर्थज्ञान रखता है, उसका ज्ञान वीर्यवत्तर होता है। वह जप, यज्ञ, हवन करके उनके वेदोपदिष्ट फलों से लाभान्वित होता है।

युग के ह्रास से शक्ति का ह्रास देखकर अल्प आयुवाले तथा अल्प प्रज्ञावाले जनसमूह पर अनुग्रह (कृपा) करने की इच्छा से ब्रह्म परम्परा प्राप्त वेदों का वेदव्यास ने चार विभाग करके अपने शिष्य पैल, वैशम्पायन, जैमिनि, और सुमन्त को क्रम से ऋक्, यजु, साम और अथर्व संज्ञक वेदों का उपदेश किया। उन्होंने अपने शिष्यों को उपदेश किया। इस परम्परा से वह वेद सहस्र शाखाओं से सम्पन्न हो गया। यही क्रम प्रत्येक कल्प में प्रवृत्त होता है। उनमें से 'यजुर्वेद' शुक्ल और कृष्ण रूप से दो भागों में बँट (विभक्त हो) गया। इसी अभिप्राय से—

४—सायण ने कहा कि—"यजुर्वेद कृष्ण और शुक्ल दो प्रकार का है, 'कृष्ण' तैत्तिरीयक हैं, जिसे वैशम्पायन के शिष्य योगीश्वर याज्ञवल्क्य ने अध्ययन के अनन्तर आचार्य के कोप के भय से वमन कर दिया। एक समय किसी कारण गुरु ने शिष्य से कहा कि 'मेरी दी हुई विद्या तू मुझे वापस कर।' उस पर शिष्य ने ग्रहण की हुई गुरु की विद्या को अपनी योगशक्ति से मूर्त रूप देकर उसका वमन कर दिया। तब गुरु ने अपने अन्य शिष्यों से कहा कि—'इस वान्त यजुर्वेद का तुम लोग ग्रहण करो।' गुरु की आज्ञा पाकर उन शिष्यों ने तीतर पक्षियों का रूप धारण करके अङ्गारों के रूप में स्थित उस वान्त यजुर्वेद का कुछ अंश भक्षण किया। तदनन्तर उन्होंने उस यजुर्वेद का खण्डशः प्रवर्तन किया। किन्तु मनुष्यों के द्वारा उसका सम्यक् अवगमन नहीं हो पाता है, क्योंकि उस में कहीं 'आध्वर्यव' (अध्वर्यु के द्वारा प्रयोक्तव्य) तो कहीं 'हौत्र' (होता के द्वारा प्रयोक्तव्य) है। इस प्रकार की अव्यवस्था के कारण तथा बुद्धि की मलि-नता के कारण उस 'यजुर्वेद' को 'कृष्ण' कहा जाता है। तदनन्तर योगीश्वर याज्ञवल्क्य ने भगवान् सूर्यनारायण की

बुद्धिमालिन्यहेतुत्वात्-यजुः कृष्णमितीर्यते। याज्ञवल्क्यस्ततः सूर्यमाराध्यास्मादधीतवान् ॥ व्यवस्थितप्रकरणं यजुः शुक्लं तदीर्यते। पौराणिकीं कथामेतां वेदव्याख्यान आदरात् ॥ आदिशन् मह्यमाचार्याः श्रुतावपि मयाश्रुतम्। काण्ववेदगते विद्या वंश ब्राह्मण ईर्यते ॥

५—यजूंषि शुक्लान्यादित्यात् मुनिः प्रापेत्यपि स्फुटम्। 'इति काण्वसंहिताभाष्य उपोद्घाते।

५।१—"अथवंशः पौतिमाषी पुत्रः कात्यायनीपुत्राद्' इत्यारम्य 'परमेष्ठी ब्राह्मणो ब्रह्मस्वयम्भु ब्रह्मणे नमः" इत्यन्तं काण्ववेदस्यान्तिमं ब्राह्मणम्। पौतिमाषी पुत्रः कश्चिद् वेद सम्प्रदाय प्रवर्तकोमुनिर्द्विजातीनां मनुष्याणामुपदेष्टा। स च कात्यायनी पुत्राद्वेदमधीतवान्। परमेष्ठिशब्देन सत्यलोकवर्ती चतुर्मुखोऽभिप्रेयते। ब्रह्मशब्देन प्रज्ञानंब्रह्म, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, त्येवमादि लक्षण लक्षित मनन्तशक्ति ब्रह्मोच्यते। स एव स्वयम्भु प्रोच्यते—'न तस्य कार्यं करणं। च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्यशक्ति विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च ॥' (श्वेता० उ० ६'८) "कश्चिन्न तस्याः पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव तस्याश्च लिङ्गम्।" (गुहाकाली उप०६८) इत्यादि। श्रुतिभ्यः।

५।२—तस्मै ब्रह्मणे नमः प्रह्वीभावोऽस्तु। ब्रह्म प्रह्वीभावलक्षणाया व्यक्तेः परम पुरुषार्थहेतुत्वम्। 'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥' (श्वेता० उ० ६।२३) इतिश्रुतेः। तत्र काण्वशाखागते वंश ब्राह्मणे 'आदित्यानीमानि शुक्लानियजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते' (बृ० उ० ५।५-३३)-इति बृहदारण्यके। आदित्येनाध्यापितत्वात् आदित्यानीत्युच्यन्ते। वाजमन्नं 'अन्नं वैवाज' (श० ५।१।४।३) इतिश्रुतेः। वाजस्य सनिर्दानं यस्य महर्षेरस्ति सोऽयं वाजसनिस्तस्यापत्यं वाजसनेयः स एव याज्ञवल्क्यः। तेन याज्ञवल्क्येनै तानि शुक्लयजूंषि पञ्चदशमहर्षिभ्यः कण्व, मध्यन्दिन, शापेय, स्वापायनीय, कापाल, पौण्ड्रवत्स, आवटिक, परमावठिक, पाराशर्य, वैधेय, वैनेय, औधेय, गालव, वैजव, कात्यायनीय संज्ञेभ्यः पञ्चदशभ्यः शिष्येभ्यः प्रत्तानि।

आराधना करके सुव्यवस्थित प्रकरणों से युक्त यजुर्वेद का उनसे अध्ययन किया। इस यजुर्वेद को 'शुक्ल यजु' कहा जाता है। आचार्यों ने वेद का व्याख्यान करते समय बड़े आदर के साथ इस पुराण-प्रसिद्ध कथा को मुझे सुनाया था। श्रुति में भी मैंने इस कथा को सुना है। यजुर्वेद की काण्वशाखा के अन्तर्गत 'विद्यावंश ब्राह्मण' है,—

५— जिस में बताया है कि "शक्ल यजु, आदित्य से प्राप्त हुए हैं।" यह उल्लेख काण्वसंहिता भाष्य के उपोद्घात में किया गया है।

५।१—"अथवंशः" से लेकर 'परमेष्ठी ब्रह्मणः" तक काण्वशाखा का अन्तिम ब्राह्मण है। इसमें उल्लिखित 'पौतिमाषी पुत्र', जो वेद सम्प्रदाय का प्रवर्तक एक मुनि था। वही द्विजन्मा मानवों का उपदेशक था। उसने 'कात्यायनीपुत्र' से वेद का अध्ययन किया था। 'परमेष्ठी' शब्द का अभिप्राय सत्यलोकस्थित 'चतुर्मुख' से है। 'ब्रह्म' शब्द से "प्रज्ञानंब्रह्म"—प्रज्ञान ब्रह्म है—और "सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्म"—सत्य, ज्ञान, अनन्त स्वरूप ब्रह्म है—इत्यादि महावाक्यों से निर्दिष्ट अनन्त शक्तिमय 'ब्रह्म' कहा गया है। उसी को 'स्वयम्भू' कहा गया है उसका कार्य तथा करण नहीं है। उसके समान और उससे अधिक भी कोई दिखाई नहीं देता। उसकी 'पराशक्ति' नाना प्रकार की सुनी जाती है, और वह ज्ञानक्रिया तथा बलक्रिया स्वाभाविक है।—(श्वे० उ० ६।८) "लोक में उसका कोई पति नहीं है, और न कोई उसका ईशिता (नियम न करने वाला) है। उसका कोई लिङ्ग (पहिचान) नहीं है" इत्यादि।

५।२—श्रुतियों के द्वारा उस स्वयम्भू का वर्णन किया गया है। उस ब्रह्म के प्रति हमारा प्रणाम रहे। ब्रह्म के प्रति वह प्रणाम पुरुषार्थ का कारण होता है। भगवती श्रुति कह रही है—'जो देवभक्त और गुरुभक्त हो, उसी महात्मा के हृदय में ये शास्त्र प्रतिपादित अर्थ (रहस्य) प्रकाशित होते हैं—(श्वे० उ० ६।२३)। काण्वशाखान्तर्गत वंशब्राह्मण में कहा गया है कि "भगवान् आदित्य (सूर्य) से आविर्भूत हुए थे 'शुक्ल यजु', वाजसनेय योगीश्वर याज्ञवल्क्य के द्वारा कहे गये हैं—(बृ० उ० ५।५।३३)। आदित्य के द्वारा इनका अध्यापन किया गया, इसलिये इनको (यजु को) आदित्य कहा गया है। "अन्नं वै वाजः" इस श्रुति के अनुसार 'अन्न' की संज्ञा 'वाज' है। जिस महर्षि ने 'अन्न' का

तत्र माध्यन्दिनेन महर्षिणा लब्धो यजुर्वेदशाखाविशेषो माध्यन्दिनः। यद्यप्यमुना मुनिना बहुभ्यः शिष्येभ्य उपदिष्ट स्तथापीश्वरानुग्रहेण तत्राभ्यासातिशयात् पाटवातिशयाच्च मध्यन्दिनसम्बन्धितया समाख्यायते। तं माध्यन्दिनं वेदमधीयते विदन्ति वा ये ते ऽपि शिष्यपरम्परया माध्यन्दिना उच्यन्ते।

६—यद्यपि कृष्णशुक्लयजुःसम्बद्धसर्वास्वपि शाखासु आध्वर्यव एव प्रयोगः प्रतिपाद्यते, तथापि मन्त्रविशेषैः प्रयोगविशेषैर्महान्भेदः। स चानुष्ठातृभेदेन व्यवस्थितविषयत्वान्न विकल्प्यते। अनुष्ठानविशेषायैव 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (श० ११।५।६।३) इति स्वशाखाध्ययनं विहितम्। अधीयत इत्यध्यायो वेदः, स्वश्चासावध्यायः स्वशाखीयो वेदस्तदुपलक्षितः समस्तवेदराशिर्वाध्येतव्य इत्यर्थः।

ननु तत्र भोजननिद्रादिषु दृष्टार्थेषु वैदिकविध्यदर्शनात् वेदेन विहितस्याध्ययनस्य सन्ध्यावन्दनादिवदृष्टार्थत्वं युक्तम्। न च 'आयुष्टोमेनातिरात्रेण स्वर्गकामो यजेते' (ला० म० ब्रा० २०।७।१) त्यादिष्विवैतत्कामोऽधीयीतेत्येवमदृष्टफलविशेषो न श्रूयत इति वाच्यम्,

७—यदृचोऽधीते पयसः कुल्या अस्य पितृन् स्वधा अभिवहन्ति, यद्यजूंषि घृतकुल्याः,

---

दान किया, उसे 'वाजसनि'—कहा गया, और उसका अपत्य 'वाजसनेय' कहलाया। वही 'याज्ञवल्क्य' है। उस याज्ञवल्क्य ने 'कण्व,माध्यन्दिन,शापेय,स्वापायनीय,कापाल,पौण्ड्रवत्स, आवटिक, परमावटिक पाराशर्य वैधेय,वैनेय, औधेय, गालव, वैजव, कात्यायनीय नाम के अपने पन्द्रह महर्षि शिष्यों को उस शुक्ल यजुर्वेद का प्रदान किया। उन में से माध्यन्दिन महर्षि के द्वारा प्राप्त किये यजुर्वेद शाखा विशेष को 'माध्यन्दिन' कहा जाने लगा। यद्यपि याज्ञवल्क्य मुनि ने इस शाखा का उपदेश (अध्यापन) अनेक शिष्यों को किया था, तथापि परमेश्वरानुग्रह, विशेष अभ्यास और विशेष पटुता के कारण यह 'शाखा' उस माध्यन्दिन महर्षि के नाम से ही प्रसिद्ध हो गई। तथा उस शाखा के अध्ययन करनेवाले भी शिष्य परम्परया, 'माध्यन्दिन' कहे जाने लगे।

६—यद्यपि कृष्ण और शुक्ल यजु से सम्बद्ध सभी शाखाओं में अध्वर्यु के द्वारा ही प्रयुक्त प्रयोग प्रतिपादित होता है, तथापि विशेष मन्त्रों तथा विशेष प्रयोगों के कारण उनमें बहुत भिन्नता भी रहती है। वह भिन्नता भिन्न-भिन्न अनुष्ठान कर्ताओं के लिये नियत होने से व्यवस्थित है, अतएव वहाँ विकल्प नहीं किया जाता। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह अध्ययन विधि उस अनुष्ठान विशेष के बोधनार्थ ही स्व-शाखा के अध्ययन का विधान करती है। 'अधीयतेइति अध्यायः'—जिसका अध्ययन किया जाता है, उसे 'अध्याय' अर्थात् 'वेद' कहते हैं। और 'स्वश्चासौ अध्यायः स्वाध्यायः'—यह कर्मधारय समास किया जाता है। यहाँ 'स्व' शब्द का अर्थ 'आत्मीय' है। तब 'आत्मीय जो अध्याय अर्थात् स्व-कुल परम्परागत जो वेदशाखा हो,उसे 'स्वाऽध्याय' शब्द से कहा गया है। उस वेदशाखा से उपलक्षित वेदराशि का भी अध्ययन किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि सर्व प्रथम अपनी वेदशाखा का अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् यदि सामर्थ्य हो तो सम्पूर्ण 'वेदराशि' का भी अध्ययन किया जा सकता है।

शंका—भोजन, निद्रा आदि प्रत्यक्ष फलवाले कर्मों के लिये वैदिक विधि तो नहीं दिखाई देती, किन्तु वेदविहित अध्ययन की विधि उपलब्ध होती है, अतः वेदाध्ययन को सन्ध्यावन्दनादि कर्मों के समान अदृष्टार्थ (पुण्य के लिये) मानना ही उचित होगा।

समा०—यह शङ्का उचित नहीं है कि 'स्वर्ग कामनावान् पुरुष आयुष्टोम नामक अतिरात्रयाग करे' इत्यादि विधियों के समान अमुककामनावाला अध्ययन करे—इस प्रकार अध्ययन कर्म का कोई अदृष्ट फल विशेष श्रुत नहीं है,

७—क्योंकि शतपथ श्रुतिमें 'ब्रह्मयज्ञ'का फल बताया गया है—"ऋग्वेदके अध्ययन करनेवालेके पितरोंको अर्पित की गई

यत्सामनि सोम एभ्यः पवते, यदथर्वाङ्गिरसोर्मधोः कुल्येति । इति ब्रह्मयज्ञफलस्याध्ययनेऽप्यतिदेष्टुं शक्यत्वात् । नचेदृशोऽति देशोऽदृष्टचर इतिवाच्यम्, 'हानौ तूपायनशब्दशेषत्वा' (ब्र० सू० ३।३।२६) दिति ब्रह्मसूत्रे तस्य दृष्टत्वात् । तथाहि शाट्यायनिनः कौषीतकिनश्च ब्रह्मविदा परित्यक्तयोः सुकृतदुष्कृतयोरितरैरनुकूलैः प्रतिकूलैश्च स्वीकारमिष्टमामनन्ति । 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति, सुहृदः साधुकृत्याम्, द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति शाट्यायनिनः । 'तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते, तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रियाः दुष्कृतम्' (कौ० १।४) । एवं क्वचित्सुकृतदुष्कृतयोर्हानमेव श्रूयते—यथा 'तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।' (मुण्डकोप० ३।२।८) इति । यत्र हानमुपायनञ्च श्रूयते तत्र न किञ्चिद् वक्तव्यम् ।

८—यत्राप्युपायनं श्रूयते न हानं तत्राप्यर्थादेव हानं सन्निपतति यत्र तु हानमेव श्रूयते नोपायनं तत्रोपायनं सन्निपतेद्वा नवेति विचिकित्सायामश्रवणादसन्निपात इति प्राप्ते सिद्धान्तितम् केवलायां हानावपि उपायनं सन्निपतति, तच्छेषत्वात् । कौषीतकिरहस्ये हानशब्दशेषोह्युपायन शब्दः समधिगतः । तस्मादन्यत्र केवलहानशब्द श्रवणेऽपि उपायनानुवृत्तिर्युक्ता । यदुक्तम्–प्रकृतेऽश्रवणाच्छाखान्तरे श्रवणस्य विद्यान्तरगोचरत्वात् अनावश्यकत्वाच्च न सन्निपात इति, तन्न, असामञ्जस्यात् । तथाहि-भवेदेषा व्यवस्थोक्ति र्यद्यनुष्ठेयं किञ्चिदन्यत्र श्रुतमन्यत्र

स्वधा, 'पय-कुल्या देती है, यजुर्वेद के अध्येता के पितरों को 'घृत-कुल्या', और सामवेद के अध्येता के पितरों को 'सोम' तथा आङ्गिरस अथर्ववेद के अध्येता के पितरों को 'मधुकुल्या' उपलब्ध होती है ।' ब्रह्मयज्ञ के इस फल का 'अध्ययन-कर्म में अतिदेश किया जा सकता है । यदि यह कहें कि ऐसा अतिदेश ही तो कहीं देखा नहीं गया है, तो यह कहना उचित नहीं होगा, क्योंकि "हानौ तूपायनशब्दत्वात्"—इस ब्रह्मसूत्र में ऐसा अतिदेश देखा जाता है । वहाँ का प्रसङ्ग इस प्रकार है—"शाट्यायनी शाखीय तथा कौषीतकी शाखीय ब्रह्मवेत्ता ऋषिगणों के द्वारा परित्यक्त पाप-पुण्यों का अनुकूल-प्रतिकूल रहनेवाले अन्य लोगों के द्वारा स्वीकार करना इष्ट मानते हैं । शाटचायनियों का कहना है कि "उसके (ब्रह्मवेत्ता के) पुत्र दाय' ग्रहण करते हैं, मित्रगण 'साधुकृत्यों' का तथा शत्रुगण 'पापकृत्यों को ग्रहण करते हैं ।' "उसके सुकृतों और दुष्कृतों में 'प्रिय–सम्बन्धी लोग सुकृतों को तथा उसके अप्रिय लोग 'दुष्कृतों' को प्राप्त करते हैं ।" मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मज्ञानी के सुकृतों और दुष्कृतों की हानि होती है, ऐसा सुना गया है—"विद्वान् (ब्रह्मवेत्ता) 'नाम और 'रूप' से छूटकर दिव्य परात्पर पुरुष को प्राप्त होता है ।" जहाँ हानि और उपायन दोनों ही सुने जाते हैं वहाँ तो कुछ कहना नहीं है,

८—परन्तु जहाँ केवल 'उपायन' सुना जाता है हान' का श्रवण नहीं है, वहाँ भी 'हान' की उपस्थिति अर्थात् हो ही जाती है । परन्तु जहाँ केवल 'हान' तो सुना गया है, और 'उपायन' नहीं, तब सन्देह हो जाने पर 'उपायन' का श्रवण न होने से उसकी उपस्थिति नहीं होगी'—इस पूर्वपक्ष के उपस्थित होनेपर, सिद्धान्त पक्ष कहता है कि 'केवल 'हान' के श्रवण में भी उसका शेष (पूरक) होने के कारण 'उपायन उपस्थित हो जाता है । कौषीतकी रहस्य में 'हान' शब्द का शेष 'उपायन' शब्द उपलब्ध होता है । अतः अन्य स्थलों में भी केवल 'हान' शब्द के श्रुत होने पर भी 'उपायन' की अनुवृति कर लेना उचित ही होगा ।

अनुवृत्ति के न माननेवाले ने जो यह कहा था कि 'जिसका प्रकृत सन्दर्भ में श्रवण नहीं हुआ है किन्तु अन्य शाखा में श्रुत होने के कारण जिसका सम्बन्ध अन्य विद्या से है । उस कारण तथा अनावश्यक होने से भी उस शब्द का सन्निपात (अनुवृत्ति, उपस्थिति) यहाँ पर नहीं होता है, किन्तु यह पक्ष समञ्जस नहीं है । यह व्यवस्था तो तब संगत होती, जब अन्यत्र विहित किसी अनुष्ठेय कार्य का अन्यत्र उपस्थापन किया जाता है । इनका कथन तो विद्या की प्रशंसा के लिये हुआ है । 'विद्या इतनी प्रभावशालिनी है कि जिसके सामर्थ्य से संसार के (जन्म-मरणाऽविच्छेदके) मूलकारणभूत सुकृत और दुष्कृत दूर हो जाते हैं । वे उस पुरुष के मित्र और शत्रुओं में प्रवेश कर जाते हैं'—इस प्रकार

निनीष्येत, विद्यास्तुत्यर्थं त्वनयोः कीर्तनम् । इत्थं महाभागाविद्या यत्सामर्थ्यादस्य विदुषः सुकृतदुष्कृते संसारकारणभूते विधूयेते। ते चास्य सुहृद्‌द्विद्‌त्सु निविशेते इति स्तुत्यर्थे चास्मिन् कीर्तने हानान्तरभावित्वेनोपायनस्य क्वचिच्छ्रुतत्वात्

अन्यत्रापि हानश्रुतावुपायनानुवृत्तिं मन्यते स्तुतिप्रकर्षलाभात्, तद्वदेव घृतकुल्यादिफलादेशोऽपि सम्भवत्येव ।

९—अथवा विश्वजिन्न्यायेन ग्रहणाध्ययनफलत्वेन कल्पनीयः 'स स्वर्गः सर्वान्प्रत्यविशेषत्वात्' (मी० सू० ४।३।१५) इतिवदितिचेन्न, सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकत्वस्यान्याय्यत्वात् । अन्यथा 'व्रीहीनवहन्ती' । त्यत्रापि तण्डुलनिष्पत्ति-लक्षणं दृष्टफलं बहुप्रयाससाध्यत्वात् उपेक्ष्य सकृन्मुसलप्रहाररूपं प्रयासरहितमवघातमदृष्टार्थमनुतिष्ठेत् । तथा सति शास्त्रीयतण्डुलाभावेन पुरोडाशासिद्धो यागविधयो बाध्येरन् । तस्माद्‌दृष्टफलसम्भवे तदेवादरणीयम् । अत्र चाक्षर-प्राप्तिरूपं दृष्टं फलं सम्भवत्येव ।

१०—नन्वक्षरप्राप्तिरूपं दृष्टं फलं गुरुपूर्वकाध्ययनव्यतिरेकेण लिखितपाठेनापि लभ्यते, आयुर्वेदादिमन्त्र-पाठेषु तथादर्शनात् । तथा सति किमनेन विधिनेति चेत् उच्यते, नियमादृष्टार्थस्य विधेरावश्यकत्वात् । यथा तण्डुल निष्पत्तिरूपस्य दृष्टफलस्य नखविदलनादिनापि सिद्धौ नियमादृष्टार्थोऽवघातविधिस्तद्वत् । तस्मादक्षरप्राप्तिफलको-ऽध्ययनविधिः ।

का यह कथन स्तुति के प्रयोजन से युक्त है । यहाँ पर प्रकरणान्तर में किसी अन्य 'हान' (त्याग) के अनन्तर जो 'उपायन' (प्राप्ति को सुना गया है, उसी तरह अन्यत्र भी 'हान' के श्रुत होने पर 'उपायन' की अनुवृत्ति को स्तुति प्रकर्ष की प्राप्ति के लिये जैसे माना जाता है उसी तरह घृतकुल्यादि फल कथन के सम्बन्ध में भी सम्भव हो सकता है ।

९— अथवा 'विश्वजित्' न्याय से अर्थात् 'विश्वजिता यजेत' इस श्रुतिवाक्य में किसी प्रकार का फल श्रुत नहीं है, और फल के बिना कोई भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है । अतः 'विश्वजित्' याग का फल, सर्वाभिलषित 'स्वर्ग' ही माना गया है, उसी तरह वेदग्रहणाध्यन का भी फल 'स्वर्ग' है यह मान लिया जाय । किन्तु पूर्व पक्षी का इस प्रकार कहना उचित नहीं है, क्योंकि 'दृष्ट' (प्रत्यक्ष) फल के संभव रहते 'अदृष्ट' (अप्रत्यक्ष) फल की कल्पना करना अनुचित है । अन्यथा 'व्रीहीन् अवहन्ति'—यहाँ पर भो अवहनन-विधि का तण्डुल प्राप्तिरूप दृष्टफल नहीं मानना होगा, क्योंकि वह बहुत प्रयास से साध्य है । अतः उसकी उपेक्षा करके अदृष्ट फल की इच्छा से एक बार मुसल प्रहार-रूप परिश्रम से रहित अनुष्ठान करना चाहिये, किन्तु वैसा करने पर शास्त्रनिर्दिष्ट तण्डुलों के अभाव से पुरोडाश की अनुपलब्धि में याग की विधियों का बाध होगा । अतः दृष्ट फल की संभावना होने पर उसी का आदर करना उचित होता है । यहाँ (अध्ययन का) अक्षर ग्रहण (अक्षर प्राप्ति) रूप फल है ही । अतः स्वाध्याय विधि का अक्षर ग्रहण रूप दृष्ट फल ही मानना चाहिये ।

१०—इसपर कोई ऐसी शङ्का कर सकता है कि--अध्ययन का अक्षरप्राप्तिरूप प्रत्यक्षफल गुरुमुख से अध्ययन किये बिना लिखित पाठ को स्वयं पढ़कर भी हो सकता है । आयुर्वेद के मन्त्रों के पाठ में ऐसा देखा भी जाता है। इस प्रकार स्वतः ही अध्ययन के सम्भव हो जाने पर उस विधि की क्या उपयोगिता शेष रह जाती है ? इस शङ्का का समाधान इस प्रकार होगा कि नियम के अदृष्ट के लिये 'नियमविधि' का होना आवश्यक है । जैसे तण्डुलों की निष्पत्ति रूप दृष्ट फल की उपलब्धि तो नखों के द्वारा व्रीहि के विदलित किये जाने पर भी हो जायगी परन्तु 'अवघात से ही तण्डुल निष्पत्ति करनी चाहिये नखविदलनादि से नहीं'—इस नियम के पालन से जो अदृष्ट होता है, उसके लिये जिस प्रकार अवघातविधि ही आवश्यक है, उसी प्रकार अक्षरग्रहणरूप दृष्ट फल के स्वतः पठन से होने पर भी ? नियम-जन्य अदृष्ट की उपलब्धि के लिये यथा - निर्दिष्ट गुरुमुख से अध्ययन करना आवश्यक है । अतः अध्ययन विधि का 'स्वर्गरूप अदृष्ट फल न होकर 'अक्षरप्राप्तिरूप दृष्ट फल' ही है ।

यदुक्तमर्थावबोधपर्यवसायित्वमेवास्य विधेरक्षरप्राप्तिमात्रेणफलासिद्धेः, यद्यपि विहितस्वाध्यायाध्ययनमात्रा-दर्थावबोधो न दृष्टस्तथापि निगमनिरुक्तव्याकरणादिवेदाङ्गपरिशीलनाद् भवत्येवार्थबोध' इति, तदपि न युक्तम्-विकल्पासहत्वात् ।

११-तथाहि किमर्थावबोधः स्वयमेव स्वर्गादिवत् पुरुषार्थः,अग्निहोत्राद्यनुष्ठान द्वारा वा? नाद्यः, अनुष्ठानवैयर्थ्यप्रसङ्गात् ! न द्वितीयः, अर्थावबोधस्यानुष्ठानहेतोः परम्परयैव पुरुषार्थहेतुत्वात् अर्थावबोधहेतुभूताया अक्षरप्राप्तेरपि परम्परयैव पुरुषार्थहेतुत्वात्, विधेरक्षरप्राप्तावेव पर्यवसानात् । किञ्चानुष्ठानद्वारा स्वर्गफलोपेतेऽर्थावबोधे विधिपर्यवसानं वदतः कृत्स्नवेदाध्ययनं न सिद्धयति, राजसूयाश्वमेधादावनधिकारिणो ब्राह्मणस्य तत्फलत्वपर्यन्तार्थावबोधासम्भवात् । अक्षर प्राप्तिफलवादिनस्तु कृत्स्नवेदाध्ययनं सिद्धयति । ब्रह्मयज्ञे जपहेतुत्वात् ब्राह्मणोऽपि राजसूयाश्वमेधादिवेदभागे ब्रह्म-यज्ञं जपं करोत्येव ।

१२—न चैवं कथमर्थावबोधसिद्धिरिति वाच्यम्, काव्यनाटकादिग्रन्थेषु वैदिकविधिमन्तरापि यथार्थबोधस्तथैव वेदेऽपि सम्भवात् । न च विध्यर्थाभावेऽर्थावबोधप्रयुक्तमदृष्टं किञ्चिदपि न सिद्धयतीति वाच्यम्, अर्थावबोधस्याध्ययनविधिप्रयुक्तत्वभावेऽपि 'ब्राह्मणेन निष्कारणोधर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चे (म० भा० पस्पशाह्निक) ति विध्यन्तरप्रयुक्तत्वसम्भवात् । 'योऽर्थज्ञ इत्सकलंभद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मे, (शा० आ० १४।२) ति च विधिरस्ति तत्र तत्र, तस्मादध्ययनविधिरक्षरप्राप्तिपर्यवसायी । अर्थावबोधस्तु विध्यन्तरप्रयुक्तः ।

पूर्वपक्षीके द्वारा यह जो कहा जाता है कि 'अध्ययन विधि' का पर्यवसान 'अर्थज्ञान' में ही होता है । क्योंकि केवल अक्षरप्राप्तिमात्र से फल की सिद्धि नहीं हो सकती । यद्यपि 'अर्थज्ञान' भी केवल स्वाध्याय के अध्ययनमात्र से ही नहीं हो सकता तो निगम, निरुक्त, व्याकरण आदि वेदाङ्गों का परिशीलन करने पर अर्थज्ञान हो ही जाता है ।' किन्तु पूर्वपक्षी का यह आक्षेप, प्रश्नों के विविध विकल्पों के सामने टिक नहीं सकेगा ।

११—प्रथम प्रश्न तो यही है कि 'क्या अर्थज्ञान स्वर्ग आदि के समान स्वयं ही पुरुषार्थ है ? अथवा अग्निहोत्र आदि के अनुष्ठान के द्वारा अर्थज्ञान में पुरुषार्थता आती है ? यदि प्रथम पक्ष को स्वीकार करोगे तो 'अनुष्ठान' की व्यर्थता होगी । यदि द्वितीय पक्ष को स्वीकार करोगे तो अनुष्ठान के हेतुभूत अर्थावबोध (अर्थज्ञान) में परम्परया जैसी पुरुषार्थ हेतुता रहती है, वैसी ही अर्थावबोध से हेतुभूत अक्षरप्राप्ति में भी परम्परया ही पुरुषार्थ हेतुता है इसलिये विधि का पर्यवसान अक्षरप्राप्ति में ही हो रहा है । अतः द्वितीय पक्ष भी तुम्हारे लिये ठीक नहीं है ।

किञ्च—अनुष्ठान द्वारा स्वर्गफल (अदृष्टफल) वाले अर्थावबोध में विधि का पर्यवसान मानने वाले तुम्हारे मत से समस्त वेद का अध्ययन नहीं हो सकेगा, क्योंकि राजसूय, अश्वमेध आदि कर्मो में अनधिकारी ब्राह्मण को उन कर्मो के फल बोधक अर्थज्ञान का होना सम्भव नहीं है ? और अक्षर प्राप्तिरूपफल को माननेवाले के मत से तो समस्त वेद का अध्ययन हो पाता है । ब्रह्मयज्ञ में जप की हेतुता होने से ब्राह्मण भी राजसूय,अश्वमेधादि वेदभाग का?(ब्रह्मयज्ञ) जप करता ही है ।

१२—इस पर यदि कोई कहे कि उससे अर्थाव बोध कैसे हो सकेगा ? किन्तु उसकी यह शङ्का उचित नहीं कही जायगी, क्योंकि काव्य-नाटकादि ग्रन्थों में वैदिक विधि के बिना भी जैसे अर्थ बोध होता है, वैसे ही वेद में भी हो सकता है । यदि यह कहा जाय कि विध्यर्थ के अभाव में (अर्थज्ञान के विधि प्रयुक्त न रहने पर) अर्थावबोध प्रयुक्त अदृष्ट कुछ भी नहीं हो पायगा, तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अर्थावबोध में अध्ययन विधि की प्रयुक्ति न रहने पर भी 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च इस अन्य विधि से उसकी प्रयुक्ति हो सकती है । और 'योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाक मेति ज्ञानविधूत पाप्मा' इस अन्यविधि से भी उसकी प्रयुक्ति का होना सम्भव है । इसलिये अध्ययन विधि का पर्यवसान अक्षर प्राप्ति में ही होता है, और अर्थाव बोध तो विध्यन्तर से प्रयुक्त होता है ।

१३—तत्र वेदे कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्चेति द्वौकाण्डौ। कर्मपर्यवसायीभागः कर्मकाण्डो ब्रह्मप्रधानोऽनन्यशेषो ब्रह्मकाण्डः। न च 'बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डस्तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोः कर्मकाण्डत्वम्, तत्रोभयत्राग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात्बृहदारण्यके तु ब्रह्म प्रतिपाद्यते' इति सायणीयकाण्वभाष्यो पोद्घातविरोध इतिवाच्यम्, बृहदारण्यकस्य अनन्यशेषब्रह्मप्रधानमन्त्रब्राह्मणोपलक्षणार्थत्वात्। 'ईशावास्यमित्यादयोमन्त्राः कर्मस्वविनियुक्तास्तेषामकर्मशेषस्य आत्मनो याथात्म्याप्रकाशकत्वात्' इति शाङ्करभाष्यानुरोधाच्च।

यद्यपि संहितासु सहस्रशो मन्त्रा ब्रह्मप्रतिपादकाः सन्ति तथापि तेषां तेषु तेषु कर्मसु विनियुक्तत्वात् कर्मशेषत्वात् न ब्रह्मप्रधानत्वं सम्भवति। तत एवातत्प्रधानत्वात् न ते द्वैतपराणि आगमवचनानि प्रत्यक्षानुमानानि च बाधितुं समर्थाः, तत्प्रधानानामेवातत्प्रधानबाधकत्वसम्भवात्

१४—तदभिप्रायेणैव 'द्वेविद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च' (मु० १।१।४) तत्रापरायामेवर्ग्वेदादीनामन्तर्भावउक्तः। यया तददृश्यमग्राह्यमक्षरं गम्यते तस्या एव परत्वमुक्तम् मुण्डके। तच्चभूमिकायामुक्तमेव।

महातात्पर्यविचारे तु सर्वस्यैव वेदस्य ब्रह्मपर्यवसायित्वमेव, 'सर्वेवेदा यत्पदमामनन्ति' (कठोप० १।२।१५) 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (श्रीभ० गी० १५।१५) इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यः। अवान्तरतात्पर्यरीत्या तु कर्माणि वेदस्यविषयः। तदभिप्रायेणैव 'त्रैगुण्यविषया वेदाः' (श्री० भ० गी० २।४५) 'दृष्टवदानुश्रविकः' (सां० का० २) इत्या-

---

१३—वेद में 'कर्मकाण्ड' और 'ब्रह्मकाण्ड' भेद से दो काण्ड है, उन में से कर्मपर्यवसायी भाग 'कर्मकाण्ड' और ब्रह्म प्रधान तथा अनन्य शेष जो भाग है वह 'ब्रह्मकाण्ड' के नाम से प्रसिद्ध है। इस पर यदि कोई कहे कि 'बृहदारण्यक नाम का ग्रन्थ ब्रह्मकाण्ड भाग और उससे भिन्न (पृथक्) जो शतपथ ब्राह्मण और संहिता—इन दोनों को कर्मकाण्ड भाग कहा जाय, क्योंकि इन दोनों में अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि कर्म का ही प्रतिपादन किया गया है। और बृहदारण्यक में तो ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है—यह सायण तथा काण्वभाष्य के उपोद्घात के साथ विरोध की शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'बृहदारण्यक' शब्द से अनन्यशेषरूप 'ब्रह्म' का प्रधानरूप से वर्णन करने वाले समस्त मन्त्र और ब्राह्मणों का ग्रहण किया जाता है। शाङ्करभाष्य में भी कहा गया है कि 'ईशावास्यम्' इत्यादि मन्त्रों का विनियोग, कर्मों में नहीं है, अतः वे मन्त्र, अकर्म शेष 'आत्मा' के स्वरूप को प्रकाशित करते हैं।

यद्यपि संहिताओं में सहस्रशः मन्त्र 'ब्रह्म' के पतिपादक हैं, तथापि उनमें प्रतिपाद्य 'ब्रह्म' की प्रधानता नहीं कही जा सकी, क्योंकि अनेकानेक कर्मों में उन मन्त्रों का विनियोग बताया गया है। अतः वे मन्त्र, कर्मशेष (कर्म के अङ्ग) हैं, उनमें ब्रह्म की प्रधानता रहने का सम्भव नहीं है। अतएव अतत्प्रधान होने से वे मन्त्र, द्वैतपरक आगमवचनों और प्रत्यक्ष—अनुमान आदि का बाध करने में समर्थ नहीं हैं। तत्प्रधानवचन के द्वारा ही अतत्प्रधान वचन का बाध हो सकता है।

१४—उसी अभिप्राय से यह कहा गया है कि 'दो विद्यायें ज्ञातव्य हैं, जो 'परा' और 'अपरा' होती हैं। उन दोनों में से 'अपरा विद्या' में ही 'ऋग्वेद' आदि का अन्तर्भाव कहा गया है। मुण्डकोपनिषद् में 'परा' उस विद्या को बताया है—जिससे अदृश्य, अग्राह्य अक्षर' का ज्ञान होता है। यह बात भूमिका में स्पष्ट की जा चुकी है।

महा तात्पर्य का विचार करने पर तो सम्पूर्ण वेद का पर्यवसान 'ब्रह्म' में हो है। कठोपनिषद् के वचन—"समस्त वेद, जिसके स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं"—से तथा श्रीमद् भगवद् गीता के वचन—"सभी वेदों के द्वारा मैं ही वेद्य हूँ"—से भी उपर्युक्त कथन की ही सिद्धि हो रही है। अवान्तर तात्पर्य का विचार करनेपर 'कर्म' ही वेद के प्रतिपाद्य विषय हैं। इसी अभिप्राय को 'वेद त्रैगुण्य विषय वाले हैं'—यह गीता की उक्ति तथा 'दृष्ट के समान ही आनुश्रविक हैं—यह ईश्वर कृष्ण को उक्ति बता रही है। इन में भी वेदों की त्रैगुण्य विषयता सकाम पुरुषों के लिये

द्युक्त यः। तत्रापि सकामानामेवावान्तरतात्पर्य विधयापि वेदानां त्रैगुण्यविषयत्वम् महातात्पर्यालोचनेन व्यवसायात्मिकायां बुद्धौ परिनिष्ठितानान्तु कर्मणामपि ब्रह्मार्पणबुद्ध्यानुष्ठानेन तदुपासनारूपत्वात् बुद्धिशुद्धयादि क्रमेण ब्रह्मावगमपर्यवसायित्वमेव।

१५—तद्बोधार्थी तत्राधिकारी। तत्रप्रयोजनं विषयेण जन्यते। तेन विषयप्रयोजनयोर्जन्यजनकभावः सम्बन्धः। प्रयोजनाधिकारिणोरर्थ्यमानार्थित्वम्सबन्धः। अधिकारिविषययोस्तु प्रयोजनद्वारेणोपकार्योपकारकत्वसम्बन्धः।

यद्यपि ब्रह्मणोऽभ्यर्हितत्वात् ब्रह्मकाण्डस्यैव प्राथम्यमुचितम्, तथापि भगवदाराधनबुद्धयानुष्ठीयमानकर्मभिरेव बुद्धिशुद्धिसम्भवेन तदन्तरा ब्रह्मकाण्डेऽधिकारासम्भवात् पूर्वं कर्मकाण्ड आम्नातः।

नित्यनैमित्तिककाम्यप्रतिषिद्धभेदेन कर्माणि चतुर्विधानि। नित्यनैमित्तिकयोरननुष्ठानात् प्रतिषिद्धाचरणाच्च प्रत्यवाय उत्पद्यते।

१६—प्रत्यवायेन बुद्धिमान्द्ये सति नित्यानित्यवस्तुविवेक वैराग्यशमदमादीनामनुदयाद् ब्रह्मात्मतत्त्वजिज्ञासा न जायते। तस्माद्विविदिषायै यज्ञतपोदानादीनां बृहदारण्यके विधानं दृश्यते—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेने' (बृ० उ० ४।४।२२) ति। वेदानुवचनयज्ञादिभिः प्रत्यक्प्रवणतालक्षणब्रह्मात्मतत्त्व वेदनेच्छा जायते इति कर्मणां तत्रैव मुख्य उपयोगः। 'प्रत्यक्प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य यत्नतः। कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते-घना इव॥' इति नैष्कर्म्य सिद्धिवचनात्। प्रकृतिप्रययौ यत्र सहार्थं ब्रूतस्तत्र प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यमितिरीत्या प्रत्यगा-

---

ही अवान्तरतात्पर्यरूप से बताई गई है। महातात्पर्य के पर्यालोचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिनकी व्यवसायात्मिका बुद्धि परिनिष्ठित हो चुकी है, उनके द्वारा कर्मों का अनुष्ठान भी ब्रह्मार्पणबुद्धि से ही किया जाता है। वह कर्मानुष्ठान भी उपासनारूप है। अतः उसका भी 'बुद्धिशुद्धि' आदि के क्रम से 'ब्रह्मज्ञान' में ही पर्यवसान होता है।

१५—उसका अधिकारी 'ब्रह्मज्ञानार्थी' होता है। और 'प्रयोजन' की सिद्धि 'विषय' के द्वारा होती है। अतः 'विषय' और 'प्रयोजन' का परस्पर 'जन्यजनकभाव' सम्बन्ध हुआ करता है। एवं 'प्रयोजन' और 'अधिकारी' का 'ग्राह्य-ग्राहकभाव' सम्बन्ध होता है। तथा 'अधिकारी' और 'विषय' का 'प्रयोजन' के माध्यम से 'उपकार्योपकारकभाव' सम्बन्ध होता है।

यद्यपि 'ब्रह्म' के अभ्यर्हित रहने से उसके प्रतिपादक ब्रह्मकाण्ड' का आम्नाय करना ही प्रथमतः उचित था, तथापि भगवदाराधनबुद्धि से अनुष्ठेय कर्मों के द्वारा ही 'बुद्धि' की शुद्धि होना सम्भव है, उसकी शुद्धि के बिना 'ब्रह्म-काण्ड' में अधिकार प्राप्त होना सम्भव नहीं है। अतः 'कर्मकाण्ड' का आम्नाय ही प्रथमतः किया गया है।

'नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रतिषिद्ध'—इन भेदों से 'कर्म' चार प्रकार का होता है। इनमें से 'नित्य' तथा 'नैमित्तिक' कर्मों का अनुष्ठान न करने से तथा 'प्रतिषिद्ध' कर्मों का आचरण करने से 'प्रत्यवाय' उत्पन्न होता है।

१६—'प्रत्यवाय' से बुद्धि के मन्द हो जाने पर 'नित्य' और अनित्य' वस्तु का विवेक, तथा वैराग्य, शम, दम आदि का उदय नहीं होता है। उसके अभाव में 'ब्रह्मतत्त्व' की जिज्ञासा का उदय नहीं हो पाता है। अतः 'ज्ञान' की इच्छा अथवा 'विविदिषा' के लिये यज्ञ, तप, दान आदि का विधान, बृहदारण्यकोपनिषद् में किया गया है। ब्राह्मणलोग इस ब्रह्मतत्त्व' को जानने के लिये वेदाध्ययन के द्वारा तथा यज्ञ, दान, अनशन, तप आदि के द्वारा प्रयत्न करते हैं। वेदाध्ययन, यज्ञ आदि के द्वारा प्रत्यगात्मस्वरूप ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान की इच्छा होती है। अतः इसी ज्ञानेच्छा में कर्मों का प्रमुख उपयोग है। नैष्कर्यसिद्धि में कहा गया है कि बुद्धि को प्रत्यक् चैतन्य में प्रयत्नपूर्वक अभि-मुख करके किये गये विहित निष्कामकर्म सफल हो जाते हैं तथा कृतकृत्य होकर अन्त में अस्त हो जाते हैं, जिस प्रकार वर्षा के अन्त में मेघ अस्तङ्गत हो जाते हैं।

र्थस्य प्राधान्यात् वेदनेच्छायां यज्ञादीनां करणत्वेनान्वयः। "स्वर्गकामो यजेते" त्यादौ तु इच्छाविषयतया शब्दबोध्ये स्वर्गे शब्दविधयाऽप्रधानेऽपि साधनान्वयदर्शनात् असिना जिघांसति, अश्वेन जिगमिषति इत्यादाविवेष्यमाणवेदन एव यज्ञादीनां साधनत्वेनान्वय इति च पक्षद्वयम्।

१७—पूर्वत्र कर्मादिभिः प्रत्यक्प्रवणतालक्षणायां वेदनेच्छायां जातायां मननिदिध्यासनयुक्तेनोपक्रमोपसंहारादिषड्विधलिङ्गैर्ब्रह्मात्मनि तात्पर्यविधारणलक्षणेन ब्रह्मात्मसाक्षात्कारो जायते। उत्तरत्र तु भगवदाराधनबुद्धचानुष्ठितयज्ञादिप्रभाव एव क्रमेण बुद्धेः प्रत्यगाभिमुख्यापादनाचार्योपगमनर्निविघ्नश्रवणमनननिदिध्यासनपूर्वकं ब्रह्मात्मसाक्षात्कारमापादयति।

'कारीर्या वृष्टिकामो यजेत' 'चित्रया यजेत पशुकामः' (तै०सं० २।४।६।१) इत्यादीनि तु काम्यकर्माणि परमपुरुषार्थसाधनाभावेऽपि स्वाभाविककामकर्मज्ञानवतां वैदिकमार्गेफलसंवादेन श्रद्धामुत्पादयितुमाम्नायन्ते। किं बहुनाऽऽभिचारिककर्मणामपि द्वेषक्रोधाद्यभिभूतमतीनां स्वाभाविकद्वेषक्रोधादिजनितवेगनिरोधार्थं वैदिकोपायाभिमुख्यसम्पादनार्थमेव विधानम्।

१८—कालातिक्रमबहुवित्तव्ययक्लेशसाध्यकर्मानुष्ठानभीत्यापि वेगेऽवाधिते तदनुष्ठानेन शत्रुमरणेऽपि शत्रुभिस्तदीयैरन्यैः शासकैश्च। वाधाभावः, देवताब्राह्मणतर्पणदानादिसत्कर्मानुष्ठानादिभिर्हिंसादिकर्मणां मार्दवापादनम् स्थालीपुलाकन्यायेन वेदैकदेशोपदिष्टोपायसाफल्येन वैदिकोपायेषु सुदृढास्थोत्पद्यते। ततः प्रायश्चित्ताचरणम्।

'प्रकृति' और 'प्रत्यय' जहाँ साथ-साथ अपने अर्थ को प्रकट करते हैं, वहाँ 'प्रत्ययार्थ' की ही प्रधानता होती १५ है"—इस पद्धति से प्रत्ययार्थ की प्रधानता के कारण 'जिज्ञासा' (ज्ञान की इच्छा) में यज्ञादि का साधनत्वेन (साधनरूप से) ही अन्वय होता है। 'स्वर्गकामो यजेत'—इत्यादि वाक्यों में तो शब्द बोध स्वर्ग, पुरुषेच्छा का विषय होने से शब्दविधया अप्रधान रहने पर भी उसी में यज्ञ' आदिकों का साधनत्वेन (करणत्वेन) अन्वय होता है—यह एक पक्ष है। और खड्ग से मारना चाहता है', तथा 'अश्व से जाना चाहता है'—इत्यादि वाक्यों के समान 'अभीप्सित ज्ञान' २० में ही यज्ञादिकोंका साधत्वेन अन्वय होता है—यह दूसरा पक्ष है।

१७—उनमें से प्रथम पक्ष में—कर्मादि द्वारा प्रत्यगात्म प्रवणतारूप स्वरूप के प्रति जिज्ञासा की उत्पत्ति होने पर मनन-निदिध्यासन से युक्त हुए उपक्रमोपसंहारादि षड्विध तात्पर्य निर्णायक लिङ्गों से एवं ब्रह्मात्मा में (ब्रह्म स्वरूप में) तात्पर्यावधारण रूप श्रवण से ब्रह्मात्मसाक्षात्कार होता है। और द्वितीय पक्ष में भगवदाराधन बुद्धि से अनुष्ठित यज्ञ का प्रभाव ही क्रमशः प्रत्यगात्मा की ओर बुद्धि को सम्मुख कराते हुए, आचार्य के समीप पहुँचाकर विघ्न वाधारहित श्रवण-मनन-निदिध्यासन पूर्वक ब्रह्मसाक्षात्कार करा देता है। वृष्टि की कामना करने वाला पुरुष २५ 'कारीरीष्टि' करे, तथा पशु की कामना करने वाला 'चित्रेष्टि' का अनुष्ठान करे। इत्यादि वाक्यों से प्रतिपादित काम्यकर्म, यद्यपि परमपुरुषार्थ के साधन नहीं हैं, तथापि स्वाभाविक इच्छा और कर्म का ज्ञान रखने वाले मनुष्यों की फलप्राप्ति के द्वारा वैदिक मार्ग में श्रद्धा उत्पन्न हो, एतदर्थ उनका (काम्यकर्मों का) श्रुति ने प्रतिपादन किया है। अधिक क्या कहा जाय ! आभिचारिक कर्मों का प्रतिपादन भी द्वेष-क्रोधादि के वशङ्गत रहनेवाले मनुष्यों के स्वाभाविक द्वेष-क्रोधादि वेगों को अवरुद्ध करने के लिये तथा वैदिक उपायों की ओर उन्हें अभिमुख (आकर्षित) करने के ३० लिये ही श्रुति ने किया है।

१८—अधिक समय लगने से तथा अधिक धनव्यय के कारण एवं कष्ठसाध्य कर्मों के अनुष्ठान भय से भी जब द्वेष, क्रोधादि वेगों पर नियन्त्रण नहीं हो पाता है, उस स्थिति में उसके लिये आभिचारिक कर्मों का अनुष्ठान से श्रुति ने बताया है। उनके अनुष्ठान से शत्रुमरणरूप अभीप्सितफल की प्राप्ति भी होगी, साथ ही शत्रु तथा उसके

तात्पर्येण स्वधर्मानुष्ठानपूर्वकभगवदाराधनेऽपि प्रवृत्तिर्जायते ततः क्रमेण नैष्कर्म्यसिद्धि लभते। तदुक्तम् 'वेदोक्तमेव-कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे। नैष्कर्म्यं लभते सिद्धि रोचनार्था फलश्रुतिः' (श्री० भा० म० पु० २१।३।४६) इति। यथा जननी वत्स गडूचीं पिब खण्डलड्डूकं ते दास्यामोति प्रलोभ्य बालं गडूचीं पाययति खण्डलड्डूकं च प्रयच्छति तथापि गडूचीपानफलमारोग्यं न मोदकप्राप्तिः, एवमेव श्रुतिः पाशविककामकर्मज्ञाननिवृत्तिद्वारा ब्रह्मात्मसाक्षात्कारपूर्वकं नैष्कर्म्यस्वात्मावस्थान सम्पिपादयिषयैव कर्माणि विदधाति, स्वर्गादिफलश्रुतिस्तु रोचनार्थैव। तस्मात्कर्मकाण्डगतयोः संहिताशतपथयोः प्राधान्येन नित्यकर्माण्येवाम्नातानि।

१९—संहिताग्रन्थेऽस्मिन् चत्वारिंशदध्यायाः। तेषु प्रथमद्वितीययोरध्याययोर्दर्शपूर्णमासौ तृतीयेऽन्वाधानाग्निहोत्राग्न्युपस्थानचातुर्मास्यानि। चतुर्थमध्यायमारभ्य नवमाध्यायपर्यन्तं षट्स्वध्यायेषु अग्निष्टोमः। दशमे वाजपेयः एकादशे राजसूयः। द्वादशमारभ्य विंशान्तेषु नवस्वध्यायेषु अग्निचयनम्। एकविंशद्वाविंशत्रयोविंशेषु त्रिष्वध्यायेषु सौत्रामणी। चतुर्विंशमारभ्य सप्तविंशपर्यन्तं चतुर्ष्वध्यायेषु अश्वमेधः। अष्टाविंशमारभ्य त्रयस्त्रिंशान्तेषु षट्स्वध्यायेषु यत्र तत्र विप्रकीर्णा लिङ्गविनियोज्या अनारभ्याधीता मन्त्राः।

२०—चतुस्त्रिंशपञ्चत्रिंशयोः पुरुषमेधः षट्त्रिंशे शान्तिः सप्तत्रिंशमारभ्यैकोनचत्वारिंशपर्यन्तं त्रिष्वध्यायेषु

सम्बन्धी एवं अन्य शासकों से भी कोई पीड़ा नहीं हो पाएगी। और देवतापूजन, ब्राह्मणतर्पण, दानादि सत्कर्मों के अनुष्ठान से हिंसादि कर्मों की प्रवृत्ति में मृदुता भी सम्पन्न हो सकती है, अथवा अभिचार के द्वारा मारित व्यक्ति की हिंसा से उत्पन्न फल (पाप) की उग्रता को दूर कर उसे मृदु बनाया जा सकता है। इस प्रकार स्थाली पुलाकन्याय से वेद के अंशात्मक उपदिष्ट उपाय के सफल होने से अन्य वैदिक उपायों में भी दृढ़ आस्था उत्पन्न होगी। तदनन्तर आभिचारिक पुरुष, प्रायश्चित्त कर्मों का अनुष्ठान करेगा। साथ ही वह अपने कल्याण के लिये तत्परता से स्वधर्मानुष्ठान में संलग्न होता जायगा, उससे शनैः शनैः क्रमशः भगवदाराधना में भी उसकी प्रवृत्ति होने लगेगी। उससे क्रमशः वह नैष्कर्म्य में सिद्धि प्राप्त कर सकेगा। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि 'मानव निःसङ्ग होकर वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ और उन्हें ईश्वरार्पित करता हुआ नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त कर लेता है, विविध कर्मफलों का कथन तो आकर्षण उत्पन्न करने के लिये है। जैसे माता अपने रुग्ण बालक से कहती है कि— बेटे ! कड़वी गिलोय औषधि को पीलो, तुम्हें लड्डू दूंगी'—इस प्रकार उसे आकृष्ट करके वह गिलोय औषधि पिला देती है, और उसे लड्डू भी देती है, तब भी गिलोय औषधि पीने का फल तो रोग की निवृत्ति ही है। लड्डू की प्राप्ति नहीं।

१८—उसी प्रकार भगवती श्रुति भी पाशविक काम-कर्म और ज्ञान की निवृत्ति के द्वारा ब्रह्मात्मसाक्षात्कार पूर्वक नैष्कर्म्यरूप स्व-स्वरूपावस्था सम्पादित कराने की इच्छा से ही कर्मों का विधान करती है। कर्मों के द्वारा स्वर्गादि फलों का श्रवण तो आकर्षण उत्पन्न करने मात्र के लिये है। अतएव कर्मकाण्ड के अन्तर्गत संहिता और शतपथ ब्राह्मण में नित्यकर्मों का ही प्रधानरूप से विधान किया गया है।

इस संहिताग्रन्थ में चालीस अध्याय है। उनमें से प्रथम और द्वितीय अध्यायों में 'दर्शपूर्णमास' नामक दो सामुदायिक कर्म, तृतीय अध्याय में 'अन्वाधान' अग्निहोत्र अग्न्युपस्थान' तथा चातुर्मास्य का प्रतिपादन किया गया है। चतुर्थ अध्याय से नवम अध्याय तक यानी छह अध्यायों में 'अग्निष्टोम' का प्रतिपादन किया गया है। दशम अध्याय में 'वाजपेय', एकादशवें अध्याय में 'राजसूय' का प्रतिपादन है। द्वादशवें अध्याय से बीसवें अध्याय तक यानी नौ अध्यायों में 'अग्निचयन' का प्रतिपादन है। इक्कीसवें, बाईसवें और तेईसवें इन तीन अध्यायों में 'सौत्रामणी' याग का विधान है। चौबीसवें अध्याय से सत्ताइसवें अध्यायतक चार अध्यायों में अश्वमेध का विधान है।

२०—अट्ठाईसवें से तेतीसवें अध्याय तक छह अध्यायों में उन मन्त्रों को बताया गया है; जो विप्रकीर्ण रूप

र्ग्य:

प्रवर्ग्यः चत्वारिंशे ब्रह्मविद्या ।

प्रकृतित्वान्निरपेक्षत्वाच्च प्रथमं दर्शपूर्णमासेष्टिरेव निरूपिता । यत्र प्रकर्षेणाङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः, विकृतिषु विशेषाङ्गमात्रस्योपदेशः । अङ्गान्तराणितु प्रकृतेरतिदिश्यन्ते । सा च प्रकृतिस्त्रिधा अग्निहोत्रमिष्टिः सोमश्च । त्रिष्वप्येतेषु अन्यनैरपेक्ष्येण स्वाङ्गजातं कृत्स्नमुपदिष्टम् । तत्रापिसोमयागस्य स्वरूपेणान्यनैरपेक्ष्येऽपि अङ्गेषु दीक्षणीयादिषु दर्शपूर्णमासेष्टिसापेक्षत्वात् नेष्टेः पूर्वभावित्वम्, इष्टेश्च सोमयागनैरपेक्ष्यात् सोमात्प्राचीनत्वम् युक्तम् । यद्यप्यग्निहोत्रस्य स्वरूपाङ्गेषु नास्त्यन्यापेक्षा तथाप्यग्निसिद्ध्यपेक्षत्वात् आहवनीयाद्यग्नीनाञ्च पवमानेपि साध्यत्वात् पवमानेष्टीनाञ्च दर्शपूर्णमासविकृतित्वात् परम्परयाग्निहोत्रस्य दर्शपूर्णमासापेक्षास्तीति प्रथमभावित्वं युक्तम् ।

२१—ननुदर्शपूर्णमासयोरग्निहोत्रसाध्यत्वात् अग्निसाधकमाधानं प्रथमतोवक्तव्यमिति चेन्न, अग्नीनां पवमानेष्टिसापेक्षाधानसाध्यत्वात् । ताश्चेष्टयोदर्शपूर्णमास विकृतित्वात् साक्षादेव दर्शपूर्णमासावपेक्षन्ते । दर्शपूर्णमासौत्वग्निहोत्रद्वारा पवमानेष्टिसापेक्षावपि न साक्षात् पवमानेष्टिमपेक्षेते । अतो निरपेक्षत्वात् दर्शपूर्णमासेष्टिरेव प्रथममायाति ।

यद्यपि ऋक्सामवेदयोर्न सा पूर्वमाम्नाता तथापि कर्मकाण्डविषये यजुर्वेदस्यैव प्राधान्यात्तत्र तयोः प्राथम्यं युक्तमेव

से स्थित हैं, अर्थात् लिङ्ग प्रमाण से विनियोज्य अनारभ्याधीतमन्त्र हैं । अर्थप्रकाशनसामर्थ्य को 'लिङ्ग' कहते हैं । और जिन मन्त्रों को किसी कर्म के प्रकरण में नहीं कहा गया है, उन मन्त्रों को अनारभ्याधीत कहते हैं । चौंतीसवें तथा पैंतीसवें अध्यायों में 'पुरुषमेध' का निरूपण किया गया है । छत्तीसवें अध्याय में 'शान्तिकर्म' का विधान है । सैंतीसवें अध्याय से उन्तालीसवें अध्याय तक 'प्रवर्ग्य' का निरूपण है । चालीसवें अध्याय में ब्रह्मविद्या' का प्रतिपादन किया गया है ।

अन्य समस्त इष्टियों की प्रकृति होने से तथा स्वयं निरपेक्ष होने के कारण सर्वप्रथम दर्शपूर्णमासेष्टि का ही निरूपण किया गया है । जहां अपेक्षित समस्त अङ्गों का प्रकर्ष से कथन किया गया हो, उसे 'प्रकृति' कहा जाता है । विकृतियों में केवल विशिष्ट अङ्गों का ही कथन रहता है, उनमें दूसरे सामान्य अङ्गों का प्रकृति से ही अतिदेश कर लिया जाता है । वह प्रकृति तीन प्रकार की होती है—(१) इष्टि, (२) पशु और (३) सोम । इन तीनों में अपने समस्त अङ्गों का उपदेश किया गया है, किसी अन्य कर्म से इनमें अपेक्षित अङ्गों का अतिदेश नहीं होता है । सोमयाग यद्यपि स्वरूपतः अन्यनिरपेक्ष है, तथापि उसके अङ्गभूत दीक्षणीयेष्टि आदिकों में दर्शपूर्णमासेष्टि की अपेक्षा रहने के कारण इष्टि से उसका पूर्वभावित्व नहीं है, किन्तु इष्टि को 'सोमयाग' की अपेक्षा न रहने से वह निरपेक्ष है । अतः उसका सोम से पूर्व रहना युक्ति-युक्त है ।

२१— यद्यपि अग्निहोत्र के स्वरूपसम्पादक अङ्गों में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, तथापि उसमें अग्निसिद्धि की अपेक्षा तो है ही तथा आहवनीयादि अग्नियों का अस्तित्व, पवमानेष्टियों से साध्य होने के कारण और वे पवमानेष्टियां, दर्शपूर्णमासेष्टि की विकृतिरूप होने के कारण परम्परया अग्निहोत्र को दर्शपूर्णमास की अपेक्षा रहती है । अतः उसका प्रथमतः रखना उचित ही-है ।

शङ्का—दर्शपूर्णमासकर्म तो अग्निहोत्र होम कर्म के द्वारा साध्य हैं । अतः अग्नि का साधक जो आधान है, उसी का प्रथम विधान होना उचित है ।

समा०—उक्त आशङ्का करना ठीक नहीं है । क्योंकि अग्नियां जो हैं, वे, पवमानेष्टि की अपेक्षा रखने वाले आधान कर्म से साध्य होती है । और वे इष्टियां, दर्शपूर्णमास की विकृति होने से साक्षात् ही दर्शपूर्णमास की अपेक्षा

कर्मणामानुपूर्व्येण यजुर्वेद एववर्णनात्। तत्रतत्र विशेषापेक्षायां याज्यापुरोनुवाक्यादय ऋग्वेदेस्तोत्रादीनितु सामवेदे समाम्नायन्ते। तस्मात् कर्मणां विषये प्राधान्यात् यजुर्वेदस्य तत्र च दर्शपूर्णमासेष्टिरेव समाम्नाता। तस्यामेवेष्टौ इषेत्वादयोमन्त्राः।

२२—तत्र मन्त्राणां सामान्यलक्षणं जैमिनीये द्वितीयाध्याये प्रथमपादे विचारितम्। 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या (मी०सू० २।१।२९) इति। विहितस्यार्थस्याभिधायको मन्त्र इत्युक्तौ वसन्ताय कपिञ्जलानालभते १० (व०स० २४।२०) इत्यस्य मन्त्रस्य विधिरूपत्वादव्याप्तिः। मननहेतुर्मन्त्र इत्युक्तौ ब्राह्मणेऽतिव्याप्तिरिति न सम्भवति मन्त्रलक्षणमिति पूर्वपक्षेयाज्ञिकसमाख्यानस्यैव निर्दुष्टलक्षणत्वं सिद्धान्तितम्। तच्चसमाख्यानमनुष्ठानस्मारकत्वादिना मन्त्रत्वं गमयति। 'उरूप्रथस्व' (मा० सं० १।२२) इत्यादयोऽनुष्ठानस्मारकाः, 'अग्निमीळे पुरोहितम्' (ऋ० सं० १।१।१) इत्यादयः स्तुतिरूपाः, 'इषेत्वे' (वा० सं० १।१) त्यादयस्तु शाखाच्छेदनस्मारकाः, 'अग्न आयाहिवीतय' (सामवेद सं० पूर्वार्चिक १।१।१) इत्यादय आमन्त्रणोपेताः। एवमत्यन्तविजातीयेषु याज्ञिकसमाख्यान (प्रसिद्धि) मन्तरानान्यत्सम्भवति मन्त्रलक्षणम्।

२३—तत्रैव 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (मी० सू० २। १। ३०) इति मन्त्रातिरिक्ते वेदभागे ब्राह्मण शब्द इत्युक्तम्।

रखती हैं। किन्तु दर्शपूर्णमास, अग्निहोत्र के द्वारा पवमानेष्टि की अपेक्षा नहीं रखता है। अतः निरपेक्ष रहने से दर्शपूर्णमासेष्टि को ही प्रथमतः रखना प्राप्त होता है। यद्यपि ऋग्वेद और सामवेद में दर्शपूर्णमासेष्टि को प्रथम नहीं कहा गया है, तथापि कर्मकाण्ड के विषय में यजुर्वेद की ही प्रधानता होने के कारण दर्शपूर्णमासेष्टि की प्रथमता उचित ही है। यजुर्वेद में ही कर्मों का आनुपूर्वीक्रम से वर्णन किया गया है।

२२—कर्मविशेषों में विशेष अङ्गों की अपेक्षा होने पर 'याज्या', 'पुरोनुवाक्या' आदि मन्त्रों को ऋग्वेद में, ~~तथा स्तोत्रआदिको~~ तथा स्तोत्रआदिको सामवेद में कहा गया है। अतः कर्मों के विषय में यजुर्वेद की प्रधानता रहने से तथा उसमें भी दर्शपूर्णमासेष्टि को ही बताया गया है। उसी इष्टि में 'इषेत्वा' आदि मन्त्रों का विनियोग होता है।

मन्त्रों के सामान्य लक्षण का विचार जैमिनीय सूत्रों के द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में किया गया है। अनुष्ठेय अर्थप्रकाशन के प्रयोजक वाक्यों को 'मन्त्र' शब्द से कहा जाता है (मी०सू० २।१।२९)। विहित अर्थ के अभिधायक को 'मन्त्र' कहने पर 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते'—पहले दो स्तम्भों के मध्यभाग में तीन कपिञ्जल पशुओं को 'वसन्त' देवता के लिये बांधे यह मन्त्र, विधिरूप होने से मन्त्रलक्षण की अव्याप्ति होती है। यदि 'मननहेतुर्मन्त्र'—मनन के हेतु को मन्त्र कहते हैं तो 'ब्राह्मण' में अतिव्याप्ति होती है। अतः मन्त्र का लक्षण करना सम्भव नहीं हो रहा है—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्त किया गया है कि याज्ञिकों की परम्परा में 'मन्त्र' शब्द से जिसकी प्रसिद्धि हो वही 'मन्त्र' है। मन्त्र का यही निर्दुष्ट लक्षण सम्भवनीय है। वह याज्ञिकप्रसिद्धि कर्मानुष्ठानस्मारकत्व आदि हेतुओं से 'मन्त्रत्व' का बोध कराती है। 'उरू प्रथस्व' इत्यादि मन्त्र, अनुष्ठान के स्मारक होते हैं, 'अग्निमीड़े पुरोहितम्' इत्यादि मन्त्र, स्तुतिरूप होते हैं, 'इषेत्वा' इत्यादि मन्त्र, आमन्त्रण में विनियुक्त हैं। इस प्रकार अत्यन्त विजातीय वाक्यों में याज्ञिकविद्वानों की पारम्पर्यप्रसिद्धि के अतिरिक्त 'मन्त्र' का कोई अन्य लक्षण नहीं बताया जा सकता। उसी प्रसङ्ग में 'शेषे ब्राह्मणशब्दः'—मन्त्र से अवशिष्ट रहे भाग को 'ब्राह्मण' शब्द से कहा जाता है (मी० सू० २। १। ३०)।

२३—ऋक्, साम, यजु के मन्त्रों में भी अध्यापक प्रसिद्धि के अनुसार यद्यपि साङ्कर्य ही प्रतीत होता है—तथाहि, 'अग्नये मथ्यमानायानुब्रूहि'—(तै० सं० ६।३।५।३), 'हविर्धानाभ्यामनुब्रूहि'—(ऐ० ब्रा० १।२९) इत्यादि

ऋक्सामयजुर्मन्त्राणामपि यद्यप्यध्यापकप्रसिद्ध्या साङ्कर्यमेव। तथाहि 'अग्नये मथ्यमानायानुब्रूहि' (तै० सं० ६।३।५।३) हविर्धानाभ्यां (ऐतरेय ब्राह्मणे १।१६) प्रोह्यमाणाभ्यामनुब्रूहि' (ऐ० ब्रा० १।२९) इत्यादीनि यजूंषि ऋग्वेदेसमाख्यातानि। देवस्त्वासवितापुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः (तै० सं० १।२।१।२) इति मन्त्रो यजुर्वेदे पठितः। न च स यजुर्वेदेमन्त्रः। ऋग्रूपत्वेन तैत्तिरीयब्राह्मणे (तै० ब्रा० ३।२।५।३) व्यवहृतत्वात्। 'एतत्सामगायन्नास्ते' इति प्रतिज्ञाय 'हा उ' (तै० आ० ९।१०।५) इत्यादिकं सामयजुर्वेदे गीतम्। 'अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणिशंसितमसि' इतित्रीणि यजूंषि सामवेदे समाम्नायन्ते। तथापि वृत्तपादबद्धाऋचः, गीतिरूपा मन्त्राः सामानि, वृत्त-गीतिविवर्जितत्वे प्रश्लिष्टपठिता मन्त्रा यजूंषि इति।

२४—भवत्येव व्यवस्थितं लक्षणम्। तथा च महर्षि जैमिनिः तेषामृग्यत्रार्थवशेनपादव्यवस्था, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुष्शब्दः, (मी० सू० २।१।३२-३३-३४)।

सम्भवति दृष्टफलकत्वे न केवलमदृष्टार्था मन्त्राः। यथा 'उरु प्रथस्व' (मा० सं० १।२२) तिमन्त्रः, भोः पुरोडाश त्वं उरु वैपुल्यं यथास्यात्तथा कपालेषु प्रसरेत्यर्थप्रकाशनायोच्चार्यते न केवलमदृष्टार्थम्। किन्तु 'उरुप्रथस्वेति (श० ब्रा० १।२।२।८) प्रथयतीति ब्राह्मणवाक्येनापि तथार्थानुस्मरणसम्भवात् मन्त्रेणैवानुस्मरणीयमिति द्रव्य-देवतादिज्ञाने फलश्रवणादज्ञाने च दोषश्रवणादृष्यादयो ज्ञातव्या इत्युक्तम्। अस्या मन्त्रब्राह्मणात्मिकाया माध्यन्दिनी शाखायाः स्वयम्भुब्रह्मारभ्य पौतिमाषीपर्यन्ताः सम्प्रदायप्रवर्त्तका ऋषयो वंशब्राह्मणेषु स्पष्टमाख्याताः। काण्डविशेषेषु

यजुर्मन्त्रों को ऋग्वेद में पढ़ा गया है। 'देवस्त्वा सविता'—(तै० सं० १।२।१।२) इस मन्त्र को यजुर्वेद में पढ़ा गया है। किन्तु वह यजुर्वेद का मन्त्र नहीं है। क्योंकि तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।२।५।३) में इस ऋक् शब्द से व्यवहार हुआ है। इसी प्रकार 'इस सामको वह गा रहा है'—यह प्रतिज्ञा करके 'हा उ' इत्यादि साम को यजुर्वेद में गाया गया है। 'अक्षितमसि' इत्यादि तीन यजुमंन्त्रों को सामवेद में पढ़ा गया है। इस प्रकार का ऋक्, यजु और साम में व्यवहार साङ्कर्य होने पर भी 'छन्द (वृत्त) और पद से जो आबद्ध हो उसे ऋक् कहना चाहिए, गीतिरूप मन्त्रों को 'साम' कहना चाहिये और छन्द तथा गीति से रहित प्रश्लिष्ट पठित 'मन्त्रों' को यजु कहना चाहिये।

२४—इस रीति से ऋक् यजु और साम के लक्षणों को व्यवस्थित किया गया है। इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर 'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुः शब्दः (मी० सू० २।१।३२-३३।३४) आदि कथन किया गया है। निष्कर्ष यह है कि 'ऋक्' वह है, जहाँ अर्थ को लक्ष्य करके पाद (चरण) व्यवस्थित हो। 'गीति' को साम, और अवशिष्टों में यजु का व्यवहार करने से कहीं भी साङ्कर्यदोष नहीं होता है—यह जैमिनि मुनि का कथन है।

जहाँ मन्त्रों का दृष्टफल सम्भव होता हो वहाँ उन्हें केवल अदृष्टफलार्थ नहीं माना जाता। जैसे 'उरुप्रथस्व' यह एक मन्त्र है, हे पुरोडाश! तुम कपालों पर जिस प्रकार विपुलता को प्राप्त कर सको उस प्रकार फैल जाओ। इस अर्थ को प्रकाशित करने के लिये इस मन्त्र का उच्चारण किया जाता है, केवल अदृष्टफल की प्राप्ति के लिये नहीं। किन्तु 'उरुप्रथस्वेति प्रथयति'—इस ब्राह्मण वाक्य से भी उक्त अर्थ का अनुस्मरण करना सम्भव होने के कारण 'मन्त्रे-णैव अनुस्मरणीयम्'—मन्त्रोच्चारण के द्वारा ही वह अनुस्मरण होना चाहिये—इस नियमविधि से द्रव्य, देवता आदि के स्मरण के साथ ही 'अदृष्टोत्पत्ति' को भी मन्त्रोच्चारण का प्रयोजन मानना चाहिये। तत्तन्मन्त्रों के ऋषि, देवता, छन्द के जानने का भी फल' बताया गया है और उनके न जानने पर 'दोष' की उत्पत्ति का होना सुना जाता है। अतः तत्तन्मन्त्रों के 'ऋषि, देवता, छन्द' का जानना भी आवश्यक है यह कहा गया है। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक माध्यन्दिनी शाखा के 'स्वयम्भू ब्रह्मा' से लेकर 'पौतिमाषी' तक सम्प्रदाय प्रवर्तक ऋषियों को वंशब्राह्मण में स्पष्टतया बताया गया

मन्त्रविशेषेषु च ब्राह्मणगताख्या यिकाभिरनुक्रमणिकाग्रन्थैश्च ज्ञातव्याः।

२५—तदज्ञानेऽपि वंशोक्तानामृषीणामवगतत्वादवेदनप्रयुक्तो दोषो नास्त्येव। ऋषिविशेषाणामपि विज्ञाने फलाधिक्यमस्त्येव। अतएव वीर्यवत्तरम् भवतीति कात्यायनेन स्पष्टमेवोक्तम्।

सायणरीत्या नियताक्षरपादावसानानां मन्त्राणां छन्दोज्ञानमावश्यकम्। इषे त्वेत्यादीनान्त्वनियताक्षरत्वाच्छन्दो ५ नास्त्येव। ये तु यजुषामपि छन्द इच्छन्ति तैः कात्यायनोक्तसर्वानुक्रमणिकायां पञ्चमाध्यायमभ्यस्य तद्द्वारेण तत्तन्मन्त्रच्छन्दोऽनुसन्धेयम्। यजुषां षडुत्तरशताक्षरावसानानामेकाक्षरादीनां पिङ्गलेन 'देव्यैकम्' (पिङ्गलछन्दः सूत्र २।३) इत्यादिनोक्तम् छन्दो बोद्धव्यम्। तदधिकानातु 'होतायक्षद्वनस्पतिमभिहि' (वा सं० २१।४६) इत्यादीनां नास्ति छन्दः कल्पना। दर्शपूर्णमासमन्त्राणां परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः, द्वितीयाध्यायेऽन्तिमकण्डिकाषट्के पितृयज्ञमन्त्रास्तेषां प्रजापतिर्ऋषिः, आद्येऽध्याये सर्वाणि यजूंषि 'पुरा क्रूरस्य' (वा० सं० १।२८) इत्येका ऋक्।

१० २६—तत्राद्यायां कण्डिकायां पञ्चमन्त्राः द्वौत्र्यक्षरौ तृतीयश्चतुरक्षरः, चतुर्थो द्विषष्ट्यक्षरः, पञ्चमो नवाक्षरः, प्रथमस्य दैव्यनुष्टुप् छन्दः, मन्त्रवाक्याभिधेया देवता, यातेनोच्यते सा देवतेति। सा च मन्त्रलिङ्गादवगन्तव्या। यत्राग्नीन्द्रादयश्चेतनाः प्रतिपाद्यन्ते तेष्वग्न्यादीनां देवतात्वम्, यत्र पलाशशाखाबर्हिर्जुह्वादयोऽचेतनाः प्रतिपाद्यन्ते तेषु तत्तद्द्रव्याभिमानिनश्चेतना देवता ज्ञातव्याः। अतएव – मृदब्रवीत् 'आपोऽब्रुवन्' इत्यादिष्वचेतनद्रव्येषु चेतनोचितव्यापारमुपपादयितुं 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' (ब्र०सू० २।१।५) इति बादरायणसूत्रम्। यथा प्रथममन्त्रस्य दैव्यनुष्टुप् १५ छन्दः शाखादेवता पलाशशाखाछेदने विनियोगः।

है। कतिपय काण्डविशेषों में और मन्त्रविशेषों में ऋषि आदि के उक्त न रहने पर भी उनका ज्ञान, ब्राह्मणगत आख्यायिकाओं से और अनुक्रमणिका ग्रन्थों से प्राप्त कर लेना चाहिये।

२५—कदाचित् उन ऋषियों का ज्ञान न भी रहे तो वंशब्राह्मणोक्त ऋषियों के ज्ञात होने मात्र से भी उनके अज्ञान से होने वाला दोष नहीं हो पाता है। ऋषिविशेषों के ज्ञान से भी फल में अधिकता का होना निश्चित ही है। २० अतएव महर्षि कात्यायन ने ऋषि आदि का स्मरणात्मक ज्ञान करते हुए किए जाने वाले वेदाध्ययन को स्पष्टतया ही वीर्यवत्तर बताया है।

सायणाचार्य के मतानुसार तो नियत अक्षर वाले पादों में पूर्ण होने वाले मन्त्रों का छन्दोज्ञान होना नितान्त आवश्यक माना गया है। 'इषे त्वा' इत्यादि मन्त्रों के अक्षर नियत न होने से उनमें छन्द होते ही नहीं हैं। जो लोग यजुर्मन्त्रों में भी छन्दोज्ञान को आवश्यक मानते हों वे लोग, महर्षि कात्यायनोक्त सर्वानुक्रमणिका के पञ्चमा- २५ ध्याय का अभ्यास करके उसके द्वारा तत्तन्मन्त्रों के छन्दों का अनुसन्धान कर लें। एक अक्षर से प्रारम्भ करके एक सौ छह अक्षरों तक के छन्दों वाले यजुर्वेद के मन्त्रों के छन्दों का ज्ञान पिङ्गल प्रोक्त 'दैव्यैकम्' (पि० सू० २।३) इत्यादि सूत्रों की सहायता से प्राप्त कर लेना चाहिये। इनसे अधिक अक्षरों वाले 'होतायक्षद्वनस्पतिमभिहिः (वा० सं० २१। ४६) इत्यादि मन्त्रों में छन्दों की कल्पना न करे। 'दर्शपूर्णमास' मन्त्रों का परमेष्ठी प्रजापति ऋषि है, द्वितीय अध्याय में अन्तिम छह कण्डिकाओं में जो पितृयज्ञ के मन्त्र कहे गये हैं, उनका 'प्रजापति' ऋषि है, पहिले अध्याय में सभी यजुर्मन्त्र हैं, केवल 'पुराक्रूरस्य'—(वा० सं० १।२८) यह एक ऋक् है।

२६—प्रथम कण्डिका में पांच मन्त्र –, उनमें दो मन्त्र तीन अक्षरों वाले हैं, तीसरा मन्त्र चार अक्षरोंवाला है, चौथा मन्त्र बासठ अक्षरोंवाला है, और पांचवां मन्त्र नौ अक्षरों का है। प्रथम मन्त्र का छन्द 'दैवी अनुष्टुप्' है। मन्त्रवाक्य से जो अभिधेय है वही देवता है, मन्त्र के द्वारा जो बताई जाती है वही देवता कही जाती है। उसका ज्ञान,

ननु 'अग्निर्मूर्धा' (वा० सं० ३।१२) इत्यादौ अग्नेर्महाभाग्यत्वात् देवतात्वं युक्तम्, शाखादीनान्तु स्थावरत्वात् कुतो देवतात्वमिति चेन्न, यस्य हि यत्र हविर्भाक्त्वंस्तुतिभाक्त्वं वा तस्य तत्र देवतात्वमितिरीत्या तत्रापि देवतात्वे बाधाभावात् ।

२७—शाखाद्यधिष्ठात्र्यो देवता अपि परमेश्वरांशभूतत्वात् महाभाग्या एव । मन्त्रस्य वाच्यं देवतेति श्रुति-दर्शयति 'आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघन'' इत्युपक्रम्य ऐन्द्र्योऽभिरूपा' (श० ८।२।३।६) इतीन्द्रस्य देवतात्वं दर्शयति ।

२८—दर्शयागं चिकीर्षुः प्रातर्नित्याग्निहोत्रं कृत्वा दर्शयागार्थं, 'ममाग्ने वर्चः' (का० श्रौ० सू० २।१।३) इत्यादिमन्त्रैः समिदाधानरूपमन्वाधानं कृत्वा वत्सापाकरणं कुर्यात् । अयमभिप्रायः—दर्शयागे 'आग्नेयोऽष्टाकपालः' (श० १।६।२।५) 'ऐन्द्रं दधि' (श० ५।२।४।११) 'ऐन्द्रं पयः' (श० ५।२) इति त्रीणि प्रधानानि हवींषि भवन्ति । तत्र प्रतिपदि होमार्थं दधि सम्पादनीयम्, अमावास्यायां रात्रौ गावो दोग्धव्याः, तद्दोहनार्थममावास्यायामेव प्रातःकाले लौकिकदोहनादूर्ध्वं स्वमातृभिः सह चरन्तो वत्साः पलाशशाखया स्वमातृभ्योऽपाकरणीयाः । तदर्थमेव पलाशशाखा-छेदनम् । 'स वै पलाशशाखया वत्सानपाकरोती' ति काण्वश्रुतेः । अर्थवादे गायत्र्या कृतं सोमवल्ल्याहरणमभिधाय तदाहरणवेलायां पक्षिरूपाया गायत्र्याः पक्षविशेषः सोमवल्ल्याः पर्णं च भूमावपतत् । तयोरन्यतरत् पर्णनामकः पलाश-

---

मन्त्रगत लिङ्ग से कर लेना चाहिये । जहाँ अग्नि, इन्द्र आदि चेतनों का प्रतिपादन किया गया है, वहाँ अग्नि आदि को देवतात्व होता है, और जहाँ पलाश शाखा, बर्हि, जुहू आदि अचेतनों का प्रतिपादन किया गया है, वहाँ तत्तद्-द्रव्याभिमानी चेतन देवताओं को समझना चाहिये । अतएव 'मृदब्रवीत्', 'आपोऽब्रुवन्'—मट्टी बोली, जल बोले - इत्यादि अचेतन द्रव्यों में चेतनोचित-व्यापार के उपपादनार्थ ''अभिमानिव्यपदेशस्तु'—(ब्र० सू० २।१।५) इस बादरायण सूत्र के अनुसार समझना चाहिये । जैसे प्रथम मन्त्र का 'दैवी अनुष्टुप् छन्द, शाखा—देवता है, तो उस प्रथम मन्त्र का पलाश शाखा के छेदन में विनियोग किया जाता है ।

प्रश्न—'अग्निर्मूर्धा'—(वा० सं० ३।१५) इत्यादि मन्त्र में 'अग्नि'—महाभाग्यवान् होने से उसे देवता कहना तो उचित है, किन्तु वृक्ष की शाखा आदि तो स्थावर होने से उन्हें देवता कहना कैसे सङ्गत होगा ?

उत्तर—जहाँ जिसकी हविर्भागिता हो अथवा जहाँ जिसकी स्तुति की जाती है, वहाँ उसी को देवता स्वरूप माना जाता है. इस रीति के अनुसार उपर्युक्त 'शाखा' आदि को देवता मान लेने में कोई किसी प्रकार की बाधा नहीं है । २७ शाखा आदि की अधिष्ठात्री देवताएँ भी परमेश्वर के ही अंशभूत होने से वे महाभाग्यवान् ही हैं । 'देवता' भी मन्त्र के वाच्य होते है, इस बात को भगवती श्रुति स्वयं ही बता रही है—'आशुः शिशानो', से आरम्भ करके 'ऐन्द्र्यो-ऽभिरूपा' इस वाक्य के द्वारा 'इन्द्र' का देवतात्व प्रदर्शित किया गया है ।

२८—'दर्शयाग' का अनुष्ठान करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति (पुरुष) प्रातःकाल 'नित्याग्निहोत्र' का अनुष्ठान करके 'दर्शयाग' के लिये 'ममाग्ने वर्चः'—(का० श्रौ० सू० २।४।३) इत्यादि मन्त्रों से समिदाधानरूप अन्वाधान करके 'वत्सापाकरण' करे । इसका अभिप्राय यह है कि 'दर्शयाग' में 'आग्नेय अष्टाकपाल, ऐन्द्रदधि, और ऐन्द्रपयः (दूध)—ये तीन प्रधान हवि होते हैं । प्रतिपत् तिथि में होम के अनुष्ठानार्थ 'दधि' का सम्पादन करना होता है । उसके लिये अमावास्या तिथि की रात्रि में गौओं को दुहना पड़ता है, उनके दोहनार्थ अमावास्या के दिन ही प्रातःकाल लौकिक दोहन के अनन्तर अपनी माताओं के साथ विचरण करनेवाले वत्सों (बछड़ों) को पलाश शाखा से अपनी माताओं (गौओं) से दूर करना पड़ता है । इस अपाकरण (दूर करने) के लिये ही पलाशशाखा के छेदन का विधान किया गया है । काण्वश्रुति कहती है कि 'स वै पलाशशाखया वत्सानपाकरोति'—वह पलाश की शाखा से बछड़ों को अलग करता है । अर्थवाद में—गायत्री के द्वारा किये गये सोमवल्ली के आहरण को बतलाकर—कहा गया

वृक्षो जातः । अतः सोमसम्बन्धात् गायत्रीसम्बन्धाच्च पलाशवृक्षः प्रशस्य इत्युक्तम् । 'गायत्र्यै वा सोमस्य वा रा० ज्ञस्तत्पतित्वा पर्णोऽभवत् तस्मात्पर्णो नाम तद्यदेवात्र सोमस्य त्यक्तं तदिहाप्यसदिति तस्मात्पर्णशाखया वत्सानपाकरोती (श० १।७।१।१) ति शतपथश्रुतेः ।

२८—'तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत् । तं गायत्र्याहरत् । तस्य पर्णमच्छिद्यत तत् पर्णोऽभवत् तत्पर्णस्य ५ पर्णत्वम् ब्रह्म वै पर्णः यत्पर्णशाखया वत्सानपाकरोति ब्रह्मणैवैनानपाकरोति' (तै० ब्रा०-३।२।१।१) इति तैत्तिरीयाः । पर्णमात्रस्य कुतः पलाशवृक्षत्वमिति न शङ्कितव्यम् विधातुरचिन्त्यशक्तित्वात् । अन्यथा बीजादेव कथं वृक्षो भवतीत्यपि कथं न संशयः ? तथात्वेऽपि न सर्वत्र पर्णाद् वृक्षत्वप्रसङ्गः । ईश्वरसङ्कल्पस्य फलबलकल्प्यत्वात् ।

कात्यायनश्च तथैव बिनियुंक्ते 'पर्णशाखां छिनत्ति, शामीलीं वेषेत्वेत्यूर्जे त्वेति वा, छिनद्मीति वोभयोः साकांक्षत्वात्, सन्नमयामीति वोत्तरे' (का० श्रौ० सू० ४।२।१-३) पलाशशाखा शमीशाखा वात्र कल्पिता । तच्छेदने इषे त्वा, १० ऊर्जे त्वेति चैतौ मन्त्रौ विकल्पितौ । तयोः क्रियापदसापेक्षत्वात् अर्थावबोधाय छिनद्मीति पदमध्याहर्त्तव्यम् । तदप्युक्तमुव्वटाचार्येण–अतिरिक्तं पदं त्याज्यं हीनं वाक्ये निवेशयेत् । विप्रकृष्टं तु सन्दध्यादानुपूर्व्यं च कल्पयेत् ।। लिङ्गं धातुं विभक्तिं च योज्यं वाक्यानुलोमतः । यद्यत् स्याच्छान्दसं वाक्ये तत्तत्कुर्यात्तु लौकिकम् ।।

३०—तत्र लौकिकोऽध्याहारो यथा 'भूताय त्वा नारातये' (वा० स० १।११) अत्र मन्त्रे परिशेषयामि इति, 'पिनष्टि प्राणाय त्वेति प्रतिमन्त्रं' (का० श्रौ० सू० २।५।६) 'प्राणाय त्वा' (वा० सं० १।२०) पिनष्मि इति। अनुषङ्गस्तु मन्त्रावयव एव । यथा—'ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः' । (वा० सं० २।२५) इत्ययमंशः

है कि उसके आहरण काल में पक्षी का रूप धारण की हुई गायत्री का पङ्ख और सोमलता का पत्र भूमि पर गिर पड़ा । उनमें से एक पर्ण नामक पलाश वृक्ष हो गया । अतः सोम तथा गायत्री का सम्बन्ध होने के कारण 'पलाश-वृक्ष' को प्रशंसनीय कहा गया है । वहाँ जो कुछ सोम का अंश छूटा, वह 'पर्ण' हुआ । 'इसलिये पर्णशाखा से बछड़ों को पृथक् करता है—ऐसी शतपथश्रुति है ।"

२९—यहाँ से तीसरे स्वर्ग में 'सोम' विद्यमान था । गायत्री ने उसका आहरण किया । उसका पर्ण टूट गया । वही 'पर्ण' बना, यही उस पर्ण का पर्णत्व है । 'ब्रह्म' ही पर्ण है । पर्ण की शाखा से वत्सों के अपाकरण का अर्थ है कि "ब्रह्म से ही उनका अपाकरण करना" ऐसा तैत्तिरीय श्रुति बता रही है । एक पत्ता टूटकर उसका पलाशवृक्ष कैसे बन गया ?'—यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि विधाता की शक्तियाँ अचिन्त्य हैं । अन्यथा अणुमात्र बीज से महान् वृक्ष कैसे निकल आया ? यही संशय क्यों नहीं करते ? वैसा मान लेने पर भी सर्वत्र 'पर्ण' से वृक्ष की उत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं आवेगा । क्यों कि 'फल' को देखकर ईश्वर का यहाँ ऐसा करने का ही सङ्कल्प था, यह कल्पना की जाती है ।

कात्यायन महर्षि ने ऐसा ही विनियोग बताया है—'पर्ण की शाखा का अथवा शामीली वृक्ष की शाखा का छेदन करता है' । यहाँ पर पलाश अथवा शामीली (शमी) वृक्ष की शाखा की कल्पना की गई है। उसके छेदन में 'इषेत्वा' और 'उर्जेत्वा' इन दो मन्त्रों का विनियोग विकल्प से किया गया है । उन दोनों मन्त्रवाक्यों को क्रियापद की अपेक्षा होने से 'छेदन करता हूँ' इस क्रियापद का अर्थज्ञान के लिये अध्याहार करना चाहिये । उव्वटाचार्य ने ऐसा करने का निर्देश देते हुए कहा है कि "अतिरिक्त पद को छोड़ देना चाहिये तथा न्यून पद का निवेश करना चाहिये, जो पद विप्रकृष्ट (दूर) हो उसे समीप लाकर पौर्वापर्य का निश्चय करना चाहिये ।

३०—वाक्य के अनुरोध से लिङ्ग, धातु तथा विभक्ति की योजना करनी चाहिये । वाक्य में जो छान्दस (वैदिक) हो, उसे लौकिक बना लेना चाहिये । लौकिक अध्याहार का उदाहरण, जैसे—'भूताय त्वा', इस मन्त्र में 'परिशेषयामि', तथा 'प्राणायत्वा' इस मन्त्र में 'पिनष्मि' का अध्याहार किया गया है । 'अनुषङ्ग' तो मन्त्र का अवयव ही होता है । जैसे—'अस्मादन्नात्' आदि विष्णुक्रम के मन्त्रों में जो 'ततो निर्भक्तो योऽमान् द्वेष्टि' अंश पढ़ा गया है,

अस्मादन्नान्निक्तिः । अस्यै प्रतिष्ठायै निर्भक्त इत्यादिविष्णुक्रममन्त्रेषु दिवि विष्णु' (वा० सं० २।२५) रित्यादिषु परिपठितमिहाभिसम्बद्धचते अपरिपूर्णं त्वेतत् वाक्यस्य । इह त्वन्यशाखापरिपठितेनाख्यातेन सूत्रकारेण वाक्यपूर्तिः कृता। छिनद्मीति चोभयोः साकांक्षत्वात् सन्नमयामीति वोत्तर इति । सोऽयमेकः पक्षः । 'इषे त्वे'ति छेदनार्थो मन्त्रः । 'ऊर्जे त्वे'ति सन्नमनार्थो मन्त्रः । सन्नमनमृजूकरणम् । तदिदं पक्षान्तरम् । बौधायनस्तूभयोर्वाक्ययोरेकमन्त्रत्वमाश्रित्य तं छेदने विनियुङ्क्ते । तामाच्छिनत्तीषे त्वोर्जे त्वेति । आपस्तम्बस्तु तदभिसन्धाय मन्त्रभेदपक्षमपि किञ्चिदाश्रित्य विनियोगभेदमाह । सन्नयतः पलाशशाखां शमीशाखां वा हरति इषे त्वोर्जे त्वेति तामाच्छिनत्त्यपि वेषेत्वेत्याच्छिनत्त्यूर्जे त्वेति सन्नमयत्यनुमार्ष्टि वेति ।

३१—सन्नयतः सान्नाय्यनामकं दधिरूपं हविः कुर्वत इत्यर्थः । काण्वास्तु मन्त्रभेदं विनियोगभेदं चाश्रित्य तामाच्छिनत्तीषे त्वेति वृष्टये तदाह यदिषे त्वेत्यूर्जे त्वेत्यनुमार्ष्टि यद् वृष्टया ऊर्ग्रसो जायते तस्मा उ एतदाह तस्मादाहोर्जे त्वेतोति । तां पर्णशाखां इषेत्वेति मन्त्रेणाध्वर्युः साकल्येन छिन्द्यात् छेदनकाले इषे त्वेति यद्वाक्यमाह तद्वृष्टिसिद्धचर्थं ऊर्जे त्वेति मन्त्रेण तां शाखामनुमृज्यात् । अनुमार्जनं आनुलोम्येन तस्य संलग्नधूल्याद्यपनयनम् । यदि प्रभूतवृष्टेः सकाशात् व्रीहियवाद्यभिवृद्धिहेतुरूर्जशब्दाभिधेयः समीचीनजलात्मको रसो जायते तदा प्राणिनामुपकारो भवति । तदर्थमेवाध्वर्यु राह । किमाहेत्याशङ्क्य तस्मादाहोर्जे त्वेति वाक्येन तदेव स्पष्टीक्रियते ।

उसका सम्बन्ध यहाँ भी वाक्य की अपरिपूर्णता को दूर करने के लिये किया जाता है । अन्य शाखा में पठित क्रियापद से सूत्रकार ने वाक्य की पूर्ति की है । 'इषेत्वा' और 'उर्जेत्वा' में दोनों ही पद साकाङ्क्ष हैं । अतः 'छिनद्मि' पद से अथवा सन्नयामि' पद से इनकी पूर्ति की जाती है—यह एक पक्ष है ।

'इषेत्वा' यह मन्त्र छेदनार्थ है और 'उर्जेत्वा' यह मन्त्र, सन्नमनार्थ है । 'सन्नमन' का अर्थ ऋजूकरण है—यह दूसरा पक्ष है । किन्तु बौधायन तो दोनों मन्त्रवाक्यों को एक ही 'मन्त्र' मानकर उसका 'छेदन' में विनियोग बताते हैं—'तामाच्छिनत्तीषेत्वोर्जेत्वेति' अर्थात् 'इषेत्वोर्जेत्वा' से उसका छेदन करता है । और आपस्तम्ब तो पूर्वोक्त का अभिसन्धान करते हुए मन्त्र भेद पक्ष का भी कुछ आश्रय लेकर दोनों का भिन्न-भिन्न विनियोग बताया है । 'सान्नाय्य' हवि के निर्माणार्थ 'पलाश' या 'शमी' की शाखा का हरण करता है । 'इषेत्वोर्जेत्वा' मन्त्र से उसका छेदन करता है, अथवा 'इषेत्वा' मन्त्र से उसका छेदन और 'उर्जेत्वा' से उसका सन्नमन अथवा अनुमार्जन करता है ।

३१—'सन्नयतः' का अर्थ है—'सान्नाय्य' नामक पयोदधिरूप हवि का सम्पादन करनेवाले का । काण्वशाखाध्यायी मन्त्रभेद और विनियोग भेद का आश्रय लेकर उसका (शाखा का) छेदन करते हैं । 'इषेत्वा' इस मन्त्र का उच्चारण 'वृष्टि' के लिये है । इसी अभिप्राय को काण्वशाखी इस प्रकार बताता है—'इषेत्वा, उर्जेत्वा' से जो अनुमार्जन करता है, वह वृष्टि से उत्पन्न होनेवाले 'रस' के लिये है । अध्वर्यु उस पर्णशाखा का 'इषेत्वा' इस मन्त्र को बोलकर पूर्णशाखा का छेदन करे । छेदन करते समय 'इषेत्वा' इस वाक्य का उच्चारण 'वृष्टि' के लिये किया जाता है । 'उर्जेत्वा' इस मन्त्र से उस शाखा का अनुमार्जन करे । शाखा को झुका कर उस पर लगी हुई धूलि आदि को स्वच्छ करना चाहिये । यदि उर्ज' पद का अर्थ, प्रभूत (पर्याप्त) वर्षा से व्रीहि–यव आदि की अभिवृद्धि में हेतुभूत 'समीचीन जलात्मक रस' है, तो 'उर्जेत्वा' का उच्चारण करने से प्राणियों का उपकार होता है । इसलिये 'अध्वर्यु' कह रहा है । क्या कह रहा है ? इस प्रश्न के उत्तर में 'उर्जेत्वा' इस वाक्य से उसी को स्पष्ट किया गया है ।

तत्र प्रथमा

३२—हरिः ॐ । इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वस्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि ॥१॥ (वा० सं० १।१) मन्त्रार्थस्तु—हे शाखे इषे इष्यमाणायै वृष्ट्यै त्वा त्वां छिनद्मि । इष्यते कांक्ष्यते सर्वैर्हि व्रीह्यादिधान्यनिष्पत्तये इतीट्, (इषु इच्छायाम्) इषे इति तादर्थ्ये चतुर्थी । ननु यद्येषणाक्रियायोगादिह वृष्टिरभिधीयते न तु रूढ्या तदानीं यद्धिरण्यादि किञ्चिदिष्यते तत्सर्वमिड्उच्येत, तथा सति संव्यवहारोच्छेदः स्यादिति चेन्न, यतो हि सिद्धेशब्दार्थसम्बन्धे पश्चादभिधानाभिधेयभावं क्रियाद्वारकं प्रकाशयितुं व्युत्पत्तिः क्रियते । इह तु 'वृष्ट्यैतदाह यदाहेषेत्वा' (श० १।७।१।२) इति श्रुत्यैवेट्पदेन वृष्टिरभिधेयेत्युक्तम्, तथापि व्युत्पत्तिद्वारेण शब्दानां परिज्ञानमभ्युदयहेतुरिति श्रुतिर्दर्शयति । "तत्प्रणीतानां प्रणीतात्वं प्रतिह तिष्ठति य एवमेतत्प्रणीतानां प्रणीतात्वं वेद' (श० १२।८।३।८) इति । एवमेव पुरुषशब्दव्युत्पत्तिं प्रकृत्याह—'स यत्पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मन औषत् तस्मात् पुरुष ओषति हवै सतं योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति य एवं वेद' (श० १४।४।२।२) ऊर्जे त्वेति मन्त्रः शाखासंनमने विनियुक्तः ।

उसी को स्पष्ट कहनेवाला यह प्रथम मन्त्र है—

(प्रथमा कण्डिका)

३२—हरिः ॐ । 'इषेत्वोर्जेत्वा' इत्यादि ॥ १ ॥ (वा० सं० १।१) ।

मन्त्रार्थ—हे शाखे [इषे] अभीष्ट वर्षा के लिये [त्वा] तुम्हें काटता हूँ । 'इषे' पद की निष्पत्ति 'इषु इच्छायाम्' धातु से बने हुए इट्' शब्द से हुई है । जो धातु के अर्थ में ही विहित चतुर्थी विभक्ति के एक वचन का रूप है । व्रीहि आदि धान्यों की निष्पत्ति के लिये सभी के द्वारा वृष्टि की कामना की जाती है । अतः 'इट्' शब्द से 'वृष्टि' का ग्रहण किया गया है ।

शङ्का—यदि एषणा क्रिया के सम्बन्ध से यहाँ पर जिसकी इच्छा की जा रही है, उस 'वृष्टि' का ग्रहण किया गया है, तो उस 'वृष्टि' रूप अर्थ का ग्रहण, 'रूढि' से हुआ नहीं कहा जायगा । अर्थात् उस अर्थ को 'रूढ्यर्थ' न कहकर 'यौगिक' कहा जायगा । क्योंकि उक्त अर्थ को यौगिक व्युत्पत्ति से ग्रहण किया गया है । तब तो अन्य सुवर्ण (हिरण्य) आदि वस्तुओं की भी एषणा (अभिलाषा) होती है, अतः उनका भी यहाँ ग्रहण हो सकने से उन्हें भी 'इट्' शब्द से कहना होगा । तब तो शब्दों के सुनियत व्यवहार का ही उच्छेद होने लगेगा ।

समा०—उक्त आशङ्का के समाधानार्थ एक अन्य सिद्धान्त समझना होगा कि 'शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध नित्य हुआ करता है, उस नित्य सम्बद्ध अर्थ को ही बाद में 'क्रिया' के द्वारा 'वाच्य-वाचकभाव' (अभिधानाभिधेयभाव) से प्रकाशित करने के लिये व्युत्पत्ति की जाती है । यहाँ तो 'वृष्टयै' इत्यादि शतपथ ब्राह्मण के द्वारा ही 'इट्' पद से 'वृष्टि' को बताया जा रहा है—कह दिया गया है, तथापि व्युत्पत्ति के द्वारा शब्दों का ज्ञान प्राप्त करना अभ्युदयकारक होता है, इस बात को भगवती श्रुति बता रही है—'तत् प्रणीतानाम्प्रणीतात्वं"—वह प्रणीता का प्रणीतात्व है, जो उसको जानता है वह प्रतिष्ठित होता है इसी प्रकार 'पुरुष' शब्द की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में कहा गया है—"स यत्पूर्वोऽस्मात्" इत्यादि । 'पुरुष' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—'पुरा औषत्' इति पुरुषः । 'पुरा' सब से पहिले सभी पापों को 'औषत्' भस्म कर दिया, इसलिये इसे (पुरा औषत्) 'पुरुष' कहते हैं ।

३३—शाखैव देवता। हे शाखे त्वा त्वां सन्नमयामि इति वाक्यशेषः। ऋजूकरोमीत्यर्थः। किमर्थम् ऊर्जे रसाय (ऊर्ज बलप्राणनयोः) इति धातोर्निष्पन्नत्वात्। ऊर्जइति वृष्टिगतो बलात्मको रसःसर्वान् मनुष्यपश्वादीन् बलयति पानादिना दृढशरीरान् करोति, प्राणयति प्रकर्षेण चेष्टयति वेति व्युत्पत्तिभ्यामूर्जपदेन वृष्टिगतो जलात्मकोरस उच्यते। तस्मै रसाय त्वामनुमार्ज्मि। श्रुत्याप्ययमेवार्थोद्दृढीक्रियते। 'यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह' (श० १।७।१।२) इति श्रुतेः। उक्तमन्त्रद्वयपाठेनाध्वर्यु रिष्यमाणमन्त्रं बलकरमाज्यक्षीरादिरसं च यजमाने सम्पादयत्येव 'इषे त्वोर्जेत्वेत्याह। इषमेवोर्जं यजमाने दधाति।' (तै० ब्रा० ३।२।१।३) इति तित्तिरिवचनात्। न चात्र प्रत्यक्षविरोधः, अर्थवादस्य प्रशंसारूपगुणवादत्वाङ्गीकारात्। यदा कदाचिदन्नरसयोर्यत्सम्पादनं तस्यैतन्मन्त्रफलत्वाङ्गीकारेण भूतार्थवादत्वमपि सम्भवत्येव। यद्वा तथाभूतमन्त्रसंस्कृतसान्नाय्यहविर्दानेनाग्नेर्धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिर्जायते।

३४—श्रुतिश्चात्र भवति—'अग्नेर्वैधूमोजायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिः' (श०५।३।५।१७) तथा—'इतः प्रदानाद्वै वृष्टिरितोह्यग्निर्वृ ष्टिंवनुते स एतैः स्तोकैरेतांस्तोकान्वनुते त एते स्तोका वर्षन्ति' (श० ३।८।२।२२) इति।

'वायवःस्थ' इति मन्त्रेण वत्सं शाखयोपस्पृशति। 'मातृभिर्वत्सान्संसृज्य वत्सं शाखयोपस्पृशति वायवः स्थेति' (का० श्रौ० सू० ४।२।७) इति कात्यायनवचनात्। अस्य मन्त्रस्य वायुर्देवता। वान्ति गच्छन्तीति वायवो गन्तारः हे वत्सा यूयं वायवः स्थ भवत। यथा वायुर्वृष्टिद्वारेण गवामाप्यायक एवं यूयम् प्रस्नुतिद्वारेणाप्यायका भवथेत्यर्थः। यद्वा हे वत्सा यूयं मातृभ्यः सकाशात् अन्यत्र गन्तारो भवथ। मातृभिः सहगमने सायं पयोलाभासम्भवात्। अथवा यथा

३३—इस 'पुरुष' शब्द की व्युत्पत्ति को जो जानता है वह भी ज्ञान और उपासना के अथवा ज्ञान के बल से उन सभी को अभिभूत कर देता है, जो इस ज्ञानी से पूर्व 'प्रजापति' बनना चाहता है। ऊर्जेत्वा'—यह मन्त्र, 'शाखा के सन्नमन' में विनियुक्त है। 'शाखा' ही उस मन्त्र की देवता है। हे शाखे! मैं तुम्हें, 'सन्नमयामि'=ऋजु करता हूँ अर्थात् सीधा करता हूँ—यह अंश, उर्जेत्वा' का 'वाक्यशेष' कहलाता है अर्थात् प्ररक अंश है। किसलिये सन्नमन किया जा रहा है? तो कहा 'ऊर्जे' रस के लिये। 'ऊर्क्' पद की निष्पत्ति 'ऊर्ज बल प्राणनयोः' धातु मे होती है। 'ऊर्ज' अर्थात् वृष्टिगत बलात्मकरस, सम्पूर्ण मनुष्य, पशु आदिकों को यानी पानादि क्रियाओं के द्वारा उनके शरीरों को सुदृढ़ करता है,बलवान् बनाता है। अतः उसे 'ऊर्ज' कहा गया है। "प्राणयति प्रकर्षेण चेष्टयति वा' इस द्विविध व्युत्पत्ति के बल पर 'ऊर्ज' पद का अर्थ 'वृष्टिगत जलात्मक रस' किया जाता है। उस रस की प्राप्ति के लिये हे शाखे! तुम्हारा मैं अनुमार्जन करता हूँ। "यो वृष्टात्" इत्यादि श्रुति से भी इसी अर्थ को पुष्ट किया गया है। उक्त दोनों मन्त्रों के उच्चारण से 'अध्वर्यु', अभीष्ट बल का प्रदान करने वाले आज्य, क्षीर आदि रस को यजमान के लिये सम्पादित करता है। तित्तिरि का भी इसी प्रकार वचन है? इस कथन का 'प्रत्यक्ष' से भी कोई विरोध नहीं है। क्योंकि अर्थवादवाक्यों को प्रशंसारूप गुणवाद के रूप में स्वीकार किया जाता है। जब कभी यजमान के शरीर में अन्न और रस का सम्पादन होगा, वह इसी मन्त्र के उच्चारण का फल है, ऐसा स्वीकार किये जाने पर वह भूतार्थवाद भी हो सकता है। अथवा इस प्रकार मन्त्र के द्वारा संस्कारयुक्त 'सान्नाय्य हवि के प्रदान में 'अग्नि' से 'धूम' होता है, 'धूम' से 'मेघ' उत्पन्न होते हैं। 'मेघ' से 'वृष्टि' होती है।

३४—इस बात को श्रुति ने भी बताया है—जैसे, "अग्नेर्वै धूमो जायतेः", तथा "इतः प्रदानाद्वै वृष्टिः" इत्यादि। "वायवः स्थ" इस मन्त्र से वत्स (बछडे) का शाखा से स्पर्श कराता है, "मातृभिर्वत्सान्" इत्यादि कात्यायनवचन भी उक्तार्थ को पुष्ट कर रहा है। इस मन्त्र की देवता—'वायु' है। 'वान्तिगच्छन्तीति वायवो गन्तारः'—गमन क्रियाशील होने से उसे 'वायु' कहा जाता है। हे वत्सों! तुम वायु हो जाओ। जैसे वायु, वर्षा के द्वारा गौओं को तृप्त करता है, वैसे ही तुम भी 'प्रस्नुति' के द्वारा गौओं के तृप्तिकारक बनो। अथवा "हे वत्सों! तुम माताओं के समीप से अन्यत्र चले जाओ।" माताओं के साथ जाने से सायंकाल दूध की प्राप्ति नहीं होगी। अथवा पादप्रक्षालन तथा निष्ठीवन (थूकना) आदि से अपवित्र हुई भूमि को वायु जिस प्रकार शुद्ध करके पवित्र बनाता है, वैसे ही बछड़े

वायुः पादप्रक्षालननिष्ठीवनादिभिरुपहतां भूमिं शोधयित्वा पुनाति एवं वत्सा अपि अनुलेपनहेतुभूतगोमयादिदानेनभूमिं पुनन्ति, तस्माद्वायुसादृश्यम् ।

३५—यद्वा मनुष्याणामिव स्वनिवासाय गृहनिर्माणसामर्थ्याभावात् । निरावरणेऽन्तरिक्षे सञ्चरणादन्तरिक्षमेव-पशूनां देवता । तस्यान्तरिक्षस्य वायुरधिपतिः । स च वायुरेतान् पशून् स्वावयवानिव पालयतीति पशूनां वायुरूपत्वम् । तथाविधपालनायपशून् वायवे समर्पयितुं वायुरूपत्वमापाद्य वायवः स्थेति मन्त्रः प्रवर्तते इति सर्वमेतदाह तित्तिरिः—'वायवः स्थेत्याह । वायुर्वाऽन्तरिक्षस्याध्यक्षः अन्तरिक्षदेवत्याः खलुवैपशवो वायवएवैनान्परिददाति' (तै० ब्रा० ३।२-१।३) इति । तेन वायुरूपत्वमुच्यते । अथवा तृणभक्षणायाहनि तत्र तत्रारण्ये चरित्वा सायंकाले वायुवेगेन यजमानगृहे समागमनाय पशून् प्रकर्षेणाकारयितुं वायुरूपत्वमुच्यते ।

३६—प्रवा एनानेतदाकरोति । यदाह वायवः स्थेति' (तै० ब्रा० ३।२।१।४) 'देवो वः सविता प्रार्पयतु' इति मन्त्रेण वत्सानां मातरो या गावः सन्ति तासां मध्ये गामेकां पृथक्कृत्य तां शाखयोपस्पृशेत् । 'देवो व' इति मातृणामेकां व्याकृत्यैन्द्रं भवति माहेन्द्रं वा' (का० श्रौ० सू० ४।२।८।१०) इति कात्यायनस्मरणात् । तदर्थस्तु वत्सानां मातरो या गावः सन्ति तासां मध्ये गामेकां व्याकृत्य पृथक्कृत्य देवो व इति मन्त्रेण शाखयोपस्पृशेत् । तथा सति गोसम्बन्धि दधि-रूपं हविरैन्द्रं माहेन्द्रं वा भवति । एकस्यैव वत्सस्यैकस्या एव गोः शाखयोपस्पर्शनेन सर्वेषां वत्सानां सर्वासां गवां च संस्कारः सिद्ध्यति बहुवचनसामर्थ्यात् । मन्त्रार्थस्तु सविता षूप्रेरणे सुवति स्व स्वव्यापारे प्रेरयतीति सविता । देवः द्योतमानः परमेश्वरः । 'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा' (नि० ६।१५) इति यास्कः ।

३७—हे गावः ! ओ युष्मान् प्रार्पयतु प्रभूतघासजलाद्युपेतं वनं गमयतु । किमर्थं श्रेष्ठतमाय कर्मणे । कर्महि

भी अनुलेपन के साधनभूत गोमय आदि का प्रदान करके भूमि को पवित्र करते हैं, इस रीति से वत्स और वायु का साहश्य है ।

३५—अथवा मनुष्यों की तरह अपने निवास के लिये गृहनिर्माण करके रहना पशुओं के लिये सम्भव नहीं होता, वे निरावरण अन्तरिक्ष में घूमते रहते हैं । अतः पशुओं की देवता—'अन्तरिक्ष' ही है । उस अन्तरिक्ष का अधि-पति—'वायु' है । वह वायु, इन पशुओं का पालन अपने अङ्गावयवों के समान करता है । अतः पशु भी वायुरूप ही हैं । इस प्रकार के पालन के लिये पशुओं को वायु के अर्पित करने के लिये, उन्हें वायु के रूप प्रस्तुत करके "वायवस्थ" इस मन्त्र की प्रवृत्ति हुई है । इस सम्पूर्ण विषय को तित्तिरि ने 'वायवः स्थ' मन्त्र से कहा है—"वायु, अन्तरिक्ष का अध्यक्ष है, और अन्तरिक्ष, पशुओं की देवता है, इसलिये 'पशु', वायुरूप हो हैं । वह वायु, इन पशुओं का पालन करता है ।" इसी कारण पशुओं को वायुरूप कहा जाता है । अथवा दिन में तृणभक्षणार्थ 'वन' में यत्र-तत्र विचरण करके सायंकाल यजमान के घर वायुवेग से पहुंचने के लिये उन्हें समुचित प्रकर्ष के साथ बुलाने के लिये पशुओं को वायुरूप कहा गया है ।

३६—कात्यायन महर्षि ने भी अपने श्रौतसूत्र में बताया है कि वत्सों की माताएँ जो गौएँ हैं, उनमें से एक 'गौ' को पृथक् करके 'देवो वः' इस मन्त्र से 'शाखा' के द्वारा उसका स्पर्श करे। ऐसा करने से गौ का दधिरूप हविः पदार्थ 'ऐन्द्र' (इन्द्रदेवता सम्बन्धी), या 'माहेन्द्र' (महेन्द्रदेवता सम्बन्धी) बन जाता है । एक ही 'वत्स' अथवा एक ही 'गौ' का शाखा से स्पर्श करने पर सभी 'वत्सों' का तथा सभी 'गौओं' का संस्कार सिद्ध हो जाता है, क्योंकि विधि-वाक्य में 'बहुवचन' का निर्देश किया गया है । अथवा पूजार्थ को सूचित करने के लिये भी बहुवचन का निर्देश हो सकता है । "देवो वः सविता प्रार्पयतु—श्रेष्ठतमाय कर्मणे ।"

३७—हे गौओं ! प्रकाशमान परमेश्वर तुम्हें श्रेष्ठतम कर्म के लिये प्रचुर घास, जल आदि से युक्त वन में पहुँचावे ।" 'सविता' पद की निष्पत्ति 'षू प्रेरणे' धातु से होती है । 'सुवति स्वव्यापारे प्रेरयति इति सविता'—अपने

चतुर्विधम्-अप्रशस्तम् यथा लोकशास्त्रविरुद्धं वधबन्धचौर्यादिकं (२) प्रशस्तं यथा लौकिकैः श्लाघनीयं बन्धुवर्ग-पोषणादिकम् (३) श्रेष्ठं यथा स्मृतिभिः श्लाघनीयं वापीकूपतडागादिकं (४) श्रेष्ठतमम् यथा वेदैः श्लाघनीयं यज्ञरूपम्। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' (श० १।७।१।५) इति श्रुतेः। हे अघ्न्याः, गावः, गोवधस्योपपातकत्वाद् गावो हन्तुमयोग्या अघ्न्या उच्यन्ते। एतावता गोवधः सर्वथा वेदविरुद्ध एव।

३८—तथाविधा यूयम्। इन्द्राय भागं इन्द्रदेवतामुद्दिश्य सम्पादयिष्यमाणदधिहेतुभूतं क्षीरम् आप्यायध्वम् समन्तात् वर्धयद्ध्वम्। सर्वास्वपि गोषु प्रभूतं क्षीरं कुरुत। (ओप्यायी वृद्धौ)। वो युष्मानपहर्तुं स्तेनश्चौरो मा ईशत ईश्वरः समर्थो माभूत्। अघशंसः, अघेन तीव्रपापेन भक्षणादिना शंसो घातको व्याघ्रादिरपि मा ईशत हन्तुं समर्थो माभूत्। कथंभूता युष्मान् प्रजावतीः बह्वपत्या-, जीवद्वत्सा वा। अनमीवाः (अमरोगे) इति धातुः। अमीवा व्याधि-विशेषः, तद्रहिताः कृमिदष्टत्वादिस्वल्परोगरहिताः। अयक्ष्माः क्षयादिप्रबलरोगरहिताः। अथवा अयनम् अयः गमनम्, अयःक्ष्मायां पृथिव्यां घासादिभक्षणार्थं यासां ता अयक्ष्मा अनिवारितप्रचाराः। किञ्च यूयं गोपतौ गवां युष्माकं पत्याव-स्मिन् यजमाने ध्रुवाः शाश्वतिकीः बह्वीः बहुविधाः स्यात भवत।

'यजमानस्य पशूनित्यग्न्यगारस्यान्यतरस्य पुरस्तात् शाखामुपगूहति' (का० श्रौ० सू० ४।२।११) इति रीत्या-पलाशशाखामुन्नतप्रदेशे स्थापयित्वा प्रार्थयते हे पलाशशाखे, त्वमुन्नतप्रदेशे स्थिता प्रतीक्षमाणा सती यजमानस्य पशूनरण्ये सञ्चरतश्चोरव्याघ्रादिभयात् पाहि रक्ष। यद्यप्यचेतना शाखा, तथापि तदभिमानिनीं देवतामुद्दिश्यैवं वक्तुं शक्यते।

अपने व्यापार में जो प्रेरित करता है, उसे 'सविता' कहते हैं। तथा प्रकाशमान परमेश्वर को 'देव' कहते हैं। 'दान, दीपन और द्योतन के कारण 'देव' कहे जाते हैं-ऐसा यास्क ने कहा है। ऊपर कहचुके हैं कि परमेश्वर श्रेष्ठतम कर्म के निमित्त शाद्वल वनभूमि पर गौओं को प्रेषित करे। अतः कर्म के सम्बन्ध में भी जो ज्ञातव्य है, उसे समझना आवश्यक है। 'कर्म' चार प्रकार के होते है—(१) अप्रशस्त, जैसे लोक तथा शास्त्र के विरुद्ध वध, वन्ध, चौर्य आदि। (२) प्रशस्त जैसे—समाज के द्वारा प्रशंसित बन्धुवर्गों का पोषण आदि। (३) श्रेष्ठ, जैसे—स्मृतियों के द्वारा श्लाघनीय वापी, कूप, तडागादि का निर्माण करना। (४) श्रेष्ठतम, जैसे—'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' (श० प० १।८।१।५) इत्यादि वेदवाक्यों के द्वारा प्रशंसित यज्ञादि। गोवध का उपपातकों में परिगणन होने से उन्हें (गौओं को) न मारने योग्य बताया है। अतएव उनके लिये 'अघ्न्याः' पद का प्रयोग किया गया है। इसलिये 'गोवध' सर्वथा वेद-विरुद्ध ही है।

३८—हे अवध्य गौओं! तुम सब इन्द्र देवता के उद्देश्य से सम्पादित होने याले 'दधि' के हेतुभूत 'दुग्ध' को बढ़ाओ। सभी गौओं में प्रचुर दुग्ध की उत्पत्ति हो। तुम्हारे अपहरण में चोर समर्थ न होने पावें। भक्षणरूप तीव्र पाप के कारण घातक कहलाने वाले वृक, व्याघ्र, चाण्डाल आदि भी तुम्हें मारने में समर्थ न हो सकें। तुम प्रजावती अर्थात् अनेक बछड़ोंवाली अथवा जीवित बछड़ोंवाली हो। हे गौओं! तुम कृमि-कीटादि के दंश (काटने) से उत्पन्न होने वाले स्वल्प रोगों से तथा यक्ष्मा (क्षय) आदि प्रबल रोगों से सर्वथा रहित रहो। अथवा 'अयक्ष्मा'—अयनं अयः गमनं, क्ष्मा पृथिवी। अतः पृथिवी पर ग्रास-तृण आदि के भक्षणार्थ तुम्हारा भ्रमण अप्रतिहत रहे। तथा हे गौओं! तुम सभी अपने गोपति यजमान के लिये स्थायो एवं विविध प्रकार के लाभ पहुँचाती हुई बनी रहो-

'यजमानस्य पशून्' इत्यादि कात्यायनोक्त रीति से पलाशशाखा को ऊंचे स्थान पर स्थापित करके उस की प्रार्थना की जाती है कि पलाशशाखे! तुम ऊंचे स्थान पर स्थित होकर देख-भाल करती हुई, इस यजमान के, विचरणार्थ गये हुए पशुओं की वन में चोरों से तथा हिंसक सिंह आदि घातक प्राणियों के भय से रक्षा करना। पलाशशाखा यद्यपि अचेतन हैं, तथापि उसकी अभिमानिनी अधिष्ठात्री देवता से यह प्रार्थना की जाती है।

३९—यथा शास्त्रज्ञाः शालग्रामादौ शास्त्रदृष्ट्या विष्णवादिसन्निधिमभिप्रेत्यैव तं सम्बोधनावाहनादिभिः षोडशोपचारैरर्चन्ति तद्वदत्रापि बोध्यम्। अनया शाखादेवतया रक्षितत्वादेव गावो निरुपद्रवाः सायंकाले पुनः समागच्छन्ति। तदुक्तं तित्तिरिणा—'यजमानस्य पशून् पाहीत्याह। पशूनां गोपीथाय। तस्मात् सायं पशव उप समावर्तन्ते' (तै०ब्रा० ३।२।१।५) इति। तथैव काण्वश्रुतिः 'पलाशशाखा आहवनीयागारस्य गार्हपत्यागारस्य वा पूर्वार्धे उपगूहतीति
५ यजमानस्य पशून् पाहीति ब्रह्मणैवैतद्यजमानस्य गुप्तये परिददाति' एतद्ब्राह्मणैव एतेन मन्त्रेणैव रक्षार्थं शाखाभिमानिदेवतायै समर्पयतीत्यादि। कात्यायनोऽपि 'यजमानस्य पशूनित्यग्न्यगारस्यान्यतरस्य पुरस्ताच्छाखामुपगुहति' (का० श्रौ० सू० ४।२।११) इति (

४०—अयमभिप्रायः देवताराधनरूपो यागोभवति। देवताश्चानन्तशक्तिपरमेश्वरांशत्वात् महाभाग्याः परमैश्वर्यवन्तो दिव्याश्च भवन्ति। ताभ्यो दास्यमानेन हविषापि दिव्येनैव भाव्यमिति। तेन लौकिकेभ्योऽविलक्षणानामपि
१० दुग्धदध्नां दिव्यत्वापादनाय गवां वत्सानाञ्च संस्कारः क्रियते। किं वहुना तत्संस्कारार्थमुपादीयमानपलाशादिशाखानां छेदनानुमार्जनादयोऽपि स्वाध्यायाध्ययनसंस्कृतैर्मन्त्रैः संस्क्रियन्ते। अतएव व्रजसीमन्तिन्यश्च श्रीकृष्णोद्देशेन निर्मथ्यमानदधिनवनीतादीनां सौष्ठवमाधुर्यसौरस्यापादनाय भक्तिभावनासंस्कृतान्नघासादिखादनादिभिर्धेनवो वत्साश्च संराध्यन्ते। पात्राण्येधांसि पयःपाकोपयुक्ताग्नीन् संस्कृत्य तथाविधेनातञ्चनेनामृततुल्यं मधुमधुरं दधिनिर्मथ्य श्रीकृष्णागमनं प्रतीक्षन्ते।

१५ ४१—इष् शब्दगतो इकारो धातुस्वरेण प्रतिपदिकस्वरेणोदात्तः। 'चतुर्थ्येकवचनस्य' 'अनुदात्तौ सुप्पिता'

३९—जैसे शास्त्रज्ञ विद्वान् शिलाविशेष में शास्त्रदृष्टि से विष्णु सन्निधान मानते हुए उन्हें उस शिला में सम्बोधित करते हैं, उनका आवाहन और षोडशोपचारों से पूजनादि सम्पन्न करते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। इस शाखा की अभिमानिनी अधिष्ठात्री देवता से सुरक्षित होती हुई ही गौएं, विविध वाधाओं से मुक्त होकर सायंकाल पुनः आजाती हैं। तित्तिरि ने 'यजमानस्य पशून्' इत्यादि से, काण्व श्रुति ने 'पलाशशाखा' आदि से, कात्या-
२० यन ने 'यजमानस्य पशून्' इत्यादि से इसी का विवरण किया है।

४०—इसका अभिप्राय यह है कि 'याग',—देवता की आराधना स्वरूप है। देवता, परमेश्वर के अंश होने के कारण महाभाग्यवान्, परम ऐश्वर्यशाली, तथा दिव्य है। उनको जो हवि' दिया जाय, वह भी दिव्य ही होना चाहिये। अतएव जो 'दुग्ध' और 'दधि' लौकिक दुग्ध, दधि के समान ही है, उनमें दिव्यता लाने के लिये गौओं तथा बछड़ों का संस्कार किया जाता है। और तो क्या ! उनके संस्कार के लिये उपयोग में आने गाली पलाशवृक्ष की
२५ शाखाओं का छेदन तथा उनका मार्जन आदि भी 'स्वाध्याय' (स्वकुल परम्परागत वेदशाखा) के अध्ययन से सुसंस्कृत मन्त्रों के द्वारा सम्पादित होता है। 'स्वाध्यायः' में 'स्वश्चासौ अध्यायः स्वाध्यायः' ऐसा कर्मधारय समास किया जाता है। 'तत्पुरुषसमास' नहीं करना चाहिये। अस्तु।

इसीलिये उपर्युक्त कथन के अनुसार ही ब्रजाङ्गनाओं ने भी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के उद्देश्य से निर्मित होने वाले दधि, नवनीत आदि में सौष्ठव, माधुर्य और सरसता का लोकोत्तर समावेश करने के लिये भक्ति और भावना से
३० परिप्लुत हुए अन्न, तृण आदि को खिला-कर धेनु (गौओं) और उनके वत्सों (बछड़ों) की आराधना की थी। वे गोपिकाएं खिलाने के पात्रों को, काष्ठों को, दूध गरम करने वाले अग्नि को सुसंस्कृत कर और उसी प्रकार आतञ्चन (जामन) के द्वारा अमृततुल्य मधु से मधुर दधि का मन्थन करके भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के आगमन की प्रतीक्षा किया करतीं थी।

४१—'ईषेत्वा' में 'इष' शब्दगत 'इ' कार, उदात्त है। 'त्वा' अनुदात्त है। किन्तु संहिता में 'त्वा' स्वरित है। इसी प्रकार उत्तर मन्त्रों में स्वर प्रक्रिया कर लेनी चाहिये, उसके परिज्ञानार्थ महीधर भाष्य को देखना उचित है।

(पा० सू० ३।१।४) वित्यनुदात्तत्वे प्राप्ते तदपवादेन 'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्ति' (पा० सू० ६।१।१६४) रित्युदात्त-त्वम्। तस्मिन् सति अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (पा० सू० ६।१।१५४) इति पूर्व इकारोऽनुदात्तः। यद्यप्येकशब्देन द्वयोरनु-दात्तयोरन्यतरो यः कोऽपि वक्तुं शक्यते तथापि सति शिष्टस्वरो बलीयानिति (६।१।१५४ स्थलीयेन) न्यायेन विभक्तिगत उदात्त एव प्रबलः। तथा सति अनुदात्तादिकमुदात्तान्तमिदं सम्पन्नम्। त्वा शब्दस्य प्रातिपदिकस्वरेण यद्य-प्युदात्तत्वं प्राप्तं तथापि अनुदात्तं सर्वमपादादौ' (पा०सू० ८।१।१८) इत्यस्य सूत्रस्यानुवृत्तौ सत्यां 'त्वामौ द्वितीयाया' ५ (पा० सू० ८।१।२३) इति त्वादेशविधानादयं शब्दोऽनुदात्तः। संहितायां'मुदात्तादनुदात्तस्य स्वरित' (पा० सू० ८।४।६६) इति त्वा शब्दस्य स्वरितत्वम्। 'ऊर्जेत्वा' इत्यत्रापि यथोक्तरीत्या स्वरो ज्ञेयः। मन्त्रद्वयस्य संहितायामूर्जे इत्युकारस्य 'स्वरितात् संहितायामनुदात्ताना' (पा०सू० १।२।३९) मिति प्रचयाभिधेयमैकश्रुत्यं प्राप्तम्। तदपवादकत्वेन उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः' (पा० सू० १।२।४०) इत्यत्यन्तनीचोऽनुदात्तो भवति, तथाग्रिम त्वा शब्दस्य स्वरितत्वम्। १० एवमुत्तरेषु मन्त्रेषु स्वरप्रक्रियोहनीया विशेषतो महीधरभाष्यं द्रष्टव्यम्।

४२–'इषेत्वोर्जेत्वा' (वा० सं० १।१) इत्यत्र स्वामी दयानन्दः—"इषे अन्नविज्ञानयोः प्राप्तये। इषमित्यन्ननामसु पठितम्। (निघण्टु २।७।१४) 'इषतीति गतिकर्मसु पठितम्' (निघण्टु २।१४।१००) त्वा विज्ञानस्वरूपं परमेश्वरं ऊर्जे पराक्रमोत्तमरसलाभाय 'ऊर्ज् रसः' (श० ५।१।२।८) त्वा अनन्तपराक्रमानन्दरसघनम् 'वायवः' सर्वक्रियाप्राप्ति-हेतवः स्पर्शगुणा भौतिकाः प्राणादयः। वायुरिति पदनामसु पठितम् (निघण्टु ५।४।१) अनेन प्राप्तिसाधका वायवो-गृह्यन्ते। वा गतिगन्धनयोरित्यस्मात् (कृ वा० पा० उ० १ १) अनेनाप्युक्तार्थो गृह्यते 'स्थ' सन्ति। अत्र पुरुषव्यत्ययेन १५ प्रथमपुरुषस्य स्थाने मध्यमपुरुषः। 'देवः' सर्वेषां सुखानां दाता सर्वविद्याविद्योतकः। 'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानोभवतीति वा', (नि० ७।१५) 'वः' युष्माकम् 'सविता' सर्वजगदुत्पादको, जगदीश्वरः 'प्रार्पयतु' प्रकृष्टतया संयोजयतु। 'श्रेष्ठतमाय' अतिशयेन प्रशस्तः श्रेष्ठः, सोऽतिशयितः श्रेष्ठतमः तस्मै यज्ञाय 'कर्मणे' कर्तुंयोग्यत्वेन सर्वो-पकारार्थाय 'आप्यायध्वम्' आप्यामहे वा। अत्र पक्षे व्यत्ययः। 'अघ्न्या' इति गोनामसु पठितम्। (निघण्टु २।११।१) 'इन्द्राय' परमैश्वर्ययोगाय 'भागं' सेवनीयं भगानां धनानाम् ज्ञानानां वा भाजनम् 'प्रजावतीः' भूयस्यः प्रजा वर्तन्ते यासु २० ताः। अत्र भूम्न्यर्थे मतुप्। 'अनमीवाः' अमीवो व्याधिर्न विद्यते यासु ताः। 'अम्‌रोगे' इत्यस्मात् औणादिक ईवन् प्रत्ययः। 'अयक्ष्माः' न विद्यते यक्ष्मा रोगराजो यासु ताः। यक्ष इत्यस्मात् अतिस्तु० उ० १।१४० अनेन मन्प्रत्ययः। 'मा' इति निषेधार्थे। 'वः' ताः अत्र पुरुषव्यत्ययः। 'स्तेनः' चोरः। 'ईशत' ईष्टाम् समर्थो भवतु। लोडर्थेलङ् 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपोलुगभावः। 'मा' निषेधार्थे। 'अघशंसः' योऽघं पापं शंसति सः।

४२—'इषेत्वोर्जेत्वा' इस मन्त्र पर स्वामी दयानन्द ने लिखा है कि (इषे) अन्न,विज्ञान की प्राप्ति के लिये (त्वा) २५ विज्ञान स्वरूप परमेश्वर से (ऊर्जे) पराक्रमरूप उत्तम रस के लाभार्थ (त्वा) अनन्त पराक्रम आनन्दरस घनरूप। (वायव) समस्त क्रियाओं की प्राप्ति के हेतु भौतिक स्पर्श गुण प्राण आदि,—इससे प्राप्ति के साधक वायु आदि का ग्रहण होता है। (स्थ) हैं। यह पुरुषव्यत्यय से प्रथमपुरुष के स्थान में मध्यम पुरुष का प्रयोग है। (देवः) समस्त सुख का प्रदाता, समस्त विद्याओं का द्योतक, (वः) तुम लोगों के लिये (सविता) समस्त जगत् का उत्पादक जग-दीश्वर (प्रार्पयतु) प्रकृष्टरूप से संयोजित करे। (श्रेष्ठतमाय) यज्ञ (कर्मणे) काम के लिये, (आप्यायध्वम्) ३० हम आप्यायित हों। यहाँ पक्ष में व्यत्यय है। (अघ्न्याः) बढ़ाने योग्य, मारने के अयोग्य, गौएँ, इन्द्रियाँ, पृथिवी आदि तथा पशु। (इन्द्राय) परमैश्वर्य के साथ योग के लिये, (भागम्) सेवनीय, धन या ज्ञान के भाजन, (प्रजावतीः) जिनकी बहुत प्रजा हैं। (अनमीवः) व्याधि से रहित। (अयक्ष्माः) जिनमें यक्ष्मा नामक रोगराज नहीं है, [अयक्ष्मा शब्द 'यक्ष' से 'मन्' प्रत्यय होकर सिद्ध है] यहाँ 'मा' निषेधार्थक है। ['वः', 'ताः', - यहां पुरुष में परिवर्तन है] 'स्तेनः' अर्थात् चौर, 'ईशत्' अर्थात् समर्थ बने। 'लोट्' के अर्थ में 'लङ्' लकार का प्रयोग है। 'शप्' के लुक् ३५ का 'बहुलंछन्दसि' सूत्र से अभाव हुआ है। 'मा' निषेधार्थक है। 'अघशंसः' का अर्थ है पाप की प्रशंसा या कथन करने

'ध्रुवाः' निश्चलसुखहेतवः। 'अस्मिन्' प्रत्यक्षे। गोपतौ यो गवां पतिः स्वामी तस्मिन्। 'स्यात्' भवेयुः। बह्वीः बह्व्यः। 'वाछन्दसि' (पा० सू० ६।१०६) अनेन पूर्वसवर्णदीर्घः। 'यजमानस्य' यः परमेश्वरं सर्वोपकारं धर्मं च यजति तस्यविदुषः गोऽश्वहस्त्यादीन् श्रियः प्रजा वा। 'श्रीर्हिपशवः' (श० १।८।१।३६) 'प्रजावै पशवः' (श० १।६।१।१७)। (पृ० ८-१०) हे मनुष्याः अयं सविता देवो भगवान् वायवः स्थ यान्यस्माकं वो युष्माकं च प्राणान्तःकरणेन्द्रियाणि सन्ति तानि श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु। वयमिषेऽन्नायोत्तमेच्छायै सवितारं देवं त्वा त्वां तथोर्जे पराक्रमोत्तमरसप्राप्तये भागं भजनीयं त्वा त्वां सततमाश्रयामः। एवं भूत्वा यूयमाप्यायध्वं वयं चाप्यायामहे। हे परमेश्वर भवान् कृपयाऽस्माकमिन्द्राय परमैश्वर्यप्राप्तये श्रेष्ठतमाय कर्मणे चेमाः प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा अघ्न्या गाः सदैव प्रार्पयतु। हे परमात्मन् भवत्कृपयास्माकं मध्ये कश्चिदघशंसः स्तेनो मेशत हर्तुं समर्थो न भवेत् यतोऽस्मिन् गोपतौ पृथिव्यादिरक्षणमिच्छुकस्य धार्मिकमनुष्यस्य समीपे बह्वीर्बह्व्यो गावो ध्रुवाः स्यात् भवेयु" (पृ० २१) रिति।

४३—तदत्रोच्यते,सर्वथाऽविचारितरमणीयोऽयमर्थः मन्त्रगतपदार्थवैपरीत्यात् तत्र-तत्र विपरिणामास्तु तेनैव दर्शिताः।

४४—निर्मूलमेव स्वाभिप्रायेण विपरिणाममभ्युपगम्यमाने लौकिकानां वैदिकानाञ्चार्थानां मूलाभिप्रायवैपरीत्यमेवापद्यते। प्रथमेन त्वा इति पदेन विज्ञानस्वरूपः परमात्मेत्युच्यते द्वितीयेनानन्तपराक्रमः परमेश्वर इत्यत्र किंमूलमिति मूलभाष्यकृता किमपि नोक्तम्। विवरणकृता निरर्थकं बहु ब्रुवाणेनापि नात्र किमप्युक्तम्।

४५-भाष्यारम्भ एव दयानन्देनोक्तम्--'अथोत्तमकर्मसिद्ध्यर्थमीश्वरः प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते' इति।

वाला। 'ध्रुवाः' निश्चल सुख के हेतु। 'अस्मिन्' अर्थात् प्रत्यक्ष। 'गोपतौ' जो गौओं का पति अर्थात् स्वामी है, उसमें। हे मनुष्यों ! यह भगवान् सविता देव, हमारे और तुम्हारे प्राण, अन्तःकरण, इन्द्रियां आदि को श्रेष्ठतम कार्य के लिये। प्रकर्ष रूप से अर्पित करे। हम उत्तम इच्छारूपी अन्न के लिये, उत्तम रस या पराक्रम प्राप्त करने के लिये भजने योग्य आपका निरन्तर भजन करते हैं। ऐसा होने पर आप और हम आप्यायित होंगे। हे परमेश्वर ! आप कृपया हमें परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिये तथा श्रेष्ठतम कर्म के लिये प्रजावती अनमीवा और अयक्ष्मा, अघ्न्या गौओं को सदैव अर्पित कीजिये। हे परमात्मन् ! आपकी कृपा से हमारे बीच में कोई अघशंस (पापप्रशंसक), स्तेन (चोर) हरण करने में समर्थ न हो। इस गोपति में जो पृथिवी आदि की रक्षा का इच्छुक है, जो धार्मिक मनुष्य है, उसके समीप बहुत गौएँ ध्रुव रहें'—पृ० २१ पर।

४३-स्वामी दयानन्द के द्वारा किये गये मन्त्रार्थ पर विचार किया जाय तो वह मन्त्रार्थ सर्वथा अविचारित है, केवल आपाततः (सरसरी निगाह में यानी ऊपर-ऊपर से) ठीक सा भासित होता है, क्योंकि उस अर्थ में मन्त्र' के पदों (शब्दों) के अर्थ, मन-माने किये गये हैं, अर्थात् व्याकरण की विशुद्ध प्रक्रिया के विपरीत किये गये हैं। कितनी जगह विपरिणाम (निर्धारित विभक्ति, वचनों को अनिर्धारित अर्थों में बताना) किये गये हैं।

४४-बिना कारण के ही अपनी इच्छा के अनुसार अर्थ की कल्पना कर उस की सिद्धि के लिये विपरिणाम मानने पर लौकिक और वैदिक अर्थ, अपने मूल अभिप्राय से विपरीत दिशा का बोध कराते हैं। जैसे—प्रथम 'त्वा' पद से—'विज्ञान स्वरूप परमात्मा को और द्वितीय 'त्वा' पद से—'अनन्त पराक्रमवाले परमेश्वर को स्वामी दयानन्द जी ने बताया है। किन्तु एक ही 'त्वा' पद के दो स्थलों पर दो अर्थों को बताने का कारण क्या है ? इस प्रश्न पर मूल भाष्यकार कुछ नहीं कह रहा है। भाष्य के विवरण कर्ता ने निरर्थक बहुत बातें की है, लेकिन उपर्युक्त प्रश्न पर उत्तर कुछ नहीं दिया।

४५—भाष्य के आरम्भ में ही स्वामीदयानन्दजी ने कहा है कि 'उत्तम कर्म की सिद्धि के लिये ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये'—यह उपदेश दिया जा रहा है। विवरणकार ने उपर्युक्त कथन की इस तरह व्याख्या की है—

विवरणकृता चेत्थं विव्रियते—'इतोऽग्रे यत्र यत्र मन्त्रभूमिकायामुपदिश्यत इति क्रियापदं प्रयुज्यते तस्य सर्वस्य कर्तेश्वर एव बोध्यः, कुतः ? वेदानां तेनैवोक्तत्वात्' तथा चेश्वर एव मन्त्राणामुपदेष्टा वक्ता वा। तथा चेश्वर एव कथमीश्वरम् प्रार्थयते ?

४६—एवमेव 'वायव' इति शब्देन प्रकरणहेतुश्चान्तरापि मुख्यार्थमपहाय लाक्षणिकोऽर्थः प्राणादिर्गृहीतः, ततोऽपि दूरं गत्वा तेनैव शब्देन इन्द्रियरूपार्थग्रहणे शाब्दन्याये बलात्कारः। ५

४७—'स्थ' इत्यत्र मध्यमपुरुषस्थाने प्रथमपुरुषकल्पनम् 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' इति श्रुतिं स्पृष्ट्वापि श्रेष्ठतम-शब्दस्य कर्मसामान्यपरत्वयोजनम् च प्रमाद एव।

४८—पूर्वमुक्तं मन्त्रस्यास्य परमेश्वरो वक्ता। तदभ्युपगमे ईश्वरः कथमेवं कथयेत् यत् हे मनुष्याः सविता देवो यान्यस्माकं युष्माकञ्च वायवः प्राणान्तःकरणानि सन्ति, तानि श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु। परमेश्वरस्य स्वं प्रत्येव स्वस्य प्राणान्तःकरणादीनां सत्कर्मप्रेरणाय प्रार्थना कथमिव युज्यते ? श्रुतिषु 'अप्राणोह्यमनाः शुभ्रः' (मुण्ड० २।१।२) १० इत्यादिभिरमनस्त्वमप्राणत्वमुक्तम्।

'इसके आगे जहाँ जहाँ मन्त्र की भूमिका में उपदेश क्रियापद का प्रयोग होगा, वहाँ वहाँ सब का कर्ता ईश्वर को ही समझना चाहिये, क्योंकि वेदों का वक्ता वही है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर ही मन्त्रों का उपदेष्टा या वक्ता है। यह सुनकर कोई विचारशील व्यक्ति यह पूछ सकता है कि ईश्वर ही ईश्वर से कैसे प्रार्थना कर सकता है ? प्रार्थना तो दूसरे से की जाती है, स्वयं से ही स्वयं कोई भी प्रार्थना नहीं करता। १५

४६—इसी प्रकार एक जगह स्वामीदयानन्दजी ने मन्त्रगत 'वायवः' पद से प्रकरण और कारण के बिना ही 'मुख्यार्थ' का परित्याग करके प्राण आदि' लाक्षणिक अर्थ का ग्रहण किया है। तदनन्तर उस लाक्षणिक अर्थ से भी दूर हटकर उसी शब्द से 'इन्द्रिय' अर्थ का ग्रहण किया है। इससे शब्दार्थ मर्यादा का उल्लंघन और उसके साथ बल-प्रयोग ही स्पष्ट हो रहा है।

४७—इसी प्रकार एक जगह स्वामीदयानन्दजी ने मन्त्रगत 'स्थ' पद में 'मध्यम पुरुष' के बजाय 'प्रथमपुरुष' २० कीकल्पना की है, जिसे व्याकरण के विरुद्ध ही कहा जायगा।

इसी प्रकार स्वामीदयानन्दजी ने 'यज्ञो वै' इस मन्त्र में 'श्रेष्ठतम कर्म को 'कर्मसामान्य' के रूप में प्रदर्शित किया है, यह प्रदर्शन नितान्त प्रमादपूर्ण ही कहा जायगा।

४८—स्वामी दयानन्दजी ने पहिले कहा है कि इस मन्त्र का वक्ता परमेश्वर है। ऐसा मान लेने पर ईश्वर यह कैसे कहेगा कि 'हे मनुष्यों ! हमारे और तुम्हारे प्राण 'अन्तःकरण' हैं, उन्हें सविता देवता, श्रेष्ठतम कर्म के लिये २५ अर्पित करे। ईश्वर की अपने ही लिये अपने प्राण 'अन्तःकरण' आदि की सत्कर्मों के लिये प्रार्थना करना कैसे संगत होगा ?

स्वामी दयानन्दजी ने 'इषे' का अर्थ 'अन्न और विज्ञान की प्राप्ति के लिये' किया है। किन्तु यह अर्थ भी उचित नहीं है, क्योंकि काण्वश्रुति के द्वारा 'इषे' का अर्थ 'वृष्टि के लिये किया गया है।

स्वामी दयानन्दजी ने यह कहा है कि 'जिस पद की जिस धातु से जिस प्रत्यय के द्वारा जिस अर्थ में व्याक- ३० रण, निरुक्त भाष्यकारादिकों ने जो व्युत्पत्ति प्रदर्शित की है, तदनुसार उसी धातु से उसी प्रत्यय के साथ उसी अर्थ में उस पद को व्युत्पन्न करने का कोई अनिवार्य नियम नहीं है, अपितु जिस-जिस धातु से जिस-जिस प्रत्यय के साथ जिस अर्थ को प्रकाशित करने में 'पद' समर्थ हो सके, वैसा निर्वचन 'किया जा सकता है।' —यह कथन तो सर्वथा विपरीत

४९—प्रथमान्तपदव्यपदिष्टं वायव इति कर्तृपदं स्थ इति क्रियापदसम्बन्धात् निराकांक्षं जातम्, 'प्रार्पयतु' इति क्रियापदस्य सकर्मकस्य कर्मत्वेन व इति पदं विद्यते। मूले यत्तदोरभावेऽपि वः युष्माकं यानि प्राणान्तःकरणानि इन्द्रियाणि सन्ति तानि सविता श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु इतिकल्पनमपि स्वाच्छन्द्यमेव। 'आप्यायध्व' मितिस्थाने आप्यायामहे इत्याद्यपि निर्मूलम्। द्वितीयव्याख्याने परमेश्वर एव कथं परमेश्वरेण सम्बोध्यते ?

५०—इन्द्रशब्दस्यैश्वर्यवत्पुरुषपरत्वेऽपि कथमैश्वर्यपरत्वम् ? मूले यजमानशब्दो यज्ञकर्तृपरः इति तस्य जीव-सामान्यपरत्वयोजनं निराधारमेव। भावार्थस्तु दूरतोऽपि मन्त्राक्षराणि न स्पृशति।

५१—'विश्वानि देव सवितरिति व्याख्याने 'ईश्वरेण जीवानां गुणगुणिविज्ञानोपदेशाय ऋग्वेदे सर्वान् पदार्थान् व्याख्यायेदानीं मनुष्यैस्तेभ्यो यथायथोपकारग्रहणाय क्रियाः कथं कर्त्तव्या इत्युपदिश्यते।

है, क्योंकि व्युत्पत्ति तो तात्पर्य के अनुरोध से ही की जाती है—इस अभिप्राय को मीमांसा सूत्रकार महर्षि जैमिनि ने 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्' इस सूत्र के द्वारा स्पष्ट कह दिया है कि—एक अर्थ होने से एक वाक्य होता है। तब एक ही वाक्य का अनेक अर्थों में तात्पर्य प्रदर्शन करना कैसे सङ्गत हो सकता है ? विवरणकार ने भी वाक्ययोजक विचार के प्रसङ्ग में कहा है कि पूर्वोक्त रीति से एक ही सरणि का आश्रय, किसी वाक्ययोजनार्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों की बुद्धि भी भिन्न-भिन्न होती है।

ऐसी स्थिति में भी भाष्यकारों की विविध रीति से की गई वाक्ययोजना और उसके अनुसार उनके विविध अर्थों को प्रामाणिक ही माना जा सकता है। वेदान्त गीता आदि के भाष्यों में कथित सभी अर्थों में ग्रन्थकर्ता का वह अभिप्राय है, ऐसा किसी तरह भी नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार वेद में भी उसे प्रकाशित करने वाले सत्-चित् आदि गुण विशिष्ट ब्रह्म का विभिन्न भाष्यकारों द्वारा प्रतिपादित विविध प्रकार सभी अर्थों में अभिप्राय है, यह नहीं माना जा सकता। अतः इच्छा न होते हुए भी यह बात माननी होगी कि 'वेद' का अर्थ शास्त्रवचनों का अनुगामी होकर ही प्रामाणिक हो सकता है। ऐसा होने पर आपकी रीति से भी स्वामी दयानन्द जी का किया हुआ अर्थ इसलिये स्वीकार करने योग्य नहीं रहता, क्योंकि वह मन्त्र, ब्राह्मण, सूत्र, परम्परा और याज्ञिक-पद्धति के विरुद्ध है। क्योंकि श्रुति ने तो अप्राणो ह्यमनाः' कहकर उसे मनरहित-प्राणरहित बताया है।

४९– किञ्च 'वायवः' यह प्रथमान्त कर्तृ पद 'स्थ' इस कियापद से अन्वित होकर निराकांक्ष हो गया है, और 'प्रार्पयतु' इस सकर्मक क्रिया पद का कर्म 'वः' विद्यमान है। किन्तु उपस्थित पदों की प्रकृति तथा व्याकरण की प्रक्रिया की ओर ध्यान न देकर मूलमन्त्र में 'यत्-तत्' शब्दों के न रहने पर भी 'तुम्हारे जो प्राण अन्तःकरण इन्द्रिय आदि है, उन्हें 'सविता' भगवान् श्रेष्ठतम कर्म में लगावे'—इस प्रकार अभिनव अर्थ की कल्पना करना अपनी स्वच्छ-न्दता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। उसी तरह स्वामी दयानन्दजी ने 'आप्यायध्वम्' की जगह 'आप्यायामहे' की कल्पना कर ली है। किन्तु वह भी निर्मूल है। द्वितीय व्याख्यान में 'परमेश्वर ही परमेश्वर के द्वारा सम्बोधित कैसे हो सकेगा ?

५०—तथा 'इन्द्र' का अर्थ ऐश्वर्यशाली पुरुष करने में भी उसका 'ऐश्वर्यपरत्व' कैसा ? मूल मन्त्र में 'यजमान' शब्द यज्ञकर्तृपरक है, उसे जीवके सामान्यपरक बताना निराधार ही है। भावार्थ जो बताया है, वह तो दूरसे भी मन्त्र के अक्षरों को स्पर्श नहीं कर रहा है।

५१—तथा 'विश्वानि देव सवितः' मन्त्र का व्याख्यान करते हुए स्वामी दयानन्दजी ने जो कहा कि 'जीवों को गुणगुणिविज्ञान का उपदेश करने के लिये ऋग्वेद में सम्पूर्ण पदार्थों की व्याख्या करके अब उनसे यथोचित लाभ के लिये मनुष्यों को किस तरह क्रिया करनी चाहिये—यह ईश्वर के द्वारा बताया जा रहा है।

५२—इति यत्, तदपि निर्मूलमेव ऋग्वेदस्य पदार्थ वर्णनपरत्वाभावात् । नहि ऋग्वेदः न्यायवैशेषिकशास्त्रवत् पदार्थवर्णनपरोग्रन्थः । यदि पदार्थवर्णनपरोग्रन्थोभवेत् तर्हि त्वयाप्याप्तत्वेनाभिमतैर्गोतमादिभिः स एव व्याख्यातोभवेत् । अपरञ्चेदादीन्तनै वैज्ञानिकै र्ये पदार्था गुणगुणिभावाश्च विविच्यन्ते किं त्वद्भाष्येऽपि तदुपयोगिविश्लेषणमुपलभ्यते ? स्वोक्तिप्रामाण्याय 'यजुर्भिर्यजन्तीतिमूलकृता 'यदेनमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ती'ति विवरणकृता च श्रुतिवाक्यान्युद्धृतानि । परं तेषामन्यार्थत्वेनतदसाधकत्वमेव । ५

५३—तत्र 'यजुर्भिर्यजन्ती'तिवचनस्य यजुर्मन्त्रैर्यज्ञं कुर्वन्तीत्येवार्थः । दयानन्दस्तु 'येन मनुष्या ईश्वरं धार्मिकान् विदुषश्च पूजयन्ति, सर्वचेष्टासाङ्गत्यं शिल्पविद्यासङ्गतिकरणं शुभविद्यागुणदानं यथायोग्यतया सर्वोपकारे शुभे व्यवहारे विद्वत्सु च द्रव्यादिव्ययं च कुर्वन्ति तद्यजुरिति ।' तदप्यविचारितरमणीयम्, यजिधात्वर्थानुसारेण विदुषां पूजासङ्गतिकरणदानादिषु यजुर्मन्त्राणामकिञ्चित्करत्वात्, विनापि यजुर्भिर्लोके तत्प्रवृत्तेः । 'ऋग्भिः शंसन्ति' (नि० १।३।७) । (काठक-संहिता ४०।७) इत्यादीनामपि न पदार्थानां गुणगुणिवर्णनं कार्यं किन्तु देवतानां शंसनस्तवनाद्येव कार्यम् । रूढिर्योगमपहरतीति न्यायेन परिभाषितयज्ञ एव यजुषामुपयोगः । यज्ञस्वरूपं तु महर्षिणा कात्यायनेनोक्तम्—'यज्ञं व्याख्यास्यामः' (१।२।१) 'द्रव्यं देवता त्यागः' (का० श्रौ० सू० १।२।२) । व्याख्यातश्चैतत्कर्काचार्येण—तद्धितेन द्रव्यं प्रतिदेवतात्वं गम्यते चतुर्थ्यन्तत्वेन वा । तस्य द्रव्यस्य देवतां प्रति या उत्सर्गक्रिया स याग इति । अस्मिन्नेवार्थे यज्ञशब्दः प्रसिद्ध इति । तस्यैवंविधस्यैव यागस्य यजुर्मन्त्रैरनुष्ठानं भवति । 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेते'त्यादिभिर्विधि— १०

५२—किन्तु उनका इस प्रकार का व्याख्यान निर्मूल ही है। क्योंकि ऋग्वेद का कार्य, पदार्थ वर्णन करना नहीं है। न्याय-वैशेषिक शास्त्र के समान 'ऋग्वेद', पदार्थवर्णन परक ग्रन्थ नहीं है। न्याय-वैशेषिक शास्त्र तो पदार्थ-वर्णनपरक ही है, अतएव उसको 'पदार्थविज्ञानशास्त्र' के नाम से भी कहा जाता है। यदि ऋग्वेद भी पदार्थवर्णनपरक ग्रन्थ होता, तो स्वामी दयानन्दजी के द्वारा भी आप्त समझे जाने वाले महर्षि गौतम आदि के द्वारा उसकी व्याख्या की गई होती। अपरञ्च आधुनिक वैज्ञानिकों के द्वारा जिन पदार्थों और गुण-गुणिभावों की विवेचना की जाती है, क्या दयानन्दी भाष्य में भी तदुपयुक्त विश्लेषण उपलब्ध होता है ? अपनी उक्ति की प्रामाणिकता बताने के लिये मूलकार (भाष्यकार स्वामी दयानन्दजी) ने 'यजुभिर्यजन्ति' प्रमाण बताया और उसके विवरणकार ने 'यदेनमृग्भिः शंसन्ति' आदि श्रुति वाक्यों से जो उद्धरण दिये हैं, वे सभी किसी अन्य अर्थ को ही बताते है। अतः उनसे मूल का अभीष्ट अर्थ सिद्ध नहीं हो रहा है। इसलिये वे सब उद्धरण इनके अभीष्ट के असाधक ही रहे। १५ २०

५३—'यजुभिर्यजन्ति' इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट ही है कि 'यजुर्मन्त्रों से यज्ञ करते हैं'। किन्तु स्वामी दयानन्द उक्त वाक्य का अर्थ इस प्रकार करते है—'यजु' वह है, 'जिस से मनुष्य, ईश्वर की धार्मिकों की विद्वानों को पूजा करते है, और जिसकी सहायता से समस्त चेष्टाओं का साङ्गत्य, शिल्पविद्यासङ्गतिकरण, शुभविद्यागुणदान, यथायोग्य-रीति से सभी के उपकार में, शुभव्यवहार में, विद्वानों में द्रव्यादि का व्यय करते हैं।' अर्थात् पूजासाधन, उपकार आदि के साधन को 'यजु' बताया है।' किन्तु उक्त कथन भी अविचारित रमणीय है। क्योंकि यजिधात्वर्थ के अनु-सार विद्वानों की पूजा, सङ्गतिकरण, दानादिकों में यजुर्मन्त्र अकिञ्चित्कर है। लोकव्यवहार में यजुर्मन्त्रों के बिना भी उन कार्यों में लोकप्रवृत्ति होती दीखती है। 'ऋग्भिः शंसन्ति'—इत्यादि वाक्य भी पदार्थों के गुण-गुणिवर्णनात्मक कार्य को नहीं बताते हैं, अपितु देवताओं के शंसन-स्तवनादि कार्य को ही बता रहे हैं। 'रूढिर्योगमपहरति' इस न्याय से परिभाषित यज्ञ में ही 'यजुओं' का उपयोग होता है। यज्ञ के स्वरूप को महर्षि कात्यायन ने बताया है—'यज्ञं व्याख्या-स्यामः', 'द्रव्यं देवतात्यागः'। और कर्काचार्य ने इसकी व्याख्या की है— तद्धित प्रत्यय से अथवा चतुर्थीविभक्ति से 'द्रव्य' के प्रति 'देवतात्व' की प्रतीति होती है। देवता को उद्देश्य कर (देवता के प्रति) उस द्रव्य की जो 'उत्सर्गक्रिया' (द्रव्यत्याग) उसी को 'याग' समझना चाहिये। इसी अर्थ में 'यज्ञ' शब्द भी प्रसिद्ध है। —इसप्रकार के 'याग' का ही यजुर्मन्त्रों से अनुष्ठान हुआ करता है। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत्'—इत्यादि विधिवाक्यों से जिन कर्मों का विधान, विधि- २५ ३०

वाक्यैर्येषां कर्मणां विधानं विधिभागेषु विद्यते तत्रैव यजुरादीनामुपयोगः। द्वादशलक्षण्यां जैमिनिनिर्मितायां मीमांसायामपि तादृशस्यैव यज्ञस्य विचारः। तत्रैव यथायोग्यं देवपूजासङ्गतिकरणादीनामपि सन्निवेशः।

५४ – महर्षिणा कात्यायनेनैव 'तिष्ठद्धोमाँवषट्कारप्रदाना याज्यापुरोनुवाक्यावन्तो यजतयः, उपविष्टहोमाः स्वाहाकारप्रदाना जुहोतयः' इति यागहोमयोर्भेदोऽप्युक्तः। तिष्ठता होमो येषु ते तिष्ठद्धोमाः, वषट्कारेण प्रदानं येषु ते
५ वषट्कारप्रदानाः, याज्यावन्तः पुरोवाक्यावन्तश्च ये ते यजतयो भवन्ति। नहि सामान्यपूजादानादिकर्मसु वषट्कार-पूर्वको होमो भवति। नवा तत्र याज्यापुरोऽनुवाक्याः प्रयुज्यन्ते। होमकर्मणोऽपि यागाद् भेद उक्तः। यत्रोपविष्टेन कर्त्रा स्वाहाकारपूर्वको होमः क्रियते यत्र च याज्यादयो न प्रयुज्यन्ते स होमो भवति जुहोतीत्यादिभिर्विहितः। हविःसमर्पणार्था याज्या भवति, देवतानुस्मरणार्थानुवाक्या भवति। ह्वयति वानुवाक्यया प्रयच्छति याज्यया इत्युक्तेः। 'पुरोऽनुवाक्या-मनूच्य याज्यया जुहोति'ति श्रुतेः (श० ।१।४।१।१३)। वस्तुतो मन्त्रे वक्ता ऋषिर्भवति, मन्त्रेण यदुच्यते तस्यैव
१० देवतात्वं भवति। सर्वानुक्रमणोकारेण तु इषेत्वेत्यस्य मन्त्रस्य शाखा देवतोक्ता। तदनादरस्तु प्रमाद एव।

५५—यदुक्तम् 'दुर्गस्कन्दयोरपि शाखादयो देवता अनभिमताः। तद्येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा इत्युपक्रम्य यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति, (नि० ७।४) इति यास्केनोच्यते'।

५६—इति, तत्तुच्छम् शाखादीनां यज्ञाङ्गत्वेन निरुक्तोक्त्यापि देवतात्वोपपत्तेः। यद्देवतं प्रधानं हविः तद्यथा प्रकृतावैन्द्रं सान्नायं माहेन्द्रं वा तत्संस्कारपराइषे त्वेत्यादयः। तेनानाविष्कृतदेवतालिङ्गा ऐन्द्रा एव भवन्ति महेन्द्रा
१५ वा' (नि० ७।४) इति दुर्गवचनं तु हविःप्राधान्येन इषेत्वादीनामपि ऐन्द्रा माहेन्द्रा वेत्येतत्परम्। किञ्चानाविष्कृत-लिङ्गानां मन्त्राणां देवता निरूपणप्रसङ्गे इषेत्वादीनां समेषां मन्त्राणां यदुद्देश्येन हविस्त्यज्यते तेषां माहेन्द्रादीनां

भागों में है, उन्हीं के अनुष्ठान में यजुरादि मन्त्रों का उपयोग होता है। महर्षि जैमिनि के द्वारा विरचित द्वादशलक्षणी-मीमांसा में भी उसी प्रकार के यज्ञ का विचार किया गया है, उसी प्रसङ्ग में यथोचित रूप से देवपूजा सङ्गतिकरण आदि का भी सन्निवेश किया गया है।

२० ५४—महर्षि कात्यायन ने ही 'तिष्ठद् होमा वषट्कारप्रदाना याज्यापुरोनुवाक्यावन्तो यजतयः, उपविष्टहोमाः स्वाहाकारप्रदाना जुहोतयः'—जहाँ खड़े होते हुए होम तथा 'वषट्'कार, ओर याज्या—पुरोनुवाक्या होती हैं—वे तो 'याग' कहलाते हैं। सामान्य पूजनादि कर्मों में 'वषट्कार' पूर्वक होम नहीं होता है और न ही उनमें याज्या—पुरोनु-वाक्याओं का प्रयोग होता है।' इस तरह 'होम' संज्ञक कर्म से भी 'याग' को भिन्न बताया है। जहाँ बैठे-बैठे ही कर्ता के द्वारा स्वाहाकार पूर्वक होम किया जाता है, और जहाँ याज्या आदि का प्रयोग नहीं होता उसे 'होम' कहते हैं, 'जुहोति' इत्यादि शब्दों से वह विहित होता है। हविःसमर्पणार्थ—'याज्या' होती है, और देवतानुस्मरणार्थ 'अनुवाक्या' (पुरोनुवाक्या) होती है। क्योंकि 'ह्वयति वानुवाक्यया प्रयच्छति याज्यया' ऐसा कहा गया है। तथा 'पुरोऽनुवाक्या-मनूच्य याज्यया जुहोति' यह श्रुति भी उक्त कथन में प्रमाण है। वस्तुतः मन्त्र का वक्ता 'ऋषि' होता है। मन्त्र के द्वारा जो बताया जाता है, उसी में 'देवतात्व' होता है। सर्वानुक्रमणीकार ने 'इषेत्वा' इस मन्त्र की देवता 'शाखा' बताई है। उसे न मानना तो बड़ा प्रमाद ही है।

५५—स्वामी दयानन्दजी ने यह जो कहा है कि दुर्गाचार्य, स्कन्दस्वामी' ने भी 'शाखा' आदि को देवता के रूप में स्वीकार नहीं किया है। यास्काचार्य कहते हैं—'तद्येऽनादिष्टदेवतामन्त्राः' इत्यादि से आरम्भ करके 'यद्देवतः स यज्ञो वा०' इत्यादि।

५६—किन्तु स्वामी दयानन्दजी का उक्त कथन और उसकी पुष्टि में जो प्रमाण उपस्थित किया वया है, वह सब निरर्थक है क्योंकि यज्ञाङ्ग के रूप में 'शाखादिकों' को बताने पर भी उनमें 'देवतात्व' के उपपन्न होने में कोई बाधा नहीं हो रही है। क्योंकि 'यद्देवतं प्रधानं हविः', जैसे—प्रकृति में 'सान्नाय' हवि 'ऐद्र' अथवा 'माहेन्द्र' होता है, अतः

देवतात्वमुक्तम्। तत्रैव दुर्गाचार्येण प्राजापत्यग्रहणे विनियोगात् 'कुविदङ्ग' (ऋ० सं० १।१३१।२) मिमन्त्रस्य प्रजापतिर्देवतोक्ता।

५७—'यद्देव इति ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्' (तै० सं० २।५।३।४) माहेन्द्रं वा। तच्छेषभूताः शाखाच्छेदनादिषु सान्नाय्यसंस्कारत्वेन विनियुक्ताः। इषे त्वादयस्तद्देवत्या इति स्कन्दवचनमपि तदभिप्रायकमेव। किञ्च सान्नाय्य-संस्कारत्वेन तदङ्गभूतानामिषे त्वादीनां सर्वेषां मन्त्राणां माहेन्द्रादयो देवता भवन्ति। न तेन तत्तन्मन्त्रगतप्रातिस्विक-देवतापलापः। अन्यथाअविशिष्टदेवतात्वमग्नावेवेति सर्वदेवतामितिपदात् 'अग्निर्वै सर्वा देवताः' (काठक संहिता १०।१) इति सर्वेषामग्निदेवताकत्वे किमर्थमन्यदेवतान्वेषणं मन्त्रेषु क्रियते ?

५८—महर्षिणा काण्वेन तु प्रथममेव—'ऋषिदैवतच्छन्दांस्यनुक्रमिष्यामो यजुषामनियताक्षरत्वात् एकेषां छन्दो न विद्यते। द्रष्टार ऋषयः स्मर्तारः परमेष्ठ्यादयो देवतान्तभूताः। अग्न्यादिका हविर्भाजः स्तुतिभाजो वा इत्युक्त्वा अनःशाखोखाशम्योपवेषकपालेध्मोलूखलादयश्च प्रतिमाभूता' इत्युक्तम्। तेन शाखादीनां देवतात्वमव्याहतमेव। तत्रैव छन्दांसि गायत्र्यादीनि एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जयति जुहोति यजेत याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयाम भवति अथान्तराश्वगर्तं वा पद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवत्यथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवदथ योऽर्थवित्तस्य वीर्यवत्तरं भवति। जपित्वा हुत्वेष्ट्वा तत्फलेन युज्यते। एवं महत्त्वास्पदं ऋषिदेवतादिज्ञानं नोपेक्षणीयं न वा स्वेच्छया निर्धारयितुं शक्यम्। विनियोगाद्देवतानिर्णयो दुर्गाचार्यरीत्या प्रदर्शित एव।

५९—यत्तु—'सर्वानुक्रमणीकारप्रदर्शितो देवतावाद आधुनिक इति, तत्तुच्छम्, आधुनिकाङ्गलादिदृष्ट्या त्वदीयशाकलीसंहिताया अपि आधुनिकत्वानपायात्।

उनके संस्कारपरक 'इषेत्वा' इत्यादिकमन्त्र हैं। उस कारण अनाविष्कृतदेवतालिङ्गक 'ऐन्द्र' अथवा 'माहेन्द्र' ही होते हैं। दुर्गाचार्य का वचन,—हविः प्राधान्य को देखते हुए 'इषेत्वा' इत्यादि मन्त्रों के द्वारा 'ऐन्द्र' अथवा 'माहेन्द्र' हवि ही होते हैं—यह बता रहा है। किञ्च अनाविष्कृत लिङ्गक मन्त्रों के देवता निरूपण के प्रसङ्ग में 'इषेत्वादि' समस्त मन्त्रों के, जिसके उद्देश्य से 'हवि' का त्याग किया जा रहा है, उन माहेन्द्रादिकों को देवता बताया गया है। और वहीं पर दुर्गाचार्य ने प्राजापत्य के ग्रहण करने में विनियोग रहने से 'कुविदङ्ग' इस मन्त्र की देवता 'प्रजापति' को बताया है।

५७—'यद्देवत इति ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्' माहेन्द्रं वा इत्यादि स्कन्दवचन भी उसी अभिप्राय को बता रहे हैं। किञ्च सान्नाय्य हवि के संस्कारक तदङ्गभूत 'इषेत्वा' आदि समस्त मन्त्रों के देवता 'माहेन्द्रादि' होते हैं। उस कारण तत्तत् मन्त्रगत प्रातिस्विक (अपनी-अपनी) देवता का अपलाप नहीं हो पाता है। अन्यथा अग्नि में ही अविशिष्ट देवतात्व रहने से वही सब की देवता कही जा सकती है। 'अग्निर्वै सर्वा देवताः' इस काठक श्रुति के अनुसार सभी की देवता 'अग्नि' को मान लेने पर अन्य देवताओं का अन्वेषण मन्त्रों में क्यों किया जाता है ?

५८—महर्षि कण्व के 'ऋषिदैवतछन्दांस्यनुक्रमिष्यामः' इत्यादि कथन के अनुसार 'शाखा' आदि में देवतात्व तो अव्याहत ही है। वहीं पर 'छन्दांसि गायत्र्यादीनि एतान्यविदित्वा योऽधीते' इत्यादि से महत्वास्पद ऋषिदेवता आदि के ज्ञान की उपेक्षा कर देना उचित नहीं है, तथा अपनी इच्छा के अनुसार उनका निर्धारण करना भी उचित नहीं है। विनियोग को देखकर देवता का निर्णय करना दुर्गाचार्य की रीति के अनुसार पहिले बता ही चुके हैं।

५९—स्वामी दयानन्दजी ने जो यह कहा है कि 'सर्वानुक्रमणीकार के द्वारा प्रदर्शित देवतावाद आधुनिक है' —यह कथन भी असराहनीय है। क्योंकि आधुनिक पाश्चात्यदीक्षा दीक्षित लोगों की दृष्टि के अनुसार आपकी अभिमत शाकली संहिता को भी आधुनिक कहना होगा।

६०—यदुक्तम्—'गुरुतस्तर्कतश्चैव तथा शतपथश्रुतेः ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवताश्छान्दसं च यत् ।' इत्युव्वटेन सर्वानुक्रमण्या अवहेलना कृतेति, तत्तुच्छम्, चकारेण सर्वानुक्रमण्या अपि सूचनात् । यदुक्तम् स्थावरत्वाद्देवतात्वं दुर्लभमिति, अत्र ब्रूमः, अधिष्ठात्र्यो देवता विद्यन्ते । उव्वटेनापि शाखैवदेवतोक्ता । 'प्रतिमाभूतास्तु शाखादय' इति । किञ्चदयानन्देन तु निरुक्त दुर्गाचार्यादिप्रदर्शितरीत्या हविर्देवतानुरोधेनापि इषेत्वेत्यस्य देवतानोक्ता, किन्तु स्वाभ्यूहिता ५ सविता देवतोक्ता परं इषे त्वेति मन्त्रेण सवितृदेवतासम्बन्ध एव न विद्यते ।

६१—यच्चोक्तं—'नवो नवो भवति जायमान' (ऋ० सं० १०।८५।१९) इत्यस्य सर्वानुक्रमणीकारश्चन्द्रमा देवतेत्याह' यास्कस्तु 'आदित्यदैवतो द्वितीयपाद इत्येके प्रवर्धयते चन्द्रमा दीर्घमायुः' इति चन्द्रमा देवतेत्याहे'ति, तदेतत् धूलिप्रक्षेपमात्रम् यतो यास्कः कस्यचिद्रीत्या 'पूर्वापरं चरतो माययैतौ' इति द्वितीयपादस्यैवादित्यदैवतत्वमाह, न तु सर्वस्य मन्त्रस्य । सर्वानुक्रमणीकारस्तु समस्तमन्त्राभिप्रायेण चन्द्रदैवत्यं वक्ति तथा च क्व विरोधः ?

१० ६२—यत्तु आश्वलायनादिश्रौतसूत्रोदाहरणेनैकस्य मन्त्रस्य नैकविधविनियोगप्रदर्शनेन विरोध उद्भावितः, तदपि तुच्छम्. ब्राह्मणवाक्यादार्षवाक्याच्च विनियोगभेदस्याभ्युपगमे बाधाभावात् । अतएव आश्वलायनश्रौतसूत्रे (३।८) तैत्तिरीयब्राह्मणे (३।१।३।१) चायं मन्त्रश्चान्द्रमसे चरौ विनियुक्तः । तथा 'यः पापयक्ष्मगृहीतः स्यात् तस्मा एतदादित्यं चरुं अमावास्यायां निर्वपेत्' (तै० सं० २।३।५।३) वौधायनश्रौतसूत्रं (१३।२८) सत्याषाढश्रौतसूत्रं (२२।४।१५) इत्यादिषु आदित्यदेवताके चरौ विनियुक्तः । मैत्रायणीसंहितायां तु (२।२।३) वैश्वदेवे चरौ बिनियुक्तः ।

---

१५ ६०—स्वामी दयानन्दजी ने जो यह कहा है कि गुरुतस्तर्कतश्चैव'—इसमें उव्वट ने सर्वानुक्रमणी की अवहेलना की है । किन्तु यह कथन भी सारहीन है । क्योंकि उपर्युक्त वचन में 'च' कार के ग्रहण करने से 'सर्वानुक्रमणी' को भी सूचित किया गया है । स्वामीदयानन्दजी ने यह जो कहा है कि 'स्थावरत्वाद् देवतात्वं दुर्लभम्'—स्थावर होने से उनमें देवतात्व का स्वीकार करना उचित नहीं है । इस पर समाधान यह है कि उनकी अधिष्ठात्री देवताएँ उनमें रहती हैं । उव्वट ने भी 'प्रतिमाभूतास्तु शाखादयः' कहकर 'शाखा' को ही 'देवता' वताया है । किञ्च स्वामीदयानन्द २० जी ने तो निरुक्त, दुर्गाचार्य आदि के द्वारा प्रदर्शित रीति के अनुसार हवि को देवता के अनुरोध से भी 'इषेत्वा' की देवता नहीं बताई है, अपितु अपनी कपोलकल्पित 'सविता' देवता, उसकी बता दी है, किन्तु 'इषेत्वा' इस मन्त्र से 'सविता' देवता का कोई सम्बन्ध ही नहीं है ।

६१—स्वामी दयानन्दजी ने जो यह कहा है कि 'नवो नवो भवति जायमानः' की 'चन्द्रमा' देवता, सर्वानुक्रमणीकार ने कही है, किन्तु यास्क ने 'आदित्य दैवतो' इत्यादि कहकर उसकी देवता 'आदित्य' को बताया है'—किन्तु २५ स्वामी दयानन्द जी का यह कथन, केवल धूलिप्रक्षेपमात्र है । क्योंकि यास्क ने 'पूर्वापरं चरतो माययैतौ'—इस द्वितीय पाद की ही 'आदित्य' देवता बताई है, सम्पूर्ण मन्त्र की नहीं । सर्वानुक्रमणीकार ने तो सम्पूर्ण मन्त्र के अभिप्राय से 'चन्द्र' देवता कही है, अतः कोई भी विरोध नहीं है ।

६२—स्वामी दयानन्दजी ने आश्वलायनादि सूत्र का उदाहरण देकर 'एक मन्त्र के अनेक विध विनियोग को विरुद्ध बताया है—वह भी निःसार है, क्योंकि ब्राह्मणवाक्य और आर्षवाक्य के अनुसार विनियोग भेद के स्वीकार ३० करने में कोई बाधा नहीं है । अतएव आश्वलायन श्रौतसूत्र और तैत्तिरीय ब्राह्मण में इस मन्त्र का विनियोग 'चान्द्रमस चरु' में किया गया है । तथा तैत्तिरीयसंहिता, बौधायन श्रौतसूत्र, सत्याषाढ श्रौतसूत्र आदि में आदित्यदेवताक चरु में उसका विनियोग बताया है । मैत्रायणी संहिता में वैश्वदेवचरु में उसका विनियोग कहा है । ये सभी विनियोग प्रामाणिक हैं । तथा च अनेकविध विनियोगों के प्रामाणिक होने से एक ही मन्त्र के भिन्न-भिन्न देवताओं का होना किसी प्रकार भी विरुद्ध नहीं है । और्णनाभ के मत से 'आश्विनौ देवते' उक्त मन्त्र की देवता है । 'मन्त्रगत वर्ण' ही देवता होती हैं, मन्त्रों के अर्थ को देवता नहीं कहा गया है । यह कोई विरुद्ध कथन नहीं है । क्योंकि ऋषियों के विभिन्न मतों

एते विनियोगाः प्रामाणिकाः। तथा च नैकविधप्रामाणिकविनियोगसत्त्वेन एकस्यैव मन्त्रस्य भिन्नदेवतात्वं न विरुध्यते। और्णवाभमते आश्विनौ देवते अस्य मन्त्रस्य। मन्त्रगतपदान्येव देवता न तेषामर्था देवता इत्यादिकं न विरुद्धम्। ऋषीणां मतभेदेन विनियोगदेवतादिभेदे बाधाभावात्। बृहद्देवतासर्वानुक्रमण्यादिभिस्तेषां समन्वयसम्भवात्। तस्मात्सर्वानुक्रमणी बृहद्देवता च देवतावादे परमं प्रमाणमित्यस्याद्याप्यबाधात्। आर्षग्रन्थानां समन्वयस्यैवाभीष्टत्वात्। श्रौतादिविनियोगबलात् 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' (सत्याषाढश्रौतसूत्रम्) इति ऐन्द्रचा अपि 'कदाचनस्तरीरसि' (तै० ५ सं० १।४।२२।१) इत्यृचो गार्हपत्योपस्थाने विनियोगो भवति। प्रमाणबलेन तदनुगुणोऽप्यर्थः कर्तुं योग्यः इति, ऐश्वर्य-योगात् गार्हपत्याग्निरपि इन्द्रपदेन सम्बोध्यते। स्मार्तविनियोगवशात् 'शन्नो देवी रभिष्टय इति मन्त्रस्य शनिपूजायामपि विनियोगः। विभिन्नेषु ग्रन्थेषु ऋषीणां परस्परं मतभेदे एकस्मिन्नेव वा ग्रन्थे ऋषीणां मतभेदे प्रस्तुते समेषामेवादर-णीयता। अत एव 'प्रसुष्टुति' रित्यस्यामृचि— इलस्पति शाकपूणिः पर्जन्याग्नी तु गालवः। यास्कस्तु पूषणंमेने स्तुतमि-न्द्रन्तु शौनकः॥ वैश्वानरं भागुरिस्तु'.....इत्यादिकं न विरुद्धचते,समबलत्वेन विकल्पसम्भवात्। न च तावतापि अनृषिणा १० केनचित् व्याख्यात्रापि विनियोगदेवतादिकल्पनाः कर्तुं शक्यन्ते।

६३—यच्च मन्त्रार्थदृष्टिभेदेन दयानन्दोक्तदेवतासमर्थनाय 'उच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ती-त्युक्तम्, तत्तुच्छम्,यतस्तत्र मन्त्रद्रष्टॄणामृषीणामुच्चावचदृष्टय उक्ताः। न तु दयानन्दो मन्त्रद्रष्टा ऋषिः।

६४—'पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति' (नि० १३।१२) इति वचनेन दयानन्दस्य पारोवर्यवित्त्वेन देवतादिकल्पकत्वं समर्थयितुमिष्यते, तदपि कुशकाशावलम्बनमेव भावानवबोधात्। नानेन वचनेना- १५ नृषेरतपसो वा स्वातन्त्र्येण देवतादिनिर्धारयितृत्वमुच्यते, किन्तु पारोवर्यवित्सु भूयोविद्यस्य प्रशस्यत्वमेवोक्तम्।

के अनुसार मन्त्रों के विनियोग और देवताओं के भिन्न रहने में कोई किसी प्रकार की बाधा नहीं है। बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी आदि के द्वारा उनका समन्वय करना सम्भव है। इसलिये सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता ये दोनों ग्रन्थ देवतावाद में नितान्त प्रमाणभूत आजतक माने जा रहे हैं। क्योंकि आर्षग्रन्थों में समन्वय करना ही अभीष्ट माना गया है। 'ऐन्द्रचागार्ह पत्यमुपतिष्ठते' इस श्रौत विनियोग के बल पर ही 'कदाचनस्तरीरसि' इस ऐन्द्री ऋचा का भी 'गार्ह- २० पत्य' के उपस्थान में विनियोग किया जाता है। प्रमाण के बल पर तदनुगुण अर्थ भी किया जा सकता है, क्योंकि ऐश्वर्य के सम्बन्ध से 'गार्हपत्याग्नि' को भी 'इन्द्र' पद से कहा जा सकता है। उसी तरह स्मार्त विनियोगवशात् 'शन्नोदेवी' इस मन्त्र का 'शनि' की पूजा में भी विनियोग किया जाता है। भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में ऋषियों का परस्पर मतभेद रहने पर अथवा एक ही ग्रन्थ में ऋषियों का मतभेद प्रस्तुत होने पर सभी को आदरणीय ही माना जाता है। अतएव 'प्रसुष्टुतिः' इस ऋचा में शाक पूणि, गालव, यास्क, शौनक, भागुरि आदि का मत भिन्न-भिन्न रहने पर भी २५ उनमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि सभी के मत, समान बल के होने से उनमें 'विकल्प' माना जाता है। किन्तु उसी तरह यदि कोई साधारण आदमी अर्थात् जो ऋषि न हो, वह भी मन्त्र का व्याख्यान करते समय उस मन्त्र के विनियोग तथा देवता की मनमानी कल्पना करने लगे, तो उसे उचित नहीं कहा जायगा।

६३—यह जो कहा गया है कि मन्त्रार्थ की दृष्टि भिन्न होने से स्वामी दयानन्दोक्त देवता के समर्थनार्थ 'उच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति'। किन्तु यह कथन भी सारहीन है, क्योंकि वहाँ पर मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ३० की उच्चावचदृष्टि को बताया है। स्वामी दयानन्द तो कोई मन्त्रद्रष्टा ऋषि नहीं है।

६४—निरुक्त के 'पारोवर्यवित्सु तु खलु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति' इस वचन को देखकर स्वामी दयानन्द को पारोवर्यवित् समझकर उनके भक्तों ने उनमें देवतादिकल्पकत्व का समर्थन करना जो चाहा है,वह भी कुशकाशावलम्बन के समान ही है। उन भक्तों को निरुक्त के वचन का अभिप्राय समझना चाहिये। निरुक्त वचन यह नहीं बता रहा है कि कोई भी साधारण आदमी जो ऋषि न हो, तपस्वी न हो, वह भी स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी स्वेच्छा के अनुसार देवता ३५ आदि का निर्धारण कर ले। उस वचन ने तो पारोवर्यविदों में भूयोविद्य व्यक्ति का प्रशस्यत्व ही बताया है। दुर्गाचार्य

व्याख्यातञ्चैतद् दुर्गाचार्येण तत्र पूर्वमुक्तं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो न पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। न ह्येषु प्रत्यक्षमस्ति अनृषेरतपसोवा। न चात्र मन्त्रे सवितृदेवतात्वनिर्णये श्रुतिसाहाय्यमस्ति, तदनुल्लेखात्। तत्रापि प्रकरणानुसारेणैव यतः कुतश्चित् श्रुतेस्तर्कतोऽपि प्रकरणमन्तरा न मन्त्रा निर्वक्तव्याः। तदुक्तम्—प्रकरणश एव निर्वक्तव्याः। तान्येतानि प्रकरणानि याज्ञं दैवतमध्यात्ममितिहासानुप्रवेशादीनि।

६५—ननु प्रकरणमपि ज्ञातुं शक्यते विद्वद्भिरिति चेत्तत्रोच्यते—नह्येषु प्रत्यक्षमनृषेरतपसो वा। ये पुनरौपदेशिकास्तानधिकृत्योच्यते पारोवर्यवित्स्विति उपदेशतः पारोवर्ये परोवरभावेन मन्त्रार्थान् प्रतिपद्यन्ते ते पारोवर्यविदः। तेषु भूयोविद्यो बहुश्रुतः मन्त्रार्थज्ञाने प्रशस्यो भवति। नेदानीन्तना दयानन्दादय ऋषयः। इत्यपि तत एव ज्ञायते। 'ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को नु ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एनं तर्कमृषिं प्रायच्छन्। मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्।' एतावता स्पष्टं विज्ञायते यत् सर्वे ऋषयो न भवन्तीति। ऋषिभिन्नानां निरुक्ताद्यार्षग्रन्थानुरोधेनैव मन्त्रार्थज्ञानं सम्भवति। तदुक्तं दुर्गाचार्येण—निरुक्तशास्त्रे योऽनूचानो विद्वान् स यदेव किञ्चिन्मन्त्रार्थेषु अभ्यूहति आर्षं तद्भवति। न तत्स्वमनीषिकयोच्यते। नैतावदेव तत्रैव महर्षिणा यास्केन निरुक्तविद्याया अपि 'तपसा पारमीप्सितव्यम्' इत्युक्तम्। तदिदमायुरिच्छता न निर्वक्तव्यम् इत्यपि तेनैवोक्तम्, अतः स्वातन्त्र्येण देवतादिकल्पनम् विरुद्धमेव। तस्मात्कात्यायनादिमहर्षिप्रोक्तविनियोगानुसारेणैव देवतादयो ज्ञातव्याः। 'इषे त्वा शाखानुष्टुप्विनियोगः कल्पकारोक्त इति सायणोद्धृतकाण्वब्राह्मणेनापि कात्यायनोक्ता शाखादेवतैवेषे त्वेति मन्त्रस्य ज्ञेया।

६६—किञ्च 'इषे त्वादि पशून् पाहीत्यन्त एको मन्त्रोऽभ्युपगम्यते। तत्र सवितृशब्ददर्शनादापाततः

ने उस वचन के अभिप्राय को अपनी व्याख्या के द्वारा स्पष्ट भी किया है। उक्त मन्त्र की देवता 'सविता' को बताने में स्वामी दयानन्दजी ने प्रमाण के रूप में किसी श्रुति वचन का उल्लेख भी नहीं किया है। प्रकरण के अनुसार ही मन्त्र का व्याख्यान करना होता है। प्रकरण को त्यागकर किसी भी श्रुति वचन से या केवल तर्क से ही मन्त्र की व्याख्या नहीं की जाती है।

६५—शङ्का—इस पर यदि यह कहा जाय कि विद्वान् लोग प्रकरण को भी जान सकते हैं। किन्तु इस बात का अपलाप नहीं किया जा सकता कि जो ऋषि या तपस्वी न हो उसे उसका ज्ञान नहीं होता। जो लोग औपदेशिक हैं, उन्हीं को लक्ष्य करके 'पारोवर्यवित्सु' कहा गया है। उपदेशपूर्वक परोवरभाव से मन्त्रार्थों को जो जानते हैं, उन्हें 'पारोवर्यविद्' कहा जाता है। उन पारोवर्यविदों में जो बहु विद्य अर्थात् बहुश्रुत रहता है, उसे मन्त्रार्थ ज्ञान में प्रशंसनीय समझा जाता है। आजकल के आधुनिक स्वामी दयानन्दजी जैसे लोगों को 'ऋषि' तो कह नहीं सकते। क्योंकि निरुक्त ही बता रहा है कि—'ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्' अतः स्पष्ट है कि सभी लोग 'ऋषि' नहीं कहलाते। साधारण प्राकृत लोगों को तो निरुक्त आदि आर्ष ग्रन्थों के अनुरोध से ही मन्त्रार्थ का ज्ञान हो सकता है। दुर्गाचार्य ने भी कहा है कि निरुक्तशास्त्र में जो अनूचान विद्वान् होता है उसी का मन्त्रार्थ विषयक अभ्यूहन 'आर्ष' कहलाता है। वह अनूचान अपनी कपोलकल्पित कोई बात नहीं कहता है। महर्षि यास्क ने निरुक्तविद्या के बारे में भी कहा है कि 'तपसा पारमीप्सितव्यम्'—तप के द्वारा ही इस मन्त्रार्थार्णव के पार पहुंचा जा सकता है। महर्षि यास्क ने यह भी कहा है कि जिसे दीर्घायु होना हो वह स्वबुद्धिकल्पित निर्वचन करने का प्रयत्न न करे। अतः स्वेच्छानुसार स्वतन्त्रतापूर्वक मन्त्रदेवता की कल्पना कर लेना शास्त्र विरुद्ध ही है। इसलिये कात्यायनादि महर्षि प्रोक्त विनियोग के अनुरोध से ही मन्त्रदेवता आदि को जानना चाहिये। भाष्यकार सायणाचार्य के इस उद्धृत काण्वशाखीय ब्राह्मणने भी कात्यायनोक्त 'इषेत्वा शाखानुष्टुप् विनियोगः कल्पकारोक्तः' वचन के अनुसार 'इषेत्वा' इस मन्त्र की देवता—'शाखा' को ही बताया है, अतः उसे ही मानना उचित है।

६६—किञ्च 'इषेत्वा' से लेकर 'पशून् पाहि' तक एक ही मन्त्र समझकर और उसमें आये हुए 'सवितृ' शब्द

सवितास्य मन्त्रस्य देवतेत्युक्तम्, ब्राह्मणसूत्राद्यनुरोधेन तु कण्डिकायामस्याम् 'इषेत्वा' 'ऊर्जेत्वा' इत्यादयोऽनेके मन्त्राः सन्ति।

६७—यत्तु ब्रह्मदत्तेन—"पशुहिंसा वारिता च यजुर्वेदादिमन्त्रतः" इति (महाभारतीयं (शान्तिपर्व ३४४।२१) पद्यमुद्धरता पशून् पाहीत्यन्तस्यैवादिमन्त्रत्वेन सम्पूर्णेव कण्डिका एकोमन्त्र इति साधयितुं प्रयतितम्, तदप्यकिञ्चित्करम्, श्रुतिविरोधात्। यजुर्वेदादिकण्डिकायां ये मन्त्रास्तेषु (सप्तम्यास्तसिल्। इति व्युत्पत्त्या वाक्षेपानर्हत्वात्। मन्त्रपदस्य मन्त्रसमूहरूपायां कण्डिकायां वा गौण्या वृत्त्या प्रयोगात्। अन्यच्च नात्र पशुहिंसा वार्यते किन्तु पशुपालनं प्रार्थ्यते। न खलु पालनमेव हिंसावारणम्, आधुनिकैः शासकैः पशुपालने प्रयासवद्भिरपि हिंसा प्रतायत एव। न च यजुर्वेदशब्देनेयमेकैव संहिता ग्रहीतुं शक्या, कृष्णयजुर्वेदस्यापि यजुर्वेदत्वेन प्रसिद्धेः। तत्र यजुर्वेदादिमन्त्रत इत्यस्य यजुर्वेदादिमन्त्रेभ्य इत्यर्थः। तत्र मन्त्रपदं ब्राह्मणस्याप्युपलक्षणम् 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानी' त्यादि ब्राह्मणवचनैश्च तन्निषेधात्। 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेते'ति वचनन्त्वपवादभूतम्। तथा च यज्ञगतालम्भनातिरिक्तहिंसाया वेदेषु निषेधादित्येवार्थः। यद्वा यजुर्वेदादिषु सर्वेषु वेदेषु मन्त्रतो निषेधपर्यवसायिवाक्यतः इत्यर्थः। निषेधपर्यवसायिवाक्येषु विधिपर्यवसायिवाक्येषु चोभयत्रैव मन्त्रपदप्रयोगात्। यथा 'ये मन्त्राः प्रोक्षणे गवाम्' (म० भा० उ० प० १७।८) इत्यादिस्थलेषु।

६८—[एतेन यदुक्तम्—"इषेत्वोर्जेत्वा' इति मन्त्रद्वयं गोपथकारेण नाङ्गीक्रियते। किन्तु 'श्रेष्ठतमाय कर्मण' इत्येवमादि 'कृत्वा यजुर्वेदमधीयते' (गो० १।१।२९) इति वदता सम्पूर्णपाठस्यैकमन्त्रत्वं द्योत्यते" इति, तदपि न किञ्चित्, तत्रादिपदस्य मन्त्रादिपरत्वे त्वदभिमतस्य पाहिपर्यन्तस्य मन्त्रत्वानापत्तेः। तत्र कण्डिकाप्रतीकोपादानस्यैवेष्ट-

---

को सुनकर उस मन्त्र की देवता 'सविता' है—यह जो कहा, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण और सूत्र आदि के अनुरोध से इस कण्डिका में 'इषेत्वा', 'उर्जेत्वा' इत्यादि अनेक मन्त्र हैं। एक मन्त्र नहीं है।

६७—ब्रह्मदत्त ने "पशुहिंसा वारिता च यजुर्वेदादिमन्त्रतः" इस महाभारतीय पद्य का उद्धरण देते हुए 'पशून्-पाहि' तक समाप्त होनेवाले को प्रथम (आदि) मन्त्र के रूप में सम्पूर्ण कण्डिका को ही 'एक मन्त्र' सिद्ध करने का जो प्रयत्न किया है, वह भी अकिञ्चित्कर (व्यर्थ) है। क्योंकि श्रुति का विरोध होता है। तथाहि—यजुर्वेद की प्रथम कण्डिका में जो मन्त्र हैं उनमें अथवा (सप्तम्यास्तसिल्=सप्तमी विभक्ति के अर्थ में 'तसिल्') इस व्युत्पत्ति से आक्षेप करना योग्य नहीं है, क्योंकि मन्त्र पद का प्रयोग, मन्त्रसमूह में अथवा कण्डिका में गौणीवृत्ति की सहायता से (लक्षणा से) किया गया है। दूसरी बात यह है कि यहाँ पशुहिंसा का निवारण नहीं किया जा रहा है, अपितु पशु-पालन की प्रार्थना की जा रही है। 'पालन करने' को ही 'हिंसानिवारण' नहीं कहा करते हैं। आधुनिक शासक, पशु-पालन का प्रयास करते हुए भी हिंसा को बढ़ावा दे ही रहे हैं। 'यजुर्वेद' शब्द से इस एक ही संहिता का ग्रहण करना योग्य नहीं है, क्योंकि 'कृष्णयजुर्वेद' को यजुर्वेद के नाम से कहा जाता है। तब 'यजुर्वेदादिमन्त्रतः' का अर्थ 'यजुर्वेदादि-मन्त्रेभ्य;' करना चाहिये। वहां पर 'मन्त्र' पद, 'ब्राह्मण' का भी उपलक्षण है। क्योंकि 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' इत्यादि ब्राह्मणवाक्यों से उसका निषेध किया गया है। 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' यह वचन तो अपवादभूत है। तथा च यज्ञगत आलम्भन के अतिरिक्त की जानेवाली हिंसा का वेदों में निषेध किया गया है—यही अर्थ होता है। अथवा यजुर्वेदादि सभी वेदों में 'मन्त्रतः' अर्थात् निषेध पर्यवसायी वाक्य से—यह अर्थ भी किया जा सकता है। क्योंकि निषेध पर्यवसायी तथा विधिपर्यवसायी दोनों प्रकार के वाक्यों में 'मन्त्र' पद का प्रयोग हुआ करता है। जैसे—'ये मन्त्राः प्रोक्षणे गवाम्' इत्यादि स्थलों में किया गया है।

६८—यह जो कहा गया है कि "इषेत्वोर्जेत्वा" में दो-मन्त्रों का होना, गोपथकार ने स्वीकार नहीं किया है, किन्तु 'श्रेष्ठतमाय कर्मणे' इस प्रकार मन्त्र का आरम्भ करके यजुर्वेद का अध्ययन करते हैं" यह कहते हुए उन्होंने सम्पूर्ण पाठ की 'एकमन्त्रता' को ही सूचित किया है। किन्तु गोपथ का आशय न समझ सकने के कारण आप ऐसा कह रहे हैं। अतः आपके उक्त कथन में कोई सार नहीं है। गोपथ वाक्य में जो 'आदि' पद है, उसे यदि 'मन्त्रादिपरक'

त्वात्। कण्डिकास्वनेकेषां मन्त्राणां सत्त्वादेव नमस्काराद्येकं यजुः, नमस्कारान्तमेकं यजुरिति यास्काद्युक्तयः सङ्गच्छन्ते।

६९—यदप्युक्तम्—"इषेत्वोर्जेत्वा वायवः स्थदेवो व ……… इत्येवमादिं कृत्वा यजुर्वेदमधीयत इतिवचनात् गोपथकारस्य कृष्णयजुर्वेदो वेदत्वेन नाभिमतइति. तदपि तुच्छम्, तत्र यजुर्वेदशब्दस्य अन्ययजुर्वेदीय ग्रन्थानामुपलक्षण- ५ त्वात्। अन्यशाखीयसंहितानामपि वेदत्वस्य पारम्पर्यात् श्रुतिस्मृतिपुराणादिभ्योऽपि सिद्धत्वात्। मुक्तिकोपनिषदादौ पुराणेषु महाभाष्ये चानेकशाखोपबृंहितस्य वेदचतुष्टयस्य वर्णनात्। यथा 'अग्निमीले पुरोहितम्' 'इषे त्वोर्जेत्वा' 'अग्न आयाहि वीतये' इति ऋचां यजुषां साम्नामादिमन्त्रप्रतीकोपादानं कृतं महाभाष्ये तथैव अथर्ववेदस्य 'शन्नो देवीरभिष्टये' इति मन्त्रप्रतीकोपादानं कृतम्। स च न शौनकीसंहिताया आदिमो मन्त्रः किन्तु पिप्पलादसंहिताया आदिमो मन्त्रः। न च सा संहिता त्वदभिमतो वेदः। एवञ्च महाभाष्यकाररीत्या तव वर्त्मना शौनकीसंहिताया अवेदत्वमेव स्यात्। १० पिप्पलादसंहितायाश्च वेदत्वम्।

७०—किञ्च काण्वानुसारेण जैमिनिनापि 'इषे त्वा'दीनां पृथङ् मन्त्रत्वं निर्णीतम्। तथाहि द्वितीयाध्यायस्य प्रथमे पादे—'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद्विभागे स्यात्' (मी० सू० २।१।४६) इत्यत्र शाबरभाष्ये विचारितम् प्रश्लिष्टपठितेषु यजुःषु कथमवगम्येत यदेकं यजुरित्याशङ्क्योक्तम् यावता पदसमूहेनेज्यते तावान् पदसमूह एकं यजुरित्युत्तरितम्। कियता चेज्यते इत्याशङ्क्य पुनरुत्तरितम् यावता क्रियाया उपकारः प्रकाश्यते तावत् वक्तव्यत्वात् वाक्यमित्युच्यते। तेनाभिधीयते अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्' तत्रैव 'समेषु वाक्यभेदः स्यात्' (मी० सू० २।१।४७) इति सूत्रे

मानेंगे तो आपके अभिमत 'पाहि' पर्यन्तभाग में 'मन्त्रत्व' नहीं बन पायेगा। क्योंकि वहाँ कण्डिका में 'प्रतीक' का ग्रहण करना ही अभीष्ट है। एक कण्डिका में अनेक मन्त्रों के होने से ही 'नमस्कारादि एक यजु' है, और 'नमस्कारान्त' एक यजु है—इस यास्कोक्ति की सङ्गति भी लग जाती है।

६९—यह जो कहा गया है कि "इषे त्वोर्जेत्वा वायवः स्थ देवो वः ……………… इस प्रकार आरम्भ करके 'यजुर्वेदमधीयते'—इस वचन के अनुरोध से गोपथकार को 'कृष्णयजु' का 'वेदत्व' अभिमत नहीं है।—यह कथन भी अत्यन्त तुच्छ है। क्योंकि वहाँ 'यजुर्वेद' शब्द, अन्य यजुर्वेदीय ग्रन्थों का उपलक्षण है। अन्यशाखीय संहिताओं का भी 'वेदत्व',—प्राचीन शिष्ट परम्परा तथा श्रुति, स्मृति, पुराणादिकों से भी सिद्ध है। मुक्तिकोपनिषद् आदि में, पुराणों में और महाभाष्य में भी अनेक शाखाओं से उपबृंहित हुए चारों वेदों (वेद चतुष्टय) का वर्णन उपलब्ध होता है। जैसे 'अग्निमीले पुरोहितम्', 'इषेत्वोर्जेत्वा', अग्न आयाहि वीतये'—इस प्रकार ऋक्, यजु और सामादि मन्त्रों के प्रतीकों का उपादान महाभाष्य में किया है, वैसे ही अथर्ववेद का 'शन्नोदेवीरभिष्टये'—इस मन्त्र के प्रतीक का उपादान किया है। यह मन्त्र 'शौनकी संहिता का आदिम (प्रथम) मन्त्र नहीं है, किन्तु पिप्पलादसंहिता का आदिम मन्त्र है। आप तो उस संहिता को 'वेद' कहते ही नहीं हैं। एवञ्च आपके सम्प्रदाय की दृष्टि में महाभाष्यकार की रीति से 'शौनकी-संहिता' को अवेद कहना होगा, और 'पिप्पलाद संहिता' को वेद कहना होगा।

७०—किञ्च काण्व के अनुसार जैमिनि ने भी 'इषेत्वा' आदि में पृथक् मन्त्रत्व का निर्णय किया है। तथाहि, द्वितीयाध्याय के प्रथम पाद में अर्थैकत्वादेकं वाक्य", के शाबरभाष्य में उसका विचार किया है कि प्रश्लिष्ट पठित यजुओं में कैसे जाना जायगा कि यहां तक 'एक यजु' है—ऐसी आशङ्का करके समाधान किया है कि जहाँ तक के पद-समूह के द्वारा याग किया जाता है, वहाँ तक का पदसमूह (उतना पदसमूह) 'एक यजु' कहलाता है। पुनः शङ्का कर सकते हैं कि कितने पदसमूह से याग किया जाता है। उसपर उत्तर दिया है कि जितने से क्रिया का उपकार किया जा सकता है। क्रियोपकारक, उस पदसमूह को 'वाक्य' कहा जाता है। अतएव यह कहा गया है 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्'। वहींपर 'समेषु वाक्यभेदः स्यात्'—सूत्र के द्वारा विचार किया है कि 'इषेत्वा, 'उर्जेत्वा', तथा 'आयुर्यज्ञेन कल्पतां

इषेत्वा ऊर्जेत्वा इति तथा 'आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतामितिभिन्नं वाक्यमुतैकम् ? इषेत्वा इत्येवमुक्ते न किञ्चिद्दृष्टप्रयोजनम्, तथा ऊर्जेत्वा इत्यपि च, वचनसामर्थ्याददृष्टं तदुभाभ्यामेकम् (अदृष्टं) कल्पयितुं न्याय्यम्। एवंस्वल्पीयानुमानकल्पना भविष्यति एवं पूर्वपक्षय्य समाहितम्—समेषु वाक्यभेदः स्यादिति समेषु परस्परानाकांक्षेषु वाक्यंभिद्यते। इषेत्वेत्यनेनैकोऽर्थः क्रियते उर्जे त्वेत्यनेनापरः। यद्यपि प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन दृष्टोऽर्थो नोपलभ्यते श्रुत्या तु गम्यते इषे त्वेति छिनत्ति ऊर्जे त्वेत्यनुमार्ष्टि इति। एतावता शाबरभाष्येणोपयुक्तं काण्ववाक्यद्वयं श्रुतित्वेनोदाहृत्य इषे त्वा उर्जेत्वा इति वाक्यद्वयमङ्गीकृत्य मन्त्रद्वयमङ्गीकृतम्। तस्मात् पूर्वमीमांसासूत्र–भाष्याभ्यामनेके मन्त्रा एकस्यां कण्डिकायां सिद्धयन्ति। जैमिनीयाधिकरणन्यायमालायामपि—'इषे त्वादिर्मन्त्र एको भिन्नो वैक क्रियापदे। असत्यर्थ-स्मारकत्वादेकादृष्टस्य कल्पनात्॥ छेदने मार्जने चैतौ विनियुक्तौ क्रियापदौ। अध्याहृते स्मारकत्वात् मन्त्रभेदोऽर्थ-भेदतः॥' इषे त्वोर्जे त्वेत्यत्र क्रियापदाभावेन 'उरुप्रथस्व' प्रथस्वेति मन्त्रवदर्थस्मारकत्वाभावाददृष्टार्थे सत्येकादृष्टस्य कल्पने लाघवादेक एव मन्त्र इति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु काण्वब्राह्मणे छिनत्ति अनुमार्ष्टीति विनियोगश्रवणात्तदनुरोधेन इषेत्वा छिनद्मि ऊर्जेत्वाऽनुमार्ज्मि इति क्रियापदेऽध्याहृते सत्यस्मारकत्वाद्भिन्नौ मन्त्रौ। कात्यायनमहर्षिणापि पर्णशाखां छिनत्ति शामीलीं वा इषे त्वोर्जे त्वेति वा छिनद्मि इति वोभयोः साकांक्षत्वात् सन्नमयामीति वोत्तर इति पलाशशाखा शमीशाखा वात्र विकल्पिता। तच्छेदने इषे त्वोर्जे त्वेति द्वौ मन्त्रौ विकल्पितौ।

७१—[यत्तु 'इषे अन्नविज्ञानयोः प्राप्तये' इत्युक्तम्, तदपि न युक्तम्, पूर्वोक्तकाण्वश्रुत्या इषे इत्यस्य वृष्टयर्थ-ताप्रतिपादनात्। यदुक्तम्—यस्य पदस्य यद्धातोर्यस्मिन् प्रत्यये यस्मिन्नर्थे व्याकरणनिरुक्तभाष्यकारादिभिर्व्युत्पत्तिः प्रदर्शिता तस्मादेवधातोस्तास्मिन्नेव प्रत्यये तस्मिन्नेवार्थे च पदमिदं व्युत्पादनीयमिति नैकान्तो नियमः, अपि तु

प्राणो यज्ञेन कल्पताम्'—ये सब भिन्न-भिन्न वाक्य हैं अथवा सब मिलकर सम्पूर्ण एक ही वाक्य है ? 'इषेत्वा' इतना कहने पर किसी दृष्ट प्रयोजन की उपलब्धि नहीं होती है, तथा 'ऊर्जेत्वा' के कहने पर भी वैसा ही है। किन्तु वचन सामर्थ्यात् दोनों से एक ही अदृष्ट की कल्पना करना ही न्यायोचित है। इस प्रकार अनुमान कल्पना स्वल्प करनी पड़ेगी। यह पूर्वपक्ष किया गया है। उसपर समाधान देने के लिये 'समेषु वाक्यभेदः स्यात्'—(मी० सू० २।१।४७) सूत्र को उपस्थित किया गया है। 'समेषु' यानी एक दूसरे को परस्पर आकांक्षा न रहने पर 'वाक्य' भिन्न-भिन्न माने जाते हैं। 'इषेत्वा' कहनेपर एक अर्थ किया जाता है और ऊर्जेत्वा' कहनेपर अन्य अर्थ किया जाता है। यद्यपि प्रत्यक्षादि प्रमाण से किसी दृष्ट अर्थ की उपलब्धि नहीं हो रही है, किन्तु श्रुति से जाना जाता है कि 'इषेत्वेति छिनत्ति'—इषेत्वा मन्त्र बोलकर छेदन करना चाहिये, ऊर्जेत्वेत्यनुमार्ष्टि' 'ऊर्जेत्वा' मन्त्र बोलकर अनुमार्जन करना चाहिये। इस शाबर भाष्य के द्वारा उपर्युक्त काण्व के दो वाक्यों को श्रुति के रूप में उदाहरण प्रस्तुत कर 'इषेत्वा'—ऊर्जेत्वा' को दो वाक्य मानते हुए उन्हें दो मन्त्रों के रूप में स्वीकार किया है। एवञ्च पूर्वमीमांसासूत्र और उसके भाष्य की दृष्टि में 'अनेक मन्त्र', एक कण्डिका में हुआ करते हैं। जैमिनीय अधिकरण न्यायमाला में भी कहा गया है कि 'इषे-त्वोर्जेत्वा' में किसी 'क्रियापद' के न रहने से 'ऊरुप्रथस्व' इस मन्त्र के समान अर्थस्मारकत्व न होने के कारण जब उसे अदृष्टार्थक ही कहना होगा, तब एक अदृष्ट की कल्पना करने में लाघव होने से 'इषेत्वोर्जेत्वा' इतना एक ही मन्त्र है—यह पूर्वपक्ष किया गया है। किन्तु सिद्धान्त यह किया गया है कि काण्व ब्राह्मण में 'छिनत्ति, अनुमार्ष्टि' इस प्रकार विनियोग श्रुत रहने से, तदनुरोधेन 'इषेत्वा छिनद्मि, ऊर्जेत्वा अनुमार्ज्मि' इस प्रकार क्रियापद का अध्याहार करने पर उक्त मन्त्रों में अर्थस्मारकत्व स्पष्ट हो जाता है। कात्यायन महर्षि ने भी 'पर्णशाखां ……………… छिनद्मि' कहकर दोनों के साकांक्ष होने से 'सन्नयामीति वोत्तरे' यह कहकर पलाश शाखा अथवा शमीशाखा का विकल्प यहाँपर दिखाया है। उसके छेदन में 'इषेत्वा', 'ऊर्जेत्वा' दो मन्त्रों को विकल्प से बताया है।

७१—स्वामी दयानन्द जी ने "इषे" का अर्थ 'अन्न और विज्ञान की प्राप्ति के लिये' किया है। किन्तु यह अर्थ भी उचित नहीं है, क्योंकि काण्व श्रुति के द्वारा "इषे" का अर्थ 'वृष्टि' के लिये किया गया है। निरुक्त और दुर्गा-चार्य के ये वचन कि "जिन पदों में स्वर और संस्कार समर्थ होकर प्रादेशिक गुणों से अन्वित होते हैं। उनका

यस्माद्यस्मादपि धातोर्यस्मिन् प्रत्यये यस्मिन्नर्थे यं यमर्थं वक्तुं पदं समर्थं स्यात् तथा तथा निर्वक्तुं शक्यते' इति, तत्तु सर्वथा विरुद्धमेव, तात्पर्यानुरोधेनैव व्युत्पत्तेराश्रयणीयत्वात्। 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यमिति (मी० सू० २।१।४६) सूत्रे जैमिनिना स्पष्टमेतदुक्तम्। तथा च नैकस्य वाक्यस्यानेकेऽर्थास्तात्पर्यगोचरा वक्तुं शक्यन्ते। विवरणकृतापि वाक्ययोजनाविचारप्रसङ्गे चोक्तम् पूर्वोक्तरीत्या नैका सरणिर्वाक्ययोजनायामाश्रयितुं शक्यते व्याख्यातॄणां बुद्धिभेदात्। सत्यप्येवं ५ भाष्यकाराणां विविधापि वाक्ययोजना तदनुसारी च विविधोऽप्यर्थः प्रामाणिक एवेति स्वीकर्तुं शक्यते। वेदान्तगीतादिभाष्योक्तेषु सर्वेष्वप्यर्थेषु ग्रन्थकर्तुरभिप्रायोऽस्तीति न कथमपि शक्यते वक्तुम्। एवमेव वेदेऽपि तत्कर्तुः सच्चिदानन्दत्वादिगुणविशिष्टस्य ब्रह्मणो विभिन्नभाष्यकारप्रतिपादितेषु विविधेषु सर्वेष्वर्थेष्वभिप्रायोऽस्तीति न शक्यते वक्तुम्। तस्मादकामेनापि शास्त्रवचनानुसृत एव वेदार्थः प्रामाणिको भवितुमर्हतीत्यङ्गीकरणीयम्। तथा सति मन्त्रब्राह्मणसूत्रपारम्पर्ययाज्ञिकपद्धतिविरुद्धो दयानन्दोयोऽर्थस्त्वद्रीत्यापि न स्वीकारार्हः।

१० अथ निर्वचनं—तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम्, तथा तानि निर्ब्रूयात्, अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्, न त्वेव न निर्ब्रूयात् न संस्कारमाद्रियेत विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति' (नि० २।१) इति निरुक्तवचनानि तत्रत्यानि च दुर्गाचार्यादिवचनानि न शास्त्रप्रकरणादिविरुद्धयथेच्छनिर्वचनसमर्थकानि किन्तु तेषां 'अर्थनित्यः परीक्षेत' अर्थादर्थप्रधानः परीक्षेतेत्यत्रैव तात्पर्यम्। अर्थप्राधान्येनैवानादृत्य स्वरसंस्कारौ परीक्षेत। अर्थोहि प्रधानं तद्गुणभूतः १५ शब्दः, तस्माच्छब्दसामान्यादर्थसामान्यं बलीय इति तात्पर्यानुरोधेनैव व्युत्पत्तयो ग्राह्याः। तात्पर्यानुरोधेनानेका अपि व्युत्पत्तयो न दोषावहा बुद्धिवैशद्यहेतुत्वात्। स्वेच्छया स्वरसंस्कारवचनपुरुषव्यत्यासे शाब्दन्यायेऽराजकतैव स्यात्। तस्माद्यत्र स्वरसंस्कारादयस्तात्पर्यानुरोधिनो न भवेयुस्तत्रैव तदनादरेण निर्वचनं युक्तम्। विशेषतस्तु आस्माकीनवेदभाष्यभूमिकायां विवेचिता इमे विषयाः। अर्थप्राधान्येन धातुतोऽर्थोऽवगन्तव्य इति निर्वचनसिद्धान्ते स्वीकृतेऽपि न हानिः। 'अनुपक्षीणशक्तयो हि विभवो वेदशब्दा यथाप्रज्ञं पुरुषाणामर्थाभिधानेषु विपरिणममानाः सर्वतोमुखा अनेकान- २० र्थान् प्रब्रुवन्ति' (नि० टीका पृ० ८४) इति वचनमपि तात्पर्यानुरोधेनैव नेतव्यम्, न यथेच्छम् इत्यर्थकम्, पुरुषेच्छाया अव्याहतप्रसरत्वात्।

निर्वचन उसी प्रकार करना चाहिये, जो अर्थ—अनन्वित हैं, प्रादेशिक विकार है, वहां अर्थ नित्यता की परीक्षा करनी चाहिये। किसी वृत्ति के कारण सामान्य के अविद्यमान होनेपर अक्षर वर्ण से समानता को लेकर निर्वचन करना चाहिये। निर्वचन ही न हो, ऐसा नहीं होना चाहिये। संस्कार का ही अत्यधिक आदर नहीं करना चाहिये, क्योंकि २५ वृत्तियां सविशयक होती हैं'' शास्त्र के विरुद्ध यथेच्छ निर्वचन के समर्थक नहीं है, अपितु उनका तात्पर्य अर्थ को प्रधान रखकर परीक्षा करने में ही है। स्वर और संस्कार का अनादर करके भी अर्थ को ही प्रधान मानकर परीक्षा करनी चाहिये, क्योंकि अर्थ की प्रधानता होती है। 'शब्द' उसकी अपेक्षा गौण होता है। इसलिये शब्द सामान्य से अर्थसामान्य हो बलवान् होता है। इस तात्पर्य का अनुरोध रखते हुए ही व्युत्पत्तियों को ग्रहण करना चाहिये। तात्पर्य का यदि अनुरोध हो तो अनेक प्रकार की व्युत्पत्तियाँ भी बुद्धि की विशदता सम्पादन के कारण दोषावह नहीं होतीं हैं। अपनी इच्छानुसार स्वर, संस्कार, वचन और पुरुष का व्यत्यास माननेपर तो शब्दविषयक न्याय में अराजकता ही फैल जायगी। अतः स्वर और संस्कार का अनादर वहींपर सह्य होता है, जहाँपर वे तात्पर्य का अनुरोध नहीं रखते। हमारी वेदभाष्यभूमिका में इन विषयों पर विशेष विचार हो चुका है। अर्थ की प्रधानता के कारण धातु से अर्थ को जानने के लिये निर्वचन के सिद्धान्त को मानने में कोई हानि नहीं है।

निरुक्त का यह कथन है कि ''वेद के शब्द, अक्षीण शक्ति से सम्पन्न, विभुता से युक्त हैं। पुरुषों की प्रज्ञा के अनुसार अर्थों के अभिधानों में विपरिणत होते हुए सर्वतोमुखभाव से अनेक अर्थों को कहते हैं''। इसे तात्पर्य के अनुरोध से ही समझना चाहिये। इसका अभिप्राय यथेच्छ अर्थ करने में कथमपि नहीं है, क्योंकि पुरुष की इच्छापर उसे छोड़ने पर तो उसकी कहींपर रुकावट ही नहीं होगी।

७२—[ननु व्युत्पत्तिवशादर्थज्ञानमर्थज्ञानाच्च व्युत्पत्तिनिर्णय इत्यन्योन्याश्रयः, इति चेन्न, अर्थपदेन तात्पर्यस्य विवक्षितत्वात् । तन्निर्णयस्तु—'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥' इति षड्विधतात्पर्यग्राहकलिङ्गं भवति । तात्पर्यं च लोके तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वम् वेदे तु तदितरप्रतीतीच्छयानुच्चरितत्व-रूपम् । न चोपक्रमादिवाक्येष्वपि व्युत्पत्तिनिर्णयाधीनमेवार्थज्ञानम्, विप्रतिपन्नस्थले व्युत्पत्तिनिर्णयापेक्षायां सत्यामपि सर्वत्र विप्रतिपत्त्यसम्भवेनादोषात् । प्रकृते तु काण्वश्रुत्यैवेष इत्यस्य वृष्टयर्थता निर्णीता । न च 'अन्नं वा इषम्' (कौ० ब्रा० २८।५) इति श्रुत्यैवान्नार्थतापि विज्ञायते इषशब्दस्येति वाच्यम्, काण्वशाखीयमन्त्रव्याख्याने काण्वश्रुतेः कौषीतक्य-पेक्षयाऽन्तरङ्गत्वेन, बहिरङ्गव्याख्यानग्रहणानौचित्यात् । काण्वमाध्यन्दिनीशाखयोश्च वाजसनेयित्वेन माध्यन्दिनीशाखा-यामपि तस्या एव ग्राह्यत्वात् । किञ्चेषेत्वेति मन्त्रस्य तद्गतस्य इषे इति चतुर्थ्यन्तपदस्यैव व्याख्यां काण्वश्रुतिः करोति । कौषीतकिस्तु इषमिति द्वितीयान्तस्यान्यमन्त्रगतस्य व्याख्यानं करोति इति व्यवस्थैव युक्ता, तथा च न पर-स्परं बाध्यबाधकभावः । अत एव इषु इच्छायाम्' इत्यनुसारेणोत्तमेच्छायै इत्यप्यर्थोऽसङ्गत एव । इच्छाया वस्तुसौन्दर्य-ज्ञानजनितत्वेन प्रार्थनीयत्वानुपपत्तेः ।

७३—[यत्तु 'सर्वनाम्नः पूर्वपरामर्शित्वात् ऋग्वेदेन पूर्वनिर्दिष्टस्वरूपः सर्वोऽपि पदार्थसमूहोऽत्र ग्रहीतुं शक्यते, पुनरपि ब्रह्मणः प्रधानत्वात् भाष्यस्य चाध्यात्मपरत्वात् परमेश्वर एव परामृश्यते, प्रसिद्धपरामर्शित्वाद्वा त्वेति

७२—इस पर यदि यह शङ्का करो कि व्युत्पत्ति होनेपर अर्थज्ञान होगा और अर्थज्ञान के होनेपर व्युत्पत्ति का निर्णय होगा, तब अन्योन्याश्रयदोष आवेगा । किन्तु यह शङ्का उचित नहीं होगी, क्योंकि यहाँ 'अर्थ' पद से 'तात्पर्य' की विवक्षा की जाती है । और 'तात्पर्य' का निर्णय 'उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उप-पत्ति'—इन छह प्रकार के तात्पर्यग्राहक चिह्नों से किया जाता है । तात्पर्य का अर्थ, लोकव्यवहार में 'तत्प्रतीतीच्छया उच्चरितत्व' अर्थात् 'उसको बताने की इच्छा से उच्चारण करना' है, किन्तु वेद में 'तदितरप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्व' अर्थात् 'उससे इतर (भिन्न) की प्रतीति की इच्छा से उच्चारण न करना' होता है । और यह भी नहीं है कि 'उप-क्रमोपसंहारौ', इत्यादि वाक्यों में भी 'अर्थज्ञान', व्युत्पत्तिनिर्णय के ही अधीन हो । विप्रतिपत्ति के स्थलों में व्युत्पत्ति से निर्णय की अपेक्षा होनेपर भी सभी स्थलों पर विप्रतिपत्ति का होना संभव नहीं है । अतः कोई दोष उपस्थित नहीं होता है । प्रकृत में तो काण्वश्रुति के द्वारा ही 'इष' पद का अर्थ 'वृष्टि' निर्णीत किया गया है । 'अन्न'--'इष' है, इस श्रुति के द्वारा 'इष' शब्द का अर्थ 'अन्न' भी कहा गया है । ऐसी शङ्का यहाँपर उठाने योग्य नहीं है, क्योंकि जब काण्व-श्रुति का व्याख्यान करना है तब काण्वश्रुति 'कौषीतकी' की अपेक्षा अन्तरङ्ग है । अतः उससे भिन्न जो बहिरङ्ग है । उसका ग्रहण करना यहाँ उचित नहीं है । 'काण्व' और 'माध्यन्दिनी' शाखाएँ वाजसनेयी की हैं । अतः माध्यन्दिनी-शाखा में भी उसी का ग्रहण करना उचित होगा । काण्वश्रुति "इषे त्वा" मन्त्र की और उसके अन्तर्गत "इषे" इस चतुर्थी विभक्त्यन्त पद की ही व्याख्या कर रही है । और कौषीतकी तो "इषम्" इस अन्य मन्त्र के अन्तर्गत 'द्वितीया-विभक्त्यन्त' पद की व्याख्या कर रही है । अतः उक्त व्यवस्था ही यहाँ उपयुक्त है । उक्त व्यवस्था को स्वीकार करनेपर इन दोनों में 'परस्पर बाध्य-बाधकभाव' नहीं होगा । अतः 'इषु इच्छायाम्' के अनुसार' उत्तम इच्छा के लिये'—यह अर्थ करना भी स्वामी दयानन्दजी का असङ्गत ही है । क्योंकि 'इच्छा' तो वस्तुसौन्दर्य के ज्ञान से उत्पन्न है, वह प्रार्थ-नीय नहीं हो सकती ।

७३—यह जो कहा गया है कि 'सर्वनाम शब्द, पूर्वोक्त अर्थ को ही प्रकट करता है'–इसलिये ऋग्वेद के द्वारा पूर्व-निर्दिष्ट सभी पदार्थ समूह का यहाँ ग्रहण हो सकता है, फिर भी 'ब्रह्म' के प्रधान होने के कारण तथा भाष्य के अध्या-त्मपरक होने से 'परमेश्वर' का ही ग्रहण यहाँ किया गया है, अथवा 'त्वा' पद के प्रसिद्ध अर्थ के कारण उससे 'ब्रह्म' का ही निर्देश माना गया है'—(पृ० ८३) । किन्तु यह सम्पूर्ण कथन कुशकाशावलम्बनमात्र ही है ।

यद्यपि सर्वनाम पूर्वपरामर्शक होता है, तो भी पूर्व में यदि समीप और दूरभाव हो तो सर्वनाम शब्द उनमें से समीप का ही ग्रहण करता है, जो उचित भी है । अतः अन्य ग्रन्थ के पदार्थों का परामर्श 'सर्वनाम' शब्द से

पदेन ब्रह्मणो निर्देशः' (पृ० ८।६) इति, तदपि कुशकाशावलम्बनमात्रम्, सर्वनाम्नां पूर्वपरामर्शित्वेऽपि सन्निहितासन्निहितयोः सन्निहितपरामर्शित्वस्यौचित्याद्ग्रन्थान्तरीयवस्तुपरामर्शासम्भवात् । ऋग्वेदेन पूर्वनिर्दिष्टः सर्वोऽपि पदार्थसमूहस्तु नतरां ग्रहीतुं शक्यते, सम्बोध्यत्वविशिष्टचेतनस्यैव युष्मदर्थतयाऽचेतनपदार्थसमूहस्य त्वेतिपदेन ग्रहीतुमशक्यत्वात् । ब्रह्मणोऽर्थविधया प्राधान्येऽपि न 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० उ० २।१) इत्यत्र शब्दविधया प्राधान्यं 'विद्' इत्यस्य
५ विशेषणत्वेनाप्राधान्यात् । प्रसिद्धपरामर्शित्वमपि सन्निहितासन्निहितयोः सन्निहितस्यैव युक्तम् । प्रकृते तु शाखाछेदने विनियुक्तस्य मन्त्रस्य शाखां प्रति गुणत्वात् शाखैव प्रधानभूता । अन्यथा यत्र क्वापि 'भूताय त्वा नारातये स्वरभिविख्येषम्' (वा० सं० १।११) इत्यादावपि त्वेति प्रसिद्धत्वात् परमेश्वर एव कुतो न गृह्यते ? त्वया तु तत्र हेमनुष्य अहं त्वां सर्वेषां भूतानां सुखदानाय पृथिव्यां रक्षयामीत्यत्र त्वापदेन मनुष्य एव गृहीतः । वस्तुतस्तु सर्वनामत्वेऽपि युष्मच्छब्दस्य न प्रकृतपरामर्शित्वं न वा प्रधानपरामर्शित्वं, किन्तु सम्बोध्यत्वविशिष्टचेतनबोधकत्वमेव । लक्षणयाऽचेतनोऽपि त्वमिति
१० सम्बोधयितुं शक्यत इति सर्वत्र त्वमिति प्रयोगसम्भवेन सर्वनामत्वोक्तिः समञ्जसा ।

७४—[यत्तु पुरुषव्यत्ययसमर्थनाय 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) इत्यादि सूत्रमुद्धृतम् तत्र नास्ति विप्रतिपत्तिः । प्रकृते व्यत्ययोऽपेक्षितो न वा इत्येव तु विवेचनीयम् । व्यत्ययमन्तरापि ब्राह्मण-सूत्र-पारम्पर्यैरर्थोपपत्तौ सत्यां स्वाभ्यूहितार्थसाधनाय लिङ्गवचनपुरुषव्यत्ययः सर्वथाऽसङ्गत एव । सर्वत्रैव यथाश्रुतार्थानुपपत्तौ सत्यामेव व्यत्ययो भवति । 'श्रीर्हि पशवः' (श० १।८।१।३६) 'प्रजावैपशवः' (श० १।६।१।१७) इतीमानि वचनानि तु भूमिकायां व्या-
१५ ख्यातानि । ब्रह्मदत्तेन दुर्गाचार्यस्कन्दस्वाम्यादीनां वचनानि स्वपक्षपोषणाय तत्र तत्रोद्ध्रियन्ते परं सिद्धान्तस्तु तद्विरुद्ध एवानुगम्यते । दुर्गाचार्यादयस्तु ब्राह्मण-सूत्र-पारम्पर्यसमनुगतमेवार्थं समर्थयन्ते । सत्यामनुपपत्तावेव वचनादिव्यत्ययमङ्गीकुर्वन्ति ।

मानना असम्भव है । ऋग्वेद के द्वारा पूर्वनिर्दिष्ट समस्त पदार्थ समूह का परामर्श तो कथमपि नहीं हो सकता । "त्वा" शब्द 'युष्मद्' शब्द है, उसका व्यवहार उसी के लिये हो सकता है, जो सम्बोधित हो सके और 'चेतन' हो तब 'अचेतन पदार्थ' समूह का परामर्श 'त्वा' पद से होना संभव नहीं है । अर्थदृष्टि से 'ब्रह्म' के प्रधान होने पर भी "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" यहाँ शब्द मर्यादा से 'ब्रह्म', विद् का विशेषण होने के कारण अप्रधान है । सर्वनाम के प्रसिद्धपरामर्शित्व का नियम भी यदि समीपस्थ और दूरस्थ दोनों हों तो समीप में ही सङ्गत होता है । प्रकृत में तो शाखा छेदन के लिये विनियुक्त हुए मन्त्र की 'शाखा' के प्रति गौणता है और शाखा की ही प्रधानता है । अन्यथा 'त्वा' शब्द का 'भूताय त्वा' आदि मन्त्रों में जहाँ प्रयोग मिलता है वहाँ 'त्वा' के प्रसिद्ध परामर्शक होने से 'परमेश्वर' का ही ग्रहण क्यों नहीं होता ? स्वामी दयानन्दजी ने तो "हे मनुष्य ! मैं तुम्हें समस्त भूतों को सुख पहुँचाने के लिये पृथिवी पर रखता हूँ"—इस प्रकार वहाँ "त्वा" का अर्थ 'मनुष्य' किया है । यथार्थता तो यह है कि 'युष्मद्' शब्द के सर्वनाम होने पर भी न तो वह प्रकृत का परामर्शक है और न प्रधान का परामर्श करता है, अपितु वह उस चेतन का बोधक होता है, जिसमें सम्बोधित होने की योग्यता हो । लक्षणा के द्वारा अचेतन भी 'त्वम्' शब्द से सम्बोधित हो सकता है । अतः 'त्वम्' का प्रयोग होना सर्वत्र संभव होता है, इसलिये उसे 'सर्वनाम' कहा गया है ।

७४—प्रथम, मध्यम, उत्तम पुरुषों में व्यत्यय का बोधन करने के लिये जो 'व्यत्ययो बहुलम्' सूत्र उद्धृत किया है, उसमें आपत्ति नहीं है । सोचना तो यह है कि प्रकृत स्थल में 'व्यत्यय' अपेक्षित है या नहीं । बिना व्यत्यय के भी ब्राह्मण-सूत्र परम्पराओं से अर्थ की युक्तिसङ्गतता प्राप्त हो जाने पर भी अपने कल्पित अर्थ को सिद्धि के लिये लिंग, वचन, पुरुष का व्यत्यय सर्वथा असङ्गत ही है । व्यत्यय तो तभी होता है, जब यथाश्रुत अर्थ ठीक नहीं बैठता । 'श्रीर्हि पशवः', 'प्रजा वै पशवः'—अर्थात् 'श्री' पशु है, 'प्रजा' पशु है—इन वचनों की व्याख्या तो वेदभाष्यभूमिका में करदी गई है । श्रीब्रह्मदत्तजी ने 'दुर्गाचार्य, स्कन्दस्वामी' आदि भाष्यकारों के वचनों को तत्तत् स्थलों पर अपने पक्ष के पोषणार्थ उद्धृत करके भी अपना सिद्धान्त उनके विपरीत ही स्थापित किया है,—इस प्रकार धूलिप्रक्षेप करके अपने पक्ष का प्रतिपादन श्रीब्रह्मदत्तजी ने किया है । दुर्गाचार्य–स्कन्दस्वामी आदि भाष्यकार तो ब्राह्मण, सूत्र तथा परम्परा से

७५—[यदुक्तम्—"सर्वदर्शनेषु सर्वे मन्त्रा योजनीयाः कुतः 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' (नि० १।२०) यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्। सर्वदर्शनेषु सर्वे मन्त्रा योजनीया इत्यनेन वेदस्य समस्तमन्त्राणां सर्वेष्वपि पक्षेषु आध्यात्मिकनैरुक्त याज्ञिकादिपरा अर्था भवन्ति किमुतैकस्याध्यायस्य मण्डलस्य सूक्तस्य वेति सर्वथा विस्पष्ट" मित्यादि, तत्सर्वमविचारितरमणीयम्, 'अर्थं वाचः पुष्पफलम्' (नि० १।३०) इति निरुक्तवाक्यस्यार्थानवबोधात्। नह्यत्र सर्वेषां मन्त्राणां त्रिविधा अर्था भवन्तीति प्रतिपादितम्, किन्तु दुर्गाचार्यरीत्यायमभिप्रायः सर्वोपि मन्त्रब्राह्मणराशिरेव त्रिधा- ५ विभक्तः। यदाभ्युदयलक्षणो धर्मोऽभिप्रेयते तदा याज्ञं पुष्पं फलं दैवतम्। पूर्वं हि पुष्पं भवति फलार्थं याज्ञमपि पूर्वं तन्यते देवतार्थं चेत्येतस्मात् सामान्यात् याज्ञं पुष्पं दैवतं फलं भवति। यदा तु निःश्रेयसलक्षणो धर्मोऽभिप्रेयते याज्ञदैवतयोः पुष्पत्वमेव भवति दैवतार्थत्वात् याज्ञस्य दैवतेऽन्तर्भावात्। अध्यात्मार्थत्वादधिदैवतस्याध्यात्मे पुरुषार्थस्य निष्ठानाद्दैवतं पुष्पमध्यात्मं फलमित्येव युक्तम्।

७६—[अनेकेषां मन्त्राणां निरुक्तकारैरेवाध्यात्मिकपक्षमाश्रित्य केषाञ्चिद्याज्ञिकपक्षमाश्रित्य केषाञ्चिच्चैतिहासिकपक्षमाश्रित्य व्याख्यानं कृतम्। यथा—'वृत्रो मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः. इन्द्रस्य न कोऽपि शत्रुः, मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु मेघ एवाहिरित्यभिधीयते' इति च (नि० २।१६)। पूर्वोत्तरमीमांसादृष्टचा तु धर्मब्रह्मपर एव वेदार्थो युक्तः। तत्र धर्मोऽभ्युदयार्थो निष्कामस्य बुद्धिशुद्धिद्वारा ब्रह्मात्मसाक्षात्कार एव पर्यवस्यति।

अनुगत अर्थ का ही समर्थन करते हैं। ब्राह्मण, सूत्र, याज्ञिक परम्परा के विरुद्ध अर्थ का समर्थन वे कथमपि नहीं करते हैं।

७५—यह जो कहा गया है कि "सभी दर्शनों में सभी मन्त्रों को लगाना चाहिये. क्योंकि "अर्थं वाचः पुष्पफलमाह"—अर्थ को 'वाणी' का पुष्प फल कहा है— । 'यज्ञ' आदि पुष्प-फल के रूप में प्रतिज्ञात हैं। सर्व दर्शनों में सभी मन्त्रों को लगाना चाहिये—'सर्वदर्शनेषु सर्वमन्त्रा योजनीयाः—ऐसा कहा होने से वेद के समस्त मन्त्रों के सभी पक्षों में आध्यात्मिक, नैरुक्त, याज्ञिक आदि प्रक्रियापरक अर्थ हो सकते हैं, तब किसी अध्याय, मण्डल अथवा सूक्त की बात ही क्या है ? यह सर्वथा विस्पष्ट हो जाता है।" किन्तु यह सब अविचारितरमणीय ही है। क्योंकि निरुक्त के कथन—'शब्द का जो अर्थ है, वह वाणी का पुष्प-फल है'—का ज्ञान ठीक ठीक न हो पाने से स्वामी दयानन्दजी वैसा कह गये हैं। निरुक्तकार ने यह नहीं कहा है कि सभी मन्त्रों के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं किन्तु दुर्गाचार्य की रीति से उसका अभिप्राय यह है कि समस्त मन्त्र-ब्राह्मणराशि के तीन विभाग हैं। जब अभ्युदयरूप धर्म अभिप्रेत हो तब 'यज्ञ' पुष्प और फल 'देवता' विवक्षित हैं। क्योंकि पहिले 'पुष्प होता है, यज्ञ भी फल के लिये और देवता के लिये पहिले किया जाता है। इसी सादृश्य को देखकर 'यज्ञं पुष्पं दैवतं फलं भवति' कहा गया है। जब निःश्रेयस रूप धर्म अभिप्रेत हो, तब यज्ञ विषयक और देवता विषयक पदार्थ पुष्पस्थानीय ही समझने चाहिये। क्योंकि यज्ञीय पदार्थ देवता के निमित्त होने से देवता सम्बन्ध में ही उनका अन्तर्भाव होता है। अधिदैवत पदार्थ, अध्यात्म के लिये होने से अध्यात्म में ही पुरुषार्थ की अधिष्ठानता होती है। अतः 'दैवत' को पुष्पस्थानीय और 'अध्यात्म' को फलस्थानीय कहना ही उचित है।

७६—स्वयं निरुक्तकार ने ही अनेक मन्त्रों का व्याख्यान आध्यात्मिकपक्ष का आश्रय लेकर, कुछ मन्त्रों का व्याख्यान ऐतिहासिकपक्ष का आश्रय लेकर किया है। जैसे—'वृत्रो मेघः'—वृत्र मेघ है, यह निरुक्त के अनुयायी कहते हैं, और 'त्वाष्ट्रोऽसुरः'—त्वाष्ट्र (वृत्र) असुर है, ऐसा ऐतिहासिक कहते हैं। 'इन्द्र' का शत्रु कोई नहीं है। मन्त्रों में और ब्राह्मणों में 'मेघ' को अहि कहा गया है (निरु०)। पूर्व और उत्तरमीमांसा की दृष्टि से तो 'वेद' का अर्थ, धर्मपरक और ब्रह्मपरक ही करना ही उपयुक्त है। क्योंकि अभ्युदय करनेवाला धर्म, निष्काम पुरुष की बुद्धि को शुद्ध बनाता हुआ ब्रह्मसाक्षात्कार में ही परिपूर्ण होता है।

७७—['य ईं चकार न सोऽस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् । स मातुर्योनापरिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश ॥' (ऋ० सं० १।१६४।३२) । अत्र बहुप्रजाः कृच्छ्रमापद्यते इति परिव्राजकाः । वर्षकर्मेति नैरुक्ताः' (नि० २।८) इति निरुक्ते स्पष्टमुक्तम् । कश्चिद् बह्वपत्यो दरिद्रः सुदुष्पोषत्वादपत्यानां व्यापन्नत्वात् दुःखं कृच्छ्रमापद्यते । सा या तस्य कृच्छ्रापत्तिः सैवास्यामृचि निर्ऋति शब्देनोच्यते इति परिव्राजकाः । स एव प्रदर्श्यते यः करोति गर्भं न सोऽस्य गर्भस्य तत्त्वं वेद केवलं त्वसौ कामार्तः पुत्रार्थी करोत्येव गर्भं य ईं ददर्श पश्यति चैनं हिरुक् अन्तर्हितमेतस्मिन् जठरे शरीरे वा जन्तुं तस्मात्तस्यैष एव गर्भो याथात्म्यतः प्रत्यक्षो भवत्यध्यात्मशास्त्रदृष्टया नेतरस्य गर्भकर्तुः गर्भः पुनरेव गर्भो मातुर्योनौ गर्भाशयस्थाने अन्तरुदरे पुष्यति । स मातुरशितपीतलीढभक्षितेन चतुर्विधेनाहारेण ततः परिवीतो जरायुणा परिवेष्टितो यथा कालं जायते ।

७८—अथैवं बहुशः प्रजायमानः स गर्भकर्ता गर्भतत्त्वमजानानो निर्ऋति दुःखमाविवेश आविशति । एवं गर्भतत्त्वाज्ञानात् यो गर्भं करोति स दुःखमापद्यते । यस्त्वध्यात्मदृष्टया गर्भतत्त्वं वेद स गर्भकर्मणो निवर्तते स निर्ऋतिं नापद्यते इत्येष परिव्राजकार्थः ।

७९—अन्येषां रीत्या तु यः करोति गर्भं स गर्भभूतो जन्मान्तरेषु बहुषु प्रजायमानो जन्ममरणसन्तानानुबद्धां निर्ऋतिमाविशति यो रेतः सिञ्चति तद् भूयोभूयो जन्मान्तरेण बहुशः प्रजायमानो जन्ममरणसन्तानानुबद्धो भवति ।

८०—नैरुक्तानां दृष्टया वर्षकर्मैतदुच्यते । निर्ऋतिश्चात्र भूमिरुच्यते । यः करोति वर्षं स मेघः वर्षकर्ता विक्षेप्ता वा । न सोऽस्य वर्षस्य तत्त्वं वेद कुतोऽप्येतदुदकं मय्यागच्छति यन्मया विसृज्यते किं वोदकस्य तत्त्वं केवलं

७७—"य ईं चकार" इस मन्त्र का तात्पर्य, परिव्राजकों के मतानुसार यह है कि बहुत प्रजा वाला कष्ट को प्राप्त करता है । 'वर्ष कर्मेतिनैरुक्ताः'—वर्ष, कर्म है—यह निरुक्तानुयायिकों का स्पष्ट कहना है । अनेक सन्तानों वाला कोई दरिद्र पुरुष, बड़े कष्ट से सन्तान का पोषण करने के कारण उन अपत्यों के विपद्ग्रस्त होने पर दुःख तथा कष्ट का अनुभव करता है । इस प्रकार उस दरिद्र पुरुष के द्वारा अनुभूयमान जो शोक है, उसी को इस ऋचा में 'निर्ऋति' शब्द से बताया गया है—ऐसा परिव्राजकों का मत है । उक्त मन्त्र का अर्थ, परिव्राजकलोग इस प्रकार करते हैं—'जो गर्भाधान करने वाला है, वह इस गर्भ के तत्त्व को नहीं जानता है, वह तो केवल कामार्त या पुत्रार्थी होता हुआ गर्भ का आधान मात्र कर देता है । किन्तु जठर में संस्थित गर्भ को जो देखता और जानता है, उसी को गर्भ के यथार्थस्वरूप का अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से प्रत्यक्ष होता है । माता के उदरान्तर्गत गर्भाशय में वह गर्भ पुष्ट होता है । माता के द्वारा किये जानेवाले भोजन, लेहन, पान, भक्षण आदि चतुर्विध आहारों से तथा उसी गर्भाशय में समुत्पन्न जरायु से आच्छादित होता हुआ कालक्रम से यथासमय उत्पन्न होता है ।

७८—इस प्रकार बहुशः (अनेक बार) उत्पन्न करनेवाला वह गर्भकर्ता 'गर्भ' के स्वरूप को न समझपाने से शोक दुःख (निर्ऋति) को पाता रहता है । अभिप्रायः यह है कि 'गर्भतत्त्व' के अज्ञान से जो 'गर्भ कर्म' में प्रवृत्त होता है, वह दुःखभागी बनता है, परन्तु जो अध्यात्मदृष्टि से 'गर्भतत्त्व' को जान लेता है, वह 'गर्भ कर्म' से निवृत्त होकर दुःख-शोकादि-निर्ऋति को प्राप्त नहीं करता है—यह अर्थ, परिव्राजकों के मत से किया जाता है ।

७९—अन्य व्याख्याकार उक्त मन्त्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—"जो गर्भ का आधान करनेवाला है, वह स्वयं ही गर्भरूप होकर अन्यान्य जन्मों में अनेक माता-पिताओं से उत्पन्न होता हुआ जन्म-मरण के प्रवाह में पड़कर उससे अनुबद्ध शोक (निर्ऋति) में प्रविष्ट होता है । जो शुक्र का सेचन करता है, वह अपने इस कर्म से पुनः पुनः अनेक जन्मों को प्राप्त करता हुआ—जन्म-मरण के क्रम से बँध जाता है ।

८०—नैरुक्तों की दृष्टि से उक्त मन्त्र 'वर्ष कर्मैतदुच्यते' के अनुसार 'वर्षा कर्म' का बोधक है । इस अर्थ में 'निर्ऋति' का अर्थ—'भूमि' है । वर्षा को उत्पन्न करनेवाला 'मेघ' वर्षण का कर्ता या विक्षेप्ता है । वह इस वर्षण के

त्वसौ विसृजत एवोदकम् । य ईं ददर्श एतद्वर्षं हिरुगिन्नु तस्मादन्तर्हितमन्तरिक्षलोके तस्यैव प्रत्यक्षं नेतरस्य मेघस्य मध्यस्थानस्य स एवास्य वर्षस्य तत्त्वं वेद यो ददर्श पश्यति आदित्यरश्म्यन्तर्गतमव्यक्तं वर्षं कोऽसौ इन्द्रः असावपि मध्यमः, तत इदमुक्तम् न सोऽस्य वेद मध्यमः (मेघः) स एवास्य वेद मध्यमः (इन्द्रः) स एव महानुदक संस्त्यायः इन्द्रप्रत्यक्षो मातुरन्तरिक्ष लोकस्योदकाभिव्यक्तिस्थाने परिवीतः परिवेष्टितः सौर्येण रश्मिजालेन वायुना च मेघोदरान्तर्गतः प्रावृट्काले वर्षरूपेणाभिव्यक्तो बहुप्रजाः बहुशो जायमानः निर्ऋतिं भूमिमाविवेश । तदेवं मन्त्रेषु शब्दगतिविभुत्वात् निर्ऋतिशब्दे कृच्छ्रापत्तिः, भूमिश्चोभयमप्युपपद्यते । ५

८१—तद्यथा दधिक्राव्णो अकारिषम्' (ऋ० सं० १२।४।३८।६) इत्येष मन्त्रोऽग्न्युपस्थानेऽग्निहोत्रे मैत्रायणीसंहितायाम् (१।५।६) इत्यत्र, अयमेव चाग्निष्टोमे 'दधिक्राव्णोऽकारिषमित्यग्नीध्रे भक्षयन्ति' (आश्वला० श्रौ० सू०—१२।१२) इत्यत्र दधिभक्षणे, तथा चाश्वमेधे दधिक्राव्णोऽकारिषमित्युत्थितायां सर्वा जयन्ति इत्यश्वसन्निधावेतं पत्न्यो जयन्ति महिष्यामुत्थितायाम् । तत्रैवं सति प्रतिविनियोगमस्य मन्त्रस्यान्येनान्येनार्थेन भवितव्यम् । १०

८२—त एते वक्तुरभिप्रायवशादर्थान्यथात्वमपि भजन्ते मन्त्राः । नह्येतेष्वर्थेषु इयत्तावधारणमस्ति, महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च । यथाश्वारोहवैशेष्यात् अश्वः साधु साधुतरश्च वहति—एवमेवेमे वक्तृवैशेष्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति । तत्रैवं सति लक्षणोद्देशमात्रमेवैतस्मिन् शास्त्रे निर्वचनमेकैकस्य क्रियते । क्वचिच्चाध्यात्माधिदेवाधियज्ञोपदर्शनार्थम् । तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् अधिदेवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः । नात्रापराधोऽस्ति ।

तत्त्व को नहीं जानता कि जिस जल का में वर्षण कर रहा हूँ, वह मेरे भीतर कहाँ से आता है ? अथवा 'जल' का स्वरूप क्या है ? उसे 'मेघ' नहीं जानता, वह तो केवल जल की वर्षा करना जानता है । जो इन्द्र इस वर्षण का प्रत्यक्षकर्ता (देखने वाला) है, वह इन्द्र ही इसे जानता है । जो अन्तरिक्ष के ही विशाल प्रदेश विशेषरूप योनि में अव्यक्तरूप से स्थित है, वही इस तत्त्व को जानता है । उसके अतिरिक्त मध्यस्थान में स्थित रहनेवाले मेघ आदि इस तत्त्व नहीं जानते । वही इस वर्षा के तत्त्व को जानता है, जिसने उसे देखा है कि सूर्य की रश्मियों में निहित अव्यक्तरूप से स्थित 'वर्षा' है । यह जानने वाला 'इन्द्र' कौन है ? उत्तर दिया कि 'असावपि मध्यमः' वह भी मध्यम है, अर्थात् वही मध्यम इन्द्र इसकी यथार्थता को जानता है । इसीलिये यह कहा गया है कि ' सोऽस्य वेद मध्यमः, स एवास्य' वेद मध्यमः' अर्थात् वह मध्यम यानी मध्य-स्थानीय 'मेघ' इस वर्षण के तत्त्व को नहीं जानता किन्तु वही मध्यम 'इन्द्र' इसके याथार्थ्य को जानता है जल के उसी महान् राशि को इन्द्र ने देखा है । वही जल, अन्तरिक्ष लोक के अभिव्यक्ति स्थान में एकत्र होकर सूर्य की रश्मियों तथा वायु के द्वारा 'मेघ' के उदर में प्रविष्ट होकर वर्षाकाल में वर्षा के रूप में अभिव्यक्त होता हुआ अनेक प्रकार से उत्पन्न होकर भूमिपर आता है । इस प्रकार मन्त्रों में शब्दगति की विभुता के कारण 'निर्ऋति' शब्द के 'कृच्छ्र' (शोक) की आपत्ति और 'भूमि' दोनों अर्थ उपपन्न होते हैं । १५ २० २५

८१—"दधि क्राव्णो अकारिषम्" इत्यादि मन्त्र का विनियोग मैत्रायणीसंहिता में अग्निहोत्र के अग्नि के उपस्थान के लिये कहा गया है । और अग्निष्टोम में इसी मन्त्र का विनियोग दधिभक्षण के लिये बताया गया है । तथा अश्वमेध याग में महिषी के उठ जानेपर सभी अन्य पत्नियों को भी विजय की प्राप्ति होती है । इस प्रकार प्रत्येक विनियोग में इस एक ही मन्त्र का भिन्न-भिन्न ही अर्थ होगा ।

८२—अतः कहना होगा कि वक्ता के अभिप्रायानुसार ही अन्यान्य अर्थों का प्रकाशन भी 'मन्त्र' किया करते हैं । इन अर्थों की सीमा का निर्धारण नहीं किया जा सकता । इन महार्थ मन्त्रों के अन्यान्य अर्थ भी होते हैं । इनका परिज्ञान भी कठिन है । जैसे 'अश्वारोही' की विशेषता से अश्व अच्छी तरह से वहन करता है, उसी प्रकार ये मन्त्र भी वक्ता की विशिष्टता से शोभन-शोभनतर अर्थों को प्रकट करते हैं । ऐसी स्थिति में लक्षणा का उद्देश्य इतना ही है कि इस मन्त्र में एक-एक का निर्वचन किया जा रहा है । कहीं इस निर्वचन का उद्देश्य, अध्यात्म, अधिदैव, अधियज्ञ का निर्देश करना है । अतः इनमें जितने अर्थों का प्रकाशन आध्यात्मिक आध्यात्मिक आधिदैविक और अधियज्ञ प्रक्रिया का

एकेन विदुषा जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट् इति श्रीमद्भागवतीयाद्यपद्यस्याष्टोत्तरशतसंख्याकानि व्याख्यानानि कृतानि।

८३—यदा स्थितिरेतादृशी पौरुषेयेषु वाक्येषु तदा परमेश्वरीयनित्यविज्ञानमयानि वैदिकमन्त्रब्राह्मण-वाक्यानि बह्वर्थानि भवेयुरित्यत्र नास्ति मनागपि विप्रतिपत्तिः। तथापि प्रामाणिकानि तानि व्याख्यानानि तात्पर्यानु-
५ गुणानि उपपत्तिमन्ति भवेयुस्तदैव ग्राह्याणि नान्यथा। तत्रार्थविनियोगवशादर्थभेदो युक्तः। विनिनोगवशादुपक्रमादि-लिङ्गवशाच्च यत्र मुख्यं तात्पर्यं निश्चीयते तदविरोधेनैवेतराणि व्याख्यानानि ग्राह्याणि। इतरथा ग्रहणे परस्परविरुद्धा-र्थवादित्वेनाप्रामाण्यमेव स्याद्वेदानाम्।

८४—दयानन्दीयव्याख्यानानि पुरुषवचनलिङ्गव्यत्ययबहुलानि नैवं रीत्या शक्यसमर्थनानि।

एवमेव छान्दसव्यत्ययेन स्वरसिद्धिरपि यथाश्रुतार्थानुपपत्तावेवाङ्गीकार्या।

१० ८५—अत एव 'अघ्न्या' इति निघात (सर्वानुदात्त) स्वरः सम्बोधने आमन्त्रितस्य च' (पा० सू० ८।१।१९) इति सूत्रेणैव सिद्धयति। एवं यथाश्रुतार्थोपपत्तौ सत्यां द्वितीयाबहुवचनान्तमभ्युपगम्य 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।-१।८५) इत्यादिभिः सर्वानुदात्तत्वोपपादनमयुक्तमेव।

८६—यत्तु—"नि० ५।२३ इत्यत्र कथमुदात्तप्रकृति नाम स्यात्। दृष्टव्यत्ययं तु भवति समस्य समस्मिन् इति विभक्त्यन्तत्वश्रवणात् समपदस्य नामत्वमङ्गीकृत्यैव फिट्सूत्रकारोऽपि 'त्वत्त्वसमसिमेत्यनुच्चानि' (फिट् सू० ७८)

आश्रय लेकर होता है, वे सभी उपयुक्त और ग्राह्य हैं। उन्हें उपयुक्त समझकर ग्रहण करना कोई अपराध नहीं है। एक विद्वान् ने श्रीमद्भागवत के "जन्माद्यस्य यतः" इस प्रथम श्लोक के एक सौ आठ व्याख्यान किये हैं।

८३—जब पौरुषेय वाक्यों की यह स्थिति है, तब परमेश्वर के नित्य विज्ञानमय वैदिक मन्त्र-ब्राह्मणों के वाक्य अनेक अर्थवाले हों, इस विषय में कौन-सी बिप्रतिपत्ति है? तथापि वे ही व्याख्याएँ ग्राह्य होती हैं, जो प्रमाण-सिद्ध तथा तात्पर्य के अनुरूप और तर्क से पुष्ट रहती हैं। अन्यथा ग्राह्य नहीं होतीं। उनमें आर्षविनियोग के कारण अर्थ में भेद रहना उचित है। विनियोग के कारण तथा उपक्रमादि लिङ्गों के कारण जहाँ मन्त्र के मुख्य तात्पर्य का निश्चय किया जाता है। उससे विरोध न रखते हुए व्याख्यान ही ग्राह्य होते हैं विनियोग तथा उपक्रमादि षड्लिङ्गादि से निर्णीत किये गये मुख्य तात्पर्य के विरुद्ध व्याख्याओं का ग्रहण करनेपर अन्योन्य विरुद्ध अर्थों को प्रकट करने के कारण वेदों में अप्रामाण्य ही पैदा हो जायगा।

८४—स्वामी दयानन्दजी के द्वारा की गई मन्त्रव्याख्या में पुरुष, वचन, लिङ्गों का अत्यधिक परिवर्तन किया गया है। इसलिये शास्त्रीय प्रामाणिक रीति के अनुसार उनकी व्याख्या को मानना या उसका समर्थन करना कभी भी संभव नहीं है।

इसी प्रकार छान्दसव्यत्यय करने से निष्पन्न स्वर भी यथाश्रुत अर्थ की अनुपपत्ति में ही सहायक होता है।

८५—अत एव "अघ्न्या" पद में "आमन्त्रितस्य च" सूत्र से ही सम्बोधन में सर्वानुदात्त स्वर (निघातस्वर) होता है। इस रीति से यथाश्रुत अर्थ की उपपत्ति रहते, उक्त पद को द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में मानकर "व्यत्ययो बहुलम्" सूत्र से उसको सर्वानुदात्त बताना सर्वथा अनुचित है।

८६—यह जो कहना है कि "नाम शब्द उदात्त प्रकृति वाले कैसे हो सकते हैं? व्यत्यय तो वहाँ होता ही है 'समस्य' भी 'समस्मिन्' का अर्थ देता ही है। उसके इस विभक्त्यन्तत्व के स्मरण से 'सम' पद को 'नाम' रूप से स्वीकार करके ही फिट् सूत्रकार ने भी 'त्वत् त्व समसिमेत्यनुच्चानि' इस सूत्र से उसके अनुदात्तस्वर का विधान किया

इति सूत्रेणानुदात्तत्वं विहितवान् ।" (पृ० १३) इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, गत्यन्तराभावे स्वरादिव्यत्ययस्य सिद्धान्तेऽप्यङ्गीकारात् । अन्यथा सर्वत्र बाहुलकादेवेष्टस्वरादिसिद्धौ तत्तत्स्वरादिविधायकसूत्राणां वैयर्थ्यमेव स्यात् ।

८७—यत्तु "मरुतः" (ऋ०सं०१।१६५।७) इत्यत्र मरुत् इति पदे निघात स्वरो विद्यते, न च तत्रामन्त्रितत्वम्, आमन्त्रितत्वाभावाच्छान्दसमनुदात्तत्वमिति भट्टभास्करेणोक्त" (पृ० १३) मिति, तदपि न किञ्चित् तत्र सम्बोधनेऽर्थासङ्गत्या प्रथमाबहुवचनान्ताभ्युपगमे व्यत्ययेनानुदात्तत्वोपपादनं तुच्छमेव । प्रकृते तु अघ्न्या इत्यस्य सम्बोधनाभ्युपगमे नास्त्येव काचिदनुपपत्तिः ।

८८—[यदप्युक्तम्—"प्रजावती–अनमीवा–अयक्ष्मा इति पदैरघ्न्या इत्यस्य सामानाधिकरण्येऽध्याहारापत्तिः, त्रिष्वप्यनिष्टस्वरत्वं च स्यात्, त्रयाणामप्येषामामन्त्रितत्वम् सर्वानुदात्तत्वं च मन्तव्यम् । यदि नैतेषामामन्त्रितत्वम् तथात्वे अघ्न्या इत्यनेन कथमेकवाक्यता ? कथञ्च सामानाधिकरण्यम् ? इत्युभयतः पाशारज्जु'रिति, छान्दसव्यत्ययपक्षाङ्गीकारे तु न क्वापि दोष" (पृ० १४) इति ।

८९—तदप्यज्ञानविजृम्भितम्, स्वमतानुसारेण अघ्न्या इत्यस्य सम्बोधनत्वेऽपि प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा इत्यादीनां द्वितीयान्तत्वाभ्युपगमे बाधाभावात्, सामानाधिकरण्यानुपपत्तिस्त्वनभ्युपगमादेव पराहता । वो युष्मान् स्तेनो

है"—यह कथन भी अकिञ्चित्कर ही है । जब कोई गति ही न हो तब स्वर आदि के व्यत्यय को सिद्धान्त पक्ष में भी स्वीकार किया ही जाता है । अन्यथा बाहुलक नियम से अभीष्ट स्वर आदि की सिद्धि होनेपर तो विशेष पदों के विशेष-स्वरों का विधान करनेवाले सब सूत्र ही व्यर्थ हो जावेंगे ।

८७—यह जो कहा गया है कि "मरुतः" इस मन्त्र में 'मरुत्' पद में निघात स्वर है, किन्तु निघात स्वर के विधान में आवश्यक 'आमन्त्रितत्व' अर्थ वहाँ नहीं है । आमन्त्रितत्व के अभाव में भट्टभास्कर ने वहाँ छान्दस अनुदात्तत्व ही माना है ।"—(पृ० १३) ।

किन्तु उक्त कथन में भी कुछ सार नहीं है । क्योंकि वहां प्रथमाबहुवचनान्त की सम्बोधन में अर्थ की सङ्गति न हो सकने के कारण व्यत्यय करके अनुदात्त स्वर का उपपादन करना तो उचित ही है । किन्तु प्रकृतप्रसङ्ग में तो 'अघ्न्याः' पद को सम्बोधन मानने में कोई भी किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है ।

८८—यह भी जो कहा है कि मन्त्र में पठित 'प्रजावतीः' अनमीवाः' अयक्ष्माः' इन पदों के साथ 'अघ्न्याः' पद का सामानाधिकण्य मानने पर अध्याहार करना पड़ेगा, और तीनों में अनिष्ट स्वर भी मानना होगा । इसलिये इन तीनों में भी आमन्त्रितत्व और सर्वानुदात्तत्व ही स्वीकार करना चाहिये । यदि इनमें आमन्त्रितत्व नहीं मानेंगे तो 'अघ्न्याः' पद के साथ इनकी एकवाक्यता और सामानाधिकरण्य कैसे हो सकेगा ? (पृ० १४), इस प्रकार उभयतः पाशारज्जुः की स्थिति प्राप्त हो रही है । किन्तु छान्दस व्यत्यय पक्ष को मानने पर कहीं भी दोष की प्राप्ति नहीं होती है ।"

८९—स्वामी दयानन्दजी का उपर्युक्त कथन भी उनके अज्ञान का ही विलासमात्र है । क्योंकि स्वर के अनुसार 'अघ्न्या' पद को सम्बोधन मानने पर भी 'प्रजावतीः', अनमीवाः,अयक्ष्माः' इन पदों को द्वितीयाविभक्त्यन्त स्वीकार करने में कोई बाधक भी नहीं है । सामानाधिकरण्य में जो अनुपपत्ति प्रदर्शित की थी, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ सामानाधिकरण्य कौन मान रहा है ? 'वो युष्मान् स्तेनो बाधितुं मा ईशत'—तुम्हें बाधा पहुंचाने में चोर समर्थ न हो—। 'कीदृशीः युष्मान्' – तुम कैसी हो ?—'यह जिज्ञासा होने पर, कहा जाता है कि 'प्रजावतीः'—तुम अपनी प्रजाओं (सन्तानों) से युक्त हो—इस प्रकार से सापेक्ष पदों का परस्पर अन्वय सुसङ्गत होता है । 'अल्पज्ञ लोगों के द्वारा किये जानेवाले प्रहार के भय से 'वेद' डरता रहता है'—यह उक्ति तो 'आर्य समाजियों' पर ही घटित हो रही

बाधितुं मा ईशत । कीदृशीर्युष्मानित्यपेक्षायां प्रजावतीरित्यादीनामन्वयाभ्युपगमात् । 'विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यती'ति वचनं तु सामाजिकेष्वेव घटते । तैर्वेदोपबृंहकेतिहासपुराणादिप्रामाण्यानभ्युपगमात् । इदं वचनमपि पौराणिकमेव । सामाजिकैः स्वपक्षपोषणाय पौराणिकवचनोपस्थापनमपि तेषां कृते लज्जावहमेव ।

९०—'अथ कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात् दृष्टव्यत्ययन्तु' इत्यादिकं तु भूमिकायामेव व्याख्यातं विस्तरेण । यत्तु—अयनम् अयः, गमनं, क्षमा पृथिवी, अयः क्षमायां यासां ता इत्युव्वटव्याख्याने दोषमुद्भावयतोक्तम् "बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (पा० सू० ६।२।१) इतीणोऽच्यन्तोदात्तत्वेन पूर्वपदप्रकृतिस्वरे मध्योदात्तत्वप्रसङ्ग" इति, तत्त्वविचारितरमणीयमेव, स्वयं बाहुलकात् स्वरसिद्धिं व्युत्पादयता त्वया वक्तुमशक्यत्वात् उव्वटेनापि बाहुलकाश्रयणस्य संम्भवात् ।

९१—यदपि च 'माङि लुङ्' (पा० सू० ३ ३।१७५) मा युष्माकं चोर ईशनं कार्षीदिति यदुव्वटोक्तेरविचारितरमणीयत्वमुक्तं तत्तुच्छम्, छान्दसव्यत्यये च्लेरङादेशे ईशतं इत्युक्तेर्बाधाभावात् । यदुक्तम्—'लुङि प्राप्ते लङ् छान्दस इतिभवितव्यमिति, तन्न, माङ् योगे प्राप्तविधेर्बाधायोगात् ।

९२—"यन्महीधर आह—'अघं शंसति इच्छति (शसि इच्छायाम्) अच् 'तत्पुरुषे तुल्यार्थे' (पा० सू० ६।२-२) त्यादिना पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व' मिति, तदयुक्तम्, कुतः अघं शंसतीति व्युत्पत्त्योपपदसमासो निर्विवादः । तेन 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (पा० सू० ६।२।१३९) इत्यनिवार्यतया प्राप्नोति । न च तत्पुरुषे तुल्यार्थ तृतीयासप्तम्युपमाना-

---

है । क्योंकि उन्होंने ही वेद के उपबृंहक (सुदृढ़ बनानेवाले) इतिहास-पुराणादि ग्रन्थों को प्रमाण नहीं माना है । 'विभेत्यल्पश्रुतात्' यह वचन भी पुराण का ही है । पुराणों की प्रामाणिकता को न माननेवाले आर्य समाजी विद्वान् अपने पक्ष के समर्थन में उन्हीं पौराणिक वचनों का उद्धरण देते हैं, कितनी लज्जा की बात है ?

९०—'अथ कथमनुदात्त प्रकृति नाम स्यात् दृष्टव्यत्ययन्तु' इत्यादि सन्दर्भ का तो भूमिका में ही सविस्तार व्याख्यान किया जा चुका है । 'अयनम्, अयः', गमनं, क्षमा पृथिवी, अयः क्षमायां यासां ताः'—इस उव्वट के व्याख्यान में दोष दिखलाने का प्रयत्न करते हुए जो स्वर-दोष-प्रदर्शित किया है, वह तो अविचारितरमणीय ही है । क्योंकि आप स्वयं बाहुलक से ही स्वरसिद्धि को जब बता रहे हैं, तब उसी को दूसरे की व्याख्या में दोष के रूप में क्यों कह रहे हैं ? उव्वटाचार्य भी बाहुलक का आश्रय कर सकते हैं ।

९१—और जो 'माङि लुङ्', मा युष्माकं चौर ईशनं कार्षीत्—इस उव्वटोक्ति को आपने अविचारित रमणीय कह दिया है, वह कहना भी तुच्छ है, निःसार है । क्योंकि छान्दस व्यत्यय से 'च्लि' को 'अङ्' आदेश करनेपर 'ईशत' पद के होने में कौन-सी बाधा है ?

यह जो कहा था 'लुङि प्राप्ते लङ् छान्दसः'—लुङ् की प्राति होनेपर 'लङ्' लकार छान्दस होगा, वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि 'माङ्' का योग रहनेपर जो विधि प्राप्त है, उसका बाध नहीं होता है ।

९२—स्वामी दयानन्दजी ने भाष्यकार महीधर पर आक्षेप किया है कि 'महीधर ने जो कहा है—अघं शंसति इच्छतीत्यघशंसः 'शसि इच्छायाम्' अच् । 'तत्पुरुषे तुल्यार्थे', इत्यादि सूत्र से पूर्वपद प्रकृति स्वर होता है' । इस महीधर के कथन को स्वामी दयानन्द अयुक्त बता रहे हैं । अयुक्त बताने में कारण यह देते हैं कि 'अघशंस' में पूर्वपद-प्रकृतिस्वर करनेवाले 'तत्पुरुषे तुल्यार्थे', सूत्र की प्राप्ति ही संभव नहीं है । यथा कथञ्चित् प्राप्ति हो भी तो वह गतिकारकोप पद' सूत्र की प्राप्ति का बाध कैसे कर सकेगी ? क्योंकि 'अघं शंसति' इस व्युत्पत्ति से उपपद समास की प्राप्ति में कोई बाध ही नहीं है, तब 'गतिकारकोपपदात् कृत्' सूत्र की प्राप्ति का होना अनिवार्य है ।"—स्वामी दयानन्द का भाष्यकार महीधर पर इस प्रकार आक्षेप करना अत्यन्त असङ्गत है, उस आक्षेप में कुछ सार ही नहीं है ।

व्ययद्वितीयाकृत्याः' (पा० सू० ६।२।२) इति सूत्रस्य कथमपि न प्राप्तिसम्भवः कथञ्चित्प्राप्तावपि 'गतिकारकोपपदे' (पा० सू० ६।२।१३९) ति प्राप्तिः कथं बाधिष्यते'' इति यदुक्तम्' तत्तुच्छम्, अघेन तीव्रपापेन भक्षणादिना शंसोघातक इति व्युत्पत्तावेव तत्पुरुषे तुल्यार्थ इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वोक्तेः। अघं शंसतीति तु तदर्थप्रदर्शनपरम्, यथा त्वयापि 'अघस्य पापस्य स्तोता' इति (वा० सं० ३३।६९) इत्यत्र 'तत्त्वर्थप्रदर्शनपरमित्युक्तम्। प्रामादिक एव वा पाठः, पूर्वोक्त-व्युत्पत्तिविरोधात्। शासि स्तुतौ' इति धातुरपि नोपलभ्यते।

९३—यत्तु—'अघं शंसतीति व्युत्पत्तौ 'समासस्य' (पा० सू० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते तद्बाधकेन 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (पा० सू० ६।२।१३९) इत्यनेनोत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वं प्राप्यते, तस्मात् 'कुरु गार्हपतरिक्तगुर्व-सूतजरत्यश्लीलदृढरूपापारेबडवातैतिलकद्रूःपण्यकम्बलोदासीभाराणाञ्च' (पा० सू० ६।२।४२) इत्यनेन पूर्वपदप्रकृतिस्वर-त्वेऽन्तोदात्तत्वसिद्धिः। 'दासीभारादीनामिति वक्तव्यम्' इहापि यथा स्यात् देवहूतिः, देवनीतिः, ओषधिः, चन्द्रमाः। तर्त्तहि वक्तव्यम् न वक्तव्यम् योगविभागः करिष्यते कुरु .... पुण्यकम्बलो इति, ततो दासीभाराणाञ्चेति। तत्र बहुवचननिर्देशात् दासीभारादीनामिति विज्ञास्यते' इति (पा० सू० ६।२।४२) इति महाभाष्यवचनादिति तन्न, अघशंस-शब्दस्य दासीभारादिषु पाठे मानाभावात्। न चोपपदसमाससिद्धस्य ओषधिपदस्य निर्देशादेव सर्वेऽपि तथाविधाः शब्दा दासीभारादिषु मन्तव्या इति सङ्गतम्, तत्र बीजाभावात्।

९४—''कैयटजयादित्यादयस्तु'' यस्य तत्पुरुषस्य पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वमिष्यते न च विहितम्, स सर्वोऽपि दासी-भारादिष्वन्तर्भावमभिप्रयन्ति। प्रकृते तु अघेन शंस इति व्युत्पत्त्या 'तत्पुरुषे तुल्यार्थे' (पा० सू० ६।२।२) त्यादिना पूर्व-पदप्रकृतिस्वरत्वेन अन्तोदात्तत्वं सिद्धमेवेति। अतएव भट्टभास्करेणापि अघे पापे भक्षणलक्षणे शंसा अभिलाषो यस्येति योगेन अघशंसः पापतत्परः इत्यत्र बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वमुक्तम्। अघेन तीव्रपापेन भक्षणादिना शंसो घातुको व्याघ्रादिरपि हिंसको माभूदिति काण्वभाष्ये सायणेनापि तथैवाभिप्रेतम्।

भाष्यकार महीधर ने तो 'अघेन तीव्रपापेन भक्षणादिना शंसो घातकः'—ऐसी व्युत्पत्ति करके ही 'तत्पुरुषे तुल्यार्थे', सूत्र से 'पूर्वपदप्रकृतिस्वर' का होना बताया है। 'अघं शंसति' यह तो उसका अर्थप्रदर्शनमात्र है। जैसे आपने भी 'अघस्य पापस्य स्तोता'—(वा० सं० ३३।६९) को 'तत् तु अर्थप्रदर्शनहरम्'—अर्थप्रदर्शनपर ही तो बताया है। अथवा पूर्वोक्त व्युत्पत्ति के विरोध से उसे 'प्रामादिकपाठ' तक कह दिया है। और 'स्तोता' अर्थ करने के लिये स्तुत्यर्थक 'शासि' धातु भी कहीं नहीं है। फिर भी 'स्तोता' अर्थ कर रहे हैं, कैसा आश्चर्य है !

९३—महाभाष्यकार के वचन को प्रस्तुत करके जो अपनी बात बताई है कि 'अघं शंसति' इस व्युत्पत्ति में 'समासस्य' इस सूत्र से 'अन्तोदात्तत्व' प्राप्त होनेपर, उसका बाध करके गतिकारकोपपदात्कृत् सूत्र से 'उत्तरपद-प्रकृतिस्वर' की प्राप्ति होती है। इसलिये 'कुरुगार्हपतरिक्तगुर्बसूत', सूत्र से पूर्वपदप्रकृतिस्वर के होने पर 'अन्तोदात्त' हो जाता है। अपनी बात के समर्थनार्थ 'दासीभारात्', इत्यादि महाभाष्य के वचन का उद्धरण भी निष्फल है। क्योंकि 'दासीभारादि' के अन्तर्गत 'अघशंस' शब्द, पठित नहीं है। उपपदसमास के कारण 'ओषधि' पद के निर्देश से ही उस प्रकार के सभी शब्दों को 'दासीभारादि' में मान लेना चाहिये'—किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार कह देना निर्मूल रहने से अप्रमाण है।'

९४—कैयट, जयादित्य के अनुसार तो जिस तत्पुरुष का पूर्वपदप्रकृतिस्वर इष्ट होता है, और उसे नहीं बताया है, ऐसी जगह उन सभी पदों को दासीभारादिगण में स्वीकार कर लिया जाता है। जहाँ प्रकारान्तर से पूर्व पदप्रकृतिस्वर की उपपत्ति नहीं होती है, उसी का दासी भारादिगण में अन्तर्भाव माना जाता है—यह कैयट, जयादित्य का अभिप्राय है। प्रकृत में तो 'अघेन शंसः' इस व्युत्पत्ति से 'तत्पुरुषे तुल्यार्थे' सूत्र से पूर्वपदप्रकृतिस्वर के होने से 'अन्तोदात्तत्व' तो सिद्ध ही है। इसीलिये भट्टभास्कर ने भी 'अघे शंसा यस्य' इस व्युत्पत्ति से अघशंसः' का अर्थ, पाप-तत्पर किया है, और इस बहुव्रीहि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर को माना है। सायण ने भी काण्वभाष्य में 'अघ' अर्थात् भक्ष-णादि तीव्रपाप से 'शंस' अर्थात् घातक व्याघ्र आदि भी हिंसक न हों—यही कहा है।

९५—यदुक्तम्—'सायणाचार्यास्तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये ४६ पृष्ठे इन्द्रशब्दं वृषादित्वात् (पा० सू० ६।१।२०३) इत्यनेनाद्युदात्तमाहुः । स तु तेषां स्ववचोविरोध एव । यतो हि ते स्वीये ऋक्संहिताभाष्ये प्रथममण्डले द्वितीयसूक्ते षष्ठे मन्त्रे इन्द्रशब्दस्य व्युत्पत्तिपक्षे रन् प्रत्ययान्तेन 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० सू० ६।१।१९७) इत्याद्युदात्तत्वप्रतिपादनादिति, तदपि तुच्छम्, उभयथापि सिद्धौ बाधकं विनाविरोधात् । अव्युत्पन्नप्रातिपदिक इन्द्रशब्द इतिपक्षे वृषादित्वेन तत्सिद्धिर्युक्तैव । न च 'ग्रामादीनाञ्च' (फिट् सू० ३८) इति सूत्रेणेष्टसिद्धौ वृषादिगणे तत्पाठोऽनर्थक इति वाच्यम्, वृषादित्वादेवेष्टसिद्धौ ग्रामादित्वाश्रयणमनर्थकमेवेति विपरीतस्यैव सुवचत्वात् । ग्रामस्य समूहवाचकत्वेन इन्द्रशब्दस्य तत्रान्र्तभावापेक्षया वृषादिष्वेव तत्पाठस्य युक्तत्वात् ।

९६—यत्तूक्तम्—'कस्य भाष्यकारस्याभिप्रायः प्रामाणिक इत्याकांक्षायां व्याकरणाद्याश्रयेण 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (वै० सू० ६।१।१) इति शास्त्रवचनानुसृत एव वाक्यार्थः प्रामाणिकोभवितुमर्हति नान्य' इति, तदपि न किञ्चित्, यतः सायणादीनां समेषामाचार्याणां शास्त्राननुसार्व्याख्यानमिति न ह्यमूढः कश्चिदपि वक्तुं शक्नोति । किञ्च बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे इत्यस्य कोऽर्थः ? किं यथा लोके बुद्धिपूर्वाणि वाक्यानि तथैव वेदेऽपि यानि वाक्यानि सन्ति तानि बुद्धिपूर्वकाण्येवेति मन्यते युष्माभिः ? यदि वाढं तर्हि लौकिकानि वाक्यानीव तान्यपि कुतो नानित्यानि ? 'न च तथेष्यन्ते सामाजिकैर्वेदानां नित्यत्वाभ्युपगमात् । न चेश्वर बुद्धिपूर्वकत्वात् तेषां नित्येत्वमिति वाच्यम् तथात्वे पृथिव्यादिप्रपञ्चस्यापि ईश्वरबुद्धिपूर्वकत्वेन नित्यत्वापत्तेः ।

९५—यह जो कहा है कि 'सायणाचार्य ने तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में 'इन्द्र' शब्द को 'वृषादित्वात्' सूत्र से आद्युदात्त बताया है । किन्तु यह तो उनके अपने वचन से ही विरुद्ध प्रतीत हो रहा है, क्योंकि उन्होंने ही अपने ऋक्-संहिताभाष्य में प्रथम मण्डल के द्वितीय सूक्त के षष्ठ मन्त्रगत 'इन्द्र' शब्द, व्युत्पत्ति पक्ष में 'रन्' प्रत्ययान्त होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' सूत्र में उसमें आद्युदात्तत्व का प्रतिपादन किया है ।'

किन्तु यह कथन भी तुच्छता से पूर्ण है। क्योंकि दोनों ही प्रकार से शब्द की सिद्धि होने में किसी बाधक के न रहने से कोई विरोध ही नहीं है। 'इन्द्र' शब्द को अव्युत्पन्न प्रातिपादिक मानने के पक्ष में तो उसके वृषादिगण पठित रहने से उसकी सिद्धि करना उचित ही है। इसपर यदि आप यह कहें कि 'ग्रामादीनाञ्च' इस फिट्सूत्र से ही इष्टसिद्धि हो जाने से वृषादिगण में उसका पाठ करना व्यर्थ है, तो यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि वृषादिगण में पठित होने से यदि इष्टसिद्धि होती है तो 'ग्रामादीनाञ्च' सूत्र का आश्रय करना व्यर्थ है—ऐसा विपरीत ही क्यों न कहा जाय? यह विपरीत कथन ही सुवच होगा। क्योंकि 'ग्राम' शब्द, समूह का वाचक होता है। उसमें 'इन्द्र' शब्द का अन्तर्भाव करने की अपेक्षा वृषादिगण में ही उसका पाठ करना अधिक युक्ति युक्त होगा।

९६—यह जो कहा है कि 'किस भाष्यकार का अभिप्राय प्रामाणिक है ?' ऐसी आकांक्षा होनेपर व्याकरण आदि का आश्रय करते हुए 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' इस वैशेषिकशास्त्र वचन का अनुसरण करने वाला वाक्यार्थ ही प्रामाणिक कहलाने योग्य होता है, अन्य नहीं'।

किन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति, जो मूर्ख नहीं हैं वह कभी नहीं कह सकता है कि 'सायणादि समस्त आचार्यों का व्याख्यान, शास्त्रानुसारी नहीं है। दूसरी बात यह है कि 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिवेदे' इस वाक्य का क्या अर्थ है ? क्या लोक व्यवहार में जैसे बुद्धिपूर्वक वाक्य रचना होती है, वैसे ही वेद में भी जो वाक्य हैं, वे भी बुद्धिपूर्वक ही होते हैं, यह आप मान रहे हैं ? यदि यही मानते हैं तो लौकिक वाक्यों की तरह उन वैदिक वाक्यों को भी अनित्य क्यों नहीं कहते हैं ? किन्तु वैदिक वाक्यों को समाजी विद्वान् अनित्य तो कह नहीं सकते, क्योंकि वेद को वे नित्य कहते हैं। यदि यह कहा जाय कि ईश्वर की बुद्धि का अनुसरण करने के कारण वे (वेद) नित्य हैं, तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि पृथिवी, जल, तेज आदि सम्पूर्ण प्रपञ्च ही ईश्वर की बुद्धि का अनुसरण करता है, तब उसे भी नित्य कहना होगा।

८७—[यच्च विज्ञानप्राप्तये पराक्रमाय च विज्ञानस्वरूपमनन्तपराक्रमानन्दरसघनं ज्ञानानां भाजनं परमेश्वरं त्वामाश्रयाम: एवमाप्यायामहे । सर्वविद्याद्योतको देव: सर्वजगदुत्पादक: सकलैश्वर्यवान् जगदीश्वर: प्राणेन्द्रियान्त:करणानि श्रेष्ठतमाय कर्मणे । ईश्वरानुग्रहेण सर्वेषां सुखैश्वर्यस्य वृद्धि: स्यादित्यर्थं प्रार्पयतु । हे परमात्मन् परमैश्वर्यप्राप्तये अनमीवा अयक्ष्मा इन्द्रियाणि प्रार्पयतु । अस्माकं मध्ये कश्चिच्चौर: पापी मोत्पद्यताम् । गवां पतिरिन्द्रियाणां पतिस्तस्य-धार्मिकमनुष्यस्य समीपे इन्द्रियाणि बह्वी: ध्रुवा: स्यु: । य: परमेश्वरं यजति तस्य विदुषो जीवस्य पशून् पाहि । किञ्च भावार्थे—येनेयं विशिष्टा सृष्टी रचिता तस्य धन्यवादा वाच्या: । एवं कुर्वतो भवत: परमदयालुरीश्वर: स्वकृपयैव सदा रक्षयिष्यतीति मन्तव्यम्' इत्याध्यात्मिकोऽर्थ उच्यते सामाजिकैस्तदसङ्गतमेव । यद्यपि परमेशप्रार्थना यथाकथञ्चिदपि युक्तैव तथाप्यस्य मन्त्रस्य नायमर्थ: सम्भवति मन्त्रपदाननुगुणत्वात् तद्रीत्यास्य मन्त्रस्य परमेश्वरो वक्ता स कथं 'त्वां परमेश्वरमाश्रयाम' इति वदेत् ।

८८—'आश्रयाम:' इति पदमपि मूले नास्त्येव । स्वेच्छयाऽध्याहारापेक्षया श्रुत्यनुसारेण 'इषे' छिनद्मीति श्रुतिसम्मत एवाध्याहार: कुतो नाश्रयणीय: । 'त्वा' इति पदस्य त्वामित्येवार्थ: विज्ञानस्वरूपमानन्दरसघनमित्यादिकन्तु तस्य परमात्मपरत्वे निश्चिते परमेश्वरविशेषणत्वेन कल्पनैव । आप्यायध्वमित्यस्य पुरुषव्यत्ययो निर्मूल एव । एवमेव देवशब्दोऽपि सवितृविशेषणत्वेन प्रयुक्त: । सविता च भगवान् सूर्य एव, तत्रैवास्य शब्दस्य प्रसिद्धे: व्यवहारस्तु शक्तिग्राहकेषु मूर्धन्य: । देवशब्दस्यापि परमेश्वरपरत्वनिश्चये सत्येव जगदीश्वरत्वादि विशेषणानि तत्र सङ्गच्छन्ते ।

८७—स्वामी दयानन्दजी के अनुयायी आर्यसमाजी विद्वान् प्रकृत मन्त्र का जो यह आध्यात्मिक अर्थ करते हैं कि विज्ञान की प्राप्ति के लिये, पराक्रम के लिये, विज्ञानस्वरूप, अनन्त पराक्रम, आनन्दरसघन, ज्ञानों के भाजन, हे परमेश्वर ! हम तुम्हारा आश्रय ग्रहण करते हैं, इसमे हमें तृप्ति मिलती है । समस्त विद्याओं के द्योतक देव, समस्त जगत के उत्पादक, सकल ऐश्वर्य मे सम्पन्न, जगदीश्वर ! श्रेष्ठतम कर्म करने के लिये प्राण, इन्द्रिय, अन्त:करण की प्रकृष्टरूप से प्राप्ति करा दे, और ईश्वर के अनुग्रह मे सभी के सुख, ऐश्वर्य की वृद्धि हो, इसलिये भी प्राण आदि की प्राप्ति करा दे । हे परमात्मन ! परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिये अनमीवा और अयक्ष्मा अर्थात् सभी प्रकार की व्याधियों से रहित इन्द्रियों को हमें दे । हमारे बीच में कोई भी चोर अथवा पापी उत्पन्न न हो । अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखनेवाले धार्मिक परुष की इन्द्रियाँ सर्वदा कार्य क्षम रहें । परमेश्वर का अर्चन करनेवाले विद्वान् के पशुधन की रक्षा करो । किञ्च भावार्थ बताते हुए कहा है कि जिसने इस विशिष्ट सृष्टि की रचना की है, उसे धन्यवाद देने चाहिये । ऐसा करने पर वह परम दयालु ईश्वर अपनी कृपा से ही सर्वदा आपकी रक्षा करेगा ।'—इस प्रकार जो आध्यात्मिक अर्थ, समाजी भाइयों ने बताया है, वह भी असङ्गत ही है । यद्यपि परमेश्वर की प्रार्थना, किसी प्रकार युक्त कही भी जाय, तथापि उसे प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मन्त्रगत शब्दों से वह स्तुति—प्रार्थनारूप अर्थ नहीं निकलता है । अन्यथा उस मन्त्र का वक्ता जो परमेश्वर है, वही स्वयं 'तुझ परमेश्वर का हम आश्रय करते हैं' कैसे कहेगा ?

८८—क्योंकि 'आश्रयाम:' यह शब्द भी मूलमन्त्र में नहीं है । अपनी स्वेच्छा से अध्याहार करने की अपेक्षा श्रुति के अनुसार 'इषेत्वा छिनत्ति' इस श्रुतिसम्मत अध्याहार का ही आश्रय क्यों नहीं करते ? मूलमन्त्र में आये हुए 'त्वा' पद का अर्थ 'त्वाम्' ही है । 'विज्ञानस्वरूप आनादरसघन इत्यादि की तो उसके परमात्मपरक होने के निश्चय की कल्पना करके उसे विशेषण के रूप में बताना केवल कल्पनामात्र ही है । "आप्यायध्वम्" पद में 'पुरुषव्यत्यय' करना भी निर्मूल ही है । इसी प्रकार 'देव' शब्द को भी 'सविता' के विशेषणरूप में प्रयुक्त किया है । 'सविता भगवान्' सूर्य ही हैं । 'सविता' शब्द 'सूर्य' के अर्थ में ही प्रसिद्ध है । शक्तिग्राहकों में प्रधानता तो 'व्यवहार' की ही होती है । 'देव' शब्द का भी अर्थ, जब 'परमेश्वर' परक निश्चित हो जाय, तभी जगदीश्वरत्वादि विशेषण उसमें सङ्गत हो सकेंगे ।

९९—सवितृशब्दस्य कथञ्चित् तत्परत्वेऽपि जगदुत्पादकत्वादिविशेषणं तत्र सङ्गच्छते। सकलैश्वर्यवानिति तु स्वाभ्यूहितमेव। प्राणेन्द्रियान्त: करणानि श्रेष्ठतमाय प्रार्पयत्विति क: प्रार्थयते ? कस्य प्राणादीनि श्रेष्ठतमाय कर्मणे क: प्रार्थयत्विति न स्पष्टम्। हे परमात्मन् न: प्राणादीनि श्रेष्ठतमाय कर्मणे भवान् प्रार्पयत्विति तु वक्तव्यमासीत्। श्रेष्ठतमकर्मत्वेन श्रुत्या तु यज्ञ उक्त:। स चार्थो न गृहीत:। इन्द्रपदस्यैश्वर्यवानर्थस्तु सम्भवति। तमपहायैश्वर्यपरत्वमस्याप्रामाणिकमेव ऐश्वर्यप्राप्तिस्तु कथमिन्द्रशब्दस्यार्थ इति विद्वांसो निभालयन्तु।

१००—'अघ्न्या' इति सम्बोधनबहुवचनान्तपदम् सर्वानुदात्तस्वरानुरोधात्। तेन यूयमाप्यायध्वमिति क्रियापदेन तस्य सम्बन्ध: स्वाभाविक:, तं परित्यज्य तत्र स्वेच्छाचार: शाब्दन्यायातिक्रम एव 'अघ्न्या' इति पद नेन्द्रियपरम्, इन्द्रियाणामतीन्द्रियत्वेन नित्यत्वात् हननाप्रसक्त्या अघ्न्येति तत्र प्रयोगायोगात्।

१०१—अन्धत्वादिकन्तु गोलकविधानादेवोपपद्यते। 'अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हती' (म०भा०शा०प० २६२।४६) त्यत्र महाभारते धेनूनामेवाघ्न्यात्वेनाऽहन्तव्यत्वोक्ते:। 'इन्द्रियं वै वीर्यं गाव:' (श० ५।४।३।१०) इति गोपदस्य कथञ्चिदिन्द्रियपरत्वेऽप्यघ्न्यापदस्य तत्राप्रवृत्ते: नहीन्द्रियाणि वर्धयितुमर्हाणि न वा हन्तुं शक्यन्ते नित्यत्वादेव। 'माता रुद्राणां दुहिता वसूना' मितिमन्त्रो नेन्द्रियपर: किन्तु धेनुपर एव। 'अघ्न्या' इति गोनामसु पठितम्। निरुक्ते (२।११) इत्यत्रापि पशुविशेषस्यैव गोनामेति विवक्षितम् नेन्द्रियनाम प्रकृतम्।

९९—'सवितृ' शब्द का अर्थ किसी प्रकार से परमेश्वरपरक होनेपर ही उसमें जगत् के उत्पादक आदि विशेषण सङ्गत हो सकेंगे। 'सकल ऐश्वर्यवान्' यह अर्थ करना तो केवल अपनी कपोल कल्पनामात्र ही है। श्रेष्ठतम कर्म के लिये प्राण, इन्द्रिय, अन्त:करण की प्राप्ति की प्रार्थना कौन कर रहा है ? 'श्रेष्ठतम कर्म के लिये किसके प्राण आदि को कौन अर्पित करे' यह स्पष्ट नहीं किया गया है। आपको इस प्रकार कहना चाहिये था कि 'हे परमात्मन् ! हमारे प्राण आदि को श्रेष्ठतम कर्म के लिये आप अर्पित करें।' श्रुति ने तो 'यज्ञ' को ही श्रेष्ठतम कर्म कहा है। किन्तु इस श्रुत्यर्थ को तो आपने स्वीकार नहीं किया है। 'इन्द्र' पद का अर्थ —ऐश्वर्यवान् तो कहा जा सकता है, किन्तु उस वास्तविक अर्थ को त्यागकर उसका 'ऐश्वर्य' अर्थ बताना तो अप्रामाणिक ही है। स्वामी दयानन्दजी ने 'इन्द्र' शब्द का अर्थ 'ऐश्वर्य की प्राप्ति' जो बताया है, उसे विद्वान् लोग देख लें।

१००—'अघ्न्या' पद, सर्वानुदात्त स्वर के कारण सम्बोधन के बहुवचन में है। अत: यूयमाप्यायध्वम्'—तुम तृप्त हो जाओ—इस प्रकार क्रियापद के साथ उसका सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। किन्तु आपने उस स्वाभाविक सम्बन्ध को त्यागकर स्वेच्छानुसार उसका सम्बन्ध जोड़ना 'शाब्दन्याय' का उल्लङ्घन करना ही है। 'अघ्न्या' पद का अर्थ 'इन्द्रिय' नहीं है। क्योंकि 'इन्द्रियाँ' स्वयं अतीन्द्रिय होने के कारण नित्य हैं, उनका 'हनन' कभी संभव नहीं है। अत: 'इन्द्रिय' के लिये 'अघ्न्या' शब्द को बताना कथञ्चिदपि सङ्गत नहीं हो सकता।

१०१—'अन्धत्व' आदि तो 'गोलक' के विधान से ही उपपन्न होता है। महाभारतकार तो बताते हैं कि 'अघ्न्या' यह गौओं की संज्ञा है। उन गौओं का हनन कौन कर सकता है ? महाभारत (शां० प० २६२।४६) में गौओं को ही 'अघ्न्या' कहते हुए उन्हें न मारने योग्य कहा गया है। 'इन्द्रियं वै वीर्यं गाव:'—(शत प० ५।४।३।१०) इस प्रकार शतपथ में प्रयुक्त हुए 'गो' पद का यथा कथञ्चित् 'इन्द्रिय' अर्थ, मान भी ले तो भी 'अघ्न्या' पद का प्रयोग 'इन्द्रिय' के लिये बताना तो कथमपि उचित नहीं है। क्योंकि 'इन्द्रियों' के नित्य होने से न तो वे वृद्धिङ्गत की जा सकती हैं और न उनका हनन ही संभव हो सकता है। 'माता रुद्राणाम्' आदि मन्त्र 'इन्द्रिय' परक नहीं है, अपितु 'धेनु' परक ही है। 'अघ्न्या' पद 'गौ' के नामों में पठित है। निरुक्त' में 'पशुविशेष' ही 'गौ' के नाम से विवक्षित है। यहाँपर 'इन्द्रिय' का अर्थ, प्रसङ्ग से भी प्राप्त नहीं हैं।

१०२—अयक्ष्मा अनमीवा इति विशेषणे अपि नेन्द्रियेषु सङ्गच्छतः। यक्ष्मादीनां देहरोग त्वेन प्रसिद्धेः। न ह्यतीन्द्रियेषु इन्द्रियेषु क्षयाख्यो यक्ष्मा सम्भवति। इन्द्रियपक्षे प्रजावतीरिति विशेषणमपि न सङ्गच्छते, पशुरूपाणामेव गवां तदुपपत्तेः। किञ्च प्रार्पयत्विति क्रियायाः श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्राणादिकर्मभिः सम्बन्धेन शान्ताकांक्षाया अनमीवा अयक्ष्मा इन्द्रियाणि प्रार्पयत्विति पुनः सम्बन्धो न सम्भवति बीजाभावात्। अस्मासु स्तेनो मोत्पद्यतामित्यपि न सङ्गतम् माङ् योगे लोटो ऽसाधुत्वात्। अस्मास्वितिबोधकपदाभावाच्च।

१०३—'ईशत' इत्यस्योत्पत्तिरपि नार्थः, निष्प्रमाणत्वात्। गोपतिपदस्य धार्मिकमनुष्यस्येति नार्थः, निष्प्रमाणत्वात्। तस्य समीपे इन्द्रियाणि बह्वीध्र्रुवाः स्युरित्यपि न सङ्गतम्, समीपे इत्यस्य निरर्थकत्वात्। बह्वीरित्यपि निरर्थकमिन्द्रियाणां परिगणितत्वात्। अत्रार्थे भागपदार्थस्तु नोक्तः। जगदीश्वरस्य धन्यवादा अवश्यं वाच्याः परमयं मन्त्रगतस्य कस्य पदस्यार्थ इति तु नोक्तम्। दयानन्देन तु भागं भजनीयं त्वामाश्रयाम इत्युक्तम्।

१०४—अथ अधियज्ञार्थपरीक्षणम्—यदुक्तम्—'अन्नस्य प्राप्तये उत्तमरसलाभाय जगदुत्पादकं सेवनीयमग्निमाश्रयामः। सर्वजगदुत्पादकः सकलैश्वर्यवान् देवः सविता भौतिकोऽग्निः, 'अग्निरेव सविता' (जै०उ० ४।२७।१) (गो० ब्रा० पू० भा० १।३३) ये सर्वक्रियाप्राप्तिहेतवः सन्ति तान् श्रेष्ठतमाय कर्मणे यज्ञाय प्रार्पयति। इन्द्राय परमैश्वर्यप्राप्तये यज्ञार्थं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा अघ्न्या गावः स्युः। एवं रोगाख्यो विघ्नः चौरः पापी स्तेनो हरणशीलो हर्तुं समर्थो

१०२—'अयक्ष्मा' और 'अनमीवा' ये विशेषण भी 'इन्द्रियों' के अर्थ में सङ्गत नहीं हो रहे हैं। क्योंकि 'यक्ष्मा' आदि शरीर' के रोग के रूप में प्रसिद्ध हैं। जो इन्द्रियां स्वयं अतीन्द्रिय हैं, उनमें 'क्षय' नामक 'यक्ष्मा' कैसे संभव हो सकता है। 'इन्द्रियों' के पक्ष में 'प्रजावतीः' यह विशेषण भी सङ्गत नहीं हो रहा है। उसकी युक्तियुक्तता तो 'पशुरूप गाय' के अर्थ में ही होती है। प्रार्पयतु' इस क्रिया की आकांक्षा तो श्रेष्ठतम कर्मों अर्थात् प्राणादि कर्मों से सम्बद्ध होकर शान्त हो गई है। अतः उसका 'अनमीवा' 'अयक्ष्मा' इन्द्रियों को अर्पित करे—इस अर्थ के साथ पुनः सम्बन्ध करना सम्भव नहीं है। क्योंकि पुनः सम्बन्ध करने में कोई कारण नहीं है। 'हमारे मध्य कोई चोर उत्पन्न न हों'—यह अर्थ करना भी सङ्गत नहीं हो रहा है। क्योंकि 'माङ्' के योग में 'लोट्' लकार का प्रयोग करना अशुद्ध है। 'अस्मासु' इस अर्थ को बतानेवाले पद का भी मन्त्र में अभाव है।

१०३—'ईशत' इस पद का अर्थ भी 'उत्पत्ति' नहीं है। क्योंकि ऐसा अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है। 'गोपति' पद का अर्थ 'धार्मिक मनुष्य' बताने में भी कोई प्रमाण नहीं है। 'उसके समीप इन्द्रियाँ बहुत-सी ध्रुव हों'—यह अर्थ भी सङ्गत नहीं हो रहा है। क्योंकि 'समीप' अर्थ करना निरर्थक ही है। 'बह्वी'–बहुत–कहना भी निरर्थक है, क्योंकि 'इन्द्रियां' तो परिगणित ही होती हैं। इस अर्थ में 'भाग' पद के अर्थ को छोड़ ही दिया है। जगदीश्वर को धन्यवाद तो अवश्य देना चाहिये, किन्तु यह भी तो बताना होगा कि मन्त्र में प्रयुक्त हुए किस शब्द का अर्थ किया जा रहा है, यह बताना तो भूल ही गये। स्वामी दयानन्दजी ने 'भागं भजनीयं त्वामाश्रयामः'—भाग अर्थात् भजन करने योग्य तुम्हारा आश्रय हम ले रहे हैं—यही अर्थ लिखा है।

अथ अधियज्ञार्थ परीक्षणम्

१०४—अब 'अधियज्ञ अर्थ का भी परीक्षण करते हैं। अधियज्ञार्थ को बताते हुए जो यह कहा गया है कि "अन्न की प्राप्ति, उत्तमरस के लाभ के लिये जगत् के उत्पादक होने से सेवा करने योग्य 'अग्नि' का हम आश्रय लेते हैं। समस्त जगत् का उत्पादक सकल ऐश्वर्य से युक्त देव 'सविता' भौतिक अग्नि है। "अग्निरेव सविता"—(जै० उ०–४।२७।१) तथा (गो० ब्रा० पू० भा० १।३३)—अग्नि ही सविता है—समस्त क्रियाओं की प्राप्ति के ये जो हेतु हैं, उन्हें श्रेष्ठतम कर्म अर्थात् 'यज्ञ' के लिये अर्पित करता है। "इन्द्राय"—परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिये, यज्ञ के निमित्त 'प्रजावती' 'अनमीवा', 'अयक्ष्मा', 'अघ्न्या' गौएँ हों। इस प्रकार रोगनामक विघ्न, जो चोर, पापी, स्तेन, अपहरण स्वभाव वाला है, वह हरण करने में समर्थ न हो, और सभी प्रजा, सुखों को प्राप्त करे। प्रजा इन प्रत्यक्ष गौओं के

न भवेत् प्रजाश्च सर्वाणि सुखानि प्राप्नुयु: ता अस्मिन् गोपतौ प्रत्यक्षे गवां स्वामिनि निश्चलसुखहेतव: स्यु:। सर्वोपकारं भजति यस्तस्य विदुषो यजमानस्य पशून् प्रजा: श्रिय: वा भौतिकोग्नि: पाति (पृ० २०१९) ॥' इति, तदपि न किञ्चित्, असङ्गतेः।

१०५—नहि भौतिकस्याग्नेः सर्वजगदुत्पादकत्वं सम्भवति, महदादिवाय्वन्तानां तदकारणत्वात्। सकलैश्वर्य-वत्त्वमपि तत्र न सम्भवति, तस्य परमेश्वरधर्मत्वात्, केवलस्याचेतनस्य सम्बोध्यत्वासम्भवाच्च। न च तदधिष्ठाता देवविशेषोऽग्निरत्र सम्बोध्यः, तवापसिद्धान्तापातात्। 'वायवः स्थे'ति पुरुषव्यत्ययोऽपि निष्प्रमाणः, यथाश्रुतार्थानुपपत्तावेव बाहुलकस्य व्यत्ययस्य चाश्रयणीयत्वात्। तानीत्यस्याध्याहारोऽपि निर्मूल एव। वायुपदस्य सर्वक्रियाप्राप्तिहेतव इत्यपि नार्थः, वायुपदस्य तत्राशक्तत्वात्।

१०६—नापि लक्षणया तादृशोऽर्थो ग्रहीतुं शक्यः, तात्पर्यानुपपत्त्यादिलक्षणाबीजासम्भवात्। किञ्च लक्षणयापि 'गोभिः श्रीणीत मत्सर' (ऋ० सं० ९।४६।४) मितिवत् वायुपदेन वायुविकाराणां प्राणानां ग्रहणसम्भवेऽपि न चक्षुरा-दीन्द्रियान्तःकरणादीनां ग्रहणं सम्भवति, तेषां तदकार्यत्वात्। इन्द्रायेत्यस्य परमैश्वर्यप्राप्तिरपि नार्थः, निर्मूलत्वात्। ध्रुवा इत्यस्य निश्चलत्वमेवार्थः न निश्चलसुखहेतुत्वम्, ध्रुवशब्दस्य ध्रुवसुखहेतावशक्तत्वात्। भौतिकाग्नेः प्रजापशु-श्रियां पालकत्वमपि न सम्भवति भौतिकत्वादेव। अधियज्ञार्थेऽपि ब्राह्मणसूत्रप्रसिद्धो यज्ञोपयोगी पदार्थो नोक्तः, तत्तु मन्ये याज्ञिकप्रक्रियाया अज्ञानवशादेवेति।

स्वामी के संरक्षण में निश्चल सुख का कारण बनें। जो सबके उपकार में संलग्न है, ऐसे विद्वान् यजमान की पशुरूप प्रजा अथवा लक्ष्मी की भौतिक अग्नि रक्षा करता है।" इस प्रकार जो व्याख्यान स्वामी दयानन्दजी के द्वारा किया गया है, वह निष्प्रयोजन और असंगत भी है।

१०५—क्योंकि भौतिक अग्नि समस्त जगत् का उत्पादक नहीं है, और न हो सकता है। 'महान्' से आरम्भ करके 'वायु' तक का कारण वह नहीं है। उसमें सर्वैश्वर्ययुक्तता की भी संभावना नहीं की जा सकती है, क्योंकि वह परमेश्वर का धर्म है। केवल अचेतन को सम्बोधित भी नहीं किया जा सकता। भौतिक अग्नि का अधिष्ठाता देवविशेष 'अग्नि' को भी यहाँपर सम्बोधित किया जाना भी नहीं कह सकते, क्योंकि वैसा स्वीकार करना आपके सिद्धान्त के विरुद्ध होगा। "वायवः स्थ" यहाँ 'पुरुष' का व्यत्यय करने में भी कोई प्रमाण नहीं है। 'बाहुलक' या 'व्यत्यय' का आश्रय तभी लिया जाता है, जब यथाश्रुत अर्थ सङ्गत न होता हो। "तानि" यह अध्याहार भी निर्मूल ही है। "वायु पद का 'समस्त क्रियाओं की प्राप्ति के हेतु"—यह अर्थ भी नहीं है। क्योंकि इस अर्थ को प्रकट करने में 'वायु' पद शक्त नहीं है।

१०६—लक्षणावृत्ति से भी 'वायु' पद का वह अर्थ, नहीं कर सकते, क्योंकि लक्षणावृत्ति का आश्रय तब किया जाता है, जब 'तात्पर्य' की अनुपपत्ति हो। उसके न होने से 'लक्षणा' कैसे कर सकते हैं ? किञ्च—लक्षणा से भी 'गोभिः श्रीणीत', के समान 'वायु' पद से वायुविकाररूप प्राणों का ग्रहण करना संभव होनेपर भी 'चक्षुरादि इन्द्रिय अन्तः-करणादि का ग्रहण करना कथमपि संभव नहीं है, क्योंकि वे, उसके कार्य नहीं हैं। इन्द्राय" पद का अर्थ 'परमैश्वर्य'—की प्राप्ति' कहना भी निर्मूल है। "ध्रुवा" का अर्थ 'निश्चलत्व' है। उसका अर्थ—निश्चलसुख का हेतु' कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'ध्रुव' पद 'ध्रुवसुख का कारण' इस अर्थ को बताने में असमर्थ है। भौतिक अग्नि का 'प्रजा, पशु, श्री का पालक होना' भी संभव नहीं है, क्योंकि वह भौतिक होने से असमर्थ है। अधियज्ञवाले अर्थ में भी ब्राह्मण, सूत्र आदि में प्रतिपादित यज्ञोपयोगी पदार्थों को नहीं कहा। न कहने का कारण यही प्रतीत हो रहा है कि सम्भवतः याज्ञिक प्रक्रिया से परिचित न होना ही होगा।

१०७—आधिदैविकार्थपरीक्षणम् । यदुक्तम्—'पराक्रमायोत्तमरसलाभाय सर्वपदार्थानां सम्प्रयोगेण पुरुषार्थसिद्धये भगं भगानां धनानां भाजनम् तं सवितारमाश्रयामः । 'सविता वै सर्वस्य प्रसविता' (नि० १०।३२) एवमाप्ययामहे सर्वजगदुत्पादकः सकलैश्वर्यवान् द्यु स्थानो देवः सविता । (सूर्यः सर्वौषधिवनस्पत्यादीनामुत्पादकः) ये सर्वक्रियाप्राप्तिहेतवः स्पर्शगुणा भौतिका वायवः सन्ति श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयति । परमैश्वर्यप्राप्तये अघ्न्याः पृथिव्यादयोऽनमीवाः अयक्ष्माः प्रजावतीः प्रार्पयतु । सवितरि सति स्तेनो विघ्नो वा समर्थो न भवति । गोपतौ पृथिव्यादिरक्षणमिच्छुकस्य ताः ध्रुवाः स्युः सविता सर्वोपकारं यजति यस्तस्य यजमानस्य श्रीः रक्षति' (पृ० २०।६) इति ।

१०८—तदपि न युक्तम्, पूर्वोक्तदोषदुष्टत्वात् । त्वद्रीत्या सविता सूर्योऽपि जड एवेति न तस्याश्रयणं युक्तम् । आश्रयणमुपासनमेव । जड़पूजाचास्त्वया प्राणपणेन निषिद्धत्वात् । नापि तदधिष्ठातृदेवः पूज्यस्त्वया तदनङ्गीकरात् । न वा सवितुर्भगानां धनानां वा भाजनत्वं सम्भवति, तस्याग्निगोलकत्वाविशेषात् । सकलजगदुत्पादकत्वमपि तस्य न सम्भवति, तस्यापि जगदन्तः पातित्वात् । नापि सकलैश्वर्यवत्त्वं तस्य परमेशधर्मत्वात् नापि सवितुः श्रेष्ठतमाय कर्मणे वाय्वादिसमर्पकत्वं सम्भवति जडत्वादेव । नापि सविता अनमीवा अयक्ष्माः प्रजावतीः पृथिव्यादीः समर्पयितुं समर्थोऽचेतनत्वात् । चेतन एव सर्वोपकारं तद्याजिनं च ज्ञातुं शक्नोति । स एव श्रियो रक्षितुं शक्नोति । तस्मादङ्गीकर्त्तव्यः सनातनो धर्मः, तत्सम्बन्धी देवतावादश्च ।

१०९—एतेनैव 'हे परमेश्वर भवान् कृपया अस्माकमिन्द्राय परमैश्वर्यप्राप्तये श्रेष्ठतमाय कर्मणे चेमाः

आधिदैविकार्थ परीक्षणम्

१०७—आधिदैविक अर्थ करते समय स्वामी दयानन्दजी ने जो कहा है कि 'पराक्रमाय'=उत्तम रस-लाभ के लिये सभी पदार्थों के सम्यक् प्रयोग से पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये भागम्'=भग अर्थात् धनों के भाजन उस सविता का आश्रय लेते हैं ।" 'सविता' सब का प्रसविता है"—इस प्रकार तृप्ति का अनुभव करते हैं । समस्त जगत् का उत्पादक, सकल ऐश्वर्य सम्पन्न, द्यु स्थानवाला देव सविता सूर्य, समस्त ओषधि, वनस्पतियों का उत्पादक है । समस्त क्रियाओं की प्राप्ति के हेतु, स्पर्शगुणवाले जो भौतिक वायु हैं, उन्हें श्रेष्ठतम कर्म के लिये वह अर्पित करता है । वह 'अघ्न्या', 'अनमीवा', 'प्रजावती', 'पृथिवी' आदि का अर्पण करे । सविता के रहनेपर चोर या विघ्न समर्थ नहीं हो पाता है । पृथिवी आदि की रक्षा के इच्छुक (गोपति) के लिये ये ध्रुव हों । सभी के उपकार के लिये यजन करनेवाले यजमान की श्री की रक्षा, सविता करता है ।"

१०८—किन्तु इस प्रकार व्याख्या करना भी ठीक नहीं है । क्योंकि पूर्वोक्त दोष यहाँ भी विद्यमान हैं । क्योंकि आपके सिद्धान्तानुसार 'सविता' या 'सूर्य' भी जड़ ही है । उसका आश्रय करना उचित नहीं होगा । क्योंकि आश्रय-ग्रहण करने का तात्पर्य 'उपासना' ही है । आपने तो 'जड़' की पूजा का प्राणपण से निषेध किया है । सूर्य की अधिष्ठात्री देवता पूजनीय है'—यह भी आप नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसी देवता आपके मत में मान्य नहीं है । सूर्य, 'भगों का अर्थात् धनों का भाजन भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह अग्निगोलक के सिवा अन्य कोई पृथक् पदार्थ नहीं है । वह समस्त जगत् का उत्पादक भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं भी 'जगत्' के ही अन्तर्गत है । वह सकल ऐश्वर्य-सम्पन्न भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो केवल परमेश्वर का ही धर्म है । सविता का श्रेष्ठतम कर्म के लिये वायुआदि का समर्पक होना भी उसके जड़ होने के कारण ही असम्भव है । जड़ होने से ही वह 'अनमीवा', 'अयक्ष्मा', 'प्रजावती', 'पृथिवी' आदि को समर्पित करने में भी असमर्थ है । वह चेतन ही होता है, जो सबके उपकार और याजक को जान सकता है, वही श्री की रक्षा कर सकता है । इसलिये अपने उक्त अर्थों की सिद्धि के लिये, सनातनधर्म और उसके द्वारा प्रतिपादित देवता वाद की ही आपको शरण लेनी होगी ।

१०९—स्वामी दयानन्दजी का अगला व्याख्यान भी—"हे परमेश्वर ! आप कृपा करके हमारी परमैश्वर्य-

प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा अघ्न्याः गाः सदा प्रार्पयतु हे परमात्मन् भवत्कृपयाऽस्माकं मध्ये कश्चिदघशंसः पापी स्तेनश्चोरः मेशत कदाचिन्मोत्पद्यताम्। तथा त्वमस्य यजमानस्य जीवस्य पशून् पाहि सततं 'यतो वा ता गा इमान् पशूंश्चाघशंसः स्तेनो मेशत हन्तुं समर्थो न भवेत् यतोऽस्मिन् पतौ पृथिव्यादिरक्षणेच्छुकस्य समीपे बह्वीर्बह्व्यो गावो ध्रुवाः स्यात् भवेयुरिति दयानन्दीयं व्याख्यानमपि प्रत्याख्यातमेव, उक्तदोषात्। गोपतिपदस्य पृथिवीपतिरित्यर्थसम्भवेऽपि तदिच्छुकस्येति तु न कथमप्यर्थः सम्भवति।

११०—यत्तु भावार्थत्वेनोक्तम्—'मनुष्यैः सदैव धर्म्यं पुरुषार्थमाश्रित्यर्ग्वेदाध्ययनेन गुणगुणिनौ ज्ञात्वा सर्वपदार्थानां सम्प्रयोगेण पुरुषार्थसिद्धये श्रेष्ठतमाभिः क्रियाभिः संयुक्तैर्भाव्यम् यत ईश्वरानुग्रहेण सर्वेषां सुखैश्वर्यस्य वृद्धिः स्यात्। तथा सम्यक् क्रियया प्रजाया रक्षणशिक्षणे सदैव कर्त्तव्ये यतो नैव कश्चिद्रोगाख्यो विघ्नश्चौरश्च प्रबलः कदाचिद्भवेत्। प्रजाश्च सर्वाणि सुखानि प्राप्नुयुः। येनेयं विचित्रसृष्टी रचिता तस्मै जगदीश्वराय धन्यवादा वाच्याः। एवं कुर्वतो भवतः परमदयालुरीश्वरः कृपया सदैव रक्षयिष्यतीति' (पृ० २२) इति, तत्तु सर्वथाऽसङ्गतम्, मूलाक्षरासम्बद्धत्वात् ऋग्वेदाध्ययनेन गुणगुणिज्ञानं भवतीति तु भूमिकायामेव खण्डितम्।

१११—कोऽयं धर्म्यः पुरुषार्थो यमाश्रित्यर्ग्वेदाध्ययनं कार्यम्? धर्मश्च कः? वैदिकैस्तु चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मोऽभ्युपेयते। चोदनेति विधिनिषेधवाक्यानि भवन्ति। तानि च ब्राह्मणगतानि। न च तेषां त्वया प्रामाण्यमभ्युपेयते। ऋगादिमन्त्रैस्तु गुणगुणिज्ञाने पदार्थानां सम्प्रयोगस्तन्यते। धर्मः केन कथं ज्ञायताम्? पुरुषार्थसिद्धीनां श्रेष्ठतमानां मन्त्रब्राह्मणात्मकं वेदं विना ज्ञातुमशक्यत्वात्।

प्राप्ति के लिये और श्रेष्ठतम कर्म के लिये इन प्रजावती, अनमीवा, अयक्ष्मा, अघ्न्या,—गौओं को सदा अर्पित करें। हे परमात्मन्! आपकी कृपा से हमारे मध्य में कोई अघशंस पापी चोर उत्पन्न न हो। तुम इस यजयान के पशुओं की सदा रक्षा करो इन गौओं और पशुओं को कोई अघशंस स्तेन न मार सके। इस पृथिवी आदि की रक्षा के इच्छुक गोपति के पास बहुत-सी ध्रुवा गौएँ हों।"—स्वयं असिद्ध हो गया है, क्योंकि उक्त दोष यहाँ भी विद्यमान हैं। 'गोपति' का अर्थ 'पृथिवीपति' होना तो संभव है, परन्तु 'पृथिवी—की रक्षा का इच्छुक' यह अर्थ तो कथमपि संभव नहीं हो सकता।

११०—भावार्थ के रूप में जो कहा गया है कि—"मनुष्यों को सदा ही धर्मसम्मत पुरुषार्थ का आश्रय लेकर ऋग्वेद आदि के अध्ययन से गुण और गुणी को जानकर सभी पदार्थों का सम्यक् प्रयोग करते हुए पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये श्रेष्ठतम क्रियाओं से संयुक्त होना चाहिये जिससे ईश्वर के अनुग्रह के द्वारा सब के सुख और ऐश्वर्य की वृद्धि हो। सम्यक् क्रिया से प्रजा का रक्षण और शिक्षण सदा ही करना चाहिये। जिससे कोई रोगरूप विघ्न न हो, और चोर कभी प्रबल न हों सकें, तथा प्रजा समस्त सुखों को प्राप्त करे। जिसने यह विचित्र सृष्टि रची है, उस जगदीश्वर को धन्यवाद देने चाहिये। ऐसा करनेवाले तुम लोगों की परमदयालु ईश्वर कृपा करके सदा ही रक्षा करेगा।"—यह भावार्थ प्रतिपादनात्मक व्याख्यान भी सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि मन्त्र के अक्षरों से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं हो रहा है। हमने अपने इस ग्रन्थ की भूमिका भाग में स्वामी दयानन्दजी की उक्त व्याख्या 'ऋग्वेदाध्ययन से गुण-गुणों का ज्ञान होता है'—का खण्डन कर दिया है।

१११—धर्मयुक्त यह पुरुषार्थ कौन-सा है, जिसका आश्रय लेकर ऋग्वेद आदि का अध्ययन करना चाहिये। धर्म कौन है? वैदिकों के द्वारा तो 'चोदना' स्वरूप धर्म को स्वीकार किया जाता है। विधिवाक्य और निषेधवाक्य ही 'चोदना' शब्द से कहे जाते हैं। वे वाक्य ब्राह्मणग्रन्थों में हैं, और उन ग्रन्थों को आप प्रमाण मानते नहीं हैं। 'ऋग्', आदि के मन्त्र तो 'गुण-गुणी के ज्ञान' में पदार्थों का सम्यक् प्रयोग बतलाते हैं। धर्म को कौन कैसे समझे? श्रेष्ठतम पुरुषार्थ की सिद्धियों को मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद के बिना जानना संभव नहीं है।

प्रथम मन्त्र का हिन्दी सारांश

[एवञ्च 'इषेत्वे'ति छिनत्ति, अर्थात् पलाशशाखा का अथवा शाल्मली शाखा का छेदन करता है। अथवा 'इषेत्वोर्जेत्वा' का प्रयोग करते हुए 'छेदन' करता हूँ। अथवा दोनों के साकांक्ष होने से 'शाखा' को झुकाता हूँ—यह उत्तर है। पलाश की शाखा अथवा शमी की शाखा में विकल्प माना गया है। उसके छेदन में 'इषेत्वोर्जेत्वा' इन दो मन्त्रों का विकल्प किया गया है। उसका कोई दृष्ट प्रयोजन नहीं है। यही स्थिति 'उर्जेत्वा' की भी है। वचन सामर्थ्य से अदृष्ट प्रयोजन मानने पर तो दोनों के द्वारा एक ही अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना करना न्याय सङ्गत होगा। इस प्रकार अल्प अनुमान करना होगा—इस पूर्वपक्ष को उपस्थित करके समाधान किया गया है कि जो 'सम' होता है, वहाँ वाक्यभेद होता है। 'सम' का अर्थ है कि जिनमें परस्पर कोई आकांक्षा न हो वहाँ वाक्यभेद हुआ करता है। 'इषेत्वा'' से एक अर्थ किया जाता है। ''उर्जेत्वा'' से दूसरा अर्थ किया जाता है। यद्यपि प्रत्यक्षादि प्रमाण से कोई दृष्ट अर्थ प्राप्त नहीं हो रहा है, तथापि श्रुति से तो अर्थ प्राप्त हो रहा है कि—''इषेत्वा'' से छेदन करना और 'उर्जेत्वा'' से अनुमार्जन करना। निष्कर्ष यह है कि शाबरभाष्य के द्वारा उपर्युक्त काण्वसंहिता के दोनों वाक्य श्रुति के रूप में उदाहृत करके 'इषेत्वा' और 'उर्जेत्वा' इन दो वाक्यों को स्वीकार करके दो मन्त्र माने गये हैं। इस रीति से पूर्व-मीमांसा सूत्र और उसके भाष्य के द्वारा एक कण्डिका में अनेक मन्त्र सिद्ध होते हैं। माधवाचार्य की अधिकरण न्याय-माला में भी ''इषेत्वोर्जेत्वा' में क्रिया पद के अभाव के कारण ''उरु प्रथस्व'' मन्त्र के समान स्मारकत्व के अभाव से एक अदृष्ट की कल्पना करने में लाघव होने के कारण यह एक ही मन्त्र है—यह पूर्व पक्ष उपस्थित किया गया है। सिद्धान्तपक्ष में कहा गया है कि काण्व ब्राह्मण में 'छिनत्ति', 'अनुमार्ष्टि' इस प्रकार से विनियोग के श्रुत होनेपर उसके अनुरोध से भिन्न-भिन्न दो मन्त्र हैं। यहाँ पर 'छिनद्मि' और 'अनुमार्ज्मि' इन क्रिया पदों का अध्याहार करना होता है। महर्षि कात्यायन ने भी पर्ण की शाखा का छेदन बताया है। किन्तु पर्ण शाखाछेदन का 'इषेत्वा' मन्त्र, शौनकी संहिता का आदि मन्त्र नहीं है। अपितु पिप्पलाद संहिता का वह प्रथम मन्त्र है। किन्तु आपकी दृष्टि से तो वह 'संहिता' वेद ही नहीं है। महाभाष्य की रीति से चलने पर आपके मार्ग की शौनकी संहिता वेद से बहिर्भूत हो जायगी तथा 'पिप्पलादसंहिता' भी वेद नहीं कही जायगी।

पुनश्च काण्व के अनुसार 'इषेत्वा'' आदि के स्वतन्त्र मन्त्र होने का निर्णय किया गया हैं। द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में ''अर्थैकत्वात्'' सूत्र पर शाबरभाष्य में विचार हुआ है कि प्रश्लिष्ट रूप से पठित यजुओं में यह कैसे समझा जाय कि यह एक यजुर्मन्त्र है—इस आशङ्का पर बताया गया है कि जितने पदों से एक 'यजन' रूप अर्थ प्रति-पादित हो उतना पदसमूह एक यजु है। कितने पदसमूह से एक यजनरूप अर्थ होता है? ऐसी शङ्का उपस्थित कर उत्तर दिया है कि जितने से क्रिया का उपकार प्रकाशित हो, उतना कथनीय होने के कारण उसे एक वाक्य समझा जाता है। अतएव यह प्रसिद्ध है कि 'एक अर्थ का प्रतिपादक एक वाक्य होता है।' वहींपर ''समेषु वाक्यभेदः स्यात्''—सम मन्त्रों में वाक्यभेद होगा—इस सूत्र से ''इषेत्वा'',—''उर्जेत्वा'' ये दो वाक्य होंगे। तथा ''आयुर्यज्ञेन'' आदि भिन्न-भिन्न वाक्य हैं या एक वाक्य है? ''इषेत्वा'' इतने मात्र से ही उसका निर्णय हो जाता है। 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' से हिंसा मात्र का निषेध किया जाता है। ''अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'' अग्नीषोमदेवताक पशु का आलम्भन (हिंसा) करे—यह वचन तो अपवादरूप है। यज्ञगत हिंसा के अतिरिक्त 'हिंसा'—निषिद्ध है। वेद में प्रतिपादित हिंसानिषेध का यही तात्पर्य है। अथवा यजुर्वेद आदि सभी वेदों में मन्त्र से निषेध में पर्यवसित होनेवाले वाक्य का अभिप्राय है। निषेध और विधि दोनों में पर्यवसित होनेवाले वाक्यों के लिये 'मन्त्र' पद का प्रयोग होता है, जैसे– ''ये मन्त्रा प्रोक्षणे गवाम्'' आदि स्थलों में है। इससे ''इषेत्वोर्जेत्वा'' यहाँ गोपथकार दो मन्त्र नहीं मानते. किन्तु ''श्रेष्ठतमाय कर्मणे'' यहाँ से प्रारम्भ करके ''यजुर्वेदमधीयते'' तक सम्पूर्णपाठ को एक ही मन्त्र के रूप में द्योतित करते हैं।'' स्वामी दया-नन्दजी का यह कथन भी कोई महत्त्व नहीं रखता है, क्योंकि वहाँ का 'आदि' पद, मन्त्र के आदि का द्योतक है। आपके कथनानुसार ''पाहि'' तक की मन्त्रता इससे नहीं सिद्ध होती है। वहाँ कण्डिका के प्रतीक का ग्रहण ही इष्ट है।

कण्डिकाओं में अनेक मन्त्र होते हैं। अत एव नमस्कार आदिवाला एक यजु है और नमस्कारान्त एक यजु है-ये यास्कादि महर्षियों की उक्तियां सङ्गत होती हैं।

यह जो कहा गया है कि "इषेत्वोर्जेत्वा" को आदि कहकर यजुर्वेद का अध्ययन किया जाता है—यह गोपथकार का वचन है, यहाँ कृष्णयजुर्वेद विवक्षित नहीं है"—यह कथन भी नितान्त उपेक्षणीय है। क्योंकि यहाँपर 'यजुर्वेद' शब्द, अन्य यजुर्वेद ग्रन्थों का उपलक्षण है। अन्य शाखाओं की संहिताओं में 'वेदत्व', परम्परा प्राप्त है—यह बात श्रुति, स्मृति, पुराण आदि से भी सिद्ध है। मुक्तिकोपनिषद्, पुराण और महाभाष्य में अनेक शाखाओं से युक्त चारों वेदों का वर्णन है। महाभाष्य में जैसे—ऋक्, यजु, साम वेदों के प्रतीक के रूपों में "अग्निमीले पुरोहितम्", "इषेत्वोर्जेत्वा", "अग्न आयाहि वीतये"—इनका ग्रहण किया है, वैसे ही अथर्ववेद का प्रतीक 'शन्नोदेवी" मन्त्र भी वहाँ बताया है। अतः स्वेच्छा से देवता आदि की कल्पना करना मन्त्रार्थ के विरुद्ध चलना ही है। कात्यायन आदि महर्षियों के विनियोगों के आधार पर ही देवता आदि का ज्ञान प्राप्त करना होता है। सायण के द्वारा उद्धृत काण्व ब्राह्मण के द्वारा भी 'इषेत्वा' इस मन्त्र की देवता, कात्यायन के द्वारा बोधित 'शाखा' ही है।

यह भी विचारणीय है कि "इषेत्वा' से लेकर 'पशून् पाहि' तक एक ही मन्त्र मानागया है।" यहाँपर 'सवितृ शब्द के देखने से आपाततः कहा गया है कि इस मन्त्र की देवता 'सविता' है। 'ब्राह्मण', 'सूत्र' आदि के अनुसार तो इस कण्डिका में 'इषेत्वा', 'उर्जेत्वा' इत्यादि अनेक मन्त्र हैं। पण्डित ब्रह्मदत्तजी ने "यजुर्वेदादि मन्त्र से पशुहिंसा का वारण हुआ है"—इस महाभारत के पद्य को उद्धृत करके 'पशून् पाहि' तक सम्पूर्ण कण्डिका एक ही मन्त्र है, यह सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु श्रुति विरोध को न समझपाने के कारण उनका प्रयास व्यर्थ ही हो गया है। यजुर्वेद की प्रथम कण्डिका में जितने मन्त्र हैं उनमें 'सप्तम्यास्तसिल्' को समझनेपर आक्षेप नहीं हो पायगी। अथवा 'मन्त्र' पद का मन्त्रसमूहरूप कण्डिका में गौण प्रयोग भी हो सकता है। किञ्च यहाँ पशुहिंसा का वारण नहीं है, अपितु 'पशुपालन' की प्रार्थना है। 'पालन' को ही हिंसा का वारण नहीं कह सकते। आधुनिक शासकों के द्वारा पशुपालन के प्रयास होते रहने पर भी 'हिंसा' भी स्वीकार की ही जा रही है। यह भी नहीं है कि 'यजुर्वेद' शब्द से एक ही संहिता ग्रहण की जाय। 'कृष्णयजुर्वेद' भी यजुर्वेद शब्द से ही प्रसिद्ध है। जहाँ 'यजुर्वेदादि मन्त्र से' कहा गया है, वहाँ यजुर्वेदादि मन्त्रों से'—यह अर्थ होता है। वहाँ 'मन्त्र' शब्द 'ब्राह्मण' का भी उपलक्षण है। 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस ब्राह्मण वाक्य से हिंसा का निषेध होता है, किन्तु 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इस अपवादक वचन को देखने पर ज्ञात होता है कि यज्ञीय हिंसा के अतिरिक्त स्थल में हिंसा का निषेधक वह वचन चरितार्थ होता है।

जो यह कहा गया है कि "दुर्गाचार्य और स्कन्दस्वामी को भी 'शाखा' आदि को देवता के रूप में स्वीकार करना अभिमत नहीं है, यास्क ने भी 'तद्य अनादिष्ट देवता' आदि से उपक्रम क्ररके 'यद्देवतः स यज्ञो…………' इत्यादि कहा है'—यह तर्क करना उचित नहीं है, वह तर्क न रहकर कुतर्क करना ही कहलाएगा। क्योंकि 'शाखा' आदि को निरुक्त में यज्ञाङ्ग बतलाने पर भी उनका देवता होना युक्ति सिद्ध है। प्रधान हवि, जिस देवता की होती है, उसके संस्कारपरक मन्त्र होते हैं। जैसे प्रकृत में 'ऐन्द्रसान्नाय्य' या 'माहेन्द्र' प्रधान हवि है। अतः 'एषेत्वा' आदि उसी के संस्कारपरक हैं। जिन मन्त्रों में देवता बोधक लिङ्ग न हों, वे 'ऐन्द्र' या 'माहेन्द्र' होते हैं। यह दुर्गाचार्य का वचन तो हवि के प्रधान होने से 'इषेत्वा' आदि मन्त्र 'ऐन्द्र' या 'माहेन्द्र' हैं—यह द्योतित करता है।

जिन मन्त्रों में देवताबोधक लिङ्ग का प्रकाशन नहीं है, उनके देवता निरूपणप्रसङ्ग में 'इषेत्वा' आदि समस्त मन्त्रों के 'माहेन्द्र' आदि ही देवता हैं, जिनके उद्देश्य से हविः प्रदान हुआ है - ऐसा बताया गया है। 'कुविदङ्ग' आदि मन्त्र का विनियोग प्राजापत्यग्रहण में दुर्गाचार्य ने बताया है, अतः वहाँ प्रजापति देवता है। 'आमावास्या में पय ऐन्द्र या माहेन्द्र है', अतः शेषभूत मन्त्र शाखाच्छेदन आदि में सान्नाय्यसंस्काररूप से विनियुक्त है। 'इषेत्वा' आदि उस देवता के हैं'—यह स्कन्दवचन भी वही अभिप्राय रखता है। पुनश्च सान्नाय्य के संस्काररूप से उसके अङ्गभूत 'इषेत्वा' आदि

सभी मन्त्रों के माहेन्द्र आदि देवता होते हैं। इस कारण तत्तन्मन्त्रों की अपनी-अपनी देवताओं का अपलाप नहीं होता। अन्यथा 'अग्नि सर्वदेवरूप है'। अतः जो मन्त्र या कर्म विशिष्टदेवतापरक नहीं हैं, उनकी देवता 'अग्नि' है—ऐसे वचनों का आधार होनेपर भी मन्त्रों में देवताओं का अन्वेषण क्यों किया गया है ?

महर्षि कण्व ने तो प्रथम ही कहा है—"ऋषि, देवता और छन्द का विवरण आरम्भ करेंगे। यजुर्वेदस्थ मंत्रों के अक्षरों की नियम गणना न होने से कुछ मन्त्रों में छन्द नहीं हैं। उनके द्रष्टा ही उनके ऋषि हैं। उनके स्मरणकर्ता परमेष्ठी आदि देवताओं में अन्तर्भूत हैं। अग्नि आदि हविर्ग्रहण करनेवाले तथा स्तुतिग्रहण करनेवाले हैं।"—ऐसा कहकर अनस् शाखा उखा शमी उपवेश कपाल इध्म उलूखल आदि प्रतिमाभूत हैं ऐसा कहा है। अतः 'शाखा' आदि को देवता कहने में कोई बाधा नहीं है। वहाँ गायत्री आदि छन्दों के विषय में कहा गया है कि इन सब को बिना जाने जो व्यक्ति अध्ययन, पाठ जप, हवन, यज्ञ, याजन, करता है, उसका ज्ञान निर्वीर्य (बासी) हो जाता है। तदनन्तर वह गर्त में गिर जाता है। स्थाणु (ठूँठ) बन जाता है। वह मृत्यु को प्राप्त कर पापयोनियों में जाता है। और जो इनका ज्ञान प्राप्त करके अध्ययन करता है, उसका ज्ञान, वीर्यवान् तथा अर्थवेत्ता का ज्ञान वीर्यवत्तर होता है। जप, हवन, यज्ञ का फल उसे प्राप्त होता है। इस प्रकार के महत्त्व से परिपूर्ण ऋषि, देवता, आदि के ज्ञान की उपेक्षा नहीं की जा सकती और न ही उनका अपनी इच्छा से निर्धारण किया जा सकता है।

'अप्राणः' आदि श्रुतियों में ईश्वर को मन और प्राण से रहित कहा गया है। प्रथमान्तरूप में पठित 'वायवः' यह कर्तृपद 'स्थ' इस क्रियापद से सम्बन्ध के कारण निराकांक्ष हो गया है। 'प्रार्पयतु' इस सकर्मक क्रियापद के कर्म के रूप में 'वः' यह पद है। मूल में 'यत् 'तत्' के अभाव में भी 'वः' (तुम्हारे) जो प्राण अन्तःकरण आदि हैं, उन्हें सविता, श्रेष्ठतम कर्म के लिये प्रकृष्टरूप से अर्पित करे'—ऐसी कल्पना करना भी स्वच्छन्दता ही कहलाएगी। 'आप्यायध्वम्' के स्थानपर 'आप्यायामहे' व्याख्या करना भी निर्मूल ही है। द्वितीय व्याख्यान में यह असङ्गति है कि परमेश्वर ही परमेश्वर को कैसे सम्बोधित करता है ? 'इन्द्र' शब्द का अर्थ जब ऐश्वर्यवान् पुरुष है, तब वह 'ऐश्वर्य' की प्रार्थना कैसे करेगा ? मूल में 'यजमान' शब्द, यज्ञकर्ता का बोधक है। अतः उसका 'जीवसामान्य' अर्थ करना भी निराधार ही है। और भावार्थ तो दूर से भी मन्त्र के अक्षरों का स्पर्श भी नहीं कर रहा है। 'विश्वानि देव' इत्यादि मन्त्र के व्याख्यान में 'ईश्वर के द्वारा जीवों के लिये तथा गुण-गुणिविज्ञान के उपदेश के लिये ऋग्वेद सभी पदार्थों की व्याख्या करके 'मनुष्यों को उनसे यथा तथा उपकार ग्रहण करने के लिये कैसे क्रियाएँ करनी चाहिये'—यह यहाँ पर उपदिष्ट है, यह जो कहा है, वह भी निर्मूल ही है। क्योंकि ऋग्वेद पदार्थ वर्णन परक नहीं है। न्याय-वैशेषिक शास्त्रों के समान ऋग्वेद कोई पदार्थवर्णन करनेवाला ग्रन्थ नहीं है। यदि वह पदार्थवर्णन करनेवाला ग्रन्थ होता तो स्वामी दयानन्दजी के द्वारा भी आप्तरूप से स्वीकृत किये गये गोतम आदि महर्षि उसी का व्याख्यान करते। पुनश्च आधुनिक वैज्ञानिकों के द्वारा जो पदार्थ और गुण-गुणिभाव विवेचित हुए हैं, क्या स्वामी दयानन्दजी के भाष्य में उस उपयोग में आने योग्य विवेचन उपलब्ध है ? अपनी उक्ति को प्रमाणित करने के लिये मूल में 'यजुभिर्यजन्ति' और विवरण में ऋक् से शंसन करते हैं, यजु से यजन करते हैं, साम स्तुति करते हैं—इत्यादि श्रुतिवाक्य उद्धृत किये हैं, परन्तु उनके दूसरे अर्थ हैं। अतः प्रस्तुत में वे साधक नहीं हो रहे हैं।

वहाँपर 'यजुभिर्यजन्ति' इस मन्त्र का 'यजुर्मन्त्रों' से यज्ञ करते हैं—यही अर्थ है। स्वामी दयानन्दजी तो जिससे मनुष्य, ईश्वर तथा धार्मिक विद्वानों की पूजा करते हैं, समस्त विद्याओं की सङ्गति, शिल्प विद्याओं का सङ्गतिकरण, शुभविद्याओं का गुणदान, यथायोग्य सबके उपकार में, शुभव्यवहार में, तथा विद्वानों में द्रव्यादि का व्यय करते हैं, वह 'यजु' है'—ऐसा कह रहे हैं। किन्तु यह भी अविचारितरमणीय है। क्योंकि 'यज्' धातु के अर्थ के अनुसार विद्वानों की पूजा सङ्गतिकरण, और दान आदि में यजुर्मन्त्र अकिञ्चित्कर हैं। बिना यजुर्मन्त्रों के भी मनुष्यों की उनमें प्रवृत्ति होना सिद्ध है। 'ऋचाओं का शंसन करते हैं' इत्यादि के द्वारा भी पदार्थों का गुण-गुणिवर्णन नहीं हुआ करता।

अपितु देवताओं का शंसन स्तवन आदि करना ही उनका कार्य है। 'रूढिर्योगमपहरति'—रूढि, योग का अपहरण करती है—इस न्याय से परिभाषित यज्ञ में ही यजुर्मन्त्रों का उपयोग होता है। 'यज्ञ' का स्वरूप महर्षि कात्यायन ने बताया है—"यज्ञ का व्याख्यान करते हैं", "द्रव्य, देवता, और त्याग ही यज्ञ है।" कर्काचार्य ने इसकी व्याख्या की है—'तद्धितप्रत्यय अथवा चतुर्थ्यन्त पद से द्रव्य के प्रति देवतात्व प्रकट होता है। उस द्रव्य की देवता के प्रति जो उत्सर्ग-क्रिया होती है, वही 'याग' पदार्थ है। 'यज्ञ' शब्द भी उसी अर्थ में प्रसिद्ध है। इस रूप में प्रसिद्ध 'याग' का ही यजुर्मन्त्रों के द्वारा अनुष्ठान होता है। दर्श-पूर्णमासाभ्यां यजेत्' इत्यादि विधिवाक्यों के द्वारा विधिभाग में जिन कर्मों का विधान है उन्हीं में 'यजु' आदि का उपयोग होता है। जैमिनिमहर्षिप्रणीत द्वादशाध्यायी मीमांसा में भी उसी 'यज्ञ' का विचार हुआ है। वहींपर यथास्थान देवपूजा, सङ्गतिकरण आदि का भी समावेश है।

महर्षि कात्यायन ने भी 'तिष्ठद्धोमा' इत्यादि से याग और होम का भेद बताया है। खड़े होकर जिनमें होम होता है, वे 'तिष्ठद्धोम' कहलाते हैं। वषट्कार के द्वारा जिनमें आहुति दी जाती हो उन्हें 'वषट्कार प्रदान' कहते हैं। जिनमें 'याज्या' और 'पुरोनुवाक्या' का प्रयोग होता है, वे 'याग' कहलाते हैं। सामान्य पूजा, दान आदि कर्मों में तो 'वषट्कार' पूर्वक होम होता नहीं है। उनमें 'याज्या, पुरोनुवाक्या' का प्रयोग भी नहीं होता। 'होम' नामक कर्म का भी 'याग' से भेद बताया गया है। जहाँ कर्ता के द्वारा बैठकर ही 'स्वाहाकार' पूर्वक आहुति दी जाती है, जहाँ 'याज्या' आदि का प्रयोग नहीं होता है और 'जुहोति' पद से विहित होता है, उसे 'होम' कहते हैं। 'हवि' का अर्पण करने के लिये जो विहित कर्म है, उसे 'याज्या' कहते हैं। देवता का अनुस्मरण करने के लिये 'अनुवाक्या' होती है। 'ह्वयति' 'पुरोनुवाक्या' आदि श्रुति से उसका कथन किया जाता है। वस्तुतः मन्त्र में वक्ता 'ऋषि' होता है। मन्त्र के द्वारा जो कहा जाता है, वह 'देवता' होती है। सर्वानुक्रमणीकार ने तो "इषेत्वा" इत्यादि मन्त्र की देवता 'शाखा' बताई है। उसका अनादर करना तो प्रमाद ही कहा जायगा।

विनियोग से देवता का निर्णय करना दुर्गाचार्य की रीति से प्रदर्शित कर ही चुके हैं।

यह जो कहना है कि 'सर्वानुक्रमणीकार' के द्वारा प्रदर्शित 'देवतावाद' तो आधुनिक है। किन्तु यह कथन अत्यन्त तुच्छ है। आधुनिक आङ्ग्ल पद्धति से तो आपकी 'शाकली संहिता' आधुनिक होने से नहीं बच रही है।

यह तो आपने कहा है कि "गुरु से, तर्क से, शतपथ श्रुति से मन्त्रों के छन्द, ऋषि और देवताओं का कथन करता हूँ"—इस प्रकार कहते हुए 'उव्वटाचार्य ने सर्वानुक्रमणी की अवहेलना की है'—यह कथन सर्वथा उपेक्षणीय ही है। श्लोक में प्रयुक्त 'च' शब्द से सर्वानुक्रमणी का भी बोध हो रहा है। यह जो आपने कहा है कि "स्थावर होने के कारण उनको 'देवता' कहना उचित नहीं है"—किन्तु यह कथन भी भ्रमपूर्ण ही है, क्योंकि 'देवता' तो अधिष्ठात्री हुआ करती है। उव्वटाचार्य ने भी 'शाखा' को ही देवता होना बताया है। 'शाखा आदि तो उसकी प्रतीक हैं। स्वामी दयानन्द जी ने तो निरुक्त, दुर्गाचार्य आदि के द्वारा प्रदर्शित रीति से हविर्देवता के अनुरोध से भी इषेत्वा' आदि की 'शाखा' देवता न बताकर स्वयं अपनी कल्पना से 'सविता' को देवता कह दिया है। किन्तु 'इषेत्वा' आदि मन्त्र से 'सविता' का कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

जो यह कहा गया है कि "नवो नवो भवति" इस मन्त्र का सर्वानुक्रमणीकार ने 'चन्द्रमा' देवता कहा है। और यास्क ने "आदित्य" देवतावाला दूसरा पाद बताया है। तथा 'प्रवर्धयते' में 'चन्द्रमा' देवता कहा है।'—किन्तु सब आखों में धूल झोंकनामात्र है। यहाँपर यास्क ने यथा ने यथाकथञ्चित् 'पूर्वापरं चरतो' इस द्वितीय पाद का ही 'आदित्य' को देवता बताया है, न कि सम्पूर्ण मन्त्र के विषय में यह बात कही है। सर्वानुक्रमणीकार तो समस्त मन्त्र के अभिप्राय से 'चन्द्र' को देवता कह रहे हैं। ऐसी स्थिति में विरोध कहाँ है?

आश्वलायन आदि श्रौतसूत्रों के उदाहरणों को प्रदर्शित कर जो एक मन्त्र के अनेक विनियोग दिखाकर विरोध का उद्भावन किया है, वह उपेक्षणीय है। विनियोग का भेद तो ब्राह्मणवाक्य तथा आर्षवाक्यों से प्राप्त होता है। उस

स्थिति में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है। अतएव आश्वलायन श्रौतसूत्र तथा तैत्तिरीयब्राह्मण में यह मन्त्र 'चान्द्र-मस' चरु' में विनियुक्त हुआ है। तैत्तिरीय वौधायनादि सूत्रों में आदित्य देवतावाले चरु में 'य: पापयक्ष्मगृहीत:' इस मन्त्र का विनियोग बताया है। मैत्रायणी संहिता में यह मन्त्र, वैश्वदेव चरु में विनियुक्त है। ये विनियोग प्रामाणिक है। इस प्रकार के अनेक प्रामाणिक विनियोग होने से एक ही मन्त्र के भिन्न-भिन्न देवताओं के होने में कोई विरोध नहीं है। और्णनाभ के मत से इस मन्त्र के देवता अश्विनी हैं। मन्त्र के पद ही देवला हैं, उनके अर्थ, देवता नहीं हैं। इत्यादि कथन में भी कोई विरोध नहीं है, क्योंकि ऋषियों के मतभेद से 'विनियोग, देवता आदि में भी भेद हो जाता है। 'बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी आदि से उनका समन्वय संभव हो जाता है। क्योंकि 'सर्वानुक्रमणी' और 'बृहद्देवता' का देवतावाद प्रामाणिक है। उसका आज तक कोई बाधक नहीं हुआ है। आर्षग्रन्थों में समन्वय ही अभीष्ट होता है। श्रौत-विनियोग के बल से "ऐन्द्रचा' इस ऐन्द्री ऋचा के 'कदाचन' इस मन्त्र का 'गार्हपत्य' के उपस्थान में विनियोग होता है। प्रमाणबल से तदनकूल अर्थ भी लिया जाने योग्य है। ऐश्वर्य के योग से गार्हपत्याग्नि भी 'इन्द्र' पद से सम्बोधित है। स्मार्त विनियोग के कारण 'शन्नोदेवी'' इस मन्त्र का 'शनि' पूजा में भी विनियोग होता है। विभिन्न प्रामाणिक ग्रन्थों और ऋषियों के परस्पर मतभेद होने पर अथवा एक ही प्रामाणिक ग्रन्थ में ऋषियों के मतभेद रहने पर सभी की आदरणीयता होती है। इसीलिये 'प्रसुष्टुति'' इस ऋचा में 'शाकपूणि' ने 'इलस्पति' को देवता कहा, 'गालव ऋषि' ने 'पर्जन्याग्नि' को, यास्कमहर्षि' ने 'पूषा' को और 'शौनकऋषि' ने 'इन्द्र' को तथा 'भागुरि' ने 'वैश्वानर' को देवता बताया है। ऋषियों के ये कथन भी विरुद्ध नहीं हैं, क्योंकि समानबल होनेपर विकल्प संभव हो जाता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि केवल कोई व्याख्याता, जो ऋषि नहीं है वह भी देवता या विनियोग की कल्पना करने लग जाय। मन्त्रार्थ दृष्टि के भेद से स्वामी दयानन्दोक्त देवताओं के समर्थन में 'उच्चावचै:' आदि जो प्रमाण के रूप में दिया जाता है, वह व्यर्थ है, क्योंकि वहाँपर मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की 'उच्चावचदृष्टि' कही गई है। स्वामी दयानन्दजी कोई मन्त्रद्रष्टा ऋषि नहीं हैं।

निरुक्त के परावर ज्ञाताओं में अधिक विद्यावान् प्रशस्त होता है'—इस कथन से स्वामी दयानन्दजी के परा-वरज्ञ होने के कारण उनकी 'देवताकल्पना' का समर्थन, जो समाजी लोग करते हैं, वह भी कुश-काशावलम्बन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। क्योंकि आशय को बिना समझे ही यह कहा गया है। उक्त वचन के द्वारा ऋषि के अति-रिक्त या तपस्वी के अतिरिक्त किसी पुरुष का देवता आदि के निर्धारण में स्वातन्त्र्य नहीं है। अपितु अनेक पारोवर्य-वेत्ताओं में से अधिक विद्वान को प्रशस्त कहा गया है। इसपर दुर्गाचार्य की व्याख्या है—वहाँ पहिले यह कहा गया है कि मन्त्रार्थ के चिन्तन में प्रवीणता प्राप्त होनेपर भी श्रुति से भी केवल तर्क के आधार पर पृथक् करके मन्त्रों की व्याख्या करनी चाहिये। ऋषि या तपस्वी के अतिरिक्त किसी पुरुष को मन्त्रों का प्रत्यक्ष नहीं है। इस मन्त्र में 'सविता देवता का निर्णय करने में श्रुति सहायक नहीं है, क्योंकि वैसा कहीं उल्लेख नहीं है। किञ्च मन्त्र का व्याख्यान, प्रकरण के अनुरोध से ही होना चाहिये। जहाँ कहीं तर्क या बहुश्रुतता के आधार पर प्रकरण के बिना ही मन्त्रों का व्याख्यान नहीं किया जाता। मन्त्रों की व्याख्या प्रकरण के अनुसार ही होनी चाहिये। ये प्रकरण—यज्ञ, देवता, अध्यात्म, इति-हासानुप्रवेश हैं।

यदि यह कहा जाय कि वेदाध्यायी विद्वान् प्रकरण भी जान सकता है, तो उसपर कहना यह है कि इन प्रक-रणों का प्रत्यक्ष ऋषि से भिन्न या तपस्वी से भिन्न किसी अन्य पुरुष को नहीं हुआ करता। जो उपदेश प्राप्त करनेवाले हैं उनके प्रति यह कथन है कि उन परावरज्ञ अर्थात् मन्त्रार्थों के पर—अवरभाव को जाननेवालों में अधिक विद्याभ्यासी तथा बहुश्रुत पुरुष मन्त्रार्थ के ज्ञान में प्रशस्त माना गया है। आधुनिक स्वामी दयानन्द आदि ऋषि नहीं हैं। यह बात भी वहीं के पर्यालोचन से ज्ञात होती है। ऋषियों ने उत्क्रमण करते हुए देवताओं से पूछा कि 'हमारा ऋषि कौन होगा ? तब देवताओं ने कहा कि 'तुम्हारा ऋषि तर्क होगा। मन्त्रार्थ की चिन्ता में ऊहापोह ही 'तर्क' है। इससे स्पष्ट होता है कि सभी 'ऋषि' नहीं होते हैं। ऋषियों से भिन्न सभी पुरुषों

को निरुक्त आदि आर्ष ग्रन्थों के आधार पर ही मन्त्रों के अर्थों का ज्ञान होना सम्भव होता है। दुर्गाचार्य ने कहा है कि निरुक्त शास्त्र में परिश्रम किये हुए जो विद्वान् हैं, वे मन्त्रार्थ के विषय में जो कुछ विचार करते हैं, उन्हें आर्ष कहते हैं। वे अपनी इच्छा के अनुसार स्वतन्त्ररूप से मन्त्रार्थ नहीं बताया करते हैं। इतना ही नहीं, महर्षि यास्क ने निरुक्त विद्या का भी 'तप के द्वारा 'पर' की अभिलाषा करनी चाहिये'—कहा है। 'अपनी आयु की इच्छा रखनेवाले को मनमाना निर्वचन नहीं करना चाहिये'—यह भी उन्होंने कहा है ॥ १ ॥

ॐ

'वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि विश्वधा असि । परमेण धाम्ना दृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ॥२॥'

—(वा० सं० १।२)

१—"वसोः पवित्रमिति पवित्रमस्यां बध्नाति कुशौ' (का० श्रौ० सू० ४।२।१५) 'त्रिवृद्वा' (का० श्रौ० सू०-४।२।१६) अस्यां शाखायां कुशावेव पवित्रं बध्नीयात् । इति प्रथमसूत्रार्थः । द्वौ कुशौ कुशत्रयं वा पवित्रमुच्यते । अथवा त्रिवृत्=त्रीणि दर्भतृणान्येव पवित्रं शाखायां बध्नीयात् । इति द्वितीय सूत्रार्थः । एतत्पवित्रबन्धनं शाखोपगूहनात् पूर्वमेव कार्यम् । पाठक्रमादार्थक्रमो बलीयानिति न्यायात् ।

वसोः वासयति वृष्ट्यादिद्वारा स्थापयति विश्वमिति वसुर्यज्ञः । 'यज्ञो वै वसुः' (श० १।७।१।९) इति श्रुतेः । तस्य । यज्ञशब्देन तदीयहविर्द्रव्यरूपं सानाय्यं लक्ष्यते । हे दर्भमय पवित्र वसोः इन्द्रदेवताया निवासहेतोः पयसः शोधकं पवित्रं त्वमसि । अनेन मन्त्रेण पवित्रं निर्माय पर्णशाखायां बध्नीयात् ।

२—प्रोक्ते 'द्यौरसीति स्थाल्यादानम्' (का० श्रौ० सू० ४।२।१९) वत्सं संसृज्य 'उपसृष्टा' इति दोग्ध्रा प्रोक्ते अध्वर्युः द्यौरसीति मन्त्रेण स्थाल्यादानं कुर्यात् इति सूत्रार्थः । यस्यां स्थाल्यां क्षीरं प्रक्षेप्तव्यं तद्ग्रहणार्थोऽयं मन्त्रः ।

द्यौरसि । हे स्थालि मृज्जलाभ्यां निष्पन्ना त्वं द्यौरसि जलहेतुवृष्टिप्रदद्युलोकरूपासि । द्युसम्बन्धात् तद्रूपत्वमस्यामुपचर्यते ।

तथा पृथिव्यसि पृथिव्याः सकाशादुद्धृतया मृदा निष्पन्नत्वात् त्वं पृथिवीरूपासि ।

'मातरिश्वन इत्याधिश्रयति' (का० श्रौ० सू० ४।२।२०) मातरिश्वन इति मन्त्रेण गार्हपत्यादुदीचोऽङ्गारान्निरुह्य तेषूखामधिश्रयेदिति सूत्रार्थः ।

हे उखे त्वं मातरिश्वनः मातरि अन्तरिक्षे पूर्वयति गच्छति वर्धते वेति मातरिश्वा वायुः, तस्य । अथवा मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति चेष्टते इति मातरिश्वा वायुः । तस्य । छान्दसो न कारः । घर्मः जिघर्तीति घर्मः दीपकः । घृक्षरणदीप्त्योः) सञ्चारस्थानप्रदानेन वायोर्दीपकः अभिव्यञ्जकः अन्तरिक्षलोकरूपासि । यतो हि तवोदरेऽपि अन्तरिक्षरूपस्य अवकाशस्य सद्भावः ।

उखायाः लोकत्रयरूपत्वात् त्वं विश्वधासि विश्वं दधातीति विश्वधाः विश्वधारणसमर्थासि ।

१—श्रौतसूत्र के अनुसार शाखा में पवित्र को बाँधना चाहिये । दो या तीन कुशों को 'पवित्र' कहते हैं । यह पवित्र का बन्धन शाखोपगूहन से पूर्व करना चाहिये । क्योंकि पाठ क्रम की अपेक्षा आर्थक्रम बलवान् माना गया है । 'यज्ञो वै वसुः' श्रुति के अनुसार 'वसु' शब्द का 'यज्ञ' अर्थ है, और लक्ष्यार्थ 'सान्नाय्य हविर्द्रव्य' है । उस दर्भमय पवित्र से निवेदन किया जा रहा है कि इन्द्रदेवता के निवासहेतुभूत पयस् (दूध) के शोधक तुम हो । इस प्रकार 'वसोः पवित्रमसि' मन्त्र कहकर पवित्र का निर्माण करे और पर्णशाखा में उसे बाँध दे ।

२—तदनन्तर दोग्धा के कहनेपर 'द्यौरसि' मन्त्र से 'स्थाली' का ग्रहण करे । और उससे कहे कि हे स्थालि !

यत: एवंरूपा अत: त्वं परमेण उत्तमेन धाम्ना बहुक्षीरधारणसामर्थ्यरूपेण तेजसा दृंहस्व दृढाभव । त्वनिष्ठस्य क्षीरस्य गलनं वारयितुमिति शेष: । अन्यथा भग्नायास्तव छिद्रेण क्षीरं गलेत् । यद्यपि धातुपाठे वृद्धचर्थोऽयं स्मर्यते तथापि दाढर्चे सति भङ्गाभावेन चिरमवस्थानात् दाढर्चं नाम स्थितौ कालवृद्धिरेव ।

३—किञ्च हे उखे त्वं मा ह्वा: कुटिला मा भव । यद्युखा कुटिला तिरश्चीना स्यात् तदापि तस्या: सकाशात् क्षीरं गलेत् । अत: क्षीरधारणाय दाढर्चमकौटिल्यमर्थ्यते ।

किञ्च ते यज्ञपति: त्वत्सम्बन्धी यजमान: मा ह्वार्षीत् । त्वन्निष्ठक्षीरस्कन्दनेन अनुष्ठानविघ्न एव यजमानस्य कौटिल्यम् । तच्च त्वदीयेन दाढर्चेन कौटिल्याभावेन च न भविष्यतीति प्रार्थ्यते ।

'त्रयो घर्मा अग्निवायुसूर्यदेवत्या: । 'साधवे त्वेति । अयं वै साधुर्योऽयं पवते' (श० १४।१।२।२३) इति श्रुते: अयं मध्यमो घर्म: स त्वमसि । यतश्च त्वं वायुरत: विश्वधा असि सर्वस्य धारयिता भवसि । किञ्च परमेण धाम्ना दृंहस्व । धामानि त्रीणि भवन्ति:स्थानानि नामानि जन्मानि च । अत: उत्कृष्टेन नाम्नाभिहिता सती घर्मोसीत्यादिनेत्यर्थ: । आत्मानं दृढीकुरुष्वेति उव्वटाचार्य: ।

[अत्र ब्राह्मणम्—'तस्यां पवित्रं करोति । वसो: पवित्रमसीति यज्ञो वै वसुस्तस्मादाह वसो: पवित्रमसीति' (श० १।७।१।६) ।

इदानीं दोहनार्थं शाखायां समन्त्रकं पवित्रवन्धनं बिधत्ते—तस्यां पवित्रमिति । दोहनार्थं तस्यां शाखायां पवित्रं कुशद्वयात्मकं त्रिवृतं करोति बन्धीयात् । तथा च सूत्रम् – वसो: पवित्रमिति पवित्र मस्यां बध्नाति कुशौ' (का० श्रौ० सू० ४।२।१५) 'त्रिवृद्वा' (का० श्रौ० सू० ४।२।१६) इति ।

'अथोखामादत्ते । द्यौरसि पृथिव्यसीत्युपस्तौत्येवैनामेतन्महयत्येव यदाह द्यौरसि पृथिव्यसीति मातरिश्वनो घर्मोऽसीति यज्ञमेवैतत्करोति यथा घर्मं प्रवृञ्ज्यादेव प्रवृणक्ति विश्वधा असि परमेण धाम्ना दृꣳहस्व माह्वारिति दृꣳहत्येवैनामेतदशिथिलां करोति मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीदिति यजमानो वै यज्ञपतिस्तद्यजमानायैवैतदह्वलामाशास्ते ।' (श० १।७।१।११) ।

अत्र सायण:—अध्वर्यो: समन्त्रकं स्थाल्यादानं विधत्ते अथोखामिति । उखाया: द्युपृथिव्यात्मकत्वस्य कदाचिदप्यसम्भवात् उपस्तुतिमात्रमिदमित्याह—उपस्तौत्येवेति । सापि किमर्थेत्यत आह—महयत्येवेति । स्तुत्या पूजनं लोके प्रसिद्धम् । अधिश्रयणे मन्त्रमाह—मातरिश्वन इति । मातरि अन्तरिक्षे श्वयतीति मातरिश्वा । वायुरादित्यो वा (नि० ७।२६) । तस्य घर्मस्त्वमसि । तेन दीप्यमानत्वात् एतत्पाठेन यज्ञमेव कृतवान् भवति । तदुपपादयति—यथेति । यज्ञे

मृत्तिका और जल से निष्पन्न हुई तुम 'द्युलोकस्वरूप' हो । अर्थात् जलहेतुभूत वृष्टिप्रदायक द्युलोकरूप हो । और पृथ्वी से निकाली गई मृत्तिका से निष्पन्न होने के कारण तुम पृथ्वीस्वरूप हो । 'मातरिश्वा' शब्द का अर्थ वायु है । 'घर्म' शब्द का अर्थ, दीपक है । अत: हे उखे ! तुम वायु को सञ्चार करने के लिये स्थान प्रदान करने के कारण उसके दीपक हो अर्थात् अन्तरिक्ष लोकस्वरूप हो, क्योंकि तुम्हारे उदर में अन्तरिक्षरूप अवकाश का सद्भाव है । तुम लोकत्रय होने के कारण सम्पूर्ण विश्व को धारण करने में समर्थ हो । ऐसी तुम, विपुल क्षीर धारणसामर्थ्यरूप अपने तेज से सुदृढ़ हो जाओ । जिससे तुम्हारे भीतर स्थित क्षीर नीचे टपक न जाय ।

३—किञ्च हे उखे ! तुम तिरछी भी मत होना, अन्यथा क्षीर नीचे गिर जायगा । तब यजमान के यज्ञानुष्ठान में विघ्न (कौटिल्य) होगा । किन्तु जब तुम दृढ़ (ठीक-ठीक) रहोगी तो दूध के न गिरपाने से उसके अनुष्ठान में

यथा घर्मं प्रवर्ग्यं प्रवृञ्ज्यात् एवं स्थाल्यधिश्रयणेन प्रवृणक्ति प्रवर्ग्यं कृतवान् भवति । ह्वला नाशः, तदभावमाशास्ते मा ह्वार्षीदि त्यनेन । शेषं स्पष्टम् ।

४—अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे त्वं वसोः सर्वत्रैव निवसतः सर्वाधिष्ठानस्य सर्वात्मनः पवित्रं निष्कलुषमाविर्भावस्थलमसि । त्वमेव द्युरूपा पृथिवीरूपा चासि । हार्दाकाशे भगवदाविर्भावात् । ध्यानादिना तत्रैव प्राकट्यविस्ताराच्च । त्वमेव च मातरिश्वनो घर्मोऽसि ।' प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः' (छा० उ० ६।८।२) इति छान्दोग्यश्रुतेः । त्वं परमेण धाम्ना तेजसा दधाति स्वं रूपमिति धाम । परमात्मस्वरूपाविर्भावेण दृंहस्व स्थिराभव । मा ह्वाः कुटिला मा भव कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यादीनां कृते अवसरं मा दाः । तथाविधां त्वां यज्ञपतिः पालको विष्णुर्मा ह्वार्षीत् त्वत्तः प्रकटितस्वरूपलोपं मा कार्षीत् । सर्वदा प्रस्फुरेत् । अथवा यज्ञपतिर्यजमानः ध्याता जोवः त्वयि प्रकटस्य भगवत्स्वरूपस्य व्यापारान्तरेण लोपको माभूत् ।

५—स्वामिदयानन्दस्तु—'हे विद्वन्मनुष्य यो वसोः वसुरयं यज्ञः अत्र अर्थात् विभक्तेर्विपरिणामः, इति प्रथमाविभक्तिर्विपरिणम्यते । पवित्रम् पुनाति येन कर्मणा तत् । असि भवति । द्यौः विज्ञानप्रकाशहेतुः । असि भवति । पृथिवी विस्तृतः । असि भवति । मातरिश्वनः मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति आश्वनिति वा तस्य वायोः । घर्मः अग्नितापयुक्तः शोधकः । घर्म इति यज्ञनामसु पठितम् (निघ० ३।१७) असि भवति । विश्व धा असि । विश्वं दधातीति संसारस्य सुखधारको भवति । परमेण प्रकृष्टसुखयुक्तेन । धाम्ना सुखानि यत्र दधति तेन । बाहुलकात् डुधाञ् धातोर्मनिन प्रत्ययः । दृंहस्व वर्धते । अत्र पुरुषव्यत्ययो लडर्थे लोट् च । मा निषेधार्थे । ह्वाः ह्वरतु । अत्र लोडर्थे लुङ् । मा निषेधार्थे । ते तव यज्ञपतिः यज्ञस्य स्वामी यज्ञकर्ता यजमानः । ह्वार्षीत् ह्वरतु ह्वरवेति, तत्तुच्छम् । श्रुतिसूत्रविरोधात् । विपरिणामबाहुल्यात्, व्यर्थविशेषणाच्च । परमेणेति पदस्य प्रकृष्टसुखयुक्तेनेति कथङ्कारमर्थः ? यद्येष एवार्थ उररीक्रियते तर्हि धाम्नेतिपदे सुखानि यत्र दधतीति व्याख्याने सुखानीति पदं व्यर्थमेव । द्यौः शब्दस्य विज्ञानप्रकाशहेतुः कथमर्थः ? अन्वये तु सूर्यरश्मिस्थ इत्यर्थः कृतः । कतरोऽर्थः साधीयान् ? यज्ञः परमेण धाम्ना सह वर्धते । यः यज्ञः सुखधारकेण धाम्ना वर्धते कथङ्कारं कश्चन सचेताः तं त्युक्तुं प्रभुः स्यात् ? इति मा त्यजेत्युपदेशोऽप्यपार्थक एव । अत्र यज्ञस्वरूपप्रतिपादनमपेक्षित-

---

कोई विघ्नबाधा नहीं होगी । इसी अभिप्राय को शतपथ ब्राह्मण ने भी अच्छी तरह से स्पष्ट किया है, जिसे सायणाचार्य ने और भी अधिक सरलता से बताया है ।

४—अध्यात्मपक्ष में प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा—हे बुद्धे ! तुम ही सर्वव्यापक सर्वाधिष्ठानभूत सर्वात्मा के आविर्भाव का पवित्र-स्थान हो । हृदयाकाश में भगवान् का आविर्भाव होने से तुम ही द्युरूप और पृथिवीरूप हो । परमात्म स्वरूप के आविर्भावार्थ तुम स्थिर रहो । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सरादि दोषों के लिये अवसर मत देना । तब यज्ञपति भगवान् विष्णु तुम में सर्वदा प्रस्फुरित होते रहेंगे । अथवा यज्ञपति यजमान और ध्याता जीव तुम में प्रकट हुए भगवत्स्वरूप का किसी अन्य व्यापार से लोप न कर सकें ।

५—स्वामी दयानन्द जी प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—"हे विद्वन्मनुष्य ! अर्थात् मन्त्र में प्रयुक्त 'वसोः' इस षष्ठचन्त पद को वे सम्बोधन का रूप समझ रहे हैं । किन्तु मन्त्र में 'वसोः' पद सम्बुद्धचन्त नहीं है । 'वसोः' इसकी षष्ठी का 'वसुः' यह प्रथमा विभक्ति में विपरिणाम कर दिया है । 'दृंहस्व' पद, मन्त्र में है, जो लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एक वचन का है, किन्तु यहाँ पर भी पुरुषव्यत्यय करके 'वर्धते अर्थ कर रहे हैं । और स्वेच्छानुसार अर्थ कर दिया है । किन्तु वह अर्थ, श्रुति और सूत्र के विरुद्ध होने से अप्रामाणिक है । इस प्रकार के अर्थ में विपरिणाम तथा व्यर्थ विशेषणादि दोष हो गये हैं । 'द्यौः' शब्द का अर्थ, 'विज्ञानप्रकाशहेतु' बता रहे हैं । किन्तु अन्वय प्रदर्शन में 'सूर्यरश्मिस्थः' अर्थ कर रहे हैं । उक्त दो अर्थों में से कौन-सा अर्थ, ठीक है ? उसे स्वामी दयानन्दजी ही जानते होंगे, उनके पाठक की समझ के बाहर की बात है । 'मा त्यज' यह उपदेश करना भी व्यर्थ है । कौन ऐसा विवेकी होगा जो उस यज्ञ का त्याग करेगा । यज्ञ का स्वरूप, उसकी इति कर्तव्यता का प्रतिपादन इत्यादि जो अपेक्षित है, उसकी तो स्वामी

मासीत् । तत्र साधनमितिकर्त्तव्यता च वर्णनीयासीत् तदुपेक्ष्य कामकारतया यत्किञ्चित् व्याख्यायते इति प्रज्ञावतो हेयतैवात्र स्यात् । हे विद्वन्मनुष्येति सम्बुद्धेः मन्त्रे अभावाच्च । (वा० सं० १।२) ।

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम् । देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा कामधुक्षः ॥ ३ ॥
(वा० सं० १।३)

१—'वसोः पवित्रमिति पवित्रमस्यां करोत्युदग्वा' (का० श्रौ० सू० ४।२।२१) अध्वर्युः स्थाल्या उपरि शाखा-पवित्रमुदगग्रं प्रागग्रं वा स्थापयेत् इति सूत्रार्थः । अस्यामुखायां स्थापनीयस्य पवित्रस्य प्रागग्रत्वं सामान्यतः प्राप्तमिति सिद्धवत्कृत्वोदगग्रत्वं विकल्प्यते ।

हे शाखापवित्र त्वं वसोः इन्द्रदेवतानिवासहेतोः पयसः पवित्रं शोधकम् असि । क्षीरेण सह स्थाल्यां पततां तृण-पर्णादीनां पवित्रेण व्यवधाने सति प्रतिबध्यमानत्वात् पवित्रस्य क्षीरशोधकत्वम् । कथंभूतं पवित्रम् ? शतधारम् शतं धारा यस्मिंस्तत् तथोक्तम् । तथा सहस्रधारम् सहस्रं धारा यस्मिंस्तत् तथोक्तम् । पवित्रच्छिद्रैः स्थाल्यां पतन्तीनाम् क्षीर-धाराणाम् शतसहस्रसंख्याकानाम् सद्भावात् शोधकत्वमाहतुम् वसोः पवित्रमिति द्विरुक्तिः । 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (नि० १०।४२) इति निरुक्तवचनात् । शब्दाभ्यासे यत्रान्यविशेषो नास्ति तत्रैवं विशेषमाचार्या मन्त्रार्थसतत्त्वविदो मन्यन्ते यदुतार्थभूयस्त्वमिति भगवान् दुर्गः । अथवा अर्थभूयस्त्वात् अनन्तधारमर्थः ।

'स्थाल्यन्वारब्धे देवस्त्वेत्यासिच्यमाने जपति' (का० श्रौ० सू० ४।२।२३) स्थालीमन्वारब्धे यजमाने दोग्धा गां दुग्ध्वा स्थाल्यामासिच्यमाने पयसि धृतशाखापवित्रोऽध्वर्युः देवस्त्वेति मन्त्रं पठेत् इति सूत्रार्थः ।

देवस्त्वेति पयोदेवता । दोहनादूर्ध्वं स्थाल्यामासिच्यमान हे क्षीर ! सविता प्रेरको देवः त्वा त्वां पुनातु शोध-यतु निर्दोषं करोतु । केन पवित्रेण । कथंभूतेन शतधारेण । पुनः कथंभूतेन पवित्रेण सुप्वा सुष्ठु पुनातीति सुपु तेन सुप्वा । 'इकोऽचिविभक्तौ' (पा० सू० ७।१।७३) इति नुमागमाभाव आर्षः । साधुपवनेन पवित्रेण ।

'कामधुक्ष' इति प्रश्नः' (का० श्रौ० सू० ४।२।२४) कामधुक्ष इति दोग्धारं प्रति अध्वर्योः प्रश्नः ।

एकस्यां गवि दुग्धायां दोग्धारम् अध्वर्युः पृच्छेत् । हे दोग्धः क्विमात्रानां वह्वीनां गवां मध्ये त्वं कां गामधुक्षः दुग्धवानसि ।

अत्र ब्राह्मणम्—'वसोः पवित्रमसीति । यज्ञो वै वसुस्तस्मादाह वसोः पवित्रमसीति शतधा ॅ सहस्रधार-मित्युपस्तौत्येवैरदेतन्महयत्येव यदाह शतधार ॅ सहस्रधारमिति ।' (श० १।७।१।१४) ।

स्पष्टार्थं ब्राह्मणम् ।

दयानन्दजी ने उपेक्षा करदी है और स्वेच्छानुसार अनावश्यक यत्किञ्चित् व्याख्या करते चले गये, जो विचारशील मनीषी की दृष्टि से हेयकोटि की ही समझी जावेगी ।

१—अध्वर्यु के द्वारा स्थाली पर उदगग्र अथवा प्रागग्र स्थापित किये हुए शाखा पवित्र से प्रार्थना की जा रही है—हे शाखापवित्र ! तुम इन्द्रदेवता के निवास हेतुभूत पयस् (दूध) के शोधक हो । क्योंकि दूध के साथ ही स्थाली में गिरने वाले तृण-पर्ण आदि का वह 'पवित्र', प्रतिबन्धक होने से उसे क्षीर का शोधक कहा गया है । पवित्र-

'तदानीं यजमानमभिमन्त्रयते। देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वेति।' (श० १।७।१।१६)।

पयस आसेचनसमये अध्वर्योर्जयं विधत्ते—तदानीं यमानमिति। अभिमन्त्रणम् आभिमुख्येन जपः। शेषं स्पष्टार्थम्।

२—अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे त्वं वसोः सर्वत्र निवसतः परमात्मनः पवित्रं प्राकटचस्थानमसि यतः, अतः शतधारम् स्वीयायां शतधारायां वृत्तौ सहस्रधारायां वा वृत्तौ सर्वत्रैव परमात्मानमाविर्भावयितुं यत। सविता सर्वं प्रेरकः देवः द्योतनात्मकः परमात्मा त्वा त्वां शतधारेण शतधा अरति गच्छति प्रादुर्भवतीति शतधारम् (भावप्रधानो निर्देशः) सहस्रधाविर्भावकारणेन पवित्रेण सुप्वा परमपावनेन परमशोभनेन च स्वस्वरूपेण पुनातु। उदीयमानासु बुद्धेः सर्वासु वृत्तिषु कामधुक्षः कां स्वीयां वृत्तिं भगवदाविर्भावेण प्रपूरितवत्यसि।

३—स्वामिदयानन्दस्तु—'वसोः, वसुर्यज्ञः। पवित्रं शुद्धिकारकं कर्म। असि अस्ति। अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः। शतधारम् शतं बहुविधमसंख्यातं विश्वं धरतीति तम्। शतमिति बहुनामसु पठितम्। (निघ० ३।१) पवित्रम् शुद्धिनिमित्तम्। असि अस्ति। सहस्रधारम् सहस्रं बहुविधं ब्रह्माण्डं धरतीति। तं यज्ञम्। सहस्रमिति बहुनामसु पठितम्। (निघ० ३।१) देवः स्वयंप्रकाशस्वरूपः परमेश्वरः। त्वा तं यज्ञम्। सविता सर्वेषां वसूनामग्निपृथिव्यादीनाम् त्रयस्त्रिंशतो देवानाम् प्रसविता। 'सविता वै देवानां प्रसविता (श० १।१।२।१७) पुनातु पवित्री करोतु। वसोः पूर्वोक्तो यज्ञः। पवित्रेण पवित्रतानिमित्तेन वेदविज्ञानकर्मणा। शतधारेण बहुविद्याधारकेण परमेश्वरेण वेदेन वा। सुप्वा सुष्ठुतया पुनाति पवित्रताहेतुर्वा तेन। काम् कां कां वाचम्। अधुक्षः दोग्धुमिच्छसीति प्रश्नः। लडर्थे लुङिति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारात्. असामञ्जस्यात्। श्रुतिसूत्रविरोधाच्च। यत्तदोरध्याहारे मूलाभावात्। वसुर्यज्ञः स्वयं शतधा शुद्धिकारकः। तमपि सविता देवः पुनातु इत्यसमञ्जसम्। अन्वयार्थे तु हे जगदीश्वर भवान् तेन अस्माभिरनुष्ठितेन यज्ञेन अस्मान् पुनातु इति,

---

गत छिद्रों में से होकर स्थाली में गिरनेवाली सैंकड़ों-सहस्रों क्षीरधाराओं के होने से आजकल की चलनी (छन्ने) की तरह वह क्षीरशोधन का काम करता है। यहाँ 'शत' 'सहस्र' का अर्थ अनेक या अनन्त है।

दोहन के बाद स्थाली में रहनेवाले हे क्षीर ! प्रेरक सविता देव तुम्हें दोषरहित करे। एक गौ के दुहनेपर अध्वर्यु, देग्धा से 'कामधुक्षः' यह प्रश्न करता है, क्योंकि गोशाला में गौएँ अनेक हैं, उनमें से किस गौ को तुमने दोहा है ?

२—अध्यात्मपक्ष में— हे बुद्धे ! तुम सर्वव्यापक परमात्मा के प्रकट होने के लिये पवित्र स्थान हो। अतः अपनी सैंकड़ों, अथवा हजारों वृत्तियों में अर्थात् सर्वत्र ही उसे आविर्भूत करने का प्रयत्न करो। सर्वप्रेरक परमात्मा शतधा सहस्रधा प्रकार से प्रकट होनेवाले अपने परमपावन और परम सुन्दर स्वरूप से तुम्हें पवित्र करे। उदीयमान होनेवाली अपनी समस्त वृत्तियों में से किस वृत्ति को भगवदाविर्भाव से तुमने पूरित किया है।

३—स्वामी दयानन्दजी ने इस मन्त्र का अर्थ करते हुए सर्वत्र पुरुष व्यत्यय किया है, जो शास्त्रदृष्टचा अनुचित है। 'वसोः' इस षष्ठचन्त पद का अर्थ, प्रथमान्त पद के रूप में 'पवित्र शुद्धिकारक कर्म' करते हैं। यज्ञ, असंख्यात विश्व को धारण करता है, वह शुद्धि का निमित्त है। सहस्र अर्थात् बहुविध ब्रह्माण्ड को धारण करनेवाले उस यज्ञ को वसु, अग्नि, पृथिवी आदि तैंतीस देवताओं का प्रसविता देव, पवित्र करे। 'वसोः अर्थात् पूर्वोक्त यज्ञ, पवित्रता के निमित्तभूत वेदविज्ञानरूप कर्म से अथवा परमेश्वर से या वेद से किस किस वाणी को दोहना चाहते हो ? यह प्रश्न किया गया है।' किन्तु उनका यह अर्थ भी अकिञ्चित्कर है। क्योंकि इस प्रकार का अर्थ अध्याहार आदि के द्वारा बड़ी खींचतान से उन्होंने किया है। इस अर्थ में कोई सामञ्जस्य नहीं है, और श्रुति के साथ तथा सूत्र के साथ विरोध भी है। यत्-तत् का अध्याहार भी निर्मूल ही है। जो यज्ञ, शतधा शुद्धिकारक है, उसे भी सविता देव पवित्र करे—इस प्रकार अर्थ करने में कोई सामञ्जस्य ही नहीं है। अन्वयार्थ करते समय तो यह बता रहे हैं कि 'हे जगदीश्वर ! आप, हमारे द्वारा अनुष्ठित किये गये यज्ञ से हमें पवित्र करें। और भावार्थ करते समय कह रहे हैं कि 'जो मनुष्य पूर्वोक्त यज्ञ को

भावार्थे तु ये मनुष्याः पूर्वोक्तं यज्ञमनुष्ठाय पवित्रा भवन्ति एतेभ्यो बहुविधं सुखं ददाति ये क्रियावन्तः परोपकारिणः सन्तिः ते सुखमाप्नुवन्ति नेतरे इति । हे विद्वन् जिज्ञासो इत्यादीनामर्थानां मन्त्र अभावात् । श्रुतिसूत्रविरोधस्तु स्फुट एव ॥ (वा० सं० १।३) ।

'सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः । इन्द्रस्य त्वा भाग ७ँ सोमेनातनच्मि विष्णो हव्य ७ँ रक्ष ॥ ४ ॥'

(वा० सं० १।४)

१—'प्रोक्ते सा विश्वायुरित्याह' (का० श्रौ० सू० ४।२।२५) दोग्ध्रा अमूम् गङ्गामिति वा गोनाम्नि प्रोक्ते अध्वर्युः 'सा विश्वायुरिति मन्त्रं ब्रूयात् । इति सूत्रार्थः ।

'एवमितरे उत्तराभ्यां प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० सू० ४।२।२६) अनेनैव प्रकारेण गां धुक्ष्वेत्यादिना इतरे द्वे गावौ अध्वर्युः उत्तराभ्यां सा विश्वकर्मा, सा विश्वधायाः इति मन्त्राभ्यां प्रतिमन्त्रमेकैकां गामभिदधत् दोहयेत् इति सूत्रार्थः ।

या गौस्त्वया दुग्धा मया च पृष्टा सा विश्यायुःशब्दाभिधेया । विश्वायुः विश्वमायुर्यस्याः सा । यजमानस्य पुरुषायुषमायुः प्रयच्छतीत्यर्थः ।

यथा प्रथमा गौः पृष्टा एवमितरे द्वितीयतृतीये गावौ तद्दोहनादूर्ध्वं कामधुक्ष इति मन्त्रेण प्रष्टव्ये । दोग्ध्रा सूक्त-रेऽमूमिति प्रोक्ते सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः इति मन्त्राभ्यां क्रमेण तयोराशिषं ब्रूयादध्वर्युः । या द्वितीया गौस्त्वया दुग्धा मया च पृष्टा सा विश्वकर्मा, या तृतीया गौस्त्वया दुग्धा मया च पृष्टा सा विश्वधायाः । विश्वस्य जगतः कर्म कर्त्री, विश्वधायाः विश्वान् सर्वान् देवान् धापयति क्षीरदध्यादिहविर्दानेन पुष्णातीति पाययतीति वा विश्वधायाः । धयतेर्णिजन्तस्य असुनि प्रत्यये रूपम् । यज्ञादेव सर्वाः प्रजाः प्रजायन्ते । तस्य गोषूपचारः ।

'उद्वास्यातनक्ति प्राग्घुतशेषेणेन्द्रस्य त्वेति' (का० श्रौ० सू० ४।२।३३) ।

२—अध्वर्युः पयः श्रपयित्वा उद्वास्य प्राक् पूर्वं चतुर्दश्यां सायं हुतशेषेण दधिभावमापादितेन आतनक्ति कठि-नीभवनार्थम् । अर्थात् दधित्वसम्पत्त्यर्थं दुग्धमध्ये दधिप्रक्षिपतीत्यर्थः । इन्द्रस्य त्वेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः ।

आतनच्मि । क्वथितं क्षीरमग्नेरुद्वास्य मन्दोष्णे तत्र प्रातःकालिकहोमावशिष्टेन दध्ना तत्र दधिनिष्पत्तये

अनुष्ठान करके पवित्र होते हैं, उन्हें वह बहुविध सुख देता है जो क्रियावान् हैं, परोपकारी हैं, वे सुख पाते हैं, जो अन्य लोग वैसे नहीं हैं, वे सुख नहीं पाते हैं । पाठक लोग स्वयं देख लें कि मन्त्र में 'विद्वन्', 'जिज्ञासो' इत्यादि अर्थों के वाचक किसी शब्द के न रहने पर भी 'अर्थात्' शब्द से ही अर्थ कर दिया है, परन्तु वह अर्थ, किस शब्द का कर रहे हैं,—इस बात को उन्होंने सोचा ही नहीं । श्रुति, सूत्र से जो विरोध हो रहा है, वह तो स्पष्ट ही है ।

१—जिस गौ को तुमने दुहा है, जिसके बारे में मैंने पूछा था वह 'विश्वायु' नाम की है । वह यजमान को पुरुष की पूर्ण आयु प्रदान करती है । जो दूसरी गौ तुमने दुही है, वह 'विश्वकर्मा' है । जो तीसरी गौ तुमने दुही है, वह 'विश्वधाया है ।

२—अध्वर्यु उस दूध को तपाने के अन्तर उसे उतारकर पूर्वदिन चतुर्दशी के सायं, प्रातः हवन करके शेष रहे हुए दूध में आतञ्चन करता है, यानी दही जमाने के लिये दूध में दही डालता है । हे क्षीर ! तुम इन्द्र देवता के 'भाग'

आतञ्चनं कुर्यात् । हे क्षीर इन्द्रस्य भागं त्वां सोमेन सोमवल्लीरसेन आतनच्मि दध्यर्थं सङ्कोचनं करोमि । तञ्चतिः सङ्कोचनार्थः । घनीभावेनैव तरलं द्रव्यं संकुचति । अतः घनीभावमापाद्य कठिनीकरोमीत्यर्थः ।

३—यद्यप्यत्र आतञ्चनहेतुर्दधिशेषस्तथापि भावनया तस्यैव सोमत्वं सम्पाद्यत इत्यर्थः । यथा कश्चित् पुमान् बन्धुत्वेन भावितो बन्धुर्भवति प्रातिकूल्येन भावितश्च शत्रुः । तथा चोक्तवान् वशिष्ठः—

'बन्धुत्वे भावितो बन्धुः परत्वे भावितः परः ।
विषामृतदृशैवेह स्थितिर्भावनिबन्धना ॥' इति ।

भोज्यं वा विषत्वेन भावितम् वान्तिं करोति । अमृतत्वेन च भावितम् जीर्णं सद्बलहेतुर्भवति । तथा च दधिशेषस्य भावनया सोमत्वम् ।

'सोदकेनापि दधात्यमृण्मयेन विष्णो हव्यमिति (का० श्रौ० सू० ४।२।३४) सोदकेन अमृतमयेन उत्तानेन पात्रेण दोहस्थालीं विष्णो हव्यं रक्षेति मन्त्रेण दोहस्थालीं पिदध्यात् ।

हे विष्णो इदं हव्यं क्षीरं रक्ष गोपाय ।

सर्वत्र सृष्टौ पालने संहारे च ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा अभिमानिनो देवाः इति विष्णुं सम्बोध्य हविषो रक्षा प्रार्थ्यते । यथाह श्रीमद्भागवतम्—'सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते । स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः' (श्री० भा० म० पु० १।२।२३) ।

अथवा यज्ञपुरुष एव प्रार्थ्यते । 'यज्ञो वै विष्णुः' (श० १।१।२।१३) इतिश्रुतेः ।

४—अध्यात्मपक्षे—ननु कामधुक्षः कां स्वीयां वृत्तिं पूरितवत्यसीति प्रश्नो मुधैव । यतो हि परिणमद्भिः आक्रान्तैव सर्वापि बुद्धेर्वृत्तिरुदेति । सर्वासामपि वृत्तीनां परमात्मभावेन पूरणं विधातव्यमिति तत्राह—सा विश्वायुः इति । सा सत्त्वपरिणामाक्रान्ता वृत्तिः विश्वेभ्योऽपि आयुः प्रयच्छति । सा रजः परिणामाक्रान्ता वृत्तिः विश्वकर्मा

हो । इसलिये सोमवल्ली के रस से तुम्हारा आतञ्चन करता हूँ । अर्थात् दही के लिये तुम्हारा सङ्कोचन करता हूँ । घनीभाव होने से ही तरल द्रव्य संकुचित होता है । अतः तुम्हें घनीभाव को प्राप्त कराकर गाढ़ा (चक्का) कर रहा हूँ ।

३—यद्यपि यहाँपर आतञ्चन में हेतु, दधिशेष है, तथापि उसी में 'सोम' की भावना की जा रही है । जैसे किसी पुरुष में बन्धुत्व की भावना करने से उसे 'बन्धु' मान लिया जाता है, उसमें प्रतिकूलता की भावना करने से 'शत्रु' मान लिया जाता है । इस प्रकार की बुद्धि 'भावनिबन्धन' ही हुआ करती है । किसी भोज्य पदार्थ में विष की भावना हो जाने पर 'वान्ति' हो जाती है, और उसी में अमृत की भावना रहने पर, वही भोज्य पदार्थ, जीर्ण होकर सद्बलदायक होता है । उसी तरह यहाँ भी दधिशेष में सोम की भावना की गई है । दोहस्थाली पर अमृण्मय उत्तान पात्र ढ़क देता है कि हे विष्णो ! इस क्षीर भूत हव्य की रक्षा करो । सर्वत्र सृष्टि, उसके पालन, और उसके संहार करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर संज्ञक देवता होते हैं । श्रीमद्भागवत में भी इसी बात को बताया गया है । अथवा यह भी कह सकते हैं कि 'यज्ञपुरुष' की ही प्रार्थना की गई है, क्योंकि वही तो विष्णु है—'यज्ञो वै विष्णुः' इस प्रकार ब्राह्मण बता रहा है ।

४—'अध्यात्म पक्ष में उक्त मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा—

शङ्का—'कामधुक्षः' अर्थात् बुद्धि ने अपनी किस वृत्ति को पूर्ण कर लिया है ?—यह प्रश्न करना तो व्यर्थ ही है । क्योंकि परिणत होनेवाले सत्त्वरजस्तमोगुणों के द्वारा आक्रान्त होकर ही समस्त बुद्धिवृत्तियाँ उदित हुआ करती हैं । अतः सभी वृत्तियों का पूरण परमात्मभाव से करना चाहिये ।

समा०—उस पर उत्तर दिया है कि 'वह विश्वायु' है । अर्थात् सत्त्व परिणाम से आक्रान्त हुई वह वृत्ति

विश्वमेव कर्म यस्या सा, सम्पूर्णविश्वनिर्मात्रीति यावत् । सा तमः परिणामाक्रान्ता वृत्तिः विश्वधायाः विश्वान् सर्वानपि प्राणिनः धापयति कर्मानुसारं भोगान् उपस्थापयति भोक्तुमिति विश्वधायाः ।

५—हे बुद्धे इन्द्रस्य परमैश्वर्यशालिनो भगवतः प्राकट्यस्थलत्वात् त्वं तद्भागरूपासि । तादृशीं त्वां सोमेन उमया सहितः सोमः साम्बसदाशिवः तेन । तद्ध्यानाभ्यासेनेति यावत् । आतनच्मि समन्तात् घनीभूतध्यानाय बहुवृत्तीरुदास्य स्वल्पानः कृत्वा वशीकृते मनसि ध्यानभावनां दृढां करोमि । हे विष्णो वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुस्तत्सम्बुद्धौ सर्ववृत्तिव्यापनशील परमात्मन् हव्यं हूयन्ते प्रीण्यन्ते देवा येन तत् देवप्रीतिकरं, ध्यानादिकं रक्ष । 'ईश्वराज् ज्ञानमिच्छेच्च मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात्' (म० पु० ६७।४१) इति मत्स्यपुराणवचनात् ।

६—स्वामिदयानन्दस्तु—'सा वाक् । 'वाग्वै यज्ञः' (श० १।१।४।११) विश्वायुः पूर्णमायुर्यस्यां सा ग्रहीतव्या । सा शिल्पविद्यासम्पादिका । विश्वकर्मा विश्वं सम्पूर्णं क्रियाकाण्डं सिध्यति यया सा । सा सम्पूर्णं विद्याप्रकाशिका । विश्वधायाः या विश्वं जगत् विद्यागुणैः सह दधाति सा । इन्द्रस्य परमेश्वरस्य यज्ञस्य वा । त्वा तम् । पुरुषव्यत्ययः । भागं भजनीयं शुभगुणभाजनं यज्ञम् । सोमेन शिल्पविद्याया सम्पादितेन रसेनानन्देन वा । आ समन्तात् तनच्मि सङ्कोचयामि दृढीकरोमि । हे विष्णो वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं विश्वमिति विष्णुः, तत्सम्बुद्धौ परमेश्वर । हव्यं पूर्वोक्तयज्ञसम्बन्धि दातुं ग्रहीतुं योग्यं द्रव्यं विज्ञानं वा । रक्ष पालये'ति ।

७—तदपि निःसारम् । यज्ञस्वरूपस्य अद्याप्यनिर्धारितत्वात् । सोमशब्दस्य शिल्पविद्यया सम्पादितो रसः कथमर्थः ? अन्वये तु 'हे विष्णो व्यापकेश्वर भवता या वाक् धार्यते' इत्युक्तम्, तदतीव निकृष्टम्, तव सिद्धान्ते ईश्वरस्य निराकारत्वात् । नहि वागिन्द्रियं विना वाग्धारयितुं शक्यते । साकारत्वे वा सिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गः ।

'विश्वायु' है । वह सम्पूर्ण विश्व को आयु प्रदान करती है । तथा रजः परिणाम से आक्रान्त होनेपर वह वृत्ति 'विश्वकर्मा' कहलाती है, अर्थात् सम्पूर्णविश्व का निर्माण करनेवाली होती है । और तमः परिणाम से आक्रान्त होनेपर वह वृत्ति 'विश्वधाया' कहलाती है । यानी सभी प्राणियों के कर्मानुसार उनके भोगों को उपस्थित कर देती है ।

५—हे बुद्धे ! परमैश्वर्यशाली भगवान् इन्द्रदेवता के प्रकट होने की तुम स्थली हो. इसलिये तुम उसकी भागस्वरूपिणी हो । अतः मैं तुम्हारा साम्ब सदाशिव के ध्यान का अभ्यास करते हुए आतञ्चन करता हूँ । यह सोम, प्रत्यक्ष साम्ब-सदाशिव है, क्योंकि 'उमया सहितः सोमः'—यह 'सोम' शब्द की निरुक्ति है । आतञ्चन कहने का तात्पर्य यह है कि घनीभूतध्यानावस्था प्राप्त करने के लिये नानाविध वृत्तियों को दूर कर मन को जब वशङ्कृत कर लिया जायगा तब ध्यानभावना दृढ़ होगी । हे विष्णो ! तुम सर्व वृत्तिव्यापनशील परमात्मा हो. अतः तुम देवताओं के लिये प्रीति कर हमारे ध्यान-धारणादि की रक्षा करो । पुराणों के भी उक्त कथन का समर्थन किया है ।

६—स्वामी दयानन्दजी ने उक्त मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है—'वह 'वाक्' विश्वायु है । वह शिल्पविद्यासम्पादिका है । वह 'विश्वकर्मा' है, अर्थात् सम्पूर्ण विद्याओं की प्रकाशिका है । वह 'विश्वधाया' है, यानी सम्पूर्ण विश्व को विद्यागुणों के सहित धारण करती है । परमेश्वर अथवा यज्ञ के शुभगुण भाजन ! मैं उस यज्ञ को शिल्पविद्या से सम्पादित रस से अथवा आनन्द से सब ओर से दृढ़ करता हूँ । चराचर जगत् को व्याप्त करनेवाले हे विष्णो ! देने अथवा लेने के योग्य यज्ञ सम्बन्धी द्रव्य अथवा विज्ञान की रक्षा करो ।'

७—किन्तु यह व्याख्या भी सारहीन है । क्योंकि अद्यापि यज्ञ का स्वरूप का निर्धारण नहीं हो पाया है । किञ्च 'सोम' शब्द का अर्थ—'शिल्पविद्या के द्वारा सम्पादित रस' कैसे हुआ ? अन्वय करते समय तो 'हे विष्णो ! अर्थात् व्यापक ईश्वर आपके द्वारा जो वाक् धारण की जाती है" कहा है, यह अर्थ तो अत्यन्त निकृष्ट है । क्योंकि आर्य समाजियों के सिद्धान्त में तो ईश्वर को निराकार माना जाता है, तब वागिन्द्रिय के विना वाक् का धारण करना कैसे सम्भव हो सकता है ? यदि ईश्वर को आप साकार कहते हैं तो आपके ही सिद्धान्त का भङ्ग होता है । भावार्थ

भावार्थे च वाचस्त्रैविध्यं विचारयता ब्रह्मचर्याश्रमे या वाग्धार्यते सा पूर्णायुः प्रदात्रीति कथितम् । तदपि तथाविधमेव, तथासति विद्यार्थिनः कस्यापि मरणासम्भवात् । ब्रह्मचारी हि विद्यामधीते । एवं विचार्यमाणे सर्वोऽप्येतस्य महात्मनोऽर्थः स्वकपोलकल्पित एव प्रतीयते । तस्मात् उपेक्ष्यानर्थजातावहमर्थगणमेतादृशं सिद्धान्तभूतः पुरातनैराचार्यैः परम्परया प्राप्तो रमणीयोऽर्थोऽनुसन्धेयः सुधीभिरिति । (वा० सं० १।४) ॥

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् । इदमहम-नृतात्सत्यमुपैमि ॥ ५ ॥

—(वा० सं० १।५)

१—'अन्तरेणापराग्नी गत्वा परेणाहवनीयं प्राङ् तिष्ठन्नग्निमीक्षमाणोऽप उपस्पृश्य व्रतपत इदहमिति वा' (का० श्रौ० सू० २।१।११) यजमानो गार्हपत्यदक्षिणाग्न्योरन्तरालेन गत्वा आहवनीयस्य पश्चात् प्राङ्मुखस्तिष्ठन् अग्निं पश्यन् उदकं स्पृष्ट्वा सत्यवदनादिरूपं व्रतं 'अग्ने व्रतपते' इति मन्त्रेण 'इदमहम्' इतिमन्त्रेण वा गृह्णीयात् इति सूत्रार्थः ।

हे व्रतपते व्रतस्य अनुष्ठेयस्य कर्मणः पतिः पालकः, व्रतपतिः । तत्सम्बुद्धौ । हे अग्ने । त्वदनुज्ञया व्रतं कर्म चरिष्यामि अनुष्ठास्यामि । तत् कर्म अनुष्ठातुं शकेयम् । त्वत्प्रसादात् तदनुष्ठातुं शक्तोभूयासम् । तत् मे कर्म मदीयं तत्कर्म राध्यताम् निर्विघ्नं सत् फलपर्यन्तं सिद्धयतु । शकेः आशीर्लिङि 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इति लिङः सार्वधातुकार्धधातुकोभयसं ज्ञात्वेन शपोऽपवादके 'लिङ्याशिष्यङ्' (पा० सू० ३।१।८६) इत्यङि, 'अतो येयः' (पा० सू० ७।२।८०) इति या इत्यस्य इयादेशे गुणे 'तस्थस्थमिपां तांतंतामः' (पा० सू० ३।४।१०१) इति मिपः अमा-देशेरूपम् ।

अहं यजमानः अस्मादनृतान्मनुष्यजन्मनः उद्गत्य इदं सत्यं देवताशरीरम् उपैमि प्राप्नोमि । सत्यमनुष्ठीय-मानकर्मरूपेण प्रत्यक्षमिति मन्वानः इदमिति विशिनष्टि । अनृतं मनुष्यजन्म शीघ्रविनाशित्वात् । यथा स्वप्नगजादयो बोधमात्रेण शीघ्रं निवर्त्तमाना अनृता उच्यन्ते । सत्यं देवशरीरं बहुकालस्थायित्वात् । तथा जागरणगजादयः । तन्मनु-ष्येभ्यो देवानुपावर्तते इति ।

बताते समय आपने वाणी की त्रिविधता कहते हुए ब्रह्मचर्याश्रम में जिस वाक् को धारण किया जाता है, वह पूर्णायु का प्रदान करती है--कहा है । यह कथन भी वैसा ही निःसार है । आपके कथनानुसार तो किसी विद्यार्थी का मरण ही सम्भव नहीं हो सकता । ब्रह्मचारी विद्या का अध्ययन करता है । यह सब विचार करनेपर आपके द्वारा किया गया यह सभी अर्थ, स्वकपोल कल्पित (मनगढंत) ही प्रतीत हो रहा है । अतः स्वामी दयानन्दोक्त अनर्थावह अर्थ की उपेक्षा करके प्राचीन आचार्यों के द्वारा किया गया परम्परया प्राप्त सिद्धान्तभूत अर्थ ही रमणीय और शुद्ध है । विद्वान् बुद्धि-मानों को उसी सिद्धान्तभूत अर्थ का आदर करना चाहिये ।

१—अनुष्ठेय व्रतरूप कर्म के पालक हे अग्ने ! तुम्हारी अनुज्ञा से व्रत कर्म का अनुष्ठान करूँगा । तुम्हारे अनुग्रह से उसका अनुष्ठान करने में मैं समर्थ हो पाऊँगा । मेरे द्वारा किये जाने वाले उस कर्म को फल प्राप्ति तक निर्विघ्नरूप से सिद्ध कर दें ।

मैं यजमान इस अनृत (मिथ्या) मनुष्यजन्म से निकलकर उस सत्य देवता शरीर को प्राप्त कर पाऊँ । अनुष्ठीयमान कर्म के रूप में वह सत्य प्रत्यक्ष है । मनुष्य जन्म तो शीघ्र विनाशी होने से असत्य (अनृत) है । जैसे स्वप्न के गज आदि प्रबोध होते ही शीघ्र निवृत्त हो जाते हैं, अतः उन्हें अनृत कहा जाता है । चिरकाल तक स्थायी होने से देव शरीर 'सत्य' है । जैसे जाग्रदवस्था के गज आदि पदार्थ सत्य माने जाते हैं ।

२—यद्वा—लोकप्रसिद्धे एव सत्यानृते ग्राह्ये। 'अनृतं न वदेत्' (ऐ० आ० २।३।६) 'नानृतं वदेत्' (श० २।२।२।२०) इति कर्मणि अनृतवदननिषेधात्। अत इदं सत्यवदनं कर्माङ्गत्वात् कर्मकाले पालनीयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'सोऽग्निमेवाभीक्षमाणो व्रतमुपैति। अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यतामित्यग्निर्वै देवानां व्रतपतिस्तस्मा एवैतत् प्राह व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यतामिति नात्र तिरोहितमिवास्ति।' (श० १।१।१।२)।

अत्र सायणः—इदानीमग्निदर्शनलक्षणेनान्तरङ्गेन सहितम् समन्त्रकं व्रतोपायनं विधत्ते—सोऽग्निमिति। स यजमानः, अग्निम् आहवनीयम्। व्रतपतिपदं व्याकरोति—अग्निर्वै देवानामिति। शकेयं राध्यतामित्युभयवाक्यस्य अव्याख्येयत्वं श्रुतिः स्वयमेवाह। तत्र हेतुः—नात्रेति। तिरोहितम् अविस्पष्टार्थं पदम्।

'अथ सꣳस्थिते विसृजते अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषन्तदशकन्तन्मे राधीत्यशकद्ध्येतद्यो यज्ञस्य सꣳस्थामगन्नराधि ह्यस्मै यो यज्ञस्य सꣳस्थामगन्नेतेन त्वेव भूयिष्ठा इव व्रतमुपयन्त्यनेन त्वेवोपेयात्।' (श० १।१।१।३)।

स्वीकृतस्य व्रतस्य यागसमाप्तिपर्यन्ततामाह—अथेति। संस्थिते यागे पर्यवसिते। व्रतविसर्जनमन्त्रमाह—अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषमिति। अत्र अशकम्, अराधीति पूर्वमन्त्राद् वैलक्षण्यम्। तत्र हेतुमाह—अशकद्धीति। यो यज्ञस्य पर्यवसानं प्राप्तवान्, एतत् कर्म कर्तुमशकत् शक्तोऽभूत्। तस्मै तेन कर्मणा अराधि सिद्धम्, तत्कर्म असिद्धचदित्यर्थः। अगन्निति गमेर्लुङि 'मन्त्रे घस……' (पा० सू० २।४।८०) इति च्लेर्लुकि हल्ङ्याब्भ्यो दिलोपे 'मो नो धातोः' (पा० सू० ८।२।६४) इति मकारस्य नकारः।

अत्र व्रतोपायने मन्त्रान्तरं विधातुं पूर्वमन्त्रात्तस्य विशेषमाह एतेनेति। यतः एतेन वक्ष्यमाणेन इदमहमित्यादिना बहवो व्रतमुपयन्ति अतो हेतोः अनेनैवोपेयात्। एवकारेणैष मन्त्रः प्रशस्यते, नतु पूर्वः प्रतिषिध्यते। अतो भगवान् कात्यायनः मन्त्रद्वयमप्याह—अग्ने व्रतपते, इदमहमिति वा इति।

३—अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने अग्निवत्तेजस्विन् श्रीरामचन्द्र 'सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः।' (श्री० वा० रा० २।४४।१५) इति रामायणवचनात्। हे व्रतपते व्रतमस्ति येषां ते व्रताः। 'अर्श आदिभ्योऽच्' (पा० सू० ५।२।१२७) इत्यजन्तः। व्रतकारिणस्तेषां पतिः पालकः, व्रतपतिः। 'रामो भामिनि लोकस्य चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता। मर्यादानां च लोकस्य कर्ता कारयिता च सः॥' (श्री० वा० रा० ५।३५।११) इति रामायणवचनात्। तत्सम्बुद्धौ। त्वत्प्रसादात् व्रतं 'सत्यं दया तपः शौचं (श्री० भा० म० पु० ७।११।८) इति प्रारभ्य 'सख्यमात्मसमर्पणम् ॥ ११ ॥ नृणामयं परोधर्मः सर्वेषां समुदाहृतः इत्यन्तं वर्णितः त्रिंशल्लक्षणवान् धर्मः अत्र व्रतपराभिधेयः। तद् व्रतं चरिष्यामि

२—अथवा लोक व्यवहार में प्रसिद्ध जो सत्य और अनृत हैं, उनका भी ग्रहण किया जा सकता है। क्योंकि 'अनृतं न वदेत्', 'नानृतं वदेत्' इस प्रकार कर्म में अनृतभाषण का निषेध किया जाता है। अतः यह सत्यभाषण, कर्म का अङ्ग होने से कर्म काल में उसका पालन करना चाहिये। इसी अभिप्राय की अभिव्यक्ति शतपथ ब्राह्मण में भी की गई है, जिसकी व्याख्या सायणाचार्य ने बहुत सुन्दर ढङ्ग से की है।

भगवान् कात्यायन ने व्रतोपायन के लिये विकल्प से 'अग्नेव्रत पते' अथवा 'इदमह मिति' ये दो मन्त्र बताये हैं। उसका समर्थन शतपथ ब्राह्मण ने भी किया है।

३—अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार होगा—अग्नि के समान तेजस्वी हे श्रीरामचन्द्र ! आप व्रत करनेवालों के पालक हैं। क्योंकि आप चातुर्वर्ण्य के पालक हैं। लोक मर्यादा का आप स्वयं पालन करते हैं और लोगों से पालन करवाते भी हैं। यह बात महर्षि वाल्मीकि ने स्वयं कही है। श्रीमद्भागवतकार ने व्रत के स्वरूप को बताया है। तदनुसार यहाँपर 'व्रत' शब्द का त्रिंशल्लक्षणवान् धर्म में तात्पर्य है। ऐसे व्रत का पालन मैं तुम्हारे अनुग्रह से ही कर

त्वत्प्रसादाच्च तद्व्रतं कर्तुं शकेयम्। मे मम तद् व्रतं शक्तं सत् राध्यताम् सिद्ध्यताम् फलपर्यवसायि स्यात्। अहं भगवद्भक्तः इदम् सत्यमनृतादुत्थाय उपैमि। 'एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्। यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥' (श्री० भा० म० पु० ११।२९।२२) इति श्रीमद्भागवतमहापुराणवचनात्। भगवद्वचनाच्च।

४—स्वामिदयानन्दस्तु—'अग्ने हे सत्योपदेशकेश्वर। व्रतपते व्रतानां सत्यभाषणादीनां पतिः पालकस्तत्समुद्धौ। व्रतं सत्यभाषणं सत्यकरणं सत्यमानं च। चरिष्यामि अनुष्ठास्यामि। तत् व्रतम् अनुष्ठातुम्। शकेयम् यथा समर्थो भवेयम्। तत् तस्यानुष्ठानं पूर्तिश्च। मे मम। राध्यताम् संसेध्यताम्। इदं प्रत्यक्षमाचरितुं सत्यं व्रतम्। अहम् धर्मादिपदार्थचतुष्टयं चिकीर्षुर्मनुष्यः। अनृतात् न विद्यते ऋतं यथार्थमाचरणं यस्मिन् तस्मात् मिथ्याभाषणात् मिथ्याकरणात्। मिथ्यामानात् पृथग्भूत्वा। सत्यं यद्वेदविद्यया प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः सृष्टिक्रमेण विदुषां सङ्गेन सुविचारेण आत्मशुद्ध्या वा निर्भ्रमं सर्वहितं तत्त्वनिष्ठं सत्प्रभवं सम्यक् परीक्ष्य निश्चीयते तत्। सत्यं कस्मात् सत्सुतायते सत्प्रभवं भवतीति वा (नि० ३।१३) उपक्रियार्थे। एमि ज्ञातुं प्राप्तुमनुष्ठातुं प्राप्नोमि" इति, तदपि सारशून्यम्, वाग्जालमात्रत्वात्। तथाहि सम्यक् परीक्ष्य निर्धारणे साधनानि (१) वेदविद्या (२) प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि (३) सृष्टिक्रमः (४) विदुषां सङ्गः (५) सुविचारः (६) आत्मशुद्धिश्च कथितानि। तान्येतानि सम्भूय वा साधनानि पृथक् पृथग्वा? नाद्यः, अधुनातनानां जनानां बेदविद्यादिविधुराणामपि सत्यनिर्धारणप्रवृत्तेः साधकत्वात्। नान्त्यः, वेदविद्याया अपि प्रमाणान्तःपातित्वात् तस्याः पृथक् साधनताया दुर्निरूपितत्वेन सुविचारादेश्च वेदविद्याजन्यत्वेन पृथक् परिगणनस्य अनौचित्यात्। श्रुतिसूत्रविरोधस्य सुस्पष्टत्वाच्च। संसेध्यतामिति पदमपि न प्रतिभाति कस्य धातोरिति। दैवादिकस्य कथमेतद्रूपसिद्धिः। णेः प्रयोजनाभावादण्यन्तस्य वा? विचारणीयमिदम्। (वा० सं० १।५)॥

सकता हूँ। इस प्रकार का व्रत, जो मेरे द्वारा किया जा रहा है, वह फलप्राप्ति तक समर्थ हो सके, ऐसी कृपा करो। मैं भगवद्भक्त हूँ। अतः श्रीमद्भागवतपुराण तथा भगवद्वचन के अनुसार अनृत से निकल कर उस सत्य को प्राप्त कर सकूँ।

४—स्वामी दयानन्दजी ने इस मन्त्र का जो अर्थ किया है, वह इस प्रकार है—सत्य उपदेश के ईश्वर हे अग्ने! आप सत्य भाषणादि व्रतों के पालक हैं। मैं सत्यभाषण, सत्यकरण, और सत्यप्रमाण का अनुष्ठान करूँगा। उसके अनुष्ठान में मैं समर्थ हो सकूँ। मेरे द्वारा किया जानेवाला उसका अनुष्ठान और उसकी पूर्ति आप करा दें। यहाँ 'राध्यताम्' का अर्थ 'संसेध्यताम्' किया है।

प्रत्यक्ष आचरण के योग्य यह सत्य व्रत है। मैं धर्मादि चार पदार्थों के अनुष्ठान की इच्छा करनेवाला मनुष्य, मिथ्या भाषण से दूर रह कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विद्वानों की सङ्गति से, सद्विचार से अथवा आत्मशुद्धि से अच्छी तरह से परीक्षा कर उस निर्भ्रम सत्य का निश्चय कर पाता हूँ।' किन्तु यह कहना भी साररहित है। केवल वाग्जालमात्र है। क्योंकि सम्यक् परीक्षा करके निर्धारण करने के छह साधन बताये गये हैं—(१) वेदविद्या, (२) प्रत्यक्षादि प्रमाण, (३) सृष्टिक्रम, (४) विद्वत्सङ्गति, (५) सुविचार, और (६) आत्मशुद्धि। सोचना यह है कि उक्त छहों साधन 'तृणारणिमणि' न्याय से मिलकर साधन होते हैं अथवा प्रत्येक पृथक्-पृथक् साधन है? प्रथम पक्ष तो इसलिये ठीक नहीं है कि आधुनिक लोग जो वेदविद्या के ज्ञान से शून्य हैं, वे भी सत्य निर्धारण कर लेते हैं। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि वेदविद्या भी प्रमाणान्तःपाती है, इसलिये उसकी पृथक् साधनता का निरूपण करना बड़ा कठिन है। और सुविचार भी वेदविद्या से ही उत्पन्न होने के कारण उसका पृथक् परिगणन करना अनुचित है। तथा श्रुति, सूत्र से उक्तकथन का विरोध भी स्पष्ट है। 'संसेध्यताम्' यह पद भी किस धातु से निष्पन्न किया है, यह भी अस्पष्ट है। यह णिजन्त या अण्यन्त है, यह भी विचारणीय ही है।

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति । कर्मणे वां वेषाय वाम् ॥ ६ ॥

—(वा० सं० १।६)

१—एवं व्रतमुपेत्य ब्रह्माणं वृत्वापां प्रणयनं कुर्यात् । तदाह भगवान् कात्यायनः 'ब्रह्मन्नपः प्रणेष्यामि यजमान वाचं यच्छेत्याह, अनुज्ञात उत्तरेणाहवनीयꣳ सम्प्रति निदधाति कस्त्वेति' (का० श्रौ० सू० २।३-२-३) अत्र मन्त्रं प्रयुञ्जानोऽध्वर्युर्यज्ञारम्भकर्मण्यात्मनः कर्तृत्वमपनीय प्रजापतेर्यज्ञकर्तृत्वं प्रश्नोत्तररूपाभ्यां मन्त्रवाक्याभ्यां प्रतिपादयति ।

अध्वर्युः ब्रह्मणे प्रैषं ददाति ब्रह्मन्नपः प्रणेष्यामीति । ब्रह्मा च अनुजानाति प्रणयेति । यजमानाय च प्रैषं ददाति-यजमान वाचं यच्छेति । ब्रह्मणानुज्ञातः अध्वर्युः प्रणीतापात्रं गार्हपत्यादाहवनीयसमीपं तूष्णीं नीत्वा आहवनीयस्योत्तरतः सम्प्रति अनन्तिके अनतिदूरे च बहिर्वेदि कस्त्वेति मन्त्रेण निदध्यादिति सूत्रार्थः ।

प्रणीतानामपां धारक हे पात्र त्वा त्वां कः पुरुषः युनक्ति आहवनीयस्य उत्तरभागे स्थापयतीति प्रश्नः । तच्छब्दः प्रसिद्धार्थवाची । सर्वेषु वेदेषु जगन्निर्वाहकत्वेन प्रसिद्धो यः प्रजापतिरस्ति स परमेश्वरः प्रजापतिरेव हे पात्र त्वा त्वां युनक्तीत्युत्तरम् । कस्मै प्रयोजनाय त्वा त्वां युनक्ति, इति पुनरपि प्रश्नः । अध्वर्युराशङ्कते स्वयमेवोत्तरयति च--तस्मै त्वा युनक्तीति । तस्मै प्रयोजनाय युनक्ति--यज्ञादुत्पत्तिः स्थितिश्च जगतः । अतोऽनेन सर्वनाम्ना तदेव निर्दिश्यते इति उव्वटाचार्यः । आचार्यमहीधरस्तु--तस्मै प्रजापतये तत्प्रीत्यर्थं त्वा त्वां युनक्तीत्युत्तरम् । सर्वकर्माणि परमेश्वरप्रीत्यर्थमनुष्ठेयानीति भगवद्गीतास्वर्जुनं प्रति भगवतोक्तं, 'सर्वकर्माण्यपि सदा………' (श्री० म० भा० गी० १८।५६) 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' (श्री० भ० गी० ४।२४) इति ।

'तृणैरग्नीन् परिस्तीर्य पुरस्तात्प्रथमं द्विशः पात्राणि सꣳसादयति', (का० श्रौ० सू० ३।३।६) 'शूर्पाग्निहोत्रहवणि, स्फ्यकपालꣳ शम्याकृष्णाजिनमुलूखलमुसलं दृषदुपलमर्थवच्च' (का० श्रौ० सू० २।३।८) 'श्रपणस्य पश्चादुत्तरतो वा' (का० श्रौ० सू० २।३।६) कर्मणे वामिति शूर्पाग्निहोत्रहवण्यादाय वाचं यच्छति' (का० श्रौ० सू०-२।३।१०) ऊध्वर्युराहवनीय-गार्हपत्य-दक्षिणाग्नीन् क्रमेण कुशैः प्रागग्रैः उदगग्रैश्च आदौ पूर्वस्यां दिशि ततः प्रादक्षिण्येन परिस्तीर्य द्वे द्वे पात्रे एकेन प्रयत्नेन सहैव निदधाति । पान्ति रक्षन्ति हविरेभिरिति पात्राणि । तेन शूर्पादीनामपि पात्रता । शूर्पादीनि दशपात्राणि यथोपदेशं सादयित्वा यस्य यस्य पात्रस्य प्रयोजनं तत्सर्वमप्यासादयेत् । गार्हपत्यस्य आहवनीयस्य वा पश्चात् प्राक्संस्थं पात्राणामासादनम् । अथवा उत्तरतः उदक्संस्थं पात्रासादनम् । अध्वर्युः कर्मणे वामिति मन्त्रेण शूर्पम् अग्निहोत्रहवणीं च सहैव आदाय वाग्यमनं कुर्यात् इति सूत्राणामर्थः ।

१—प्रणीता के जल को धारण करनेवाले हे पात्र ! तुम्हें किस पुरुष ने आहवनीय के उत्तरभाग में स्थापित किया है ? यह प्रश्न करनेपर उत्तर दे रहे हैं कि समस्त वेदों में जगन्निर्वाहक के रूप से प्रसिद्ध जो प्रजापति है, वह परमेश्वर प्रजापति ही तुम्हें स्थापित कर रहा है । किस प्रयोजन के लिये उसने तुम्हें स्थापित किया है ? ऐसा प्रश्न अध्वर्यु कर रहा है और वही स्वयं उत्तर दे रहा है कि उस प्रयोजन के लिये तुम्हें स्थापित किया है । जगत् की उत्पत्ति और स्थिति यज्ञ से होती है । अतः इस 'तत्' सर्वनाम से उसी का निर्देश किया गया है—ऐसा उव्वटाचार्य का कहना है । आचार्य महीधर ने उक्त प्रश्न का उत्तर यह दिया है कि उस प्रजापति के प्रीत्यर्थ तुम्हारी स्थापना की गई है । सभी कर्म परमेश्वर की प्रीति के लिये करना चाहिये,—ऐसा श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन से भगवान् ने कहा है ।

२—कर्मणे हे अग्निहोत्रहवणि हे शूर्प कर्मार्थमहम् वां युवाम् आददे इति शेषः। वेषाय च वेषो व्याप्तिः। (विष्लृ व्याप्तौ) भावे घञि निष्पन्नः। सूचितकर्मसु व्याप्त्यर्थं च वां युवामहमाददे।

शकटेऽवस्थितानां व्रीहीणां हविरर्थं पृथक्करणं प्रोक्षणार्थोदकधारणमित्यादयोऽग्निहोत्रहवणीव्यापाराः। उलूखले व्रीहिनिक्षेपः पुनरुद्धरणं चेत्यादयः शूर्पव्यापाराः।

अत्र ब्राह्मणम्—'स वै प्रातरप एव। प्रथमेन कर्मणाभिपद्यतेऽपः प्रणयति यज्ञो वा आपो यज्ञमेवैतत् प्रथमेन कर्मणाभिपद्यते ताः प्रणयति यज्ञमेवैतद्वितनोति' (श० १।१।१।१२)।

अथ प्रभाते ऽध्वर्योः कर्माह—स वा इति। स प्रसिद्धोऽध्वर्युः प्रथमेन कर्मणाप एवाभिमुख्येन प्राप्नोति। किं तत्प्रथमं कर्मेति, तदाह—अपः प्रणयतीति। उक्तं प्रणयनं प्रशंसति—यज्ञो वा इति। अपां यज्ञसाधनतया यज्ञरूपत्वात् तद्विस्तारात्मकस्य प्रणयनस्य यज्ञविस्ताररूपत्वात् प्राशस्त्यम्।

'स प्रणयति। कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्तीत्येताभिरनिरुक्ताभिर्व्याहृतिभिरनिरुक्तो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तत्प्रजापतिमेवैतद् यज्ञं युनक्ति' (श० १।१।१।१३)।

उक्तं प्रणयनमनूद्य कस्त्वेति व्याहृतिचतुष्टयात्मकं मन्त्रं विधत्ते—स प्रणयतीति। हे प्रणीतोदक को नाम त्वां यज्ञेन युनक्ति योक्तुं समर्थः ? यः समर्थः स युनक्ति। कस्मै प्रयोजनाय त्वा युनक्ति ? यस्मै युनक्ति तस्मै युनक्ति। योजने कर्ता प्रयोजनश्च दुर्ज्ञातमित्यर्थः। व्याह्रियन्ते इति व्याहृतयो मन्त्राः। दुर्ज्ञानत्वाभिधानात् अनिश्चित्यवचनाच्च ते अनिरुक्ताः। व्याहृतिविशेषणस्य अनिरुक्तत्वस्य प्रयोजनमाह—अनिरुक्तो वा इति। अनिर्ज्ञातो हि पदार्थः क इति पर्यनुयुज्यते, अतोऽसावनिरुक्तः। प्रजापतिश्च कः इत्युच्यते। 'को ह वै नाम प्रजापतिः' (तै० ब्रा० २।२।१०।२) इति श्रुतेः। अतः श्रुतिसाम्यात् प्रजापतेरनिरुक्तत्वम्।

अथवा वाचकमन्त्रोच्चारणमन्तरेण मनसैव प्रजापतेर्होमात् अपि प्रजापतिरनिरुक्तः। 'यत्तूष्णीं तत्प्राजापत्यं स जुहोति मन इव हि प्रजापतिः' (तै० सं० ६। ।१०।३) इति श्रुतेः।

अस्त्वनिरुक्तः प्रजापतिः, प्रकृते किमायातमित्यत आह—प्रजापतिर्यज्ञ इति। 'प्रजापतिर्यज्ञमसृजत' (तै० सं०-६।१।२।१२) इति यज्ञस्रष्टृत्वश्रुतेः, कार्यस्य कारणादभेदात्। तथा 'एष वै सप्तदशः प्रजापतिर्यज्ञमन्वायत्तः' (तै० सं०-१।६।११।१) इति सप्तदशसमुदायात्मकस्य प्रजापतेः सकलयज्ञानुगमश्रुतेः। अनुगच्छत्यश्च सामान्यादेर्लोके न पृथक् अनुगन्तव्यः, व्यक्तावभिमानदर्शनात्। यस्मात् प्रजापतिर्यज्ञः, अतोऽनिरुक्ताभिर्व्याहृतिभिः प्रणयनादनिरुक्तः प्रजापत्यात्मकतया निरुक्तं यज्ञमेव युनक्ति प्रारभत इत्यर्थः।

'यद्वेवापः प्रणयति। अद्भिर्वा इदॸ सर्वमाप्तन्तत्प्रथमेनैवैतत्कर्मणा सर्वमाप्नोति।' (श० १।१।१।१४)।

प्रशब्दोपात्तप्रकर्षसूचितप्राथम्यद्वारा प्रणयनं प्रागस्तावीत् 'यज्ञो वा आपः' (श० १।१।१।१२) इति। तच्च नयतिपदोपात्तप्रायणात्मकविस्तारद्वारतः, इति, 'अथापः' इत्यस्य अवयवार्थपर्यालोचनयापि द्विधा स्तौति—यद्वे वेति। अनियोगार्थक एवकारः। न नियोगेन-प्रागुक्तरीत्या स्तुतिः, किन्तु एवमप्यस्तीत्यर्थः, किन्तु। आप्नुवन्ति सकलं जगदित्यापः। तादृशीनामपां प्रणयनात् प्रथममेव सर्वमाप्तं स्यात् इत्यपि प्रशस्तं तत्प्रणयनमित्यर्थः।

२—हे अग्निहोत्र हवणि ! हे शूर्प ! मैं तुम दोनों का ग्रहण कर्म के लिये कर रहा हूँ। निर्दिष्ट कर्मों में तुम्हारे व्याप्त्यर्थ तुम दोनों का ग्रहण कर रहा हूँ। शकट पर स्थित व्रीहियों का हवि के लिये पृथक् करण प्रोक्षणार्थ उदक धारण इत्यादि व्यापार अग्निहोत्रहवणी के हैं और उलूखल में व्रीहि का निक्षेप, पुनः उनका उद्धरण आदि शूर्प के व्यापार हैं।

'अथ तृणैः परिस्तृणाति । द्वन्द्वम्पात्राण्युदाहरति शूर्पञ्चाग्निहोत्रहवणीं च स्फ्यश्च कपालानि च शम्याश्च कृष्णाजिनञ्चो लूखलमुसले दृषदुपले तद्दश दशाक्षरा वै बिराड्विराड्वै यज्ञस्तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभिसम्पादयत्यथ यद् द्वन्द्वं द्वन्द्वं वै वीर्यं यदा वै द्वौ स७ँ्रभेते अथ तद्वीर्यं भवति द्वन्द्वं वै मिथुनम्प्रजननम्मिथुनमेवै तत्प्रजननं क्रियते ।' (श०१।१।१।२२)

प्रणीताप्रणयनानन्तरं परिस्तरणं पात्रासादनञ्चाह—अथ तृणैरित्यादिना । द्वन्द्वं द्वे द्वे । 'द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु' (पा० सू० ८।१।१५) इति निपातितम् । पात्रपदं यज्ञनिर्वर्तकानां स्फ्यादीनामप्युपलक्षकम् । अर्थतः प्राप्तां सङ्ख्यामनूद्य प्रशंसति–तद्दशेति । तस्मिन् प्रयोग एवं परिगणने कृते दश सम्पद्यन्ते । विराजश्छन्दोऽक्षरेषु दशत्वमस्ति । प्रथमश्च यज्ञो ज्योतिष्टोमः । 'एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः' (तै० सं०—७।४।१०।११) इति श्रुतेः । तत्र च नवत्युत्तरशतसंख्याकाः स्तोत्रियाः । तास्वेकोनविंशतिसंख्यया विभज्यमानासु दशलब्धिरित्यस्ति तत्रापि दशसंख्या । अतो दशसंख्यायोगात् विराडयज्ञयोरेकत्वात् इह दशसंख्यासम्पत्त्या विराडात्मको यज्ञ एव साकल्येन सम्पादितो भवति । संरभेते (रभ् राभस्ये) इति धातोः रूपम् । राभस्यं कार्योपक्रमः किमपि कार्यं कर्तुमुपक्रमेते ।

'अथ शूर्पञ्चाग्निहोत्रहवणीञ्चादते । कर्मणे वां वेषाय वामिति यज्ञो वै कर्म यज्ञाय हि तस्मादाह कर्मणे वामिति वेवेष्टीव हि यज्ञम् ।' (श० १।१।२।१) ।

पात्रासादनानन्तरं कर्त्तव्यमाह—अथ शूर्पमिति । एतच्चादानं हविर्निर्वापार्थम् । वामिति मन्त्रगतद्विवचनलिङ्गात् उभे सहादीयेते । अतएव सूत्रे—'शूर्पाग्निहोत्रहवण्यादाय' (का० श्रौ० सू० २।३।१०) इत्याह । इतरेतरयोगद्वन्द्वः । यज्ञो वा इत्यादि—यज्ञाय हि तदादानम्, अतः कर्मशब्दः कर्ममात्रपरोऽपि तद्विशेषं यज्ञमेव ब्रूते । इज्यतेऽनेनेति यज्ञः, हविः, तदिह निर्वापकाले व्रीहिरूपम् । तदग्निहोत्रहवण्या शूर्पे निर्वपन् वेवेष्टीव परिवेवेष्टीव परिवेषणं करोतीव , यथान्नं दर्व्या भोजनपात्रे । अतो वेषाय वामित्युक्तम् वेवेष्टीत्यत्र परिरूपोपसर्गः लुप्तो निर्दिष्टः ।

३—अध्यात्मपक्षे—येन व्रतं गृहीतं तादृश हे भक्त ! त्वा त्वां कः युनक्ति इति श्रुतेरेव प्रश्नः । सः प्रसिद्धः परमेश्वर एव त्वां युनक्ति प्रवर्तयति व्रतग्रहणायेति । पुनः श्रुतिरेव पृच्छति कस्मै प्रयोजनाय त्वा युनक्ति श्रुतिरेव चोत्तरयति—तस्मै प्रसिद्धाय प्रयोजनाय भगवत्प्राप्तये त्वां युनक्ति । 'एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् । यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥' (श्री० भा० म० पु० ११।२९।२२) इति भगवद्वचनात् । बुद्धिमतां विवेकिनां बुद्धेः विवेकस्य मनीषिणां चतुराणां मनीषायाश्चातुर्यस्य च एतदेव साफल्यम् यत् अनृतेन मिथ्याभूतेन मर्त्येन मरणशीलमनुष्यशरीरेण क्षणभंगुरेणेति यावत् सत्यम् परमार्थभूतम् अमृतम् ब्रह्म प्राप्नुयादिति । कर्मणे भगवते विष्णवे 'यज्ञो वै कर्म' (श० १।१-२।१) इति श्रुतेः । वेषाय भुक्तिमुक्त्योः परिवेषणाय च वां युवयोः मनुष्यशरीरस्य बुद्धेश्च प्रदानं भगवता कृतमिति ।

वह अध्वर्यु प्रथम कर्म के द्वारा प्रथमतः अपने सामने जल को देख पाता है । वह प्रथम कर्म क्या है ? तो कहा गया है कि अपः प्रणयन ही प्रथम कर्म है । उस अपः प्रणयन की प्रशंसा 'यज्ञो वा' से की गई है । वह जल, यज्ञ का साधन होने से यज्ञस्वरूप ही है । वह विस्तारात्मक प्रणयन, यज्ञविस्तारस्वरूप होने से प्रशस्त है ।

३—अध्यात्मपक्ष में—व्रतग्रहण करनेवाले हे भक्त ! तुम्हें किसने नियुक्त किया है ? यह प्रश्न, श्रुति ही कर रही है । वह प्रसिद्ध परमेश्वर ही व्रतग्रहण में तुम्हें प्रवृत्त कर रहा है । पुनः श्रुति प्रश्न करती है कि किस प्रयोजन के लिये तुम्हें वह प्रवृत्त कर रहा है ? उसका उत्तर श्रुति ही दे रही है—उस भगवत्प्राप्तिरूप प्रसिद्ध प्रयोजन के लिये वह तुम्हें प्रवृत्त कर रहा है । विवेकशील चतुर मनुष्यों के विवेक और चातुर्य की सफलता इसी में है कि मरणशील मिथ्याभूत क्षणभंगुर इस मनुष्य शरीर के द्वारा परमार्थभूत अमृत सत्य ब्रह्म को वह प्राप्त कर सके । भुक्ति और मुक्ति दोनों का प्रदान करने के लिये ही इस मनुष्य शरीर और बुद्धि को भगवान् ने तुम्हें दिया है ।

४—स्वामिदयानन्दस्तु—'हे मनुष्य ! कः को हि सुखस्वरूपः । त्वा क्रियानुष्ठातारं मनुष्यं पुरुषार्थे । युनक्ति नियुक्तं करोति । सः परमेश्वरः । त्वा विद्यादिशुभगुणानां ग्रहणे विद्यार्थिनं विद्वांसं वा । युनक्ति योजयति । अत्र सर्वत्रान्तर्गतो ण्यर्थः। कस्मै प्रयोजनाय । त्वा त्वां सुखमिच्छुकम् । युनक्ति योजयति । तस्मै सत्यव्रताचरणाय यज्ञाय । त्वा धर्मं प्रचारयितुमुद्योगिनम् । युनक्ति योजयति । कर्मणे पूर्वोक्ताय यज्ञाय । वाम् कर्तृकारयितारौ । वेषाय शुभगुणविद्याव्याप्तये । वाम् अध्येत्रध्यापकौ' इति, तदपि यत्किञ्चित् । श्रुतिसूत्रविरोधात् । सम्बुद्धिपदाध्याहारस्य अप्रामाणिकत्वात् ।

५—अनया कण्डिकया आगामिन्याः कण्डिकायाः सङ्गतिमुपदिशन्नयं महात्मा, अस्य समर्थकः विवरणकारोवा हिन्दीभाषायाम्—'श्रेष्ठतम कर्मों का नाम ही यज्ञ है । उनमें भी सत्य ही सब से मुख्य है । यही जीवन का लक्ष्य है' आदि ब्रुवाणः यज्ञशब्दस्य सत्यभाषणमर्थं स्वीचकार । यथाश्रुतं यथादृष्टं यथानुभूतं वा वाग्व्यवहारः सत्यमिति । यद्येष एव यज्ञः, हन्त दत्तजलाञ्जलिता स्यादन्येषां धर्मस्याङ्गभूतानाम् यमनियमादीनामिति । न वा सत्यभाषणार्थमृत्विगादिसम्पत्तिरपेक्षिता । भगवान् रामभद्रस्तु प्रधानं धर्मं सत्यमङ्गीकृत्य तदितराण्यङ्गानि महता समारोहेण समर्थयमान आह रामायणे—

'सत्यं स्वधर्मं च पराक्रमं च भूतानुकम्पां प्रियवादितां च ।
द्विजातिदेवातिथिपूजनञ्च पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ॥'

इत्यादि स्वीकुर्वन् । श्रुतिसूत्रशास्त्राणि च पदे पदे विरुणद्धि अयं महात्मा निर्मूलं व्याचक्षाणः । (वा० सं०-११६) ॥

४—स्वामी दयानन्दजी ने उक्त मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है—'हे मनुष्य ! सुखस्वरूप कौन है ? किसने क्रिया का अनुष्ठान करनेवाले तुम्हें पुरुषार्थ करने में नियुक्त किया है ? वह परमेश्वर ही विद्यादि शुभगुणों के ग्रहण करने में तुम जैसे विद्यार्थी अथवा विद्वान् को नियुक्त करता है । सुख के तुम इच्छुक हो इसलिये वह तुम्हें नियुक्त करता है । सत्यव्रताचरणरूप यज्ञ के लिये धर्मप्रचार का उद्योग करनेवाले तुमको वह नियुक्त करता है । क्योंकि तुम यज्ञ करनेवाले और करानेवाले हो । तथा शुभगुण विद्या के प्रचारार्थ अध्ययन और अध्यापन करते हो ।'

किन्तु यह अर्थ करना भी निःसार है । क्योंकि श्रुति और सूत्र के अनुकूल यह अर्थ नहीं है । सम्बुद्धिपद का अध्याहार करने में भी कोई प्रमाण नहीं है ।

५—इस कण्डिका के साथ आगामी कण्डिका की सङ्गति बतानेवाले ये महात्मा अथवा इसके समर्थक विवरणकार ने हिन्दीभाषा में लिखा है कि 'श्रेष्ठतम कर्मों का नाम ही यज्ञ है । उनमें भी 'सत्य' ही सब से मुख्य है, यही जीवन का लक्ष्य है ।' इस प्रकार कहनेवाले ने 'यज्ञ' शब्द का अर्थ 'सत्यभाषण' बताया है । यथाश्रुत, यथादृष्ट, यथानुभूत वाग्व्यवहार को 'सत्य' कहते हैं । यदि इसी को 'यज्ञ' कहाजाय तो धर्म के अङ्गभूत अन्यान्य यमनियमादि को जलाञ्जलि ही देनी होगी । केवल सत्यभाषण के लिये ही ऋत्विजों का सम्पादन नहीं किया जाता ।

भगवान् रामभद्र ने तो प्रधान धर्म सत्य को अङ्गीकार करके उसके अन्यान्य अङ्गों का बड़े समारोह के साथ समर्थन रामायण में किया है । इस प्रकार पग-पग पर श्रुति-सूत्र के साथ विरोध होने के कारण स्वामी दयानन्दोक्त व्याख्यान निर्मूल ही है ।

प्रत्युष्ट ँ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्त ँ रक्षो निष्टप्ता अरातयः । उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ ७ ॥

—(वा० सं० १।७)

१—'प्रतपनं प्रत्युष्टं निष्टप्तमिति वा' (का० श्रौ० सू० २।३।११) गार्हपत्येऽग्नौ प्रत्युष्टमिति मन्त्रेण वा शूर्पाग्निहोत्रहवण्योः प्रतपनं कुर्यादध्वर्युः इति सूत्रार्थः ।

रक्षः राक्षसजातिः । प्रत्युष्टं प्रत्येकं दग्धम् । अनेन अग्निहोत्रहवणीशूर्पयोः प्रतपनेन अत्र स्थिता राक्षसा दग्धा इत्यर्थः । तथा अरातयः, रातिः दानम् (रा दाने) । रातेः हविषो दक्षिणाया वा दानस्य प्रतिबन्धकाः अरातयस्तेऽपि प्रत्युष्टाः प्रत्येकं दग्धाः । अन्यथा न यज्ञसाधनमित्यर्थः । शूर्पादौ निगूढं रक्षो निष्टप्तं निःशेषेण तप्तम् सन्तप्तम् । अरातयश्च निष्टप्ताः । अनयोर्मन्त्रयोर्विकल्पः सूत्रेणोक्तः ।

'गच्छत्युर्वन्तरिक्षमिति' (का० श्रौ० सू० २।३।१२) श्रपणस्य गार्हपत्यस्य पश्चिमदेशे युग-योक्त्र-वरत्रादिभिः सर्वाङ्गरूपेतं शकटमवस्थितं भवति । तत्प्रति अध्वर्युर्गच्छेत् उर्वन्तरिक्षमिति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः । मन्त्रमुच्चरन् गच्छेदिति यावत् ।

उरु विस्तीर्णम् अन्तरिक्षम् अवकाशम् अन्वेमि अनुसृत्य गच्छामि । गच्छतः पुरुषस्य अध्वर्योः पार्श्वयोरवस्थितं रक्षोऽनेन मन्त्रेण निराक्रियत इत्यर्थः । यद्यपि रक्षोभिराकुलमन्तरिक्षं तथाप्यनेन यजुषा उरु विस्तीर्णं कृत्वा अन्वेमि प्रतिगच्छामि ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ वाचं यच्छति । वाग्वै यज्ञोऽविक्षुब्धो यज्ञं तनवा इत्यथ प्रतपति प्रत्युष्ट ँ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्ता अरातय इति वा ।' (श० १।१।२।२) ।

यच्छति पदसन्निधानान्नियम्यमानैव वागिह विवक्षिता, तस्याश्च यज्ञसाधनत्वात् यज्ञसाधनतामुपपादयति—अविक्षुब्ध इति । वाङ्नियमे हि चित्तविक्षोभहेतो र्वाग्व्यवहारस्याभावात् तदैकाग्र्ये सति अविकलो यज्ञो यतः सम्पद्यते । अथ प्रतपतीति—शूर्पमग्निहोत्रहवणीं चेत्यनुषङ्गात्तदुभयमित्यर्थः । निष्टप्ता अरातय इतिवेति– विकल्पे खलु अष्टौ दोषाः प्रसज्जन्ति । यथा हि 'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा' (   ) इति वाक्ये व्रीह्यनुष्ठानपक्षे यववाक्यस्य प्राप्तप्रामाण्यत्यागः, अप्राप्ताप्रामाण्यस्वीकारः, पुनर्यवानुष्ठाने स्वीकृताप्रामाण्यस्य त्यागः त्यक्तप्रामाण्यस्वीकारश्चेति चत्वारोदोषाः । एवं व्रीहिवाक्येऽपि चत्वार इत्यष्टौ दोषाः समायान्ति तथाप्यत्र गत्यभावात् विकल्पः स्वीकार्य इत्युक्तं भट्टाचार्यैः ।

१—अध्वर्यु शूर्प और अग्निहोत्रहवणी का प्रतपन 'प्रत्युष्ट' अथवा 'निष्टप्तं' मन्त्र से करता है । शूर्प और अग्निहोत्रहवणी के प्रतपन से राक्षस जाति का प्रत्येक राक्षस दग्ध हो चुका तथा हवि और दक्षिणा के दान देने में प्रतिबन्ध (अवरोध) करनेवाले शत्रुओं में से प्रत्येक शत्रु भी दग्ध हो गये । अन्यथा वे दोनों यज्ञ साधन नहीं बनपाते । शूर्प आदि में छिपकर बैठे राक्षस अच्छी तरह सन्तप्त हो गये और शत्रुगण भी उसी तरह सन्तप्त हो चुके । तदनन्तर गार्हपत्य के पश्चिमदेश में युग-योक्त्र-वरत्रादि सर्वाङ्गों से युक्त अवस्थित शकट के प्रति अध्वर्यु 'उर्वन्तरिक्षम्' मन्त्र को कहते हुए जाता है । विस्तीर्ण अन्तरिक्ष (अवकाश) की ओर वह मन्त्र बोलते हुए जाता है, जिससे जाते समय उस अध्वर्यु के दोनों ओर स्थित रहने वाले राक्षसों का निराकरण हो जाता है । यद्यपि अन्तरिक्ष प्रदेश राक्षसों से भरा रहता है, तथापि इस यजुर्मन्त्र से उस प्रदेश को विस्तीर्ण करता हुआ वह जाता है । इस प्रसङ्ग में शतपथ ब्राह्मण

'एवमेषोऽष्टदोषोऽपि यद्व्रीहियववाक्ययोः।
विकल्प आश्रितस्तत्र गतिरन्या न विद्यते ॥' (जै० सू० अ० १२ पा० ३)

इह पुनर्वाशब्देन अधस्तादप्यनुकृष्टेन मन्त्रद्वयपाक्षिकत्वस्य श्रुत्यैवाभिधानात् नैकोऽपि दोषः। एतदर्थमेव च 'एकार्थास्तु विकल्पेरन् समुच्चये ह्यावृत्तिः स्यात्प्रधानस्य' (जै० सू० अ० १२ पा० ३ सू० १०) इति व्रीहियववदेव न्यायप्राप्तस्यापि विकल्पस्य वेति स्वशब्देनोपादनम्। वस्तुतस्तु 'मन्त्राणां सन्निपातितत्वादेकार्थानां विकल्पः स्यात्' (जै० सू० अ० १२ पा० ३ सू० २९) इति सूत्रस्यायं विषयः।

'देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः। तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुस्तद्यज्ञमुखादेवैतन्नाष्ट्रा रक्षा ँ्स्यतोऽपहन्ति।' (श० १।१।२।३)।

मन्त्रकरणकतायै साध्यस्य निरासस्योपयोगसिद्धये निरसनीयानां प्रसक्तिमाह—देवा ह वा इति। असुररक्षसेभ्य इति षष्ठचर्थे चतुर्थी। तेषामासङ्गात् संसर्गाद् भीताः, विचारितवन्तः यत् तत् तस्मात् यज्ञमुखात् यज्ञप्रारम्भात् यज्ञप्रारम्भात् एव एतत् एतानि असुररक्षांसि नाष्ट्राः नाशयितुं शक्यानीति। अतः अस्मात् यज्ञमुखात् नाष्ट्राः आसुर्यः प्रजाः, ताः रक्षांसि च अपहन्ति।

'अथ प्रैति। उर्वन्तरिक्षमन्वेमीत्यन्तरिक्षं वा अनुरक्षश्चरत्यमूलमुभयतः परिच्छिन्नं यथाऽयं पुरुषोऽमूल उभयतः परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति तद् ब्रह्मणैवैतदन्तरिक्षमभयमनाष्ट्रं कुरुते।' (श० १।१।२।४)।

अथ प्रैतीति—शूर्पाग्निहोत्रहवणी प्रतपनानन्तरं उर्वन्तरिक्षमिति मन्त्रेण हविर्निर्वापार्थं शकटसमीपं प्रैति प्रगच्छेत्। मन्त्रप्रयोजनमाह—अन्तरिक्षं वेति। यथा वृक्षो मूलैः पृथिवीमनुप्रविष्टस्तिष्ठत्येव न गच्छति, यथा व्याघ्रादिरभितः पाशाभ्यां बद्ध्वा ध्रियमाणः, नैवं पुरुषो मूलवान् नाप्युभयतः केनचित्ससर्गिणा प्रतिबद्धः किन्तु परिच्छिन्नः प्रतिबन्धकासंसृष्टः सन् अन्तरिक्षे विश्रम्भंचरति तथैव निर्वप्स्यमानहविरादानार्थं रक्षोऽपि उक्तविशेषण विशिष्टं सत् तं निर्वप्स्यन्तं पुरुषमनुगच्छेत् अतस्तदेतत्पुरुषेण गम्यमानमन्तरिक्षप्रदेशे 'ब्रह्मणा' उर्वित्यनेनैव मन्त्रेण 'अनाष्ट्रम्' हिंसाकाररहितम् अत एव अभयं कुरुते। उरु विस्तीर्णं प्रतिबन्धकरक्षोलक्षणमूर्त्तद्रव्यविरहादिति मन्त्रार्थः।

२—अध्यात्मपक्षे—हे आलोचनात्मकतपः परायणे ब्रह्मविचारपरायणे वा बुद्धे अथवा अनशनादितपः संसक्त-

---

कहता है—'अथं वाचं यच्छति' इत्यादि विवक्षित है। क्योंकि वह नियमित वाणी भी यज्ञसाधन है। वाणी को नियमित कर देने से चित्त विक्षोभक वाग्व्यवहार नहीं हो पाता। तब चित्त की एकाग्रता होती है जिससे अविकल यज्ञ सम्पन्न हो पाता है। शूर्प और अग्निहोत्रह्वणी के प्रतपन में वैकल्पिक्त दो मन्त्र बताये हैं। किन्तु विकल्प स्वीकार करनेपर आठ दोषों की प्रसक्ति होगी। जैसे 'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा' इस वाक्य से 'व्रीहि' को स्वीकार करनेपर 'यववाक्य' में प्राप्त रहनेवाले प्रामाण्य का त्याग, तथा अप्राप्त प्रामाण्य का स्वीकार करना होगा। और 'यव' को स्वीकार करनेपर उस वाक्य में स्वीकृत अप्रामाण्य का त्याग, तथा परित्यक्त प्रामाण्य का स्वीकार—ये चार दोष होते हैं। उसी तरह व्रीहिवाक्य में भी चार दोष प्राप्त होते हैं। ऐसी जगह कोई अन्य गति (उपाय) न होने से अगतिकगति होकर 'विकल्प' को मानने की स्वीकृति श्रीकुमारिलभट्टपाद ने दी है। यहाँ तो 'वा' शब्द के ग्रहण करने से उसका अनुकर्ष होता है, जिससे यहाँ मन्त्र विकल्प को श्रुति ही बता रही है। अतः कोई दोषावह नहीं है। इसी बात को बताने के लिये ही 'एकार्थास्तु विकल्पेरन्', (जै० सू० १२।३।१०) इस सूत्र से व्रीहि—यव के समान ही न्यायप्राप्त विकल्प को भी 'वा' शब्द का उपादान करके बता दिया है। वस्तुतः 'मन्त्राणां सन्निपतितत्वात्' (जै० सू० १२।३।२९) इस सूत्र का यह विषय है।

२—अध्यात्मपक्ष में-आलोचनात्मक तपः परायण अथवा ब्रह्मविचार परावण हे बुद्धे ! अथवा अनशनादितपः

शरीर तव तपसा रक्षः प्रत्युष्टं प्रत्येकं दग्धं प्रतिज्ञया दग्धं वा। अरातयः दानविघ्नकारका अपि प्रत्येकं दग्धाः, प्रतिज्ञया दग्धा वा। अथवा रक्षः रक्षन्त्येभ्य इति रक्षः अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशादिक्लेशपदवाच्यं निःशेषेणे तप्तम्, अरातयोऽपि कामक्रोधाद्या निःशेषेण तप्ताः। अतः परमहम् उरु विस्तीर्णम् निरतिशयं बृहत् अन्तरिक्षम् अन्तर्द्यावापृथिव्योर्मध्ये इक्ष्यते ज्ञायते इति अन्तरिक्षम्। छान्दसो ह्रस्वः। ज्ञानसामान्यार्थ ईक्षतिः। कर्मणि घञ्। अथवा अन्तः हार्दाकाशे ईक्ष्यते ज्ञायते उपलभ्यते इति अन्तरिक्षम् ब्रह्म अन्वेमि अनुसरामि। 'त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्॥' (श्री० भा० म० पु० ३।९।११) इति श्रीमद्भागवतमहापुराणवचनात्। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' (श्री० भ० गी० १८।६१) इति भगवद्वचनाच्च।

३—स्वामिदयानन्दस्तु—'प्रत्युष्टम् यत्प्रतीतिश्च तदुष्टं दग्धं च तत्। रक्षः रक्षःस्वभावो दुष्टो मनुष्यः। प्रत्युष्टाः प्रत्यक्षतया उष्टा दग्धव्यास्ते। अरातयः अविद्यमाना रातिर्दानं येषु ते शत्रवः। निष्टप्तं नितरां तप्तं सन्तापयुक्तं च कार्यम्। रक्षः स्वार्थी मनुष्यः। निष्टप्ताः पूर्ववत्। अरातयः कपटेन विद्यादानग्रहणरहिताः। उरु बहुविधं सुखं प्राप्तुं प्रापयितुं वा। उर्विति बहुनामसु पठितम्। (नि० ३।१) अन्तरिक्षम् सुखसाधनार्थम् अवकाशम्। अन्वेमि अनुगतं प्राप्नोमी'ति, तदपि न विचारचारु, श्रुतिसूत्रविरोधात्। श्रुतिसूत्रानुसारी अर्थः उपरिष्टात् वर्णितः।

अत्र अन्वेमीति क्रियापदम्। अस्य कर्ता सदा अस्मदर्थ एव। अयं च महात्मा 'इदमीश्वर आज्ञापयति सर्वैर्मनुष्यैः स्वकीयं दुष्टस्वभावं त्यक्तवान्येषामपि विद्याधर्मोपदेशेन त्याजयित्वा दुष्टस्वभावान् मनुष्यांश्च निवार्य बहुविधं ज्ञानं सुखं च सम्पाद्य विद्याधर्मपुरुषार्थान्विता सुखिनः सर्वेप्राणिनः सम्पादनीयाः' इति भावार्थं वर्णयति। यदि स्वाभाविकोऽपि दोषः स्वभावत एव त्यक्त्वातामर्हेत् उपदेशेन वा रक्षः स्वभावः क्रूरः कुटिलोजनः स्वाभाविकीं क्रूरतां कौटिल्यञ्च अपहाय साधीयान् सम्पद्येत कृतं तर्हि दण्डविधानेन। अद्यत्वे सर्वोऽपि जनः विनाशस्य मुखे घोरकण्टकाकीर्णे अवनतेः गर्ते पिपतिषु रालोक्यते। संहारास्त्राणां विविधानामाविष्कारात् सर्वेऽपि बिभ्यति। अद्यतनां परिस्थितिमीश्वरो न जानातिस्मेति सम्भावायतुमपि न शक्यते। यतो हि सर्वज्ञः। सर्वस्य देशस्य सर्वस्य कालस्य सर्वस्याः परिस्थितेश्च ज्ञाता। सर्वमिदं जानानोऽपि स ईश्वरः उपदेशेन दुष्टस्वभावत्यागं मनुते इति बुद्धिविकल एव कश्चन प्रतीयात्। वाल्मीकीय रामायणे—

संसक्त शरीर ! तुम्हारी तपस्या से अथवा प्रतिज्ञा से प्रत्येक राक्षस दग्ध हो चुका है। तथा दानविघ्नकारक शत्रु भी तुम्हारी तपस्या अथवा प्रतिज्ञा से दग्ध हो गये। अथवा अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेशादि क्लेशपद वाच्य राक्षस पूर्णतया तप्त हो चुके और काम-क्रोधादि शत्रु भी पूर्णतया तप्त हो चुके। इसके बाद मैं द्यावा- पृथिवी के मध्य में स्थित विशाल अन्तरिक्ष प्रदेश में जा रहा हूँ। अथवा अन्तः स्थित हृदयाकाश में ऊपलब्ध होनेवाले अन्तरिक्षरूप ब्रह्म का अनुसरण कर रहा हूँ। श्रीमद्भागवत और भगवद्गीता के वचन भी इसी बात को बता रहे हैं।

३—स्वामी दयानन्दजी ने उक्त मन्त्र का अर्थ यह बताया है कि राक्षस स्वभाव वाले दुष्ट मनुष्य को तुम्हें जला देना चाहिये। दान न देनेवाले शत्रुओं को भी सन्तप्त कर देना चाहिये। क्योंकि राक्षस मनुष्य स्वार्थी होता है। उसे सन्तप्त कर देना चाहिये। शत्रु भी कपट से युक्त होने के कारण विद्या के देने और ग्रहण करने की भावना से रहित होते हैं। अब मैं सुख प्राप्ति के लिये अवकाश प्राप्त कर रहा हूँ।' किन्तु यह दयानन्दोक्त अर्थ, श्रुति और सूत्र के विरुद्ध होने से ग्राह्य नहीं है। ग्राह्य अर्थ वही होता है, जो श्रुति और सूत्र का अनुसरण करता हो। इस मन्त्र में 'अन्वेमि' यह क्रियापद है, उसका कर्ता सर्वदा अस्मदर्थ ही होगा। किन्तु ये महात्मा स्वामी दयानन्दजी बता रहे हैं कि ईश्वर यह आज्ञा देता है कि सभी मनुष्य अपने दुष्ट स्वभाव को त्याग कर और दुष्ट स्वभाववाले मनुष्यों को दूर कर और बहुविध ज्ञान तथा सुख का सम्पादन कर विद्या-धर्म पुरुषार्थ से युक्त हुए समस्त सुखी प्राणियों का सम्पादन करें। यह भावार्थ उन्होंने बताया है। यदि स्वाभाविक दोष भी स्वभाव से ही छूटने योग्य हो जाय अथवा उपदेश से राक्षस-

'इह सन्तो न वा सन्ति सतो वा नानुवर्तते।
यथा हि विपरीता ते बुद्धिराचारवर्जिता ॥'

इति भगवत्याः सीताया उक्तिः उपदेशमकिञ्चित्करमेव ब्रूते। इत्यलं पल्लवितेन। (वा० सं० १।७) ॥

'धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योस्मान् धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वामः।
देवानामसि वह्नितम ँ सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम् ॥८॥'

—(वा० सं० १।८)

१—'श्रपणस्य पश्चादनस्तिष्ठत्समङ्गि', 'धूरसीति धूरोऽभिमर्शनम्, 'देवानामित्युपस्तम्भनस्य पश्चादीषाम्' (का० श्रौ० सू० २।२।१२–१३–१४) श्रपणस्य गार्हपत्यस्य पश्चिमदेशे तिष्ठत्समङ्गि तिष्ठन्ति विद्यमानानि समस्तानि समीचीनानि वा अङ्गानि तिष्ठत्समङ्गानि, तानि सन्ति यस्य तत् तिष्ठत्समङ्गि समीचीनसमस्तयुगयोक्त्रवस्त्रादिभिरङ्गै-रुपेतम् अनः शकटं प्रति अध्वर्युर्गच्छेत्। धूरसीतिमन्त्रेण पूर्वं दक्षिणां धुरमभिमृश्य तत उत्तरां धुरमभिमृशेत्। देवानामितिमन्त्रेण उपस्तम्भनस्य पश्चाद्भागे ईषां स्पृशेत्। इति सूत्रार्थः। उपस्तम्भनपदार्थश्च—शकटे प्रागपरायतो दीर्घः काष्ठविशेषः ईषा। तदग्रस्य भूमिस्पर्शो मा भूदिति तदाधारत्वेन स्थापितः काष्ठविशेषः।

२—व्रीहिरूपहविर्धारकशकटसम्बन्धिनो युगस्य बलीवर्दवहनप्रदेशे कश्चित् हिंसकोऽग्निः शास्त्रदृष्टोऽस्ति, तं प्रार्थयते, 'अग्निर्वा एष धुर्यस्तमेतदत्येष्यन् भवति' (श० १।१।२।१०) इति श्रुतेः।

३—हे वह्ने त्वं धूरसि हिंसकोऽसि। 'तुर्वी थुर्वी दुर्वी धुर्वी' हिंसार्थाः। यतो धूरसि अतः धूर्वन्तं पाप्मानं

स्वभाव वाला क्रूर कुटिल मनुष्य अपनी स्वाभाविक क्रूरता कुटिलता को त्यागकर अच्छी बातों को ग्रहण करने लगे तो दण्डविधान की आवश्यकता ही क्या रहेगी ? आज के युग में सभी लोग विनाश के मुख में घोर कण्टकाकीर्ण-अवनति के गर्त में पतन के इच्छुक दिखलाई पड़ रहे हैं। संहार कारक विविध अस्त्रों के आविष्कार को देखकर सभी लोग भयभीत हो रहे हैं। आज की परिस्थिति को ईश्वर ने नहीं जाना होगा- यह तो संभव नहीं है। क्योंकि वह तो सर्वज्ञ है। समस्त देश, काल, सम्पूर्ण परिस्थिति का वह ज्ञाता है। यह सब जानता हुआ भी ईश्वर केवल उपदेशमात्र से दुष्टों के दुष्टभाव का त्याग हो जायगा—यह समझता है, यह तो कोई बुद्धिशून्य ही कल्पना करेगा। वाल्मीकीय रामायण में भगवती सीता कह रही है कि यह असम्भव बात है। अर्थात् ऐसे लोगों के लिये 'उपदेश' अकिञ्चित्कर ही है।

१—पहले बता चुके हैं कि समस्त युग-योक्त्र, वस्त्रादि अङ्गों से युक्त शकट के प्रति अध्वर्यु जाय। 'धूरसि' इस मन्त्र से प्रथमतः दक्षिण धुरा का स्पर्श करे, तदनन्तर उत्तर धुरा का स्पर्श करे। 'देवानाम्' इस मन्त्र से उपस्तम्भन के पश्चात् भाग में स्थित 'ईषा' का स्पर्श करे। शकट में प्रागपरायत लम्बा लगा हुआ काष्ठविशेष 'उपस्तम्भन' कहलाता है। उसके अग्रभाग का भूमिस्पर्श न हो सके इसलिये उसके आधार के लिये स्थापित काष्ठविशेष को 'ईषा' कहते हैं।

२—व्रीहिरूप हविर्धारक शकट से सम्बन्धित युग के बलीवर्दवहन प्रदेश में कोई हिंसक अग्नि जो शास्त्रैक-गम्य है, उसकी प्रार्थना की जा रही है।

३—अग्ने ! तुम हिंसक हो इसलिये हिंसा करनेवाले पाप्मा का नाश कर दो। और जो याग में विघ्न उत्पन्न

धूर्व विनाशय । किं च यो राक्षसादिः यागविघ्नेन अस्मान् धूर्वति हिंसितुमुद्युक्तः तमपि धूर्व विनाशय । यं च वयं धूर्वा-मस्तमपि धूर्व । यमालस्यादिरूपं वैरिणं वयमनुष्ठातारो धूर्वामो हिंसितुमुद्यतास्तमपि धूर्व विनाशय । शकटस्थिताग्न्य-तिक्रमणनिमित्तमपराधमपह्नोतुमग्न्याधारभूता शकटस्य धूः अनेन मन्त्रेण स्पृश्यते । उपस्तम्भनस्य पश्चाद्भागे देवानाम-सीतिमन्त्रेण ईषां स्पृशेत् ।

हे शकट त्वं देवानां सम्बन्धि असि भवसि । किम्भूतम् वह्नितमम् । वहति प्रापयति हुतं हव्यं देवेभ्य इति वह्नि । 'वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्योनित्' (उ०४।५२) इति रूपसिद्धिः । अतिशयेन वह्निम् वह्नितमम् । सर्वे तमपः अति-शयार्थाः । वोढृतमम् । व्रीहिरूपस्य हविषोऽतिशयेन प्रापकम् । सस्नितमम् स्नाति तच्छीलः, तद्धर्मः, तत्साधुकारी वेति सस्नि । अतिशयेन सस्नि । अतिशयेन शुद्धम् । 'आद्दगमहन' (पा० सू० ३।२।१७१) इत्यादिना किः ।

यद्वा (ष्णै वेष्टने, शोभायाञ्चेति स्वाम्यादयः) स्नायति तच्छीलस्ताद्धर्मः तत्साधुकारी वा सस्नि । अतिशयेन सस्नि । दार्ढ्याय चर्मादिभिरतिशयेन वेष्टितम् ।

पप्रितमम् प्राति पूरयति तच्छीलादिर्वा इति पप्रि । अतिशयेन पप्रि पप्रितमम् । व्रीहिभिरतिशयेन पूरितम् ।

जुष्टतमम् जुष्यते इति जुष्टम् । अतिशयेन जुष्टम् देवानामतिशयं प्रियम्, देवैरतिशयं सेवितं वा । (जुषी प्रीति-सेवनयोः) ।

देवहूतमम् देवान् ह्वयतीति देवहु अतिशयेन देवहुदेवहूतमम् अतिशयेन देवानामाह्वात् । (ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च') इत्यस्य रूपम् । व्रीहिपूर्णं शकटं दृष्ट्वा देवा आहूता इव शीघ्रमागच्छन्तीत्यर्थः ।

अत्र ब्राह्मणम्–'स धुरमभिमृशति । धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वाम इत्यग्निर्वा एष धुर्यस्तमेतदत्येष्यन् भवति हविर्ग्रहीष्यंस्तस्मा एवैतान्निह्नुते तथो हैतमेषो अतियन्तमग्निर्धुर्यो न हिनस्ति ।' (श०-१।१।२।१०) ।

समन्त्रकभिमर्शनं विधत्ते—स धुरमिति । अस्याभिर्शस्य प्रयोजनमाह अग्निर्वा इति । युग स्य धुरि भवोऽग्नि-र्धुर्यः । 'भवेच्छन्दसि' (पा० सू० ४।४।११०) इति यत् । हविर्ग्रहणाय शकटस्य परिश्रितप्रदेशं पश्चात् भाग यास्यन् तं धुर्यं पौरस्त्यमग्निमतिक्रमिष्यन् भवति । तदतिक्रमे च स क्रुद्ध्येत् । तस्य प्रसादनाय एतत् एतेन धूरसीति मन्त्रोच्चार-णेन तस्मै एवाग्नये निह्नुते अपनयति । अतिक्रमजनितं स्वापराधं प्रशमय्य प्रसादयति । ह्नुङ् अपनयने इत्यस्य रूपम् । 'श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्समानः' (पा० सू० १।४।३४) इति तच्छब्दाच्चतुर्थी । यश्चास्माकं हिंसता, योऽप्यस्माभिर्हिंस्यः तं द्विविधमेव शत्रुम् धूर्व हिंस्याः । योऽस्मानिति मन्त्रार्थः । तथा सत्येवं प्रार्थितोऽग्निरतिक्रान्तमप्यध्वर्युं न बाधत इत्यर्थः ।

'तद्ध स्मैतदारुणिराह—अर्धमासशो वा अह ह' सपत्नान् धूर्वामीत्येतद्ध स्म स तदभ्याह ।' (श० १।१।-२।११) ।

तन्मन्त्रोच्चारणेन शत्रुहिंसनम् महर्षिव्यवहारेण संवादयति—तद्धेति । तत् तत्र अभिमर्शनविषये एतदारुणि-राह स्म । एतच्छब्दपरामृश्यं दर्शयति अर्धमासश इति । मासस्य अर्धमर्धमासः । 'अर्धं नपुंसकम्' (पा० सू० २।२।२) इति समासः । अर्धमासे अर्धमासे पौर्णमस्यां दर्शे च । 'संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' (पा० सू० ५।४।४३) इति

करके हमारी हिंसा करने के लिये तत्पर रहनेवाले राक्षस आदि हैं उनका भी विनाश कर दो । तथा जिन आलस्यादि शत्रुओं को नष्ट करने के लिये । हम अनुष्ठाता लोग उद्यत हैं, उन शत्रुओं का भी नाश कर दो । इस प्रकार प्रार्थना करते हुए शकट स्थित अग्नि के अतिक्रमणजनित अपराध के परिमार्जनार्थ अग्नि की आधारभूत शकट की धुरा का स्पर्श इस मन्त्र से किया गया है । उसके अनन्तर उपस्तम्भन के पश्चाद्भाग में स्थित 'ईषा' का स्पर्श 'देवानामसि' इस मंत्र

शस्प्रत्ययः। एतद्धस्य इति ऋषेरभिप्रायकथनम्। एतदिति धूरसीत्यभिमर्शनमित्यर्थः।

'अथ जघनेन कस्तम्भीमीषामभिमृश्य जपति। देवानामसि वह्नितम ᳪ सस्नितमं जुष्टतमं देवहूतम्। अह्रुतमसि हविर्धानं दृᳪह्स्व माह्वारित्यन एवैतदुपस्तौत्युपस्तुताद्धातमनसो हविर्गृह्णानीति मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीदिति यजमानो वै यज्ञपतिस्तद्यजमानायैवैतदह्वलामाशास्ते।' (श० १।१।२।१२)।

अथ समन्त्रकमीषाभिमर्शनं विधत्ते—अथ जघनेनेति। शकटस्य अधःपतनं वारयितुमीषादण्डप्रोत्तम्भनार्था मेथी कस्तम्भी। अन एवेति—यद्यप्यय मन्त्र ईषाभिमर्शने जप्यः, तथापि अवयविस्तुत्या अवयवोऽपि स्तुतोभवतीत्यभिप्रेत्य एतन्मन्त्रवाक्यो वोढृतयत्वादिगुणकथनेन अन एव उपस्तौति। अभिमृष्टव्येषापरित्यागेन तदवयविशकटं स्तुवतोऽभिप्रायमाह—उपस्तुतादित्यादिना। ध्रातं तृप्तं देवानां तृप्तिजनने पर्याप्तमित्यर्थः। (ध्रै तृप्तौ) इति भौवादिको धातुः। अह्वलामाशास्त इति—यज्ञपतिर्माह्वार्षीत् कुटिलगतिर्मा भवत्विति मन्त्रवाक्ये प्रतिपादनात् ह्रणनिषेध एव अह्वलाशब्दार्थः।

४—अध्यात्मपक्षे – हे गुरुकृपापीयूषपाकप्रसरपरिप्लुतशास्त्रसंस्कारसंस्कृतभावनोद्रेकविभावितमनः। त्वं धूरसि जननमरणाविच्छेदलक्षणसंसारसागरमुत्तर्तुमिति शेषः। यतो धूरसि अतः धूर्वन्तं हिंसन्तं हिंसां कर्तुं पुरुषार्थात्प्रच्यावयितुं प्रवृत्तं समस्तमपि विघ्नगणं धूर्व विनाशय। यो राक्षसादिः अस्मान् साधकान् धूर्वति हिंसितुमुद्युक्तस्तमपि धूर्व विनाशय। यमालस्यादिरूपं वैरिणं वयं हिंसितुमुद्युक्तास्तमपि विनाशय। भगवदनुग्रहात् त्वया सर्वमेतद्विधातव्यमितिभावः। तदेव स्पष्टयति त्वं देवानामिन्द्रियाणाम् कृपापात्रमसि। यतः इन्द्रियाणि वशीभूतानि अतः त्वं इन्द्रियाणां विषयसमर्पकतया वह्नितमं वोढृतमम् सस्नितमम् पवित्रतमम्। पप्रितमम् भगवद्भावनया परिपूर्णम् जुष्टतमम् भगवतोऽतिशयं प्रियम्। देवहूतमम् अतिशयेन भगवतः समाह्वानकारणं चासि अतः कामक्रोधादिगणं हृदये कृतनीडं निःसार्य भगवत्परायणो भवेत्यर्थः।

५—स्वामिदयानन्दस्तु—'धूः सर्वदोषनाशकोऽन्धकारनाशको वा। असि अस्ति वा। अत्र सर्वत्र भौतिकपक्षे व्यत्ययेन प्रथमपुरुषो गृह्यते। धूर्व हिंसय, धूर्वति हिनस्ति वा। धूर्वन्तं हिंसाशील प्राणिनम्। धूर्व हिंसय हिनस्ति वा।

से बताया गया है। हे शकट ! तुम देवताओं के सम्बन्धी हो। क्योंकि तुम व्रीहिरूप हवि को देवताओं तक अच्छी तरह पहुँचा देते हो। तथा तुम अत्यन्त शुद्ध पवित्र हो। अथवा अपनी दृढता के लिये चर्म आदि से अच्छी प्रकार सुवेष्टित हो। और विपुल व्रीहि से तुम पूर्ण हो। एवं देवताओं के तुम अतिशय प्रिय हो, अथवा उनके द्वारा तुम सुसेवित हो। तथा तुम देवताओं को अच्छी तरह निमन्त्रित करते हो। क्योंकि व्रीहि से भरे हुए शकट को देखकर निमन्त्रित की तरह देवता लोग शीघ्र आते हैं। इसी अभिप्राय को शतपथ ब्राह्मण ने भी व्यक्त किया है।

४—अध्यात्मपक्ष में—हे गुरुकृपा पीयूषपाकप्रसरपरिप्लुत शास्त्रसंस्कारसंस्कृत भावनोद्रेक विभावित हे मन ! तुम जनन-मरणविच्छेदलक्षण संसारसमुद्र के पार जाना चाहते हो। अतः पुरुषार्थ से प्रच्यावित कराने के लिये प्रवृत्त हुए सम्पूर्ण विघ्नसमूहों को नष्ट कर दो। और जो राक्षस आदि, हम साधकों की हिंसा करने में लगे हुए हैं, उनको भी नष्ट कर दो। और जिन आलस्यादि शत्रुओं को नष्ट करना चाहते हैं, उनको भी तुम नष्ट कर दो। अर्थात् भगवान् के अनुग्रह को प्राप्त करके यह सभी कार्य तुम को करना है। क्योंकि तुम इन्द्रियों के कृपापात्र हो, इन्द्रिय तुम्हारे वशीभूत है। अतः तुम इन्द्रियों के विषयों का अर्पण करने के कारण उनके श्रेष्ठतम वाहक हो। तुम अति पवित्र हो, भगवद्भावना से परिपूर्ण हो, भगवान् के अतिशय प्रिय हो, भगवान् को बुलानेवाले हो। अतः हृदय में घर बनाकर रहनेवाले काम, क्रोधादिकों को निकाल कर भगवत्परायण बन जाओ।

५—स्वामी दयानन्दजी ने व्याख्या की है—"सर्वदोषनाशक अथवा अन्धकारनाशक तुम हो या वह है। यहाँ सर्वत्र भौतिक पक्ष में व्यत्यय स्वीकार कर प्रथमपुरुष किया गया है। हिंसाशील प्राणी की हिंसा कर दो या हिंसा

तम् सर्वभूताभिद्रोग्धारम् । यः अस्मद्द्वेष्टा । अस्मान् धार्मिकान् सर्वेभ्यः सुखोपकर्तॄन् । धूर्वति हिनस्ति । तं दुष्टं दस्युं चोरं वा । धूर्व हिंसय हिनस्ति वा । यं पापिनम् । वयं विद्वांसः सर्वमित्राः । धूर्वामः हिंसामः । देवानां विदुषां पृथिव्यादीनां वा । असि उत्पादको वर्त्तसे प्रकाशको वर्तते वा । वह्नितमम् वहति प्रापयति यथायोग्य' सुखानि स वह्निः, सोऽतिशयितस्तम् । सस्नितमम् अतिशयेन शुद्धं शुद्धिकारकं च, तथा शुद्धिहेतुं वा भौतिकं वा । अथवा स्वव्याप्त्या सर्वजगद्वेष्टयितारम् ईश्वरं शिल्पविद्याहेतुं व्यापनशीलं भौतिकं वा । ष्णा शौचे अथवा ष्णै वेष्टने इत्यस्य रूपम् । पप्रितमम् प्राति प्रपूरयति सर्वाभिर्विद्याभिरानन्दैश्च जनान् स्वव्याप्त्या जगद्वा मूर्तं वस्तु शिल्पविद्यासाध्याङ्गानि च यः, सोऽतिशयितस्तम् । जुष्टतमम् धार्मिकैर्भक्तजनैः शिल्पिभिश्च यो जुष्यते स जुष्टः । अतिशयेन जुष्टस्तम् । देवहूतमम् देवैर्विद्वद्भिः स्तूयते शब्दयते सोऽतिशयितस्तम् । ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे चेत्यस्य रूप'मिति, तत्तुच्छम् । प्रत्यक्षग्राह्यस्य जडपदार्थस्योपदेशार्थं वेदप्रमाणस्य अनुपयोगित्वात् । प्रत्यक्षप्रमाणपरिगृहीतमर्थं सर्वोऽपि लोकः प्रत्येति । तदर्थं वेदस्य कावश्यकता । सिद्धान्ते तु अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यसोमाद्यर्थम् आधानेन संस्कृतस्य अग्निविशेषस्य तेन सह तदभिमानिनः चेतनस्य देवस्य च स्तुतिः । तथा चाह भगवान् वादरायणः—'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' (ब्र० सू०—२।१।५) इति । तदेवं मुधैवास्य महात्मनः श्रुतिविरोधे प्रवृत्तिः उभयलोकविनाशफलेति । (वा० सं० १।८)

'अ॒ह्रु॒तम॑सि हवि॒र्धान॒न्दृ ᳫं ह॑स्व॒ मा ह्वा॒र्मा ते॑ य॒ज्ञप॑तिर्ह्वार्षीत् ।
विष्णु॑स्त्वा क्रमता॒मुरु वाता॒याप॑ह॒त ᳫं रक्षो॒ यच्छ॑न्तां॒ पञ्च॑ ॥९॥'

—(वा० सं० १।९)

१—हे शकट त्वम् अह्रुतम् असि । 'ह्वृ कौटिल्ये) ततो निष्ठायांह्रुह्वोश्छन्दसि' (पा० सू० ७।२।३१)

करता है । समस्त प्राणियों से द्रोह करनेवाले तथा सर्व सुखोपकारक हम धार्मिकों से जो द्वेष रखता है, उसे नष्ट कर दो अथवा नष्ट करता है, उस दुष्ट या चोर को मार दो या मारता है । तुम देवताओं विद्वानों के अथवा पृथिवी आदि के उत्पादक अथवा प्रकाशक हो, यथोचित सुखों को अच्छी प्रकार देनेवाले हो, तुम अति पवित्र या पवित्रकारक हो, तथा शुद्धि के हेतुभूत भौतिक स्वरूप के हो, अथवा अपनी व्याप्ति से सम्पूर्ण जगत् को वेष्टित करनेवाले ईश्वर स्वरूप हो, अथवा शिल्पविद्या के हेतुभूत व्यापक कोई भौतिकपदार्थ हो । समस्त विद्याओं से और आनन्दों से लोगों को भर देनेवाले अथवा अपनी व्याप्ति से सम्पूर्ण जगत् को मूर्त वस्तु शिल्पविद्या साध्य अङ्गों को पूर्णकर देनेवाले हो । धार्मिकों के द्वारा भक्तों तथा शिल्पियों के द्वारा जिसकी सेवा की जाती है, ऐसे तुम हो । देवताओं विद्वानों के द्वारा तुम्हारी स्तुति की जाती है । ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' से 'हूतमम्' रूप की निष्पत्ति बता रहे हैं । '

किन्तु यह व्याख्या भी निःसार है । क्योंकि प्रत्यक्षग्राह्य जड़पदार्थ के उपदेशार्थ वेदप्रमाण का कोई उपयोग नहीं है । प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात हुए पदार्थ को तो सभी लोग अच्छी तरह जानते हैं । उसको जानने के लिये वेद की आवश्यकता क्यों होगी ?

किन्तु सिद्धान्त पक्ष में—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, सोम प्रभृति यागों के लिये आधान से संस्कृत हुए अग्निविशेष के साथ उसके अभिमानी चेतन देवता की स्तुति के लिये वेदप्रमाण का उपयोग होता है । भगवान् वादरायण ने भी 'अभिमानि'—(२।१।५) सूत्र से उक्तार्थ का समर्थन किया है । इस श्रुति-सूत्रसिद्ध शिष्टपरम्परानुमोदित राजमार्ग को त्यागकर व्यर्थ ही श्रुति विरुद्ध मार्ग में अपने को प्रवृत्त किया है, जिसका फल, उभयलोकविनाश ही है ।

१—हे शकट ! तुम अकुटिल हो, अर्थात् तुमपर आरोहण करनेपर भी भङ्ग होने का भय नहीं है । तुम

इति ह्नु आदेशे नञ् समासे च रूपम् । अकुटिलमिति यावत् । आरोहणेऽपि भङ्गभीतिर्नास्तीति तात्पर्यम् । हविर्धानम् हविषो व्रीहिरूपस्य धानं निधानं धारकं पोषकं वा भवसि । अतः दृंहस्व दृढं भव । मह्यमारुरुक्षतेऽवहितं भव । मा ह्वाः, मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् । कुटिलं मा भव । त्वत्सम्बन्धी यजमानोऽपि कुटिलो मा भूत् ।

'विष्णुस्त्वेत्यारोहणम्' (का० श्रौ० सू० २।३।१५) अध्वर्युः 'विष्णुस्त्वा क्रमतामिति'मन्त्रेण शकटस्य दक्षिणं चक्रमारोहेदिति सूत्रार्थः । 'प्रेक्षत उरुवातायेति हविष्यान्' (का० श्रौ० सू० २।३।१६) अध्वर्युः शकटस्थान् यवान् व्रीहीन् वा हविरर्थान् उरुवातायेति मन्त्रेण आरोहणानन्तरं पश्येदिति सूत्रार्थः ।

इदमत्रावधेयम्—इदं प्रेक्षणं हविःसंस्कारार्थम् । अतो हविषः प्राधान्यम् । कर्मणो गुणत्वम् । तथा च यत्र व्रीहि-यवादीनि भिन्नानि द्रव्याणि सन्ति तत्र संस्कार्याणां द्रव्याणां बहुत्वात् प्रतिप्रधानं गुणावृत्तिरिति न्यायेन यावद्द्रव्यं वीक्षणमावर्तितव्यम् । तदङ्गत्वाच्च मन्त्रस्याप्यावृत्तिः ।

'अपहतमिति निरस्यत्यन्यत्', अविद्यमानेऽभिमृशेत' (का० श्रौ० सू० २।३।१७-१८) तत्र व्रीहियवेभ्योऽन्यत् तृणलोष्टादिकं यदि स्यात् तर्हि तत् अपद्रव्यमनेन अपहतमिति मन्त्रेण निरस्येदध्वर्युः ।१७। यदि न भवेदपद्रव्यं तर्हि व्रीहीन् यवान् वा अनेन मन्त्रेण अभिमृशेदिति सूत्रार्थः ।

हे शकट विष्णुर्व्यापको यज्ञः त्वा त्वां क्रमताम् पादेनाक्रम्यारोहतु । नाहमारोहणे समर्थ इति भावः । हे शकट वाताय त्वदन्तर्वर्तिव्रीहिषु वायुसञ्चाराय । उरु विस्तीर्णं भवेति शेषः । शकटस्थव्रीहीणाम् तृणाद्याच्छादितत्वात् सङ्कोचे वायुप्रवेशाभावात् आच्छादनमपनीय यथा वायुः प्रविशति तथा सङ्कोचं परित्यजेत्यर्थः । वायुरूपप्राणप्रवेशात् सप्राणं हविः क्रियते मन्त्रेण । किञ्च वायुप्रवेशरहितं सर्वं वस्तु वरुणदेवत्यं भवति । वरुणश्च बन्धाधिष्ठाता देवः । बन्धकारित्वाच्च स यज्ञतत्फलोभयनिरोधकः । तन्निवृत्त्यर्थमयं मन्त्रः । 'यद्वै किं च वातो नाभिभवाति । तत्सर्वं वरुणदेवत्यम् । उरुवातायेत्याह । अवारुणमेवैनत्करोति' (तै० ब्रा० ३।२।४।५) इति तित्तिरिवचनात् ।

रक्षः यज्ञविघातकम् । अपहतम् दूरीकृतम् । अस्मात् हविष इति शेषः । निराकृतं तृणादिकमेव रक्ष इत्युच्यते ।

'यच्छन्तामित्यालभते' (का० श्रौ० सू० २।३।१९) यच्छन्ताम् पञ्चेति मन्त्रेण अध्वर्युः हविष्यान् स्पृशेत् इति सूत्रार्थः ।

पञ्च पञ्चसंख्याका अङ्गुलयः त्वा त्वां व्रीहिरूपं हविर्यच्छन्ताम् निबध्नन्तु । अनेन पञ्चाङ्गुलियुक्तेन मुष्टिना व्रीहीन् गृह्णीयादित्यर्थ उक्तो भवति ।

अत्र ब्राह्मणम्—पूर्वस्यां कण्डिकायामुद्धृतम् 'अह्रुतमसी' (श० १।१।२।१२) त्यादिब्राह्मणं सव्याख्यमत्रानुसन्धेयम् । तदनन्तरकं ब्राह्मणमत्रोद्ध्रियते—

'अथाक्रमते । विष्णुस्त्वा क्रमतामिति यज्ञो वै विष्णुः स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे यैषामियं विक्रान्ति-रिदमेव प्रथमेन प्रथमेन पदेन पस्पाराथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेनैताम्बेवैष एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विक्रान्तिं विक्रमते ।' (श० १।१।२।१३) ।

व्रीहिरूप हवि के धारक अथवा पोषक हो । अतः दृढ़ रहो । तुमपर आरोहण करनेवाले यजमान के प्रति सावधान रहो । तुम कुटिल (टेढ़े-मेढे) मत होना । तुम्हारा यजमान भी कुटिल न हो । अध्वर्यु 'विष्णुस्त्वा क्रमताम्' मन्त्र कहते हुए शकट के दक्षिण चक्रपर आरोहण करे । तदनन्तर शकट में रखे हुए यवों को अथवा व्रीहि को हवि के लिये 'उरु वाताय' मन्त्र का उच्चारण करते हुए उनको देखे । यव अथवा व्रीहियों का अवलोकन हवि के संस्कारार्थ है । इसलिये हवि की

शकटस्यारोहणं विधत्ते--अथाक्रमत इति । हे शकट त्वां विष्णुरेवाक्रमताम्, नाहमिति मन्त्रार्थः । विष्णोरेवाक्रमणं किमिति प्रार्थ्यते ? इति चेत् तत्राह—यज्ञो वा इत्यादि । विष्णोर्यज्ञस्य च व्यापनसामान्यात् तादात्म्यव्यपदेशः । एषां देवानामर्थे या इयं वैष्णवी विक्रान्तिः, इमामिति पूर्वत्रान्वयः । का पुनरियमिति ? तां दर्शयति—इदमेवेत्यादिना । त्रैविक्रमसमये इदमेव परिदृश्यमानं पृथिव्यांख्यं स्थानं प्रथमेन पादनिधानेन आक्रममाणः पस्पार पालयामास । (स्पृ प्रीति पालनयोः) इति धातुः । स्पष्टमन्यत् ।

'अथ प्रेक्षते । उरु वातायेति प्राणो वै वातस्तद् ब्रह्मणैवैतत्प्राणाय वातायोरुगायं कुरुते ।' (श० १।१।२।१४) ।

पुरोडाशीयानां व्रीहीणां समन्त्रकमवेक्षणं विधत्ते—अथ प्रेक्षत इति । प्राणो वा इति । 'वायुः प्राणोभूत्वा नासिके प्राविशत्' (ऐ० आ० २।४।२) इतिश्रुतेः प्राणवातयोरेकत्वम् । तत् तथा सति ब्रह्मणा मन्त्रेणैव प्राणात्मकाय वाताय एतत् उरुगायम् उरुभवनं कीर्तनं कुरुत इत्यर्थः ।

'अथापास्यति । अपहत ह इति यद्यत्र किञ्चिदापन्नं भवति यद्य नाभ्येव मृशेत्तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षा ७ँ स्यतो ऽपहन्ति ।' (श० १।१।२।१५) ।

यद्यत्रेति—अत्र पुरोडाशीयेषु व्रीहिषु यदि किञ्चित् तृणादिकम् आपन्नं क्षिप्तं भवेत् तत् अपहतमितिमन्त्रेण निरस्येदित्यर्थः । यदि तु तत्र तृणादिकं न भवेत् तदा पुरोडाशीयं व्रीहिसमूहमेव अनेन मन्त्रेण अभिमृशेदित्यर्थः ।

'अथाभिपद्यते । यच्छन्तां पञ्चेति पञ्च वा इमा अङ्गुलयः पाङ्क्तो वै यज्ञस्तद्यज्ञमेवैतदत्र दधाति ।' (श०— १।१।२।१६) ।

हविर्ग्रहणाय समन्त्रकं स्पर्शनं विधत्ते—अथाभिपद्यत इति । अभिपद्यते आलभते स्पृशतीत्यर्थः । हविर्ग्रहीतुं बध्नन्तु पञ्चाङ्गुलय इत्यर्थः । मन्त्रगतपञ्चशब्दस्यार्थमाह–पाङ्क्तो वा इति । 'पञ्चपदा पङ्क्तिः' (ऐ०आ०१।३।८) यज्ञोऽपि धानाकरम्भादिपञ्चहविष्क इति पञ्चसंख्यायोगसाम्यात् पाङ्क्तः । तथा च तैत्तिरीयकम्—'धानाः करम्भः परिवापः

प्रधानता है और कर्म की गौणता है । तथा च जहाँ व्रीहि-यव आदि अनेक द्रव्य हों वहाँ संस्कार्य द्रव्यों की भिन्नता के कारण 'प्रतिप्रधानं गुणावृत्तिः' इस न्याय से जितने द्रव्य हों उनका पृथक्-पृथक् वीक्षण करे । उस वीक्षण अङ्ग होने से मन्त्र को भी बार-बार बोले । उन द्रव्यों में व्रीहि-यवों से भिन्न तृण-लोष्ठ आदि यदि हों तो उन अपद्रव्यों को 'अपहतम्' इस मन्त्र को बोलते हुए उनको उनमें से निकाल दे । यदि उनमें अपद्रव्य न हो तो व्रीहि अथगा यवों का उक्त मन्त्र से स्पर्शमात्र करले ।

हे शकट ! यह यज्ञ व्यापक होने से विष्णु स्वरूप है । अतः वही तुमपर अपने पैर को रखकर आरोहण करे । अर्थात् मैं तुमपर आरोहण करने में समर्थ नहीं हूँ । हे शकट ! तुम में रखे हुए व्रीहियों में वायु का सञ्चार हो पाने के लिये विस्तीर्ण हो जाओ । क्योंकि शकट में स्थित व्रीहियों के तृणाच्छादित रहने से उस संकुचित प्रदेश में वायु का प्रवेश नहीं हो पाता है, अतः आच्छादित को हटाकर जिस प्रकार वायु प्रवेश कर पाये उस प्रकार से संकोच को दूर करो । वायुरूप प्राण के प्रवेश से मन्त्र के द्वारा हवि को सप्राण किया जाता है । किञ्च वायु के प्रवेश से रहित सभी वस्तु, वरुणदेवता की हो जाती है । वरुण, बन्ध की अधिष्ठात्री देवता है । बन्धकारी होने से वह यज्ञ और उसके फल दोनों का निरोधक होता है । उसकी निवृत्ति के लिये यह मन्त्र है ।

तदन्तर पञ्चांगुलियुक्त मुष्टि से व्रीहि का ग्रहण करे । उक्त अभिप्राय को ही शतपथ ब्राह्मण ने भी बताया है । मन्त्रगत 'पञ्च' शब्द का अर्थ, शतपथ ने 'पाङ्क्त' बताया है । ऐत्तरेय आरण्यक मे भी 'पञ्चपदा पङ्क्तिः' कहा है । यज्ञ भी धाना-करम्भ आदि पञ्च हवि तक है, अतः पञ्चसंख्या के साम्य से वह भी 'पाङ्क्त' है । तैत्तिरीय संहिता में

पुरोडाशः पदस्य, तेन पङ्क्तिराप्यते, तद्यज्ञस्य पाङ्क्तत्वम्' (तै० सं० ६।५।१।८) इति । तत् तथा सति एतत् एतेन पञ्च-शब्दोपेतमन्त्रोच्चारणेन अत्र अस्मिन् शकटे पाङ्क्त यज्ञमेव धारयतीत्यर्थः ।

२ अध्यात्मपक्षे—हे सुसंस्कारसंस्कृत भगवद्भावनाभावितमनः त्वम् अह्रुतमसि अकुटिलमसि अनाविल-मसीत्यर्थः ।

'अकर्दममिदं तीर्थं भारद्वाज निशामय ।
रमणीयं प्रसन्नाम्बु सम्मनुष्यमनो यथा ।।' (श्री० वा० रा० १।२।५)

इति रामायण उदाहरणात् ।

हविर्धानं स्वस्मिन् भगवत्सन्निधानं दृंहस्व ध्यानाभ्यासेन दृढीकुरु । मा ह्वाः कामादिगणवशित्वात् कुटिलतया भगवद्विमुखं मा भूः । मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्—यज्ञः विष्णुः स एव पतिः पालकः सत् ते तव सन्निधिं त्वयि स्वस्य सन्निधा-नमित्यर्थः । मा ह्वार्षीत् । त्वां मा उपेक्षिष्टेत्यर्थः । तदुपेक्षायां कामक्रोधमोहलोभमदमात्सर्यादीनां बाहुल्येन त्वयि सन्नि-वेशात् तव घोरतरपतनप्रसङ्गात् । अतस्त्वामनुपेक्ष्यैव विष्णुः भगवान् श्रीरामचन्द्रः त्वा क्रमताम् अधितिष्ठतु । वाताय सर्वेषां प्राणानां प्राणभूताय भगवते रामचन्द्राय । तद्धारणार्थमिति यावत् । त्वं उरु स्वस्मिन् भगवन्तं सन्निरुध्य तदा-च्छादकं भव । उर्णोतेरुरुशब्दनिष्पत्तेः । तथा सति कामक्रोधादिरूपं रक्षोऽपहतम् दूरापेतम् स्यात् । पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि शब्दस्पर्शादिविषयेषु स्वप्रसरं यच्छन्ताम् । विषयेभ्य उपरमन्तामित्यर्थः ।

३—स्वामिदयानन्दस्तु—'अह्रुतम् कुटिलतारहितम् । असि अस्ति । अत्र व्यत्ययः । हविर्धानं हविषां धानं स्थित्यधिकरणम् । दृंहस्व वर्धयस्व वर्धयति वा । अत्र पक्षे व्यत्ययः । मा ह्वाः मा त्यजेः । अत्र लिङर्थे लुङ् । मा क्रियार्थे निषेधवाची । ते तव । यज्ञपतिः पूर्वोक्तस्य यज्ञस्य पतिः पालकः । ह्वार्षीत् त्यजतु । अत्र लोडर्थे लुङ् । विष्णुः व्यापनशीलः सूर्यः । त्वा तद्धोतव्यं द्रव्यम् । क्रमताम् चालयति । अत्र लडर्थे लोट् । उरुबहु । वाताय वायोः शुद्धये

कहा गया है—'धानः करम्भः परिवापः पुरोडाशः पयस्या, तेन पङ्क्तिराप्यते, तद् यज्ञस्य पाङ्क्तत्वम्' । अतः इस पंच-शब्दोपेत मन्त्र के उच्चारण से इस शकट में पाङ्क्त यज्ञ को ही स्थापित करता है ।

२—अध्यात्मपक्ष में—हे सुसंस्कार संस्कृत भगवद्भावना भावित मन ! तुम अनाविल (दोषरहित) हो । मन के निर्दुष्ट होने का समर्थन रामायण ने भी किया है । अपने में ध्यानाभ्यास के द्वारा भगवत्सन्निधान को दृढ़ करो । कामादिगणों के वशीभूत होकर कुटिलता से भगवान् से विमुख मत होना ।

यज्ञरूपी विष्णु ही पालक है अतः वह तुम्हारे सर्वदा समीप रहें, तुम्हारी उपेक्षा वह कभी न करे । यदि वह तुम्हारी उपेक्षा कर देगा तो काम-क्रोध-मोह-लोभ-मद-मात्सर्य आदि अत्यधिक रूप से तुममें प्रविष्ट हो जावेंगे, तब तुम्हारा घोर पतन हो जायगा । अतः तुम्हारी उपेक्षा बिना किये ही भगवान् श्रीरामचन्द्र तुममें अधिष्ठित हो जाँय । प्राणों के भी प्राणभूत भगवान् रामचन्द्र को धारण करने के लिये तुम अपने में भगवान् को सन्निरुद्ध कर उनके आच्छा-दक हो जाओ । वैसा करनेपर काम-क्रोधादि रूप राक्षस दूर भाग जायेंगे । पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ शब्द स्पर्शादि विषयों में अपने प्रसार को रोक दें अर्थात् वे विषयों से विरत रहें ।

३—स्वामी दयानन्दजी उक्त मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—'अह्रुतमसि का अर्थ, 'कुटिलता से वह रहित है'—किया है । यहाँ पुरुषव्यत्यय किया है । हवियों की स्थिति के अधिकरण को बढ़ाओ या बढ़ाता है । यहाँ पर पाक्षिक व्यत्यय किया है । 'मा ह्वाः' का अर्थ 'मा त्यजेः' मत त्यागो किया है । यहाँ लिङ् के अर्थ में लुङ् का प्रयोग है । 'मा', क्रिया के अर्थ में निषेधवाचक है । ते तुम्हारा । 'यज्ञपतिः' पूर्वोक्त यज्ञ का पालक । 'ह्वार्षीत्' त्याग दे । यहाँ लोट् के अर्थ में लुङ् है । 'विष्णुः' व्यापनशील सूर्य । 'त्वा' वह होतव्य द्रव्य । 'क्रमताम्' चलाता है । यहाँ लट् के

सुखवृद्धये वा। अपहतम् विनाशितम्। रक्षः दुर्गन्धादिदोषजालम्। यच्छन्ताम्। निगृह्णन्तु। पञ्च पञ्चभिः उत्क्षेपणादिभिः कर्मभिः' इति, अन्वयार्थे च हे ऋत्विक् त्वं यदग्निना दृंहितं हविर्धानमास्ति तद् दृंहस्व किन्तु तत्कदाचित् मा ह्वाः मा त्यजेः, इदं ते तव यज्ञपतिदृंह तां मा ह्वार्षीन्मात्यजतु। एवं भवन्तः सर्वे मनुष्याः पञ्च पञ्चभिः उत्क्षेपणादिभिः कर्मभिः यदग्नौ हूयते तन्नियच्छन्ताम् निगृह्णन्तु। यत् द्रव्यं विष्णुर्व्यापनशीलः सूर्यः अपहतं रक्षो यथा स्यात्तथा उरु वाताय क्रमताम् क्रमयति चालयति त्वा तत्सर्वं मनुष्या अग्नौ होमद्वारा यच्छन्तामिति, भावार्थे च—'यदा मनुष्याः कुटिलतां विहाय शिक्षकशिष्या भूत्वेमामग्निविद्यां विज्ञानक्रियाभ्यां ज्ञात्वानुतिष्ठन्ति तदा महतीं शिल्पविद्यां सम्पाद्य शत्रुदारिद्रयनिवारणपुरःसरं सर्वाणि सुखानि प्राप्नुवन्ती'ति तदपि यत्किञ्चित् श्रुतिसूत्रविरोधात्, व्यत्ययबाहुल्यात्, अध्याहारबाहुल्यात् मन्त्रबाह्यत्वाच्च। ऋत्विगिति सम्बोधनस्य मन्त्रे अभावात्। सर्वस्यापि भावार्थस्य मन्त्रार्थत्वास्पर्शित्वाच्च। (वा० सं० १।९)॥

४—अनस एव ग्रहणे हेत्वन्तरमाह—यज्ञो वा इति। यज्ञसाधनमिति साधनस्तुत्यर्थमनसि यज्ञत्वोपचारः। इज्यतेऽनेनेति करण एव नङ् प्रत्ययः। वै शब्दस्तस्य विधिश्रुतिसिद्धं यज्ञसाधनत्वं स्तोतुं स्मारयति। न केवलं श्रुतिसिद्धं तस्य तत्साधनत्वमपि तु प्रत्यक्षादिप्रमाणैरपि तस्य साधनत्वं सिद्धम् इत्याह—यज्ञो हीति। यस्मादनस एव ग्रहणं तस्माद् ग्रहणमन्त्रा 'धूरसीति' (वा० सं० १।८) 'अह्नुतमसि हविर्धानम्' (वा० सं० १।९) इत्यादयोऽनोऽवयवलिङ्गा दृश्यन्ते। न पुनः कोष्ठगतस्य कुम्भीगतस्य वाधान्यस्य लिङ्गं तत्रा कुम्भीशब्दस्तन्निष्ठं धान्यं लक्षयति मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत्। लुप्तनिर्दिष्टा षष्ठी। ऋषिमतमाह भस्त्राया इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। तस्मिन् पक्षे भस्त्रायाः के मन्त्रा

अर्थ में लोट् है। 'उरु' बहुत। 'वाताय' वायु की शुद्धि अथवा सुखवृद्धि के लिये। 'अपहतम्' विनाश कर दिया। 'रक्षः' दुर्गन्धादि दोषसमूह को। 'यच्छान्ताम्' निगृहीत करें। 'पञ्च' उत्क्षेपणादि पाँच कर्मों के द्वारा' इति।

अन्वयार्थ करते हुए कहते हैं—हे ऋत्विक्! तुम जिस अग्नि से युक्त हविर्धान है, उसे दृढ़ करो, उसे कभी भी मत त्यागो। तुम्हारा यज्ञपति इसे न त्यागे। इस प्रकार आप सब मनुष्य उत्क्षेपणादि पाँच कर्मों के द्वारा अग्नि में जो हवन करते हैं, उसे नियमित करो। व्यापकसूर्य जिस द्रव्य को राक्षस जिस तरह नष्ट हो जाँय वैसे वह आयु को जोर से चलाता है। उस सबको मनुष्य लोग अग्नि में होम के द्वारा देते रहें।

भावार्थ में कहा है कि 'जब मनुष्य कुटिलता का त्याग कर शिक्षकों के शिष्य होकर इस अग्निविद्या को विज्ञान और क्रिया के द्वारा जानकर उसका अनुष्ठान करते हैं, तब महान् शिल्प विद्या का सम्पादन कर शत्रु दारिद्रय आदि का निवारण करते हुए समस्त सुखों को प्राप्त करते हैं।

किन्तु यह सभी अन्वयार्थ और भावार्थ, श्रुति तथा सूत्र के विरुद्ध होने से और व्यत्यय की बहुलता होने से एवं अध्याहार की प्रचुरता रहने से तथा मन्त्राक्षरों से कोई सम्बन्ध न रहने से नितान्त सारहीन है। मन्त्र में ऋत्विक शब्द का सम्बोधन में प्रयोग नहीं है? अतः स्वामी दयानन्दजी का मन्त्र व्याख्यान उपेक्षणीय है। (१।९)।

४—अनस (शकट) के ही ग्रहण करने में हेत्वन्तर बता रहे हैं—'यज्ञो वा इति'। उसे यज्ञ साधन कहकर उसकी स्तुति के लिये अनस् में यज्ञत्व का उपचार किया गया है। 'इज्यते अनेन' इस व्युत्पत्ति से 'करण' अर्थ में ही 'नङ्' प्रत्यय किया गया है। 'वै' शब्द उसकी विधिश्रुतिसिद्ध यज्ञसाधनता की प्रशंसा की याद दिलाने के लिये प्रयुक्त किया गया है। उसकी यज्ञसाधनता केवल श्रुति से ही सिद्ध नहीं हैं, अपि तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी सिद्ध है। जिस कारण से अनस् का ही ग्रहण किया जाता है, अतएव ग्रहण का जो मन्त्र 'धूरसि', 'अह्नुतमसि' है, उसमें अनस् के अवयव लिङ्ग (चिह्न) भी दिखाई देते हैं। कोष्ठगत अथवा कुंभीगत धान्य के लिङ्ग उसमें नहीं दिखाई देते। 'कुंभी' शब्द तन्निष्ठ धान्य को लक्षित करता है, 'मञ्चाः क्रोशन्ति के समान। लुप्त निर्दिष्टा षष्ठी है। ऋषि मत बताते हैं कि—

इत्याह तद्वृषीनिति । उ त्वर्थे । तदा तु तान्येव यजूंषि भस्त्राया: प्रतिपादकानि स्यु: यान्यनस: । तथाहि यथा अन: पक्षे हे अन: । यत् त्वं धूरसि त्वमुद्भूतमतुलं हविर्धानमसि तथैव भस्त्रापक्षेऽपि । तत्र तु हे भस्त्रे इत्येव विशेष: । भस्त्राया मन्त्रदारिद्रय इव कस्मात्तान्येव ? अन्यानि चेद् भस्त्राया: के मन्त्रा इत्यत आह तान्येतर्हि तैरेव यजुर्भिग्रहणे यानि यजूंषि प्रकृतावनस्यासन् तान्येवैवं सति विकृतौ भस्त्रायामपि स्यु: । तथात्वस्यापि किं फलमिति चेत्तत्राह—'यज्ञादिति यज्ञसाधनमन आश्रित्य सकृत्प्रयुज्य तत इदमुक्त्वैव यज्ञं भस्त्रादिकं 'निर्ममे' अनुष्ठितानि, इत्येतदनुष्ठातुराशय इत्यर्थ: ।

५—ननु प्रकृतावेव पक्षान्तरं भस्त्रा यथा यव:, तत्किमुच्यते प्राकृतानीति, सत्यं । प्राकृतमुपदिश्यमानं यथा प्रथमं वैकृतं त्वतिदेशाच्चरमं प्रतीयते एवं स्वशब्देनाभिधानात् पृथक्प्रतिपत्तेरेव प्राकृतमुच्यते तल्लक्षितापूर्वसाधनत्वात् तु पश्चात्प्रतीतेर्भस्त्रा विकृतिवद्विकृति: । अतो भस्त्रायामपि यववदुपदेशादेव धर्मसम्बन्धो नातिदेशात् । व्रीहीनवहन्तीति—अपूर्वं व्रीहय: प्रकृतिद्रव्यमपहन्ति यथा तथानेनापि पदेन भस्त्रापरिग्रह: । 'उतो पात्र्यै गृह्णन्ति । अनन्तरायमुर्तर्हि यजूंषि जपेत् । स्फ्यमुतह्यधस्तादुपोह्य गृह्णीयाद्यतोयुनजाम ततो विमुञ्चामेति । यतो ह्येव युञ्जन्ति ततो विमुञ्चन्ति' (श० १।१।२।८) ।

'उतो' अपि तु यदि पात्र्या गृह्णीयात् तदा धूरीषाद्यभावेन तदुपस्थानविरहात् अननुष्ठानकृतं व्यवधानमन्तरायमन्तरेण तत्प्रकाशक यजूंषि धूरसि देवानामसि इत्यादीनि जपेत् । तत्रैव धर्मान्तरमाह—'स्फ्यमु तर्हीषि तस्मिन् पात्रीपक्षे तस्या अधस्तात् स्फ्यमुपनिधाय गृह्णीयात् । सर्वमेतदन: पक्षप्रशंसार्थमर्थवाद एव नहि निन्दानिन्द्यमिति सिद्धान्तात् । अत एव कात्यायन:–'पात्र्यां वा स्फ्योपहितायां, धूरोषारोहणानि पात्रीविले जपति' (का० श्रौ० सू० २।३।२८-२९) अनसोग्रहणे स्फ्योपहितपात्रीतोग्रहणेऽतिशयितं प्रयोजनमाह—यतो युनजामेति ।

६—योऽयं स्फ्यमाश्रित्य युनजाम यज्ञेन योगं प्राप्नवाम ततस्तस्मिन्नेव स्फ्ये विमुञ्चाम वियोगमपि करवाम

'भस्त्रायै:' यह षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी है । उस पक्ष में 'भस्त्रा' के मन्त्र 'तद्वृषीन्' इत्यादि है । 'उ' यह 'तु' के अर्थ में है । तब तो जो यजुर्मन्त्र 'अनस्' के हैं, वे ही यजुर्मन्त्र, भस्त्रा के प्रतिपादक होंगे । अनस् के पक्ष में—हे अन: । 'त्वं धूरसि—तुम उद्भूत अतुल हविर्धान हो । तथैव भस्त्रा के पक्ष में भी । उस समय 'हे भस्त्रे' ! इतना ही विशेष होगा । मन्त्रदारिद्रय के समान भस्त्रा के वे ही 'यजु' क्यों होंगे ? यदि उसके (भस्त्रा के) अन्य यजु हैं तो वे कौन से मन्त्र हैं ? उसके उत्तर में कहते हैं—तो यजुर्मन्त्र प्रकृति में अनस् के थे, वे ही मन्त्र विकृति में भस्त्रा के होंगे । ऐसा करने से जो फल होता है, उसे 'यज्ञात्' से बताया है । यज्ञसाधनभूत अनस् का आश्रय करके यानी एकबार प्रयोग करके, उससे ही भस्त्रादि यज्ञ को अनुष्ठित किया जाता है । यह अनुष्ठाता का आशय है ।

५—शंका—प्रकृति में ही पक्षान्तर 'भस्त्रा' है, जैसे 'यव' । तब 'प्राकृतानि' क्यों कहा जा रहा है ? उत्तर—तुम ठीक कह रहे हो, उपदिश्यमान प्राकृत जैसे प्रथम माना जाता है और अतिदेश से प्राप्त होनेवाला 'चरम' अन्तिम प्रतीत होता है, उसी तरह स्वशब्द से अभिधान होने के कारण पृथक् प्रतिपन्न को ही 'प्राकृत' कहा जाता है। और उससे लक्षित जो अपूर्व है, उसका साधन होने से पश्चात् प्रतीयमान भस्त्रा, विकृति के समान होने से विकृति है । अत: भस्त्रा में भी यव के समान उपदेश से ही धर्म सम्बन्ध होता है, अतिदेश से नहीं । 'व्रीहीन् अवहन्ति' यह वाक्य जैसे प्रकृतिद्रव्य अपूर्वसाधनीभूत व्रीहि का अवहनन बताता है, वैसे ही इस पद से भी भस्त्रा का परिग्रह बताया गया है। शतपथ के द्वारा जो बताया जा रहा है, वह सब 'अन:' पक्ष के प्रशंसार्थ अर्थवादरूप है । क्योंकि 'नहि निन्दानिन्द्यम्' यह सिद्धान्त है । अतएव कात्यायन ने भी कहा है । अनस् से ग्रहण करने की अपेक्षा स्फ्य से उपहित पात्री से ग्रहण करने में अत्यधिक प्रयोजन बताया गया है—

६—स्फ्य का आश्रय करके यज्ञ के साथ जो यह योग (सम्बन्ध) हम प्राप्त करते हैं, उसी स्फ्य से वियोग

इति। योगवियोगसामानाधिकरण्यसिद्धिः। स्फ्योपहितपात्रीतो ग्रहणपक्षे अनःपक्षादतिशयः। अयमभिप्रायः अनसो-निर्वापपक्षे हि जुहूपभृतौ शकटस्य धुरो निदध्यात्। पात्रीतः पुनर्निर्वापे तदाधारभूते स्फ्ये तयो निधानं विमोकः। तदुक्तं कात्यायनेन 'घृताची इति धुरि निदधात्यनसि चेदग्रहणम् स्फ्ये पात्र्याञ्चेत् (का० श्रौ० सू० ३।१३७-१३८) तथापां प्रणयनञ्च स्फ्येन सहेत्युक्तमापस्तम्बेन—'स्फ्येनोपसङ्गृह्याविषिञ्चन् हरति' (आपस्त० श्रौ० सू० १।१६।८) एवं च स्फ्येन योगः सफ्यएव वियोगात्मको विमोकोऽपीति पात्रीतो ग्रहणे योगवियोगयोः सामानाधिकरण्यलाभोऽतिशयः। यत्रैव योगस्तत्रैव वियोगो युक्तः। नहि कर्णे युक्तः कट्यां विमुच्यते इत्यर्थः।

'तस्य वा एतस्यानसः। अग्निरेव धूरग्निर्हि वैधूरथ य एनद्वहन्त्यग्निदग्धमिवैषां वहं भवत्यथ यज्जघनेन कस्तम्भीं प्र उगं वेदिरेवास्य सानीड एव हविर्धानम्' (श० १।१।२।९)।

७—धुरः समन्त्रकमभिमर्शनं विधास्यन् तदुपोद्घातत्वेन तस्या देवतारूपतामाह अग्निरेव धूरित्यादिना। तत एव बलीवर्दवहनस्कन्धस्थानमग्निदग्धमिव दृश्यते। शकटान्निर्वापस्य प्राशस्त्यातिशयं वक्तुं तस्मिन् वेदिहविर्धानयोः सम्पत्तिमाह—'अथ यज्जघनेने'ति। शकटस्याधः पतनं वारयितुमीषादण्डप्रोत्तम्भनार्था मेथी कस्तम्भी। ईषाद्वयं यत्र संसृष्टं ततः प्रत्यग्भागः, तयोरीषयोर्मध्यदेशः प्र उगम्। तच्च पश्चाद्विस्तृतम् पुरस्तात् ह्रसीयः। वेदिरपि तथाविधा। 'त्रिंशत्पदानि पश्चात्तिरश्ची भवति षट्त्रिंशत्प्राची, चतुर्विंशतिः पुरस्तात् तिरश्ची (तै० सं० ६।२।४।८) इतिश्रुतेः। अतस्तत्सारुप्यात् प्रउगस्य वेदित्वव्यपदेशः। नीड एवेति। धान्यनिधानाय परिश्रितप्रदेशो नीडः। हविर्धानमपि परि-श्रितम्। परिश्रयणसामन्यात् नीडस्य हविर्धानत्वम्। 'स धुरमभिमृशति—धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वाम। इत्यग्निर्वा एष धुर्यस्तमे तदत्येष्यन् भवति हविर्ग्रहीष्यं स्तस्मा एवैतान्निह्नुते तथो हैतमेषो अति-यन्तमग्निर्धुर्यो न हिनस्ति।' (श० १।१।२।१०) एतावता स्पष्टं धुरोऽभिमर्शनेऽस्य मन्त्रस्य विनियोगः। तस्मादर्थोऽपि

से वियोग को भी हम प्राप्त करते हैं। इस रीति से योग-वियोग के सामानाधिकरण्य की सिद्धि होती है। स्फ्य से उप-हित पात्री से ग्रहण करने के पक्ष में अनःपक्ष की अपेक्षा अतिशय होता है। अभिप्राय यह है—अनस् से निर्वापपक्ष में जुहू और उपभृत् को शकट की धुरापर रख दे। और पात्री से निर्वाप करने के पक्ष में उसके आधारभूत स्फ्य पर उन दोनों को रख दे। कात्यायन ने भी यही बताया है। तथा आपस्तम्ब ने भी स्फ्य के साथ अपाम्प्रणयन को बताया है। एवं च स्फ्य के साथ योग और उसी के साथ वियोगात्मक विमोक भी होता है। एवं च पात्री से ग्रहण करने में योग-वियोग के सामानाधिकरण्यलाभरूप अतिशय होता है। जहाँ योग होता है वहीं पर वियोग का होना उचित है। 'कर्णमे' सम्बन्ध हुआ और कमर में विमुक्त हुआ'—ऐसा कभी नहीं होता।

७—धुरा के स्पर्श का समन्त्रक विधान करते हुए उसके उपोद्घात के रूप में उसकी देवतात्मकता को 'अग्नि-रेव धूः' से बताया गया है। इसीलिये बलीवर्द का वहन स्कन्ध स्थान, अग्निदग्ध हुआ सा दिखाई देता है। शकट से किये जानेवाले निर्वाप का प्रशस्त्यातिशय बताने के लिये उसमें वेदि और हविर्धान दोनों की सम्पत्ति को 'अथ यज्ज घनेन' से बताया गया है। श्रुतिवचन के अनुसार शकट के अधःपतन का निवारण करने के लिये ईषादण्ड के प्रोत्तम्भ-नार्थ मेथीकस्तम्भी होती है, ईषाद्वय जहाँपर फैले हुए हैं वहाँ से जो प्रत्यग्भाग है, वही मेथीकस्तम्भी है। दोनों ईषाओं का जो मध्य प्रदेश है, उसे 'प्रउग' कहते हैं। वह पश्चाद्भाग में विस्तृत और अगले भाग में लघु होता है। वेदी भी वैसी ही होती है। इसी समानता के आधार पर 'प्रउग' में वेदि शब्द का व्यवहार किया जाता है। धान्य रखने के लिये परिश्रित प्रदेश को 'नीड' कहते हैं। हविर्धान भी परिश्रित है। इसी परिश्रयण सादृश्य को देखकर 'नीड' को हविर्धान कहा गया है। इसी अभिप्राय को बतानेवाले शतपथ ब्राह्मण से स्पष्ट होता है कि धुरा के अभिमर्शन में इस मन्त्र का विनियोग होता है। इसलिये मन्त्र का अर्थ भी तदनुसारी ही किया जाता है। 'अग्निर्वा' से अभिमर्शन का प्रयोजन बताते हैं—युग की धारा में होनेवाले अग्नि को 'धुर्य' कहते हैं। हविर्ग्रहण करने के लिये शकट के पश्चात्भाग रूप

तदनुसार्येव । अभिमर्शस्य प्रयोजनमाह अग्निर्वा इति । युगस्य धुरि भवोऽग्निर्धुर्यः । हविर्ग्रहणाय शकटस्य परिश्रितप्रदेशं पश्चाद्भागं यास्यन् तं धुर्यं पौरस्त्यमतिक्रमिष्यन् भवति । तदतिक्रमे च स क्रुद्धचेत् तस्य प्रसादनाय एतद्धूरसीति मन्त्रोच्चारणेन तस्मै एवाग्नये निह्नुते अपनयति अतिक्रमजनितं स्वापराधं प्रशमय्य प्रसादयति । ह्नुङ् अपनयने यश्चास्माकं हिंसिता योऽस्माकं हिंस्यः तं द्विविधं शत्रुं मे धूर्व हिंस्या इति योऽस्मानिति मन्त्रार्थः । तथा सत्येवं प्रार्थितोऽग्निरतिक्रामन्तमप्यध्वर्युं न बाधत इत्यर्थः ।

'तद्धस्मैतदारुणिराह—अर्धमासशो वा अहं सपत्नान् धूर्वामीत्येतद्ध स्म तदभ्याह ।' (श० १।१।२।११) महर्षिव्यवहारेण तन्मन्त्रोच्चारणेन शत्रुहिंसनं संवादयति—एतच्छब्दपरामृश्यं दर्शयति—मासस्यार्धमर्धमासः । अर्धमासे अर्धमासे पौर्णमास्यां दर्शे च सपत्नान् धूर्वामीत्यर्थः । 'अथ जघनेन कस्तम्भीमीषामभिमृश्य जपति । देवानामसि.......... यजमानो वै यज्ञपतिस्तद्यजमानायै वैतदह्वला मा शास्ते ।' (श० १।१।२।१२) । इदमपि ब्राह्मणममुं मन्त्रं कस्तम्भीसहितेषाभिमर्शने विनियुङ्क्ते । नैतत्सर्वं दयानन्दीयव्याख्याने सङ्गच्छते । अतः श्रुतिसूत्रादिसम्मतः सायणोक्तोऽर्थ एव प्रामाणिकः ।

८—एतदविरुद्धाश्चानेकेऽर्थाः सम्भवन्ति । 'सर्ववेदा यत्पदमामनन्ति' इति श्रुत्यनुरोधेन हे वेदवेद्य त्वं देवानां मध्ये धूरसि सर्वजगद्धारकोऽसि सर्वाग्रगण्यो वासि । शकटादिहवनसाधनयुगधारकत्वात् अग्र्यत्वाच्च धूरित्युच्यते । तद्गुणवत्त्वाल्लक्षणया च परमेश्वरो धूरुच्यते । त्वं धूर्वन्तं स्वरूपसुखमाच्छिद्य जननमरणाविच्छेदलक्षणायां संसृतौ पातयन्तं मोहमविवेकं धूर्व स्वस्वरूपप्रकाशनेन नाशय । अन्योऽपि कामक्रोधादिरान्तरः शत्रुर्बाह्यश्च यो मम मदीयराष्ट्रस्य चाऽपकारी योऽस्मान् मां राष्ट्रं च धूर्वति बाधते पुरुषार्थाच्च्यावयति तं धूर्व नाशय । यश्च बाह्यमान्तरं वा बाधकं द्वेष्टारं वयं धूर्वामः द्विष्मस्तं च धूर्व समूलमुन्मूलय । त्वं देवानां देवो मुख्योऽसि । त्वां वयमाश्रयामः । कीदृशं त्वां देवानामिन्द्रादीनां मध्येऽतिशयेन सुखादिप्रापकम् । देवा अपि सुखप्रापकास्त्वं तु बह्नितमः । देवा अपि पूतास्त्वं तु पूततमः ।

परिश्रित प्रदेश की ओर जानेवाले को उस पौरस्त्य धुर्य अग्नि का अतिक्रमण करना होगा, उस कारण वह धुर्य अग्नि क्रुद्ध होगा । उसे प्रसन्न करने के लिये एतद्धरसि' इस प्रकार मन्त्रोच्चारण करते हुए उसी अग्नि से अति क्रमजनित स्वा पराध की क्षमा के लिये उसे प्रसन्न करता है । इस प्रकार से प्रार्थना के द्वारा प्रसन्न करने पर वह अग्नि, उस अध्वर्यु को उसके अतिक्रमण करने पर भी पीडा नहीं पहुँचाता । शतपथ के द्वारा महर्षिव्यवहार और मन्त्र का संवाद प्रदर्शित कर रहे हैं । अर्ध-अर्ध मास पर अर्थात् पौर्णमासी और दर्श पर विघ्नकारक शत्रुओं का मैं नाश करता हूँ । 'अथ जघनेन कस्तम्भोमीषामभिमृश्य'—यह ब्राह्मण भी कस्तम्भी सहित ईषाभिमर्शन में इस मन्त्र का विनियोग बता रहा है । किन्तु दयानन्दीय व्याखयान में यह सब सङ्गत नहीं होता है । अतः श्रुति—सूत्रादि सम्मत सायणोक्त अर्थ को ही प्रामाणिक समझना चाहिये ।

८—श्रुति-सूत्र के अविरुद्ध अर्थ, अनेक हो सकते हैं । 'सर्वे वेदा यत्पदमामन्ति' इस श्रुति के अनुरोध से हे वेदवेद्य ! तुम देवताओं के मध्य सम्पूर्ण जगत् के उद्धारक हो अथवा सर्वाग्रगण्य हो । शकटादि हवनसाधनयुग के धारक होने से और अग्रच होने से भी 'धूर' कहे जाते हो । उन गुणों के कारण लक्षणा के द्वारा परमेश्वर को 'धूर' शब्द से कहा गया है । ऐसे हे परमेश्वर ! तुम अपने स्वरूप सुख से हटाकर जनन-मरण के अविच्छेद लक्षण संसार में गिरानेवाले मोहरूप अविवेक को स्व-स्वरूप के प्रकाशन के द्वारा नष्ट कर दो । काम-क्रोधादि आभ्यन्तर शत्रु एवं बाह्य शत्रु जो मेरे अथवा मेरे राष्ट्र के अपकारी अन्य शत्रु हों, जो मुझे या मेरे राष्ट्र को पीडा पहुंचाते है, हमें पुरुषार्थ से गिराते हैं, उन्हें नष्ट कर दो । पीडा पहुँचानेवाले बाहरी, तथा भीतरी जो शत्रु हैं, जो हमसे द्वेष रखते हैं उनका समूल उन्मूलन कर दो । तुम देवताओं में मुख्य हो । हम तुम्हारा आश्रय करते हैं । इन्द्रादि देवताओं की अपेक्षा तुम अत्यधिक सुख देनेवाले हो । अन्यान्य देवता भी सुख पहुँचाते हैं, किन्तु तुम उनसे भी अधिक सुख की प्राप्ति कराते हो । अन्य देवता भी पवित्र हैं, किन्तु तुम उनसे भी अधिक पवित्रतम हो । अन्य देवता भी मनोरथ पूरक हैं, किन्तु तुम सभी कामनाओं

देवा अपि पूरकास्त्वं पप्रितमः सर्वकामपूरकतमः । देवा अपि भक्तैः सेव्यन्ते त्वं तु जुष्टतमः । ब्रह्मादिभिरप्यतिशयप्रीत्या सेव्यमानत्वात् । देवा अपि यज्ञे हूयन्ते तेन ते देवह्व उच्यन्ते । त्वं तु तैरपि हूयसे तेन देवहूतमोऽसि । यद्वा देवानामाह्वातारो मन्विक्ष्वाकुमान्धात्रादयस्त्वं तेष्वप्यतिशयितो रामरूपेण देवहूतमः । तं तादृशं त्वां वयमाश्रयामः ।

९—यद्वा जीव एव शास्त्राधिकारीति हेतोः स एव सम्बोध्यः । हे आत्मन् त्वं धूरसि चेतनाचेतनात्मके जगति धूरसि अग्रगण्योऽसि । 'अपांसुलानां धुरि कीर्तनीया' (रघुवंश म० का० २।२) इति महाकविप्रयोगात् । कर्मोपासनादिवेदविधाने प्राधान्येनाधिकृतोऽसि । त्वं धूर्वन्तं हिंसन्तं धूर्व हिंसय । 'व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु येन मायिनः ।' (कि० म० का० १।३०) 'यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं सधर्मः । मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥' (म० भा० उ० प० ३७।७) इत्यादिनीतिवचनेभ्यः । यश्चास्मान् वेदान् वेदानुयायिनश्चास्तिकान् देवान् वा धूर्वति तं धूर्व । स्वधर्मानुष्ठानार्जितदिव्याध्यात्मबलेन विनाशय । वयं वेदा आस्तिका देवा वा यान् नास्तिकान् अर्धनास्तिकान् चार्वाकप्रायान् वा धूर्वामः नाशयितुमिच्छामः तञ्च धूर्व । वेदवेदान्ततदर्थानुष्ठान प्रचारादिभिरलौकिकशक्त्या सङ्घटनेन च धूर्व नाशय । शिक्षया वा—त्वं च प्रत्यक्चैतन्याभिन्नं ब्रह्मैवासि । कीदृशं तत् देवानामिन्द्रियाणामिन्द्रादीनाञ्च वह्नितमम् प्रकाशविषय हविरादिप्रापकतमम् । सस्नितमम् पवित्रतमम्, 'पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानाञ्च मङ्गलम्' (म० भा० अनु० प० १४६।१०) 'पावनानाञ्च पावनम्' इत्यादिस्मृतेः । पप्रितम् सर्वपूरकस्वव्याप्त्या सर्वेषां सत्तास्फूर्तिप्रदञ्च । जुष्टतमम् सर्वसेव्यम् नास्तिकानामपि प्राणस्य प्राणत्वात् । सुखस्य सुखत्वात् । आत्मनामप्यत्मत्वात् परमसेव्यत्वेन जुष्टतमम् । देवहूतमम् सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदत्वात् देवा अपि आहूता एव त्वामाश्रयन्ते इति त्वं देवहूतम् (नपुंसक-प्रयोगः) 'प्राणस्य प्राणम्' (केनोपनिषद् १।२) सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः । श्रियः श्रीश्चभवेदग्रया कीर्तेः कीर्तिः क्षमाक्षमा ॥' (वा० रा० २।४४।१५) इत्यादिवचनेभ्यः ।

के पूरक हो । भक्त लोग देवताओं की सेवा करते हैं । यज्ञों में देवताओं को बुलाया जाता है, उस कारण उन्हें 'देवहव् कहा गया है, किन्तु तुम्हें तो वे देवता भी बुलाते हैं, इसलिये तुम 'देवहूतम' कहलाते हो । अथवा देवताओं को बुलाने वाले मनु, इक्ष्वाकु, मान्धाता आदि कितने ही बड़े-बड़े लोग हैं, किन्तु तुम उनसे भी अत्यधिक हो, राम के रूप में 'देवहूतम' हो । तुम्हारा हम आश्रय करते हैं ।

९—अथवा शास्त्र का अधिकारी 'जीव' ही है, इस कारण वह ही सम्बोध्य है । हे आत्मन् ! तुम चराचर जगत् में अग्रगण्य हो । महाकवि कालिदास ने भी 'अपांसुलानां धुरि कीर्तनीया'—यह प्रयोग किया है । कर्मोपासनादि वैदिक विधान में प्रधानतया तुम्हारा अधिकार है । तुम हिंसक का विनाश करो । नीतिशास्त्र के अनेक वचन भी इसी बात को बता रहे हैं । जो 'वेदों का और वेदानुयायियों का तथा हम आस्तिकों का नाश करना चाहता है उसे तुम नष्ट कर दो । अर्थात् स्वधर्मानुष्ठान से अर्जित दिव्य अध्यात्मबल से उन हिंसकों का नाश करदो । हम, वेद, आस्तिक लोग अथवा देवगण, जिन नास्तिकों' अर्धनास्तिकों अथवा चार्वाक प्राय लोगोंको नष्ट करना चाहते हैं, उन्हें तुम नष्ट करदो । वेद-वेदान्त, तदर्थ के अनुष्ठानप्रचारादि से और संघटनात्मक अलौकिक शक्ति से उनको विनष्ट करदो । तुम तो प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न ब्रह्म ही हो । देवगण, इन्द्रिय इन्द्र आदि के प्रकाश विषय हविरादि के प्रापक हो ! अत्यन्त पवित्र हो । श्रुति-स्मृतियाँ भी तुम्हारी अत्यधिक पवित्रता का समर्थन करती हैं । और सर्वपूरक स्व-व्याप्ति से सभी के सत्तास्फूर्ति के प्रदायक हो । तुम नास्तिकों के प्राणों के भी प्राण हो, इस कारण सभी के द्वारा सेव्य हो । तुम सुख के भी सुख हो, आत्माओं के भी आत्मा हो, इस कारण परम सेव्य हो । समस्त प्राणियों के प्रेमास्पद हो, इसी कारण देवगण भी आहूत हुए से तुम्हारा ही आश्रय करते हैं इसलिये तुम 'देवहूतमम्' कहलाते हो । यहाँ 'प्राणस्य प्राणम्' के समान नपुंसलिंग में प्रयोग किया गया है । उक्त अभिप्राय का समर्थन वाल्मीकि रामायण के वचन से भी किया गया है ।

१०—अह्रुतमसीत्यत्रापि स्वामिदयानन्दो व्यत्ययाधारमेव व्याख्यातवान् । तद्रीत्या यथाश्रुतार्थव्याख्याना-सम्भवात् उरु वाता येत्यस्य वायोः शुद्धये सुखवृद्धये वेति कथमर्थः ? रक्ष इत्यस्य दुर्गन्धादिदोषजालमित्यादिकमर्थस्तु स्वच्छन्दताया अपूर्वमुदाहरणम् । पञ्चेत्यस्य उत्क्षेपणादिपञ्चकर्माणि । प्रथमान्तं पञ्चेति कथं तृतीयात्वेन परिणेयम् ? किञ्च तत्र मानम् ? इत्यस्य मौनमेवोत्तरम् ।

यदुक्तम्—'हे ऋत्विक् यदग्निना दृंहितमह्रुतं हविर्धानमस्यास्ति तद् दृंहस्व, तत्कदाचिन्मा ह्वाः मा त्यजेः, इदं ते तव यज्ञपतिदृंहता मा ह्वार्षीत् मा त्यजतु । एवं भवन्तः सर्वे मनुष्याः पञ्चभिः पञ्चभिरुत्क्षेपणादिभिः कर्मभिर्यदग्नौ हूयते तन्नियच्छन्ताम् निगृह्णन्तु यद् द्रव्यं विष्णुर्व्यापनशीलः सूर्यो अपहतं रक्षो यथास्यात्तथोरुवाताय क्रमतां क्रमयति चालयति । त्वा तत्सर्वं मनुष्या अग्नौ होमद्वारा यच्छन्ताम् निगृह्णन्तु' (पृ० ५८) इति, तदपि न किञ्चित् हे ऋत्विक् इति सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात् पूर्वेणसङ्गत्ययोगाच्च । कीदृशं हविर्धानम् अग्निना कथं दृंहितमित्यपि अस्पष्टत्वात् छायावादिव्याख्यानम् । मा त्यजेरिति किं हविर्धानस्य त्यागो निषिध्यते ? दृंहस्वेति क्रियायास्त्वमित्येन सम्बन्धो योग्यः । यज्ञपतिदृंहतामिति किमर्थं व्यत्ययः ? स किं न त्यजतु ? पञ्चभिः कर्मभिर्होमस्य कथं नियमनम् ? वेत्यस्य तत्सर्वहोम-द्वारा कथं निग्रहः ? सर्वथाऽपि दुर्बोधोऽयमर्थः । यदा मनुष्याः परस्परं प्रीत्या कुटिलतां विहाय शिक्षकशिष्या भूत्वेमा-मग्निविद्यां विज्ञक्रियाभ्यां ज्ञात्वानुतिष्ठन्ति तदा महतीं शिल्पविद्यां सम्पाद्य शत्रु-दारिद्र्य-निवारणपुरःसरं सर्वाणि सुखानि प्राप्नुयुरिति भावार्थस्तु ततोऽपि विलक्षणः ।

१०—'अह्रुतमसि' मन्त्र का व्याख्यान स्वामी दयानन्द ने व्यत्यय का सहारा लेकर ही किया है । उनकी रीति के अनुसार यथाश्रुत अर्थ करना संभव ही नहीं है । 'उरुवाताय' का वायु की शुद्धि के लिये अथवा सुख वृद्धि के लिये—यह अर्थ कैसे हुआ ? 'रक्ष' का दुर्गन्धादि दोष इत्यादि अर्थ करना तो अपनी स्वच्छन्दता प्रदर्शन करने का अपूर्व उदाहरण है । पञ्च' का उत्क्षेपणादि पाँच कर्म । प्रथमान्त 'पञ्च' पद का तृतीयान्त के रूप में परिणाम कैसे किया गया ? ऐसा करने में क्या कोई प्रमाण है ? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर देने में दयानन्दानुयायियों को मौन ही रहना पड़ता है ।

दयानन्दजी ने यह जो कहा है कि 'हे ऋत्विक् ! तुम जो अग्नि से दृंहित जिसका हविर्धान है, उसे तुम दृढ़-कर दो, उसका त्याग कभी मत करो । यज्ञपति से दृंहित हुए उसका त्याग न करे । इसी प्रकार आप सभी मनुष्य उत्क्षेपणादि पाँच कर्मों से अग्नि में जो हवन करते हैं उसका निग्रह करें । व्यापनशील सूर्य (विष्णु) जिस द्रव्य को प्राप्त कर सके, राक्षस लोग उसका अपरहण न कर पावें ऐसा करो हे मनुष्यों अग्नि में होम के द्वारा उन सब का निग्रह करो ।

यह उपर्युक्त दयानन्दीय व्याख्यान, निःसार है । हे ऋत्विक् ! इस सम्बोधन के प्रयोग करने में कोई मूल नहीं है, अर्थात् यह प्रयोग निर्मूल है । पूर्व कथन के साथ कोई उसकी सङ्गति भी नहीं है । वह हविर्धान कैसा है ? अग्नि के द्वारा वह कैसे दृंहित है ? इसकी कोई स्पष्टता नहीं की है । केवल छायावादी व्याख्यान किया है । 'मा त्यजे' कहकर क्या हविर्धान के त्याग का निषेध किया जा रहा है ? 'दृंहस्व' इस क्रिया का 'त्वम्' के साथ सम्बन्ध करना उचित है । 'यज्ञपतिदृंहताम्' ऐसा व्यत्यय क्यों किया गया है ? वह क्या न त्यागे ? पाँच कर्मों से होम का कैसे नियमन होता ? 'वा' का तत्सर्व होम के द्वारा विग्रह कैसे होता है ? सर्वथापि यह दुर्बोध अर्थ है जब मनुष्य परस्पर प्रेम कर और कुटिलता का त्याग कर शिक्षकों के शिष्य बनकर इस अग्निविद्या का विज्ञ क्रियाओं के द्वारा जानकर अनुष्ठान करेंगे तब महान् शिल्प विद्या का सम्पादन कर शत्रुओं का दरिद्रता का निवारणपूर्वक समस्त सुखों को प्राप्त कर सकेंगे'—यह भावार्थ तो पूर्वोक्त व्याख्यान से भी विलक्षण है ।

११—यत्तु—अध्यात्मपक्षविवरणे 'अह्रुतमसि हविर्धानं वेदविज्ञानं वाक् चैव मनश्च हविर्धानं (कौ० ८।३) दृꣳहस्व, मा ह्वाः अस्मान्' (पृ० ५८।३) इत्यादिकमुक्तम्, तदपि तुच्छम्, तत्र कौटिल्यासम्भवेन अह्रुतत्वोक्तेरयोगात्। कौषीतकीवचनेन तु वाङ्मनसयोः प्रत्येकस्य हविर्धारणहेतुत्वेन हविर्धानत्वमुक्तम्। किञ्च वेदविज्ञानं दृढमेवास्ति तत्र दृꣳहस्वेति नियोगो व्यर्थ एव स्यात्।

दयानन्दीयं हिन्दीभाष्यमपि विरुद्धमेव। तथाहि तत्र तु हे ऋत्विक् मनुष्य तुम जो अग्नि से बढ़ा हुआ (अह्रुत) कुटिलतारहित (हविर्धान) होमके योग्य पदार्थों का धारण करना है उसको (दृꣳहस्व) बढ़ावो किन्तु किसी समय में (मा ह्वाः) उसका त्याग मत करो। तथा वह तुम्हारा यज्ञपति यजमान भी उस यज्ञ को बढ़ावे और उसके अनुष्ठान को न छोड़े।' नात्र वेदविज्ञानं तेनोक्तम्। यद्यप्येतेनापि न मन्त्रार्थः स्फुरति। तुम लोग एक तो ऊपर को चेष्टा करना दूसरा नीचे को तीसरा चेष्टा से अङ्गों को सङ्कोचना चौथा उनको फैलाना पांचवाँ चलना-फिरना। इन पाँच प्रकार के कर्मों से हवन के योग्य जो द्रव्य हो उसको अग्नि में नियम से धारण करो अर्थात् हवन करो त्वा वह जो हवन किया द्रव्य है उसको व्यापनशील जो सूर्य है वह अपहतं रक्षः दुर्गन्धादि दोषों को दूरकर उरु वाताय अत्यन्त वायु की शुद्धि वा सुख की वृद्धि के लिये ऊपर को क्रमता है—बढ़ा देता है त्वा उस सब को हवन द्वारा नियम से धारण करें। इति दृश्यतां दयानन्दीयं चमत्कृतिमयं विज्ञानभूयं विज्ञानम्। किं होम उत्क्षेपणसङ्कोचनप्रसारणादीनामुपयोगो भवति? दृंहतेर्वृद्ध्यर्थता ह्वरतेस्त्यागार्थता त्वेत्यस्य तदर्थता रक्ष इत्यस्य दुर्गन्धतार्थता—इत्यपूर्वोऽर्थः। वातायेत्यस्य वातशुद्धिपरत्वादिकं तु पूर्वमिहैव भूमिकायाञ्च निरस्तमेव। विवरणकृताऽनावश्यकं बहुप्रलपतापि भाष्याभिप्रायवर्णने मौनमेवालम्बितम्।

अयं मन्त्रो (शत० १।२।१२-१६) इत्यप्युक्तं दयानन्देन परन्तु शतपथवचनानि सर्वथा तद्व्याख्यानविरुद्धान्येव। तथाहि—'अथ जघनेन कस्तम्भीमीषामभिमृश्य जपति देवानामसि वह्नि ....देवहूतमम्।

अह्रुतमसि हविर्धानं दृꣳहस्व माह्वारित्यन एवैतदुपस्तौत्युपस्तुताद्धातमनसो हविर्गृह्णानीति मा यज्ञपतिर्ह्वार्षीदिति यजमानो वै यज्ञपतिस्तद्यजमानायैतदह्वलामाशास्ते।' (श० १।१।२।१२) शकटस्याधःपतनं वारयितुमीषादण्डप्रोत्तम्भनार्थमिथी कस्तम्भी। कस्तम्भीमीषां स्पृशति। यद्यप्ययं मन्त्र ईषाभिमर्शने विनियुक्तस्तथाप्यवयविस्तुत्याऽवयवः स्तुतो भवतीत्यभिप्रेत्यैतन्मन्त्रवाक्यं वोढृतमत्वादिगुणकथनेनान एवोपस्तौति—अभिभ्रष्टव्येषापरित्यागेन

११—अध्यात्मिक पक्ष के विवरण में जो कहा है, वह भी तुच्छ है, क्योंकि उसमें कौटिल्य का संभव न होने से अह्रुतत्वोक्ति सङ्गत नहीं हो रही है। कौषीतकी वचन से तो वाक् और मन दोनों में से प्रत्येक में हविर्धारण की हेतुता रहने से दोनों को हविर्धान शब्द से कहा गया है। किञ्च वेद का विज्ञान तो दृढ़ ही होता है, उसमें 'दृंहस्व' ऐसा नियोग करना व्यर्थ ही होगा।

दयानन्दीय हिन्दी भाष्य भी विरुद्ध ही है। तथाहि—उसमें जो कहा है, वह तो दयानन्दीय चमत्कारमय विज्ञान का अद्भुत तमाशा ही है। क्या होम में उत्क्षेपण अपक्षेपण, सङ्कोचन, प्रसारण आदि का उपयोग होता है? किञ्च—'दृंह' का अर्थ वृद्धि, 'ह्वृ' का अर्थ त्याग, 'त्वा' का अर्थ तदर्थ, 'रक्ष' का अर्थ दुर्गन्ध, यह अपूर्व ही अर्थ बताये गये हैं। 'वाताय' का वात शुद्धि अर्थ जो बताया है, उस का खण्डन हमने भूमिका में कर दिया है। दयानन्दी भाष्य के विवरणकार ने अनावश्यक बहुत-सा प्रलाप करते हुए भी भाष्य के अभिप्राय वर्णन में मौन का ही अवलम्ब किया है।

शतपथ के (१।२।१२-१६) को दयानन्दजी 'मन्त्र' कह दिया है, परन्तु शतपथ के वाक्य उनके व्याख्यान के सर्वथैव विरुद्ध हैं। शतपथ के अनुसार यद्यपि इस मन्त्र का ईषाभिमर्शन में विनियोग बताया गया है, तथापि अवयवी की स्तुति करने से अवयव स्तुत हो ही जाता है—इसी अभिप्राय से यह मन्त्र वाक्य वोढृतमत्व आदि गुणों को बताकर

तदवयवादिशकटं स्तुवतोऽभिप्रायमाह उपस्तुतादित्यादिना। उपस्तुतादनसः घ्रातं देवानां तृप्तिजनने पर्य्याप्तं (घ्रै तृप्ता) वितिधातो रूपम्। हविर्गृह्णानीति। तेन यज्ञपतिर्मा ह्वार्षीत्। यजमानो वै यज्ञपतिः स मा ह्वार्षीत् यज्ञविघ्नेन कुटिलगतिर्माभूत्। तद्यजमानायैवैतदह्वलामाशास्ते। अह्वरा इत्यत्र रेफस्थाने लकारप्रयोगः, रलयोरभेदात्। ह्वरण-निषेध एव तदर्थः। यजमानस्य कुटिलगत्यभावमेवाशास्ते।

१२—अथाक्रमते विष्णुस्त्वा क्रमतामिति। यज्ञो वै विष्णुः स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे येषामियं विक्रान्तिरिदमेव प्रथमेन पदेन पस्पाराथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेनैताम्वेवैष एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विक्रान्तिं विक्रमते। (श० १।१।२।१३)।

शकटारोहणं विधत्ते—हे शकट त्वां विष्णुरेवाक्रमताम्, नाहम्। विष्णोरेव क्रमणं किमिति प्रार्थ्यते इतिचेद् तत्राह यज्ञो वै विष्णुः, व्यापनसामान्यात् तादात्म्यव्यपदेशः। एषां देवानामर्थ इयं वैष्णवी विक्रान्तिः। इदं परिदृश्यमानं पृथिव्याख्यं स्थानं प्रथमेन पदा पादनिधानेनाक्रममाणः पस्पार पालयामास (स्पृ प्रीतिपालनयोः) द्वितीयेनान्तरिक्षं तृतीयेन पदा दिवं पस्पार पालयामास। एवं त्रिभिः पद्भिः त्रीण्यपि स्थानानि स्वायत्तीकृतवान् विष्णुरिति मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु पुराणेषु च स्पष्टमेव।

'अथ प्रेक्षते। उरु वातायेति प्राणो वै वातस्तद्ब्रह्मणैवैतत् प्राणाय वातायोरुगायं कुरुते। (श० १।१।२।१४)।

पुरोडाशीयानां व्रीहीणां समन्त्रकमीक्षणं विधत्ते–'वायुः प्राणोभूत्वा नासिके प्राविशत्' (ऐ० आ० २।४।२) इति प्राणवातयोरैक्यमभिप्रेत्य ब्राह्मणा मन्त्रेणैव प्राणात्मकाय वाताय एतत् उरुगायमुरुभवनकीर्तनं क्रियत इत्यर्थः। वातात्मक-प्राणसञ्चाराय हे शकट उरु विस्तीर्णं त्वां करोमीति। 'अथापास्यति। अपहत ँ रक्ष इति। यद्यत्र किञ्चिदापन्नं भवति यद्युवमृशेत्तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षा ँ स्यतोपहन्ति (श० १।१।२।१५) अत्र व्रीहिषु यदि किञ्चित् तृणादिकमापन्नं क्षिप्तं भवेत् तत्र अपहतमितिमन्त्रेण निरस्येत्। यदि तन्न भवेत्तदा पुरोडाशीयं व्रीहिसमूहमेवानेन मन्त्रेणाभिमृशेत्।

'अथाभिपद्यते। यच्छन्तां पञ्चेति पञ्च वा इमा अङ्गुलयः पाङ्क्तो वै यज्ञस्तद्यज्ञनेवैतदत्र दधाति।' (श० १।१।२।१६)।

ही स्तुति कर रहा है। अभिम्रष्टव्य ईषा का परित्याग करके उसके अवयवादि शकट की स्तुति का अभिप्राय 'उपस्तु-तात्' आदि से कहा गया है। इस प्रकार उपस्तुत हुए शकट से देवताओं को तृप्त करने में प्रर्याप्त हवि का ग्रहण करता है। उस कारण यजमानरूप यज्ञपति यज्ञ में कदाचित् समुत्पन्न विघ्न के कारण कुटिल गति न हो। यजमान के निमित्त ही इस अह्वला (आशीर्वाद) को माँगता है। अर्थात् यजमान की कुटिल गति के अभाव की वह कामना करता है।

१२—शतपथ के वचनानुसार शकटारोहण करते समय वह कहता है कि हे शकट ! तुम पर विष्णु ही आक्र-मण करे, मैं नहीं। विष्णु के ही आक्रमण को वह क्यों चाहता है ? तो कहा है कि 'यज्ञो वै विष्णुः', व्यापन की समा-नता को देखते हुए दोनों में तादात्म्य व्यवहार किया गया है कि यज्ञ ही विष्णु है। इन देवताओं के लिये विष्णु का यह आक्रमण है। परिदृश्यमान इस पृथिवीस्थान पर प्रथम पादनिधान के द्वारा आक्रमण कर उसका उसने पालन किया। द्वितीय पादनिधान के द्वारा आक्रमण कर अन्तरिक्ष का पालन किया। तदनन्तर तृतीय पाद से द्युलोक (स्वर्ग) पर आक्रमणकर उसका पालन किया। इस प्रकार तीन ही पदों से (पादनिधान के द्वारा) तीनों ही स्थानों को उस विष्णु ने अपने स्वाधीन कर लिया। यह कथा मन्त्र, ब्राह्मण और पुराण ग्रन्थों से स्पष्ट ही है। शतपथ ब्राह्मणवचन के अनुसार पुरोडाशीय व्रीहियों का समन्त्रक ईक्षण का विधान किया गया है। प्राण और वात की एकता के अभिप्राय से मंत्र ने ही उसका विस्तीर्ण होना बताया है। अर्थात् वातात्मक प्राण के सञ्चारार्थ हे शकट ! मैं तुम्हें विस्तीर्ण कर रहा हूँ। तदनन्तर शतपथ ने कहा है कि उन व्रीहियों में यदि कोई तृणादि गिरा हो तो उसे उनमें से निकाल दे। यदि कोई तृण-

हविर्ग्रहणाय समन्त्रकं स्पर्शनं विधत्ते—अथाभिपद्यत इति। अथानन्तरमभिपद्यते आलभते स्पृशति हविर्ग्रहणाय मुष्टिं वध्नन्तु पञ्चांगुलय इत्यर्थः। मन्त्रगतपञ्चशब्दार्थमाह पाङ्क्तो वा इति। 'पञ्चपदा पङ्क्तिः' (ऐ० आ० १।३।८) यज्ञोऽपि धानाकरम्भादिपञ्चहविष्कः पञ्चसंख्यायोगसाम्यात्। तदुक्तम् धानाः करम्भाः परिवापः पुरोडाशः पयस्या तेन पङ्क्तिराप्यते तद्यज्ञस्य पाङ्क्तत्वम्। (तै० सं० ६।५।११।८) तथा सति एतेन पञ्चशब्दोपेतमन्त्रोच्चारणेन अत्र अस्मिन् शकटे पाङ्क्तं यज्ञमेव धारयतीत्यर्थः। यद्वा पञ्चाङ्गुलिना युक्तेन मुष्टिना ब्रीहीन् गृह्णीयादित्यर्थ उक्तः।

१३—अत्र दयानन्दीयस्पार्थस्य गन्धोऽपि नोपलभ्यते। दुर्भाग्यवशात् दयानन्देन प्रभुसम्मितस्य ब्राह्मणभागस्यापौरुषेयत्वं वेदत्वं चापलप्य महतेऽनर्थायैव परिकरबन्धः कृतः। तत एव पदे पदे स्वेच्छाचारितामवलम्ब्य श्रुतिषु बलात्कारः कृतः। वस्तुतस्तु प्रभुस्थानीयं ब्राह्मणमेव तानि कर्माणि विदधाति तदर्थं देवताद्रव्यसम्बन्धमभिधाय यथाद्रव्ये प्रोक्षणादिसंस्कार विदधाति तथैव द्रव्यदेवतादिस्तुतौ मन्त्रं विनियुङ्क्ते। संस्कारार्थमेव मन्त्रव्याख्यानमपि करोति। तावतैवानभिज्ञा मन्त्रव्याख्यानमेव ब्राह्मणं मन्वते तेनैतज्जानन्ति यत् मन्त्रो यथा द्रव्याणां प्रोक्षणावघातादीन् संस्कारान् विदधाति तथैव मन्त्रानपि विनियोगानुसारं व्याख्याय ब्राह्मणं मन्त्रसंस्कारानपि विदधाति।

१४—अथाक्रमते विष्णुस्त्वाक्रमतामिति (श० १।१।२।१३) अत्र शकटारोहणे विष्णुस्त्वाक्रमतामिति मन्त्रो विनियुक्तः। अथ प्रेक्षते अरु वातायेति प्राणो वै वातस्तद्ब्रह्मणैवैतत्प्राणाय वातायोरुगायं कुरुते' (श० १।१।२।१४) प्राणवातयोरैक्यमभिप्रेत्य ब्रह्मणा मन्त्रेणैव प्राणात्मकाय वाताय उरुगायं उरुभवनकीर्तनं कुरुते। 'अथापास्यति।

कङ्कड़ आदि अपद्रव्य न गिरा हो तो पुरोडाशीय ब्रीहि का इस मन्त्र से स्पर्शमात्र ही कर ले, और हविर्ग्रहण करे। हविर्ग्रहण करने के लिये अपनी पांचों अँगुलियों से मुठ्ठी भर ले। पञ्चशब्द का अर्थ 'पाङ्क्तोवा से बताया गया है। 'पञ्चपदा पङ्क्तिः' इस ब्राह्मण वाक्य के अनुसार यज्ञ भी धाना, करम्भ आदि पांच पदार्थों से युक्त होने के कारण 'पञ्च हविष्क' कहलाता है। कहा भी है कि 'धाना, करम्भ, परिवाप, पुरोडाश और पयस्या'—इन पदार्थों से पङ्क्ति का स्वरूप निष्पन्न होता है। यही यज्ञ का पाङ्क्तत्व है। ऐसी स्थिति में इस पञ्चशब्दोपेत मन्त्र के उच्चारण से इस शकट को पाङ्क्त यज्ञ के रूप में ही समझा जाता है। अथवा पांच अँगुलियों से युक्त मुठ्ठी के द्वारा ब्रीहियों को ग्रहण करे—यह भी अर्थ बताया गया है।

१४—यहाँ पर दयानन्दीय अर्थ का गन्ध भी उपलब्ध नहीं है। दयानन्द ने दुर्भाग्यवश प्रभुसम्भित ब्राह्मण भाग के अपौरुषेयत्व और वेदत्व का अपलाप कर महान् अनर्थ पैदा करने के लिये कमर बांध ली हैं। उसी कारण पग-पग पर स्वेच्छाचारी बनकर भगवती श्रुतिमाता पर बलात्कार किया है।

वस्तुतः प्रभुस्थानीय ब्राह्मण ने ही उन कर्मों का विधान किया है। उन कर्मों के लिये देवता—द्रव्य के संबंध को बता कर जैसे द्रव्य पर प्रोक्षणादि संस्कार का विधान किया है, वैसे ही द्रव्य-देवता आदि की स्तुति में मन्त्र का विनियोग भी उसीने किया है। संस्कार के लिये ही मन्त्र का व्याख्यान भी किया है। यही देखकर वेद के स्वरूप को न जाननेवाले अनभिज्ञ लोग मन्त्रव्याख्यान को ही ब्राह्मण समझते हैं। उस कारण वे इतना ही जानते हैं कि जिस प्रकार मन्त्र, द्रव्यों के प्रोक्षण, अवघातादि संस्कारों को बताता है। उसी प्रकार ब्राह्मण, विनियोगानुसार मन्त्रों की भी व्याख्या करके मन्त्र संस्कारों का भी विधान करता है।

१४—शकट पर आरोहण करने में 'विष्णुस्त्वा क्रमताम्' मन्त्र का विनियोग बताया गया है। 'उरु वाताय' इस मन्त्र से उसकी ओर देखता है। प्राण और वात की एकता के अभिप्राय से मन्त्र के द्वारा प्राणात्मक वायु के सञ्चारार्थ उसे विस्तीर्ण होने के लिये कहता है तदन्तर उन ब्रीहियों में गिरे हुए तृणादि अपद्रव्य का निरसन मन्त्र बोलकर करता है। यदि उन ब्रीहियों में तृणादि कोई अपद्रव्य न हो तो उन ब्रीहियों का मन्त्र बोलते हुए स्पर्श करता है।

अपहत ७ँ रक्ष इति यद्यत्र किञ्चिदापन्नं भवति यद्युनाभ्येवमृशेत्तन्नाष्ट्रा .... अपहन्ति ।" (श० १।१।२।१५) पुरोडाशीयेषु ब्रीहिषु यत्किञ्चित् तृणादिकं क्षिप्तं भवति तत् 'अपहतमि'ति मन्त्रेण निरस्यति । यदि तु तत्र तृणादिकं न भवेत् तदा तद्वत् ब्रीहिसमूहमेवानेन मन्त्रेणाभिमृशेत् इत्यर्थः । 'अथाभिपद्यते । यच्छन्तां पञ्चेति । पञ्च वा इमा अङ्गु-लयः पाङ्क्तो वै । यज्ञस्तद्यज्ञमेवैतदत्र दधाति' (श० १।१।२।१६) दयानन्दस्तूत्क्षेपणादीनि कर्माणि पञ्चपदेन गृह्णन् स्वाच्छन्द्यमेव दर्शयति । तेन धर्मकीर्त्यादीनां 'श्वमासं भक्षयेदि'ति विधिकल्पनावकाशो भवति ।

१५—अध्यात्मपक्षे—हे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१।१) इति श्रुतिप्रतिपादित त्वमह्नुतमसि अकुटिलमसि सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदत्वात् सर्वत्र सत्तास्फूर्तिप्रदत्वात् । त्वञ्च हविर्धानमसि देवतुल्यपुण्यात्मभोग्यस्यानन्द-लक्षणस्य हविषो निधानमसि । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृ० उ० ४।३।३२) 'रस ७ँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (तै० उ० २।७) । इति श्रुतेः ।

दृ ७ँ ह्स्व स्वसत्तया स्फूर्त्या च सर्वाणि वस्तूनि दृढीकुरु । (मा ह्वाः) हे ब्रह्मन् यद्यपि त्वं पूर्वो-क्त्यनुसारेणाकुटिलमेवासि तथापि प्राणिनां कर्मानुसारेण कर्मफलप्रदत्वात् तत्तत्कर्मोचितदण्डविधानेन कुटिलमिव भवसि तेन प्रार्थये त्वं कौटिल्यं मा भज । अकारणकरुणावरुणालयत्वात् । क्षमासिन्धुत्वाच्च । अपराधिजनेष्वपि कृपामेव कुरु । यथा जगज्जनन्या सीतया प्रोक्तम्—'कार्यं कारुण्यमार्गेण न कश्चिन्नापराध्यति ।।' (वा० रा० युद्धकाण्ड ११३।४४) शक्र-सुतजयन्तादिसम्बन्धे त्वदकौटिल्यदर्शनात् ।

'चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा त्वय्येव देवि वरदे भुवनत्रयेऽपि ।' (सप्तशती ४।२२) न्यायाचार्यैः श्रीमदुदयनाचार्यैरपि तथैव प्रार्थितं न्यायकुसुमाञ्जलौ—'इत्येवं श्रुतिनीतिसम्प्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते येषां, नास्पदमाद-धासि हृदये ते शैलसाराशयाः । किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयाप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः, काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते भाव-नीया नराः ।।' (न्या० कु० ५।१८) रावण-शिशुपाल कंसादयो विरोधिनोऽपि शत्र्वादिबुद्ध्यापि भगवन्तं चिन्तयानाः सद्गतिं लेभिरे इति नाश्चर्यम् । भगवत्सत्त्वमप्यनङ्गीकुर्वाणास्तत्खण्डनपरायणा नास्तिका अपि प्रस्तुतेश्वरसिद्धिप्रतीप-तया महताभिनिवेशेन ये खण्डनीयतयोच्चैर्भवन्तं चितयन्ते ते ऽपि हे कारुणिक यथाकालं त्वयैव सद्बुद्धिप्रदानादिभिर्वास-नीयाः । स्वभावनया पूरणीया इति तात्पर्यम् । ते तव सम्बन्धी यज्ञपतिः यज्ञादिना भवदुपासकः सोऽपि त्वामनुसृत्य मा ह्वार्षीत् कुटिलो माभूत् । स्वामिगुणानामेव सेवकेषु सञ्चारात् । नन्वेवं दण्डभयाभावादसुरा यथेच्छमास्तिकानां बन्धव-धादिकं करिष्यन्तीति चेत्तत्राह—विष्णुस्तु त्वदीयो जगत्पालकोंऽश उरु बहुधा आक्रमतामसुराणां वधाय दण्डदानाय

शतपथ ब्राह्मण वाक्य में प्रयुक्त 'पञ्च' शब्द का अर्थ, दयानन्द ने उत्क्षेपणादिकर्म किया है, जो उनकी स्वच्छन्दता का प्रदर्शन कर रहा है । उस कारण धर्म कीर्ति आदि बौद्धों ने जो 'श्वमांसं भक्षयेत्' इस प्रकार विधि कल्पना की है, उसे भी अवकाश मिल जाता है ।

१५—अध्यात्मपक्ष में—'सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्म इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित स्वरूपवाले हे परमेश्वर ! समस्त प्राणियों के परमप्रेमास्पद होने के कारण तथा सर्वत्र सत्ता स्फूर्ति के प्रदायक होने से तुम अकुटिल हो । उसी प्रकार देवताओं के पुण्यात्मा लोगों से भोग्य आनन्दलक्षण 'हवि' के निधान हो । अर्थात् तुम हविर्धान हो । अपनी सत्ता और स्फूर्ति से सम्पूर्ण वस्तुओं को दृढ़ करो । हे ब्रह्मन् ! यद्यपि तुम पूर्वकृत कथनानुसार अकुठिल ही हो, तथापि प्राणियों के उनके अपने-अपने कर्मानुसार उन्हें फलप्रदान करने के कारण, अर्थात् तत्कर्मोचितदण्डविधान करने के कारण कुटिल से हो जाते हो, इसलिये मैं तुमसे प्रार्थना कर रहा हूँ कि तुम कुटिल मत बनो । क्योंकि तुम तो अकारण करुण, करुणा वरुणालय हो । और क्षमा के तो सागर ही हो । अपराधीजनों पर भी कृपा ही करो । युद्धकाण्ड में जगज्जननी-सीता-जी ने भी इसी बात को कहा है । इन्द्रसुत जयन्त के सम्बन्ध में तुम्हारी अकुटिलता को सभी ने देखा है । सप्तशती के चतुर्थ अध्याय में भी कहा है—'चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा त्वय्येव देवि वरदे भुवनत्रयेऽपि, न्यायाचार्य श्रीमदु दयनाचार्य ने भी न्यायकुसुमाञ्जलि में उसी तरह प्रार्थना की है । शत्रुबुद्धि से भगवच्चिन्तन करनेवाले रावण, शिशुपाल,

परिणामेऽनुग्रहाय च तेष्वाक्रमणं करोतु। किमर्थं भक्तानां प्राणाय प्राणरक्षणाय धर्मस्य जीवनाय सर्वस्यैव जगतः सप्राणत्वाय पालकस्य विष्णोराक्रमणमसुरेषु भवतु। तेनैव रक्षोऽपहतं धर्मबाधका राक्षसासुरादयो बाधिता भविष्यन्ति। भक्तास्तु त्वदीयतादृक्चरित्रचिन्तनेन पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि यच्छन्ताम् नियमयन्तु। पञ्चोपलक्षणं चतुर्दश करणानां तथा च समेषां नियमनेन भक्तास्त्वां प्राप्नुवन्तु। "यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्॥" (कठोप० २।३।१०) बाह्यकरणावरोधमन्तरा नान्तःकरणावरोधस्तमन्तराखण्डनिर्विकल्पबोधात्मकब्रह्मस्फुर्त्यसम्भवेन न तदात्मलाभः सम्भवति।

१६—यद्वा हे आत्मचैतन्य त्वं पारमार्थिकचिदात्मरूपेण अह्नुतमसि हविर्धानं सुखनिधानमसि। दृंह्स्व परब्रह्मात्मपदप्राप्तये आत्मानं दृढीकुरु। मा ह्वाः भगवन्तं प्रति कौटिल्यं मा भज। 'विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे।' (श्री० भा० म० पु० २।२।१८) इति श्रीमद्भागवतवचनात्। तथा सति यज्ञपतिर्यज्ञभोक्ता भगवानपि 'भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वभूतमहेश्वरम्।' (श्री० भ० गी० ५।२९) मा ह्वार्षीत् त्वां प्रति कुटिलो माभूत्। तस्य भक्तानुसारित्वात् 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' (श्री० भ० गी० ४।११) इति गीतोक्तेः। त्वा त्वां विष्णुर्विशुद्धसत्त्वोपाधिकः पालको भगवान् त्वामभिलक्ष्य त्वद्धिताय त्वदीयबाधकेषु कामक्रोधादिष्वान्तरेषु बाह्येषु च सपत्नेषु आक्रमताम्। यद्वा त्वां त्वदीयं हृदयमाक्रम्य तिष्ठतु तत्राविर्भवत्वित्यर्थः। किमर्थम् उरु वाताय बहूनामास्तिकानां सप्राणत्वाय। तावतैवापहतरक्षः बाधकं सर्वमपनुन्नं भवतु। तेन च सर्वे साधकाः पञ्च ज्ञानेन्द्रियादीनि करणानि यच्छन्ताम् नियमयन्तु। तद्व्याजेनैव यथा पूर्वस्मिन् मन्त्रे शठं प्रतिशाठ्यमिति नीतेरुपदेशस्तथैवात्र 'साध्वाचारः साधुना

कंसादि विरोधियों ने भी सद्गति प्राप्त की—यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। भगवान् के अस्तित्व को भी स्वीकार न करनेवाले इतना ही नहीं, उसके खण्डन करने में प्रतिक्षण तत्पर रहनेवाले नास्तिक भी प्रस्तुत ईश्वरसिद्धि के प्रतिकूल रहने के कारण बड़े अभिनिवेश से आपके खण्डन में जोर-जोर से आपका चिन्तन करते हैं, उन अश्मसार लोगों को भी हे कारुणिक! यथासमय तुम ही सद्बुद्धि देकर अपनी ओर आकर्षित कर उनके ज्ञान की कमी को पूर्ण कर देना तुम से सम्बन्धित जो यज्ञपति अर्थात् यज्ञ के द्वारा आपकी उपासना करनेवाला यजमान है, वह भी तुम्हारा अनुसरण करे, कुटिल न बने। क्योंकि स्वामी के गुणों का सञ्चार ही सन्तानों में होता है। इस पर यदि कोई कहे कि दण्डभय के न रहने से असुरलोग अपनी इच्छा के अनुसार आस्तिकों का बन्ध-वधादि करेंगे। तब उसपर उत्तर दिया है कि तुम्हारा जगत्पालक विष्णु बहुधा आक्रमण करनेवाले असुरों को दण्ड देने के लिये और अन्त में अनुग्रह करने के लिये उनपर आक्रमण करे। अर्थात् भक्तों की प्राणरक्षा करने के लिये धर्म के जीवन के लिये सभी जगत् को सप्राण करने के लिये असुरों पर पालक विष्णु का आक्रमण हो। उसी कारण धर्म में बाधा पहुँचानेवाले राक्षस असुरादिक बाधित हो जायेंगे किन्तु भक्त लोग तुम्हारे तादृक् चरित्र चिन्तन से पञ्च ज्ञानेन्द्रियों पर नियन्त्रण रखें। 'पञ्च' शब्द चतुर्दशकरणों का उपलक्षण है, तथा च सभी इन्द्रियों के नियमन से भक्त लोग तुम्हें प्राप्त हों। कठोपनिषद् में कहा गया है कि बाह्येन्द्रियों को नियन्त्रित किये बिना अन्तःकरण पर नियन्त्रण नहीं हो पाता, और उसके बिना अखण्ड निर्विकल्प बोधात्मक ब्रह्म की स्फूर्ति का होना संभव न रहने से तद्रूपता की उपलब्धि का होना कभी संभव नहीं है।

१६ - अथवा हे आत्म चैतन्य! तुम पारमार्थिक चिदात्मरूप से सुख के निधान (हविर्धान) हो। परब्रह्मात्मपद की प्राप्ति के लिये अपने को दृढ़ करो। भगवान् के प्रति कुटिल मत बनो। श्रीमद्भागवत (२।२।१८) में इसी प्रकार कहा गया है। वैसा बनने पर यज्ञभोक्ता भगवान् भी तुम्हारे प्रति कुटिल नहीं होगा, क्योंकि भगवान् तो भक्त का अनुसरण किया करते हैं। इसी बात को श्रीमद्भगवद्गीता में भी बताया गया है। विशुद्ध सत्त्वोपाधिक पालक विष्णु भगवान् तुम्हारा कल्याण करने के लिये तुम्हारे कार्य में बाधक बनने वाले काम-क्रोधादि आन्तर और बाहरी शत्रुओं पर आक्रमण करें। अथवा तुम्हारे हृदय पर आक्रमण कर उसमें निवास करें, अर्थात् तुम्हारे हृदय में वे भगवान् श्रीहरि आविर्भूत हो। आविर्भूत होने से अनेक आस्तिकों में प्राण संचार हो सकेगा। उसी से जितने भी बाधक हैं, सभी नष्ट हो जायेंगे। ऐसा होनेपर सभी साधक लोग अपने पंच ज्ञानेन्द्रियादिकरणोंपर नियन्त्रणकर सकेंगे। इसी

प्रत्युपेयः' (म० भा० उ० ३७।७) इत्युपदिश्यते। भगवदाराधनबुद्धयानुष्ठीयमानं कर्मापि तत्प्राप्तिसाधनमिति दर्शपूर्णमासानुष्ठानमपि तदुपासनमेव।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अग्नये जुष्टं गृह्णाम्यग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि ॥१०॥

—(वा० सं० १।१०)

१— देवस्य त्वेति गृह्णात्याग्नेयं चतुरो मुष्टीनेवमग्नीषोमीयं यथादेवतमन्यत्' (का० श्रौ० सू० २।३।२०–२२) ततः सव्यहस्ते शूर्पं निधाय तस्योपरि अग्निहोत्रहवणीमुत्तानां निधाय प्राङ्मुखोनो देवस्यत्वेति मन्त्रेण मुष्ट्या प्रक्षिपति। एवमपरं मुष्टिद्वयमनेनैव मन्त्रेण चतुर्थं मुष्टिं तूष्णीं प्रक्षिपति। ततो गृहीतं हविः शूर्पमध्ये दक्षिणपार्श्वे प्रक्षेपणीयं यथा हविरन्तरेण सङ्करो न भवेत् "देवस्य त्वा अग्नीषोमाभ्यां जुष्टमि''ति मन्त्रेण त्रिर्गृह्णाति चतुर्थं तूष्णीम्'।

२—मन्त्रार्थस्तु—सवितुर्देवस्य प्रेरकस्य परमेश्वरस्य प्रेरणे सति तेन प्रेरितोऽहमग्निदेवतायै जुष्टमिदं व्रीहिरूपं हविर्गृह्णामि। ग्रहणसाधनयोः स्वकीयबाह्वोरश्विबाहुभावना कार्या। हस्तयोस्तु पूषहस्तभावना कार्येत्यभिप्रेत्याश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णोहस्ताभ्यां व्यासक्तदेवाभ्यां जुष्टं हविर्गृह्णामीत्यर्थः। काभ्याम् अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां सविता देवानां मध्ये प्रसविता प्रेरको देवः। यद्वा देवानामप्येष प्रेरकः। "अश्विना उदेवानामध्वर्यू" इति काण्वश्रुतेः। "पूषा वै देवानां भागधुग् भूषणम् पाणिभ्यामभिदधाति तस्मादाह पूष्णो हस्ताभ्यामि' ति काण्वश्रुत्या चाश्विनोर्बाहुत्वस्य पूष्णोहस्तत्वस्य च चिन्तनं युक्तम्। अंसमणिबन्धयोर्मध्यभागो दीर्घदण्डाकारो बाहुः पञ्चाङ्गुलियुक्तोऽग्रभागो हस्तः।

व्याज से जिस प्रकार पूर्व मन्त्र में 'शठम्प्रति शाठचम्' इस नीति का उपदेश दिया गया था, उसी प्रकार यहाँ भी 'साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः' का उपदेश दिया जा रहा है। भगवद दाधन बुद्धि से अनुष्ठीयमान कर्म भी भगवत्प्राप्ति का साधन होता है। अतः दर्शपूर्णमास कर्म का अनुष्ठान भी भगवदुपासना ही है ॥ ९ ॥

१—कात्यान श्रौतसूत्र के अनुसार सव्य (बाँये) हाथ में शूर्प रखकर उस पर अग्निहोत्रहवणी पात्र को उत्तान रखकर पूर्वदिशा में बैठा हुआ 'देवस्य त्वा' मन्त्र से अपनी मुष्टि से पूर्वोक्त पात्र में हविः—प्रक्षेप करे। उसी प्रकार दो मुठ्ठियाँ इसी मन्त्र से तदनन्तर चतुर्थ मुष्टि से तूष्णीं (मन्त्र को बिना बोले) उसी पात्र में हविः प्रक्षेप करे। उस गृहीत हवि को शूर्प के दक्षिण पार्श्व में कर दे, जिससे अन्य हवि के साथ सङ्कर (मिश्राण) न हो पाये। 'देवस्व त्वा अग्नीषोमाभ्यां जुष्टम्', इस मन्त्र से तीन बार ग्रहण करता है और चौथी बार तूष्णीं ही ग्रहण करता है।

२—मन्त्रार्थ इस प्रकार है—प्रेरक परमेश्वर सविता देव के प्रेरणा करने पर उनसे प्रेरित हुआ मैं अग्निदेवता के लिये प्रिय इस व्रीहि रूप हवि का ग्रहण करता हूँ। ग्रहण करने में साधनभूत अपने दोनों बाहुओं में अश्वि देवता के बाहुओं की भावना करे। अपने हाथों में पूषा देवता के हाथों की भावना करें। इसी अभिप्राय से व्यासक्त देवताओं के लिये प्रिय हवि का ग्रहण करता हूँ। अंस और मणिबन्ध के मध्यभाग जो दीर्घ दण्डाकार है, उसे 'बाहु' कहते हैं। तथा पञ्चाङ्गुलियों से युक्त अग्रभाग को 'हस्त' कहते हैं।

दोनों अश्वि देवता देवों के अध्वर्यु हैं। और पूषादेवता देवों के भागधुक् हैं। सर्वात्मक सर्वैश्वर्यपूर्ण अग्नि के तादृश लोकोत्तर हवि का ग्रहण करना मनुष्य के द्वारा शक्य नहीं है, इस लिये सर्वत्र अनुज्ञा प्राप्त करके मैं अश्वि देवता

अश्विनौ हि देवानामध्वर्यू पूषादेवताहि देवानां भागधुक् सर्वात्मकस्य सर्वैश्वर्यपूर्णस्याग्नेस्तादृशं लोकोत्तरं हविर्न-मनुष्येण ग्रहीतुं शक्यम् इति सवित्रानुज्ञातो ऽहमश्विबाहुभ्यां पूष्णोहस्ताभ्यां दिव्याभ्यां लोकोत्तराभ्यां बाहुभ्यां तादृशा-भ्यामेव हस्ताभ्यामाग्नेयं हविर्गृह्णामीत्यर्थः। 'सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः' (श० १।१।२।१७) देवानां सत्यरूपत्वात् तदनुस्मृतिपूर्णहविर्ग्रहणं फलपर्यवसायीति देवतास्मृत्यभावे मनुष्याणामनृतस्वभावत्वात् तत्कृतमनुष्ठानं निष्फलत्वादनृतं भवतीति देवतास्मरणम्। हविर्गृह्णन्तमध्वर्युं देवताः सेवन्ते। अनामग्राहं हविषि गृहीते तासां मिथः कलहः सम्भाव्यते। तन्निवृत्तये अग्नये जुष्टंमग्नीषोमाभ्यां जुष्टमिति देवतानिर्देशपूर्वकमेव हविर्ग्रहणं युक्तम्। तदुक्तं काण्वश्रुत्या—"ये अथ यदमुष्यै गृह्णाति देवतायै आदिशति सर्वा वै देवता अध्वर्युं हविर्गृह्णन्तमुपतिष्ठन्ते मम नाम ग्रहीष्यतीति। ताभ्य एवैतत् सर्वाभ्यो सहस्वतीभ्यः समदं करोती"ति सायणाभिप्रायः। यद्यपि अग्नीषोमयो व्यासज्यवृत्तिदेवतात्वं तथापि अग्निश्च सोमश्च पृथक् पृथक् शब्देनाभिधातुं शक्येते। 'देवो अग्निः' (वा० सं० २१।५८) 'देवः सोमः" (ऋ० सं० ७।-१।३२) इति मन्त्राभ्याम्। उव्वटरीत्या तु देवस्य सवितुः प्रसवे अभ्यनुज्ञायां वर्तमानः, देवेन सवित्रा प्रसूतः अश्विनो-र्बाहुभ्यां न स्वाभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं रुचितमभिप्रेतं हविर्गृह्णामि। योऽग्निः सर्वेश्वरः सर्वात्मा तस्य तथा-भूतमेतदन्नं भवितुमर्हति। न च तथाभूतं मनुष्येण ग्रहीतुं शक्यते। अतोऽहं सावित्रं प्रसवमास्थायाश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वां हविष्याग्नये ऽभिरुचितं गृह्णामीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'देवस्य सर्वजगत्प्रकाशकस्य सर्वसुखदातुरीश्वरस्य त्वा तत् सवितुः 'सविता वै देवानां प्रसविता' (श० १।१।२।१७) सर्वजगदुत्पादकस्य सकलैश्वर्यप्रदातुः प्रसवे सवितृप्रसूतेऽस्मिन् जगति अश्विनोः सूर्याचन्द्रमसोरध्वर्य्यो-र्वा बाहुभ्यां बलवीर्याभ्यां वीर्यं वा एतद्राजन्यस्य यद्बाहू' (श० ५।४।१।१७) पूष्णः पुष्टिकर्तुः प्राणस्य हस्ताभ्यां ग्रहण-विसर्जनाभ्यामग्नये अग्निविद्यासम्पादनाय जुष्टं विद्यां चिकीर्षुभिः सेवितं कर्म गृह्णामि। अग्नीषोमाभ्यामग्निजल-विद्याभ्यां जुष्टं विद्वद्भिः प्रीतं फलं गृह्णामि। तद्रीत्यापि (श० १।१।२।१७) मन्त्रो व्याख्यातः", (पृ० ६०-६१) इति,

---

के बाहुओं से तथा पूषा देवता के हाथों से अर्थात् लोकोत्तर बाहुओं से और वैसे ही हाथों से आग्नेय हवि का ग्रहण कर रहा हूँ। 'सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्या'—इस शतपथ के अनुसार देवताओं के सत्यरूप होने से उनकी स्मृतिपूर्वक जो हविर्ग्रहण किया जाता है, वह फल पर्यवसायी होता है। देवता स्मरण के अभाव में अनृत स्वभाववाले मनुष्यों के द्वारा किया गया अनुष्ठान निष्फल रहने से अनृत होता है, इसलिये देवता स्मरण करना आवश्यक है। हविर्ग्रहण करने वाले अध्वर्यु की सेवा देवता करते हैं। देवता का नाम ग्रहण किये बिना हवि के ग्रहण करनेपर उनमें परस्पर कलह होने की संभावना रहती है, तन्निवारणार्थ 'अग्नये जुष्टम्', 'अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं' इस प्रकार देवता निर्देशपूर्वक ही हवि ग्रहण करना उचित है। इसी अभिप्राय को काण्व श्रुति ने भी कहा है। यद्यपि अग्नीषोम में व्यासज्यवृत्ति देवतात्व है, तथापि 'देवो अग्निः', 'देवः सोमः' मन्त्रों के द्वारा अग्नि और सोम का पृथक्-पृथक् शब्दों से अभिधान किया जा सकता है।

उव्वटाचार्य की रीति से इस प्रकार अर्थ किया जाता है, कि सविता देव की अनुज्ञा में रहनेवाला मैं अश्वि-देवता के बाहुओं से; अपने बाहुओं से नहीं,—तथा पूषा देवता के हाथों से; अपने हाथों से नहीं अग्नि के लिये प्रिय रुचिकर हवि का ग्रहण कर रहा हूँ। जो अग्नि सर्वेश्वर सर्वात्मा है, उसी का वैसा यह अन्न हो सकता है। वैसे उस अन्न को मनुष्य नहीं ग्रहण कर सकता। इसलिये मैं सविता देवता की प्रेरणा से अश्वि तथा पूषा देवता के बाहु और हाथों से ही तुम्हारे लिये रूचिकर अभीष्ट हवि का ग्रहण करता हूँ।

दयानन्द स्वामी तो उक्त मन्त्र का अर्थ, अपनी इच्छा के अनुसार मन-मानी कर रहे हैं—"सर्वजगत्प्रकाशक सर्वसुखदाता उस सविता के द्वारा प्रसूत हुए इस जगत् में सूर्य-चन्द्रमा के अथवा अध्वर्यु के बल-वीर्य से और पुष्टि-कारक प्राण के ग्रहण-विसर्जन के द्वारा अग्निविद्या के सम्पादनार्थ विद्याप्राप्ति के इच्छुकों द्वारा सेवित कर्म को स्वीकार करता हूँ। अग्नि, जल की विद्या के द्वारा विद्वद्प्रिय फल का ग्रहण करता हूँ।"

तत्रोच्यते, सूर्याचन्द्रमसोर्बलवीर्याभ्यां प्राणस्य ग्रहणविसर्जनाभ्यां कीदृश्या अग्निविद्यायाः सम्पत्तये विद्वद्भिः सेवितं कीदृशं कर्मेति तु नोक्तमेव। सूर्याचन्द्रमसो र्बलवीर्ये तत्रैव तिष्ठतः, तत्र कथं मनुष्यस्य स्वातन्त्र्यम्! श्रुत्या तु वीर्यम् राजन्यस्य बाहू इत्युच्यते तत्र बलमिति कुतो गृहीतम्? ग्रहणविसर्जनसाधनयोर्हस्तयोर्ग्रहणविसर्जनप्रयोगो लक्षणामन्तरा कथं भवति। लक्षणा चान्वयानुपपत्ति तात्पर्यानुपपत्ति च विना कथमुपपद्यते? अग्नये इत्यग्निविद्या अग्नीषोमाभ्यामित्यग्निजलविद्याभ्यामित्यादिकं सर्वमपि व्याख्यानं निर्मूलमेव।

३—विद्वद्भिर्मनुष्यैर्विद्वत्सङ्गत्या सम्यक्पुरुषार्थेनेश्वरोत्पादितायां सृष्टौ सकलविद्यासिद्धये सूर्यचन्द्रजलाग्निपदार्थानां सकाशात् सर्वेषां बलवीर्यसिद्धये सर्वा विद्याः संसेव्य प्रचारयितव्याः। प्रायेणायं भावार्थो बहुत्र मन्त्रेषु दृश्यते। किमिदमेव सर्वेषु मन्त्रेषु विवक्षितम्? किञ्च दयानन्देन तदीयैर्वा तथाभूता विद्या ज्ञायन्ते? न वा? न चेन्निरर्थकः प्रलापः, ज्ञायते चेत् कियतां बलवीर्यवृद्धिः सम्पादिता? वस्तुतस्तु श्रुतिसूत्रपारम्पर्यत्यागस्येदमेवफलं यत्पदे पदे वेदार्थव्याख्याने प्रमादः। अत एव शतपथेऽस्यार्थस्य गन्धोऽपि नोपलभ्यते।

४—तथाहि—"अथ गृह्णाति देवस्य त्वा जुष्टं गृह्णामीति सविता वै देवानां प्रसविता तत्सवितृप्रसूत एवैतद्गृह्णात्यश्विनोर्बाहुभ्यामित्यश्विनावध्वर्यू र पूष्णो हस्ताभ्यामिति पूषा भागदुघोऽशनं पाणिमुपनिधाता सत्यं देवा अनृतं मनुष्यास्तत्सत्येनैवैतद्गृह्णाति (श० १।१।२।१७) अथ गृह्णातीति—अत्र शातपथी श्रुतिः समन्त्रकहविर्ग्रहणं विदधाति। अनुष्ठेयहविर्ग्रहणानुगुण्यं मन्त्रस्य दर्शयति–देवानां मध्ये सविता खलु प्रसविता स्वस्वव्यापारे सर्वस्य लोकस्य प्रेरयिता। सूते प्रेरयतीति सविता। (निघण्टु ५।४।२०) (निरुक्त ७।७।९) पुरा खलु देवकर्तृके यागेऽश्विनावध्वर्यू अभूताम्। अतस्तयोरेव बाहुभ्यां हविर्गृह्णामीति मन्त्रार्थो युक्तः। पूषा भागदुघः भागंदोग्धीति, भागप्रद इत्यर्थः। तादृशः पूषा

उस पर यह पूछा जा सकता है कि सूर्य और चन्द्रमा के बल-वीर्य से तथा प्राण के ग्रहण-विसर्जन से कौन-सी अग्निविद्या की सम्पत्ति के लिये, और विद्वानों के द्वारा सेवित कौन-सा कर्म है? यह तो आपने बताया ही नहीं। सूर्य और चन्द्रमा के बल वीर्य तो उन सूर्य-चन्द्रमा में ही रहेंगे, उनमें मनुष्य की स्वतन्त्रता कैसे हो सकेगी? श्रुति ने तो राजन्य (क्षत्रिय) के बाहुओं को ही 'वीर्य' कहा है। वहाँ 'बल' अर्थ कहाँ से गृहीत हुआ? ग्रहण–विसर्जन के साधनरूप हस्त में 'ग्रहण–विसर्जन' का प्रयोग, लक्षणा के बिना कैसे हुआ? और लक्षणा भी अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति के बिना कैसे संभव हुई? 'अग्नये' से अग्निविद्या, अग्नीषोमाभ्यां' से अग्निजलविद्या इत्यादि सभी व्याख्या जो की है, वह निर्मूल ही है।

३—विद्वानों की सङ्गति तथा सम्यक् पुरुषार्थ से ईश्वर के द्वारा उत्पादित सृष्टि में सम्पूर्ण विद्याओं की सिद्धि के लिये सूर्य, चन्द्र, जल, अग्नि पदार्थों से सभी के बल–वीर्य की सिद्धि के लिये विद्वान् लोग समस्त विद्याओं का सेवन कर उनका प्रचार करें। प्रायः यह भावार्थ अनेक जगह मन्त्रों में दिखाई देता है। क्या यही सब मन्त्रों में विवक्षित है? किञ्च स्वामी दयानन्द अथवा उनके अनुयायी उन विद्याओं को जानते हैं? या नहीं? यदि नहीं जानते हों तो उनका यह प्रलाप निरर्थक ही है। यदि जानते हैं तो कितने लोगों ने बल–वीर्यबुद्धि का सम्पादन किया? वस्तु-तस्तु श्रुति-सूत्र परम्परा का परित्याग करने का यही फल है कि पग–पगपर वेदार्थ व्याख्या करने में प्रमाद हो रहा है। यही कारण है कि शतपथ में इनके किये हुए अर्थ का गन्ध भी उपलब्ध नहीं है।

४—तथाहि—शातपथी श्रुति के अनुसार समन्त्रक हविर्ग्रहण का विधान उपलब्ध होता है और अनुष्ठेय हविर्ग्रहण के अनुकूल मन्त्र का भी प्रदर्शन किया है। पहिले कभी देवकर्तृक याग में आश्विन देवता अध्वर्यु हुए थे। इसलिये उन्हीं के बाहुओं से मैं हविर्ग्रहण कर रहा हूँ—ऐसा मन्त्रार्थ करना उचित ही है। पूषा देवता को भागदुघ् अर्थात् भागप्रद बताना भी उचित ही है। वह पूषा देवता अपने दोनों हाथों से समस्त लोगों के लिये भोग्य अन्न को उपस्थापित करता रहता है। तथा च पूषा देवता के हाथों से हविर्ग्रहण करना उचित ही है। देवता अमरण शील होने

पाणितलाभ्यां सर्वस्य जनस्य अशनं भोग्यमन्नमुपनिधाता उपनिधापयितुम् उपस्थापयितुं शीलवान् । ताच्छीलिकस्तृन् । 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (पा० सू० २।३।६९) इति कर्मणि षष्ठीप्रतिषेधः । तथा च पूषदेवताया हस्ताभ्यां हविर्ग्रहणं युक्ततरम् । सत्यं देवा अनृतं मनुष्याः' (श० १।१।२।१७) अतोऽमरणत्वेन विनाशाभावात् । मनुष्यास्तु तद्वैपरीत्यादनृतरूपाः । तस्मादश्विनोर्बाहुभ्यामित्यादिमन्त्रोच्चारणात् देवतारूपेण सत्येनैव तद्धविर्ग्रहणं कृतं भवति इत्यर्थः ।

'अथ देवताया आदिशति । सर्वा ह वै देवता अध्वर्युं ᳲ हविर्ग्रहीष्यन्तमुपतिष्ठन्ते । मम नाम ग्रहीष्यति मम नाम ग्रहीष्यतीति ताभ्य एवैतत् सहसातीभ्योऽसमदं करोति ।' (श० १।१।२।१८) अग्नये जुष्टमिति देवतानामनिर्देशस्यावश्यकर्त्तव्यतामाह—सर्वा देवता स्वस्वनाम ग्रहणसम्भावनयोपस्थितानां मध्ये कस्याश्चिदग्न्यादिदेवताया आदेशने सति सह सत्यः सहवर्तमानाः, ताभ्यः षष्ठचर्थे चतुर्थी । तासां देवतानामसमदमकलहं परस्परमविरोधं करोति ।

'यद्वेव देवताया आदिशति । यावतीभ्योह वै देवताभ्यो हवींषि गृह्यन्त ऋणमुहैव तास्तेन मन्यन्ते यदस्मै तं काम ᳲ समर्धयेयुर्यत्काम्या गृह्णाति तस्माद्वै देवताया आदिशत्येवमेव यथापूर्वं ᳲ हवी ᳲ षि गृहीत्वा ।' (श० १।१।२-१९) प्रकारान्तरेण नामनिर्देशं समर्थयते यावतीभ्यो देवताभ्यो हवींषि गृह्यन्ते स्वस्वनामोद्देश्येन गृहीतं हविर्ऋणमेव ता देवता मन्यन्ते । कुत इति चेदुच्यते—यत्काम्या यस्य फलस्येच्छया हविर्गृह्णाति तं कामं काम्यमानं फलविशेषमस्मै यजमानाय यत् यस्मात् समर्धयेयुः तस्मात् कारणात् हविष ऋणरूप त्वमवगम्यते । यच्छब्दादिच्छार्थे काम्यच्च' (पा०-सू० ३।१।९) इति काम्यच् । तदन्तात् अप्रत्यात्' (पा० सू० ३।३।१०२) इत्यकारप्रत्यये तृतीयाया लुक् । तस्मात् हविषि देवतानामृणत्वाभिमानात् फलप्रदानेन तत्प्रत्यर्पणार्थं देवतानामादेशनमत्यावश्यकम् । एवमेवेत्यादिना आग्नयेवदेव यथाक्रममग्नीषोमीयादिहविरन्तरेऽप्युक्तमति दिशति ।

५—वस्तुतस्तु लोकायतिकमतप्रभावित त्वाददृष्टादि देवतादि तत्त्वमनभ्युपगच्छता तस्मिन्नेव पथि वेदं जिनीषता सहस्रोधिकसंहितानां तावतां सर्वेषां ब्राह्मणानामुपनिषदां श्रौतसूत्राणां तदनुप्राणितानां समेषामेवास्तिकप्रसिद्धानां ग्रन्थानामप्रामाण्यसाधनाय कलिहतकेन तेनायं प्रयासः कृतः । सिद्धान्तानुसारिव्याख्यातार्थाभिप्रायेणैवोपासका अन्तर्यामि मानस्यां भावनायां परदेवताराधनोपयोगिदेहनिर्माणाय यतन्ते । प्राकृतैर्देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यहङ्कारादिभिरप्राकृतस्या-

---

से उन्हें 'सत्य' कहना और मनुष्य मरणशील होने से उन्हें अनृतरूप कहना भी उचित ही है। इसलिये 'अश्विनो बाहुभ्याम्' इत्यादि मन्त्रोच्चारण करने से देवतारूप सत्य से ही यज्ञीय हविर्ग्रहण किया हुआ समझा जाता है। शतपथ के अनुसार 'अग्नये जुष्टम्' ऐसा देवता नाम निर्देश करना भी आवश्यक है। शतपथ ब्राह्मण के एक अन्य वचन के अनुसार प्रकारान्तर से भी नामनिर्देश करना बताया गया है। जितने देवताओं के लिये हविर्ग्रहण किया जाता है, उन देवताओं के अपने-अपने नामपूर्वक ग्रहण किया हुआ हवि, ऋण के रूप में ही समझा जाता है। एवं च उन हवियों में ऋणत्व समझने के कारण ही फल प्रदान के द्वारा ऋण के प्रत्यर्पणार्थ देवताओं का आदेशन करना अत्यावश्यक होता है। आग्नेय के समान ही यथाक्रम अग्नीषोमीयादि अन्य हवियों में भी उसका अतिदेश किया जाता है।

५—वस्ततस्तु लोकायतिक मत से प्रभावित होने के कारण अदृष्ट आदि देवता तत्त्व को स्वीकार न करके उन्हीं नास्तिकों के मार्गपर वेद भगवान् को पहुँचा दिया और सहस्राधिक संहिताओं तथा सभी ब्राह्मणों उपनिषदों, श्रौतसूत्रों तथा तदनुप्राणित सभी आस्तिक प्रसिद्ध ग्रन्थों के अप्रामाण्य साधन का प्रयत्न इन्होंने दुर्भाग्यवश किया है। सिद्धान्तानुसारि व्याख्यात अर्थ के अभिप्राय को ध्यान में रखकर ही उपासक लोग अन्तर्यामी में मानसिक भावना के द्वारा, आराधनों के उपयुक्त देह निर्माण में प्रयत्नशील रहते हैं। क्योंकि प्राकृतदेह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार आदि से अप्राकृत अचिन्त्य अनन्त आनन्दरससार सर्वस्व परमात्मा के साथ सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है। क्योंकि ग्राह्य-ग्राहक भाव में साजात्य की अपेक्षा होती है। इसी कारण पार्थिव घ्राण से ही पार्थिव गन्ध का ग्रहण होता है। तैजस चक्षु के द्वारा तैजसरूप का ग्रहण होता है। इसीलिये तार्किकों ने शब्दादि पाँचों विषयों के ग्रहणार्थ अन्तःकरण को

चिन्त्यानन्तानन्दरससारसर्वस्वस्य परमात्मनः सम्बन्धासम्भवात्, ग्राह्यग्राहकभावे साजात्यापेक्षणात् । तत एव पार्थिवेन घ्राणेनैव पार्थिवस्य गन्धस्य ग्रहः, तैजसेन चक्षुषा तैजसस्य रूपस्य ग्रहः । तत एव शब्दादीनां पञ्चानामपि ग्रहणायान्तःकरणस्य पञ्चभूतात्मकत्वमभिप्रेयते तैर्थिकैः । तस्मादप्राकृतदिव्यपरमतत्त्वग्रहणाय देहादीनामप्यप्राकृतत्वं सम्पादनीयम् । तत्र एव पूर्वं भूशुद्धिभूतशुद्धयादिभिर्दिव्यताधीयते । साधका विवस्वद्युतभास्वराया विद्युत्पुञ्जपिञ्जरायाः कुण्डलिन्या रश्मिनिकरेण कश्मलजालं दग्ध्वापि कुक्षिस्थं पापवासनामयं पापपुरुषं यं बीजयुतेन पूरकेण संशोष्य रं बीजयुतेन कुम्भकेन दग्ध्वा वायुबीजवता रेचकेण तद्भस्म रेचयन्ति ।

६—पश्चाच्च लं वं रं यं हं इति पञ्चभूतबीजवता प्राणायामेन पार्थिवं जगत् पृथिव्यां तामप्सु तास्तेजसि तच्च वायौ तमाकाशे तमहमि तम्महति महान्तमव्यक्तेऽव्यक्तञ्च स्वप्रकाशे सति प्रविलापयन्ति । पुनश्चामृतात्मकेन वं बीजेन प्राणानायम्य दिव्यानि भूतानि महदादिक्रमेणोत्पाद्य दिव्यं देहं प्रसाध्य तत्र कुण्डलिनीं प्राणं च प्रतिष्ठाप्य षोडशवारोच्चारितमहामन्त्रेण षोडशसंस्कारान् सम्पाद्य अन्तर्मातृकाबहिर्मातृदमन्त्राक्षरादिन्यासजालैः देहादीन् संस्कुर्वन्ति । सामान्यार्घ्यविशेषार्घ्यसम्बन्धिनि पात्राधारेऽग्निमण्डलत्वं पात्रेषु सूर्यमण्डलत्वं सामान्यार्घ्यादिद्रव्येषु सोममण्डलत्वं मन्त्रैर्भावनया च सम्पाद्य षडध्वशोधनादिद्वारा मन्त्राणां ब्रह्मात्मत्वं विभाव्य तदभिमन्त्रितैः सामान्यार्घ्यविशेषार्घ्यविन्दुभिरान्तरं बाह्यञ्च परिशोध्य देवा भूत्वा देवान् यजन्ति । तत्रापि अकुलेन्दुगलितामृतधारारूपिणीः चन्दनकुसुमधूपदीपनैवेद्यशालिकरकमलाः पीतासितश्यामरक्तशुक्लवर्णा धरणिवियदनिलानलजललक्षणा दिव्या देवता विभाव्य ताः सम्पूज्य ताभिः परदेवतायै सर्वोपचारान् समर्प्य परदेवताया नासायां गन्धदेवता श्रोत्रे पुष्पदेवता नाभौ धूपदेवता नयने दीपदेवता जिह्वायां नैवेद्यदेवता विलीना विभाव्य ताः सम्पूज्य स्वात्मानं पादकमले विलीनं विभाव्यानन्तानवच्छिन्नचैतन्यानन्दात्मना प्रत्यक्चैतन्याभिन्नं ब्रह्मानुभवन्ति । सर्वे यज्ञा महायज्ञाश्च ब्राह्मीतनूनिर्माण एवोपयुज्यन्ते । 'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते

पञ्चभूतात्मक माना है । अतः अप्राकृत दिव्य परमतत्त्व के ग्रहणार्थ देहादिकों को भी अप्राकृत बनाना पड़ता है । इसीलिये सर्वप्रथम भूशुद्धि, भूतशुद्धि आदि करके दिव्यता का वातावरण पैदा किया जाता है । साधकलोग विवस्वद्युत भास्वर विद्युत्पुञ्ज पिञ्जर कुण्डलिनी की रश्मियों से करमल समूह को दग्ध करके कुक्षिस्थित पापवासनामय पाप-पुरुष को 'यं' बीज से युक्त पूरक के द्वारा सुखाकर तथा 'रं' बीज से युक्त कुंभक के द्वारा, तथा वायु बीज से युक्त रेचक के द्वारा उसके भस्म को छोड़ देते हैं ।

६—तदन्तर 'लं वं रं यं हं' इन पञ्च भूत बीजों से युक्त प्राणायाम करके पार्थिव जगत् का पृथिवी में, पृथिवी का जल में, जल का तेज में, तेज का वायु में, वायु का आकाश में, आकाश को अहम् में, अहम् को महत् में, महत् को अव्यक्त में, अव्यक्त को स्वप्रकाश सत् में विलीन करते हैं । पुनः अमृतात्मक 'वं' बीज से प्राणों का निरोध कर दिव्यभूतों को महदादिक्रम से उत्पन्न कर और दिव्य देह का प्रसाधान करके उसमें कुण्डलिनी और प्राण की प्रतिष्ठा कर षोडशवार उच्चारित महामन्त्र से षोडश संस्कारों को सम्पन्न कर अन्तर्मातृकाबहिर्मातृकादि मन्त्राक्षरादि न्यासों के द्वारा देह का संस्कार किया करते हैं । सामान्य अर्घ्य, विशेष अर्घ्य से सम्बन्धी पात्र के आधार में अग्निमण्डलत्व, पात्रों में सूर्यमण्डलत्व, सामान्य अर्घ्यादि द्रव्यों में सोममण्डलत्व, का सम्पादन मन्त्रों से भावना के द्वारा करके षडध्व शोधनादि के द्वारा मन्त्रों में ब्रह्मात्मत्व की भावना करके उनसे अभिमन्त्रित हुए सामान्यार्घ्य-विशेषार्घ्य के बिन्दुओं से आन्तर और बाह्य का शोधन करके स्वयं देवतारूप होकर देवताओं का यजन करते हैं । उसमें भी अकुलेन्दु से गलित अमृतधारारूपिणी, चन्दन पुष्पधूपदीप नैवेद्य शालिकर कमल, पीत असित श्यामरक्तशुक्लवर्ण, धरणि, आकाश, अनिल, अनल, जलात्मक दिव्य देवता का ध्यान कर और उसकी पूजाकर उनके द्वारा परादेवता के लिये सम्पूर्ण उपचारों को समर्पणकर परदेवता की नासिका में गन्ध देवता, श्रौत्र में पुष्पदेवता, नाभि में धूपदेवता, नेत्रों में दीपदेवता, जिह्वा में नैवेद्यदेवता, विलीन हो गई है, ऐसा सोचकर उनकी पूजा करके अपने को उनके चरणकमल में विलीन करने की भावना करके अनन्त अनवच्छिन्न चैतन्यानन्दरूप प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म का अनुभव करते हैं । समस्त यज्ञ और महायज्ञों का ब्राह्मी तनु के निर्माण में ही उपयोग होता है । मनु ने भी इसी बात को कहा है । उससे भी नानाविध तपों के द्वारा

तनुः' (मनु० २।२८) । ततोऽपि नानाविधस्तपोभिरन्ते भगवद्विप्रयोगजन्यतीव्रतापेनान्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयाख्यान् पञ्चकोशान् शरीरत्रयञ्च दग्ध्वा भगवत्सम्प्रयोगामृतरसेन दिव्यान् देहेन्द्रियमनोबुद्धयहङ्कारान् निर्माय भगवन्तं भजन्ति ।

७—प्रकृतेऽपि दिव्येन मन्त्रेण दिव्यभावनया च स्वबाह्वोरश्विबाहुत्वं स्वहस्तयोः पूषहस्तत्वं विभाव्य स्वात्मानञ्च सवितृप्रसूतं सवितृप्रेरितं च विभाव्य अग्नये परदेवतायाः परमैश्वर्यशालिनेंऽशाय देवताविशेषाय तद्द्वारा च सर्वयज्ञभोक्त्र्यै परदेवतायै हविर्गृह्णात्यध्वर्युः । अयमेव मुख्योऽर्थो मन्त्रस्य । अस्यार्थस्यापि परमात्मप्राप्तौ पर्यवसानात् । एतदर्थाविरुद्धा अन्येऽप्यर्था ऊहनीयाः ।

८—हे सकलसच्छास्त्रतात्पर्यगोचर देव स्वप्रकाशस्य सवितुः सर्वप्रेरकस्य सर्वोत्पादयितुस्तव प्रसवे प्रेरण एवाहं त्वां तोषयितुं प्राप्तुं वा अश्विनोः परमसुन्दरयोर्देवविशेषयोर्मनोहराभ्यां विविधालङ्कारालङ्कृताभ्यां बाहुभ्यां तथाविधाभ्यामेव पूष्णोऽतिभास्वरस्य देवस्य भास्वराभ्यां रत्नालङ्कृतकङ्कणाङ्गुलीयकादिभूषिताभ्यां हस्ताभ्यामग्नये सर्वदेवनायकाय भवते जुष्टमभिरुचितं कूर्चापूपसितानवनीतादिविविधनैवेद्यं समर्पयितुं तदुपकरणं पयोदध्यैक्षवादिकं गृह्णामि । तच्च श्रमणीफलकमलाभामसौदामकणकौशल्यायशोदास्तन्यश्रीराधाधरामृतादिभावभावितमतिप्रीत्यास्पदमभिरुचितं गृहाण । अग्नीषोमाभ्यां त्वदीयनेत्राभ्यामभिरुचितं जुष्टं दिव्यं भूषणं वसनं च त्वां प्रीणयितुं गृह्णामि तव पुरतः स्थापयामि त्वदङ्गेषु वा धारयामि ।

९—यद्वा हे भक्त सवितुर्देवस्य तथाविधस्य परमात्मनः प्रसवे रामादिरूपेण प्रादुर्भावाय त्वा त्वामहमश्विनोर्द्यावापृथिव्योरश्विनाम्नोर्देवविशेषयोर्बाहुभ्यां पूष्णः सूर्यस्य हस्ताभ्यां गृह्णामि लालयामि वर्धयामि च । कीदृशं त्वां

अन्त में भगवद्विप्रयोग जन्य तीव्र ताप से अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-आनन्दमय संज्ञक पञ्चकोशों को और तीनों शरीरों को दग्धकर भगवत्सम्प्रयोगामृतरस से दिव्य देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार को निर्माण कर भगवान् का भजन यानी सेवन करते हैं ।

७—प्रकृत में भी दिव्य मन्त्र और दिव्य भावना से अपने बाहुओं में आश्विबाहुत्व और अपने हाथों में पूषहस्तत्व की भावना करके और अपने को सवितृ प्रेरित और प्रसूत मानकर परदेवता के परमैश्वर्यशाली अंशभूत देवता विशेषरूप अग्नि के लिये, और उसके द्वारा सर्वयज्ञ भोक्त्री परदेवता के लिये अध्वर्यु हविर्ग्रहण करता है । यही मन्त्र का मुख्य अर्थ है । इस अर्थ का पर्यवसान भी परमात्मप्राप्ति में हो होता है । इस अर्थ के सदृश अन्यान्य अविरुद्ध अर्थ भी किये जा सकते हैं ।

८--हे सकल सच्छास्त्र तात्पर्य गोचर देव ! स्वप्रकाश सर्वप्रेरक सर्वोत्पादक सविता के द्वारा प्रेरित होनेपर ही मैं तुम्हें सन्तुष्ट करने के लिये अथवा प्राप्त करने के लिये परमसुन्दर देवविशेष अश्विनी कुमारों के मनोहर विविधालङ्कारालङ्कृत बाहुओं से और उसी तरह अत्यन्त भास्वर पूषा देवता के भास्वर और बिविधरत्नालङ्कारों से अलंकृत कङ्कण, अङ्गुलीयक आदि आभूषणों से विभूषित हुए हाथों से सर्व देवनायक भगवान् अग्नि के लिये प्रीतिकर कूर्चा अपूप सिता नवनीतादि विविध नैवेद्य का अर्पण करने के निमित्त उसके उपकरणभूत पयस् । दधि, इक्षु, आदि का मैं ग्रहण करता हूँ । उसे हे भगवान् ! श्रमणी फल के समान, कमला-भामा-सुदामा के कण के समान, कौशल्या-यशोदा के स्तन्य के समान, श्रीराधा के अधरामृतादि की भावना से देखकर प्रीत्यास्पद अभिरुचित मानकर स्वीकार करें । तुम्हारे नेत्ररूप अग्नीषोम देवताओं को प्रीति कर दिव्य आभूषण. वस्त्र आदि का तुम्हें प्रसन्न करने के लिये ग्रहण कर रहा हूँ और तुम्हारे सामने उसे रख रहा हूँ तुम्हारे अङ्गों पर उन्हें स्थापित कर रहा हूँ ।

९—अथवा हे भक्त ! परमात्मा सवितादेव के रामादिरूप से प्रादुर्भाव के लिये तुम्हें मैं द्यावा-पृथिवी के अथवा आश्विनाम के देवविशेषों के बाहुओं से तथा सूर्य के हाथों से तुम्हारा लालन, पालन, वर्धन करता हूँ । तुम

अग्नये सर्वप्रतापहन्त्रे दैत्यराक्षसादिध्वान्तध्वंसिने भगवते जुष्टमभिरुचितम् प्रियतमम्, त्वत्प्रीणनायैव पूर्णकामस्याप्तसमस्तकामस्य तस्यावतरणसम्भवात् । 'तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् । भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः ॥' (श्री० भा० म० पु० १।८।२०) इति श्रीमद्भागवते कुन्तीवचनात् । पुनः कीदृशमग्नीषोमाभ्यां विप्रयोगसम्प्रयोगाभ्यां तदात्मकाभ्यां रसविशेषाभ्यां जुष्टम् सेवितम् । अन्यैस्तु रसविशेषनिष्पत्तये तौ सेव्येते त्वां तु तावेव सेवेते इति ताभ्यां जुष्टम् त्वामहं वेदपुरुषो लालयामि । विशेषतः सीताराधाद्या भक्ता भक्तिरसरूपा भानौ प्रभेव चन्द्रमसि चन्द्रिकेव अमृते माधुर्यमिव गङ्गायां पावित्र्यमिव परमानन्दार्णवे तदीयैश्वर्यमाधुर्यसाररूपा एव । सम्भोगविप्रलम्भाख्यौ शृङ्गाररसमहार्णवौ तत्र सर्वदैवोद्बुद्धावुद्वेलितौ चोपलभ्येते । विप्रलम्भेऽपि सम्भोगस्य सम्भोगेऽपि विप्रलम्भस्य दर्शनात् । विवृतञ्चैतत् 'बर्हापीड' (श्री०भा०म०पु० १०।२१।५) मित्यादिव्याख्यानप्रसङ्गे भक्तिरसार्णवे । 'अङ्कस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं हा मोहनेतिमधुरं विदधत्यकस्मात् ।' (श्रीराधासुधानिधौ ४६) ॥ (वा० सं० १।१०) ॥

'भूताय त्वा नारातये स्वरभिविख्येषं दृꣳहन्तां दुर्याः पृथिव्याम् उर्वन्तरिक्षमन्वेमि पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयाम्यदित्या ऽ उपस्थेऽग्ने हव्यꣳरक्ष' ॥ ११ ॥

—(वा० सं० १।११)

१—'भूताय त्वेति शेषाभिमर्शनम्' (का० श्रौ० सू० २।३।२३) भूताय त्वेति मन्त्रेण शकटे परिशिष्टं व्रीहिशेषमभिमृशेत् । मन्त्रार्थस्तु—हे शकटेऽवस्थितव्रीहिशेष त्वा त्वां भूताय यागान्तराणां ब्राह्मणभोजनस्य च भवनाय पुनरपिभवनाय,उप्तं रोपितं सत् व्रीह्यादि पुनरपि बहु भविष्यतीति, परिशेषयामि । नारातये न कर्मणि ब्राह्मणभोजने चादानाय परिशेषयामि । 'तद्यत एव गृह्णाति तदेवैतत्पुनराप्याययतीति' (श० १।१।२।२०) इति श्रुतेः । ततः तत्र शकटे यत एवस्थानाद् गृह्णाति तदेव तत्स्थानमेवानेन मन्त्रेण पुनराप्याययति वर्धयति भूताय प्रभूताय समृद्ध्यर्थं त्वामभिमृशा-

---

सर्वविध पाप-ताप को दूर करनेवाले हो । दैत्य-राक्षसादिरूप ध्वान्त को नष्ट करनेवाले भगवान् को प्रियतम, तुम्हारी प्रसन्नता के लिये ही वह सब है, क्योंकि पूर्णकाम—आप्तसमस्तकाम उस भगवान् का अवतरण संभव हो सकता है । श्रीमद्भागवत में कुन्ती ने भी ऐसा ही कहा है । पुनः अग्नीषोम देवताओं से विप्रयोगसम्प्रयोगरूप रसविशेषों से सेवित है । और लोग तो रसविशेष की निष्पत्ति के लिये उनकी सेवा करते हैं, किन्तु उसके विपरीत वे दोनों देवता ही तुम्हारी सेवा करते हैं । इस प्रकार उनके द्वारा सुसेवित हुए तुम्हारा मैं वेदपुरुष लालन करता हूँ । विशेषतः भक्तिरसस्वरूप सीता–राधा आदि भक्तगण तो भानु में प्रभा के समान, चन्द्रमा में चन्द्रिका के समान, अमृत में मधुरिमा के समान, गङ्गा में पावनता के समान उस परमानन्दार्णव में उसके ऐश्वर्य माधुर्य साररूप ही हैं । सम्भोग-विप्रलम्भसंज्ञक शृङ्गाररस के महान् समुद्र हैं । उसमें सर्वदैव वह उद्बुद्ध और उद्वेलित होते उपलब्ध होते हैं । विप्रलम्भ में भी सम्भोग का और सम्भोग में भी विप्रलम्भ का दर्शन होता है । भक्तिरसार्णव में 'बर्हापीडम्' की व्याख्या के प्रसङ्ग में इसका विवरण दिया गया है –'अङ्कस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं हा मोहनेति मधुरं विदधत्यकस्मात्' ॥

१—'भूतायत्वा' इस मन्त्र से शकट में परिशिष्ट व्रीहिशेष का अभिमर्शन (स्पर्श) करे ।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—शकट में अवस्थित हे व्रीहिशेष ! अन्यान्य यागों के लिये और ब्राह्मण भोजन के लिये

मीति । यतो वा शकटस्थात् देवतार्थं पृथक्कृत्येदं हविर्गृहीतं तदेव शकटस्थमेतेन प्रत्यभिमर्शनेन पुनराप्याययति भूयोऽभिवर्धयतीत्यर्थः ।

२—'स्वरिति प्राङीक्षते' (का० श्रौ० सू० २।३।२४) स्वः अभिविख्येषमिति मन्त्रेण प्राङ्मुखो यज्ञभूमिं वीक्षते इति सूत्रार्थः । यज्ञ-दिवस-देव-सूर्याः स्वःशब्देनोच्यन्ते, स्वर्गहेतुत्वादपि यज्ञः स्वःपदाभिधेयः । अभितो विशेषेण ख्यापयेयं पश्येयमित्यर्थः । किं कारणमिति श्रुतिरेवाह—'परिवृतमिव वा एतदनो भवति तदस्यै तच्चक्षुः पाप्मगृहीतमिव भवति यज्ञो वै स्वरहर्देवाः सूर्यस्तत्स्वरेवैतदयोऽभिपश्यति । (श० १।१।२।२१) परिवेष्टितमिव खल्वनो भवति धान्यनिधानार्थम् । तन्मध्येऽवस्थितस्याध्वर्योः चक्षुः काचकामलादिदोषदूषितमिव द्रष्टुं समर्थं न भवति । तत्र सहकारिण आलोकस्याभावात् । कथं तस्य दर्शनं स्यात् इत्युच्यते अवेक्षणमन्त्रगतस्वरितिशब्देन स्वर्गवाचिना तत्साधनभूतो यज्ञोऽभिधीयते । अहरादीनि च तेन लक्षणया प्रतिपाद्यन्ते । अत एव स्वरशब्दस्य सूर्यनामत्वमुक्तम् यास्केन—'स्वरादित्यो भवति । सु अरणः । सुईरणः ।' (नि० ५।४) तत् तथा सत्येतन्मन्त्रकरणकेन प्रेक्षणेन स्वरशब्दप्रतिपादितस्य यज्ञ-दिवस-देव-सूर्येति चतुष्टयस्यार्थजातस्य प्राच्यां दिशि प्रथमत उपलभ्यमानत्वेन अस्माच्छकटस्थानात् तद्दोषपरिहाराय यज्ञभूमिः सर्वा द्रष्टव्या । यज्ञ-एव स्वरादिभिः पञ्चभिः शब्दैस्तत्र तत्र विवक्ष्यते । तस्माद्यज्ञदर्शनविवक्षयास्वरभिविख्येषमितिमन्त्रं प्राहेत्यर्थः । आपस्तम्बो विस्पष्टमिममर्थमाह—'स्वरभिविख्येषमिति प्राक् प्रेक्षते । सुरभिविख्येयमिति विख्येषमिति सर्वं विहारमनुवीक्षते । 'तमसीव वा एषोऽन्तश्चरति । यः परीण हि सुवरभिविख्येषं वैश्वानरं ज्योतिरित्याह' (तै० ब्रा० ३।२।४।७) इति तैत्तिरीयश्रुतेश्च ।

दृ—हन्तामित्यवरोहति (का० श्रौ० सू० २।३।२५) पृथिव्यां वर्तमाना ये दुर्यो दुरो द्वाराणि अर्हन्तीति दुर्या गृहास्ते दृꣳहन्तां दृढा भवन्तु । दृंह्यन्तामिति प्राप्ते दृꣳहन्तामिति विकरणव्यत्ययः । अनेन मन्त्रेण शकटादवरोहेण हविर्गृहीत्वावतरतोऽध्वर्योर्भारेण गृहाणामदार्ढ्यशङ्का सम्भाव्यते । अनेन मन्त्रेण तत्समाधानं क्रियते ।

३—शतपथश्रुतिरपि तथैवाह—'अथावरोहति । दृꣳहन्तां दुर्याः पृथिव्यामिति गृहा वै दुर्यास्तेहैत ईश्वरो गृहा यजमानस्य योऽस्यैषोऽध्वर्युर्यज्ञेन चरति तं प्रयन्तमनुप्रच्योतोस्तस्येश्वरः कुलं विक्षोब्धोस्तानेवैतदस्यां पृथिव्यां दृꣳहति तथा नानुप्रच्यवन्ते तथा न विक्षोभन्ते तस्मादाह दृꣳहन्तां दुर्याः पृथिव्यामिति' (श० १।१।२।२२) समन्त्रकं शकटावरोहणं विधत्ते—अस्य यजमानस्य य एषोऽध्वर्युः यज्ञेन चरति हविर्ग्रहणादिकं यज्ञसाधनमनुतिष्ठति तं प्रयन्तं शकटस्थानात्प्रगच्छन्तमनुसृत्य यजमानस्य ते गृहा इतो भूलोकात्प्रच्योतोरीश्वराः प्रच्युतिं प्राप्तुं समर्थाः । प्रच्योतुमुद्यता भवन्तीत्यर्थः । तथा तस्य यजमानस्य कुलं विक्षोब्धोः विक्षोभयितुं समर्थाः । विक्षोभयितुमुद्यताः । 'ईश्वरे तोसुन्कसुनौ' (पा० सू० ३।४।१३) च्यवतेः क्षमेश्च तोसुन् प्रत्यये रूपे सिद्धचतः । अनेन मन्त्रेणाध्वर्युः तानेव यजमानस्यगृहान् अस्यां पृथिव्यां दृꣳहति दृढीकरोति । एवं सति तद्दोषनिवृत्तिमाह—तथा न विक्षोभन्ते इति । किञ्च हविर्ग्रहणस्याभिचारादा-

---

भी पुनः तुम्हारे सद्भाव के लिये तुम्हें बचा कर रख रहा हूँ । तुम्हारा केवल सग्रह कर रखने के लिये अर्थात् किसी को न देने के लिये तुम्हें बचा कर नहीं रख रहा हूँ । मैं यज्ञ को देख सकूँ ।

२—स्वर्गप्राप्ति का हेतु होने से 'यज्ञ' को 'स्वः' शब्द से कहा गया है । 'स्वरभिविख्येषम्' इस मन्त्र को पढ़ कर प्राङ्मुख हुआ यज्ञभूमि को देखता है । पृथिवी पर वर्तमान जो गृह हैं वे सुदृढ़ हों—'दृꣳहन्तां दुर्याः पृथिव्याम्'—इस मन्त्र को पढ़कर शकट से व्रीहि को नीचे उतारे । हवि को लेकर उतरने वाले अध्वर्यु के भार से संभावित गृहक्षोभ का उक्त मन्त्र से निवारण किया जाता है ।

३—अभिप्राय यह है कि इस मन्त्र से अध्वर्यु, यजमान के उन्हीं गृहों को इस पृथ्वीपर सुदृढ़ कर देता है । यद्यपि राक्षसों के द्वारा अन्तरिक्ष आकुल है, तथापि—'उर्वन्तरिक्षमन्वेमि' इस मन्त्र से विस्तीर्ण अन्तरिक्ष का अनुसरण

अपि सम्भवात् अयमध्वर्युः करिष्यतीत्यविज्ञाय लोकद्वयस्य भीत्या कम्पः सम्भाव्यते । तन्निवारणार्थोऽयं मन्त्रः । तदप्याह तित्तिरिः—'द्यावापृथिवी हविषि गृहीत उद्वेपेताम् । इᳯं हन्तां दुर्या द्यावापृथिव्योरित्याह गृहाणां द्यावापृथिव्योर्धृत्या इति ।' (तै० ब्रा० ३।२।४।७) ।

'देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुस्तद्यज्ञमुखादेवैतन्नाष्ट्रा रक्षाᳯं स्यतोऽपहन्ति' (श० १।१।२।३) नाशयन्तीति नाष्ट्राः आसुर्याः प्रजाः । ताश्च रक्षांसि यज्ञमुखात् यज्ञारम्भात् अपहन्ति । तेनान्तरिक्षं तैरनाकुलं भवति । विस्तीर्णप्रतिबन्धकरक्षोलक्षणमूर्तद्रव्यविरहादन्वेमि । 'श्रपणस्य पश्चात्सादयति पृथिव्यास्त्वेति' (का० श्रौ० सू० २।३।२७) श्रपणस्य गार्हपत्याग्नेः पश्चात् पृथिव्यास्त्वेतिमन्त्रेण शूर्पस्थानि हवींषि आसादयत्यध्वर्युरिति सूत्रार्थः । मन्त्रार्थस्तु—हे हविः त्वां पृथिव्या नाभौ मध्ये सादयामि । तस्यैव व्याख्यानम्—अदित्या देवमातुर्भूमेर्वोपस्थे अङ्के सादयामीत्यनुवर्तते । यथासुप्तं बालं पुत्रं माता स्वाङ्के स्थापयति एवमहमिदं हविरदित्या अङ्के सादयामीत्यर्थः ।

४—एवं वैदिकानां दृष्टया 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे' (छा० ३।१४।१) ति रीत्या सर्वाणि वस्तूनि परमात्मदेवतारूपाण्येव । तत एव हवींषि हविर्धानं शूर्पादीनि सर्वाणि यज्ञसाधनानि देवतात्वेन सम्बोध्यन्ते स्तूयन्ते च । तदेतदजानाना वराकाः सामाजिका जडपूजातिभीता बलात्कारेणापि मन्त्रार्थानन्यथा कुर्वन्ति । हे अग्ने, तव समीपे स्थापितमिदं हव्यं रक्षस्व । सुप्तपुत्रमिव बाधकभ्योऽसुरेभ्यः पालयस्व ।

सोऽयमर्थः—'मध्यं वै नाभिर्मध्यमभयं तस्मादाह-पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामीत्यादित्या उपस्थ इत्युपस्थ इवैनदभार्षुरिति वा आहुर्यत्सुगुप्तं गोपायन्ति ······ अग्नये चैवैतद्धविः परिददति गुप्त्या अस्यै च पृथिव्यै तस्मादाहाग्ने हव्यᳯं रक्षेति' अनेनब्राह्मणे नोच्यते । (श० १।१।२।२३) ।

५—गार्हपत्ये आहवनीये वा यस्मिन्नग्नौ श्रपणं तस्य पश्चात् पात्रासादनम् निरुप्तस्य हविषश्च सादनं कर्त्तव्यम् । मनुष्यादिशरीरेषु नाभिरिति मध्यमेवोच्यते । तस्य मध्यमभयमुच्यते । प्रान्तदेशे चौरव्याघ्रादिभयमतः पृथिव्याः सम्बन्धिनि राक्षसादिभयरहिते स्थाने त्वां सादयामि । यद्वस्तु सुगुप्तं यथा भवति तथा गोपायन्ति । एतत् उपस्थ इव

करता हुआ जाता हूँ । अर्थात् जाते हुए पुरुष के दोनों पार्श्वभाग में ही स्थित रहनेवाले राक्षसों का निवारण इस मन्त्र से किया जाता है । 'पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामि'—हे हवि ! पृथिवी की नाभि यानी मध्य में मैं तुम्हारी स्थापना करता हूँ । इसी की व्याख्या 'अदित्या उपस्थे' से की गई है—देवमाता अदितिरूपिणी भूमि के अङ्क में तुम्हें रख रहा हूँ ।

४—इस प्रकार वैदिकों की दृष्टि में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की रीति से सभी वस्तुएँ परमात्म (देवता) रूप ही हैं । अत एव समस्त यज्ञसाधनों को देवता कहकर सम्बोधित करके उनकी स्तुति की जाती है । इस रहस्य को न जानकर बेचारे सामाजिक जड़ पदार्थ की पूजा करने से डरते हैं और हठात् मन्त्रों के अर्थों को विकृत कर अन्यथा बताने लग जाते हैं । महीधर ने "पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामि' की ही व्याख्या मन्त्रगत 'अदित्या उपस्थेऽग्ने हव्यᳯं रक्ष' के द्वारा की है," ऐसा कहा है । जैसे सुप्त हुए बालक को माता अपने अङ्क में ले लेती है उसी तरह इस हवि को अदितिरूप पृथ्वी के अंक में रखता हूँ । हे अग्ने ! तुम्हारे समीप रखे गये इस हवि की तुम रक्षा करो । सुप्त—पुत्र की तरह पीडकों से इसका पालन करो ।

५—गार्हपत्य अथवा आहवनीय में से जिस अग्निपर श्रपण हो, उसके पश्चात् पात्रासादन और निरुप्त हविका स्थापन करना चाहिये । मनुष्यादि के शरीरों के मध्यभाग को ही 'नाभि' कहते हैं । प्रान्तदेश में चौर-व्याघ्रादि का भय रहता है, अतः पृथ्वी से सम्बन्धित राक्षसादि के भय से रहित स्थान में तुम्हें स्थापन करता हूँ । जो वस्तु सुगुप्त

उत्सङ्ग इवोदरमध्य इव वा अभार्षुः भृतवन्त इति वदन्ति लौकिकाः। अतश्च यस्मिन् स्थाने सादितं सुगुप्तं भवति तत्स्थानमुपस्थशब्देन मन्त्रगतेन विवक्षितम्। अदितिः पृथिवी तस्याश्चाधिपतिरग्निः स चात्र गार्हपत्यरूप आहवनीयरूपो वा। तस्मा अग्नये तेनाधिष्ठितायै पृथिव्यै रक्षणार्थमेतद्धविः अनेन मन्त्रभागेन दत्तं भवति। सायणाचार्यादयो मन्त्रेणेत्यनेन मन्त्रभागेनेत्यभिप्रयन्ति। यथात्रैव सायणभाष्ये—तित्तिरिरपि तथैवाह—'अदित्यास्त्वोपस्थे सादयामीत्याह। इयं वा अदितिः। अस्या एवैनं (हव्यम्) दुपस्थे हव्यꣳ रक्षस्वेत्याह गुप्त्या'इति (तै० ब्रा० ३।२।४।७)।

६—आधुनिकस्तु भूताय उत्पन्नानां प्राणिनां सुखाय, त्वा तं कृषिशिल्पादिसाधिनम् न अरातये रातिर्दानं न विद्यते यस्मिन् तस्मै शत्रवे बहुदानकरणार्थं दारिद्र्यविनाशाय च वा, स्वः सुखमुदक वा। स्वरितिसुखनामसु पठितम्। (निघण्टु ३।६) (उदकनामसु १।१२) अभिविख्येषं सर्वतः पश्येयम्। अत्राभिव्योरुपपदे चक्षिङ् इत्याशीर्लिङि आर्धधातुकसंज्ञामाश्रित्य च या इत्यस्य इय् आदेशः। सकारलोपाभाव इति। दृंहन्ताम्। अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः। दुर्या गृहाणि। पृथिव्यां विस्तृतायां भूमौ उरु बहु अन्तरिक्षम् अवकाशं सुखेन निवासार्थं अनु एमि प्राप्नोमि। शुद्धाया विस्तृताया भूमेः त्वा तं पूर्वोक्तयज्ञं नाभौ मध्ये सादयामि स्थापयामि। अदित्या विज्ञानदीप्तेर्वेदराशेर्वाचः सकाशात्, अन्तरिक्षस्यमध्ये, (अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्ष) मिति मन्त्र प्रामाण्यात्। उपस्थे समीपे अग्ने परमेश्वर हव्यं दातुं ग्रहीतुं योग्यं क्रियाकौशलं सुखं वा रक्ष पालय' (पृ० ६३-६४)।

७—तदेतत् श्रुतिसूत्रादिविरुद्धत्वादुपेक्ष्यमेव। भूतायेत्यस्योत्पन्नप्राणिने इत्यर्थसम्भवेऽपि सुखायेति कथमर्थः? त्वेत्यस्य कृषिशिल्पादिसाधिनमित्यर्थश्चेत् उष्ट्रमहिषादिपालकमिति कथं नार्थः? वस्तुतस्तु पदार्थोक्त्या न कोऽप्यर्थः स्फुटयते अतः पुनरप्यध्याहारादिनान्वयं लिखति। "अहं भूतायारातयेऽदानायादित्या उपस्थे यं यज्ञ सादयामि। त्वा तं कदाचिन्न त्यजामि। हे विद्वांसो भवन्तः पृथिव्या नाभौ मध्ये येषु गृहेषु स्वरभिविख्येषं यस्यां पृथिव्यामुर्वन्तरिक्षं चान्वेमि हे अग्ने जगदीश्वर त्वमस्माकं (त्वा) हव्यं सर्वदारक्ष" (पृ० ६४)। अत्रापि यं यज्ञमितिपदयोरध्याहारे। किं मूलमित्यनुक्तत्वात् निर्मूलमेव। एवमरातय इत्यस्य शत्रवे इत्यर्थस्य सम्भवेऽपि तेषां बिनाश इति कस्य शब्दस्यार्थः?

जिस तरह रह सके उस तरह उसकी रक्षा की जाती है। अतः इसे उपस्थ की तरह, उत्सङ्ग की तरह अथवा उदरमध्य की तरह धारण किया था, ऐसा लौकिक लोग कहते हैं। अतः जिस स्थान में रखने से सुगुप्त रहता है उस स्थान को मन्त्रगत 'उपस्थ' शब्द से विवक्षित किया गया है। अदिति यानी पृथिवी, उसका अधिपति अग्नि, उसे यहाँपर गार्हपत्यरूप अथवा आहवनीयरूप कहा गया है। उस अग्नि के लिये और उससे अधिष्ठित पृथिवी के लिये रक्षणार्थ इस हवि को इस मन्त्र भाग से दिया गया है। सायणाचार्य आदि का अभिप्राय 'मन्त्रेण' यानी 'अनेन मन्त्र भागेन' ही है। इसी प्रसङ्गपर सायणभाष्य में उल्लिखित 'तित्तिरि' का भी यही अभिप्राय है।

६—आधुनिक व्याख्याकार की व्याख्या इस प्रकार है—'भूताय' अर्थात् उत्पन्न प्राणियों के सुख के लिये 'त्वा' अर्थात् उस कृषि-शिल्प आदि के साधनभूत 'न अरातये' यहाँ 'राति' का अर्थ, 'दान' है, वह नहीं है, जिसमें, उस शत्रु के लिये प्रचुर-दानार्थ और द्रारिद्रय के विनाशार्थ, 'स्वः' सुख अथवा उदक को। सुख के अनेक नामों में 'स्वर्' भी पढ़ा गया है। 'अभिविख्येषं' सब ओर मैं देख सकूँ। 'दृंहन्तां दुर्याः' गृहों को वृद्धि हो। 'पृथिव्यां' विस्तृत भूमिपर 'उर्वन्तरिक्षं' विस्तृत (विपुल) अवकाश को सुख से निवास करने के लिये 'अनु एमि' प्राप्त करता हूँ। 'पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामि' शुद्ध, विस्तृत भूमिकी नाभि में अर्थात् मध्य में 'त्वा' उस पूर्वोक्त यज्ञ को 'सादयामि' स्थापित करता हूँ। 'अदित्या' विज्ञानदीप्त वेदराशि को वाणी से अन्तरिक्ष के मध्य में 'उपस्थे' समीप में 'अग्ने' हे परमेश्वर! 'हव्य' देने-लेने के योग्य क्रियाकौशल अथवा सुख की 'रक्ष' रक्षा करो।

७—यह किसी आधुनिक का किया हुआ अर्थ, श्रुति-सूत्र आदि के विरुद्ध होने से नितान्त उपेक्षणीय है। 'भूताय' का अर्थ 'सुखाय' कैसे हो सकेगा? 'त्वा' का अर्थ 'कृषि, शिल्प आदि का साधक' किया जा सकता है तो

नहि निषेधार्थकस्य नञस्तादृशोऽर्थः सम्भवति । इदं सनातनिभ्यो न दयानन्दादिभ्य इत्युक्त्या दयानन्दादीनां नाशं कोऽप्य-मूढः कथङ्कारं प्रत्येतुं शक्नोति । तं कदाचिन्न त्यजामीत्यपि निर्मूलं, मन्त्रे तादृशार्थबोधकपदाभावात् । नहि त्वया भवनं निर्मीयते तदहं कदाचिदपि न त्यजामीत्यध्याहर्तुं शक्यम् । हे विद्वांस इत्यध्याहृत्य हंहन्तामित्यस्यान्तर्भावितणि-जर्थताङ्गीकारोऽपि यथाश्रुतार्थव्याख्यानासामर्थ्यमेव द्योतयति । अहं पृथिव्या नाभौ मध्ये येषु गृहेषु स्वरभिविख्येषं यस्यां पृथिव्यामुर्वन्तरिक्षं चान्वेमि हे अग्ने ! त्वमस्माकं (त्वा) हव्यं सर्वदारक्षेति केन किं श्लिष्यते ? हिन्द्यां तु स्पष्टीकृतम् । 'येषु गृहेषु जलसुखादि पदार्थान् पश्येयम्, उक्तपृथिव्या बृहदवकाशं दत्वा सुखनिवासयोग्यं स्थानमारचय्य अन्वेमि प्राप्नोमि । अग्ने त्वं तमस्मभ्यं ग्रहीतुं दातुं योग्यं पदार्थं रक्ष' इति तदपि विसङ्गतमेव, अवकाशं दत्वासुखनिवास-योग्यस्थाननिर्माणार्थबोधकपदाभात् ।

८—द्वितीयोऽप्यर्थ एवमुक्तः—'हे अग्ने ! परमेश्वर ! भूताय अरातये पृथिव्या नाभौ ईश्वरत्वोपास्यत्वाभ्यां स्वः-सुखरूपं त्वामभिविख्येषम् प्रकाशयामि । अहं पृथिव्यामुर्वन्तरिक्षमदित्या उपस्थे व्यापकं त्वामन्वेमि नित्यं प्राप्नोमि । न कदाचित्त्वां त्यजामि । त्वमिममस्माकं हव्यं सर्वदारक्ष' (पृ० ६४) । अयमप्यर्थस्तथाविधएव, जीवः सुखरूपं परमा-त्मान प्रकाशयतीत्यप्याश्चर्यम् । सादयामीत्यस्य त्यजामीत्यप्यपूर्वएवार्थः । अन्तरिक्षपदस्यावकाशयुक्तो गृहोऽर्थः इत्यपि निर्मूलमेव । यद्यन्तरिक्षं दुर्या इत्यस्य विशेषणं स्यात् तदा तदानुगुण्येन लिङ्गवचनादिकं स्यात् । किञ्च दुर्या इति पदेन गृहं भवति । यो व्यापकः स सर्वत्र भवत्येव, पृथिव्या उपस्थे व्यापकमिति कथनेन कोऽर्थः ? पुनरत्रोर्वन्तरिक्षमित्युपादा-नस्य कोऽर्थः ?

९—एवमेव तृतीयोऽप्यर्थः—'अहं शिल्पवित् यजमानः भूतायारातये पृथिव्या नाभौ त्वा तमग्निं होमार्थं शिल्पविद्यार्थं च सादयामि यतोऽयमग्निरदित्या अन्तरिक्षस्योपस्थे हुतं हव्यं द्रव्यं रक्ष रक्षति तस्मात्तं पृथिव्यां स्थाप-यित्वोर्वन्तरिक्षमन्वेमि । अत—एव त्वा तं पृथिव्यां सादयामि । एवं कुर्वन्नहं स्वरभिविख्येषम्, तथैवेमे दुर्याः प्रासादाः तत्स्था मनुष्याश्च दृंहन्तां शुभगुणैर्वर्धन्तामिति मत्वा तमिममग्निं कदाचिन्नाहं त्यजामि' (पृ० ६५) इति तथाविध एव, मूलाभावात् । शिल्पविद्याविद् यजमानोऽत्र वक्तेत्यत्र मूलं वक्तव्यम् । त्वदीयया दृष्टया कश्चिन्मद्यपायी मद्यपोषक-त्वेनेमं मंत्र योजयेत् तदा किमुत्तरम्? हे परमेश्वर ! अहं भूताय स्वास्थ्योत्पादाय रोगाणां नाशाय त्वा तन्मद्यं सादयामि निर्मास्यामि । तच्च स्वः सुखरूपम् । सुखसाधनत्वात् । उक्तञ्च माधवकरेण–'बुद्धिस्मृतिप्रीतिकरः सुखश्च पानान्ननिद्रारति-वर्धनश्च । सम्पाठगीतस्वरवर्धनश्च प्रोक्तोऽतिरम्यः प्रथमो मदोहि ।।' इति । पृथिव्या अन्तरिक्षस्य चोपस्थे तं हव्यमादा-तुं ग्रहीतुं योग्यं तद्रक्ष । तत्पृथिव्यां स्थापयित्वाहमुर्वन्तरिक्षमन्वेमि । तेनैव धनलाभे दुर्याः प्रासादास्तत्स्था मनुष्याश्च वर्धन्ते तस्मात्तदिदं न कदाचित्यजामि इत्यादिर्मद्यपानामर्थः । न च कश्चनाधिगतवेदविद्यः अर्थमिमं मन्वीत । तस्मा-देतादृशा उच्छृङ्खलार्थास्त्याज्या एव ।

१०—भावार्थस्तु दूरतोऽपि न मूलं स्पृशति । तथाहि—ईश्वरेण मनुष्य आज्ञाप्यते, हे ! मनुष्य अहं त्वां सर्वेषां

'उष्ट्र–महिषपरिपालक' अर्थ क्यों नहीं किया ? शब्दों का अर्थविपर्यास करने पर भी अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाया, पुनः अध्याहार की आवश्यकता हो ही गई । पुनरपि उस अध्याहार के करने में किसी मूल का उल्लेख न करने से अध्याहार के स्वीकार को अप्रामाणिक ही सिद्ध कर दिया । कुछ ऐसे अर्थ किये हैं जिनके बतानेवाले शब्दों का कहीं पता ही नहीं है ।

८—इसी तरह द्वितीय, तृतीय अर्थ में भी मनगढ़न्त बातें लिख मारी हैं । पूर्वापरविरुद्ध अर्थ, असम्बद्ध अर्थ, प्रमाणविरुद्ध अर्थ, अप्रामाणिक अर्थ व्याकरण के नियमों का उल्लङ्घनादि करके अपनी उच्छृंखलता का यथेच्छ प्रदर्शन मात्र कर दिया है ।

१०—इसके अतिरिक्त नवीन व्याख्याकार ने जो भावार्थ बताया है वह तो और भी अधिक उपहासास्पद है,

भूतानां सुखदानाय पृथिव्यां रक्षयामि' इति। अत्र भूतायेत्यस्य कथमेतावानार्थ इति कोऽपि प्रमाणतन्त्रो न ज्ञातुं शक्नुयात्। पूर्वत्र व्याख्यानेषु—अहमर्थो जीव आसीत्, भावार्थे त्वीश्वरोऽहमर्थः सञ्जातः, 'त्वया वेदविद्याधर्मानुष्ठान-युक्तेन पुरुषार्थेन सुन्दराणि सर्वर्तुसुखानि सर्वतो विशालावकाशसहितानि गृहानि रचयित्वा सुखं प्रापणीयम्' इति किं दुर्या इत्यस्यार्थः सम्भवति ? सुखवाचकं स्वः पदमवकाशबोधकमन्तरिक्षपदं मत्वापि दुर्या इत्यनेन कथं तयोः सम्बन्धो योजनीयः ? तदेव प्रापणीयमित्यनेन कथं युज्येत ? 'मृत्सृष्टौ यावन्तः पदार्थाः सन्ति तेषां सम्यग्गुणान्वेषणं कृत्वाऽनेका विद्याः प्रत्यक्षीकृत्य तासां रक्षणं प्रचारश्च सदैव सम्भावनीयः' इत्यपि भावार्थश्चिन्त्य एव, कस्य शब्दस्य वाक्यस्य वा कथङ्कारमेवं भावार्थः ? इति प्रमाणतन्त्रः कथं ज्ञातुं प्रभवेत् ? 'सर्वसाक्षिणमुपासितुमहं परमेश्वरं ज्ञात्वा सर्वोपकारः, विविधविद्यावृद्धिर्धर्मोपस्थानमधर्माद्दूरे स्थितिः क्रियाकौशलसम्पादनं यज्ञक्रियानुष्ठानं च कर्त्तव्य'मिति, यद्यपिसर्वमिदं कर्त्तव्यम्, परमनेन मन्त्रेण सर्वमेतत् कथं बोध्यते ? अन्यथा—सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावरूपं षाड्गुण्यं नीति-शास्त्रप्रसिद्धं कथं न योजितम् ? श्लेषालङ्कारस्य माहात्म्यं वा तत्स्यात् ?

११—व्याकरणप्रक्रियां प्रदर्शयता यदुक्तम्—"महीधरेण भ्रान्त्या अभिविख्येषमिति पदं ख्या प्रकथन इत्यस्य दर्शनार्थे गृहीतम्, तत् धात्वर्थादेवविरुद्धम्" इति, तदसत्, विपूर्वः ख्यातिर्दर्शनार्थ इत्युव्वटरीत्या विपूर्वकस्य ख्यातेर्दर्श-नार्थत्वे बाधाभावात्। त्वया तूपसर्गमन्तरापि सदेस्त्यागार्थता गृहीता। तत्र धात्वर्थविरोधः कथं नावेक्षितः। यदि धातूनामनेकार्थत्वात् तद्युक्तम्, तर्हि प्रकृते किं तत् दण्डवारितम् ? अतएव ख्यातिरेव दर्शनमिति सांख्ययोगवृद्धाः। ख्यातिवादेष्वपि दर्शनार्थैव ख्यातिर्गृह्यते। विपूर्वस्य ख्यातेर्दर्शनार्थतायाम्—'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते। प्रहा-राहारसंहारविहारपरिहारवत्॥' इति अभियुक्तवचनमप्यनुकूलम्। चक्षिङस्तु आर्धधातुक एव ख्यात्रादेशोभवति। विधिलिङ्यार्धधातुकसंज्ञाश्रयणं तु निर्मूलत्वादेवोपेक्ष्यम्।

तथाहि—अभिविख्येषमित्यत्रेत्थं व्याकरणप्रक्रिया—अभि वि इत्युपसर्गद्वयपूर्वकात् ख्याधातोर्विधिलिङ्।

उस भावार्थ का मूलमन्त्र के शब्दों से कोई सम्बन्ध ही नहीं रखा गया है। जैसे—'ईश्वर मनुष्य को आज्ञा देता है कि हे मनुष्य ! मैं तुम्हें सब प्राणियों को सुख देने के लिये पृथ्वी पर सुरक्षित रखता हूँ।'

क्या मन्त्र के 'भूताय' शब्द से उपर्युक्त अर्थ निकल रहा है ? कोई भी प्रामाणिक व्यक्ति उक्त अर्थ को मन्त्र से सम्बन्धित नहीं बतायेगा। मन्त्र की व्याख्या करते समय 'अहम्' का अर्थ 'जीव' किया था, किन्तु भावार्थ बताते समय 'अहम्' का अर्थ 'ईश्वर' कह दिया। इसी प्रकार मन्त्र के 'दुर्या' शब्द का ऊटपटांग अर्थ किया है। किसी की वञ्चना (प्रतारणा) करना महापाप है। वेदमन्त्रों के भाष्य के नामपर लोकोपयोगी अन्यान्य बातों को बताकर भाष्य-कार बनना उचित नहीं है। मन्त्राक्षरों से असम्बद्ध बातों को ही बताना था तो सन्धि–विग्रह–यानासन संश्रयद्वैधी-भावरूप षाड्गुण्य जो राजनीतिशास्त्र में प्रसिद्ध हैं, उसे भी क्यों नहीं बताया ?

११—व्याकरण प्रक्रिया को बताते हुए जो कहा गया है कि "भाष्यकार महीधर ने मन्त्र के 'अभिविख्येषम्' पद का अर्थ ठीक नहीं किया है, क्योंकि धात्वर्थ के साथ विरोध होता है।"

किन्तु उक्त कथन से तो भाष्यकार महीधर का भ्रम तो सिद्ध न होकर उसके विपरीत आपकी ही व्याकरण-विषयक तथा अन्यान्य प्रामाणिक वेदभाष्यों से परिचयशून्यता प्रकट हो रही है। क्योंकि भाष्यकार उव्वटाचार्य ने 'वि' पूर्वक 'ख्या' धातु का अर्थ 'दर्शन' बताया है।

आपने तो उपसर्ग के बिना ही 'सद्' धातु का अर्थ 'त्याग' बताया है, तब धात्वर्थविरोध क्या आपको नहीं दिखाई दिया ? 'धातूनामनेकार्थत्वात्' यह नियम याद रखना चाहिये। अतएव 'ख्यातिरेवदर्शनमिति सांख्ययोगवृद्धाः' कहा गया है। ख्यातिवाद में भी दर्शनार्थक ही 'ख्या' धातु को लिया गया है। 'वि' उपसर्गपूर्वक 'ख्या' धातु को दर्श-

उत्तमपुरुषैकवचनम्, मिप्, अमादेशः, सिब्विकरणो बाहुलकात् आकारस्यैकारादेशश्छान्दसः, षत्वम् । विध्यर्थकलिङादेशस्य सार्वधातुकत्वेन तत्र 'ख्या प्रकथने' इत्यस्य प्रयोगो निर्बाध एव । सिब्विकरणस्यापि 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इत्यनेन सार्वधातुकसंज्ञकत्वम् ।

१२-अध्यात्मपक्षे-भूताय त्वा नारातये-हे परमात्मन्! भूताय भूतजातहिताय तादर्थ्ये चतुर्थी । भूताय नित्यनिष्पन्नाय त्वत्स्वरूपाभिन्नाय मोक्षाय, अरातयः कामक्रोधादयः, शोणोधावतीतिवदजहल्लक्षणया कामादियुक्ताय संसाराय सांसारिकवैषयिकसुखाद्यैश्वर्याय न त्वां साधनत्वेनापश्यम् स्वः सुखरूपं त्वा त्वामभिविख्येषम् पश्येयम् । त्वत्कृपया भूतजातस्य हितार्थं पृथिव्या दुर्याः धनधान्यपूर्णाः प्रासादा, दृ ंहन्ताम् वर्धन्ताम् । अहन्तु उरु विस्तीर्णमपरिच्छिन्नमन्तरिक्षं चिदानन्दमयमाकाशमन्वेमि साक्षात्कृत्य प्राप्नोमि । वेदान्ते ज्ञप्तिरेव प्राप्तिर्विस्मृतकण्ठमणेः प्रसिद्धैव 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र० सू० १।१।२२) कं ब्रह्म खं ब्रह्मे (छा० ४।१०।५)'ति श्रुतिवचनेभ्यः । ननु किमन्तरिक्ष एव ब्रह्म न पृथिव्यादाविति चेत् तत्राह-त्वामहं पृथिव्या नाभौ मध्येऽन्तः पृथिव्या अन्तर्यामित्वेन सगुणनिराकाररूपेण च पश्यामि । 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः ।' (बृ० ३।७।३) इति बृहदारण्यकश्रुतेः । अदित्या देवमातुरुपस्थेऽङ्के च वामनरामकृष्णादिरूपेण त्वामहं पश्यामि सगुणसाकाररूपेण । तस्मात् हे अग्ने सर्वेषां नायक ! हव्यं भूतजातस्य कृते व्रीहियवफलपुष्टदुग्धदधिघृतादिलक्षणं हव्यं ज्ञानिनां कृते मोक्षसुखप्रापकं ज्ञानरूपं भोजनं रक्ष पालयस्व । भवान् भोगस्य मोक्षस्य चाधिपतिः ।

१३—अथवा, हे आत्मन्! त्वा त्वां भूताय नित्यनिष्पन्नमोक्षाय नारातये न कृपणताय स्वः स्वर्गाय तत्साधनभूताय यज्ञाय चाभिविख्येषम् धर्मब्रह्मप्रकथनेनाहं परमेश्वरो वेदो वा नियोजयामि । पृथिव्यां युष्माकं दुर्या धर्मनिर्वाहका

नार्थक मानने पर 'उपसर्गेणधात्वर्थो' यह अभियुक्तोक्ति भी सुसङ्गत हो जाती है । 'चक्षिङ्' को 'ख्यात्रादेश', आर्धधातुक संज्ञा होनेपर ही होता है । विधिलिङ् लकार में आर्धधातुक संज्ञा नहीं हुआ करती । विध्यर्थक लिङादेश तो सार्वधातुक होता है । इस व्याकरण—नियम को भूलना उचित नहीं है । अतः 'ख्या' प्रकथने का प्रयोग निर्बाध ही है । सिब्विकरण की भी छन्दस्युभयथा' इस पाणिनि-सूत्र से सार्वधातुक संज्ञा होती है ।

१२—अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा—"भूतायत्वा नारातये"—हे परमात्मन् ! भूताय=नित्य निष्पन्न तुम्हारे स्वरूप से अभिन्न रहनेवाले मोक्ष के लिये, अरातयः=काम-क्रोधादिक, 'शोणोधावति' की तरह अजहल्लक्षणा से, विकारों से भरे हुए संसार के लिये अर्थात् सांसारिक वैषयिक-सुखादि ऐश्वर्य के लिये तुमको मैंने साधन नहीं समझा । स्वः=सुखरूप तुम्हें मैं देख सकूँ । तेरी कृपा से प्राणिमात्र के कल्याण के लिये पृथिवीभर के दुर्याः=धनधान्य से पूर्ण हुए प्रासाद, दृंहन्ताम्=प्रवृद्ध हों । मैं तो, उरु=विस्तीर्ण निःसीम चिदानन्दमय आकाश रूप अन्तरिक्ष को अन्वेमि=खोजकर प्राप्त हो सकूँ । वेदान्त में विस्मृत कण्ठमणि की ज्ञप्ति यानी प्राप्ति का होना 'आकाशस्तल्लिङ्गात्', 'कं ब्रह्म, खं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति वचनों से प्रसिद्ध ही है । क्या अन्तरिक्ष में ही ब्रह्म है, पृथिवी आदि में ब्रह्म नहीं है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि तुम्हें मैं पृथिवी को नाभि में यानी पृथिवी के भीतर अन्तर्यामी के रूप में तथा साकार और निराकार के रूप में देखता हूँ । बृहदारण्यक श्रुति भी इसी बात को बता रही है । देवमाता अदिति के उपस्थ=अङ्क में वामन, राम और कृष्ण के रूप में यानी सगुण साकार हुए तुमको मैं देखता हूँ । इसलिये हे अग्ने ! सब के नायक ! हव्य=प्राणिमात्र के लिये व्रीहि, यव, फल, पुष्टि कारक दुग्ध, दधि, घृतरूप हव्य की और ज्ञानियों के लिये मोक्षसुख की प्राप्ति करानेवाले ज्ञानरूप भोजन की तुम रक्षा करो । क्योंकि तुम ही भोग और मोक्ष के अधिपति हो ।

१३-अथवा, हे आत्मन् ! त्वा=तुमको भूताय=नित्यनिष्पन्न मोक्ष के लिये नारातये=कृपणता के लिये नहीं, अपितु स्वः=स्वर्ग के लिये और उसके उपायभूत यज्ञ के लिये अभिविख्येषम्=धर्म-ब्रह्म को बताता हुआ परमेश्वर

आहिताग्नीनां गृहा वर्धन्ताम् । मोक्षार्थिनस्तु उर्वन्तरिक्षरूपेणापरिच्छिन्नरूपेणाहमेव अन्वेमि प्राप्नोमि । ज्ञानिभक्तान् प्राप्तुं भगवानेव यतते । 'निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् । अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥' (श्री० भा० म० पु० ११।१४।१६) 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।' (श्री० भ० गी० ७।१७) 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (श्री० भ० गी० ७।१८) 'ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम्' (श्री० भा० म० पु०११।१८।३) पृथिव्या नाभौ यज्ञवेद्यां कर्मानुष्ठानफलार्थिनं सादयामि स्थापयामि । मदभिन्नमोक्षाभिलाषिणं सर्वथा निरपेक्षज्ञानिनं वा अदित्या अखण्डनीयाया ब्रह्मसंविद उपस्थेऽङ्के सादयामि । त्वं तु हव्यं हव्यबहुलं यज्ञं रक्ष । स्वधर्मानुष्ठानेनैव धर्मब्रह्मप्राप्तिसम्भवात् । हव्यं परप्रेमास्पदं प्रत्यक्चैतन्याभिन्नं परमात्मानं तत्त्वविद्भोग्यं गोप्यं दुर्लभं चिन्तामणिमिव रक्ष गोपाय प्रतिक्षणं सावधानतया चिन्तय ।

१४—यद्वा, परमेश्वरो वैज्ञानिकमाह—हे वैज्ञानिकशिल्पिन्! त्वां भूताय भूतहिताय विद्युन्निर्माणाय बृहज्जलाशयनिर्माणाय उपयोगिवस्त्राय शर्करादिनिर्मातृयन्त्राविष्कारायाहमभिविख्येषम् हिताहितप्रकथनेन वैदिकविधिनिषेधद्वारा प्रेरयामि पश्येयम् ईक्षणात्मकेन सृजामि नारातये न प्रजाद्रोहाय प्रजाविध्वंसनाय परमाण्वस्त्रोद्जनास्त्र (परमाणु बम हाइड्रोजनबम) निर्माणेन प्रजोत्सादनाय ।

१५—यद्वा, हे आधुनिकचिकित्सक! भूताय भूतजातस्य स्वः सुखाय त्वा त्वां प्रेरयामि नारातये न स्नायुच्छेदगर्भरोधकयन्त्रप्रयोगादिभिः परिवारनियोजनाय न रातिः पुत्रादिदानं येन यस्मिन् वा सोऽरातिः परिवारनियोजनम्, यथा पृथिव्यां स्वः सुखहेतवो दुर्या इत्यर्थः हन्तां वर्धन्ताम् । परमाण्वस्त्रादिनिर्माणे परिवारनियोजने तु प्रजाह्रासे न दुर्याणां गृहाणां वर्धनम्, प्रथमे उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षं स्वर्गसुखमन्वेमि व्याप्नोमि तस्मात् सर्वं पश्यामि । द्वितीये ममादेशोल्लङ्घने पृथिव्या नाभौमध्ये गर्ते सादयामि पातयामि निःक्षिप्य नाशयामि वा । भूतजातस्य हिताचरणे तु अदित्या देवमातुरुपस्थेऽङ्के सादयामि देवत्वमापादयामि ।

अथवा वेद रूप मैं (तुमको) नियुक्त करता हूँ । पृथिवी पर तुम्हारे दुर्या=धर्मनिर्वाहक आहिताग्नियों के घरों की अभिवृद्धि हो । मोक्षार्थियों को तो उरु अन्तरिक्षं=विस्तीर्ण अन्तरिक्ष रूप से यानी अपरिच्छिन्नरूप से मैं ही प्राप्त हो जाता हूँ । ज्ञानी भक्तों को प्राप्त करने के लिये भगवान् स्वयं ही प्रयत्न करते हैं । यह बात श्रीमद्भागवत और श्रीमद्भगवद्गीता में भी बताई गई है । पृथिवी की नाभि यानी यज्ञवेदी में कर्मानुष्ठान के फलार्थी को स्थापित करता हूँ । अपने से अभिन्नस्वरूप के मोक्ष को चाहनेवाले को अथवा सर्वथा निरपेक्षज्ञानी को अदिति यानी अखण्डनीय ब्रह्म संविद् के अङ्क में स्थापित करता हूँ । तुम हव्यबहुल यज्ञ की रक्षा करो, क्योंकि स्वधर्मानुष्ठान से ही धर्म-ब्रह्म की प्राप्ति होना संभव है । हव्य=परप्रेमास्पद प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न परमात्मा जो तत्त्वविदों के द्वारा ही भोग्य है उसकी रक्षा प्रतिक्षण बड़ी सावधानी से दुर्लभ चिन्तामणि के समान करो ।

१४—अथवा परमेश्वर, वैज्ञानिक से कहता है, हे वैज्ञानिक शिल्पिन् ! मैं तुमको प्राणियों के हितार्थ विद्युत् निर्माण के लिये, बृहज्जलाशय के निर्माण के लिये, उपयुक्त वस्त्र निर्माण के लिये, शर्करादि के निर्मापकयन्त्र का आविष्कार करने के लिये, हित-अहित बताते हुए दिक विधि-निषेध के द्वारा प्रेरित करता हूँ । नारातये=परमाणु आदि अस्त्रों का निर्माण करके प्रजा का नाश करने के लिये नहीं ।

१५—अथवा, हे आधुनिक चिकित्सक ! प्राणिमात्र के सुख के लिये मैं तुम्हें प्रेरित करता हूँ । नारातये=स्नायुच्छेदन अर्थात् गर्भनिरोधकयन्त्रों के प्रयोगादि के द्वारा परिवारनियोजन के लिये नहीं । परमाणु अस्त्रों के निर्माण से परिवारनियोजन से प्रजा का ह्रास हो जानेपर गृहों की वृद्धि नहीं होगी । प्रथम अर्थ में सर्वत्र मेरी व्याप्ति रहने से मैं सब कुछ देखता हूँ । द्वितीय अर्थ में मेरे आदेश का उल्लङ्घन करने पर गर्त में गिरा देता हूँ । किन्तु हित का आचरण करने पर समस्त प्राणियों को देवमाता अदिति के अङ्क में उन्हें रख देता हूँ, यानी उन्हें देवत्व प्राप्त करा देता हूँ ।

५—यद्वा नीत्युपदेशः—हे राजन् हे शासकनेतः भूताय भूतमात्रहिताय त्वा त्वां प्रेरयामि नारातये कृपणतायै न वा प्रजाद्रोहाय भेदनीत्या शत्रुत्वाय शेषं पूर्ववत् ।

६—यद्वा हे श्रमिकवर्ग त्वां भूताय राष्ट्रसमृद्धये उत्पादयामि नारातये न कर्मावरोधायान्दोलनाय राष्ट्रसम्पत्तिविनाशाय, प्रथमपक्षे पृथिव्यां स्वः दुर्याः सुखयुक्ता गृहा वर्धन्ताम् स्वर्गाभिमुखा वर्धन्ताम् शतसहस्रभौमाट्टालिकावन्तो भवेयुरित्यर्थः। उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षम् अन्वेमीत्यत्र पुरुषव्यत्ययः। विमानसमूहोऽन्तरिक्षमन्वेतु। अहं परमेश्वर उरुविस्तीर्णमन्तरिक्षमेमि व्याप्नोमि सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापकोऽतो मावमंस्थाः। आज्ञोल्लङ्घनेऽन्ते पृथिव्या नाभौ मध्ये गर्ते सादयामि। आज्ञापालने चादित्या देवमातुरङ्के स्थापयामि अतः हव्यं प्रजाभोग्यं देवभोग्यं च पदार्थजातं रक्ष पालय माविनाशय। इत्येवमादयः शतशोऽर्थाः सम्भवन्ति। (वा० सं० १।११) ॥

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। देवीरापोऽअग्रेगुवो अग्रेपुवोऽग्र इममद्य यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिꣳ सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम् ॥ वा० सं० १।१२ ॥

अर्थ—हे दो कुश पवित्रों ! तुम्हारा यज्ञ से सम्बन्ध है। हे जल ! प्रेरक देवता की प्रेरणा से छिद्ररहित पवित्र से तथा रविकिरणों के द्वारा मैं तुम्हारा शोधन करता हूँ। हे प्रकाशात्मक जल ! आज आरम्भ किये जाने वाले यज्ञों को निर्विघ्नतया सम्पन्न करो। हे जल ! निम्न (ढालू) जमीन पर प्रवाहित होने वाले तथा प्रथमतः सर्वशोधक तुम हो। अतः यजमान को फलोपभोग की प्रेरणा करो। यह यजमान दक्षिणा देकर यज्ञ को वृश्रिङ्गत करने वाला उसका पालन करने वाला और देवताओं को हविर्भाग का देने वाला है ॥ १२ ॥

५—अथवा इस मन्त्र से नीति का भी उपदेश मिलता है – हे राजन् ! हे शासक ! हे नेताओं ! जनता आदि प्राणिमात्र के हितार्थ मैं तुम्हें प्रेरित करता हूँ। कृपणता अपनाने के लिये नहीं, प्रजा के साथ द्रोह करने के लिये नहीं, भेदनीति को अपनाकर शत्रुता करने के लिये मैं तुम्हें प्रेरित नहीं करता हूँ। शेष अर्थ पूर्व के समान ही है।

६—अथवा इस मन्त्र के द्वारा श्रमिकवर्ग के लिये भी उपदेश दिया जा रहा है—हे श्रमिकों ! मैंने तुम्हारी उत्पत्ति राष्ट्र की समृद्धि के लिये की है। काम-काज में अवरोध करने के लिये, अथवा आन्दोलन मचाने के लिये, अथवा राष्ट्र की सम्पत्ति का विनाश करने के लिये तुमको उत्पन्न नहीं किया है। प्रथम पक्ष में अपने घरों को सुख-साधनों से सम्पन्न करो। ऐसी धर्मनीति से सुखसाधनों को संगृहीत करो, जिनसे परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति हो सके। तुम लोग सैकडों-हजारों भौम हलों का संग्रह करके उन्हें सुरक्षित रखो, और उन्हीं से पृथ्वी को जोतो। विमानसमूहों की उड़ान अन्तरिक्ष में होती रहे। मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ, सर्वशक्तिमान् हूँ, अतः मेरे प्रति श्रद्धाहीन होकर मेरा अपमान मत करो। मेरी आज्ञा को यदि नहीं मानोगे तो पृथिवी के गर्त में गिरा दूँगा, किन्तु मेरी आज्ञा का पालन करने पर देवमाता की गोद में तुम्हें बिठा दूँगा। अतः प्रजा भोग्य और देवयोग्य पदार्थों की रक्षा करते रहो, उनका विनाश मत करो। इस प्रकार मन्त्र के शब्दों से व्याकरण प्रक्रिया, निरुक्त प्रक्रिया की सहायता से सैकडों प्रामाणिक अर्थ निकाले जा सकते हैं। अतः मनगढन्त अर्थ निकालना केवल पापजनक होने से सर्वथा अनुचित हैं।

१—'कुशौ समावप्रशीर्णाग्रावनन्तर्गर्भौ कुशैश्छिनत्ति पवित्रेस्थ इति, त्रीन् वा'(का० श्रौ० सू० २।३।३०-३१) कुश-शब्दस्तृणपर=कुशौ द्वे दर्भतृणे समौ मूलादारभ्याग्रपर्यन्तं तुल्यप्रमाणौ अप्रशीर्णाग्रौ अग्रवन्तौ। न विद्यन्ते अन्तर्मध्ये गर्भौ ययोस्तौ। गर्भेहि सति संख्यान्तरं स्यात्। तौ कुशैश्छिनत्ति। मूलच्छेदनेन प्रादेशप्रमाणौ करोति अध्वर्युः। कुश-पत्रद्वयं वामहस्ते कृत्वा अग्रतः प्रादेशमात्रं परिमाय मूले तयोरुपरि कुशत्रयंमुदगग्रं निधाय तत्कुशत्रयं तयोर्मूलभागेन प्रादक्षिण्येन परिवेष्ट्य तयोः प्रादेशमात्रमग्रभागं वामहस्ते कृत्वा अवशिष्टं मूलभागं कुशत्रयं च दक्षिणहस्ते धृत्वा दक्षिण-हस्तेन छिन्द्यात् त्रोटयेत्। भिन्नप्रमाणावपि समौ कार्यौ-इत्यत्रैव तात्पर्यात्। त्रीन्वेति पक्षान्तरम्। यद्यपि न प्रकृतावूहो-ऽस्तीति 'न प्रकृतावयर्वत्वात्' (का० श्रौ० सू० ४।३।२१) इति न्यायेन मन्त्रगतस्य द्विवचनान्तपदस्योहाभावेन यथाश्रुतस्य मन्त्रस्य पाठेऽथवा मन्त्रस्य त्यागेऽन्यतरस्मिन्नवश्यकर्त्तव्ये 'गुणेत्वन्यायकल्पना' (मी० सू० ६।३।१५) इति न्यायेन द्विवचन-स्यैव बहुत्वे लक्षणामङ्गीकृत्य द्विवचनान्तस्यैव मन्त्रस्य पाठो युक्तः। 'तृणं कष्ठं वान्तर्धाय छिनत्ति नखेनेति' (आपर-स्तम्ब श्रौ० सू०)

२—मन्त्रार्थस्त्वित्थं—वैष्णव्यौ इति नपुंसकस्य 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३। ।८५) इति सूत्रेण व्यत्ययेन स्त्रीलिङ्गत्वम्। हे पवित्रे शोधके कुशद्वयरूपे युवां वैष्णव्यौ यज्ञसम्बन्धिनी स्थः। 'यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञियेस्थ इत्येवैतदाह' (श० १।१।३।१) इति श्रुतेः। 'हविर्ग्रहण्यामपः कृत्वा ताभ्यामुत्पुनाति सवितुर्व इति' (का० श्रौ० सू० २।३।३२) अग्नि-होत्रहवण्यां प्राणीतमुदकमासिच्य तदुदकं हस्तद्वयस्यानामिकाङ्गुष्ठगृहीताभ्यां पवित्राभ्यां सकृदूर्ध्वंक्षिपेत् सवितुर्व इति मन्त्रेण। मन्त्रार्थस्तु—हे आपः सवितुः प्रेरकस्य परमेश्वरस्य प्रसवे प्रेरणे वर्तमानोऽहं वो युष्मान् उत्पुनामि उत्कर्षेण-शोधयामि। अच्छिद्रेण छिद्ररहितेन शोधकेन वायुस्वरूपेण तथा सूर्यस्य रश्मिभिः शुद्धिहेतुभिरुत्पुनामि। वायोः सूर्यस्य रश्मीनाञ्च पादप्रक्षालनाद्युपहतभूमिशुद्धिहेतुत्वप्रसिद्धेः।

३—तदेवाह शातपथीश्रुतिः द्वित्वपक्षपोषणाय—'ते वै द्वे भवतः। अयं वै पवित्रं योऽयं पवते सोऽयमेक इवैव-पवते सोऽयं पुरुषेन्तः प्रविष्टः प्राङ् च प्रत्यङ् च ताविमौ प्राणोदानौ तदेतस्यैवानुमात्रां तस्माद्द्वे भवतः' (श० १।१।३।२) अयं पवमानो वायुरेव पवित्रं शुद्धिहेतुः। 'पुवः संज्ञायाम्' (पा० सू० ३।२।१८५) करण इत्र प्रत्ययः। 'पन्थानश्च विशु-द्धयन्ति सोमसूर्यांशुमारुतैः।' इत्यादिस्मृतेः। स च बहिरेकोऽपि पुरुषशरीरमनुप्रविष्टो वृत्तिभेदेन इडापिङ्गलादिनाडीद्वारा बहिर्गच्छन् प्राणः प्राङ्च्यते, अन्तःप्रविशन् प्रत्यङ्ङ्च्यते। तावेतौ प्राणोदानौ कथ्येते। ऊर्ध्वदेशादानयति अन्तःप्रविश्या-नुगुणं चेष्टते तेनापानोऽत्र विवक्षितः, नतूत्क्रान्तिहेतुरुदानः। प्राणापानौ पवित्रे यजमान एव प्राणापानौ दधाती' (तै० ब्रा०

१—कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार 'कुश' शब्द तृणपरक है। दो दर्भतृणों को जो मूल से लेकर अग्रपर्यन्त तुल्य प्रमाण वाले हों उन्हें तीन कुशों से काट दे। अर्थात् अध्वर्यु उन दो कुशों का मूल काटकर उन्हें प्रादेश प्रमाण का करे।

२—मन्त्र का अर्थ यह है कि हे जलों! प्रेरक परमेश्वर की प्रेरणा से चलने वाला मैं तुम्हारा शोधन करता हूँ। छिद्ररहित शोधक वायुस्वरूप से तथा सूर्य की रश्मियों से तुम्हें पवित्र करता हूँ। क्योंकि वायु और रश्मियों का समूह पादप्रक्षालनादि से उपहत भूमि की शुद्धि करते हैं, यह प्रसिद्ध है।

३—शतपथ ब्राह्मण ने भी इसका समर्थन किया है। वह प्राण वायु बाहर एक रहने पर भी पुरुष के शरीर में अनुप्रविष्ट होकर वृत्तिभेद से इडा-पिङ्गलादि नाडियों द्वारा बाहर निकल कर 'प्राङ्', और अन्तः प्रविष्ट होने पर 'प्रत्यङ्', कहलाता है, ये दोनों प्राण और उदान कहलाते हैं। इस प्रकार द्विधा भिन्न हुए वायुसंज्ञक पवित्र की मात्रा (परिमाण) का अनुसरण करके पवित्र दो बनाये गये हैं। द्यावा-पृथ्वी के मध्य में जो भी था सबको आच्छादित करके वृत्र रहा। उस वृत्र को इन्द्र ने मार दिया। उसको मारने से जल को लक्ष्य करके चारों ओर दुर्गन्ध प्रसृत हो गया।

३।३।४।४) त्यस्मिन्नेव प्रकरणे इति तित्तिरिणा तथैवाम्नातत्वात् एवं द्विधाभिन्नस्य वाम्वाख्यस्य पवित्रस्य मात्रां परिमाणमनुसृत्य पवित्रयोर्द्वित्वम्।

तत्रैव शतपथे अर्थोऽपि त्रीणिस्यु'- (श० १।१।३।३) रित्यादिभिः। तस्यैव प्राणापानवतः व्यानाख्योऽपि वृत्तिभेदो भवत्विति त्रित्वपक्षोऽपि समर्थितः। 'अच्छिद्रेण पवित्रेणेत्ययं पवित्रं योऽयं पवते तस्मादाहाच्छिद्रेण पवित्रेणेति। सूर्यस्य रश्मिभिरित्येते पवितारो ये सूर्यस्य रश्मयस्तस्मादाह सूर्यस्य रश्मिभिरिति काण्वश्रुतेश्च। शतपथे—'वृत्रोह वा इद ७ सर्वं वृत्वा शिश्ये।.......तस्माद् वृत्रोनाम। तमिन्द्रो जघान। स हतः पूतिः सर्वत एवापोभिप्रसुस्राव सर्वत इव ह्यप ७ समुद्रस्तस्मादुहैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे ता उपर्युपर्यति पुप्रुविरेऽतद्रमे दर्भास्ता हैता अनापूयिता आपोऽस्ति वा इतरासु स ७ सृष्टमिव यदेनावृत्रः पूतिरभिप्रास्रवतदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन् पथ मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति तस्माद्वा एताभ्यामुत्पुनाति। (श० १।१।३।४-५) द्यावा पृथिव्योर्मध्ये यदासीत् सर्वं वृत्वा वृत्रः शिश्ये। तमिन्द्रोजघान। सहतः पूतिः दुर्गन्धः सर्वतो अपोऽभिलक्ष्य प्रस्तुतोऽभूत्। अतएव समुद्रः सर्वमावृत्यवर्तते। तस्मात् दुर्गन्धात् स्रुताद् वृत्रादिमा आपः बीभत्साञ्चक्रिरे जुगुप्सन्तेस्य। ता आपः तत्स्पर्शं परिहर्तुमतिपुप्लुविरे। जलाशयमतिक्रम्य तीरदेशं प्राप्ताः। ताश्चदर्भात्मना परिणताः।

४—तित्तिरिश्च—'इन्द्रोवृत्रमहन्। सोऽपः। अभ्यम्रियत। तासां यन्मेध्यं यज्ञिय ७ सदेवमासीत्। तदपोदक्रामत्। ते दर्भा अभवन्' (तै० ब्रा० ३।२।५।१) सव्येकृत्वा दक्षिणेनोदिङ्गयवि देवीराय इति। (का० श्रौ० सू० २।३।३४) अध्वर्युः सव्यहस्ते अग्निहोत्रहवणीस्थाः प्रोक्षणीः अपोनिधाय सव्यहस्तास्था एव प्रोक्षणीर्मुखपर्यन्तमूर्ध्वाः कुर्यात्। समाचारादेव दक्षिणेनोदिङ्गने प्राप्ते सूत्रेदक्षिणग्रहणं सव्योस्थितानामेव प्रोक्षणीनामपां दक्षिणेनोदिङ्गनं यथास्यादित्येतदर्थम्। तेन सव्यहस्तस्थितानामेवोदिङ्गनं क्रियते। सायणरीत्या तु उत्पूताभिरद्भिः पूरितं पात्रं सव्ये हस्ते निधाय मन्त्रमुच्चारयन् दक्षिणेन हस्तेन पात्रमूर्ध्वं चालयेत्। ऊर्ध्वसेचनेन चालयति। इगि रिगि लिगि गत्यर्थाः।

५—हे द्योतनात्मिका आपो यूयमद्यास्मिन् दिने इममिदानीं प्रवर्तमानं यज्ञं श्रेष्ठतमं कर्मविशेषम् अग्रे नयत् पुरतः प्रवर्तयत् यथा विघ्नो न स्यात्तथा कुरुत। कीदृश्य आप इत्याह अग्रेगुवः पुरतोनिम्नदेशं प्रतिगमनशीला अग्रेपुवः यस्मिन् पूर्वमागच्छन्ति तस्मिन्नपहति (मालिन्य) निवारणेन शोधनशीलाः। यद्वा याः पिबन्ति सोमराज्ञो रसस्य पान-

---

अतएव समुद्र सबको आवृत करके रहता है। उस वृत्रासुर से निकलने वाली दुर्गन्ध से जल को बड़ी जुगुप्सा होने लगी। तब जलों ने उसके स्पर्श से बचने के लिये बहुत चाहा, तब जलाशय का अतिक्रमण करके वे तीर पर पहुँच गये, और दर्भ के रूप में परिणत हो गये।

४—तित्तिरे ने भी इसी बात को कहा है। अध्वर्यु अपने सव्य हस्त में अग्निहोत्रहवणीस्थितप्रोक्षणी (जल) को रखकर ही प्रोक्षणी को मुखपर्यन्त ऊपर उठावे। दक्षिण हाथ से उदिङ्गन (ऊपर की ओर उठाना) तो शिष्टाचार परम्परा से ही प्राप्त है। सूत्र में 'दक्षिण' कहकर यह बताया है कि सव्यहस्तस्थित रहती हुई ही प्रोक्षणी जल को दक्षिण हस्त से उदिङ्गन करे। अतः सव्यहस्त में ही स्थित प्रोक्षणी का उदिङ्गन किया जाता है। सायण के अनुसार तो उत्पूत जल से पूर्ण किये गये पात्र को सव्य हस्त में रखकर मन्त्र बोलते हुए दक्षिण हस्त से पात्र को ऊर्ध्व चलाना चाहिपे अर्थात् ऊर्ध्व की ओर सेचन के द्वारा चलाना चाहिये। क्योंकि 'इगि रिगि लिगि' धातु गत्यर्थक कही गई हैं।

५—इससे यह निष्कर्ष निकला कि हे द्योतनात्मक जनों! तुम लोग आज के दिन होने वाले श्रेष्ठतम यज्ञकर्म को आगे बढ़ाते हुए निर्विघ्नता को सम्पन्न करो। जल कैसा है? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—'अग्रे गुवः' यानी जल पुरतः निम्नदेश की ओर गमनशील है। और 'अग्रे पुवः' ये जल प्रथमतः सोमरस का पान किया करते हैं। और इस यजमान को फलभोगार्थ प्रेरित करो। जो यजमान अच्छी दक्षिणादानादि के द्वारा यज्ञ का पोषक है तथा जो

कर्र्यः पुनातेः पिब्रतेर्वा क्वौ 'अङ् च गमादीनाम्' 'गमः क्वौ' (वा० सू० ६।४।४०) इत्यत्र कात्यायनवार्तिकम्—अनेनोकारः। यज्ञप्रवर्तनाय ऊर्ध्वं यज्ञपतिं यजमानम् अग्रे नयत फलभोगाय प्रेरयत। कीदृशं यज्ञपतिं सुधातुं सुष्ठु दक्षिणादानादिना यज्ञस्य पोषकम्। देवायुवम् देवान्यौति यज्ञादिना मिश्रीकरोतीति देवायुः। यद्वा देवान् कामयते इति देवायुः। इदंयुरिदं कामयमान इति यास्कोक्तेः। यज्ञपतिं यज्ञस्य पालकं तं तादृशं यज्ञपतिं नयत।

६—दर्भात्मना परिणतजलव्यतिरिक्तममेध्यादिकं संसृष्टमिव भवति। तस्मादन्पूयितापविकाराभ्यां दर्भाभ्यामासामुत्पवनं कुर्वन् पूयसंसर्गकृतममेध्यत्वमपहन्ति। युष्मा इति छान्दस आकारः। हे आपो युष्मान् इन्द्रोदेवः वृत्रतुर्ये-वृत्रवधे निमित्तभूते सति अवृणीत सहकारित्वे प्राथितवान्। यूयमपि वृत्रतुर्ये निमित्ते तमिन्द्रमवृणीध्वं सहकारित्वेन-प्रार्थितवत्यः। इन्द्रस्यापाञ्च परस्परवरणं शतपथे प्रसिद्धम् अत्र शतपथब्राह्मणम्—'ताः सव्ये पाणौ कृत्वा। दक्षिणेनोदिङ्ग्यत्युपस्तौत्येवैना एतन्महयत्येव देवीरापो अग्रेगुवोअग्रेपुव इति देव्योह्यापस्तस्मादाह देवीराप इत्यग्रेगुव इति ता यत्समुद्रं गच्छन्ति तेनाग्रेगुवोग्रेपुव इति ता यत्प्रथमाः सोमस्य राज्ञो भक्षयन्ति तेनाग्रेपुवोऽग्रे इममद्ययज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिं ७सुधातुं देवयुवमिति साधु यज्ञं ७साधु यजमानमित्येवैतदाह' (श० १।१।३।७) उत्पवनानन्तरं ताः प्रोक्षणीरापोऽग्निहोत्रहवण्या पात्रेण साकं सव्ये पाणौ धारयन् देवीराप इति मन्त्रेण दक्षिणेन हस्तेन उदिङ्ग्यति ऊर्ध्वसेचनेन चालयति। इतिर्गत्यर्थोभ्वादिः। मन्त्रतात्पर्यमाह—उपस्तौत्येतेन। एतेन देवीरापइति मन्त्रपठनेन एता आपः प्रशंसत्येव ते महयत्येव पूजयत्येव। देवीराप इत्यादिमन्त्रं दर्शयित्वा स्तुतिरूपतामुपपादयति—देव्योह्यापस्तस्मादाह देवीराप इति। देवतारूपत्वेनायां देवीत्वं प्रसिद्धमेव। हीत्यस्य प्रसिद्धिबोधकत्वात्। अग्रेगुवः अग्रे पुरतो वर्तमानं गच्छन्तीति अग्रेगुवः। अग्रेगूशब्देनापां सनुद्रगामित्वं विवक्षितम्। 'ऊङ् च गमादीनाम्' इति 'गमः क्वौ' (पा० सू० ६।४।४०) इत्यत्रत्य वार्त्तिकेन गमेरूत्वम्। ताः प्रथमा आपः, या आपः खल्वभिषवार्थमासिच्यमाना यष्टव्यदेवताभ्योऽपि पूर्वं सोमरसमास्वादयन्ति। तेन सोमपाने अग्रेप्रथमम् स्वात्मानं पुनन्ति ता अग्रेपुवः उभयत्र 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (पा० सू० ६।३।१४) इत्यग्रशब्दात् सप्तम्या अलुक्। साधु यज्ञमित्यादि। अग्र इमम् इत्यत्राग्रशब्दः प्राशस्त्यबोधकः अग्रे प्रशस्ते अद्यास्मिन् काले इमं यज्ञं प्रापयतेति प्रतिपादयता मन्त्रेण साधुयज्ञं न यतेत्येवोक्तम्। प्राशस्त्यं प्राप्तस्य साधुत्वनियमात्। यज्ञस्य पतिं पालकं। शतपथदृष्ट्या अत्र सर्वत्र अग्रेशब्दः प्राशस्त्यबोधकः। अतएव साधुयज्ञं साधुयजमानमित्येवाह। क्विपि आगमविधेरनित्यत्वात्तुगभावः। निरुक्तदृष्ट्यातु 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इतिक्यच्। 'न छन्दस्यपुत्रस्य' (पा० सू० ७।४।३५) इत्यनेन 'क्यचि चे' (पा० सू० ७।४।३३) ति प्राप्तस्येत्वस्याभावः। 'अकृत्सार्वधातुकयो' (पा० सू० ७।४।२५) रितिदीर्घाभावः। 'क्याच्छन्दसी' (पा० सू० ३।२।१७०) त्युत्वम्। 'तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्' (पा० सू० ६।४।७७) इति स्थलीयेन वार्तिकेन इत्युवङ्। यज्ञं कर्मविशेषमग्रेनयत पुरतः प्रवर्तयत वा। यथाविघ्नो न स्यात्तथा कुरुतेत्यर्थः। यज्ञप्रवर्तनाय च यज्ञपतिं यजमानमग्रेनयतेत्यनुवर्तते फलभोगायप्रेरयतेत्यर्थः। कथंभूतं सुधातुं यज्ञस्य दक्षिणादिना पोषकम्। 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' देवयुवम् देवान् यौति यज्ञादिषु एकत्रितान् करोति स देवयुस्तं देवयुवम् अथवा देवान् कामयते इति देवयुः—इदयुः इदंकामयमान इति यास्कोक्तेः।

यजमान 'देवायु' हो, यानी यज्ञ के साथ देवताओं को जो सम्बन्धित करता है। अथवा जो देवताओं की कामना करता है। ऐसे 'यज्ञपति' यानी यज्ञपालक यजमान को फलभोगार्थ प्रेरित करो। मन्त्र में 'यज्ञपति' शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है। अतः एक की यौगिक व्याख्या और एक की रूढ़ि से व्याख्या करनी चाहिये। हे जलों! इन्द्रदेव ने वृत्रासुर के वध के लिये सहायक के रूप में तुम्हारी प्रार्थना की थी और तुमने भी वृत्रवधार्थ उस इन्द्र की, सहायक के रूप में प्रार्थना की थी।

६—इन्द्र और जल की परस्पर अपेक्षा के सम्बन्ध में शतपथ ने भी बताया है। उत्पवन करने के अनन्तर उन प्रोक्षणी जलों को अग्निहोत्रहवणी पात्र के सहित सव्य हाथ में धारण करते हुए 'देवीराप' इस मन्त्र से दक्षिण हाथ से उसको ऊर्ध्व सेचनार्थ चलाता है।

युष्मा इन्द्रोवृणीत वृत्रतूर्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्ये प्रोक्षिताः स्थः।
अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि। दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं
देवयज्यायै यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि ॥ वा० सं० १।१३॥

अर्थ—हे जलों ! इन्द्र ने वृत्रवध के निमित्त सहायता के लिये तुम्हारी प्रार्थना की और तुमने भी सहायता के लिये वृत्रवध के मिमित्त इन्द्र की प्रार्थना की थी। हे जलों ! तुम सिञ्चित किये हुए हो। अग्नी और अग्नीषोम देवताओं को प्रिय रहनेवाले उन पात्रों का मैं प्रोक्षण करता हूँ। हे यज्ञीय पात्रों ! तुम अग्न्यादि देवताओं से सम्बन्धित दर्शादि कर्मों के निमित्त शुद्ध हो जाओ। क्योंकि निकृष्ट जाति के तथा (बढ़ई) शिल्पी ने तुमको बनाते हुए तुम्हारे (यज्ञीय पात्रों के) अङ्गों को अपने हस्तस्पर्श से अशुद्ध किया है। उन्हें मैं जल प्रोक्षण के द्वारा शुद्ध करता हूँ ॥१३॥

'एताउहीन्द्रोऽवृणीत वृत्रेण स्पर्धमान एताभिर्ह्येनमहंस्तस्मादाह। युष्मा इन्द्रोऽवृणीतवृत्रतूर्य इति' (श० १।१।३।८) एताउहीन्द्रमवृणतवृत्रेण स्पर्धमानमेताभिर्ह्येनमहंस्तस्मादाह यूयमिन्द्रमवृणीध्वम्' (श० १।१।३।६) 'प्रोक्षितास्थेति तासां प्रोक्षणम्' (का० श्रौ० सू० २।३।३५)

१—हे आपः यूयं मदीयमनोभावनया प्रोक्षिताभवत। प्रोक्षणं नाम प्रकर्षेण सेचनम्। तच्चान्यद्रव्यस्याद्भिः सम्भवति। अपां तु न केनाप्यन्येन द्रव्येण तस्मान्मानसोपचारेण तासां प्रोक्षणं युक्तम्। तदेताभ्यो निह्नुते। यद्यपि प्रोक्षणी-स्थानामपां स्वातिरिक्तजलेन प्रोक्षणं नास्ति तथापि 'प्रोक्षिताः स्थ' (वा० स० १।१३) नह्यसंस्कृता अन्यसंस्कारक्षमा भवन्तीति स्वात्मनैव प्रोक्षिता भवतेति मन्त्रेण प्रतिपादनात् प्रोक्षणवत्त्वसिद्धेः। तत्तेन मन्त्रपाठेनाप्रोक्षणजनितमपराध, एताभ्यः प्रोक्षणीभ्योनिहुतेऽपनयति। तत्पात्रगतमुदकमनेनमन्त्रेण प्रोक्षितव्यमिति तात्पर्यम्। अतएव 'प्रोक्षिता स्थेति तासां प्रोक्षण (का० श्रौ० सू० २।३।३५) मिति कात्यायनः। अथवा निह्नुते अचलपति, उपचरति इत्यर्थः। तित्तिरिस्तु मन्त्रपाठेन तमुपचारं दर्शयति—'प्रोक्षिताः स्थेत्याह तेनापः प्रोक्षिता (तै० ब्रा० ३।२।५।४)

२—हविश्चाग्नये त्वाग्नीषोमाभ्यां त्वेति, यथादेवतमन्यदिति (का० श्रौ० सू० २।३।३६-३७) प्रोक्षणमनुवर्तते। अत्र देवताद्वयसम्बन्धिनोहविषस्तत्तद्देवतानां यथा प्रोक्षणमेवमन्यदपि हविस्तत्तद्देवानांनामान्यनतिक्रम्य प्रोक्षणीयम्। अग्नये त्वां जुष्टं प्रोक्षामि अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि—इति। 'पात्राणि दैव्यायेति' (का० श्रौ० सू० २।३।३६) कृष्णाजिनोलूखलादीनि यज्ञपात्राणि दैव्यायेतिमन्त्रेण प्रोक्षयेत् तथा च ब्राह्मणम् 'दैव्याय कर्मणे शुन्धध्व देवयज्यायै' हे यज्ञपात्राणि शुद्धानि भवत। देवयज्यायै देवतासम्बन्धिन्यै दर्शादियज्ञक्रियायै। वो युष्माकं सम्बन्धि यदङ्गमशुद्धं, निम्नजातीयास्तक्षादयः पराजघ्नुः पराहतं कृतवन्तः, छेदनतक्षणादिकाले स्वकीयहस्तस्पर्शरूपमशुचित्व चक्रुः तदिद वः

१—हे जलों ! वृत्रासुर के वध के समय इन्द्र ने तुम से सहायता की याचना की थी और तुमने भी उसी के लिये इन्द्र से सहायता की याचना की थी। हे जलों तुम प्रोक्षित हो जाओ। क्योंकि जो स्वयं संस्कारहीन हो, वह दूसरे का संस्कार करने में समर्थ नहीं हो सकता। अन्य हवि का भी प्रोक्षण, उससे सम्बन्धित देवता का उच्चारण करते हुए

शुन्धामि प्रोक्षणेन शुद्धं करोमि। तत्सर्वं शतपथश्रुत्या 'यस्यै देवतायै हविर्भवति तस्यै मेध्यं करोति............तद्यदेवैषा-मत्राशुद्धस्तक्षा वान्योवाऽमेध्यः कश्चित् पराहन्ति तदेवैषामेतदद्भिर्मेध्यं करोति तस्मादाह यद्वोऽशुद्धाः।' (श० १।१।३। ११-१२) एवं श्रुतिसूत्रसायणादिसम्मतं व्याख्यानम्।

२—दयानन्दस्तु—'पवित्रे पवित्रकरणहेतू प्राणापानगती स्थः भवतः। व्यत्ययः। यज्ञस्येमौ व्याप्तिकर्तारौ पवनपावकौ तौ सवितुर्जगदुत्पादयितुः। वः (पुरुषव्यत्ययेन ताः) प्रसवे उत्पन्नेऽस्मिन् जगति उत धात्वर्थे उदित्येतयोः प्रातिलोम्यं प्राह—(नि० १।३) पुनामि पवित्रीकरोमि। अच्छिद्रेण पवित्रेण शुद्धिकरणहेतुभिः सूर्य्यस्य प्रत्यक्षलोकस्य रश्मिभिः किरणैः देवीः दिव्यगुणयुक्ताः। अत्र "सुपां सुलुगि"ति पूर्वसवर्णादेशः। आपः जलानि अग्रेगुवा प्रथमां पृथिवीस्थां सोमौषधिं सेविकाः अग्रे पुरः सरत्वेति क्रियासम्बन्धे इमं प्रत्यक्षं अस्मिन्नहनि यज्ञं पूर्वोक्तं नयत प्रापयत। यज्ञपतिं यज्ञस्वामिनं सुधातुं शोभना धातवः शरीरस्था मन आदयः सुवर्णादयो वा यस्य तं यज्ञस्य कामयितारम्देवयुवं देवान् विदुषो दिव्यगुणान् यौति प्राप्नोति प्रापयति वा तम्। हे विद्वांसो यथा सवितुः परमेश्वरस्य प्रवर्तितेऽस्मिन्संसारेऽच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः पवित्रे शुद्धौ वैष्णव्यौ पवन पावके स्थो भवतः। यथा चैते अग्रेगुवो अग्रेगुवादेवीरापः पवित्रा भवेयुस्तथा शुद्धानि द्रव्याण्यग्नौ नयत प्रापयत तथैवाहमद्येमं यज्ञं नीत्वा अग्रेसुधातुं यज्ञपतिं चोत्पुनामि' (पृ० ६७-६६) इत्याह—अत्रेदं वक्तव्यम्, यथा सिद्धान्ते पवित्रे द्वे दर्भतृणे इतिश्रुतिसूत्रादिसिद्धे पवित्रे, तमर्थमपहाय प्राणापानगती इत्यर्थकरणे किं मूलम्? श्रुतौ तु दृष्टान्तरूपेणोक्तं यथैकस्यैव बाह्यस्य वायोः पवित्रस्य शरीरन्तःप्रवेशेन वृत्तिभेदेन प्राणापानौ द्वौ रूपौ भवतस्तदनुकारेणैव दर्भतृणयोर्द्वित्वं भवति। तथैव वृत्रः सर्वमावृत्य शिश्ये। तमिन्द्रो जघान। तत्पूति सर्वत्र प्रसुस्राव। तेनापो बीभत्साञ्चक्रिरे। तत्र मेध्या आप उपर्युपरि पुप्लुविरे। ता एव तीरं प्राप्य दर्भाजातास्तस्माद्दर्भा मेध्यास्तत्स्पर्शेन अमेध्या अप्यापो मेध्याभवन्तीत्यादिकमर्थवादरूपेणोक्तं दर्भस्य पवित्रत्वम्। परमत्र प्राणापानगती एव पवित्रे इत्यत्र किं मानम्? अत एव व्यत्ययोऽपि निष्प्रमाण एव। अतएव वैष्णव्यौ इति विष्णुसम्बन्धिनौ पवित्रे इत्युपपत्तौ पवनपावकौ इत्यर्थो निर्मूलएव। पवित्रे प्राणापानगती वैष्णव्यौ इति सामानाधिकरण्येनोभयपदार्थयोरभेदो युक्तः नहि प्राणापानगत्योः पवनपावकाभ्यामभेदः सम्भवति तयोर्भिन्नाधिकरणत्वात्। किञ्च पवित्रेत्यस्य पवित्रैरिति विपरिणामो व्यर्थ एव, यतः 'अयं वै पवित्रं योऽयं पवते' (श० १।१।३।२) एषोच्छिद्रं पवित्रम्' (श० १।।३।६) इति श्रुतिमयां पवित्रपदस्य वायुपरत्वावगमात्। नहि तेन रश्मिभित्भेदः सम्भवति, भिन्नार्थनिष्ठत्वात्। यज्ञोऽपि न त्वदभिमतोऽग्नौ द्रव्यनिक्षेपरूपः तस्याधुनिकैरवैदिकैर्वैज्ञानिकैः प्रत्यहं क्रियमाणत्वात्।

करना चाहिये। अग्नि आदि देवताओं से सम्बन्धित कर्मों के अनुष्ठानार्थ हे यज्ञीयपात्रा! तुम भी शुद्ध हो जाओ। क्योंकि तुम्हारे निर्माण करने में छेदन-तक्षण करते हुए अपने हस्तस्पर्श से तुम्हारे अङ्गों को अशुचि कर दिया गया है, उन अङ्गों को मैं प्रोक्षण के द्वारा शुद्ध कर रहा हूँ।

२—स्वामी दयानन्द ने उक्त मन्त्र का मन-माना अर्थ किया है जिसे ऊपर संस्कृत भाष्य में दिया गया है। उस पर वक्तव्य यह है कि जैसे सिद्धान्त में 'पवित्रे' का अर्थ दो दर्भतृण किया जाता है, जो श्रुति-स्मृति प्रतिपादित है। उस प्रामाणिक अर्थ को छोड़कर उसका 'प्राणापानगति' अर्थ करने में क्या मूल है? अतएव जो व्यत्यय आपने किया है, उसमें भी कोई प्रमाण नहीं हैं। अतएव 'वैष्णव्यौ' का अर्थ 'पवन पावक करना भी निर्मूल है। 'पवित्रप्राणापानगती वैष्णव्यौ' यह सामानाधिकरण्य दोनों के अभेद को बता रहा है। प्राणापानगतियों का पवन-पावकों के साथ अभेद होना सम्भव नहीं है, क्योंकि दोनों की भिन्नाधिकरणता है। किञ्च 'पवित्रे' का 'पवित्रैः' ऐसा विपरिणाम करना व्यर्थ ही है, क्योंकि श्रुति से तो 'पवित्र' पद का 'वायु' परक होना अवगत हो रहा है। विपरिणाम करने से आपका अभीप्सित अभेद सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि दोनों भिन्नार्थनिष्ठ हैं। यज्ञ भी आपको अभिमत नहीं है, क्योंकि वह अग्नि में द्रव्यनिक्षेपरूप मात्र आपकी दृष्टि में है। उसे तो आधुनिक अवैदिक वैज्ञानिक प्रतिदिन ही करते रहते हैं।

३—अन्वयेतु सूर्यस्य रश्मिभिः पवित्रे शुद्धौ वैष्णव्यौ पवनपावकावित्युक्तं तदपि नोपपद्यते पवनपावकयोः स्वातन्त्र्येणैव पावनत्वप्रसिद्धे निर्मूलत्वाच्च। तथा शुद्धानि द्रव्याण्यग्नौ नयत इत्यपि निर्मूलं तादृशार्थबोधकपदानां मन्त्रेऽभावात् अग्रे नयत इत्यस्याग्नौ नयतेतिकथमर्थः ? अपि च किमिदं दृष्टान्तकथनं विधानं वा ? प्रथमे विधिप्रत्यया-योगापत्तिः। द्वितीये कोविदधाति जीव ईश्वरो वा ? नाद्यस्तस्य विदुषां विधायकत्वायोगात्। नान्त्यः, तथाहमिममद्य यज्ञमग्ने नीत्वा सुधातुं यज्ञपतिं पुनामीत्यनुपपत्तेः। अद्योत्पुनामीत्युक्तौ वेदस्येतिहासत्वापत्तेश्च। किञ्च परमेश्वरस्य वक्तृत्वे सवितुः परमेश्वरस्य सृष्टाविति ताटस्थ्येन निर्देशोऽपि न सङ्गतः, मम सृष्टावित्यस्यैव युक्तत्वात्।

हिन्दी व्याख्यानेन तु विद्वत्कर्तृकहोमेनैव सूर्यरश्मिभिः पवनपावकौ जलानि च पूयन्ते। तेन यथा रश्मिभिरेते पूयन्ते तथा भवन्तः शुद्धानि द्रव्याणि—अग्नौनयत। तथैवाहमद्य इमं यज्ञं प्राप्य यज्ञपतिमुत्पुनामि। ईश्वरो विदुषां होमेन पवनादीनां पावनत्वदृष्टान्तेन यज्ञं ज्ञात्वा यज्ञपतिं पुनातीत्युपहासास्पदमेव, तस्य सर्वज्ञत्वबाधात्। किञ्च विदुषां होमेन कथं सूर्यस्य रश्मिभिः पवन पावकौ जलानि पूयन्ते ? रश्मयस्तु होममन्तरापि स्वकार्यं कुर्वन्त्येव। यत्र देशे होमो न भवति तत्रापि शुद्धयो भवन्ति तत्कार्यपुष्टिस्वास्थ्यादिदर्शनात्।

४—यत्तु केनचिदुक्तम्—पवित्रे इत्यस्य सम्बोधनत्वे 'आमन्त्रितस्य च' (पा० सू० ६।१।१९८) इत्यनेनाद्युदा-त्तत्वप्रसङ्ग (पृ० ६७९) इति तदसाम्प्रतम् सम्बोधनस्यार्थिकत्वात्। मन्त्रगतं पवित्रे इतिपदं स्थ इत्यस्य कर्तृत्वेनैव सम्बद्ध्यते। तत एव पवित्रे पवनक्रियाशीले युवां भवत इत्याहोव्वटाचार्यः। व्यत्ययेन वा समाधानम्। तेनापि छान्दस-त्वादामन्त्रितत्वाभावेऽपि अग्रेगुवः अग्रेपुवः इत्यादीनां निघात उक्तः।

---

३ अन्वय प्रदर्शित करते समय आपने 'सूर्यस्य रश्मिभिः पवित्रे शुद्धौ वैष्णव्यौ पवन-पावकौ' जो बताया है, वह भी सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें कोई मूल नहीं है, और पवन-पावक तो स्वयं ही पावन हैं। तथा 'शुद्धानि द्रव्याणि अग्नौ नयतः' यह भी निर्मूल है, क्योंकि मन्त्र में कोई ऐसा शब्द नहीं है, जो आपके उक्त अर्थ का बोधन करता हो। तथा 'अग्रे नयत' का 'अग्नौ नयत' अर्थ कैसे होगा ? क्या यह आपने दृष्टान्त बताया है, अथवा विधान किया है ? प्रथम पक्ष में विधिप्रत्यय का योग नहीं बन पायेगा। द्वितीय पक्ष में कौन विधान कर रहा है, जीव या ईश्वर ? जीव तो विधायक हो नहीं सकेगा क्योंकि विद्वान् ज्ञानियों का वह विधायक नहीं हो सकता। ईश्वर को यदि विधायक कहें तो 'इममद्य यज्ञमग्ने नीत्वा सुधातुं यज्ञपतिं पुनामि' कहना अनुपपन्न हो जायगा। किञ्च परमेश्वर को वक्ता मानने पर परमेश्वर का जो ताटस्थ्येन निर्देश है, वह भी असङ्गत होगा, क्योंकि 'मेरी सृष्टि में' यह कथन ही उचित है। आपके किये हुए हिन्दी व्याख्यान से तो उसकी सर्वज्ञता का ही बाध हो रहा है। अतः आपका हिन्दी व्याख्यान तो उपहासास्पद ही हो गया है।

किञ्च विद्वानों के द्वारा किये गये होम से सूर्यरश्मियों के द्वारा पवन, पावक, जल को कैसे पवित्र किया जायगा ? क्योंकि होम के विना भी सूर्यरश्मियाँ अपना कार्य करती ही रहती हैं। जहाँ पर होम नहीं होता है, वहाँ पर भी शुद्धियाँ होती ही हैं। क्योंकि तत्कार्यभूत पुष्टि-स्वास्थ्य आदि का होना दिखाई देता है।

४—किसी ने जो कहा है कि 'पवित्रे' को सम्बोधन मानने पर 'आमन्त्रितस्य च' सूत्र से आद्युदात्त मानना होगा। वह भी उचित नहीं है, क्योंकि सम्बोधन तो आर्थिक है। मन्त्रगत 'पवित्रे' पद का 'स्थः' पद के कर्ता के रूप में सम्बन्ध है। इसीलिये 'हे दोनों पवित्रों ! तुम पवन क्रियाशील हो जाओ'—ऐसा उव्वटाचार्य ने कहा है। अथवा व्यत्यय मानकर समाधान किया गया है। इस कारण आमन्त्रितत्व के न होने पर भी छान्दस होने से 'अग्रे गुवः अग्रे पुवः' इत्यादि में निघात (अनुदात्त) का होना बताया गया है।

५—ये पदार्थाः संयोगेन विकारं प्राप्नुवन्ति अग्निच्छिन्नाः पृथक् पृथक् परमाणवो भूत्वा वायौ विहरन्ति ते शुद्धा भवन्ति। यथा यज्ञानुष्ठानेन वायुजलानामुत्तमे शुद्धिपुष्टी जायेते न तथान्येन भवितुमर्हतः (पृ० ६९), इति भावार्थनिरूपण उक्तम्, तदपि चिन्त्यम्, इदानीन्तु काष्ठजैरिङ्गालजैराग्नेयतैलादि (पेट्रोल, डीजल आदि) पदार्थैर्यथाग्नियोगे पदार्थाश्छिन्नाः परमाणवो भूत्वा वायौ विहरन्ति न तथान्यदा, किमयमपि यज्ञः? न च घृतादिहोमे वैशिष्टचम्, परमाणुत्वे समेषामवैशेष्यात्। यदि परमाणुत्वेऽपि घृतादीनामुपकारकत्वं तदा दुर्गन्धियुक्तानाँ पदार्थानामग्निनापरमाणुत्वापत्त्याऽपकारकत्वमपि स्यात्। शिल्पविद्यया विमानानि साधयित्वा कामनासिद्धिं कुर्युः कारयेयुर्वा" (पृ० ६९) इत्यादिकं तु सर्वथोदक्षरमेव। 'शतपथे वृत्रस्य सूर्यलोकस्य युद्धाख्यायिकयाऽस्यमन्त्रस्य व्याख्याने मेघविद्योक्त"ति (पृ० ६९) कथनन्तु मूढजनप्रतारणमेव। वृत्रेन्द्रयुद्धस्य नैरुक्तदृष्टचा मेघसूर्ययुद्धरूपेण वर्णनेऽप्यैतिहासिकानां दृष्टचा-वृत्रासुरेन्द्रदेवयुद्धवर्णनमपि नापलापमर्हति, ब्राह्मणेषु महाभारते श्रीमद्भागवतादौ ता प्रतिपादनात्।

६—यत्तूक्तम्—'नैतदस्ति यद्देवासुरम्' (श० ११।१।६।९) तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णाभवन्ति (नि० २।१६) इति प्रमाणैरिन्द्रवृत्रयुद्धापलापाय यतितं (पृ० ९६-९७) तत्तुच्छम्, तथात्वेतवापसिद्धान्तापातात्। त्वद्रीत्या सूर्यमेघसंग्राम एव युद्धं तच्चास्त्येवेति कुतो नैतदस्तीति वक्तुं शक्यते वृत्रो मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिका इत्युक्त्या निरुक्तेऽपि ऐतिहासिकपक्ष आहृतः। तत्र नैरुक्तपक्षे युद्धोपपत्तिरपेक्षिता। अपां ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म-जायते। उपमार्थं युद्धवर्णाभवन्ति। अपां च मेघोदरवर्तिनां ज्योतिषश्च वैद्युतस्योद्भूतवृत्तेर्मिश्रीभावकर्मणो वर्षं कर्म जायते। वैद्युतेन ज्योतिषा वाय्वावेष्टितेन्द्राख्येनोपतप्यमाना आपः प्रस्यन्दन्ते। वर्षभावाय प्रकल्पन्ते। तथाचोदकतेजसो-रितरेतरप्रतिद्वन्द्वभूतयोरुपमार्थं रूपककल्पनया युद्धरूपकाणि भवन्ति। न ह्यत्र यथाभूतं युद्धमस्ति। अत्रैव मन्त्रा ब्रह्मवादाश्च सङ्गच्छन्ते। मन्त्रस्तावत्—यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्रः प्रब्रुवाणो जनेषु। मामेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्यशत्रुं न पुरा विवित्से।' (ऋ० १०।५४।२) वामदेवपुत्रस्य बृहदुक्थस्यार्षं त्रैष्टुभम्। हे इन्द्र त्वं नाना प्रकारम् तन्वा वावृधानः शरीरेण विग्रहवान् भूत्वा यदचरः जनेषु आत्मीयानि बलानि प्रब्रुवाणः प्रकथयन्निव, किं त्वं तथैव? न मायेत्सा यानि युद्धान्याहुः सा माया। ऐश्वर्ययोगात्तथावान्यथा वाभवति। न ते तव निजं रूपम्।

५—जो पदार्थ किसी के संयोग से विकार को प्राप्त करते हैं, अग्नि से छिन्न पृथक् पृथक् परमाणु होकर वायु में विहार करते हैं, वे शुद्ध होते हैं। जैसे यज्ञानुष्ठान से वायु, जल आदि की उत्तम शुद्धि और पुष्टि होती है, वैसी किसी किसी अन्य साधन से नहीं होती है। ऐसा भावार्थ निरूपण करते समय कहा है। किन्तु वह भी चिन्तनीय है, आजकल तो काष्ठ, इङ्गाल से उत्पन्न आग्नेय-तैलादि पदार्थों से जिस प्रकार अग्नि सम्बन्ध होने पर छिन्न-भिन्न हुए पदार्थ, परमाणु बनकर हवा में विहार करते हैं, वैसे अन्य समय में नहीं। क्या यह यज्ञ भी वैसा ही है? घृत से होम करने में किसी प्रकार की कोई विशेषता तो नहीं है। क्योंकि सब के परमाणु तो समान हो होंगे। यदि परमाणुओं के होने में भी घृतादिद्रव्य उपकारक हों तो अग्नि सम्बन्ध से दुर्गन्धी पदार्थों के जो परमाणु होंगे, उनसे अपकार भी होगा। "शिल्पविद्या से विमानों को बनाकर अपनी इच्छाओं को पूर्ण करेंगे अथवा करवायेंगे" यह सब कथन, कपोल-कल्पित ही है। मन्त्र के किसी शब्द अथवा अक्षर से ऐसा अर्थ नहीं निकल रहा है। पुनः "शतपथ ब्राह्मण" में वर्णित वृत्र की (सूर्यलोक की) युद्धाख्यायिका के सहारे मन्त्र का व्याख्यान कर उससे मेघविद्या निकली है, यह बताना तो केवल मूर्ख लोगों की प्रतारणा करना मात्र है। वृत्र और इन्द्र के युद्ध का निरुक्त की दृष्टि से मेघ और सूर्य के युद्धरूप में वर्णन करने पर भी ऐतिहासिकों की दृष्टि से वृत्रासुर और इन्द्रदेव के युद्ध का जो वर्णन उपलब्ध है, उसका अपलाप नहीं किया जा सकता। क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में उसका वर्णन उपलब्ध हो रहा है।

६—यह जो कहा है कि 'इन्द्र और वृत्र के युद्ध का अपलाप निरुक्त और शतपथ के आधार पर किया गया है'—किन्तु यह कहना भी निःसार है। क्योंकि उनकी आड़ में यदि ऐतिहासिक तथ्य का अपलाप करते हैं तो आपका

ऐतिहासिका अपि यानि युद्धान्याहुः सापि तव मायैव किं कारणम् नाद्य तव शत्रुरस्ति न पुरा कश्चिदासीत् । यावद्वीर्यं क्वचिदस्ति सर्वं तत् त्वमेव । 'वीर्यं वै प्राणो वीर्यमिन्द्रः' (मै० सं० १-६।९) कुतस्ते शत्रुर्येन युद्धचेथा । एतच्च त्वमपि विविदते वेत्स्येव । एतस्मिन् मन्त्रे युद्धस्य मायामात्रत्वमुक्तम् । शतपथे च—'तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्देवासुरमिति' (श० ११।१।६।९)

७—सामाजिकानां दृष्टया नहि परमेश्वराद्भिन्नः कश्चिदैश्वर्यशाली देवः स्तूयते यस्य कोऽपि शत्रुरेव न भवेत् । इन्द्रमेघयोस्तु वस्तुत्वात्तत्सङ्घर्षोऽपि वस्तुभूत एवेति कुतो मायामयत्वं तस्यापि । नन्वैतिहासिकदृष्टया युद्धेऽभ्युपगम्यमाने तत्प्रतिपादकस्य वेदस्यानित्यत्वापत्तिरिति चेन्न, 'ऐतिहासिकदृशां वा सर्ववृत्तान्तानामेव शीतोष्णवर्षाद्यावर्तवत् यथाकालं वर्तमानानामनाद्यनन्तानां वेदेन कर्मकालेऽतीतरूपेणप्रतिपादनाददोषादिति त्वदुद्धृतहरिस्वामिभाष्यवचनस्यैव समाधानरूपत्वात् ।

'दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः ।
अपां विलमपि हितं यदासीद् वृत्रं जघन्वां अपतद्ववार ॥'

(ऋ० सं० १।३२।११)

दासः कर्मकरः । तं हि ता अधिष्ठाय पान्ति रक्षन्ति सहिकर्मणा श्रान्तस्तासु पीतासु विश्रान्त आप्यायितो भवति । अहिना वृत्रेण मेघेन गोपा गुप्ता अतिष्ठन् निरुद्धास्ता यथा केनचित् पणिना वणिजा वीथ्यन्तरे विक्रयार्थं गावोनिरुद्धास्तिष्ठेयुस्तद्वत् । तासां यद्बिलं निर्गमनद्वारं मेघेनापिहितं यदेन्द्रस्तं निजघ्निवान् अहन् हत्वा अपववार अपावृतवान् तदाऽपावृते द्वारे ता आपः प्रस्यन्दिरे वर्षभावेनेति । एवं नैरुक्तदृष्टयामेघेन्द्रयोरेव सङ्घर्षे युद्धप्रवादाः । ऐतिहासिकदृष्टया तु देवराज इन्द्रस्त्वाष्ट्रश्च वृत्रोऽसुरस्त्वष्ट्रा संवर्धितः 'इन्द्रशत्रोवर्धस्वेतिस्वरदोषेण तत्पुरुषाबोधनात् इन्द्रस्य शातयिता न जातः किन्तु बहुव्रीहिस्वरेणेन्द्र एव वृत्रस्य शातयिता जातः । प्रावरणशक्तेः प्रतिनिधिर्वृत्रो वीर्यप्रकाशप्रतिनिधिरिन्द्रः पुराणमहाभारतादौ तयोर्युद्धवर्णनविस्तरः ।

अपसिद्धान्त कहलायगा । आपकी रीति के अनुसार तो सूर्य और मेघ का संग्राम ही युद्ध है, तब 'युद्ध नहीं है' कहना कैसे सम्भव होगा ? निरुक्त में भी ऐतिहासिक पक्ष को माना है ।

७—सामाजिकों की दृष्टि से परमेश्वर से भिन्न कोई अन्य ऐश्वर्यशाली देवता तो है नहीं, जिसकी स्तुति की जाये, जिसका कोई शत्रु ही न हो । इन्द्र और मेघ तो वास्तविक हैं, इसलिये उनका सङ्घर्ष भी वास्तविक ही कहना होगा, तब उस सङ्घर्ष को भो मायामय कैसे कहा जायगा ? यह जो आपको शङ्का हो रही है कि युद्ध को ऐतिहासिक मानने पर, उसके प्रतिपादक वेद को अनित्य कहना होगा । किन्तु ऐसी शङ्का करना भी निस्सार है । ऐतिहासिक लोग सभी वृत्तान्तों को शीत, उष्ण, वर्षा के आवर्त के समान यथा समय होने वाले अनादि-अनन्त उन सभी घटनाओं का अतीत रूप से उल्लेख कर्म के समय वेद में किया गया है । किञ्च आपसे उद्धृत किये हुए हरिस्वामी के भाष्य का का वचन ही आपकी शङ्का का समाधान कर सकता है । हरिस्वामी ने भी महाभारतादि पुराणों में दोनों के युद्धवर्णन की घटना को ऐतिहासिक कहा है ।

८—दयानन्दीयच्छन्दोनिरूपणे तु तदीयो ब्रह्मदत्त एवाशुद्धिं मनुते। (वा० सं० १।११ कण्डिकाविवरणे) प्रतिमन्त्रमक्षराणां सख्यादानं कृत्वा कारयित्वा वा छन्दांसि (दयानन्देन) निर्दिष्टानि। तत्रापि लेखकृतामक्षरसंख्यानं गृहीत्वैव छन्दसां नामानि निरूपितानि। तदेवं क्वचिद् गणकानां प्रमादवशादशुद्धयः समजनिषत। एवभूताः प्रमादा मन्त्रसख्यानेऽपि सन्ति। तत्सम्बन्धेऽनेकान्युदाहरणानि दत्तानि एवमेव बाहुलकेनान्यासामप्यशुद्धानां समाधानं क्रियते। श्रूयते भीमसेनपण्डितेन तन्नाम्ना बह्वोंऽशा लिखिताः।

९—युष्मा इन्द्रो वृणीते—अत्र दयानन्दः—'यथायमिन्द्रो वृत्रतुर्ये युष्मास्ताः पूर्वोक्ता अपः अवृणीत वृणीते यथा ता इन्द्रं वायुमवृणीत वृणते तथैव ताः अपो यूयं वृत्रतुर्ये प्रोक्षिता वृणीध्वम्। यथा ता आपः शुद्धाः स्थ भवेयुः, एतदर्थमहं यज्ञानुष्ठाता दैव्याय कर्मणे देवयज्यायै अग्नये जुष्टं त्वां तं यज्ञं प्रोक्षामि एवमग्नीषोमाभ्यां जुष्टं त्वां तं यज्ञं प्रोक्षामि एवं यज्ञशोधितास्ता आपः शुन्धध्वं शुन्धन्ति यज्ञं तासामशुद्धा गुणा पराजघ्नुः, तस्मात् तासामिदं शोधनं शुन्धामी' (पृ० ७३) ति,

१०—तत्रोच्यते, प्रथमं तु स्वामिदयानन्दः किमप्यदृष्टं प्रत्यक्षानुमानागम्यं पुण्यादिकं नाभ्युपगच्छति। तत एव दृष्टार्थतयैव मन्त्रं व्याख्याति। यज्ञादिकमपि जलवायुशुद्ध्याद्यावेवोपयुज्यते दृष्टमार्गेणैव। तथा च प्रत्यक्षानुमानातिरिक्तवेदप्रामाण्यमेव तद्रीत्या दुर्घटम्, अनधिगतगन्तृत्वाभावात्। यथा नैयायिकानामनुमानखण्डग्रन्थोऽतीव सूक्ष्मविचारपूर्णोऽपि न शब्दप्रामाण्यकोटिमाटीकते। यथावाधुनिकानां विज्ञानग्रन्थाः साधारणमानवागम्यसूक्ष्मतमपदार्थविवेचकास्तथापि तन्मूलं न शब्दाः किन्तु सूक्ष्मगवेषणानि तदुपयुक्तानि यन्त्राण्येव तत्र मूलमिति तेऽपि न शब्दप्रामाण्यकोटिमुपगच्छन्ति

८—स्वामी दयानन्द कृत छन्दोनिरूपण में तो उन्हीं के अनुयायी ब्रह्मदत्त ने ही अशुद्धि निकाल दी है, यानी ब्रह्मदत्त ने दयानन्द कृत छन्दोनिरूपण को अशुद्ध ही माना है। उसे वा० सं० १।११ कण्डिका के विवरण में देखा जा सकता है। इसी प्रकार की गलतियाँ मन्त्रों के परिगणन में भी है।

९—'युष्मा इन्द्रो वृणीते' में दयानन्द कहते हैं कि 'जैसे इन्द्र, वृत्रासुर युद्ध में उन पूर्वोक्त जलों का वरण करता है और वे जल, जैसे इन्द्र, वायु का वरण करते हैं, उसी तरह तुम लोग वृत्रयुद्ध में उन प्रोक्षित जलों का वरण करो। जिससे वे जल शुद्ध हो सकें। इसी प्रयोजनार्थ मैं यज्ञानुष्ठाता इस देवप्रीत्यर्थ याग के लिये अग्नि तथा अग्नीषोम को रुचिकर लगने वाले यज्ञ का प्रोक्षण करता हूँ। इस प्रकार यज्ञशोधित हुए वे जल अपने अशुद्धियों को दूर कर पाते हैं। इसलिये मैं तुम्हारे अङ्गों को प्रोक्षण के द्वारा शुद्ध करता हूँ।

१०—दयानन्द के इस व्याख्यान पर यह सोचना होगा कि दयानन्द तो प्रत्यक्ष या अनुमान से अवगत होने वाले पुण्य आदि तो प्रथमतः मानते ही नहीं हैं उसी कारण मन्त्र की व्याख्या दृष्टार्थपरक ही उन्होंने कर डाली। दृष्टप्रयोजन समझकर ही उन्होंने यज्ञादिकों का उपयोग भी जल, वायु की शुद्धि में ही समझा है। अतः प्रत्यक्षानुमानातिरिक्त वेद की प्रामाण्यसिद्धि होना ही उनकी प्रक्रिया से सम्भव नही है। क्योंकि प्रामाण्य का स्वरूप तो अनधिगतार्थ गन्तृत्व होता है। यहाँ पर उसके न रहने से वेद के प्रामाण्य की सिद्धि आपकी दृष्टि से हो नहीं सकेगी।

जैसे नैयायिकों का अनुमानखण्डग्रन्थ, अत्यन्त सूक्ष्मविचार से पूर्ण रहने पर भी उसे शब्दप्रामाण्य की कोटि में नहीं रखा जाता। अथवा जैसे आधुनिक वैज्ञानिकों के विज्ञानग्रन्थ, जो साधारण मनुष्यों के बोधगम्य नहीं हैं, क्योंकि उन ग्रन्थों में सूक्ष्मतम पदार्थों का विवेचन किया गया है, तथापि उनका मूलभूत प्रमाण तो सूक्ष्म गवेषणाओं और तदुपयोगी यन्त्रों को ही कहा जाता है। अतः उन वैज्ञानिक ग्रन्थों को भी शब्दप्रामाण्य की कोटि में नहीं कहा

तथैव वेदा अपि न धर्मग्रन्था: किन्तु विविधप्रकीर्णविचारसंग्रहात्मका एव। कुरान, बायवल, जेन्दावस्तादयोऽपि तदनुयायिनां रीत्या प्रत्यक्षानुमानागम्यार्थबोधकत्वादेव तेषां धर्मग्रन्थत्वं किं बहुना शब्दप्रामाण्यमनभ्युपगच्छन्तो बौद्धादयोऽपि धर्मतत्त्वज्ञानाय बुद्धादीनां सर्वज्ञत्वं साधयन्ति। तत एव वेदमन्तरापि योगजधर्मप्रभावात् सार्वज्ञ्यं प्राप्य ते धर्मतत्त्वं प्रत्यक्षेण पश्यन्तीति तेषामभिमान:।

११--किञ्च बौद्धा: शब्दार्थानां स्थायिसम्बन्ध नाभ्युपगच्छन्ति यथेच्छं शब्दानां प्रयोगदर्शनात्। तथैव दयानन्दोऽपि व्यत्ययादिना पुरुषलिङ्गविभक्तिवचनानि विपरिणमय्य यथेष्टञ्च विग्रहं कृत्वा यत्र क्वाप्यर्थे स्वैरितया मन्त्रान् व्याख्याति। अत्रैव प्रसङ्गे धर्मकीर्तिनोक्तमग्निहोत्रं जुहुयादित्यस्य श्वमासं भक्षयेदिति नार्थोऽत्र प्रमा ? शब्दानां यथेष्टप्रयोगे स्वातन्त्र्यात्। सिद्धान्ते मीमांसकरीत्या शब्दार्थानामनादिसिद्धम्, नैयायिकानां रीत्या च सर्गादारभ्य परमेश्वरेण प्रचालितं सम्बन्धमाश्रित्य स्वैरचारिता परिह्रियते। परन्तु दयानन्दीयै: कथं स्वैरित्वं परिहरिष्यते स्वैरित्वमन्तरा तदभिमतव्याख्यानासम्भवात्।

१२—यथा प्रथमान्वये यथा सूर्योऽपावृणीते आपश्च वायु वृणते तथैव यूयं ता अपो वृत्रतुर्ये प्रोक्षिता वृणीध्वम्। अत्र वृणीध्वं कस्य पदस्यार्थ: ? अध्याहारश्चेत् किं मूलं तत्र ? प्रोक्षिता आप: का भवन्ति ? हिन्दीटीकायां तु सेक्तार इत्यर्थ: कृत:। निष्ठाप्रत्ययान्तस्य तस्य कथं सोऽर्थ: ? यथा ता आप: शुद्धाभवेयुस्तदर्थमहं यज्ञानुष्ठाता दैव्याय कर्मणे देवयज्यायै अग्नये जुष्टं तं यज्ञं प्रोक्षामि इत्यस्य वाक्यस्य कोऽर्थ: ? कर्म च पदार्थव्याख्याने उत्क्षेपणमपक्षेपणमाकुञ्चनंप्रसारणं गमनमिति वैशेषिकसम्मतमुक्तम्, तादृशैरुत्क्षेपणादिभि: कथमपां शुद्धि: स्यात् ? तासां दैव्यत्वञ्च द्विविभ-

---

जाता। उसी तरह वेदों को भी धर्मग्रन्थ न कहकर विविध प्रकीर्ण विचारों के संग्रह रूप ही कहना होगा। कुरान, बायबल, जेन्दावेस्ता आदि ग्रन्थों को भी तत्तन्मतानुयायिकों की रीति के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान के द्वारा ज्ञान न हो सकने वाले अर्थों का बोधन करने के कारण ही धर्मग्रन्थ कहा गया है। किं बहुना शब्दप्रमाण को न मानने वाले बौद्ध आदि लोग भी धर्मतत्त्व के ज्ञानार्थ बुद्ध आदि व्यक्तियों की सर्वज्ञता सिद्ध करने में प्रयत्नशील रहे हैं। उनका कहना है कि वेद का सहारा लिये बिना भी योगज धर्म के प्रभाव से सर्वज्ञता प्राप्त कर बुद्धादि व्यक्तियों ने धर्मतत्त्व का प्रत्यक्ष किया है।

११—किञ्च बौद्ध लोग शब्द और अर्थ के स्थायी सम्बन्ध को नहीं मानते हैं, क्योंकि शब्दप्रयोग उनकी अपनी इच्छा के अनुसार किये गये दिखाई पड़ते हैं। उसी तरह दयानन्द ने भी कहीं पर व्यत्यय आदि का सहारा लेकर पुरुष, लिङ्ग, विभक्ति, वचनों में विपरिणाम करके और अपनी इच्छाओं के अनुसार यथेष्ट विग्रह करके स्वच्छन्द होकर मन्त्रों का व्याख्यान किया है। इसी प्रसङ्ग में धर्मकीर्ति ने कहा है कि 'अग्निहोत्रं जुहोति' का 'श्व-मांसं भक्षयेत्' यह अर्थ नहीं किया जाता, यह ज्ञान कैसे हुआ ? क्योंकि शब्दों का यथेष्ट प्रयोग करने में स्वातन्त्र्य है। सिद्धान्त की दृष्टि से मीमांसकों के सिद्धान्त के अनुसार शब्दार्थ अनादिसिद्ध हैं, नैयायिकों के अनुसार सृष्टिकाल के आरम्भ से ही परमेश्वर के द्वारा प्रचलित हुए सम्बन्ध का आश्रय करके स्वच्छन्दचारिता का परिहार किया जाता है। किन्तु दयानन्दी लोगों के द्वारा स्वच्छन्दता का त्याग कैसे किया जा सकता है ? क्योंकि स्वच्छन्दता का यदि वे त्याग करेंगे तो उन्हें स्वाभिमत व्याख्यान करना सम्भव नहीं हो सकेगा।

१२—जैसे प्रथमान्वय में 'यथा सूर्य: अपावृणीते आपश्च वायु वृणते, तथैव यूयं ता आप: वृत्रतुर्ये प्रोक्षिता वृणीध्वम्'। यहाँ पर 'वृणीध्वम्' यह किस पद का अर्थ है ? यदि अध्याहार करते हैं, तो अध्याहार करने में क्या मूल है ? प्रोक्षित आप् (जल) कौन से हैं ? हिन्दी टीका में तो 'सेक्तार:' अर्थ लिखा है। उस निष्ठाप्रत्ययान्त 'प्रोक्षित' का आपका लिखा अर्थ कैसे हो सकेगा ? जैसे 'वे जल शुद्ध हो सकें, तदर्थं मैं यज्ञानुष्ठाता दैव्यकर्म देवयज्या के लिये

त्वमुक्तम् । तथाचानाशे केषाञ्चिदपि पदार्थानामुत्क्षेपणेन तेषामेव क्षेपणेन तेषामेव प्रसारेणाकुञ्चनेन तत्रगमनेन चापां शुद्धिर्भवति । अत्र चतुर्थीविद्यते । तेन तादृशकर्मार्थं दैवयज्यायै विदुषां सत्क्रियार्थं च यज्ञं प्रोक्षामीत्युक्तम् किं यज्ञ-प्रोक्षणेन तादृशानि दिव्यानि कर्माणि विदुषां सत्क्रिया स्वतो भविष्यति । अग्नये परमेश्वराय भौतिकावयवाय सेवितं जुष्टं सेवितमित्युक्तं पदार्थव्याख्याने, तत्र केन किं श्लिष्यते, अग्नये इति चतुर्थ्यन्तस्य जुष्टमित्यनेन कः सम्बन्धः ? अग्नीषोमाभ्यामित्यपि चतुर्थी चेत् सैवापत्तिः, जुष्टमित्यस्य कर्ता कः? अग्निरेव चेत् कथं चतुर्थी ? अन्यश्चेत् कथमग्निना तत्सम्बन्धः ? यज्ञं प्रोक्षामीत्यस्य कोऽर्थः ? पदार्थोक्तौ सेचयामीत्युक्तम् । हिन्द्यां तु करोमीत्युक्तं तत्र कतरः पक्षः शुद्धः ? किञ्च यज्ञोऽपि कर्मैव तथा च कर्मार्थमेव कर्म कर्त्तव्यम् । तत्रैव हिन्द्यां—अग्नीषोमाभ्यां वर्षणनिमित्त प्रीतिदम् प्रीत्या सेवनयोग्यञ्च यज्ञं प्रोक्षामि मेघमण्डल प्रेष्यामीत्यर्थः कृतः । कथञ्च प्रोक्षणस्य प्रेषणमर्थः । एतादृशेऽर्थे स्वैरित्वमन्तरा किं वक्तुं शक्यते ? पराजघ्नुरित्यस्य पराहता विनष्टा इत्यर्थः कृतः । स च सकर्मकस्य धातोः कथं सम्भवति ? 'कुरुकर्मैव-तस्मात्त्वम्' (श्री० म० गी० ४।१५) इत्यत्र किमुत्क्षेपणादि कुरु इत्यर्थं प्रत्येति कश्चित् ? किन्तु शास्त्रविहितमग्निहोत्रा-दिकं कुर्वित्येवार्थो युक्तः । चेष्टामात्रस्य कर्मणः स्वभावप्राप्तत्वेनाविधेयत्वात् ।

१३—यदपि च हे यज्ञानुष्ठातारः यत् यस्मादिन्द्रो वृत्रतुर्ये यस्मा इन्द्रमवृणीत वृणीते यस्माच्चेन्द्रेण वृत्रतुर्ये ताः प्रोक्षिताः स्थ भवति । तस्माद्यूयं त्वा तं यज्ञं सदा वृणीध्वं एवं च सर्वोजनोहं दैव्याय कर्मणे देवयज्यायै अग्नये त्वा तं यज्ञं प्रोक्षामि तथा चाग्नीषोमाभ्यां जुष्टं त्वा तं यज्ञं प्रोक्षामि । एवं कुर्वन्तो यूयं सर्वान् पदार्थान् जयांश्च शुन्धध्वं

अग्निजुष्ट उस यज्ञ का प्रोक्षण करता हूँ' इस वाक्य का क्या अर्थ होगा ? पदार्थ का व्याख्यान करते समय उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन आदि वैशेषिक शास्त्रसम्मत कर्म को कहा है, उन उत्क्षेपणादि कर्मों से जल की शुद्धि किस प्रकार होगी ? उनका दैव्यत्व 'द्विविभवत्व' रूप बताया है । तथा च आकाश में किसी भी पदार्थ के उत्क्षेपण से, उन्हीं के अपक्षेपण से, उन्हीं के प्रसारण से, उन्हीं के आकुञ्चन से, उनके वहाँ गमन से जल की शुद्धि होती है । यहाँ पर चतुर्थी विभक्ति है । उस कारण तादृश कार्यार्थि देवयज्या के लिये और विद्वानों के सत्क्रियार्थ यज्ञ का प्रोक्षण करता हूँ, यह कहा गया है । क्या यज्ञ के प्रोक्षण करने से तादृश दिव्यकर्म और विद्वानों की सत्क्रिया स्वतः होगी । पदार्थ-व्याख्यान में कहा है कि भौतिक अवयवों वाले परमेश्वर अग्नि के लिये सेवित हुआ' कहा है । अब बताईये यहाँ किसका किससे सम्बन्ध हो रहा है ? अग्नये इस चतुर्थ्यन्त का 'जुष्टम्' का क्या सम्बन्ध है ? 'अग्नीषोमाभ्याम्' इसे भी चतुर्थी कहें तो भी वही दोषापत्ति है । 'जुष्टम्' का कर्ता कौन होगा ? यदि 'अग्नि' को कर्ता कहें तो फिर उसमें चतुर्थी कैसे ? यदि किसी अन्य को कर्ता कहें तो अग्नि से उसका क्या सम्बन्ध ? 'यज्ञं प्रोक्षामि' का क्या अर्थ होगा ? पदार्थोक्ति में 'सेचयामि' कहा है, किन्तु हिन्दी करते समय 'करोमि' कह बैठे, तो आप ही सोचिये कि कौन सा पक्ष आपका शुद्ध ? किञ्च 'यज्ञ' भी कर्म ही है । तथा च कर्म के लिये ही कर्म कर्तव्य है । वहीं पर हिन्दी में 'अग्नीषोम' के लिये वर्षण में निमित्त 'प्रीति' प्रदायक और प्रीतिपूर्वक सेवन करने योग्य यज्ञ को प्रोक्षामि' का अर्थ मेघमण्डल में भेजता हूँ, किया है । 'प्रोक्षण' का अर्थ 'प्रेषण' कैसे होगा ? तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के अर्थ का प्रतिपादन करने में स्वैराचार के सिवाय और क्या कारण हो सकता है ? उसी तरह 'पराजघ्नुः' का अर्थ 'पराहताः विनष्टाः' किया है । सकर्मक धातु का ऐसा अर्थ कैसे किया जा सकता है ? 'कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम्' यहाँ पर क्या कुछ भी उत्क्षेपणादि करो, ऐसा अर्थ किसी को ज्ञात होता है ? किन्तु शास्त्रविहित अग्निहोत्रादि कर्म करो, यही अर्थ सभी को प्रतीत होता है, जो उचित माना है । चेष्टा मात्र कर्म तो स्वभावतः ही प्राप्त होने से वह विधेय कोटि में नहीं माना जाता है ।

१३—उसी प्रकार आपने जो हिन्दी में सारांश के रूप में पृ० ७५ पर दिया है, वह भी ठीक नहीं है । कौन सा वह कारण है, जिससे सूर्य ने जल को और जल ने वायु को वरण किया ? यदि 'यज्ञ' को कारण कहें तो क्या सूर्य और जल भी 'यज्ञ' किया करते हैं ? और उनका किस प्रकार का यज्ञ है ? वैसा यज्ञ क्या मनुष्य भी कर सकते हैं ?

शोधयत। यद्वोऽशुद्धा दोषास्ते सदैव पराजघ्नुर्निवृत्ता भवेयुः। तस्मात् कारणादहं वो युष्माकमिदं शोधनं शुन्धामि' (पृ० ७३) इति, तदपि तादृगेव, "यस्मात्कारणात् वृत्रयुद्धे मेघवधाय इन्द्रः सूर्यो अपो वृणीते स्वीकरोति जलञ्च वायुं स्वीकरोति तथा यस्मात् सूर्योवृत्रतुर्येमेघस्य त्वरणाय पूर्वोक्ता आपः प्रोक्षिताः सेक्तारः कृताः तस्माद्यूयं तद् यज्ञं वृणीध्वम्। एवं वयं सर्वे दैव्याय कर्मणे देवयज्यायै परमेश्वरप्राप्तये जुष्टं प्रीतिदं प्रीत्या सेवनयोग्यं यज्ञं प्रोक्षामि सेवे। अग्नीषोमाभ्यां प्रकाशितं जुष्टं यज्ञं मेघमण्डले प्रेषयामः। एवं सर्वान् पदार्थान् अपदार्थांश्च शुन्धध्वं यथा वः अशुद्धया-दयोदोषा निवृत्ता भवेयुः तथैवाहं वेदप्रकाशकः वः युष्माकं शोधनं शुद्धिप्रकारं शुन्धामि सम्यक् वर्धयामि'' (पृ० ७५) इति हिन्दी सहितस्य निष्कर्षः। तत्राप्युच्यते—किं तत्कारणं येन सूर्योऽपः आपो वायुं वृणते? यज्ञ एव चेत् किं सूर्य आपश्चापि यज्ञं कुर्वन्ति? कीदृशस्तेषां यज्ञः? तादृशं यज्ञं मनुष्या अपि कर्तुं शक्नुवन्ति किम्? मेघवधस्तु प्रयोजनं सूर्यकर्तृकायां वरणस्य प्रोक्षिताः सेक्तारः कृता इत्यपि निष्ठाप्रत्ययप्रतिकूलमेव। वरणस्य ग्रहणमर्थोऽन्यो वा? नान्यो-ऽनिरूपणात्। ग्रहणार्थत्वे तु सूर्येण कुत्रत्यस्य जलस्य ग्रहणं क्रियते? भूमिष्ठस्य समुद्रस्थस्य मेघस्थस्य वा? नान्त्यौ, तथात्वे मेघवधासम्भवात्। मेघस्थस्यापि तन्न सम्भवति सूर्याकृष्टजलैरेव मेघोत्पत्तेः। एममेव जलेन वायोर्ग्रहणं कीदृशं कथञ्च वायुग्रहणेन मेघनाशः? तस्य धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातरूपत्वात्। येन कारणेन सूर्येणापो वृताः, अद्भिश्च वायुर्वृतः, तेन कारणेन यूयमुक्तं यज्ञं वृणीध्वमित्यस्य किं तात्पर्यम्? नहि तत् पूर्वं यज्ञ उक्तम्। किञ्च पूर्वं तु मेघवधो मेघत्वरणं प्रयोजनमुक्तमत्र तु दैव्यं कर्म, देवयज्या प्रयोजनमुच्यते। तदेतत् कर्णस्पर्शे करिचालनमनुहरति। प्रोक्षामीत्यस्य सेवन कथमर्थः? अग्नीषोमाभ्यां च यज्ञः कथं प्रकाश्यते। अग्नये जुष्टमिति वा अग्नीषोमाभ्यामित्यपि चतुर्थी किन्न स्यात्, अन्यथा वैरूप्यापत्तेः। मेघमण्डलप्रेषणपदार्थस्तुकथं? अन्ते शुन्धामीत्यस्य सम्यग्वर्धनं कथमर्थः?

भावार्थनिरूपणे त्वतीवाराजकता शाब्दन्याये दृश्यते। तथाहि परमेश्वरेणाग्निसूर्यौ वेदादर्थनिर्मितौ यदिमौ सर्वेषां पदार्थानां मध्ये प्रविष्टौ जलौषधिरसान् छिन्तः, वायुं प्राप्य मेघमण्डलं गत्वाऽगत्यच शुद्धिसुखकारका भवेयुः।

मेघवध को प्रयोजन कहें तो सूर्यकर्तृक अपावरण को 'प्रोक्षिताः' सेक्तारः=सेचन करने वाले कहा है यह अर्थ करना भी निष्ठाप्रत्यय के प्रतिकूल ही है। 'वरण' का अर्थ ग्रहण है या कोई अन्य अर्थ है? अन्य अर्थ तो हो नहीं सकता, क्योंकि उसे आपने बताया नहीं है। ग्रहण अर्थ मानने पर आप ही कहिये कि सूर्य के द्वारा कहाँ के जल का ग्रहण किया जाता है? क्या भूमिस्थित या समुद्रस्थित, अथवा मेघस्थित जल का वह ग्रहण करता है? समुद्र स्थित या मेघ स्थित जल का तो ग्रहण नहीं कर सकता, अन्यथा मेघवध का सम्भव नहीं हो सकेगा। क्योंकि सूर्याकृष्ट जल से ही मेघ की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार जल से वायु का ग्रहण करना भी सम्भव नहीं है। वायु का ग्रहण करने से मेघ का विनाश भी कैसे होगा? क्योंकि 'मेघ' तो धूम, ज्योति, सलिल और मरुत् पदार्थों का सन्निपात स्वरूप है। 'जिस कारण सूर्य के द्वारा जल का वरण, और जल के द्वारा वायु का वरण किया गया है उसी कारण तुम लोग तथाकथित यज्ञ का वरण करो'—इस कथन का क्या अभिप्राय है? उसे यज्ञ में पहिले कहीं कहा नहीं है। किञ्च पहिले तो मेघवध प्रयोजन बताया किन्तु यहाँ पर दैव्यकर्म (देवयज्या) को प्रयोजन कह रहे हैं। यह तो ऐसा ही हुआ कि जैसे कर्ण स्पर्शनिमित्त करिचालन किया जाय। 'प्रोक्षामि' का अर्थ 'सेवन' कैसे होगा? 'अग्नोषोम' के द्वारा 'यज्ञ' का प्रकाशन कैसे होगा? 'अग्नयेजुष्टम्' के समान 'अग्नीषोमाभ्याम्' यह चतुर्थी क्यों नहीं है? अन्यथा वैरूप्य प्रसङ्ग होगा। मेघ-मण्डल प्रेषण को प्रेषण पदार्थ कैसे जान लिया? अन्त में शुन्धामि का सम्यग्वर्धन अर्थ कैसे किया? पृष्ठ चौहत्तर पर जो भावार्थ निरूपण किया है, उसमें तो अराजकता का साम्राज्य ही दिखाई देता है। उसमें प्रदर्शित अर्थों का परस्पर कोई ताल-मेल ही नहीं है। पहिले तो मेघों के वध और त्वरण के लिये सूर्य के द्वारा जल का और जल के द्वारा वायु का वरण कहा है। सूर्य और अग्नि के द्वारा समस्त पदार्थगत जलौषधिरसच्छेद को बताया है। सर्वपदार्थों के अन्तर्गत आत्मा, काल, दिक् आदि भी आते हैं। उनमें जल, औषधि, रस का होना सम्भव ही नहीं है, क्योंकि वे निरवयव हैं। यदि सूर्य और अग्नि, सर्व पदार्थों में प्रविष्ट होकर जल, औषधि, और रसों का छेदन (भेदन) कर सकते हैं, तो उनमें

तस्मान्मनुष्यैरुत्तमसुखलाभायाग्नौ सुगन्ध्यादिपदार्थानां होमे वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा दिव्यसुखानामुत्पादनाय सम्प्रीत्या नित्यं यज्ञः करणीयो यतः सर्वे दोषा नष्टा भूत्वाऽस्मिन् विश्वे सततं शुद्धा गुणाः प्रकाशिता भवेयुः। एतदर्थमहमीश्वर इदं शोधनमादिशामि। यूयं परोपकारार्थानि शुद्धानि कर्माणि नित्यं कुरुत। एवं रीत्या वाय्वग्निजलग्रहणप्रयोगाभ्यां शिल्पविद्ययाऽनेकानि यानानि यन्त्रकलाश्च संपाद्य पुरुषार्थेन सदैव सुखिनो भवते' (पृ० ७४) ति, एतेषामर्थानां परस्परं समन्वयोऽपि नास्ति। पूर्वं तु मेघानां वधाय त्वरणाय च सूर्येणापामद्भिः वायुवरणमुक्तम्। सूर्याग्निभ्यां सर्वपदार्थगत-जलौषधिरसच्छेद उक्तः। सर्वपदार्थेषु आत्मकालदिगादयोऽपि भवन्ति। न तेषु जलौषधिरसाः सम्भाव्यन्ते निरवयवत्वात् यदि सूर्याग्नी सर्वपदार्थेषु प्रविश्य जलौषधिं रसान् छेत्तुं भेत्तुं शक्नुतस्तदापरमाणुत्वापत्त्या तेषां स्वतः शुद्धिर्भविष्यति। मेघमण्डलगमनस्य किं प्रयोजनम्? सुगन्ध्यादिपदार्थानामग्नौ किमर्थं होमः। होममन्तरापि तयोस्तत्कार्यं कर्तुं शक्तत्वात् अन्यथासुगन्धितपदार्थानामेव प्रभावेण शुद्धिसुखादयो वक्तव्याः स्युः। किञ्च सुगन्धिपदार्था यथा छिन्द्यन्ते तथा दुर्गन्धि-पदार्था अपि छिद्यन्ते। सर्वेषां परमाणुत्वेऽविशेषापत्त्या व्यर्थ एवाग्नौ तत्प्रक्षेपः। यदि तथात्वेऽपि तद्वैशिष्ट्येनोपकारस्तदा तद्वदेव दुर्गन्धपदार्थकृतापकारोऽपि किन्नस्यादित्यलं परच्छिद्रप्रकाशेन।

१४—सिद्धान्ते श्रुति-सूत्रपरम्परानुरोधेन सरलः सुगमः सुबोधश्चायमर्थः—अपां प्रशंसार्थमुच्यते—हे आपः वज्रात्मनाव्यक्ताः। 'ततो देवा एतं वज्रं ददृशुर्यदपोवज्रो वा आपो वज्रो हि वा आपस्तस्मात् येनैतायन्ति निम्नं कुर्वन्ति यत्रोपतिष्ठन्ते निर्दहन्ति (श० १।१।१।१७) इति न केवलं प्रसिद्धिबलाद् वज्रत्वं किन्तूपपत्तिबलादपि। तथाहि येन पथा यन्ति तं निम्नं गर्तं कुर्वन्ति यत्र गत्वोपतिष्ठन्ते तृणगुल्मादौ तत् निर्दहन्ति निःसारं कुर्वन्ति। वृत्रं (मेघं) हन्तुकाम इन्द्रः साहाय्यकरणार्थं युष्मान् प्रार्थयामास। यूयञ्च वृत्रशरीरनिरुद्धा विस्रंभगमनार्थं वृत्रं हन्तुमिन्द्रं प्रार्थितवत्य ईदृग्विधपरस्परप्रार्थनं यूष्मानिति मन्त्र भागेनाहेति ब्राह्मणं स्पष्टं वक्ति—यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतुर्ये इति। 'एता उहीन्द्रमवृणत वृत्रेणस्पर्धमानमेताभिर्ह्येनमहंस्तस्मादाह यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतुर्य इति। हे आपः यूयं प्रोक्षिताः स्थः असंस्कृता नान्यसंस्कारक्षमाः। अन्यस्याद्भिः प्रोक्षणंभवति नापामन्येनेतिरे नैव मानसोपचारेण प्रोक्षिताः स्थ इति-मन्त्रेण प्रोक्षिताः संस्कृता भवतेत्यर्थः। 'अग्नये त्वे'ति हविः प्रोक्षति। हे हविः अग्नये देवताविशेषाय जुष्टमभिरुचितं त्वां प्रोक्षामि। अग्नये इति 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' (पा० सू० १।४।३३) इति चतुर्थी। अग्नीषोमाभ्यां जुष्टमभिरुचितं त्वा प्रोक्षामि प्रोक्षणेन शोधयामि। 'हविः प्रोक्षतीति' (श० १।१।३।१०) इति श्रुतेः। हे यज्ञपात्राणि दैव्याय अग्न्यादिदेवता-सम्बन्धिने कर्मणे यूयं शुन्धध्वं शुद्धानि भवत। मन्त्रसहकृतपूतजलप्रोक्षणप्रभावात् कर्मैव विशिष्यते देवयज्यायै देवसम्ब-न्धिन्यै दर्शादिक्रियायै। ननु शुद्धा एव वयं किमिति शुन्धामस्तत्राह—वो युष्मान् यदशुद्धा निम्नजातीयास्तक्षवृषलादयः युष्माकं सम्बन्ध्यङ्गं छेदनतक्षणादिकाले पराजघ्नुः पराहतं कृतवन्तः स्वकीयहस्तस्पर्शादिरूपमशुचित्वं कृतवन्तः, तदिदं युष्माकमङ्गं शुन्धामि प्रोक्षणेन शुद्धं करोमि। ब्राह्मणं चैतदेव वक्ति—'यस्यै देवतायै हविर्भवति तस्यै मेध्यं करोति' (श० १।१।३।११) 'यज्ञपात्राणि प्रोक्षति दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्याया इति दैव्याय हि कर्मणे शुन्धति देवयज्यायै

परमाणुत्वापत्ति होने से उनकी स्वत एव शुद्धि हो जायगी। मेघमण्डल में जाने का क्या प्रयोजन? सुगन्धित पदार्थों का अग्नि में होम किसलिये? होम के बिना भी उस कार्य को करने में सूर्य और अग्नि समर्थ हैं। अन्यथा सुगन्धित पदार्थों के प्रभाव से ही शुद्धि, सुख आदि का होना कहना होगा। किञ्च सुगन्धि पदार्थों का छेदन जैसे किया जाता है वैसे ही दुर्गन्धि पदार्थों का भी छेदन किया जा सकता है। सभी समान रूप से परमाणु रूप हो जाने से उनका अग्नि में प्रक्षेपण करना व्यर्थ ही है। यदि सुगन्धित पदार्थों के परमाणुरूप हो जाने पर भी उनके अपने वैशिष्ट्य से कुछ उपकार होता है, ऐसा कहें तो उसी तरह दुर्गन्धि पदार्थों से अपकार भी क्यों नहीं हो सकेगा? ऐसे कितने ही दोष, दयानन्दी व्याख्या में भरे पड़े हैं, कहाँ तक उन्हें कहा जाय?

१४—अतः सिद्धान्तभूत अर्थ, जो श्रुति, सूत्र, शिष्ट वैदिक विद्वानों की परम्परा के अनुसार चला आ रहा है,

यद्वोऽशुद्धीः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामीति तद्यदेवैषामत्रशुद्धस्तक्षावान्यो वाऽमेध्यः कश्चित् पराहन्ति तदेवैषामेतदद्भि-र्मेध्यं करोति तस्म दाह यद्वोऽशुद्धीः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामीति' (श० १।१।३।१२) नात्र दयानन्दोक्तार्थस्य गन्धोऽपि दृश्यते। तस्मात् सायणादिसम्मतमेव व्याख्यान युज्यते।

१५—अध्यात्मपक्षे तु हे प्रकृतिपुरुषौ युवां पवित्रे स्वभावशुद्धे स्थः भवथः। अशुद्धयस्तु औपाधिक्य एव। कुत इति चेत् यतो वैष्णव्यौ विष्णोर्व्यापनशीलस्य परमात्मनः सम्बन्धिनौ स्तः लिङ्गव्यत्ययः। 'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥' (श्री० म० गी० ७।४-५) अत्र मनःपदेनाहङ्कारः, बुद्धिपदेन महत्तत्त्वम्, अहङ्कारपदेना-व्यक्तं ग्राह्यम्। 'महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।' (श्री० म० गी० १३।५) इति गीतावचनान्तरात्। भगवतः सूर्यस्य सर्वोत्पादयितुः परमेश्वरस्य वा प्रसवे प्रेरणे अहं वेदपुरुषः वो युष्मान् अच्छिद्रेण निर्दोषेण पवित्रेण पावनेन कर्मणा उत उच्चैः पुनामि शोधयामि। वैदिककामकर्मज्ञानानामादरेणैव पाशविक (स्वाभाविक) कामकर्मज्ञानानां निवृत्तिसम्भवात्। यथा विषेण विषान्तरमुपशाम्यति तथैव वैदिककामकर्मज्ञानैः पाशविककामकर्मज्ञानानि शाम्यन्ति। नन्वेवं दोषाणामागन्तुकोपशान्तौ सत्यामपि पुनस्तदुद्भवः सम्भवति, नह्य ध्रुवैः प्राप्यते ध्रुवमिति चेत्तत्राह—सूर्यस्य वेदान्तशास्त्ररूपमार्तण्डस्य रश्मिभिस्तज्जनितैर्विवेकविज्ञानै वंः युष्मान् उत्पुनामि समूलमेव दोषानुन्मूलयामि। तथात्वे प्रकृतेः पुरुषस्य चाधिष्ठानं ब्रह्मात्मत्वमेव सम्पद्यते। 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) 'नेह नानास्ति किञ्चने (बृ०४।४। १९) त्यादि श्रुतिशतेभ्यः।

१६—य स्वभावशुद्धमेवौपाधिकैर्दोषैर्दुष्टं शोध्यते। यथा स्वच्छमेव वस्त्रमिङ्गालादिसंसर्गेण मलिनं क्षारादि-ना शोध्यते न तु स्वतोमलिनमिङ्गालादिकं, तस्य यावत्सत्त्वं क्षारशतैरपि स्वच्छत्वासम्भवात्। हे जीवात्मपरमात्मचैतन्ये युवां पवित्रे स्वभावशुद्धे स्थः। तयोरेकस्य संसारित्वेन प्रसिद्धस्याशुद्धिरप्युपाधिसम्बन्धनिमित्ता यतो युवां वैष्णव्यौ व्यापन-

---

वही सुगम और सुबोध होने से ग्राह्य है। एवञ्च सायणाचार्य सम्मत व्याख्या ही समुचित है।

१५—अध्यात्मपक्ष में इस प्रकार अर्थ होगा—हे प्रकृति-पुरुषों! तुम दोनों स्वभाव से ही शुद्ध हो। अशुद्धियाँ तो औपधिक ही है। क्योंकि प्रकृति-पुरुष दोनों ही व्यापक परमात्मा के सम्बन्धी हैं। यह बात लिङ्गव्यत्यय से समझनी चाहिये। भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन और बुद्धि, अहङ्कार—ये मेरी अष्टधा प्रकृति है। तथा "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥" तथा 'महा-भूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च॥' इति॥ भगवान् सूर्य अथवा सर्वोत्पादयिता परमेश्वर की प्रेरणा होने पर मैं वेदपुरुष, तुम लोगों को निर्दोष पवित्र कर्म के द्वारा अच्छी प्रकार पवित्र करता हूँ। वैदिक काम्य कर्मों के अनुष्ठान से ही पाशविक (स्वाभाविक) कर्मों से निवृत्त होना सम्भव हो सकता है। जैसे एक विष से अन्य विष की शान्ति की जाती है। उसी तरह वैदिक काम्यकर्मों के ज्ञान से पाशविक काम्यकर्मों का ज्ञान शान्त किया जा सकता है। यदि कोई यह शङ्का करे कि दोषों की आगन्तुक शान्ति हो जाने पर भी पुनः उन दोषों का उद्भव हो सकता है, क्योंकि अध्रुव से ध्रुव का प्रक्षालन नहीं हो सकता। उस शङ्का का समाधान इस प्रकार होगा—वेदान्तशास्त्रस्वरूप सूर्य की रश्मियों से उत्पन्न विवेक ज्ञान के द्वारा तुम्हारे समस्त दोषों का समूल उन्मूलन मैं कर देता हूँ। इस प्रकार निर्दोष हो जाने पर प्रकृति और पुरुष के अधिष्ठानरूप ब्रह्मात्मभाव की प्राप्ति हो जाती है। इसमें प्रमाणभूत 'एकमेवाऽद्वितीयम्', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि सैकड़ों श्रुतिवचन हैं।

१६—स्वभाव से शुद्ध रहने वाली वस्तु ही औपाधिक दोषों से दुष्ट होने पर शोधित की जाती है। जैसे स्वच्छ वस्त्र ही इङ्गालादि के संसर्ग से मलिन होने पर शोधित किया जाता है। स्वत एव मलिन रहने वाले इङ्गाल को सैकडों क्षारद्रव्यों से निरन्तर स्वच्छ करते रहने पर भी इङ्गाल का स्वच्छ होना कभी भी सम्भव नहीं है।

शीलपरब्रह्मसम्बन्धिनो स्थ:। हे जीवात्मन: वो युष्मान् अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिश्चोत्पुनामि शोधयामि। कर्मभि: स्वान्त:शुद्धिविवेकवैराग्यादिजननद्वारा सूर्यस्य वेदान्तस्य विवेकविज्ञानरश्मिभिर्ब्रह्मात्मभावमापादयामि। हे देव्य आप: अज्ञानान्धकारविजिगीषव: गङ्गाद्या: सरित: परमपावन्यो भगवच्छक्तय: कथासरित: भक्तिरसामृतनिर्झरिण्यश्च अद्यास्मिन्नेव अग्रे प्रशस्ते दिने शोधयामि इमं भगवदुन्मुखमात्मानं नयत भगवदात्मभावं प्रापयत। कीदृशं यज्ञपतिं यजमानं भगवदाराधनबुद्धया यज्ञादिकुर्वाणम्। पुन: कीदृशं यज्ञस्य पालकं दक्षिणादिना सुधातुं यज्ञादिपोषकं पुन: कीदृशं यज्ञं विष्णोरंशत्वाद्विष्णुरूपम् 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ० सं० १।११६४।२०) इत्यादिश्रुते:। इन्द्रयजमानौ शिष्यशासकाविह संबोध्यौ शेषं पूर्ववत्।

'युष्मा इन्द्रो वृणीतेति।' (श० १।२।३।८) हे जीवात्मन: युष्मान् इन्द्र: परमेश्वरो वृत्रतुर्ये वृत्रस्यावरकस्याज्ञानस्य तुर्ये वधे अज्ञानवधनिमित्तेनावृणीत वृतवान् स्वीयत्वेन स्वीकृतवान्।

१७–ननु तस्याप्तसमस्तकामत्वेन पूर्णकामत्वात् कुतोऽस्मान् वृतवानिति चेत्तत्राह—यूयमिह जन्मन्यमुष्मिन् जन्मनि वा इन्द्रं परमैश्वर्यशालिनं भगवन्तं वृत्रतुर्येऽनाद्यज्ञानावरणवृत्रवधार्थं वृतवन्त:। यथा स्वयम्वरा राजकन्या यमेव वृणुते तस्मा एव स्वस्वरूपं दर्शयति स्वात्मानं निवेदयति नान्यस्मै तथैव भगवान् यं वृणुते तमेव स्वात्मानं दर्शयति प्रावरणापनयेन प्रार्पयति च नान्यथा प्रवचनश्रवणादिभिरुपायशतैरपि स लभ्य:। तेन यमेव वृणुते तस्यैवाज्ञानं वृत्रं नाशयति। 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳस्वाम्॥' (मु० ३।२।३) इतिश्रुते:।

हे जीवात्म-परमात्म चैतन्यों! तुम स्वभाव से ही शुद्ध हो। उन दोनों में से एक, जो संसारी के रूप में प्रसिद्ध है, उसकी अशुद्धि भी उपाधि के सम्पर्क से है, क्योंकि तुम दोनों व्यापनशील परब्रह्म से सम्बन्ध रखते हो। हे जीवात्माओं! सूर्य की पवित्र रश्मियों से मैं तुम्हारा शोधन करता हूँ। वेदविहित कर्मों के अनुष्ठान से अन्त:करण की शुद्धि होने पर विवेक-वैराग्यादि को उत्पन्न कराकर वेदान्तरूपी सूर्य की विवेकज्ञानरूप रश्मियों के द्वारा ब्रह्मात्मभाव को तुम्हें प्राप्त कराता हूँ। हे जल देवता! अज्ञानान्धकार को जीतने की इच्छा रखने वाली गङ्गा आदि नदियाँ परम पवित्र भगवच्छक्ति रूप कथासरिताएँ और भक्तिरसामृत की निर्झरणियाँ सबको आज इसी प्रशस्त दिन शुद्ध करता हूँ। इस आत्मा को, जो भगवान् की ओर मुख लगाये हुए है, उसे भगवदात्मभाव को प्राप्त कराओ। कैसे यजमान के लिये यह कहा जा रहा है, तो कहते हैं कि जो यजमान भगवदाराधनबुद्धि से यज्ञादि का अनुष्ठान करता हो तथा दक्षिणादान देकर यज्ञ का पालन करता हो, यज्ञ का पोषण करता हो, क्योंकि यह यज्ञ विष्णु का अंश होने से विष्णुरूप है। उसकी विष्णुरूपता में 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया:' यह श्रुति प्रमाण है। इन्द्र और यजमान शिष्य और शासक यहाँ पर सम्बोधनीय हैं, अन्य सब पूर्ववत् ही समझना चाहिये। शतपथ ब्राह्मण भी कह रहा है कि हे जीवात्माओं! परमेश्वर इन्द्र ने आवरक अज्ञान के वधार्थ आत्मीय के रूप में तुम लोगों को स्वीकार किया है।

१७—परमैश्वर्यशाली इन्द्र तो पूर्णकाम-आप्तकाम है, हमारा स्वीकार उसने क्यों किया? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि तुम लोगों ने इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में परमैश्वर्यशाली भगवान् इन्द्र का अनादि अज्ञानावरणरूप वृत्र के वधार्थ वरण किया था। जैसे स्वयम्वरा राजकन्या स्वयं जिसका वरण करती है, उसी के सामने अपना स्वरूप प्रदर्शित करती हुई आत्मसमर्पण करती है। दूसरे को नहीं। उसी तरह भगवान् जिसको स्वीकार करते हैं, उसी को अपना स्वरूप दिखाते हैं अर्थात् आवरण हटाकर अपने को अर्पित करते हैं। उस परमेश्वर की प्राप्ति का अन्य कोई साधन नहीं है। सैकड़ों प्रवचन-श्रवण आदि उपायों के करते रहने पर भी वह सुलभ नहीं होता है। एवञ्च जिसको वह अपनाता है, उसी के अज्ञानरूपी वृत्र का वह नाश करता है। 'नायमात्मा प्रवचनेन' इत्यादि वचनों के द्वारा मुण्डकोपनिषद् भी यही बता रही है।

१८—ननु योहि यस्य प्रियो भवति स तस्य वरणीयो भवति । न च तस्य कश्चिदपि प्रियो द्वेष्यो वा, (न यस्य वध्यो न च रक्षणीयो नोपेक्षणीयादरणीय पक्षः, श्री० भा० म० पु० ८।५।२२) इतिस्मृतेस्तस्य सर्वसमत्वात् । समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' (श्री० म० गी० ६।२६) इति वचनादिति चेन्न, सर्वसमस्य सम्पूर्णकामस्यापि भक्ति-परवशत्वेन वरणीयगुणयुक्तभक्तवरणसम्भवात् । ये सर्वनैरपेक्ष्येण भगवन्तं वृणते भगवानपि तान् वृणोत्येव 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (श्री० म० गी० ४।११) इति भगवत एवोक्तेः ।

१६--ननूपरिष्टादुद्धृतस्य 'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' (श्री० म० गी० ६।२६) इति श्रीमद्भगवद्गीतावचनस्य का गतिरिति चेत्तत्तुच्छम्, 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्' (श्री० म० गी० ६।२६) इत्युत्तरार्धेनैव तत्समाधानात् । तथा च सर्वनैरपेक्ष्येण भगवत्प्रेप्सयैव भगवन्तं भजन्ति नित्यप्राप्तस्य प्राप्तिरज्ञानवृत्रवधेनैव सम्भवति । वृत्रवधार्थं ये भगवन्तं वृणते भगवानपि वृत्रवधार्थं तान् वृणोति । वृत्रो यथा जीवनां शत्रुस्तथैव परमेश्वरस्यापि शत्रुः भगवत्स्वांशभूतजीवानां दुःखहेतुत्वात् । अज्ञानवशादेव जीवाः स्वपरप्रेमास्पदमपि भगवन्तमपलपन्ति वैमुख्यञ्च भजन्ति । तच्चाज्ञानं जीवनिष्ठब्रह्माकारवृत्त्यैव बाध्यते इति तदर्थं जीवानां साहाय्यमपेक्षितम् । तादृशी वृत्तिर्भगवदनु-ग्रहसापेक्षैव जायते । भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते--अर्थात् भक्तिरेव ज्ञानाकारेण परिणमते । 'सनो बुद्धया शुभया संयुनक्तु' (श्वे० ३।४) 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' (श्री० म० गी० १०।१०) इत्यादिवचनेभ्यः ।

१८—यदि कोई यह प्रश्न करे कि, जो जिसका प्रिय होता है, वह उसका अपना आत्मीय होता है, ऐसा लोक व्यवहार में देखते हैं, किन्तु भगवान् का तो न कोई द्वेष्य होता है, और न कोई प्रिय होता है । भागवतकार कहते हैं कि भगवान् न किसी को बध्य समझते हैं, और न रक्षणीय, या उपेक्षणीय अथवा आदरणीय समझते हैं, उनके लिये तो सभी समान होते हैं । सभी के प्रति उनका समान भाव रहता है । भगवान् ने स्वयं कहा है 'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।' इस प्रश्न पर समाधान यह है कि यद्यपि भगवान् आप्तकाम-पूर्णकाम, सर्वसम हैं, तथापि भक्ति परवश होने के कारण वरणीय गुणों से युक्त भक्त का वरण किया जाना बहुत सम्भव है । जो भक्त, किसी की अपेक्षा न कर सर्वसङ्ग परित्याग करके भगवान् का ही एकमात्र वरण करके उसकी शरण लेते हैं, तब भगवान् भी उन्हीं को आत्मीय भाव से स्वीकार कर लेते हैं । कहा भी है—'ये यथा माम्प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।'

१६—यदि यह शङ्का हो कि ऊपर उद्धृत किये वचन—'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः'—की चरितार्थता कैसे होगी ? यह शङ्का निस्सार है, क्योंकि उक्त शङ्का का समाधान 'समोऽहं सर्वभूतेषु'— के उत्तरार्ध 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषुचाप्यहम्' से ही कर दिया गया है । तथा च सर्व निरपेक्ष होकर एकमात्र उस परमेश्वर की प्राप्ति कामना से ही जो लोग उसका भजन करते हैं, उनको उस नित्य प्राप्त रहने वाले परमेश्वर की प्राप्ति का होना अज्ञान रूप वृत्र के वध से ही हो सकती है । एवञ्च वृत्रवधार्थ जो लोग भगवान् का वरण करते हैं तो भगवान् भी उस वृत्र वधार्थ उनका वरण करते हैं, यानी उनको अपना लेते हैं । वृत्र जैसे जीवात्माओं का शत्रु है, वैसे ही वह परमेश्वर का भी शत्रु है, क्योंकि भगवान् के अपने अंशभूत जीवात्माओं के दुःख का वह कारण है। अज्ञान के कारण ही यह जीवात्मा अपने अत्यन्त प्रेमास्पद रहने वाले परमेश्वर का भी अपलाप करता है, और उससे विमुख हो जाता है । उस अज्ञान का बाध, जीवनिष्ठ ब्रह्माकारवृत्ति से ही हो सकता है अतः उसके लिये जीव के साहाय्य की अपेक्षा रहती है । उस प्रकार की वृत्ति होना भी भगवदनुग्रह सापेक्ष ही है। 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते' अर्थात् भक्ति ही ज्ञान के आकार में परिणत हो जाती है । यह बात श्वेताश्वतर उपनिषद् तथा श्रीमद्भगवद्गीता के वचनों से भी अवगत होती है । इसलिये—

२०—हे जीवा: तस्मादमृतवर्षिण्या भगवदीयकृपादृष्टया प्रोक्षिता: शुद्धा भवत। अहं वेदपुरुषस्त्वा त्वां (जात्यभिप्रायेणैकवचनम्) कर्मोपासनादिभिर्जुष्टं सेवितं कर्मादियुक्तं त्वामग्नये ब्रह्मात्मसाक्षात्काररूपज्ञानाग्नये प्रोक्षामि शुद्धं करोमि। परमात्मकृपावत् शास्त्रकृपाया अपि तत्त्वज्ञानहेतुत्वात्। तदर्थं च त्वां अग्नीषोमाभ्यां भगवद्विप्रलम्भ सम्भोगाभ्यां जुष्टं सेवितं त्वां प्रोक्षामि। सर्वथा अनात्मतादात्म्यवासनादाहेन भगवदात्मतादात्म्यरसास्वादजननेन युक्तं कृत्वा अखण्डानन्दरसानुभवयोग्यं करोमि। हे अन्त:करणबाह्यकरणानि यूयं दैव्याय कर्मणे देवस्य स्वप्रकाशस्य परमात्मन उपासनोपयोगिने कर्मणे श्रुतिस्मृतिलक्षणाय वर्णाश्रमधर्माय तदनुष्ठानाय शुन्धध्वम् शुद्धानि भवत। देवयज्यायै परमात्मार्चनरूपायै षोडशोपचारराजोपचारचतु:षष्ट्युपचारलक्षणायै क्रियायै च शुन्धध्वम्। शुद्धदेहेन्द्रियमन्तरा तदसम्भवात्। 'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण पर: पुमान् विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्॥' (विष्णुपुराण ३।८।९) 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि: सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति:' (छा० उ० ७।२६।२) 'कषाये कर्मभि: पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते।' 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मण:।' (म० भा० शा० प० १०४।८) इत्यादिवचनेभ्य:। व: युष्मान् यदशुद्धा: शास्त्रनिषिद्धाविषया: कामचार-कामवाद-कामभक्षादय: पराजघ्नु: पराहतमशुचित्वं चक्रुस्तदहं शुन्धामि परमात्माभिमुख्यापादनेन शोधयामि।

२१—यद्वा हे सैनिका:। इन्द्रो राजा वृत्रतुर्ये राज्यावरोधकशत्रुवधे युष्मान् वृणुते साहाय्यकरणार्थं प्रार्थयते यूयं चेन्द्रं राजानं वृणीध्वं शत्रुवधे निमित्ते राजाश्रयमन्तरा युद्धस्य विहितत्वात्। अतएव महाभारते दुर्योधनोऽश्वत्थामानमन्तेऽभिषेकेण राजानं कृतवान्। तदैवाश्वत्थामाकृपाचार्यकृतवर्माण युयुधु: अस्त्रशस्त्रादियुद्धोपकरणप्राप्त्यर्थञ्च सैनिका राजानमाश्रयन्ते। हे सैनिका यूयं प्रोक्षिता: पाण्डव सेनया स्थ राष्ट्ररक्षार्थं वृत्र (शत्रु) वधार्थं प्रोक्षिता अभिषिक्ता: स्थ। आचार्यदीक्षावत् राजाभिषेको भवति पुत्रकदीक्षावत् युवराजाभिषेक:। सभार्यदीक्षावत्सेनापतिदीक्षाभवति साधकदीक्षावत् सैनिकदीक्षाभवति। अग्नयेऽग्निवदमिततेज:प्राप्तये त्वा शौर्यादिगुणैर्जुष्टं सेवितं त्वामहं पुरोहित: पुन:

२०—वे जीवों! अमृत वर्षा करने वाली भगवत्कृपादृष्टि से तुम शुद्ध (प्रोक्षित) हो जाओ। मैं वेदपुरुष, ब्रह्मात्मसाक्षात्कार रूप ज्ञानाग्नि के लिये कर्मानुष्ठान में तत्पर रहने वाले तुम्हारी शुद्धि करता हूँ। भगवत्कृपा के समान ही शास्त्रकृपा भी तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में कारण हुआ करती है। अत: उसके लिये, भगवद्विप्रलम्भ और सम्भोग का सेवन करने वाले तुम्हारा प्रोक्षण मैं कर रहा हूँ। अभिप्राय यह है कि सभी प्रकार से अर्थात् अनात्मतादात्म्य की वासना का दाह कर भगवदात्मतादात्म्य के रसास्वाद से युक्त करते हुए अखण्डानन्द रस का अनुभव करने योग्य तुम्हें बना रहा हूँ। हे अन्त:करण और हे बाह्य इन्द्रियों! तुम सब स्वप्रकाश परमात्मा की उपासना के उपयुक्त कर्म के लिये अर्थात् श्रुति स्मृति लक्षण वर्णाश्रम धर्म के लिये और उसके अनुसार अनुष्ठान के लिये शुद्ध हो जाओ। देवयज्या के लिये अर्थात् परमात्मार्चनरूप षोडशोपचार, राजोपचार चतु:षष्टि-उपचाररूप क्रिया के लिये शुद्ध हो जाओ। क्योंकि देह और इन्द्रियों के शुद्ध हुए बिना उसका होना सम्भव नहीं है। इसी बात को विष्णु पुराण, छान्दोग्य उपनिषद् और महाभारत शान्तिपर्व के वचनों ने भी कहा है। तुम्हें, शास्त्रनिषिद्ध विषयों ने अर्थात् कामाचार-कामभक्ष आदि ने अपवित्र कर दिया है, इसलिये मैं परमात्मा की सम्मुखता सम्पादनार्थ शुद्ध बना रहा हूँ।

२१—अथवा हे सैनिकों! राजा इन्द्र वृत्रयुद्ध के समय राज्यावरोधक शत्रुओं के वध के लिये तुम्हारा वरण करता है, यानी सहायता के लिये तुम्हारी प्रार्थना करता है अत: तुम भी राजा इन्द्र को स्वीकार करो, क्योंकि शत्रुवध के लिये राजा का आश्रय अवश्य करना चाहिये, उसका आश्रय किये बिना युद्ध करना विहित नहीं है। अतएव महाभारत युद्ध में दुर्योधन ने अन्त में अश्वत्थामा को अभिषिक्त करके राजा बनाया था, तभी अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कृतवर्मा ने युद्ध किया।

प्रोक्षामि। मन्त्रवारिप्रोक्षणेन वीर्यवन्तं करोमि। अग्नीषोमाभ्यामग्निवत्तेजस्वित्वाय सोमवल्लोकप्रेमास्पदत्वाय दुष्टनिग्रहाय शिष्टपरिपालनाय च ताभ्यामभिरुचितं त्वा त्वामहं मन्त्रशुद्धेन वारिणा प्रोक्षामि। तेन यद्वो युष्माकमङ्गमशुचिकामादयो दोषाः पराजघ्नुस्तदहं शुन्धामि प्रोक्षणेन तेजस्वि करोमि।

२२—हे वैज्ञानिका शिल्पिनः राजा राष्ट्रपतिर्वा युष्मान् वृत्रतुर्ये अवरोधकशत्रुवधे परमाणूद्जनास्त्राद्याविष्काराय दारिद्र्यादिशत्रुवधे उत्पादनोपकरणाविष्काराय अन्धकारवृत्रवधे प्रभूतविद्युदादिनिर्माणाय ऊर्जासङ्कटनिवारणायाप्रतिमसौर्य्यूर्जाजननाय च वृणुते यूयं तदर्थमपेक्षितोपकरण धनादिप्राप्त्यर्थमिन्द्रं राजानं वृतवन्तः। एतदर्थं यूयं प्रोक्षिता अभिषिक्ता अधिकृता भवत। अग्नये अग्निवत्तेजस्विज्ञानप्राप्तये अग्नीषोमाभ्यां संहारकपालकदुष्टशोषकशिष्टपोषकगुणाभ्यामभिरुचितमभीप्सितं त्वामहं प्रोक्षामि। सदाचार्यनियन्त्रिता एव वैज्ञानिका दुष्टनिग्रहशिष्टानुग्रहादि कार्येषु सक्षमा भवन्ति। अन्यथा त्वनियन्त्रितमहायन्त्राणीव विनाशहेतवः सन्तोऽनर्थायैव भवन्ति। त्वां दैव्याय कर्मणे दिव्याय कर्मणे प्रजापालनाय देवयज्यायै प्रजापालनद्वारा परमेश्वराराधनलक्षणायै क्रियायै यूयं शुन्धध्वं शुद्धा भवत। अत एव यद्वो युष्माकं मनोऽशुद्धा भौतिकाः संस्काराः पराजघ्नुरशुद्धं कृतवन्तः तदहं शास्त्रीयसिद्धान्तसदाचारोपदेशेन शुन्धामि शोधयामि सच्छास्त्रसंस्कारयुक्तं करोमीति। एवमेव बहवोऽप्यर्था वक्तुं शक्यन्ते पूर्वोक्तमुख्यार्थाविरोधेन॥ (बा० सं० १।१३)॥

और अस्त्र शस्त्रादि युद्ध सामग्री की प्राप्ति के लिये सैनिक लोग राजा का आश्रय किया करते हैं। हे सैनिकों! तुम भी राष्ट्र की रक्षा के निमित्त अर्थात् वृत्र शत्रु के वधार्थ अभिषिक्त (प्रोक्षित) हो जाओ। आचार्य दीक्षा के समान राजा का अभिषेक होता है। पुत्रक दीक्षा के समान युवराज का अभिषेक होता है। सभार्य दीक्षा के समान सेनापति की दीक्षा दी जाती है। साधक दीक्षा के समान सैनिकों की दीक्षा होती है। अग्नि की तरह अमित तेज की प्राप्ति के लिये शौर्यादि गुणों से युक्त हुए तुम्हारा पुनः प्रोक्षण मैं (पुरोहित) करता हूँ। अर्थात् अभिमन्त्रित जल से तुम्हारा प्रोक्षण करके तुम्हें मैं वीर्यवान् बनाता हूँ। अग्नीषोम के समान अर्थात् अग्नि की तरह तेजस्वी बनाने के लिये और सोम की तरह समस्त लोगों के प्रेमास्पद बनने के लिये, और दुष्टों का निग्रह करने के कारण तथा शिष्ट जनों का परिपालन करने के कारण अग्नीषोम दोनों के प्रिय बने हुए तुम्हारा मन्त्र शुद्ध जल से प्रोक्षण कर रहा हूँ। उस प्रोक्षण के करने से तुम्हारे अङ्गों में स्थित अशुभ कामादि दोष दूर हो जायेंगे, तदर्थ मैं तुम्हारे अङ्गों को तेजस्वी बना रहा हूँ।

२२—अथवा हे वैज्ञानिक शिल्पियों! राजा या राष्ट्रपति ने वृत्रतुर्य अर्थात् अवरोधक शत्रुओं के वधार्थ परमाणु उद्जनास्त्रादि के आविष्कार के लिये तथा दारिद्र्यादिशत्रु के वधार्थ उत्पादनोपयोगी उपकरणों का आविष्कार करने के लिये तथा अन्धकार रूपी वृत्र के वधार्थ प्रभूत विद्युत् आदि का निर्माण करने के लिये ऊर्जा सङ्कट निवारणार्थ अप्रतिम सौरी ऊर्जा का निर्माण करने के लिये तुम लोगों को नियुक्त (वरण) किया गया है अतः तुमने भी उसके अपेक्षित उपकरण धनादि के प्राप्त्यर्थ उस राजा को स्वीकार किया है। तदर्थ तुम लोग अधिकृत हो जाओ। अग्नि के समान तेजस्वी ज्ञान की प्राप्ति के लिये, तथा संहारक-पालक-दुष्टशोषक-शिष्टपोषक गुणों वाले अग्नी-षोम देवताओं को प्रिय लगने वाले तुम्हारा मैं प्रोक्षण कर रहा हूँ, जिससे तुम वैज्ञानिक लोग सर्वदा आचार्यों से नियन्त्रित होकर ही दुष्टनिग्रह-शिष्टानुग्रहादि कार्यों को करने में सक्षम हो सको। अन्यथा अनियन्त्रित महायन्त्रों की तरह विनाश के निमित्त बनकर अनर्थ के ही निमित्त बन जाओगे। प्रजापालन रूप दिव्य कर्म के लिये और प्रजापालन द्वारा परमेश्वराराधन रूप देवयज्या लक्षण क्रिया के लिये तुम शुद्ध हो जाओ। तुम्हारे मन भौतिक संस्कारों के पड़ने से अशुद्ध हो गये हैं इसलिये उन्हें मैं सच्छास्त्र संस्कार से युक्त बना रहा हूँ। इसी तरह अनेक अर्थों को बताया जा सकता है। कोई भी अर्थ किया जाय, तथापि ध्यान यही रखना पड़ेगा कि मुख्यार्थ के साथ विरोध न हो पाये।

शर्मास्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूताऽअरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु । अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्न ऽ प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु ॥ वा० सं० १।१४ ॥

अर्थ—हे कृष्णाजिन ! तुम उलूखल धारण करने में सुख हेतु हो। इस कृष्णाजिन पर स्थित राक्षस को दूर कर दिया गया है (उस पर की धूल दूर कर दी गई है) तथा प्रतिबन्धक शत्रु भी पृथ्वी पर कम्पित हो गये हैं। हे कृष्णाजिन ! तुम भूमिदेवता की त्वचा हो। भूमि तुम्हें अपनी त्वचा समझती है। हे उलूखल ! यद्यपि तुम काष्ठ से निर्मित हो तथापि पाषाण के समान हो। तुम्हारा मूलभाग (नीचे का भाग) विपुल है। इस प्रकार तुम पाषाण के सदृश हो। पृथ्वी की त्वचा अर्थात् नीचे बिछा हुआ मृगचर्म तुम्हें अपने आत्मीय के रूप में पहिचाने अर्थात् यह उलूखल मेरा ही अंशभूत है ऐसा समझे ।।१४।।

१—'शर्मासीति कृष्णाजिनादानम्' (का० श्रौ० सू० २।४।१) हे कृष्णाजिन त्वमुलूखलस्य धारणार्थं शर्मासि सुखहेतुरसि। अजिनस्य चर्मेति मनुष्यप्रसिद्धं नाम। शर्मेति दैवं नाम। तेन शर्मासीत्युक्तिः सोऽयमर्थः। तदास्ते शर्मासीति कृष्णस्य वा एतच्चर्मे'त्यादिना काण्वब्राह्मणेन स्पष्टीकृतः। 'अपेत्य दात्रेभ्योऽवधूनोत्यवधूतमिति' (का० सं० २।४।२) अध्वर्युस्तत्कृष्णाजिनमासादितेभ्यः दात्रेभ्योऽपेत्य पृथक्कृत्य उत्करे गत्वा तत्र तदवधूनोति। तल्लग्नधूल्यादिकं कृष्णाजिनकम्पनेन उत्करे पातयतीत्यर्थः। (धूञ् कम्पने) कृष्णाजिनेन गूढं रक्षः अवधूतम् —कृष्णाजिनकम्पनेन भूमौ-पातितम्। एवमेवारातयोऽपि पातिताः। 'प्रत्यग्ग्रीवमास्तृणात्यदित्यास्त्वगिति' (का० श्रौ० सू० २।४।३) प्रतीच्यां ग्रीवा यस्य तत् प्रत्यग्ग्रीवं कृष्णाजिनमास्तृणुयादध्वर्युः। आपस्तम्बश्च—'अदित्यास्त्वगसीत्युत्तरेण गार्हपत्यमुत्करदेशे वा प्रतीचीनग्रीवमुत्तरत्लोम्नोपस्तृणातीति' इति। हे कृष्णाजिन त्वमदित्या भूमिदेवतायास्त्वगसि ततोऽदितिर्भूमिस्त्वां मदीयेयं त्वगित्येवं वेत्तु जानातु। ननु किमर्थमन्यचर्मापहाय कृष्णाजिनग्रहणाग्रहः इति चेन्न, ब्राह्मणेनैव तस्य चोद्यस्य समाधीयमानत्वात्। तथाहि—'अथकृष्णाजिनमादत्ते। यज्ञस्यैव सर्वत्वाय यज्ञोह देवेभ्योऽपचक्राम। स कृष्णो मृगो भूत्वा चचार तस्य देवा अनुविद्य त्वचमेवावच्छायाजह्रुः। (श० १।१।४।१)

२—यज्ञस्य सर्वत्वाय अवयवकात्स्न्याय कृष्णाजिनादानं श्रुतिर्विधत्ते—'अथ कृष्णाजिनमिति। कुतस्तेनावयवकात्स्न्यमिति तदेवोपपादयितुं पुरावृत्तमुपन्यस्यति–यज्ञोहेति। केनापि निमित्तेन यज्ञः पुरा देवेभ्योऽपरक्तोऽन्यत्र जगाम।

१—हे कृष्णाजिन ! तुम उलूखल के धारणार्थ सुखहेतु हो। अजिन का 'चर्म' यह मानुष नाम है और 'शर्म' यह दैव नाम है। कृष्णाजिन में छिपे हुए राक्षस को कृष्णाजिन को झटकारने से भूमि पर गिरा दिया, उसी प्रकार शत्रुओं को भी गिरा दिया। हे कृष्णाजिन ! तुम अदिति रूप भूमिदेवता के त्वक्रूप हो। इसलिये वह अदिति रूप भूमि तुम्हारा ग्रहण कर मेरी यह त्वक् है, ऐसा समझे। किसी अन्य चर्म का त्याग कर कृष्णाजिन का ही ग्रहण करने में ब्राह्मणवचन प्रमाण है। कृष्णाजिन के ग्रहण करने से 'यज्ञ' अपने समस्त अवयवों से पूर्ण हो पाता है, ऐसा श्रुति का कहना है।

२—यज्ञ की सर्वावयव पूर्ति में एक इतिहास बताया जाता है। पहिले किसी समय कारणवश यह यज्ञपुरुष देवताओं से अननुरक्त होकर अन्यत्र चला गया। उस समय अपने वेष को छिपाने के लिये वह कृष्णमृग बन गया।

तदानीं स्वकीयवेषप्रच्छादनाय कृष्णमृगोऽभूत्। देवास्तु तद्विज्ञाय तस्य मृगस्य त्वचमवच्छायाच्छिद्य जगृहुस्तस्मात् यज्ञस्य सर्वत्वाय कृष्णाजिनादानमुचितमेव। छो छेदन इत्यस्मात् क्त्वोल्यप्।

३—तस्य कृष्णाजिनस्य यज्ञरूपतां वक्तुं त्रयीमयत्वमाह—'तस्य यानि शुक्लानि कृष्णानि च लोमानि तान्यृचां च साम्नां च रूपम् यानि शुक्लानि तानि साम्ना ँ रूपं यानि कृष्णानि तान्यृचाम् यदि वेतरथा यान्येव कृष्णानि तानि साम्ना ँ रूपं यानि शुक्लानि तान्यृचाम् यान्येव बभ्रूणीव हरीणि तानि यजुषा ँ रूपम्। सैषा त्रयी विद्या यज्ञः। तस्या एतच्छिल्पमेषवर्णस्तद्यत् कृष्णाजिनं भवति यज्ञस्यैव सर्वत्वाय तस्मात्कृष्णाजिनमधिदीक्षन्ते यज्ञस्यैव सर्वत्वाय तस्मादध्यवहननमधिपेषणं भवत्यस्कन्न ँ हविरसयिति तद्यदेवात्र तण्डुलो वा पिष्टं वा स्कन्दान्तद्यज्ञे यज्ञः प्रतितिष्ठादिति तस्मादध्यवहननमधिपेषणम् भवति (श० १।१।४।२-३) शुक्लकृष्णलोम्नां संग्रहात् ऋक्सामात्मकतामुक्त्वा विभज्यापि केषाञ्चिद्रीत्या यानि शुक्लानि तानि साम्नां यानि कृष्णानि तानि ऋचामन्येषां शाखिनां रीत्या तद्वैपरीत्येन यान्येव बभ्रूणि पिङ्गलवर्णानि हरीणि हरितवर्णानि तानि यजुषां रूपम्।

४—एवं कृष्णाजिनस्य त्रयीमयत्वमुक्तम्। यैषा ऋग्यजुःसामात्मिका त्रयी विद्या सैवेयं यज्ञस्तत्साध्यत्वात् य एष शुक्लकृष्णादिलक्षणो वर्ण एतत्तस्यास्त्रय्याः शिल्पं चित्रं रूपम्। अत एव सोमप्रकरणे वक्ष्यते 'शिल्पे स्थ' (वा० सं० ४।९) यस्मात् कृष्णाजिनं त्रयीमयं तस्मादेव सोमाङ्गभूता दीक्षापि कृष्णाजिनस्योपरि क्रियते। तस्मादेव च कृष्णाजिनस्योपरि अवहननं पेषणं च कर्त्तव्यम्। तथा सति तद्धविः अस्कन्नं स्कन्नरहितं असद् भवति। यदि भूम्यामेवावहननादिकं कुर्यात् तदावश्यमुलूखलात् भूम्यां हविः पतनं स्यात्। तदा स्कन्नदोषः स्यात्। तदेव विवृणोति अवहननसमये तण्डुलः पेषणसमये पिष्टं वात्र कृष्णाजिने यदि नाम स्कन्दात् स्कन्देत् लेटचडागमः। तत्खलु यज्ञ एव प्रतितिष्ठेत न तु तस्य स्कन्नदोषोभवतीत्यर्थः कृष्णाजिनेऽवरुद्धत्वेन भूमिस्पर्शाभावात्।

५—सव्याशून्येतिदधात्युलूखलमद्रिरसि ग्रावासीति वा, प्रतित्वेत्युभयोः' (का० श्रौ० सू० २।४।४-५) सव्या-

---

देवताओं के द्वारा पहिचाने गये उस मृग की त्वचा को देवताओं ने काट-काट कर ग्रहण किया, इसलिये यज्ञ की सर्वावयव पूर्णता के लिये कृष्णाजिन का आदान (ग्रहण) करना उचित ही है।

३—उस कृष्णाजिन की यज्ञस्वरूपता को बताने के लिये उसके त्रयीमयत्व को ब्राह्मण बता रहा है। उसके जो शुक्ल और कृष्ण लोम हैं, वे ऋक् और साम हैं। कुछ लोगों ने ऐसी भी व्याख्या की है कि जो शुक्ल लोम हैं, वे ऋक् रूप हैं। अन्य शाखाओं के अनुसार ऐसा भी कहा गया है कि जो पिङ्गल वर्ण जैसे हरित वर्ण के लोम हैं, वे यजु के स्वरूप हैं।

४ इस प्रकार कृष्णाजिन का त्रयीमयत्व कहा गया है। यह जो ऋग्यजुःसामात्मिका त्रयी विद्या है, वही यह यज्ञ है, क्योंकि उसी त्रयी विद्या से वह साध्य होता है। और जो यह शुक्ल-कृष्णादि वर्ण हैं, वह उस त्रयी का शिल्प यानी चित्ररूप है। उस कृष्णाजिन के त्रयीमय रहने से ही सोमाङ्गभूत दीक्षा भी उसी पर की जाती है। और उसी कारण कृष्णाजिन के ऊपर ही अवहनन तथा पेषण भी करना चाहिये। वैसा करने पर वह हवि अस्कन्न (स्कन्नदोष से रहित) रहता है। यदि भूमि पर ही अवहनन किया जायगा तो अवश्य ही उलूखल से भूमि पर हवि गिरेगा, तब स्कन्न दोष होगा। अवहनन करते समय तथा तण्डुल पेषण करते समय वह पिष्ट यदि कृष्णाजिन पर गिर जाय तो भी उसे यज्ञ में ही प्रतिष्ठित (स्थित) समझा जाता है, उसे स्कन्न दोष नहीं लगता। क्योंकि कृष्णाजिन पर उसके अवरुद्ध हो जाने से उसे भूमि का स्पर्श नहीं हो पाता।

५—वाम हस्त से स्पर्श किये गये कृष्णाजिन पर 'अद्रिरसि' अथवा 'ग्रावासि' इन दोनों में से किसी एक मन्त्र

शून्ये वामहस्तेन स्पृष्टे कृष्णजिने अद्रिरसि ग्रावासीत्यन्यतरमन्त्रेण उलूखलं स्थापयेत्। मन्त्रद्वयेऽपि "प्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्तु" इतिमन्त्रः संयोजनीयः। मन्त्रार्थस्तु हे उलूखल त्वं यद्यपि वानस्पत्यो दारुमयस्तथापि दृढत्वादद्रिरसि पाषाणोऽसि आदृणाति विदारयति आदृणात्यनेन वेत्यद्रिः। पृथुबुध्नः स्थूलमूलमुसलघातोपद्रवेण चाञ्चल्यराहित्याय मूलस्य स्थूलत्वं युक्तमेव। हे उलूखल तथाविधस्त्वं ग्रावासि दाढर्येन पाषाणसदृशोऽसि। अदित्यास्त्वगधस्तादास्तीर्णा कृष्णाजिनरूपा भूमेर्यात्वगस्ति सा त्वां प्रतिगृह्य वेत्तु स्वकीयत्वेन जानातु।

६—कण्वश्रुतौ तु विस्पष्टं मन्त्रस्वरूपे स प्रतिगृह्णात्वद्रिरसि वानस्पत्यप्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति वा ग्रावासि पृथुबुध्नः प्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति वेति दारुमयस्यैवोलूखलस्य पाषाणत्वमौपचारिकमिति तित्तिरिर्दर्शयति—'अद्रिरसि वानस्पत्य इत्याह। ग्रावाणमेवैनत् करोती'ति (तै० ब्रा० ३।२।५।८) शतपथे याज्ञवल्क्यस्तु निष्कर्षमाह—'तत्प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणाति अदित्यास्त्वगसि प्रतित्वादितिर्वेत्त्विति तीयं वै पृथिव्यदितिस्तस्या अस्यै त्वग्यदिदमस्यामधि किञ्च तस्मादाहादित्यास्त्वगसीति प्रतित्वादितिर्वेत्त्विति प्रतिहि स्वसं जानीते तत्संज्ञामेवैतत् कृष्णाजिनाय च वदति नेदन्योऽन्यꣳ हिनसात इत्यभिनिहितमेव सव्येन पाणिना भवति। (श० १।१।४।५) अत्र समन्त्रकं प्रतीचीनग्रीवत्वविशिष्टस्य कृष्णाजिनस्यास्तरण विहितम्। इयं पृथिवी अदितिरखण्डनीया (दोऽवखण्डने) इति व्युत्पत्त्या अदितिशब्देन पृथिव्येव मन्त्रे विवक्षितेत्युक्तम्। कथमन्यदीया त्वगन्यस्य त्वग् भवतीत्याशङ्क्याह—तस्या अस्यै त्वगिति। अस्या भूमेरधि उपरिभागे यदिदं किमपि वस्त्ववस्थितं तस्यै अस्यै पृथिव्यै सा त्वगिव कृष्णाजिनमप्युपर्यवस्थानात् तस्यास्त्वगिति तत्स्तुतिः। मन्त्रस्य प्रतित्वेत्यादिकं व्याचष्टे—अदितिस्त्वामात्मीयां त्वचं वेत्तु जानातु। स्वः स्वकीयं जनमात्मीयजनं प्रति सञ्जानीते परस्परानुकूल्यं प्रकटयितुं संज्ञां करोति। तत् कृष्णाजिनभूम्योः समानज्ञानतामेवायं मन्त्रभागो वदति। संज्ञानस्य प्रयोजनमाह—परस्परानुकूल्यज्ञानाभावे ह्यन्योन्यं हिंस्यात् नैव तादृश्यन्योन्यहिंसा भवत्वित्यभिप्रायेणैवाह-सव्येन पाणिना स्पृष्ट एव कृष्णाजिने दक्षिणेन पाणिनोलूखलमाहरतीत्यस्याप्यभिप्रायमाह—'नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षाꣳ स्याविशानिति—ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता तस्मादभिनिहितमेव सव्येन पाणिना भवति। (श० १।१।४।६) यदि ह्युलूखलनिधानात् प्रागेव कृष्णाजिनस्पर्शमुत्सृजेत्। तत् तदा इहास्मिन् कृष्णाजिने राक्षसादिकं प्रविशेत्, तन्न भवेदिति हेतोः सव्याशून्य उलूखलमाहरेत्। शतेर्लोटि बहुवचन आडागमे झेरन्तादेशे 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा सू० ३।४।९७)

७—सव्येन स्पर्शेऽपि कुतो न रक्षांसि प्रविशन्ति—इति तत्राह—हि यस्माद् ब्राह्मणो रक्षसामपहन्ता भवति

से उलूखल को रखे। दोनों मन्त्रों के साथ 'प्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्तु' इस मन्त्र को जोड़ लेना चाहिये। हे उलूखल! तुम यद्यपि काष्ठमय हो तथापि दृढ़ होने से अद्रि यानी पाषाण के समान हो। तुम मूलभाग में स्थूल हो, क्योंकि मुसल प्रहार के उपद्रव से चाञ्चल्यराहित्य के लिये मूल भाग की स्थूलता आवश्यक ही है। हे उलूखल! तुम अपनी दृढ़ता के कारण ग्रावा के समान यानी पाषाण के समान हो। अदिति की त्वक् तुम्हारे नीचे बिछाई गई है, जो कृष्णाजिनस्वरूपा है, उसे वह (भूमि) अपनी जाने।

६—इस प्रकार कृष्णाजिन और भूमि की समान जातीयता मन्त्र के द्वारा बताई गई है। समान जातीयता बताने का प्रयोजन यह है कि परस्पानुकूल्यज्ञान न होने पर एक दूसरे परस्पर की हिंसा भी कर सकते हैं। वैसी परस्पर अन्योन्य हिंसा न हो इस अभिप्राय से कहा गया है कि सव्य (वाम) हाथ से स्पृष्ट हुए कृष्णाजिन पर ही दक्षिण हाथ से उलूखल को रखता है। यदि उलूखल के रखने के पूर्व ही यदि अपने वाम हस्त को कृष्णाजिन से हटा ले तो उस कृष्णाजिन में राक्षसादिक प्रविष्ट हो जायेंगे। उनका उसमें प्रवेश न हो सके इसलिये बाँये हाथ से उसे स्पर्श किया रहे और दाहिने हाथ से उस पर उलूखल को रखे यह कहा गया है।

७—सव्य हाथ से स्पर्श करने पर भी उसमें राक्षसों का प्रवेश क्यों नहीं हो सकेगा? इस पर कहा गया है

मन्त्रप्रभावात् तस्मात्तेन स्पृश्यमानं राक्षसादि न प्रवेष्टुं शक्नोति—इत्यर्थः। एवं सायणोव्वटमहीधराणां मन्त्रव्याख्यानानि श्रुतिसूत्रप्रमाणसिद्धान्येव। यथाकथञ्चित्तु नैकविधानि व्याख्यानानि कर्तुं शक्यानि।

८—स्वामिदयानन्दस्तु हे मनुष्या युष्मद्गृहं शर्मासि भवतु। तस्माद् गृहाद्रक्षोऽवधूतमरातयोऽवधूता भवन्तु। तव गृहमदित्यास्त्वगस्त्विति सर्वो जनः प्रतिवेत्तु। यो वानस्पत्योऽद्रिः (असि) पृथुबुध्नो ग्रावा मेघो अस्ति वर्तते। एतद्विद्यामदितिर्जगदीश्वरस्तुभ्यं प्रतिवेत्तु कृपया वेदयतु। विद्वानप्यदित्यास्त्वग्वत्वात् व्यवहारं प्रतिवेत्तु" (पृ० ७७)।

९—आश्चर्यमेतद् यत् शतपथव्याख्यानस्थलं निर्दिशन्नपि तद्विपरीतमेव व्याख्याति मन्त्रम्। तथाहि—'कृष्णाजिनमादत्ते। शर्मासीति चर्म वा एतत्कृष्णस्य तदस्य तन्मानुषꣳ शर्म देवत्रा तस्मादाह शर्मासीति तदवधूनोत्यवधूतꣳ रक्षः..............तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षाꣳस्यतोऽपहन्त्यति नत्येव पात्राण्यवधूनोति यद्धचस्यामेध्यमभूत् तद्धचस्यैतदवधूनोति।' (श० १।१।४।४) अत्र स्पष्टमेव चर्मादानमनूद्य मन्त्रं विधाय शर्मशब्दस्य तात्पर्यं वक्ति। चर्म वा इति। यदेतत् कृष्णमृगस्य चर्म अजिनं अस्य यज्ञस्यैतदजिनं तत् लोकप्रसिद्धचर्मशब्दाभिधेयं सन्मानुषं मनुष्यसम्बन्धि रूपं भवति। अर्थात् कृष्णाजिनस्य चर्मेति मनुष्यप्रसिद्धं नाम। एतदेव देवला देवसुखकरत्वात् शर्मेत्युच्यते—अतो वैदिके कर्मणि शर्मासीत्युक्त्या तत्स्तुतिरूपपन्ना। देवत्रेति 'देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्' (पा० सू० ५।४।५६) इति त्रा प्रत्ययः। पूर्वमपि कृष्णाजिनमादत्ते' इति कृष्णाजिनादानं विहितम् तत्रैव यज्ञो देवेभ्योऽपचक्राम। स कृष्णोमृगो भूत्वा चचार। इति पुरावृत्तकथनेन त्रयीमयो यज्ञएव कृष्णमृगो भूत्वा चचार तदीयचर्मादानं यज्ञस्य कात्स्न्यार्थ विहितम्। तत्रैव तस्य शुक्लकृष्णादिलोम्नां मृगादित्वमुक्तम्। तदुपरि सोमदीक्षाया अवहननपेषणादीनाञ्च गुणवत्त्वमुक्तम् सर्वमेतदपलप्य किमप्यन्यथैवायं महात्मा व्याख्याति। 'अवधूतꣳरक्ष' इति मन्त्रेण कृष्णाजिनस्यैवावधूननं विहितम्। अवधूननेन रक्षः प्रकृतिसम्पर्कादमेध्ययज्ञियांशनिरास उक्तः। किं गृहस्याधूननं सम्भवति? पुरुषव्यत्ययमन्तरा तु पदमेकमपि नायं गन्तुं प्रभवति। यद्यपि गृहनामसु शर्म इति पठितम् तथापि कृष्णाजिनादानप्रसङ्गे तदर्थस्य कथं सङ्गतिः?

१०—यद्यप्युक्तम्—'ईश्वरेणाज्ञाप्यते मनुष्यैः शुद्धायाः सर्वतोऽवकाशयुक्तायाः पृथिव्या मध्ये सर्वेष्वृतुषु

कि ब्राह्मण अपने मन्त्र के प्रभाव से राक्षसों का विनाश कर देता है, इसलिये उससे स्पृष्ट होने पर राक्षसों का प्रवेश उसमें नहीं हो सकता। इसी प्रकार सायण, उव्वट, महीधर के मन्त्र व्याख्यान, श्रुति-सूत्र प्रमाण सिद्ध ही होते हैं। यथाकथंचित् अनेक प्रकार के व्याख्यान भी किये जा सकते हैं।

८—स्वामी दयानन्द ने तो यह अर्थ किया है कि हे मनुष्यों! तुम्हारा घर बने, उस घर से राक्षस और शत्रुगण निरस्त हों। तुम्हारा घर अदिति की त्वचा रूप है, ऐसा सब लोग समझें। जो वानस्पत्य अद्रि है, पृथुबुध्न ग्रावा मेघ है। इस विद्या को अदिति यानी जगदीश्वर कृपा करके तुमको समझा दें। विद्वान् भी अदिति की त्वचा से युक्त होने के कारण व्यवहार को जानें (पृ० ७७)।

९—आश्चर्य की बात तो यह है कि शतपथ की व्याख्या का स्थल निर्देश करते हुए भी उसके विपरीत मन्त्र की व्याख्या कर रहे हैं। 'अवधूत ꣳ रक्षः' इस मन्त्र में कृष्णाजिन का ही अवधूनन विहित किया है। अवधूनन से अमेध्य यज्ञियांश का निरास बताया गया है। किन्तु स्वामी दयानन्द ने गृह का अवधूनन करना बताया है, तो क्या गृह का अवधूनन कभी सम्भव हो सकता है? पुरुषव्यत्यय के विना एक पद भी वह चलने में समर्थ नहीं होगा। यद्यपि गृहनामों में 'शर्म' भी पठित है, तथापि कृष्णाजिन के आदान प्रसङ्ग में वह अर्थ कैसे सङ्गत हो सकेगा?

१०—यह जो पृ० ७७ पर कहा गया है कि ईश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य, सर्वतः अवकाश युक्त पृथिवी पर

सुखदायकं गृहं रचयित्वा तत्र सुखेन स्थातव्यम् । तस्मात् सर्वे दुष्टा मनुष्या दोषाश्च निवारणीयाः, तत्र सर्वाणि साधनान्यपि साधनीयानि तत्रैव वृष्टिहेतुर्यज्ञोऽनुष्ठातव्यः सुखानि च सम्पादनीयानि । एवं कृते वायु-वृष्टि-जल-शुद्धिद्वारा जगति महत्सुखं सिद्धयति' (पृ० ७७) इति,

११—तदपि तुच्छम्, सर्वस्यैतस्य रागप्राप्तस्य विधेयत्वासम्भवात् । किञ्च हेतुमन्तरा असीति मध्यमपुरुषस्य प्रथमपुरुषत्वेन विपरिणामोऽपि निर्मूलः । एवं लटो लोट्त्वेनापि परिणामोऽपि स्वच्छन्दतैव अन्यथा शर्मासि गृहोऽसीति कथं सङ्गतिः स्यात् ? तत एव तव सर्वत्र व्यत्यय एव शरणम् । अवपूर्वस्य धूनोतेः कम्पनं निराकरणं वार्थो भवति दूरीकृतं विचालित मित्यर्थोऽपि स्वच्छन्दतैव । किं त्वत्कथनेनैव दुष्टस्वभावाः शत्रवश्च दूरीभूता भविष्यन्ति ? सिद्धान्ते तु यजमानवृतस्य यज्ञानुष्ठातुरध्वर्योः श्रुतिविहितकर्माङ्गत्वेन मन्त्रोच्चारणप्रभावात् रक्षसामरातीनाञ्चावधूननं सम्भवति । तत्सर्वं त्वया नाभ्युपेयते तत्कथं कथनमात्रेण तेषामपकरणं भविष्यति ? किं च गृहं कथमदित्यास्त्वग्भविष्यति । को वाभिप्रायस्त्वत् कथनात् सर्वो जनः गृहं पृथिव्यास्त्वग्वत् वेत्तु किमित्यस्य प्रयोजनम् । वानस्पत्योऽद्रिः पृथुबुध्नो मेघ इति कीदृशी विद्या ? यामीश्वरोदास्यति ? कोऽयं वानस्पत्यो मेघः ? पृथु विस्तीर्णं बुध्नमन्तरिक्षं निवासार्थं यस्य । पृथुबुध्नो मेघ इति द्रविडप्राणायामेन पृथुबुध्नपदेन मेघग्रहणेऽपि प्रकृते किमायातम् मेघोऽन्तरिक्षे वसतीति सर्वोऽपि जानात्येव । तस्य वानस्पत्यरूपता त्वद्याप्यसिद्धैव । वायुजलवृष्टिशुद्धयर्थं होमोपदेशस्तु त्वद्रीत्यानेकेषु मन्त्रेषु परमेश्वरेण-दत्त एवेति किमित्याम्रेडनेन ?

श्रुतिसूत्रानुसारेण तु शर्मासीति मन्त्रेणाध्वर्युः कृष्णाजिनमादत्ते हे कृष्णाजिन त्वमुलूखलस्य धारणार्थं शर्मासि सुखहेतुरसि । चर्मेति तव मानुषं नाम । शर्मेति तव दैवं नाम । अवधूतं रक्षोऽवधूता अरातय इति मन्त्रेण कृष्णाजिनमध्वर्युः पात्रेभ्योऽपसृत्य अवधूनोति । कृष्णाजिनकम्पनेन तत्र गूढं रक्षो यज्ञविघ्नकारकमवधूतं भूमौपतितं भवति । अरातयोऽदानशीला रिपवोऽपि तत्प्रभावेणैव कम्पिता भवन्ति । अदित्यास्त्वगसीत्यादिमन्त्रभागेनाध्वर्युः प्रत्यग्ग्रीवं कृष्णाजिनमास्तृणाति । मन्त्रार्थस्तु हे कृष्णाजिन त्वमदितेर्भूमिदेवतायास्त्वग्रूपमसि ततोऽदितिर्भूमिदेवता त्वां मदीयेयं त्वगिति जानातु । यज्ञरूपकृष्णमृगस्येदमजिनधारणमजिनमितिभावनासहकृतविहितमन्त्रोच्चारेण कृष्णाजिनभूम्योः परस्पराभेदापादनं निर्विघ्नयज्ञादृष्टसिद्धयर्थम् । ततोऽद्रिरसि वानस्पत्य ग्रावासि पृथुबुध्न्येत्युभाभ्यां मन्त्राभ्यां प्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्त्वितियुक्ताभ्यां विकल्पेन सव्यपाणिना स्पृष्टे कृष्णाजिने उलूखलं स्थापयत्यध्वर्युः ।

१२—मन्त्रार्थस्तु हे उलूखल त्वं यद्यपि वानस्पत्यस्तथापि दृढत्वात् अद्रिः पाषाणः किं भूतः पृथुमूलः स्थूलमूलः,हे उलूखल तथाविधस्त्वं ग्रावासि दार्ढ्येन पाषाणतुल्योऽसि । अदित्यास्त्वगधस्तादास्तीर्णा कृष्णाजिनरूपा भूमेर्यात्वगस्ति सा त्वां प्रतिवेत्तु स्वकीयत्वेन जानातु । अत्र प्रमाणानि उपपत्तयश्च पूर्वमेवोक्तानि । श्रुतिसूत्रपारम्पर्यपद्धत्यनुसारेणायमेवार्थः।
दे । उसमें सभी साधनों को जुटा ले । उसी में वृष्टि के हेतुभूत यज्ञ का अनुष्ठान करे और सब सुखों का सम्पादन करे । ऐसा करने से वायु-वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा जगत् में महान् सुख हो सकेगा ।'

११—किन्तु यह दयानन्दीय व्याख्या सारहीन है, क्योंकि यह सभी रागप्राप्त होने से विधेय नहीं हो सकते । किञ्च किसी कारण प्रदर्शन के बिना पुरुष विपरिणाम करना भी निर्मूल है । लकार में विपरिणाम करना भी स्वच्छन्दता का ही सूचक है । अन्यथा 'शर्मासि गृहोऽसि' यह सङ्गति कैसे होगी ? इस प्रकार सर्वत्र आपने व्यत्यय की ही शरण ली है । अवपूर्वक धूनोति का कम्पन अथवा निराकरण अर्थ होता है. किन्तु उसका अर्थ 'दूरीकृतं विचालितं' अर्थ आपने बताया है, यह सब आपकी स्वच्छन्दता ही है । क्या आपके कथनमात्र से ही दुष्टलोग और शत्रुगण दूर हो जायेंगे ? सिद्धान्त में तो यजमान के द्वारा वरण किये गये यज्ञानुष्ठाता अध्वर्यु में श्रुतिविहित कर्म का अङ्गत्व होने से उसके मन्त्रोच्चारण के प्रभाव से राक्षस और शत्रुओं का अवधूनन होना सम्भव हो सकता है । किन्तु आप तो यह सब कुछ स्वीकार कर नहीं रहे हैं । तो कैसे उनका अपाकरण होगा ? क्या आपके कथनमात्र से होगा ? किञ्च गृह, अदिति की त्वक् कैसे होगा ? उसी तरह वानस्पत्योऽद्रिः पृथुबुध्नः मेघः यह कैसी विद्या है ? जिसे ईश्वर देगा । कौनसा यह वानस्पत्य मेघ है ? मेघ अन्तरिक्ष में रहता है, यह सभी जानते हैं, उसकी वानस्पत्यरूपता तो अद्यापि सिद्ध ही नहीं है । अतः श्रुति-सूत्र के अनुसार ही अर्थ करना उचित है । तथापि 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इस कठोपनिषद् के अनुसार तथा 'सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति' के अनुरोध से अन्यान्य अर्थ भी किये जा सकते हैं ।

तथापि 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठोप० १।२।१५) 'सर्वं वेदात्प्रसिद्धयति' (म० १२।९७) इत्याद्यनुरोधेनान्येऽप्यर्थाः कर्तुं शक्यन्ते। 'अथोलूखलं निदधाति। अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्न इति वा तद्यथैवादः सोमꣳ राजान ग्रावभिरभिषुण्वन्त्येवमेवैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्याꣳ हविर्यज्ञमभिषुणोत्यद्र्य इति वै तेषामेकं नाम तस्मादाहाद्रिरसीति वानस्पत्य इति वानस्पत्योऽह्येष ग्रावासि पृथुबुध्न इति। ग्रावाह्येष पृथुबुध्नो ह्येष प्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति तत्संज्ञामेवैतत् कृष्णाजिनायत्त वदतिनेदन्योन्यꣳ हि नसात् इति (श० १।१।४।७) अत्र स्पष्टमुलूखल—विधाने अद्रिरसीति मन्त्रविनियोगो ज्ञायते। अद्रिरसि ग्रावासीति मन्त्रविकल्पोऽपि। लुप्तविभक्तिकः, अदः शब्दः। सप्तमी ज्ञातव्या। अमुत्र सोमयागे यथा सोमस्य ग्रावभिरभिषवः एवमेवात्रोलूखलादिभिर्व्रीह्यादिकमभिषुणोति। वितुषीकरणादिभिः संस्करोति। अद्रय इति साधारणं नाम। अतो नामसाम्यात् उलूखलादिसाध्यमवहननादिकं ग्रावसाध्येनाभिषवेण तुल्यमित्यर्थः। हे उलूखल त्वं ग्रावासीति मन्त्रेणोलूखले ग्रावत्वारोपो मन्त्रेण विवक्षितः। प्रति त्वा अदिस्त्यास्त्वग्वेत्त्विति तत्संज्ञामेव कृष्णाजिनाय वदति यतोन्योऽन्यं हिंसा माभूत् पृथिवीकृष्णाजिनयोरिवैकत्व प्रत्यायनार्थम्।

१३—वेदपुरुषः प्रार्थयते यत् हे राजराजेश्वरि चिदानन्दमयि भगवति संसारतापतप्तानां प्राणिनां त्वमेव शर्मासि शर्म गृहमाश्रयः शरणमसि। 'शरणं गृहरक्षित्रोरितिकोषात्' त्वमेव शर्म आश्रयः शरणमसि त्वदन्यस्य शरण्यस्याभावात्। यद्वा शर्म सुखरूपासि त्वदन्यस्यार्तिपरिगृहीतत्वात् दुःखरूपत्वात् 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० उ० ३।४।२) इति श्रुतेः। 'नाल्पे सुखमस्ती' (छा० ७।२३) त्यादिश्रुतिभ्यः। न चानेन शतपथादिश्रुतिविरोधः, तासामपि भगवदाराधनरूपदर्शपूर्णमासादिप्रतिपादनद्वारा तत्रैव पर्यवसानात्।

१४—ननु तथापि संसारे भगवत्प्राप्तिविघ्नकराणि रक्षांसि दानादिधर्मविमुखा अरातयोऽपि सन्त्येव तेषु जीवत्सु कथं ममाश्रयणेन मम शरणग्रहणं सम्भवति? मम सुखरूपत्वेऽपि कथं जीवानां सुखहेतुत्वमिति चेत्तत्राह—अवधूतमिति—त्वच्छरणाश्रयणेनैव अवधूतं कम्पितं निरस्तं रक्षः विनायकानीकपनिकरं तेनैव चारातयोऽपि निरस्त-

---

से उसके मन्त्रोच्चारण के प्रभाव से राक्षस और शत्रुओं का अवधूनन होना सम्भव हो सकता है। किन्तु आप तो यह सब कुछ स्वीकार कर नहीं रहे हैं। तो कैसे उनका अपाकरण होगा? क्या आपके कथनमात्र से होगा? किञ्च गृह, अदिति की त्वक् कैसे होगा? उसी तरह वानस्पत्योऽद्रिः पृथुबुध्नः मेघः यह कैसी विद्या है? जिसे ईश्वर देगा। कौनसा यह वानस्पत्य मेघ है? मेघ अन्तरिक्ष में रहता है, यह सभी जानते हैं, उसकी वानस्पत्यरूपता तो अद्यापि सिद्ध ही नहीं है। अतः श्रुति-सूत्र के अनुसार ही अर्थ करना उचित है। तथापि 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इस कठोपनिषद् के अनुसार तथा 'सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति' के अनुरोध से अन्यान्य अर्थ भी किये जा सकते हैं।

१२—मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे उलूखल! यद्यपि तुम वानस्पत्य अर्थात् लकड़ी के हो तथापि दृढ़ होने से अद्रि (पाषाण) हो। जिसका मूलभाग स्थूल है। हे उलूखल! ऐसे तुम ग्रावा दृढ़ता के कारण पाषाणतुल्य हो।

अदित्यास्त्वक्=नीचे बिछी हुई कृष्णाजिनरूप जो भूमि की त्वक् है वह तुम्हें स्वकीय रूप से जाने। इसमें प्रमाण और युक्तियाँ पहले ही कह चुके हैं। श्रुति सूत्र और परम्परा प्राप्त पद्धति के अनुसार यही अर्थ है तथापि सर्वे वेदा यत्पदम्………(कठोप० १।२।१५) "सर्वं वेदात्" (म० १२।९७) इत्यादि वचनों के अनुरोध से अन्य भी अर्थ किये जा सकते हैं।

"अथोलूखलं निदधाति…………………वदति नेदन्योन्यꣳ हिनसात्त इति" (श० १।१।४।७) इस मन्त्र में स्पष्ट जाना जाता है कि "अद्रिरसि इस मन्त्र का विनियोग उलूखल के निधान (रखने) में है।

अद्रिरसि और ग्रावासि इन दोनों मन्त्रों के विकल्प का भी ज्ञान इसी मन्त्र से होता है। मन्त्र में अदस् शब्द लुप्तविभक्तिक है, इसमें सप्तमी विभक्ति जाननी चाहिये।

जैसे उस सोमयाग में पत्थर से सोम का अभिषव होता है इसी प्रकार इस याग में उलूखल आदिकों से व्रीहि आदि को कूटता है। वितुषी करणादि अर्थात् छिलके उतारने आदि के द्वारा उनका संस्कार करता है।

अद्रयः यह साधारण नाम है। इसलिये नाम की समानता से उलूखल से होने योग्य अवहननादि (कुट्टन आदि) ग्राष (पाषाण) से साध्य अभिषव के तुल्य है, ऐसा अर्थ समझना चाहिये।

हे 'उलूखल! त्वं ग्रावासि' इस मन्त्र से उलूखल में ग्रावत्व (पाषाण रूपता) का आरोप विवक्षित है।

तेजस्का हतप्रभा भवन्ति 'त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥' (श्री० भा० म० पु० १०।२। ३३) 'तस्य हनदेवाश्च नाभूत्या ईशते' (बृ० १।४।१०) 'एषांन्न प्रियं यदेनं मनुष्यां विद्युः' (बृहदा० १।४।१०) 'स्वौको विलङ्घ्य व्रजतां परमं पदं ते' (श्री० भा० म० पु०) 'लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः। येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थोजनार्दनः ॥' (गरुड़पुराण प्रे० क० ३५ ४४) हे जीवात्मन् त्वमदित्या अखण्डसंविच्छरीराया भगवत्यास्त्वगसि त्वगिव त्वक्स्वरूपमेवासि। अदितिः सा करुणार्णवहृदया त्वा त्वां स्वकीयत्वेन वेत्तु जानातु स्वीकरोतु सत्यसङ्कल्पायास्तस्या तथा ज्ञानलक्षणसङ्कल्पेनैव सर्वानर्थव्रातनिवारणसम्भवात्।

१५—नन्वहमनर्थशतसंकुलो जीवः कथं परमैश्वर्यशालिन्या राजराजेश्वर्या अभिन्नोभविष्यामीत्याशङ्क्याह—त्वमद्रिरसि। पर्वतकूटवन्निर्विकारः कूटस्थोऽसि। अनर्थव्रातोपप्लुत त्वं तु तवौपाधिकमेव रूपम्। स्वाभाविकं तु निर्विकारमेव। त्वं वानस्पत्यः पृथुमूलो ग्रावासि। वनस्पतिरूर्ध्वमूलोऽवाक्शाखोऽश्वत्थरूपः संसारवृक्षस्तत्सम्बन्धी ग्रावा पाषाणवदभेद्यपरमात्मरूप एवासि। कथंभूतः पृथु विस्तीर्णमपरिच्छिन्नमनन्तं ब्रह्मैव बुध्नमूलं यस्य सः पृथुबुध्नः ब्रह्मरूपः संसारवृक्षमूलरूप एवासि त्वम्। 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यादि श्रुतिभ्यः।

१५—ननु पूर्वं स्त्रीत्वेन निर्दिश्यान्ते कथ पुंस्त्वव्यपदेश इति चेन्न, तत्त्वस्योभयरूपत्वेऽप्यनुभयरूपत्वात्। 'त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि' (श्वेताश्वता ४।३) नैवस्त्री न पुमानेष न

प्रति त्वा अदित्यास्त्वग्वेत्तु यह मन्त्र कृष्णाजिन (कृष्णमृगचर्म) को वह संज्ञा ही बतला रहा है। जिससे परस्पर हिंसा न हो।

पृथिवी और कृष्णाजिन की एकता की तरह उलूखल और ग्रावा में एकत्व की प्रतीति कराने के लिये।

१३—वेदपुरुष प्रार्थना करता है कि हे राजराजेश्वरि ! हे चिदानन्दमयि भगवति ! सांसारिक ताप से तप्त हुए प्राणियों के लिये तुम ही शरण हो अर्थात् उनके आश्रय स्थान गृह रूप तुम ही हो। क्योंकि तुम से अतिरिक्त कोई दूसरा उनके लिये शरण्य यानी आश्रय लेने योग्य नहीं है। अथवा तुम ही सुख रूप हो। क्योंकि 'अतोऽन्यदार्तम्' इस श्रुति ने बताया है कि तुमसे भिन्न जो भी है, वह सब आर्त्ति (पीड़ा-दुःख) से युक्त है यानी दुःख रूप ही है। यह कहने से शतपथादि श्रुति से विरोध की सम्भावना नहीं करनी चाहिये। क्योंकि उन शतपथ श्रुतियों का भी तात्पर्य भगवदाराधन रूप दर्शपूर्णमासादि प्रतिपादन द्वारा उस परा भगवती जगदम्बा में ही है।

१४—यहाँ यह शङ्का उठ सकती है कि यद्यपि श्रुति का तात्पर्य भगवती जगदम्बा में ही है, तथापि संसार में भगवत्प्राप्ति में विघ्न पैदा करने वाले राक्षस, तथा दानादि धर्म से विमुख शत्रु भी हैं ही, तो उनके जीवित रहते मेरा यानी भगवती का आश्रय करके मुझ भगवती की शरण लेना कैसे सम्भव हो सकता है ? मेरे सुख रूप होने पर भी जीवों के लिये मैं सुख की हेतुभूत कैसे हो सकती हूँ ? इस आशङ्का पर श्रुति कह रही है 'अवधूतमिति'। उस भगवती जगदम्बा का आश्रय लेने से ही समस्त राक्षस समूह निरस्त हो जाते हैं, उसी से शत्रुगण भी तेजोहीन हतप्रभ हो जाते हैं। भागवतकार कहते हैं 'त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो'। उसी तरह बृहदारण्यक उपनिषद् ने भी कहा है। गरुड पुराण में भी कहा गया है कि "लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः। येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः"। हे जीवात्मन् ! तुम अखण्ड संवित् (ज्ञानमय) शरीर वाली भगवती अदिति की त्वचारूप ही हो। वह अदिति, करुणार्णवहृदया है, वह तुम्हें अपने आत्मीय रूप में स्वीकार करे। वह सत्यसङ्कल्पा है, उसके ज्ञानलक्षण सङ्कल्प से ही समस्त अनर्थ समूहों का निवारण होना सहज सम्भव है।

१५—जीवात्मा प्रश्न करता है कि मैं तो सैकडों अनर्थों से व्याप्त हूँ। अतः उस परमैश्वर्यशालिनी राजराजेश्वरी जगदम्बा से अपने को अभिन्न कैसे समझूँ ? उस पर श्रुति उत्तर देती है—'त्वमद्रिरसि' इति। हे जीवात्मन् ! तुम पर्वतकूट (पर्वत शिखर) के तुल्य निर्विकार कूटस्थ हो। अनर्थ समूह से उपप्लुत होना तो तुम्हारा औपाधिक स्वरूप ही है। स्वाभाविक स्वरूप तो तुम्हारा निर्विकार ही है। तुम वानस्पत्य पृथुमूल ग्रावा हो। ऊर्ध्वमूल (ऊपर की ओर जड़) और अवाक् शाखा वाला (नीचे को ओर शाखा वाला) वनस्पति जो अश्वत्थ रूप संसार वृक्ष है, तत्सम्बन्धी ग्रावा यानी पाषाणवत् अभेद्य परमात्म स्वरूप ही तुम हो। और तुम पृथुबुध्न' हो, अर्थात् विस्तीर्ण अपरिच्छिन्न अनन्त जो ब्रह्म है, वही बुध्न' अर्थात् मूल है जिसका ऐसे तुम हो। अभिप्राय यह है कि ब्रह्म रूप जो संसार वृक्ष मूल है, तद्रूप ही तुम हो। 'तत्त्वमसि' यह छान्दोग्य श्रुति, इस बात को बता रही है।

चैवायं नपुंसकः। यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥' (श्वे० ५।१०) तस्माददितेरखण्डसंवित्सुखतन्वाः पवाम्बाया-स्तदभिन्ना तदीया त्वक् त्वां स्वरूपत्वेन वेत्तु जानातु। तस्यास्तथा वेद तस्यैव कृतार्थताहेतुत्वात्।

१६—यद्वा हे राजन् सेनापते वा त्वं शर्मासि प्रजारक्षकत्वेन सुखहेतुरसि। त्वत्प्रतापानलेन रक्षोजातिर्निरस्ता। अरातयो दानादि धर्मविमुखा अपि अवधूता निरस्ता एव। त्वमदित्याः प्रवाहरूपेणाखण्डितायाः प्रजायास्त्वगसि त्वगिव प्रियो रक्षकश्चासि। तथैव त्वामदितिः प्रजा स्वकीयत्वेन वेत्तु जानातु कदाचिदपि बाधकं बहिरङ्गं नावगच्छतु। त्वमद्रिवदविचलोऽसि दार्ढ्येन वानस्पत्यः महावृक्षसम्बन्धी विस्तीर्णमूलवदाश्रयणीयोऽसि शत्रुप्रयुक्तशस्त्रास्त्रकुण्ठीकरणाय ग्रावासि। यथा ग्रावसु प्रयुक्तं क्षुरादितैक्ष्ण्यं कुण्ठितं भवति तथैव शत्रुकृतशस्त्रास्त्राणि कुण्ठितानि भवन्त्वित्यर्थः। (वा० सं० १।१४)

अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनं देववीतये त्वा गृह्णामि बृहद्ग्रावासि वानस्पत्य.ड़ सऽइदं देवेभ्यो हवि.ड़शमीष्व सुशमि शमीष्व। हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि ॥ वा० सं० १। १५ ॥

अर्थ--हे हविर्द्रव्य! तुम आहवनीय अग्नि के शरीर हो और यजमान की वाणी के विसर्जन स्थान हो अर्थात् हविर्दान के समय वाग्विसर्जन यानी मौन धारण करे। अतः देवताओं के सन्तोषार्थ मैं तुम्हें उलूखल में डाल रहा हूँ। हे मुसल! यद्यपि काष्ठ से निर्मित हो तथापि अपनी दृढ़ता के कारण पाषाण के समान हो और दीर्घ होने के कारण महान् हो। अग्नि आदि देवताओं पर उपकार करने के लिये तुम इस हविर्द्रव्य के तुष आदि को दूर कर दो। वे तुष, हविर्द्रव्य से बिलकुल दूर हो जाँय ऐसा कर दो। हे हविर्द्रव्य निष्पन्न करने वाले! इधर आओ। हे हविर्द्रव्य को निष्पन्न करने वाले इधर आओ। (इसी प्रकार तीसरी बार भी कहना चाहिये) ॥१५॥

१६—यदि कोई यह शङ्का करे कि पहिले तो स्त्रीत्वेन (स्त्री के रूप में) निर्देश किया और अब पुंस्त्व (पुरुष) के रूप में व्यवहार कैसे किया गया? उसका समाधान यह है कि 'तत्त्व' उभय रूप होने पर भी अनुभय रूप है। 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥" तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू ही कुमार या कुमारी है और तू ही वृद्ध होकर दण्ड के सहारे चलता है तथा तू ही प्रपञ्च रूप से उत्पन्न होने पर अनेक रूप हो जाता है। इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् ने बताया है तथा आगे भी उसी ने कहा है कि "नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः। यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥" यह विज्ञानात्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। यह जो-जो शरीर धारण करता है, उसी-उसी से सुरक्षित रहता है। अतः अखण्ड संवित्सुखमय शरीर वाली अदिति जो पराम्बा है, उससे अभिन्न उसकी अपनी त्वचा के रूप में तुम्हें वह समझ ले। उसके उस प्रकार समझने में ही तुम्हारी कृतार्थता है।

१६—अथवा हे राजन्! या हे सेनापते! 'त्वं शर्मासि' अर्थात् तुम प्रजा के रक्षक होने के कारण सुख के साधन रूप हो। तुम्हारी प्रतापाग्नि-से राक्षस जाति का निरास हो गया। दानादि धर्म से विमुख रहने वाले शत्रुगण भी निरस्त हो ही गये हैं। तुम प्रवाह रूप से अखण्डित प्रजारूप अदिति की त्वचा के समान त्वक् स्वरूप हो यानी प्रिय और रक्षक हो। तथैव अदिति अर्थात् प्रजा, तुम्हें अपना स्वकीय समझे। कदाचिदपि तुम्हें वह अपना बाधक अर्थात् बहिरङ्ग न समझे। तुम अद्रि यानी पर्वत की तरह अविचल रहो। तुम अपनी दृढ़ता के कारण वानस्पत्य हो, अर्थात् महान् वृक्ष से सम्बन्धित विस्तीर्ण मूल की तरह आश्रयणीय यानी आश्रय करने योग्य हो। शत्रुओं के द्वारा प्रयुक्त किये गये शस्त्रास्त्रों को कुण्ठित करने में ग्रावा यानी पाषाण के तुल्य हो। जैसे पाषाण पर प्रयुक्त किये गये क्षुरादि की तीक्ष्णता कुण्ठित हो जाती है, उसी तरह शत्रुकृत शस्त्रास्त्र सब तुम पर कुण्ठित हो जाते हैं॥

१—मूलसंहितापाठेनापि विदितशाब्दन्यायस्य कर्मकाण्डपरत्वं मन्त्राणामनायासेन ज्ञायते। नहि क्वचित्किञ्चित् क्वचित् किञ्चित् प्रतिपादयन् प्रकीर्णप्रायः संग्रहात्मकः सङ्गतिहीनो वेदः। यथा स्वामिदयानन्देन व्याख्यायते। मन्त्रा हि परस्परं सङ्गतिसापेक्षाः सन्ति। तथाहि पूर्वं यजमानः वाचं यच्छेति वाङ्नियमनं श्रुतम्, अत्र च वाग्विसर्गः। एवं पूर्वं व्रतं चरिष्यामीति व्रतग्रहणमन्ते व्रतमचारिषमित्यादिना स्पष्टमेव पूर्वापरसम्बन्धो द्योत्यते। दयानन्दरीत्या तून्मत्तप्रलापवत् क्वचिन्मनुष्येभ्यो विद्युद्विद्योपदेशः, क्वचिद्गृहनिर्माणोपदेशः, क्वचिद्वायुशुद्धिप्रयोगादिकम्।

२—अस्तु प्रकृतमनुसरामः—'हविरावपत्यग्नेस्तनूरिति' (का० श्रौ० सू० २।४।६) उलूखले हविः प्रक्षिपेत्। हे हविः त्वमग्नेः आहवनीयस्य तनूः शरीरमसि। यतस्तत्र क्षिप्तं हविरग्निर्भवति तेन हविरग्नेस्तनूः।

३—अथवा अग्नि शब्देन यस्यै देवतायै हविर्गृह्यते सा लक्षणया बोध्यते। तस्या अपि हविस्तनूर्भवति। कीदृशं तत् ? वाचो विसर्जनम्। यष्मिन् हविषि प्रक्षिप्तेऽध्वर्युणा वाग्विसृज्यते तदिदं वाचो विसर्जनम्।

४—यद्वा अपां प्रणयनकाले नियमिताया यजमानवाचो हविरावपनकाले विसर्गो भवति। तस्मादिदं हविर्वाचो विसर्जनमुक्तम्। 'यां वाअमूᳪं हविर्ग्रहीष्यन् वाचं यच्छत्यत्र वै तां विसृजते' इति (श० १।१।४।८) अतो देववीतये देवानां तर्पणाय त्वां गृह्णामि आवपामीत्यर्थः।

१—मूल संहिता के पाठ से भी शब्दार्थ मर्यादा को जानने वाले विद्वान् की समझ में आ सकता है कि मन्त्रों का अर्थ कर्मकाण्ड परक है यानी मन्त्रों का तात्पर्य कर्मकाण्ड के प्रतिपादन में है। उसमें किसी प्रकार की आयास करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा नहीं है कि यह वेद क्वचित् कुछ, और क्वचित् कुछ प्रतिपादन करता हो। प्रकीर्णप्राय यानी केवल संग्रहात्मक, सङ्गतिहीन यह वेद नहीं है, जैसी व्याख्या स्वामी दयानन्द ने की है। क्योंकि वेद के मन्त्रों में सर्वदा परस्पर सङ्गति की अपेक्षा रहती है। जैसे पहले वाङ्नियमन श्रुत है, और यहाँ पर वाग्विसर्ग है। इसी प्रकार पहिले व्रत का आचरण करूँगा और अन्त में व्रत का आचरण किया। इस कथन से पूर्वापर सम्बन्ध स्पष्ट ही प्रकट हो रहा है। स्वामीं दयानन्द की व्याख्या में तो उन्मत्त-प्रलाप जैसा लगता है। कहीं तो मनुष्यों के लिये विद्युद्विद्या का उपदेश दिया जा रहा है, तो कहीं पर गृह-निर्माण का उपदेश दिया गया है, और कहीं शुद्धि प्रयोग आदि बताये जा रहे हैं।

२—अस्तु प्रकृत प्रसङ्ग की ओर ध्यान दिया जाय। कात्यायन श्रौतसूत्र ने उलूखल में हविः प्रक्षेप करने के लिये कहा है। हे हविः ! तुम आहवनीय अग्नि के शरीर हो। क्योंकि उसमें प्रक्षिप्त हुआ हवि, अग्नि रूप हो जाता है, इसलिये हविष् को अग्नि का शरीर (तनू) कहा गया है।

३—अथवा अग्नि शब्द से जिस देवता के लिये हविष् का ग्रहण किया गया है, उस देवता को भी लक्षणा से बोधित किया जा सकता है। इस हविष् को उस देवता का भी शरीर कह सकते हैं। वाचोविसर्जन का स्वरूप क्या उसका स्वरूप यह है कि हवि को जिसमें डालने पर अध्वर्यु के द्वारा वाग्विसर्जन किया जाता है, वह यहाँ पर वाचोविसर्जन है।

४—अथवा अपाम्प्रणयन के समय यजमान की नियमित वाणी का हविरावपन के समय विसर्ग होता है। इसलिये इस हवि को वाचोविसर्जन कहा गया है। शतपथ ने भी इसी बात को बताया है। कात्यायन ने दो सूत्रों के द्वारा बताया है कि हविर्ग्रहण के समय नियमित की हुई अपनी वाणी को अध्वर्यु खोलता है और यजमान, अपाम्प्रणयन काल में अपनी नियमित वाणी को खोलता है।

५—कात्यायनस्तु—'वाचं विसृजते' (का० श्रौ० सू० २।४।७) 'यजमानश्च' (का० श्रौ० सू० २।४।८) इति सूत्राभ्यां हविर्ग्रहणकाले गृहीतां वाचमध्वर्यु विसृजते यजमानश्चापां प्रणयनकाले नियमितां वाचं विसृजेदित्याह। 'हविष्कृता वा' (का० श्रौ० सू० २।४।९) हविष्कृन्मन्त्रेण वा वाग्विसर्गः इति। 'नानावीजेष्वन्त्ये सामर्थ्यात्' (का० श्रौ० सू० २।४।१०) इति च द्वितीयस्य हविष उलूखलप्रक्षेपे यतवाक्त्वनियमादन्त्ये हविरावपनकाले वाग्विसर्गः कार्यः।

६—'बृहद्ग्रावेति मुसलमादत्ते'—'स इदमित्यवदधाति' (का० श्रौ० सू० २।४।११-१२) स इदमित्यात्तं मुसलमुलूखले स्थापयेत्। हे मुसल त्वं यद्यपि वानस्पत्यो दारुमयस्तथापि दाढर्येन पाषाणसदृशोऽसि तथा दीर्घत्वेन महानसि। हे मुसल स त्वं देवेभ्योऽग्न्यादिदेवोपकारार्थमिदं हव्यं ब्रीहिरूपं शमीष्व शमय भक्षणविरोध्युग्रतुषापनयनेन शान्तं कुरु। तस्यैव पदस्य व्याख्यानं सुशमि शमीष्व सुष्ठु यथा भवति तथा शमीष्व शमय (शमु उपसमे) व्यत्ययेन-विहितस्य शपोलुक्। 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' (पा० सू० ७।३।९५) इतीडागमः। सा च शान्तिर्द्विधा बाह्यवस्तू-पनयनादेका, सा प्रथमावघातेन सम्पद्यते। अन्तःस्थितस्येषद्द्रव्यवर्णस्य मालिन्यापनयनादपरा सेयं फलीकरणेन निष्पद्यते। तमेतमुभयविधं तण्डुलसंस्कारं कुरु। अत एव कण्वो व्याचष्टे 'हव्यं संस्कुरु संस्कृतमित्येवैतदाहेति' काण्व-संहिताव्याख्याने सायणाचार्यः।

७—हविष्कृदेहीति त्रिराह्वयति' (का० श्रौ० सू० २।४।१३) अध्वर्युर्हविष्कण्डनं कुर्वन् हविष्कृदेहीति मन्त्रेण त्रिवारं हविष्कर्त्रीं यजमानपत्नीमग्नीधं वाह्वयति। अध्वर्युस्त्रिवारं मन्त्रं पठेत्। कण्डनं च त्रिवारं कुर्यात्। सायणस्तु—यजमानस्य पत्नी यः कोऽपि वा देवानामर्थे भक्त्या ब्रीहीन् सम्यगवहन्ति तत्सम्बोधनाह्वानं क्रियते हविष्कृदेहि अत्रा-गच्छ। य एव देवानां हविष्कृतस्तानाह्वयति त्रिर्ह्वयति। 'त्रिषत्या हि देवाः' (तै० सं० ६।३।१०।१) इति तैत्तिरीयश्रुतेः। त्रिस्त्रिवारं देवाः सत्यं मन्यन्ते इत्यर्थः। 'अतः पत्न्य वहन्त्यन्यो वा इति' (का० श्रौ० सू० २।४।१४) इति कात्यायनोऽपि।

५—अथवा हविष्कृत् मन्त्र से वाग्विसर्ग करने के लिये भी कहा है। और उलूखल में द्वितीय हवि के प्रक्षेप के समय वाणी का जो संयमन किया था उसे अन्तिम हविरावपन के समय खोल दे।

६—कात्यायन कहते हैं कि 'स इदम्' इस मन्त्र से गृहीत किये हुए मुसल को उलूखल में स्थापित करे। हे मुसल ! तुम यद्यपि दारुमय (वानस्पत्य) हो तथापि अपनी दृढ़ता के कारण पाषाण के समान हो, तथा दीर्घ (लम्बे) होने से महान् हो। हे मुसल ! तुम अग्नि आदि देवताओं के उपकारार्थ इस व्रीहि रूपी द्रव्य को भक्षणविरोधी उग्र-तुषापनयन करके शान्त करो। 'शमीष्व' पद की ही सुशमि शमीष्व' व्याख्या की गई है कि अच्छी तरह से शान्त करो। 'शमु' उपशमे धातु है। व्यत्यय से शप् का लुक् और 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' सूत्र से ईडागम हुआ है। वह शान्ति दो प्रकार से हो सकती है। पहिला प्रकार—तो बाह्यतुषापनयन से, जो प्रथम अवघात से होता है। दूसरा प्रकार—अन्तःस्थित मालिन्य के अपनयन से, जो फलीकरण से होता है। एवञ्च दोनों प्रकार से तण्डुलों का सस्कार करो इसी को सायणाचार्य ने काण्व संहिता की व्याख्या में कहा है।

७—कात्यायन ने कहा है कि हविष्कण्डन करते हुए अध्वर्यु 'हविष्कृदेहि' इस मन्त्र से तीन वार हविष्कर्त्री यजमान पत्नी को अथवा अग्नीध को बुलावे। अध्वर्यु तीन बार मन्त्र पढ़े और कण्डन भी तीन बार करे। सायण का कहना है कि यजमान की पत्नी अथवा जो कोई देवताओं के लिये भक्तिपूर्वक व्रीहियों का अवहनन कर सके उसे सम्बोधित कर आह्वान करे—'हविष्कृदेहि' 'हविः करोति' इति हविष्कृत् इस व्युत्पत्ति से जो हवि को करता है उसे हविष्कृत् कहते हैं। हे हविष्कृत् ! यहाँ आओ। जो भी देवताओं के लिये हविर्निर्माण करने वाले हों उन्हें तीन बार बुलाना चाहिये। क्योंकि तीन बार कही गई वात को देवता सत्य मानते हैं।

८—स्वामिदयानन्दस्तु—"विद्वद्भिर्यज्ञो देववीतये वाचो वेदवाण्या उच्चारणेन हविषो विसर्जनम् अग्नेर्मध्ये क्रियते। सोऽग्निः संयोगेन विस्तृतो भूत्वाग्नेर्भौतिकस्य तनूः शरीरवदसि भवति। अतोऽहं सर्वोजनस्त्वां तं गृह्णामि। हे विद्वन् यस्य हविषः संस्काराय बृहद्ग्रावा वानस्पत्यश्चास्यस्ति तदिदं हविर्देवेभ्यो विद्वद्भ्यः सुशमि शमीष्व कुतः ये मनुष्या वेदादीनि शास्त्राणि पठन्ति पाठयन्ति च तानेवेयं वाक् हविष्कृदेहि। हविष्कृदेहीत्याह"। (पृ० ८१)

९—तत्राध्याहारव्यत्ययादिबाहुल्यमेव दोषः। एवमध्याहारेण स्तुतिवाक्यानां निन्दापरत्वमपि योजयितुं शक्यते। वाच इत्यनेन विसर्ग इत्यस्य श्रुतसम्बन्धमुपेक्ष्य उच्चारणेन इत्यश्रुतेन सम्बन्धकल्पनमसङ्गतमेव। हविषोविसर्जनमित्यस्य सम्बन्धाय 'अग्नेर्मध्य' इत्यध्याहारोऽपि अप्रामाणिक एव। सर्वो जन इत्यस्याप्यध्याहार एवं विध एव।

१०—किञ्च त्वन्मते होमेन देवानां विदुषां कथं भोगप्राप्तिर्भवति। तेषां तु घृतान्नादिदानेनैवाधिका तृप्तिर्भवति। देवानामुत्तमगुणानामपि प्राप्तिर्होमापेक्षया सत्सङ्गादिभिरेवाधिक सम्भवति। हविषो ग्रावभिः पाषाणैः कथं संस्कारो भवति? सुगन्ध्यादिपदार्थयुक्त इति कस्य पदस्यार्थः? सुशमिशब्दस्य दुःखनाशकमुत्तमपदार्थसम्पादयितृ इत्यर्थः कृतः, शमीष्वेत्यस्य सर्वसुखानां प्राप्त्यर्थं सर्वदुःखानां निवृत्त्यर्थं वारं वारं सम्पादयस्वेत्यादिकोऽर्थो विहितः तत्सर्वं सर्वथा निर्मूलमेव। ये वेदादिशास्त्राणि पठन्ति तेषामेव होमदानयोग्यपदार्थविधात्री वेदवाणी लभ्यते इति कस्य पदस्यार्थः? एहीत्यस्य पुरुषव्यत्ययेनैतीत्यर्थे स्वीकृतेऽपि हविष्कृदिति पदस्य तथाविधोऽर्थः कथमुपलभ्यते? नहि

८—किन्तु स्वामी दयानन्द ने यह व्याख्या की है कि "विद्वान् लोग वेद वाणी का उच्चारण कर हवि का विसर्जन करते हैं। अर्थात् अग्नि में डालते हैं। तब वह अग्नि हवि के संयोग मे विस्तृत होकर भौतिक अग्नि की तनू यानी शरीर के समान 'असि' की व्याख्या 'भवति' अर्थात् होता है। इसलिये मैं और सभी लोग तुम्हारा ग्रहण करते हैं। हे विद्वन्! जिस हवि के संस्कारार्थ बृहद्ग्रावा और वानस्पत्य वह है, वही यह हवि देवताओं के लिये, विद्वानों के लिये उपशमन करे, क्योंकि जो मनुष्य वेद-शास्त्रों को पढ़ते-पढ़ाते हैं, उन्हीं को यह वाणी 'हविष्कृद् एहि, हविष्कृदेहि' ऐसा कहती है।" (पृ० ८१)

९—पहिले तो इस व्याख्या मे व्यत्यय-अध्याहार इतनी अधिक मात्रा में ग्रहण किया गया है, जो दोषावह हो गया है। इस प्रकार अध्याहार करके तो स्तुतिवाक्यों को निन्दापरक भी लगाया जा सकता है। 'वाचः' के साथ 'विसर्ग' के श्रुतसम्बन्ध की उपेक्षा करके अश्रुत जो 'उच्चारण' है, उसके साथ सम्बन्ध की कल्पना करना असङ्गत ही है। हविर्विसर्जन का सम्बन्ध करने के लिये 'अग्नेर्मध्ये' का अध्याहार करना भी अप्रामाणिक ही है। 'सर्वोजनः' का अध्याहार करना भी उसी तरह अप्रामाणिक है।

१०—किञ्च आपके मत से होम के द्वारा देवता यानी विद्वानों को भोग की प्राप्ति कैसे हो सकेगी? उनकी तो घृत, अन्न, आदि के दान से ही अधिक तृप्ति हुआ करती है। देवताओं में उत्तम गुणों को प्राप्ति भी होम की अपेक्षा सत्सङ्गादि से ही होना अधिक सम्भव है। हवि का संस्कार पाषाणों से कैसे हो सकता है? 'सुगन्धी आदि पदार्थ से युक्त' यह अर्थ, किस शब्द का है? 'सुशमि' शब्द का अर्थ, दुःखनाशक उत्तम पदार्थ का सम्पादयिता—यह अर्थ कर दिया है, 'शमीष्व' का अर्थ, सर्व सुखों की प्राप्ति के लिये एव सर्व दुःखों की निवृत्ति के लिये बार-बार सम्पादन करो—किया है। किन्तु यह अर्थ, सर्वथा निर्मूल ही है। 'जो लोग वेदादि शास्त्रों को पढ़ते हैं, उन्हीं को होमदानादि योग्य पदार्थ का विधान करने वाली वेदवाणी प्राप्त होती है'—यह किस पद का अर्थ है? 'सहि' में पुरुषव्यत्यय करके 'एति' अर्थ स्वीकृत करने पर भी 'हविष्कृत्' पद का भी तथाविध अर्थ कैसे प्राप्त होता है? पुनरुच्चारण करने से उतना अर्थ की प्राप्ति होना सम्भव नहीं है। यह जो कहा है कि हविष्कृत्' पद से यज्ञ सम्पादनार्थ ब्राह्मण

पुनरुच्चारणेन तावानर्थः सम्भवति। यदुक्तम् (हविष्कृत्) अत्र यज्ञसम्पादनाय ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां चतुर्विधा वेदाध्ययनसंस्कृता सुशिक्षिता वाक् गृह्यते' (पृ० ७९) इति, तदपि न काञ्चिद्राजाज्ञामनुसरति इति कृत्वा तथार्थत्वे प्रमाणाभावात् । त्रैवर्णिकेतरेषामुपनयनविधानाभावात् । वेदाध्ययनस्यापशूद्राधिकरणादौ निषिद्धत्वाच्च ।

११—भावार्थे तु "ये चैवं सर्वेषां प्राणिनां सुखाय पूर्वोक्तं त्रिविधं यज्ञं नित्यं कुर्वन्ति तान् सर्वे मनुष्या हविष्कृदेहि हविष्कृदेहीति सत्कुर्युः।" (पृ० ८१) तदेतदपि पूर्वोक्तविरुद्धमेव, उभयत्र स्थलेऽर्थभेदनिरूपणात् । तत्र हविष्कृत्शब्दस्य वेदवाणीत्यर्थः कृतः, इह तु त्रिविधयज्ञकर्ता हविष्कृदुच्यते इत्युभयत्रार्थो भिद्यते । सुगन्धादिद्रव्यहोम-द्वारा वायुवृष्टिशुद्धिस्तु प्रायेण सर्वत्रैवावर्त्यते ।

१२—यत्तु—"बहूलं छन्दसि'— (पा० सू० २।४।७३) इति श्यनो लुगित्युक्त्वा, महीधरेण शपो लुगित्यशुद्धं व्याख्यात"मिति कथनं, तदप्यशुद्धमेव, सूत्रार्थानवबोधात् । अत एव विवरणकारो ब्रह्मदत्तः शपोलुकि श्यन्नभाव इति व्याचष्टे । महाभाष्यकाररीत्या च सामान्येन शपः प्राप्तिः । शपः स्थान एव श्यन्नाद्या आदेशा भवन्ति । तस्माच्छपो लुकि श्यनादिप्राप्तिरेव न भवति । यदपि सुशमि इति (पा० सू० ३।२।१४१) इत्यनेन शमेर्घिनुण् इत्युक्त्वा, इदमपि उव्वटमहीधराभ्यामन्यथा व्याख्यातमित्युक्तं, तदपि चापलमेव सुष्ठु शान्तं यथा भवति तथा शमीष्व इत्यर्थमन्तरा द्विविधायाः शान्तेरसिद्धेः । तात्पर्यानुरोधी स्वरव्यत्ययस्त्विष्ट एव ।

१३—यत्तु केनचिदुक्तं शतपथानुसारि दयानन्दीयं व्याख्यानं तत्तु मूढ़जनप्रतारणमेव । तथाहि—'अथहविरा-बपति । अग्नेस्तनूरसि वाचोविसर्जनमिति यज्ञो हि हविः तेनाग्नेस्तनूर्वाचो बिसर्जनमिति यां वा अमू ७ हविर्ग्रहीष्यन्

क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों की वेदाध्ययन संस्कृता, सुशिक्षिता चतुर्विधा वाणी का ग्रहण किया गया है, किन्तु यह कथन भी कोई राजाज्ञा नहीं है। उक्त अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है। त्रैवर्णिकों के अतिरिक्त लोगों का उपनयन संस्कार विहित नहीं है, और अपशूद्राधिकरण आदि में विद्याध्ययन का निषेध भी किया गया है।

११—भावार्थ बताते समय पृष्ठ ८१ पर जो कहा है कि 'जो लोग, समस्त प्राणियों के सुख के लिये पूर्वोक्त त्रिविध यज्ञ का नित्य अनुष्ठान करते हैं, उनका सत्कार, सभी मनुष्य 'हविष्कृदेहि–हविष्कृदेहि' कह कर किया करें।' किन्तु यह कथन भी पूर्वोक्त के विरुद्ध ही है। क्योंकि दोनों जगह भिन्न-भिन्न अर्थ का निरूपण किया गया है। वहाँ पर 'हविष्कृत्' शब्द का वेदवाणी अर्थ किया है, किन्तु यहाँ पर 'त्रिविध यज्ञकर्ता' अर्थ 'हविष्कृत्' शब्द का बता रहे हैं—इस कारण अर्थभेद हो गया है। सुगन्धि द्रव्यादि के द्वारा होम करने से वायु-वृष्टि-शुद्धि का होना तो प्रायः सर्वत्र ही आप बार-बार बता रहे हैं।

१२ यह जो आपने कहा है कि 'बहुलं छन्दसि' इस पाणिनि सूत्र से 'श्यन्' का लुक् होता है, किन्तु महीधर ने जो 'शप्' का लुक् बताया है, वह अशुद्ध है''—आपका यह कथन भी अनुचित ही है, क्योंकि पाणिनि सूत्र के अर्थ का ज्ञान आपको नहीं है। विवरणकार ब्रह्मदत्त ने व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है—'शपो लुकि श्यन्नभावः'। महा-कार की रीति से सामान्यतः 'शप्' की प्राप्ति होती है। 'शप्' के स्थान में 'श्यन्' आदि आदेश होते हैं। तस्मात् 'शप्' का लुक् होने पर तो 'श्यन्' -आदि की प्राप्ति का सम्भव ही नहीं है। और जो यह कहा है कि ''सुशमि इस प्रयोग में पाणिनि ३।२।१४१ से 'शम्' धातु से 'घिनुण्' होता है। उव्वट–महीधर ने अन्यथा व्याख्या की है।'' यह सब कहना चपलता से खाली नहीं है। क्योंकि 'सुष्ठु शान्तं यथा भवति तथा शमीष्व' इस अर्थ के सिवाय द्विविध शान्ति सिद्ध नहीं हो सकती। तात्पर्यानुरोधी स्वरव्यत्यय तो इष्ट है ही।

१३—दयानन्दी व्याख्या किसी तत्सजातीय बन्धु ने शतपथ ब्राह्मणानुसारी होने की बात कही है। इस बात को कहकर मूढ़ जनों की प्रतारणा ही उसने की है। शतपथ (१।१।४।८) ब्राह्मण, जो ऊपर मूल में दिया गया है,

वाचं यच्छत्यत्र वै तां विसृजते तद्यदेतामत्र वाचं विसृजते। एष हि यज्ञ उलूखले प्रत्यष्ठादेष हि प्रासारि तस्मादाह वाचो विसर्जनमिति।' (श० १।१।४।८) अत्र स्पष्टमग्नेस्तनूरसीति मन्त्रेण हविरावपनं विधीयते। किमेतद्दयानन्देनोक्तम् ? यज्ञो हीति यस्मात् यज्ञो यज्ञसाधनं हविः, अतोऽग्नेः शरीरमेव हविः। दयानन्दस्तु वाचो वेदवाण्या उच्चारणेन हविषोऽग्नेर्मध्ये प्रक्षेपमुक्त्वान्। किमयमर्थोऽत्र प्रतिपाद्यते ? अत्र तु नियमिताया वाचो विसर्जनमेवोच्यते। अथ वाचं यच्छति इति। या वाग् नियमिता तामेवानेन मन्त्रभागेन विसृजते। अतो विसृज्यते हविरनेनेति विसर्जनं हविरिति मन्त्रपाठस्य एतद्वाग्विसर्जनमुपपादयति तद्यदिति। एतां वाचं विसृजते यत्तद्युक्तमेव। हि यस्मादेष यज्ञः यज्ञसाधनं हविः (लाङ्गलं जीवनमित्यत्र जीवनसाधनत्वात् यथा लाङ्गले जीवनपदं प्रयुज्यते तद्वत्) उलूखले प्रत्यष्ठात् प्रतिष्ठितमभूत्। यस्माच्चैष यज्ञः प्रासारि प्रासारितोऽभूत् अतो हेतोर्वाङ् नियमनस्य प्रयोजनं नास्ति, इति तद्विसर्जनमेव युक्तमित्यर्थः।

१४—सपदि पुरा मानुषीं वाचं व्याहरेत् ततो वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेत्। यज्ञो वै विष्णुस्तद् यज्ञं पुनरारभते तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिर्देववीतये त्वा गृह्णामीति देवानवदित्यु हि ह वगृ ह्यते' (श० १।१।४।९) हविरावपनात् पूर्वं लौकिकमानुषवाग्व्याहारे प्रायश्चित्तमाह—यदि मानुषीं वाचं व्याहरेत् इद विष्णुर्विचक्रमे इत्यादिकां वैष्णवीमृचं वैष्णवं यजुर्वा जपेत् विष्णुरेव यज्ञस्ततो वैष्णवमन्त्रजपेन पुनर्यज्ञमारभते। देववीतये इति मन्त्रशेषस्याभिप्रायमाह—देवानवदितीति। यष्टव्यान् देवान् अवत् अवतु तर्पयत्वित्यर्थः। अनेनैवाभिप्रायेण हविर्गृ ह्यते। अतः हे हविर्देववीतये त्वा गृह्णामीति देववीतये देवानां तृप्तये इति मन्त्रगतपदाभिप्रायः। सर्वथापि सिद्धान्तानुसारि शतपथव्याख्यानं न दयानन्दीयव्याख्यानस्य गन्धोऽप्यत्र दूरतोऽपि भाति।

१५—अथमुसलमादत्ते। बृहद्गोवासि वानस्पत्य इति बृहद्ग्रावाह्येष वानस्पत्यो ह्येष तदवधाति स इदं देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्वेति स इदं देवेभ्यो हविः सꣳस्कुरु साधु सꣳस्कृतꣳ संस्कुर्वित्येवैतदाह' (श० १।१।४।१०)। शातपथी श्रुतिर्मुसलादानं विधत्ते तदनुगुणञ्च मन्त्रमपि व्याख्याय सस्करोति बृहद्ग्रावासि वानस्पत्य इति। यद्यपि वानस्पत्यो मुसलस्तथापि सोमसंस्कारकग्राववत् हविःसंस्कारकत्वसाम्यात् तत्र ग्रावत्वं गौणम्, दीर्घत्वाच्च बृहत्त्वम् इति मुसलस्य बृहद्ग्रावाभिधेयता प्रसिद्धेत्यर्थः। तस्य मुसलस्योलूखले प्रक्षेपणं समन्त्रकं विधत्ते श्रुतिः—तदवधाति। स इदं देवेभ्य इत्यादि मन्त्रेण। शमीष्वेतिमन्त्रपदस्यार्थमाह—देवेभ्यः इदं हविः सस्कुरु शमीष्व दोषोप-

---

उसको पढ़ने से स्पष्ट हो जायगा कि 'अग्नेस्तनूरसि' मन्त्र से 'हविरावपन' का विधान किया गया है। क्या यह वाक्य, दयानन्द ने कहा है ? 'हवि' को यज्ञ साधन कहा गया है, इसलिये वह 'यज्ञ' स्वरूप ही है। अतः 'हवि' को अग्नि का शरीर ही समझना चाहिये। दयानन्द ने तो कहा है कि 'वेदमन्त्र का उच्चारण कर हवि को अग्नि में डाल देना चाहिये।' क्या यह अर्थ यहाँ प्रतिपादित किया गया है ? यहाँ तो नियमित की गई वाणी का विसर्जन ही बताया जा रहा है।

१४—हविरावपन के पूर्व लौकिक मानुष वाणी का उच्चारण करे तो उसे प्रायश्चित्त के रूप में वैष्णवी ऋचा का अथवा वैष्णव यजुर्मन्त्र का जप करने के लिये कहा गया है। क्योंकि विष्णु ही यज्ञ रूप है इसलिये वैष्णव मन्त्र के जप करने से यज्ञ का पुनः आरम्भ माना जाता है। 'देववीतये' इस मन्त्रशेष के अभिप्राय को बता रहे हैं—'यष्टव्य देवताओं को वह तृप्त करे। इसी अभिप्राय से हविर्ग्रहण किया जाता है। यह शतपथ में किया गया व्याख्यान सर्वथैव सिद्धान्तानुसारी है। दयानन्दी व्याख्या का गन्ध भी इसमें नहीं है।

१५—शातपथी श्रुति ने मुसलादान का विधान किया है। वह 'मुसल' वानस्पत्य अर्थात् दारुमय है, तथापि सोमसंस्कारक ग्रावा की तरह हविः संस्कारकता के साम्य को देखकर उससे ग्रावत्व गौण समझना चाहिये। दीर्घ होने के कारण उसे बृहत् बताया गया है। इसी कारण मुसल की बृहद्ग्रावाभिधेयता प्रसिद्ध है। उस मुसल का

शमनेन संस्कुरु । सुशमि शमीष्वेतिमन्त्रस्य तात्पर्यमाह साधु संस्कृतं संस्कुर्वित्येवैतदाह—साधुयथास्यात्तथा बाह्यान्तः-स्थूलतुषसूक्ष्ममालिन्यापनयनाय नयनेन संस्कुर्वित्यर्थः। एतावता उव्वटमहीधरयोरर्थ एव समर्थितो भवति। सुष्ठु दुखं शमितुं शीलं धर्मः साधुकरणं वा यस्य तत्, दुःखनाशकमुत्तमपदार्थानां सुप्रापकं हविरित्यर्थः समर्थ्यं ते सुशमीत्यस्य शमीष्वेति क्रियाविशेषणतयैव साधु संस्कृतं संस्कुरु सुशमि शमीष्व साधु यथा संस्कृतं तथा संस्कुर्वित्येवार्थः। सायणेनापि काण्वसंहितायां तथैव व्याख्यातम्।

१६—'अथ हविष्कृतमुद्वादयति। हविष्कृदेहीति वाग्वै हविष्कृद् वाचमेवैतद्विसृजते वागुवै यज्ञः। तद् यज्ञमेवैतत्पुनरुपह्वयते (श० १।१।४।११) अत्रापि स्पष्टं शतपथश्रुत्या हविष्कृदेहीतिमन्त्रेण हविष्कृदाह्वान विधीयते। उद्वादयति—उच्चैराह्वयतीत्यर्थः। मन्त्रकाण्डे द्विराम्नानादत्रापि द्विः पाठः। सूत्रेण त्रिराह्वानमुक्तम्। त्रिषत्याहि देवा' (तै० सं० ६।३।११।१) इति तैत्तिरीयश्रुतेः।

१७—हविष्कृच्छब्दार्थमाह—वाग्वैहविष्कृत् इति। निर्वापादौ मन्त्ररूपाय वाचो हविष्करणसाधनत्वात् वागेव हविष्कृत्। अतस्तामनेनैव मन्त्रेणाह्वयन् हविर्ग्रहणकाले नियमितां वाचं विसृजेत्। अत एव कात्यायनेन अग्नेस्तनूरसीति मन्त्रेण हविष्कृदेहीति मन्त्रेण वा वाग्विसर्जनं कर्त्तव्यमिति विकल्पेन सूत्रितम्। 'अग्नेस्तनूरसीति वाचं विसृजेत्' (का० श्रौ० सू० २।८१) 'हविष्कृता वा' (का० श्रौ० सू० २।८३) 'वागुवै यज्ञः' (श० १।१।४।११) या वाग्हविष्कृत् सैव खलुयज्ञः कुतः तस्य तन्निर्वर्त्यत्वात्। तत् तथा सति एतेन वागात्मिकाया हविष्कृत आह्वानेन यज्ञमेव पुनराह्वयते इति शतपथे सायणाचार्योऽपि तथैव व्याख्याति।

१८—शतपथवचनस्यार्थमबुद्ध्वैव स्वामी दयानन्दः हविष्कृदेहीत्यस्यानुपपन्नमेव यं कश्चिदर्थमुक्तवान्। 'तानि वा एतानि। चत्वारि वाच एहीति ब्राह्मणस्यागह्याद्रवेति वैश्यस्य च राजन्यबन्धोश्चाधावेति शूद्रस्य स यदेव ब्राह्मणस्य तद हेतद्धि यज्ञियतममेतदुह वै वाचः शान्ततमं यदेहीति तस्मादेहीत्येव ब्रूयात् (श० १।१।४।१२) ब्रह्मक्षत्रादिवर्णभेदो-

---

उलूखल में समन्त्रक प्रक्षेपण करना श्रुति ने बताया है। 'शमीष्व' इस मन्त्र पद का अर्थ कहते हैं—देवताओं के लिये इस हवि का संस्कार करो। 'शमीष्व' अर्थात् दोषोपशमन करते हुए संस्कार करो। 'सुशमि शमीष्व' इस मन्त्र का तात्पर्य बताया है कि साधुनया संस्कृत हो, ऐसा संस्कार करो। साधु यथास्यात्तथा बाह्यान्तःस्थूलतुषसूक्ष्ममालिन्य के अपनयनार्थ आँख से देखकर संस्कार करो। सायण ने भी काण्व संहिता मे ऐसी ही व्याख्या की है।

१६—शतपथ (१।१।४।११) में भी स्पष्ट कहा है कि 'हविष्कृदेहि' इस मन्त्र से हविष्कृत् का आह्वान किया जाता है। 'उद्वादयति' का अर्थ है—उच्चैः आह्वयति। मन्त्र काण्ड में दो बार आम्नात रहने से यहाँ पर भी दो बार उसका पाठ किया गया है। तैत्तिरीय श्रुति के आधार पर सूत्रकार ने त्रिराह्वान के लिये बताया है।

१७—'हविष्कृत्' शब्द के अर्थ को बताया है—निर्वाप आदि में मन्त्र रूपा वाणी, हविष्करण का साधन होने से 'वाक्' को ही हविष्कृत् कहा गया है। अतः उस वाणी रूप हविष्कृत् को इसी मन्त्र से बुलाते हुए हविर्ग्रहण के समय अपनी नियमित वाक् का विसर्जन करे। अत एव कात्यायन ने विकल्प प्रदर्शित कर 'अग्नेस्तनूरसि' मन्त्र से अथवा 'हविष्कृदेहि' मन्त्र से वाग्विसर्जन करने के लिये कहा है। जो वाक् रूप हविष्कृत् है, वही तो यज्ञ है, क्योंकि यज्ञ की निष्पत्ति, उस वाक् से ही हो पाती है। एवञ्च इस वागात्मिका, हविष्कृत् के आह्वान से मानो यज्ञ का ही पुनराह्वान किया जाता है। इस शतपथ की व्याख्या के अनुसार सायणाचार्य ने भी वैसी ही व्याख्या की है।

१८—शतपथ श्रुति के अर्थ की अनभिज्ञता के कारण स्वामी दयानन्द ने 'हविष्कृदेहि' का मनगढ़न्त अर्थ कर दिया है, जो अनुपपन्न है। ब्रह्म क्षत्रादि वर्ण भेद के आधार पर हविष्कृदाह्वान मन्त्र में कुछ विशेष विवक्षा से शतपथ ने बताया है कि वाणी के चार रूप होते है। वैश्य के लिये 'हविष्कृदागहि' यह मन्त्र है, क्षत्रिय (राजन्यबन्धु)

पजीवनेन हविष्कृदाह्वानमन्त्रे विशेषविवक्षयोच्यते। चत्वारि वाच इति। वाचः सम्बन्धीनि चत्वारि रूपाणि सन्ति। कानि तानीत्याह –'वैश्यस्य हविष्कृदागहि' इति मन्त्रः राजन्यबन्धोः क्षत्रियजातेः हविष्कृदाद्रवेति हविष्कृदाधावेति शूद्रस्य' आपस्तम्बस्तु राजन्यवैश्ययोर्वैपरीत्येनासूत्रयत्–'हविष्कृदेहीति ब्राह्मणस्य हविष्कृदागहीति राजन्यस्य हविष्कृदाद्रवेति वैश्यस्येति हविष्कृदाधावेति शूद्रस्य' (आपस्तम्ब श्रौ० सू० १।१९।९)।

१९—एवं पूर्वपक्षतया ब्राह्मणादिवर्णप्रयुक्तं विशेषमुपन्यस्य स्वमतं निगमयति स यदेव ब्राह्मणस्य एहीति। एतत्खलु यज्ञियतमम् अतिशयेनयज्ञार्हम् 'इड एह्यादित एहि' (वा० सं० ३।२७) इत्यादावन्यत्रापि यज्ञे प्रयोगात्। एतदुह वाचः आगहि आद्रवेत्यादेः सकाशात् एहीत्येवातिशयेन शान्तम्। प्रार्थनावाक्येष्वेहीति सर्वत्र प्रयोगात् आद्रवादीनाम् निकृष्टप्रेषणरूपत्वाच्चेत्यर्थः। नात्र हविष्कृदेहीत्यनेन यज्ञसम्पादनाय ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां चतुर्विधा वेदाध्ययनसंस्कृता सुशिक्षिता वाक् गृह्यत इति सिद्धयति वेदाध्ययनसंस्कृतायाः शिक्षिताया वाचश्चातुर्विध्यायोगात्।

२०—प्रकृते हविष्कृदेहि इत्यत्रैव वर्णभेदेन एहि, आगहि, आद्रव, आधावेति भेदः कार्य इति पूर्वपक्षं कृत्वा स्वमतेन एहीत्येव सर्वत्र प्रयोक्तव्य इत्याह श्रुतिः। अर्थात् ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रेषु वर्णभेदेन हविष्कृदागहि हविष्कृदाद्रव हविष्कृदाधावेति प्रयोगभेदमकृत्वा हविष्कृदेहीति ब्राह्मणस्यैव सर्वत्र प्रयोगः कार्यः। यज्ञियतमत्वाच्छान्ततमत्वाच्च। तस्माच्छतपथानुसारि तद्व्याख्यानमिति कथनं साहसमात्रम्।

२१—यत्तु केनचिदुक्त'मनेनैव शूद्राणामपि वेदाध्ययनयज्ञादावधिकारः सिद्धयतीति (पृ० ७९ हि०) तत्सत्यम्, 'निषादस्थपतिं याजये (मै० सं० २।२।४) दित्यत्र शूद्राणामप्यधिकाराभ्युपगमात्। तत्रापि हविष्करणाय हविष्कृदेही-

---

के लिये 'हविष्कृदाद्रव' यह मन्त्र है, और शूद्र के लिये 'हविष्कृदाधाव' यह मन्त्र है। किन्तु आपस्तम्ब ने राजन्य और वैश्य के लिये कुछ विपरीत बताया है—'ब्राह्मण के लिये 'हविष्कृदेहि', राजन्य के लिये 'हविष्कृदागहि और वैश्य के लिये 'हविष्कृदाद्रव', तथा शूद्र के लिये 'हविष्कृदाधाव' यह मन्त्र है।

१९—इस प्रकार पूर्व पक्ष के रूप में ब्राह्मणादि वर्ण प्रयुक्त विशेष का उपन्यास करके स्वमत को सिद्धान्त रूप में कहा है। क्योंकि यही यज्ञिय मत है, अर्थात् अधिकतया यज्ञ के योग्य है। वाजस० संहिता (३।२७) में और अन्यत्र भी यज्ञ में प्रयोग किया जाता है। 'आगहि आद्रव' इत्यादि से 'एहि' पद ही अतिशय शान्त है। प्रार्थना वाक्यों में सर्वत्र 'एहि' का प्रयोग किया जाता है। और 'आद्रवादि' पदों का प्रयोग, निकृष्ट प्रेषण के रूप में किया जाता है। श्रुति वाक्यों के इस विवेचन से यह सिद्ध नहीं हो रहा है कि 'हविष्कृदेहि' से यज्ञ सम्पादनार्थ ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रों की चार प्रकार की वेदाध्ययन से संस्कृत हुई सुशिक्षिता वाणी का ग्रहण किया जाय। क्योंकि वेदाध्ययन से संस्कृत हुई शिक्षित वाणी चार प्रकार की नही हुआ करती।

२०—प्रकृत प्रसङ्ग में 'हविष्कृदेहि' में ही वर्ण भेद से 'एहि, आगहि, आद्रव, आधाव'—यह भेद करना चाहिये—ऐसा पूर्व पक्ष करके अपने मत के अनुसार 'एहि' का ही सर्वत्र प्रयोग करने के लिये श्रुति ने बता दिया है। अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों में वर्ण भेद से 'हविष्कृदागहि', 'हविष्कृदाद्रव', 'हविष्कृदाधाव' इन प्रयोगों को न करके 'हविष्कृदेहि' इस ब्राह्मण का ही सर्वत्र प्रयोग करना चाहिये। क्योंकि उसी में यज्ञियतमत्व और शान्ततमत्व है। तस्मात् दयानन्द स्वामी की व्याख्या को शतपथानुसारी बताना साहसमात्र है।

२१—यह जो किसी ने पृ० ७९ पर कहा है कि 'इसी से शूद्रों को भी वेदाध्ययन यज्ञ आदि में अधिकार का होना सिद्ध होता है।' यह ठीक कह रहे हो, क्योंकि 'निषादस्थपतिं याजयेत्' यहाँ पर शूद्रों का भी अधिकार माना गया है। वहाँ भी हविष्करण के लिये 'हविष्कृदेहि' यह आह्वान इष्ट है। किन्तु इतने मात्र से सभी कर्मों में

त्याह्वानस्येष्टत्वात्। न चैतावता सर्वकर्मस्वधिकारः, राजसूयादौ ब्राह्मणनामप्यनधिकारात्। वेदाध्ययनं तूपनयन-सापेक्षयमित्युक्तमेव। 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यमिति त्रयाणामेवोपनयनविधानात्। चतुर्थस्य तदभावादेव अध्ययनानधिकारोऽपि सिद्ध एव।

२२—ऐतरेयब्राह्मणे द्वितीयपञ्चिकायां एकोनविंशे खण्डे यच्च—'ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत ते कवष-मैलूषं सोमादनयन् दास्याः पुत्रः कितवोऽब्राह्मणः कथं नो मध्येऽदीक्षिष्टेति।……………एतदपोनप्त्रीयमपश्यत् प्रदेवत्रा ब्रह्मणे गातु रेत्विति (ऋ० सं० १०।३०।१) तेनापां प्रियं धामोपागच्छत्।' (ऐ० ब्रा० २१९) इति दासीपुत्रस्या-ब्राह्मणस्य अपोनप्त्रीयसूक्तदर्शनात् वेदे तस्याधिकारो व्यक्तः। इत्थमेव शाङ्खायनब्राह्मणेऽपि १२।३ 'माध्यमाः सर-स्वत्यां सत्रमासत। तद्धापि कवषो मध्ये निषसाद तं हेम उपोदु र्दास्या वै त्वं पुत्रोऽसि न वयं त्वया सह भक्षयिष्याम इति। सह क्रुद्धः प्रद्रवत् सरस्वतीमेतेन सूक्तेन तुष्टाव तं हेयमन्वियाय तत उहेमे निरागा इव मेनिरे तं हान्वावृत्योचु-र्ऋषे नमस्ते अस्तु' (शाङ्खायनब्राह्मणम् १२।३)

छागलेयोपनिषद्यपि प्रारम्भ एव 'ॐ ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत। तेऽथ कवषमैजूषं दास्याः पुत्र इति दीक्षाया आच्छिदन्' महाभारतेऽपि शान्तिपर्वणि ३२७ अध्याये श्लोक ४९—'श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः। वेदस्याध्ययनं हीदं तच्च कार्यं महत्स्मृतम्॥' महाभारते वनपर्वणि अध्याये १३४ श्लोक ११—'चत्वारोवर्णा यज्ञमभि-संवहन्ति।' (वृहद्धारीत स्मृतौ ६।२५७) 'मन्त्राधिकारिणः सर्वे……… …लघुविष्णुस्मृतौ तु अ० ४ श्लोक ९ 'पञ्च-यज्ञविधानं तु शूद्रस्यापि विधीयते।' इत्यादिकं तत्तु तत्तदर्थानवबोधविजृम्भिता भ्रान्तिरेव, ऐलूषकवषस्य शूद्रत्वासिद्धेः। नह्यब्राह्मणत्वेन शूद्रत्वं सम्भवति, क्षत्रियवैश्ययोरप्यब्राह्मणत्वप्रसिद्धेः। विद्यातपोभ्यां हीनस्य जन्मना ब्राह्मणस्यापि मुख्यब्राह्मणत्वाभावेनाब्राह्मणत्वोपपत्तेश्च। नापि दास्याः पुत्रत्वेनाब्रह्मणत्वम्, विनतायामपि पणविशेषेण दासीशब्द-प्रयोगात्, दास्या विनतायाः पुत्रस्य गरुडस्य शूद्रत्वायोगात्। तेन ऐलूषः कवषो जन्मना ब्राह्मणोऽपि सन् बहुकालपर्यन्तं व्रात्य एवासीत्। तस्मात्तस्य दास्याः पुत्रत्वाब्राह्मणत्वाद्यभिधानम्। चातुर्वर्ण्यसंस्कृतिविमर्शे "नापि कस्यचित् सूक्तदर्श-नेन तज्जातीयस्य वेदाध्ययनाधिकारसिद्धिः, देवशुन्याः सरमाया अपि सूक्तदर्शनेऽपि तज्जातीयानां वेदाध्ययनाधिकारा-सिद्धेः" इत्यादि स्थितम्।

उसका अधिकार सिद्ध नहीं हो पाता है। इतना ही नहीं, राजसूय आदि यागों में ब्राह्मणों को भी अनधिकारी कहा गया है। वेदाध्ययन तो उपनयन सापेक्ष है यह कही चुके हैं। त्रैवर्णिकों के लिये ही उपनयन का विधान किया गया है। चतुर्थ को उपनयन का अधिकार न होने से ही उसे अध्ययन का अनधिकार (अधिकार न होना) है, यह स्पष्ट होता है।

२२—ऐतरेय ब्राह्मण, ऋक् संहिता में दासी पुत्र अब्राह्मण को अपोनप्त्रीयसूक्त के दर्शन होने का उल्लेख है, इसलिये वेद में उसका अधिकार होना स्पष्ट हो रहा है। इसी प्रकार शाङ्खायन ब्राह्मण और छागलेयोपनिषद् तथा महाभारत और वृहत् हारीत स्मृति, एव लघु विष्णुस्मृति आदि के वचनों को बताकर शूद्र के अध्ययनाधिकार, कर्माधिकार के उल्लेख की बात जो की जाती है, वह उन वचनों के अर्थ का ज्ञान न हो पाने से बुद्धि में भ्रम हो रहा है। एलूष, कवष को शूद्र समझना भ्रम है क्योंकि उनका शूद्रत्व, सिद्ध नहीं है। अब्राह्मण होने मात्र से उसमें शूद्रत्व की सम्भावना नहीं की जा सकती। क्योंकि 'क्षत्रिय, वैश्य' का अब्राह्मणत्व तो प्रसिद्ध ही है, किन्तु उन्हें शूद्र नहीं कहा जाता। विद्या और तप से हीन रहने पर जन्मना ब्राह्मण में भी मुख्य ब्राह्मणत्व के न रहने से उसे अब्राह्मण कहा जाता है। दासी का पुत्र होने से भी उसको अब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। जैसे पण विशेष के कारण विनता को भी 'दासी' शब्द से कहा जाता था। किन्तु उस दासी विनता के पुत्र गरुड़ को शूद्र नहीं कहा जाता है। उसी प्रकार ऐलूष कवष जन्मतः ब्राह्मण होते हुए भी दीर्घ काल तक वह व्रात्य' ही था। इसलिये उसे दासीपुत्र, अब्राह्मण आदि कहा गया है। चातुर्वर्ण्य संस्कृति विमर्श में कहा है कि 'किसी को सूक्त का दर्शन हो जाने मात्र से तज्जातीय व्यक्तियों को वेदाध्ययन अधिकार नहीं मिल जाता। देवताओं की कुतिया सरमा को भी सूक्त का दर्शन हो गया था, तथापि तज्जातीय कुतियों को वेदाध्ययन करने का अधिकार प्राप्त नहीं हो पाया।

२३—अध्यात्मपक्षेऽपि हे जीवात्मन्, त्वमग्नेः सच्चिदानन्दतनोः परमेश्वरस्य तनूश्चिदानन्दरूप एवासि। कीदृशं स्वरूपं वाचो विसर्जनम् तत्तादृश सर्वा अपि वाचो विसृज्यन्ते वाचः सर्वस्या अपि विसर्जनं यस्मात्। 'ओमित्येवं ध्यायथ' (मु० २।२।६) अन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः' (मु० २।२।५) 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' (काठ० १।३।१३) इत्यादि श्रुतिभ्यः। देवस्य परमात्मनः वीतये सन्तुष्टये त्वामहं गृह्णामि शिष्यत्वेन गृहीत्वोपदिशामि ग्राह्यामि वा, जीवाभयप्रदानस्य परमात्मतुष्टिहेतुत्वात्। त्वं बृहद्ग्राववदविचलः कूटस्थ एवासि न कर्ता भोक्ता संसारी किन्तु वानस्पत्यः संसारवृक्षस्य सम्बन्धी मूलरूपश्चासि। सर्वसंसारकारणभूतः परमात्मैवासि 'तत्त्वमस्या' (छा० ६।८।७) दि श्रुतेः। न केवलं त्वमेव किन्तु इदं सर्वं विश्वमपि स एव 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) तिश्रुतेः।

२४—ननु सर्वस्य परमात्मत्वेन प्रपञ्चस्य विनश्वरत्वं मम संसारित्व परमात्मनो भोक्तृभोग्याभ्यां चेतनाचेतनाभ्यां च सामानाधिकरण्यं कथं सम्भवतीतिचेच्छृणु मुख्यसामानाधिकरण्यबाधसामानाधिकरण्याभ्यां तदुपपत्तेः। सोऽयं देवदत्त इतिवत् भोक्तृपरमात्मनोर्भागत्यागलक्षणया सामानाधिकरण्यं रज्जुरियं न सर्प इतिवत् भोग्यपरमात्मनोर्बाधसामान्याधिकरण्यम्। ननु कथं तन्नानुभूयते इति चेत् तदर्थं देवेभ्योऽग्नीन्द्रादिभ्यो हविः शमीष्व संस्कुरु सुशमि साधुसंस्कृतं यथास्यात्तथा शमीष्व सम्यगान्तरबाह्यमलापनयनेन संस्कुरु आत्मानमेव हविष्ट्वेन शमीष्व साधु यथा स्यात्तथा बाह्याभ्यन्तरस्थूलसूक्ष्मप्रत्यक्षयोग्यान् कामादीन् वासनामयांश्च दोषानपनोद्य भगवद्भोग्यतया संस्कुरु। 'अहमन्नमहमन्न' (तै० ३।१०।६) मित्यादिना जीवो भगवद्भोग्यत्वेन स्वात्मानं समर्पयति। तदनन्तरं भगवन्तं भोक्तुं समर्थो भूत्वा 'अहमन्नादोऽहमन्नाद' (तै० ३।१०।६) इति स्वात्मानं परमानन्दमयं भगवद्भोक्तृत्वेन जानाति। भगवांश्च 'तस्य हविष्कृदेहि हविष्कृदेहीति रीत्या स्वागतं करोति।

२३—अध्यात्म पक्ष में भी हे जीवात्मन्! सच्चिदानन्द तनू परमेश्वर अग्नि की तुम तनू (शरीर) हो, अर्थात् सच्चिदानन्द रूप ही हो। वाणी के विसर्जन का स्वरूप कैसा है? सभी वाणियों का विसर्जन किया जाता है। परमात्मा की सन्तुष्टि के लिये मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। शिष्य बनकर तुम्हारा ग्रहण करके उपदेश अथवा ग्रहण करवाता हूँ। जीव को अभय प्रदान करना परमात्मा की तुष्टि का कारण है। तुम बृहद्ग्राव के समान अविचल कूटस्थ ही हो। किन्तु वानस्पत्य अर्थात् संसार वृक्ष के सम्बन्धी मूल रूप हो। सर्व संसार कारणभूत परमात्मा ही हो। इस कथन में 'तत्त्वमसि' श्रुति प्रमाण है। केवल तुम ही परमेश्वर स्वरूप नहीं हो, अपितु यह सम्पूर्ण विश्व भी परमेश्वर रूप है, क्योंकि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' श्रुति कह रही है।

२४—यदि यह कहो कि सब कुछ परमात्म स्वरूप है तो प्रपञ्च का विनश्वरत्व, मेरा संसारित्व, परमात्मा का भोक्तृ-भोग्य, और चेतन और अचेतन से सामानाधिकरण्य कैसे सम्भव हो सकता है? इस आशङ्का का उत्तर सुनो—मुख्य सामानाधिकरण्य और बाधसामानाधिकरण्य से उसकी उपपत्ति ही सकती है। 'सोऽयं देवदत्तः' के समान भोक्ता और परमात्मा का भाग त्याग लक्षणा से सामानाधिकरण्य, और 'रज्जुरियं न सर्पः' की तरह परमात्मा का बाधसामानाधिकरण्य का सम्भव हो सकता है। तो फिर उसका अनुभव क्यों नहीं होता? यह कहो तो उसका उत्तर यह है कि अग्नि-इन्द्र आदि देवताओं के लिये 'हविः शमीष्व' हवि को सम्यक्तया संस्कृत बनाने के लिये उसका संस्कार करो, अर्थात् बाह्य-आभ्यन्तर मलापनयन करते हुए उसका संस्कार करो। अभिप्राय यह है कि आत्मा को ही हवि समझ कर अच्छी तरह संस्कृत बनाने के लिये स्थूल-सूक्ष्म प्रत्यक्ष योग्य कामादि और वासनामय दोषों को दूर कर भगवद्भोग्य वह बन सके ऐसा संस्कार करो। तब वह जीव भगवद्भोग्य बनकर अपने आपको भगवान् के अर्पण करता है। तदनन्तर भगवान् का भोग करने में समर्थ होकर 'अहमन्नादः अहमन्नाद्यम्' इस श्रुति के अनुरोध से परमानन्दमय अपने को भगवद्भोक्ता के रूप में समझता है और भगवान् 'हविष्कृदेहि-हविष्कृदेहि' इस रीति से उसका स्वागत करते हैं।

कुक्कुटोऽसि मधुजिह्वऽइषमूर्जमावद त्वया वय ँ संघात ँ संघातं जेष्म वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु परापूत ँ रक्षः परापूताऽअरातयः। अपहत ँ रक्षो वायुर्वो विविनक्तु देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना ॥ वा० सं० १।१६ ॥

अर्थ—हे शम्यासंज्ञक यज्ञायुध ! तुम राक्षसों के लिये कुक्कुट स्वरूप हो। (अर्थात् राक्षस कहाँ-कहाँ हैं, उनको खोज-खोजकर उन्हें मारने के निमित्त जो सर्वत्र गमन करता है उसे कुक्कुट कहते हैं।) तथा तुम देवताओं के मधुजिह्व नाम के भृत्य (सेवक) हो। (जिसकी जिह्वा मधुर भाषण करने वाली है उसे मधुजिह्व कहते हैं)। हे यज्ञपात्र ! तुम राक्षसों का पराजय करो, और ऐसा शब्द करो कि जिससे यजमान को अन्न और रस प्राप्त हो, तब हम तुम्हारी सहायता से राक्षसों के साथ युद्ध करके युद्ध में विजय प्राप्त करेंगे। हे शूर्प ! तुम वर्षा के जल से वृद्धिङ्गत हुए तुम्हें शूर्प आत्मीय के रूप में पहिचाने। (व्रीहि और शूर्प दोनों ही वर्षा के जल से वृद्धि को प्राप्त होने के कारण परस्पर सम्बन्धी हैं)। शूर्प से व्रीहि को पछाड़ने पर तद्गत राक्षस रूप और शत्रु रूप हविःप्रतिकूल भाग दूर किया गया। शूर्प से पछाड़ने पर उड़कर दूर जा गिरे हुए तुष रूपी राक्षस दूर उड़ गये। हे व्रीहियों ! शूर्प की वायु तुम्हें तुम्हारी सूक्ष्मता से दूर करे। सुवर्ण की अंगुठियाँ आदि आभूषणों को धारण करने वाले देवगण प्रेरक बन कर अपनी अञ्जलि से तुम्हारा ग्रहण करें ॥१६॥

१—आह्वयत्याहन्त्यन्यो दृषदुपले 'कुक्कुटोऽसी'ति त्रिः शम्यया द्विर्दृषदं सकृदुपलाम्' (का०श्रौ० सू० २।४।१५) अत्र पत्नीमग्नीधं वा अध्वर्यौ आह्वयति सति अन्योऽग्नीत् शम्यया दृषदुपले कुट्टयति तत्र विशेषः द्विर्दृषदं सकृदुपलां शम्यया हन्यात् 'कुक्कुटोऽसी'ति मन्त्रेण मन्त्रस्तु त्रिः प्रयोज्यः। पेषणसाधने द्वे शिले दृषदुपले समाहन्ति। द्विर्दृषदम् सकृदुपलां त्रिः सञ्चारयन् नवकृत्वः सम्पादयति।

२—हे शम्यारूप यज्ञायुधविशेष त्वं कुक्कुटो मधुजिह्वोसि। असुराः क्व क्वेत्येवं वदन्तः समुपयन्ति। तान् हन्तुमन्विच्छन् यः पुमानटति सर्वत्र सञ्चरति स कुक्कुटः। क्व शब्दस्य सम्प्रसारणे अटतेश्चाकारस्य पूर्वरूपत्वेन

१—कात्यायन श्रौत सूत्र के अनुरोध से अध्वर्यु जब यजमान पत्नी को अथवा अग्नीध को बुलाता है तब अग्नीत् 'शम्या' से दृषद् और उपल पर प्रहार करता है। अर्थात् दो बार दृषद् पर और एक बार उपला पर प्रहार करता है, प्रहार करते समय 'कुक्कुटोसि' मन्त्र को तीन बार कहता है। अर्थात् पेषण की साधनभूत दृषद् उपल रूप दो शिला हैं, उस पर प्रहार करता है।

२—हे शम्यारूप यज्ञायुध विशेष ! तुम असुरों के लिये और देवताओं के लिये कुक्कुट हो, और मधुजिह्व हो। असुर लोग कहाँ-कहाँ हैं—ऐसा कहते हुए उन्हें मारने की इच्छा से जो सर्वत्र सञ्चार करता है, वह कुक्कुट है। इस

सम्प्रसारणरूपत्वे ककारस्य च द्वित्वे कुक्कुटरूपसिद्धिः। यद्वा कुत्सितं शब्दमसुरघ्नमसुराणां तनोतीति कुक्कुटः। अथवा असुरघ्नीं वाचमादाय कुक्कुटपक्षिवत् ध्वनिविशेषं असुरभीत्यर्थं यः करोति सोऽयं कुक्कुट इत्युपचर्यते। मधुजिह्वनामा कश्चित् देवानां भृत्यः। मधुरभाषिणी जिह्वा यस्य सः। 'मधुजिह्वो वै देवेभ्य आसी'दिति काण्वश्रुतेः। हे यज्ञायुध त्वमसुरान् पराभावयन् यजमानस्येषमूर्जंभावद अन्नं रसश्च यथा समागच्छति तथा शब्दं कुरु। भवदीयशब्देन असुरेषु पराभूतेषु तदीयमन्नं रसश्च यजमानः सर्वतः प्राप्नोति। ततो यजमानसम्बन्धिनो वयं सङ्घाते सङ्घाते असुरैः सह क्रियमाणे तस्मिंस्तस्मिन् युद्धे जेष्म जितवन्तः। कदाचिदपि नोऽस्माकं पराजयः। सम्यगसुरा हन्यन्ते यत्रेति सङ्घातो युद्धम्।

३—'मनोः श्रद्धादेवस्य यजमानस्यासुरघ्नी वाक् यज्ञायुधेषु प्रविष्टासीत्। तेऽसुरा यावन्तो यज्ञायुधानामुद्वदतामुपाशृण्वंस्ते पराभवन्नि'ति (तै० ब्रा० ३।२।५।६) तैत्तिरीयश्रुतेः। 'मनोर्ह वा ऋषभ आस तस्मिन्नसुरघ्नी सपत्नघ्नी वाक् प्रविष्टा स तस्य ह स्म श्वसथा द्रवथादसुररक्षसानिमृद्यमानानि यन्ति तेऽसुराः समूदिरे पापं वत नोऽयमृषभः सचते कथं न्विमं दभ्नुयामेति किलाताकुली इति हासुरब्रह्मावासतुः' (श० १।१।४।१४)। यज्ञायुधध्वनेर्यज्ञविघातकासुरराक्षसादिनिवृत्तिहेतुतामुपपादयितुमितिहासमुदाहरति पुराकिल मनोः सम्बन्धिन ऋषभस्य प्रश्वासाद् द्रवाच्च यज्ञविघातका असुरराक्षसा बाध्यमानाः परस्परं संवादं कृतवन्तः—ह इति खेदे। अयमृषभो नोऽस्माकं पापं निकर्षं पराजयं सचते प्रापयति कथं खल्विमं हिंस्यामेति। एवं संवादे कृते किलातश्चाकुलिश्चेति द्वौ असुरपुरोहितौ बभूवतुः तौ होचतुः। श्रद्धादेवो वै मनुरावं नु वेदावेति तौ हागत्योचतुर्मनो याजयाव त्वेति। केनेत्यनेनर्षभेणेति तथेति। तस्यालब्धस्य सावागपचक्राम।' (श० १।१।४।१५) श्रद्धैव देवो यस्य स श्रद्धादेवः श्रद्धालुः। आवं नु वेदाव—आवामस्य मनोरभिप्रायं जानावहै इत्यर्थः। 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' (पा० सू० ७।२।८८) इति भाषायामेवात्वविधानात् ह्रस्वोच्चारणम्। हे मनोत्वायाजयाव केनेत्यनेनर्ष भेणेत्येवं श्रद्धालुं मनुं विप्रलभ्य तमृषभमवधिष्टामिति तात्पर्यार्थः। 'सा मनोरेव जायां मनावीं प्रविवेश। तस्यैह स्य यत्र वदन्त्यै शृण्वन्ति ततो ह स्मै वासुररक्षसाविमृद्यमानानि यन्ति तेहासुराः

पक्ष में 'क्व' शब्द को सम्प्रसारण और 'अटति' के अकार को पूर्व रूप करने पर तथा 'ककार' को द्वित्व करके 'कुक्कुट' रूप की निष्पत्ति होती है। 'असुराः क्व-क्व इत्येवं वदन्तः समुपयन्ति, तान् हन्तुमिच्छन् यः पुमान् अटति सर्वत्र सञ्चरति स कुक्कुटः'। यह कुक्कुट शब्द की निरुक्ति है अथवा 'कुत्सितं शब्दमसुरघ्नमसुराणां तनोति इति कुक्कुटः'। अथवा 'असुरघ्नीं वाचमादाय कुक्कुटपक्षिवत् ध्वनिविशेषं असुरभीत्यर्थं यः करोति सोऽयं कुक्कुटः' ऐसा उपचार से कहा जाता है। 'मधुजिह्व' नाम का कोई सेवक, देवताओं का है। 'मधुजिह्वो वै देवेभ्य आसीत्' ऐसी काण्वश्रुति है। 'मधुरभाषिणी जिह्वा यस्य सः मधुजिह्वः'। हे यज्ञायुध ! तुम असुरों का पराभव कराते हुए यजमान को जिस तरह भी अन्न और रस प्राप्त हो सके वैसा शब्द करो। तुम्हारे शब्द से असुरों के पराभूत हो जाने पर उनके अन्न और रस को यजमान सब प्रकार से प्राप्त कर लेता है। ततः यजमान से सम्बन्धित रहने वाले हम लोगों ने असुरों के साथ किये जाने वाले प्रत्येक युद्ध में उन पर जय पाई है। कभी भी हमारी पराजय नहीं हुई है। सम्यक् प्रकार से असुरों को जिसमें मारा जाता है उस सङ्घात को युद्ध कहते हैं।

३—यज्ञायुध की ध्वनि से यज्ञ विघ्न तक असुर-राक्षस आदि की निवृत्ति के होने में पुरातन इतिहास को तैत्तिरीय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण कह रहे हैं कि पहिले किसी समय 'मनु' से सम्बन्धित ऋषभ के प्रश्वास और द्रव (स्वेद) से यज्ञ विघातक असुर और राक्षस पीड़ित होकर आपस में बातचीत करने लगे कि यह ऋषभ, हमारे पाप को पराजित कर देगा. इसे हम लोग कैसे मार पायेंगे। इस प्रकार संवाद करने पर 'किलात' और 'आकुलि' ये दो असुर पुरोहित हुए। वे दोनों कहने लगे 'श्रद्धादेवो वै मनुरावं नु०' इति। 'श्रद्धैव देवो यस्य स श्रद्धादेवः' यानी श्रद्धालु, 'आवं नु वेदाव' हम दोनों इस मनु के अभिप्राय को जान लें। 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' सूत्र से भाषा में ही आत्व का विधान होने से वैदिक प्रयोग में 'आत्व' नहीं हुआ है, इसलिये 'आवम्' प्रयोग हुआ है। अर्थात् ह्रस्वोच्चारण हुआ है। हे मनो ! तुमसे यज्ञ करवायेंगे। किस द्रव्य से यज्ञ कराओगे ? पूछने पर कह देंगे कि इस ऋषभ से।

समुदिर इतो वै न: पापीय: सचते भूयो हि मानुषो वाक् वदतीति किलाताकुली हैवोचतु:—श्रद्धादेवो वै ……………तौ हागत्योचतुर्मनो याजयावत्वेति । केनेत्यनयैव जाययेति तथेति तस्या आलब्धायै सा वागपचक्राम (श० १।१।४।१६) 'सा यज्ञमेव यज्ञपात्राणि प्रविवेश । ततो हैनां न शेकतुर्निहन्तुꣳ सैषासुरघ्नी सपत्नघ्नी वागुद्वदति स यस्य हैवं विदुष एतामत्र वाचं प्रत्युद्वादयन्ति पापीयाꣳसो हैवास्य सपत्ना भवन्ति' (श० १।१।४।१७) सा वाक् मनावीं मनोर्भार्यां प्रविवेश यत्र वदन्त्यास्तस्या: शब्दं शृण्वन्ति तत: स्थानाद् बाधिता असुरा: पलायन्ते स्म । असुरा: पुन: संवादं कृतवन्त:, तिर्यग्जातेर्ऋषभस्य ध्वनै: श्रवणात् प्रागस्माकं निकर्षमात्रं प्राप्तं इदानीं मनुष्यसकाशान्निर्गतवाच: श्रवणादस्माकं पापीय: अतिशयितं पापं पराजय: प्राप्नोति । भूयोहि मानुषी वाग्वदति—तिर्यग्वाच: सकाशात् भूयो बहुतरं मानुषी वाक्, वर्णपदवाक्यात्मना कस्यचिदर्थस्य प्रतिपादनात् । पुनरपि किलाताकुली प्रतिक्रियां चक्रतु: । तस्यां मनाव्यामालब्धायां सा वाक् यज्ञं यज्ञपात्राणि प्रविवेश । तेभ्यो यज्ञपात्रेभ्य: सकाशादेनां वाचं हतुं न तौ शेकतु: । सैषा यज्ञपात्रगता असुरघ्नी वाक् शम्यया समाहननादुद्गच्छति । 'स समाहन्ति कुक्कुटोऽसि……………मधुजिह्वो वै स देवेभ्य आसीद्विषजिह्वोऽसुरेभ्य: । स यो देवेभ्य आसी: सन एधि त्येवैतदाहेषमूर्ज्जमा वद त्वया वयꣳ सङ्घातꣳ सङ्घातं जेष्मेति नात्र तिरोहितमिवास्ति ।' (श० १।१।४।१८) स ऋषभो देवानां मधुजिह्व आसीत् असुरेभ्यस्तु विषवाक् पराजयहेतुत्वात् । अन्यत्तु व्याख्यातप्रायं मन्त्रव्याख्यानेनैव ।

४—'वर्षवृद्धमसीति शूर्पमादत्ते' (का० श्रौ० सू० २।४।१६) अवहननकर्ता पत्नी अग्नीद्वा—हे शूर्प वर्षवृद्धं वृष्टिगतजलेनाभिवृद्धमसि । वर्षवृद्धवेणुदलैरिषीकाग्रशलाकाभिर्नडाख्यतृणशलाकाभिर्वा शूर्पस्य निष्पन्नत्वात् । 'प्रतित्वेतिहविरुद्वपति' (का० श्रौ० सू० २।४।१७) अवहतं हविरुलूखलादादाय शूर्पे प्रक्षिपेत् । हे हवि: वर्षवृद्धं त्वां प्रतिगृह्य वेत्तु स्वकीयत्वेन जानातु शूर्प: । हविर्हेतूनां व्रीहीणां यवानाञ्च वर्षवृद्धत्वं प्रसिद्धमेव । मन्त्रद्वयेऽपि वृद्धशब्देन समृद्धि-

---

इस रीति से श्रद्धालु मनु को ठगकर उस ऋषभ को मार देंगे । यह उक्त संवाद का तात्पर्यार्थ है । तदनन्तर शतपथ कहता है कि वह वाक् (वाणी) मनु की भार्या में प्रविष्ट हुई । जहाँ वह बोलती थी, तो उसके शब्द को सुनते ही पीड़ित होने वाले असुर उस स्थान से भाग जाते थे । तब असुर लोग पुन: परस्पर संवाद करने लगे कि तिर्यक् जाति के इस ऋषभ की ध्वनि के श्रवण से पूर्व ही हमारी पराजय होने लगी, अब मनुष्य से निकलने वाली वाणी को सुनकर हमारा अत्यधिक पाप पराजित हो रहा है । क्योंकि मानुषी वाक् बार-बार बोल रही है । अर्थात् तिर्यक् वाणी की अपेक्षा यह मानुषी वाक्, वर्ण-पद वाक्य के द्वारा किसी अर्थ को बहुत अच्छी तरह से बता रही है । पुनरपि किलात और आकुलि दोनों ने उसकी प्रतिक्रिया की । उस मानवी के आलब्ध होने पर वह वाणी यज्ञपात्रों में प्रविष्ट हुई । उन यज्ञपात्रों से इस वाणी का अपहरण वे नहीं कर सके । यज्ञपात्रगत वह असुरघ्नी वाक्, 'शम्या' के द्वारा आहनन किये जाने पर निकलती है । शतपथ कहता है कि वह ऋषभ देवताओं के लिये मधुजिह्व था, किन्तु असुरों के लिये उनके पराजय का कारण बन जाने से वह 'विषवाक्' था । और सब की व्याख्या तो मन्त्र के किये गये व्याख्यान से ही हो जाती है ।

४—उक्त इतिहास का सारांश यह है कि राजा मनु के पास एक वृषभ था, उसमें असुरों का हनन करने वाली वाक् स्थित थी । अत: उस वृषभ के शब्द करने पर उसके श्रवण मात्र से असुर मर जाते थे । तब किलात और आकुली नामक दोनों असुर याजक मनु के पास गये, और उसी ऋषभ को हवि:स्थानापन्न करके मनु से यज्ञ करवा कर उस वृषभ को मरवा दिया । जब वृषभ को इस तरह मार दिया गया, तब वह वाक्, मनु की पत्नी में प्रविष्ट हुई । तब उन दोनों असुरयाजकों ने पुन: उस मनुपत्नी को भी हवि:स्थानापन्न करके मनु से यज्ञ करवा कर उस मनु पत्नी को भी मरवा दिया । तब वह वाक् यज्ञपात्रों में प्रविष्ट हुई । इसलिये असुरों का पराभव करने के लिये उन यज्ञपात्रों की वाक् को प्रकट करने के लिये 'शम्या' से दृषद्-उपल पर हनन करने के लिये श्रुति ने कहा है । कात्यायन कहते हैं—'वर्षवृद्धमसीति शूर्पमादत्ते' अर्थात् हे शूर्प ! तुम वर्षवृद्ध हो । 'वर्षेण वृष्ट्या तद्भूतजलेन वृद्धं वर्षवृद्धम्' यह 'वर्ष-

र्द्योत्यते इति । 'वर्षवृद्धा वा ओषधयः। वर्षवृद्धा इषीकाः समृद्धचा' (तै॰ ब्रा॰ ३।२।५।१०) तित्तिरिः। व्रीहिशूर्पयोर्वर्षवृद्धत्वेन भ्रातृत्वमित्यर्थः। 'परापूतमिति निष्पुनाति (का॰ श्रौ॰ सू॰ २।४।१८) शूर्पचालनोत्थेन वायुना तुषान् पृथक्कृत्याधः पातयेदग्नीत्। विविक्तान् तुषानध्वर्यवे समर्पयेत्। ऊर्ध्वशूर्पेन निष्पवनम्। तुषेषु निगूढं रक्षः परापूतम् निराकृतम्। शूर्पेण तुषेषु परापूतेषु तैः सह रक्षसो भूमौ पतनात् अरातयो हविर्धानप्रतिकूला आलस्यादिशत्रवश्च प्रतिपूताः प्रतिकूलाः सन्तो निराकृता भवन्ति।

५—अपहतमिति तुषान्निरस्यति (का॰ श्रौ॰ सू॰ २।४।१९) अपहतमित्यादिमन्त्रेण अग्नीधा समर्पितांस्तुषान्निरस्येत्। वस्तुतः पाठक्रमादार्थक्रमस्य बलीयस्त्वेन 'वायुर्वे'इति विविनक्ति (का॰ श्रौ॰ सू॰ २।४।२०) वायुर्वो इत्यादिमन्त्रेण तण्डुलान् कणांश्च वितुषीकरणाय पृथक्करोति। तिर्यक् शूर्पेण विवेचनम्। एवं विवेकीकरण एव निरसनं ज्ञातव्यम्। तुषेषु निगूढं रक्षस्तदपहतं दूरेऽपनीतं भवतु। हे तण्डुला वो युष्मान् शूर्पचालनेन निष्पन्नो वायुर्देवो विविनक्तु कणेभ्यः पृथक्करोतु। तमेतं पृथक्कारं अयं वातः शूर्पोऽयं पवत इति कण्वः स्पष्टीचकारेति सायणाचार्यः। 'देवो व' इति पात्र्यामोप्याभिमन्त्रयते (का॰ श्रौ॰ सू॰ २ ४।२१) तण्डुलान् तूषतीमिडापात्र्यां शूर्पेण प्रक्षिप्य देवो व इति मन्त्रेण अनामिकाग्रेण स्पृशन् अभिमन्त्रयेताध्वर्युः। आभिमुख्येन मन्त्रपाठोऽभिमन्त्रणं हे तण्डुला वो युष्मान् हिरण्यपाणिः अंगुलीयकाद्याभरणयुक्तपाणिः सविता देवः अच्छिद्रेण अंगुलिविश्लेषरहितेन स्वकीयेन पाणिना प्रतिगृह्णातु स्वीकरोतु। पात्र्यां प्रक्षेपकाले भूमौ स्कन्दनं माभूदिति स्वकीयेन पाणिना पालयन् गृह्णात्वित्यर्थः। 'अन्तरिक्षादिव वा एते प्रस्कन्दन्ति। ये शूर्पात्। देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृह्णात्वित्याह प्रतिष्ठित्यै हविषोऽस्कन्दाये' (तै॰ ब्रा॰ ३।२।५।११) ति तित्तिरिश्रुतेः। यद्वा दैत्यैः प्राशित्रप्रहारेण छिन्नौ सवितुः पाणी देवैर्हिरण्मयौ कृताविति हिरण्यपाणित्वमिति बह्वृश्रुतौ कथा।

६—दयानन्दस्वामिरीत्या तु—'योऽयं यज्ञोमधुजिह्वः कुक्कुटोऽस्त्यस्तीषमूर्जं च प्रापयति तस्मात्स सदैवा-

---

वृद्ध' शब्द की निरुक्ति है। वृद्धिङ्गत हुए वेणुशलाकाओं से निर्मित होने के कारण शूर्प को वर्षवृद्ध कहा गया है। 'प्रतित्वेति हविरुत्पति' यह श्रौतसूत्र बता रहा है कि हे हविः! यह वर्षवृद्ध शूर्प तुम्हें अपना आत्मीय समझे। व्रीहि और शूर्प दोनों वर्षवृद्ध होने से आपस में उनकी भ्रातृता है। 'परापूतमिति निष्पुनाति' इस श्रौतसूत्र से ज्ञात होता है कि राक्षस का निराकरण हो गया है। 'परापूतं' का अर्थ 'निराकृत' है। शूर्प से तुषों का निराकरण हो जाने से तद्गत राक्षस को भी उन तुषों के साथ ही भूमि पर गिरा दिया गया है। तथा 'अरातयः' यानी हविः प्रतिकूल रहने वाले आलस्यादि शत्रुगण भी निराकृत हो गये हैं।

५—'अपहतमिति तुषान्निरस्यति'—अग्नीध के द्वारा समर्पित तुषों को 'अपहतम्'—इस मन्त्र से निरसन करे। वस्तुतः पाठक्रम की अपेक्षा आर्थक्रम के प्रबल रहने से 'वायुर्व इति विविनक्ति' व युवः इस मन्त्र से वितुषीकरण के लिये तण्डुल और कणों को पृथक् करने के लिये कहा गया है। हे तण्डुलों! शूर्पचालन से उत्पन्न होने वाला वायु तुम्हें सूक्ष्म कणों से पृथक् करे। 'देवो व इति पात्र्यामोप्याभिमन्त्रयते' अर्थात् हे तण्डुलों! सविता देव, अंगुलिविश्लेष हीन अपने हाथ से तुम्हारा ग्रहण करे पात्री में प्रक्षेप करते समय कोई कण भूमि पर न गिरने पावे इसलिये सविता के द्वारा ग्रहण करने की प्रार्थना की गई है। यह सविता हिरण्यपाणि है, अर्थात् सुवर्ण की अंगूठी आदि आभरण से विभूषित इसके हाथ हैं। अथवा दैत्यों ने प्राशित्र के प्रहार से सविता के हाथ काट दिये थे, तब देवताओं ने उसके हाथ हिरण्मय कर दिये, इसलिये सविता को हिरण्यपाणि कहा जाता है। बह्वृच् श्रुति में इसकी कथा दी गई है।

६—स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य के पृष्ठ चौरासी-पचासी पर जो अर्थ किया है, वह अर्थ न होकर अनर्थ ही लिख दिया है। भावार्थ देते हुए भी उन्होंने लिखा है कि 'ईश्वर समस्त मनुष्यों को आज्ञा दे रहा है कि सभी मनुष्य,

नुष्ठेयः। हे विद्वन् त्वमस्य त्रिविधस्य यज्ञस्यानुष्ठानस्य गुणानां कर्तासि तस्मात् अस्मान् प्रति वद प्रत्यक्षमुपदिश। यतो वयं त्वया सङ्घातं सङ्घातमजैष्म सर्वान् संग्रामान् विजयेमहि। सर्वो मनुष्यः वर्षवृद्धं त्वा त्वां तं यज्ञं वर्षवृद्धं यज्ञं वा प्रतिवेत्तु। एवं कृत्वा सर्वैर्जनैः परापूतं रक्षः परापूता अरातयः यथास्यात्तथैव कार्यम्। यथाम्लं हिरण्यपाणिः सविता देवः तान् विविनक्तु तथैव परमेश्वरो विद्वान् मनश्चाच्छिद्रेण पाणिना सर्वा विद्या विविनक्तु तथैव कृपया सम्प्रीत्या चैतौ युष्मानानन्दकरणाय प्रतिगृह्णातु प्रतिगृह्णीतः (पृ० ८४-८५)। भाषार्थेऽपि—'ईश्वरः सर्वान् मनुष्यानाज्ञापयति मनुष्यैर्यज्ञानुष्ठानं संग्रामे दुष्टशत्रूणां विजयो गुणज्ञानं विद्यावृद्धसेवनं दुष्टानां मनुष्याणां दोषाणां निरसनं सर्वच्छेदकोऽग्निः सूर्यो वा तथा पदार्थानां धारको वायुश्चास्तीति विज्ञानं परमेश्वरोपासनां विद्वत्समागमं च कृत्वा सर्वा विद्याः प्राप्य सदैव सर्वार्थाः सुखोन्नतिः कार्येति' (पृ० ८५)। कुक् आदाने भ्वादिः क्विपि कुकं परद्रव्यादातारं चौरं शत्रुं वा कुटति येन स यज्ञः असि अस्तीति व्यत्ययः सर्वत्र। मधुजिह्वः मधुरगुणयुक्ता जिह्वा ज्वाला प्रयुज्यते यस्मिन् स यज्ञः, तत्र 'जिह्वा सरस्वती' (श० १२।८।१।१४) प्रमाणेन मधुरा सरस्वती यस्मिन्नित्यर्थः सम्भवति तथापि ज्वालाप्रयोगस्तु निरर्थक एव, त्वद्रीत्याग्नौ द्रव्यनिक्षेपलक्षणे यज्ञे मन्त्रप्रयोगस्यानुपयोगात्।

वस्तुतस्तु प्रकृतेमन्त्रे ततः पूर्वस्मिन् मन्त्रे वा यज्ञशब्दस्य चर्चापि नास्ति। न वा तादृशे यज्ञे अस्त्रपदार्थसमूहरूपतोपपद्यते न वा तद्दातृत्वं तत्र सम्भवति, प्रत्यक्षेण तदनुपलम्भात्। पुण्यादृष्टादिद्वारा तद्दातृत्वस्य त्वयानभ्युपगमाच्च। परमेश्वरेण विदुषा वीरेण वा सङ्गत्या युद्धविजयो भवति। यज्ञो (वर्ष) वृष्टिवर्धकोऽपि कथम् ? वृद्धसेवारूपेण यज्ञेन यद्यपि शस्त्रास्त्रवर्षवृद्धिर्जायते तथापि यज्ञत्वमसम्प्रतिपन्नमेव, तस्य वेदमन्तरापि सम्भवेन वेदस्य तत्रान्यथासिद्धत्वात्। प्रसिद्धवृष्टिवर्धकत्वं त्वदीये यज्ञे सर्वथैव न सम्भवति। परपदार्थग्रहीतारः शत्रवोऽपि न त्वदीयेन यज्ञेन नश्यन्ति किन्तु पराक्रमेणैव तत्सम्भवति। वृद्धसङ्गतिरूपो यज्ञस्तु तत्रान्यथासिद्ध एव। किञ्च कोऽत्र वक्ता ? यदि यज्ञस्तर्हि कथं स यज्ञस्य मधुजिह्वत्वं कुक्कुटत्वं च जानाति ? यदि विज्ञस्तर्हि कथमुपदेशं कामयते ? युद्धविद्याकुशलानामुपदेशमात्रेण न युद्धविजयः सम्भवति। यद्यत्र नोपदेशमात्रं बिवक्षितं किन्तु शस्त्रास्त्रविद्याशिक्षणमेव विवक्षितं

यज्ञ का अनुष्ठान, संग्राम में शत्रुओं पर विजय, गुण ज्ञान, विद्यावृद्धों की सेवा, दुष्ट मनुष्यों के दोषों का निरसन, सर्वच्छेदक अग्नि अथवा सूर्य है और पदार्थों का धारक वायु है—यह विज्ञान, परमेश्वरोपासना और विद्वत्समागम करके तथा समस्त विद्याओं को प्राप्त करके सर्वदा सबके लिये सुख की उन्नति करे।

'कुकं कुटति येन सः कुक्कुटः' अर्थात् कुक यानी परद्रव्य को हड़पने वाला चोर या शत्रु, उसको जिसके द्वारा नष्ट करता है, वह कुक्कुट यानी 'यज्ञ', 'अस्ति' अर्थात् अस्ति है, ऐसा व्यत्यय सर्वत्र किया गया है। वह यज्ञ 'मधुजिह्व' है अर्थात् मधुर गुण से युक्त जिह्वा 'ज्वाला' का प्रयोग किया जाता है जिसमें ऐसा वह यज्ञ है। यहाँ पर 'जिह्वा सरस्वती' इस शतपथ के अनुसार मधुरा सरस्वती है जिसमें ऐसा अर्थ सम्भव हो सकता है, तथापि 'ज्वाला का प्रयोग करना तो निरर्थक ही है। क्योंकि तुम्हारे मत के अनुसार अग्नि में द्रव्य निक्षेप लक्षण यज्ञ में मन्त्र का कोई उपयोग नहीं है।

वस्तुतस्तु प्रकृत मन्त्र में अथवा इसके पूर्व मन्त्र में 'यज्ञ' शब्द की चर्चा भी नहीं है, और न ही उस प्रकार के यज्ञ में अस्त्र पदार्थ समूह रूपता अथवा उनका देना सम्भव है, क्योंकि वैसा प्रत्यक्ष नहीं होता है। यदि कहा जाय कि पुण्य-अदृष्ट के द्वारा तद्दातृत्व हो सकता है, तो अदृष्ट को तुम मानते नहीं हो। परमेश्वर, विद्वान् अथवा वीर की सहायता से युद्ध में विजय प्राप्त किया जाता है। यज्ञ को वृष्टिवर्धक भी कैसे कहा जायगा ? वृद्ध सेवा रूप यज्ञ से यद्यपि शस्त्रास्त्रवृष्टि की वृद्धि हो सकती है, तथापि उसका यज्ञत्व अभी प्रतिपन्न हीं नहीं हुआ है। उसका यज्ञत्व, वेद के बिना भी सम्भव होने से उस विषय में वेद को अन्यथा सिद्ध ही कहना होगा। तुम्हारे अभिमत यज्ञ का प्रसिद्ध वृष्टिवर्धकत्व सर्वथा सम्भव ही नहीं है। परपदार्थों को ग्रहण करने वाले शत्रुओं का तुम्हारे यज्ञ से विनाश भी नहीं हो सकता। उनका विनाश तो पराक्रम से ही होना सम्भव है। वृद्ध सङ्गति रूप यज्ञ तो उस विषय में अन्यथा सिद्ध

तर्हि न तत्र वेदस्योपयोगः, वेदमन्तरापि तेषु तेषु देशेषु सैनिकाः शिक्षकेभ्यः शिक्षां गृहीत्वा विजयन्ते। तथापि शस्त्रास्त्र-वैशिष्टचनिर्माणप्रयोग कौशलमपेक्षितम्। तत्सर्वं न सामाजिकानां सङ्गत्या वर्षशतैरपि सम्भावयितुं शक्यम्। न वा तादृशैर्यज्ञैर्दस्यूनां पाटच्चराणां वा नाशः सम्भाव्यते, न्यायालयीयदण्डविधानादिभिरन्यथासिद्धत्वात् किञ्चाग्निः सूर्यश्च स्वस्वभावानुसारेण पदार्थान् सूक्ष्मयतः, वायुश्चतान् स्वगत्या प्रसारयत्येव। तत्र किं वराकेणाग्नौ द्रव्यनिक्षेपरूपेण यज्ञेन ? अनन्ते संसारे मुष्टिमेयानां किञ्चिद्धोमेन को वा प्रभावः सम्भवति। परमेश्वरो विद्वांसश्च स्वभावादेव स्व-स्वकार्यं कुर्वन्त्येव। वस्तुतस्तु अग्नौ पदार्थप्रक्षेपेण नाश एव भवति न तेन किञ्चिल्लाभः।

सिद्धान्ते तु वैदिकविधानजन्यादृष्टवशादग्निमुखेन दिव्यशक्तिमतां देवानां प्रभावात् लोकदृष्टचाऽसम्भवमपि कार्यं सम्भवति। अच्छिद्रेण पाणिना विद्यादिविविक्तिरप्युपहासायैव। शतपथे तु सर्वथा त्वद्विपरीत एवार्थो यथास्ति तथोक्तमेव, किञ्चिदुच्यते च।

'अथ शूर्पमादत्ते। वर्षवृद्धमसीति वर्षवृद्धꣳ ह्येतत् यदि नडानां यदि वेणूनां यदीषीकाणां वर्षमु ह्येवैता वर्धयति' (श० १।१।४।१९) अत्र समन्त्रकं शूर्पादानं विधत्ते श्रुतिः—हे शूर्प त्वं वर्षवृद्धमसि-वर्षवृद्धत्वञ्चोपपादयति यदि नडामित्यादि। जलप्रान्ते वर्तमानास्तृणविशेषा नडाः शूर्पस्योपादानभूतानि नडवेण्विषीकादीनि भवन्ति। एता नडाद्या ओषधीः वर्षम् उदकवृष्टिरेव वर्धयति। तेन हे शूर्प त्वं वर्षवृद्धमसीति मन्त्रोक्तिः। 'अथ हविर्निर्वपति। प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्त्विति वर्षवृद्धा उह्येवैते यदि व्रीहयो यदि यवा वर्षमुह्येवैतान् वर्द्धयति तत्संज्ञामेवैतच्छूर्पाय च वदति नेदन्योऽन्यꣳ हिनसात इति' (श० १।१।४।२०)। तस्मिन् शूर्पेऽवहतानां व्रीहीणां प्रक्षेपं विधाय ब्राह्मणं मन्त्रमपि व्याख्यानेन संस्करोति। उलूखलान्निष्कृष्य अवहितान् व्रीहीन् शूर्पे प्रक्षिपति। हे हविः वर्षवृद्धं त्वां शूर्पं प्रतिवेत्तु जानातु। आत्मन उपरि अवस्थितं वेत्तु। हविषो वर्षवृद्धत्वमुपपादयति– वर्षवृद्धा उह्येते इति। व्रीहियवयोरन्यतरो हविष उपादानम्। 'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्यजेतेति विकल्पेन यज्ञसाधनत्वश्रवणात्। व्रीहियवाद्याश्चौषधयश्च वृष्टया वर्धन्ते इति प्रसिद्धमित्यर्थः। प्रतित्वेत्यर्थस्याभिप्रायमाह—शूर्पहविषोरन्योऽन्यं हिंसामाभूदिति 'शूर्पाय चे'ति च शब्दाद् हविषे च।

ही है। किञ्च यहाँ वक्ता कौन है ? यदि यज्ञ को वक्ता मानते हैं तो वह यज्ञ के मधुजिह्वत्व और कुक्कुटत्व को कैसे जानता है ? यदि किसी विज्ञ को वक्ता मानते हैं, तो वह उपदेश की कामना कैसे करता है ? युद्ध विद्या में कुशल लोगों के उपदेश मात्र से युद्ध में विजय की प्राप्ति नहीं हुआ करती। यदि यहाँ पर उपदेश मात्र विवक्षित न होकर शस्त्रास्त्र विद्या का शिक्षण ही विवक्षित हो तो इस विषय में वेद का कोई उपयोग ही नहीं है। वेद के बिना भी तत्तद्-देशों में सैनिक लोग शिक्षकों से शिक्षा प्राप्त करके विजय पाते हैं। तथापि शस्त्रास्त्र वैशिष्टच निर्माण प्रयोग का कौशल अपेक्षित होता है। किन्तु यह सब सामाजिक लोगों की सङ्गति से सैकड़ों वर्षों में भी सम्भव होना शक्य नहीं है। वैसे यज्ञों से दस्युओं का अथवा पाटच्चरों का नाश होना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि न्यायालयीय दण्ड विधानादि से वह अन्यथा सिद्ध है। किञ्च अग्नि और सूर्य ये अपने स्वभाव के अनुसार पदार्थों को सूक्ष्म कर देते हैं और वायु अपनी गति से उन पदार्थों को इधर-उधर बिखेर देता है। तब अग्नि में उन द्रव्यों के निक्षेप रूप यज्ञ की क्या आवश्यकता है ? इस अनन्त संसार में इन मुष्टिपरिमित द्रव्यों के होम कर देने से कौन सा प्रभाव होना है ? परमेश्वर और विद्वान् लोग अपने स्वभाव से ही अपने-अपने कार्य करते ही रहते हैं। वस्तुतः अग्नि में पदार्थों को डालने से उन पदार्थों का नाश ही होता है। उससे कोई लाभ तो होता नहीं है।

सिद्धान्त में तो वैदिक विधान जन्य अदृष्टवशात् अग्निमुख में जाने से दिव्य शक्तिसम्पन्न देवताओं के प्रभाव वशात् लोकदृष्टचा असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाते हैं। अच्छिद्र हाथ से विद्यादि विविक्ति को बताना भी उप-हासास्पद ही है। शतपथ ने तो तुम्हारे बताये हुए अर्थ के सर्वथा विपरीत अर्थ को ही बताया है, उसे हम पहिले ही बता चुके हैं। कुछ और भी बता देते हैं शतपथ ने यहाँ पर समन्त्रक शूर्पादान करने के लिये कहा है। हे शूर्प ! तुम

संज्ञां संज्ञानं समानज्ञानत्वमेव मन्त्रो वदति। हे शूर्प त्वमपि वर्षवृद्धमसि हविरपि वर्षवृद्धमतो युवयोः समानसंज्ञत्वात् सौभ्रात्रमेवेति परस्परमहिंसनमेव युक्तम्। वैदिकानां दृष्ट्या सर्वेषु वस्तुषु दैव्य आसुर्यश्च शक्तयो भवन्ति। शास्त्रोक्तविधानैः शास्त्रविहितमन्त्रोच्चारणैश्चासुर्यः शक्तयोऽभिभूयन्ते दैव्यश्च वर्धन्ते। सर्वञ्च जगच्चेतनाधिष्ठानत्वात् चिन्मयं तत्तदधिष्ठातृचेतनदैवताधिष्ठितत्वात् देवत्वाक्रान्तम्। अज्ञानोपहितचेतनकार्यत्वात् तत्र जाडचप्रतिबन्धत्वादिकमपि भवत्येव। तदभिप्रायेणैव शूर्पादयोऽपि चेतनवत्सम्बोध्यन्ते। रक्षांसि असुराश्च यज्ञादिबाधका अपनोद्यन्ते।

अथ निष्पुनाति। परापूत ँ रक्षः परापूता अरातय। इत्यथ तुषान् प्रहन्त्यपहत ँ रक्ष इति तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षा ँ स्यतोऽपहन्ति' (श० १।१।४।२१)। तुषाणां समन्त्रकमपनयनं विधत्ते—अथ निष्पुनातीति। तुषाणां राक्षसभागत्वात् तैस्तन्निरसनं विधत्ते अथ तुषान् प्रहन्तीति। पराभूतं रक्षः पराभूता अरातय इति मन्त्रद्वयेन तुषान् प्रहन्ति प्रक्षिपन्ति तेन नाष्ट्रा रक्षांस्येवापहन्ति। 'अथापविनक्ति। वायुर्वो विवनक्त्वित्ययं वै वायुर्योऽयं पवत एष वा इद ँ सर्वं विविनक्ति यदिदं किञ्च विविच्यते तदेनानैष एवैतद्विविनक्ति स यदैत एतत्प्राप्नुवन्ति यत्रैनानध्यप विनक्ति (श० १।१।४।२२) वितुषीकृतानां तण्डुलानां व्रीहिकणानां च पृथक्करणं विधत्ते अथापविनक्तीति। मन्त्रगतवायुशब्दास्यार्थमाह—अयं वै वायुर्योऽयं पवते इति। तस्य विवेचनसामर्थ्यमुपपादयति 'एष वा इद ँ सर्वं विविनक्तीति। तत् तस्मात् सर्वस्यापि विवेचकत्वात् एष एव वायुः एनान् व्रीहीन् तण्डुलांश्च विविनक्ति—अतस्तत्प्रार्थनं युक्तमेव। स यदैत इति—यदा यस्मिन् काले एते व्रीहितण्डुला एतद्विवेचनं प्राप्नुवन्ति तत्र तस्मिन् समये यत्र यस्यामिडापात्र्यां अधि उपर्येतानपविनक्ति। अनुपादेयतुषकणमलादिभ्यस्तण्डुलान् पृथक्करोति। 'अथानुमन्त्रयते—देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना सुप्रतिगृहीता असन्नित्यथ त्रिः फलीकरोति त्रिवृद्धियज्ञः' (श० १।१।४।२३) इडापात्रीगतस्य हविषः समन्त्रकमभिमन्त्रणं विधत्ते श्रुतिः'—अथानुमन्त्रयते' इति। यथाचैते तण्डुला अच्छिद्रेण पाणिना सुप्रतिगृहीता भवेयुः तथा हिरण्य पाणिः सविता देवो, हे तण्डुला वो युष्मान् प्रतिगृह्णातु। अथ त्रिः फलीकरणं विधत्ते—

वर्षवृद्ध हो। वर्षवृद्धत्व का उपपादन करते है—जल के प्रान्त प्रदेश में वर्तमान तृण विशेषों को 'नड़' कहते हैं। शूर्प के उपादान कारणभूत नड़, वेणु, इषीकादि तृण होते हैं। इन नडादि ओषधियों को जल वृष्टि ही वृद्धिङ्गत करती है। इसलिये हे शूर्प ! तुम वर्षवृद्ध हो, यह बात मन्त्र के द्वारा कही गई है। अवहत व्रीहियों का उस शूर्प में प्रक्षेप करके ब्राह्मण वाक्य मन्त्र का भी व्याख्यान के द्वारा संस्कार करता है।

उलूखल से निकाल कर अवहित व्रीहियों को शूर्प में रखता है। हे हविः ! वर्षवृद्ध हुए तुमको वह अपने में अवस्थित हुआ जाने। हवि का वर्षवृद्धत्व बताते हैं—व्रीहि और यवों में से किसी एक हवि का उपादान किया जाता है। क्योंकि 'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्बायजेत' इस वाक्य से उनका यज्ञसाधनत्व वैकल्पिक श्रुत है। व्रीहि-यवादि ओषधियों की वृद्धि, वृष्टि होने पर ही होती है यह प्रसिद्ध है। 'प्रति त्वा' इस अर्थ के अभिप्राय को बताते हैं—शूर्प और हवि इनमें परस्पर हिंसा न हो, यह बात 'शूर्पायच' के 'च' शब्द से कही गई है। मन्त्र, इनमें समान ज्ञानत्व को बता रहा है। हे शूर्प तुम भी वर्षवृद्ध हो और हवि भी वर्षवृद्ध है, इसलिये तुम दोनों की समान संज्ञा होने से तुम्हारा परस्पर सौभ्रात्र ही है। अतः परस्पर अहिंसन ही उचित है।

वैदिकों की दृष्टि में समस्त वस्तुओं में दैवी और आसुरी शक्तियाँ रहती हैं। शास्त्रोक्त विधियों से और शास्त्रविहित मन्त्रोच्चारण से आसुरी शक्तियों का पराभव होता है और दैवी शक्तियों की वृद्धि होती है। समस्त जगत् का अधिष्ठान 'चेतन' होने से वह 'चिन्मय' है अर्थात् तत्तद् अधिष्ठातृ चेतन देवताओं से अधिष्ठित होने के कारण वह देवत्व से व्याप्त है, और अज्ञानोपहित चेतन का कार्य रहने से उसमें जाडच, प्रतिवन्धत्वादि भी रहते ही हैं। इसी अभिप्राय से चेतन के समान ही शूर्पादिकों को भी सम्बोधित किया जाता है। राक्षस और असुर जो यज्ञादि के बाधक कहे जाते हैं, उनका निरसन किया जाता है। इसी अभिप्राय से तुषों का समन्त्रक अपनयन किया जाता है, क्योंकि तुषों को राक्षसों का भाग कहा गया है। दो मन्त्रों से तुषों पर प्रहार करने से वह प्रहार

'अथेति' तस्यत्रित्वं प्रशंसति—त्रिवृद्धि यज्ञ इति । सवनादित्रयरूपेण त्रिरावृत्तो हि यज्ञः । तदनुसारेण फलीकरणमपि त्रिः कर्त्तव्यम् । तस्मिन् फलीकरणे शाखान्तरीयं मन्त्रविधिमनुवदन्नाह—'तद्धैके देवेभ्यः शुन्धध्वं देवेभ्य शुन्धध्वमिति फलीकुर्वन्ति तदु तथा न कुर्यादादिष्टं वा एतद्देवतायै हविर्भवत्यथैतद्वैश्वदेवं करोति यदाहदेवेभ्यः शुन्धध्वमिति तत्समदं करोति तस्मादु तूष्णीमेव फलीकुर्यात् (श०१।१।४।२४) । अर्थात् एके शाखिनः 'देवेभ्यः शुन्धध्वमि'ति मन्त्रेण फलीकरणं कुर्वन्ति तन्निषेधति तदु तथा न कुर्यात् इति । कुतः 'अग्नये जुष्टं गृह्णामि' इत्येवमग्निदेवतायै आदिष्टमेवैतद्धविर्वर्तते । अत्र तु देवेभ्यः शुन्धध्वमिति मन्त्रेण एतद्धविः वैश्वदेवं विश्वदेवसम्बन्धि करोति । अतोदेवानामेतन्मन्त्रप्रयोगेण समदं परस्परं कलहमेव करोति । अतो वैश्वदेवत्वापादकं मन्त्र परित्यज्य तूष्णीमेव फलीकरणं कर्त्तव्यम् इति निगमयति । सर्वथ पि दयानन्दीस्यार्थस्यात्र न मनागपि सन्निवेशः ।

कात्यायनश्च—'त्रिः फलीकरोति देवेभ्यः शुन्धध्वं देवेभ्यः शुन्धध्वमित्येके' (का० श्रौ० सू० २।४।२२) उलूखले हविष्करणम्, कण्डनम् (अवहननम्) उद्वापः, निष्पवनम्, विवेचनं कणनिष्कासनमिति फलीकरणम् । तच्च वारत्रयं कर्त्तव्यम् । यदवहननादिकमेकवारं मन्त्रैरनुष्ठितं तत्सर्वं वारद्वयं पुनस्तूष्णीमावर्तनीयम् । 'फलीकृत्य कणान्निदधाति' (का० श्रौ० सू० २।४।२३) कुत्रचित्पात्रे फलीकृत्य कणनिधानं कार्यम् ।

अध्यात्मपक्षे तु—कुक्कुटोऽसि हे परमात्मन् त्वं कुक्कुटोऽसि भक्तान् पालयितुं तद्बाधकान् क्व क्व सन्ति मद्भक्तबाधका इत्यन्विच्छमाणो अटसि । भक्तानां कृते मधुजिह्वोऽपि भक्तिविमुखानां कुत्सितं भयङ्करं कुक्कुटपक्षिवत् ध्वनिविशेषं करोषि । मधुरा जिह्वा वाणी वेदरूपा सरस्वती यस्य स मधुजिह्वः 'मधुस्फीता वाचः परमममृतं निर्मितवतस्तव ब्रह्मन् किं वागपि सुरगुरोर्विस्मयपदम् ।।' (महिम्नस्तोत्र ३) इति पुष्पदन्तोक्तेः । अतः इषमन्नप्राप्तिकरमूर्जं वीर्यवद्रसप्रदं शब्दमांसमन्ताद्वद । पुनः कृष्णवेणुनादामृतमिव त्वद्वचनामृतप्रेप्सवो वयम् । शौर्यवीर्यप्रदेन तेन शब्देनैव वयं सङ्घाते सङ्घाते लौकिकैररिभिः संग्रामे कामक्रोधादिसङ्गरे च जेष्म शत्रून् विजेष्यामः । सम्यक् प्रतिपक्षिणो हन्यन्ते'

राक्षसों पर ही किया माना जाता है । इस प्रकार वितुषीकृत तुण्डुल और व्रीहिकणों का पृथक् करण करने के लिये कहा गया है । अयं वै वायुः योऽयम्पवते' इस ब्राह्मण वाक्य ने 'वायु' शब्द के अर्थ को बताया है । 'एष वा इदं सर्वं विविनक्ति' इस ब्राह्मण वाक्य ने उसके विवेचन सामर्थ्य को बताया है । एवञ्च सभी का विवेचक होने से यही वायु इन व्रीहि और तण्डुलों का विवेक करता है । अतः उसकी प्रार्थना करना उचित ही है । जिस समय ये व्रीहि-तण्डुल विविक्त किये जाते हैं, अर्थात् जिस इडापात्री में अनुपादेय तुष कण मल आदि मे तण्डुलों को पृथक् किया जाता है, उस इडापात्री में रखे हुए हवि का समन्त्रक अभिमन्त्रण करने के लिये श्रुति ने कहा है । जिससे इन तण्डुलों को अच्छिद्र पाणि से अच्छी तरह किया जा सके । तथा हिरण्यपाणि सविता देव तुमको स्वीकार कर ले । उसके बाद त्रिःफलीकरण का श्रुति ने विधान किया है । 'त्रिवृद्धि यज्ञः' कहकर उसके त्रित्व की प्रशंसा की गई है । भवनादित्रय के रूप में यज्ञ त्रिरावृत्त होता है । तदनुसार फलीकरण भी तीन वार करना चाहिये । उस फलीकरण के विषय में शाखान्तरीय मन्त्र विधि का अनुवाद करते हुए कहा है कि कुछ अन्य शाखीय लोग 'देवेभ्यः शुन्धध्वम्' मन्त्र से जो फलीकरण करते हैं, वह उचित नहीं है, क्योंकि 'अग्नये जुष्टं गृह्णामि' से अग्नि देवता के लिये आदिष्ट हुआ ही वह हवि है । किन्तु यहाँ पर 'देवेभ्यः शुन्धध्वम्' मन्त्र से इस हवि को विश्वदेवसम्बन्धि किया जा रहा है । अतः इस मन्त्र के प्रयोग करने से देवताओं में बडे मद के साथ परस्पर कलह ही होने लगेगा । अतः वैश्वदेवत्व के आपादक मन्त्र का परित्याग कर फलीकरण को तूष्णीं (बिना मन्त्रोच्चारण के) ही करना चाहिये । यह सैद्धान्तिक तात्पर्य निकाला गया है । किसी भी दृष्टि से दयानन्दीय अर्थ का यहाँ पर यत्किञ्चित् भी सन्निवेश नहीं हो पा रहा है । कात्यायन ने उलूखल में हविष्करण, कण्डन, (अवहनन), उद्वाप, निष्पवन, विवेचन कणनिष्कासन, इस फलीकरण को तीन बार करने के लिये कहा है । जो अवहननादिक एक बार समन्त्रक किया गया, उस समस्त प्रक्रिया को पुनः दो बार तूष्णीं

यत्र तत्सङ्घातं युद्धम्। हे ब्रह्मन् त्वं वर्षवृद्धमसि वर्षेण स्वानन्दामृतवर्षणेन वृद्धं वृहत्तममसि। केचिद् दानेन वर्धन्ते भवांस्तु स्वानन्दवर्षेणैव वर्धते एवं सत्यपि हतभाग्यास्त्वां न विन्दन्ति अतः प्रार्थयामहे जीवस्त्वां वर्षवृद्धं वेत्तु विजानातु तथा सत्येव जीवानां कल्याणसम्भवात्। त्वदनुग्रहेण अपहतं रक्षः विघ्नकारकं रक्षः अरातयश्चान्ये भजनप्रतिकूला आलस्यादयो बाह्या वा परापूताः पराक्षिप्ताः। भो जीवाः भगवत्कृपयाऽपहतं रक्षो वो युष्मान् वायुर्हिरण्यगर्भो विविनक्तु असत्संसर्गात् पृथक्करोतु भगवान् हिरण्यपाणिः सविता देवोऽच्छिद्रेण निर्दोषेण हस्तेन वो युष्मान् प्रतिगृभ्णातु वैदिके सन्मार्गे प्रवर्तयेत्।

१—अनुष्ठानप्रकारस्तु पूर्वोक्तादनन्तरमित्थम्—अध्वर्युः वारणं (वारणकाष्ठनिर्मितं) चमसं सव्यहस्ते कृत्वा दक्षिणहस्तेनोदपात्रेण स्वयं तस्मिन्नुदकमासिच्य दक्षिणहस्तेन चमसं गार्हपत्यस्योत्तरतो निधाय तदनन्तरं दक्षिणहस्तेन चमसस्योदकमालभते। ततो ब्रह्मन्नपः प्रणेष्यामीति ब्रह्माणं पृच्छति। वाचं यच्छेति यजमानं प्रेष्यति सर्वेषु प्रेषेषु कृतेषु ब्रह्मा प्रणययज्ञं देवतावर्धयत्वं नाकस्य पृष्ठे यजमानो अस्तु सप्तऋषीणां सुकृतां यत्र लोकस्तत्रेमं यजमानं च धेहि इत्यन्तमुपांशु जपित्वा ओं प्रणयेत्यनुज्ञां करोति। यथाध्वर्युः शृणोति। ततोऽध्वर्युश्चमसं गृहीत्वा आहवनीयादुत्तरस्यां दिशि

करना चाहिये। कात्यायन ने यह भी निर्देश किया है कि कहीं किसी स्थल पर फलीकरण के पश्चात् कणनिधान किया जाता है।

अध्यात्म पक्ष में इस प्रकार अर्थ होगा—'कुक्कुटोऽसि' हे परमात्मन्! तुम कुक्कुट हो, अपने भक्तों का पालन करने के लिये उनके पीडकों (बाधकों) को खोजते हुए 'अटसि' सञ्चार करते रहते हो, अर्थात् मेरे भक्तों को पीडित करने वाले कहाँ-कहाँ पर हैं? यह अन्वेषण (खोज) करते रहते हो। अपने भक्तों के लिये मधुजिह्व होते हुए भी, भक्ति विमुख लोगों के लिये कुक्कुट पक्षी के समान भयङ्कर ध्वनि विशेष किया करते हो। 'मधुरा जिह्वा वाणी वेदरूपा सरस्वती यस्य सः मधुजिह्वः' यह 'मधुजिह्व' शब्द की निरुक्ति है। इसी बात को पुष्पदन्ताचार्य ने भी कहा है—'मधुस्फीता वाचः परमममृतं निर्मितवतस्तव ब्रह्मन् किं वागपि सुरगुरोर्विस्मयपदम्।' इति। अतः 'इषम्' अन्न प्राप्ति कर 'ऊर्जं' वीर्यवत् रसप्रद शब्द को चारों ओर से बोलो। हम लोग कृष्णवेणुनाद मृत के समान तुम्हारे वचनामृत को प्राप्त करने के लिये पुनरपि उत्कण्ठित हो रहे है। शौर्य-वीर्यप्रद इस शब्द से ही हम लोग, लौकिक शत्रुओं के साथ संग्राम तथा काम-क्रोधादि के साथ संग्राम करने में उन शत्रुओं को निश्चित ही जीत पायेंगे। प्रतिपक्षी को सम्यक् प्रकार मे जहाँ मारा जाता है, उस युद्ध को 'सङ्घात' कहते हैं। हे ब्रह्मन्! तुम वर्षवृद्ध हो अर्थात् वर्षेण यानी स्वानन्दामृत की वर्षा करने से वृद्धं यानी वृहत्तम हो। कुछ लोग तो दान के कारण वृद्धि को प्राप्त होते हैं, किन्तु आप तो स्वानन्द की वर्षा से ही वृद्धि को प्राप्त होते हो, ऐसा होने पर भी भाग्यहीन लोग तुम्हें प्राप्त नहीं कर पाते हैं। अतः हम प्रार्थना करते हैं कि यह जीव तुम्हें वर्षवृद्ध समझे। यह जान लेने पर ही जीवों का कल्याण होना सम्भव हो सकता है। तुम्हारे अनुग्रह से 'अपहतं रक्षः' विघ्नकारक राक्षस गण और शत्रुगण तथा भजन के प्रतिकूल रहने वाले अन्य आलस्यादिक अथवा 'बाह्य' बाहरी शत्रु 'परापूताः' पराक्षिप्त हो जाते हैं। हे जीवों! भगवत्कृपा से राक्षस नष्ट हो चुके हैं। वायु तुम लोगों को असत्संसर्ग से पृथक् करे। भगवान् हिरण्यपाणि सवितादेव अपने निर्दोष हस्त से तुम्हें वैदिक मन्त्र के द्वारा प्रेरित करे।

१—अनुष्ठान का प्रकार यह है—अध्वर्यु वारणकाष्ठ से निर्मित चमसपात्र को सव्य हस्त में लेकर दक्षिण हस्त से जलपात्र में से स्वयं उस चमसपात्र में जल का सिञ्चन करके दक्षिण हस्त से उस चमस पात्र को गार्हपत्य के उत्त में रखकर तदनन्तर दक्षिण हाथ से चमस पात्र में स्थित जल का स्पर्श करे। तदनन्तर 'ब्रह्मन् अपः प्रणेष्यामि' ऐसा ब्रह्मा से पूछे। तब ब्रह्मा 'वाचम्प्रयच्छ' यह आज्ञा (प्रेष) यजमान को देता है। समस्त प्रेष देने के बाद ब्रह्मा 'प्रणय यज्ञं······ ···यजमानञ्च देहि' तक उपांशु जप करके 'ॐ प्रणय' यह अनुज्ञा अध्वर्यु को सुनाई दे इस प्रकार

बहिर्वेदिदर्भेषु प्रणीताचमसं निदधाति कस्त्वा युनक्तीति मन्त्रेण नाहवनीयमतिक्रम्य न चाप्राप्य किन्त्वाहवनीयमुत्तरेण समतयैवासादयेत्। उपरिष्टादपि दर्भैश्छादयेत्। तत आहवनीयस्य प्रागग्रैः पश्चादग्रैश्च दर्भैः परिस्तरणम्। ततो दक्षिणाग्नेरप्येवमेव। ततोऽध्वर्युर्यजमानो वा द्विशः पात्राण्यासादयति विनियोगक्रमेण आहवनीये गार्हपत्ये वा हविःश्रपणं करिष्यन् भवति। तस्योत्तरतः पश्चाद्वा उत्तरतश्चेदुदक्संस्थम् असम्भवे प्राक्संस्थमपि पश्चाच्चेत् प्राक्संस्थमसंभव उदक्संस्थमपि। आसादनञ्च समीपे निधानम्। एकेन प्रयत्नेन द्वे द्वे पात्रे गृहीत्वा निदधाति।

२—तथाहि—शूर्पाग्निहोत्रहवणि स्फ्यकपालं शम्या कृष्णाजिनं, उलूखलमुसलं दृषदुपलं अनो वा पात्री वा धान्यं व्रीहयो यवा वा व्रीह्याग्रयणादनन्तरं यवाग्रयणात्प्राक् व्रीहय एव यवाग्रयणानन्तरं व्रीह्याग्रयणात् प्राक् यवा एव पवित्रच्छेदनामनि पवित्रे च धृष्टिः संयवनोदकम् स्थाली आज्यञ्च वेदो दक्षिणार्थश्च उदकतृणमभ्रिः इध्माबर्हिस्स्रुवश्चेत्यत्रस्रुवो जुहूः उपभृतध्रुवा संमार्गार्हाणि यानि पात्राणि द्वे प्राशित्र प्रहरणे' शृतावदानं ययोः पुराडाशयोः साधारणी एका पुरोडाशपात्री योक्त्रं लून कुशाश्च पक्षे परिधयस्त्रयः पीठं कुशास्तीर्णं इडापात्री षडवत्तम् अन्तर्धानशकटः पूर्णपात्रं पक्षकर्मापवर्गा समित् एवं पात्राण्यासाद्य हविष्यसहितमनः गार्हपत्यस्य पश्चात् प्रागीषमवस्थापयेत् तच्च युगयोक्त्रसहितं वस्त्रपरिवेष्टितं स्थापनीयम्। ततः 'कर्मणे वामि'ति मन्त्रेण अध्वर्युः शूर्पाग्निहोत्रहवण्योरादानं करोति। तत आरभ्य हविरावपनपर्यन्तं हविष्कृदाह्वानपर्यन्तं वाध्वर्योर्वाग्यमनम्। ततः 'प्रत्युष्टं रक्ष' इतिमन्त्रेण शूर्पाग्निहोत्रहवण्योर्गार्हपत्ये प्रतपनम् निष्टप्तमिति मन्त्रेण वा। तत उदकोपस्पर्शनम्। तत उर्वन्तरिक्षमितिमन्त्रेण शकटं प्रतिगच्छति। शकटाग्रसमीप उपविश्य धूरसीति मन्त्रेण तस्य दक्षिणामुत्त७ं वा एकांधुरमभिमृशति ततस्तत्र स्थित एवोपस्तम्भनस्य पश्चात् उत्तरामीषामालभ्य देवानामसीति मन्त्रं जपति। ततः शकटस्य पश्चान्मार्गेण दक्षिणतोगत्वा विष्णुस्त्वा क्रमतामितिमन्त्रेण दक्षिणचक्रस्यो-

---

देता है। तब अध्वर्यु चमस को लेकर आहवनीय की उत्तर दिशा में वेदी के बाहरी भाग में बिछे दर्भों पर प्रणीता चमस को रखता है, रखते समय 'कस्त्वायुनक्ति' मन्त्र को पढ़ता है। अर्थात् आहवनीय का उल्लङ्घन (अतिक्रमण) करके अथवा उसके पहले ही (आहवनीय तक बिना पहुँचे ही) उसे न रख दे, अपितु आहवनीय के उत्तर में उसी के बराबरी में उसको स्थापित करे और उसको दर्भों से आच्छादित कर दे। तदनन्तर आहवनीय का परिस्तरण प्रागग्र और पश्चादग्र दर्भों से करे। उसके बाद दक्षिणाग्नि का भी इसी तरह परिस्तरण करे। तदनन्तर अध्वर्यु अथवा यजमान विनियोग क्रम से दो-दो पात्रों को जोड़ी से रखे। आहवनीय अथवा गार्हपत्य पर उत्तर भाग या पश्चिम भाग में हविःश्रपण करना है। उत्तर भाग में करना हो तो उदक्संस्थ, वह यदि सम्भव न हो तो प्राक्संस्थ भी पात्रासादन किया जा सकता है। प्राक्संस्थ का सम्भव न हो तो उदक्संस्थ भी हो सकता है। आसादन का अर्थ है, समीप रखना। एक प्रयत्न में ही दो-दो पात्रों को लेकर रखना चाहिये।

२ - जैसे—शूर्प-अग्निहोत्रहवणी, स्फ्य-कपाल, शम्या-कृष्णाजिन, उलूखल-मुसल, दृषद्-उपल, शकट अथवा पात्री, धान्य में से व्रीहि अथवा यव। व्रीह्याग्रयण के अनन्तर और यवाग्रयण से पूर्व व्रीहि ही तथा यवाग्रयण के अनन्तर और व्रीह्याग्रयण से पूर्व यव ही का ग्रहण करना चाहिये। पवित्रच्छेद नामक पवित्र में धृष्टि यानी संयवनोदक, स्थाली और आज्य, वेद और दक्षिणार्थ, उदकतृण-अभ्रि, इध्माबर्हि और स्रुव। यहाँ स्रुव शब्द से जुहू और उपभृत् शब्द से ध्रुवा संमार्ग के योग्य जो पात्र हैं, जैसे दो प्राशित्रहरण, दो शृतावदान पुरोडाशों की साधारण एक पुरोडाशपात्री, योक्त्र और लूनकुशाएँ, पक्ष में तीन परिधि, पीठ कुशों से आस्तीर्ण इडापात्री, षडक्त, अन्तर्धानशकट, पूर्णपात्र, पक्षकर्मापवर्गासमित्—इस प्रकार पात्रासादन करके हविष्य के सहित शकट को गार्हपत्य के पश्चात् भाग में शकट के फड (ईषा) को प्राक करके स्थापित करे। उसे युग-योक्त्र के सहित वस्त्र से वेष्टित करके स्थापित करे। उसके बाद 'कर्मणेवाम्' इस मन्त्र से अध्वर्यु शूर्प और अग्निहोत्रहवणी दोनों का ग्रहण करता है। तब से आरम्भ कर हविरावपन तक अथवा हविष्कृदाह्वान तक अध्वर्यु का वाग्यमन (मौन) रहता है। उसके बाद 'प्रत्युष्टं रक्षः' इससे अथवा 'निष्टप्तम्' इस मन्त्र से शूर्प और अग्निहोत्रहवणी दोनों का गार्हपत्य पर प्रतपन किया जाता है।

पर्यारोहति। आरुह्योरुवातायेति हविष्यान् व्रीहीन् यवान् वा प्रेक्षते। ततो हविर्मध्ये यदि किञ्चित् तृणादीनि स्युस्तर्हि तद्गृहीत्वा 'अपहतं रक्षं' इति मन्त्रेण निरस्यति। अन्याभावे अनेनैव मन्त्रेण हविरालभते। ततोऽपः स्पृशति। ततो यच्छन्ता' (वा० सं० १।९) मिति मन्त्रेण हविरालभते। ततः सव्यहस्ते शूर्पं निधाय तस्योपर्यग्निहोत्रहवणीमुत्तानां निधाय प्राङासीनो 'देवस्यत्वेति' (वा० सं० १।१०) मुष्ट्या प्रक्षिपति एवमपरं मुष्टिद्वयमनेनैव मन्त्रेण प्रक्षिप्य चतुर्थमुष्टिं तूष्णीं प्रक्षिपति। ततो गृहीतं हविः शूर्पमध्ये दक्षिणपार्श्वे प्रक्षेपणीयम् यथा हविरन्तरेण सङ्करो न स्यात्। ततोऽग्नीषोमीय पुरोडाशार्थं देवस्य त्वा अग्नीषोमाभ्यां जुष्टमिति (वा० सं० १।१०) मन्त्रेण त्रिर्गृह्णाति चतुर्थं तूष्णीम् ततः शूर्पमध्ये पृथगुत्तरतस्तद्धविः प्रक्षिप्य 'भूतायत्वेति' (वा० सं० १।११) मन्त्रेण शकटे परिशिष्टं हविरभिमृशति। तच्च गृहीतं हविर्मध्येन न मिश्रणीयम्। ततोऽनस्युपविष्ट एव 'स्वरभिविख्येषांमिति (वा० सं० १।११) मन्त्रेण पात्रीमीक्षते। ततो दृꣳहन्तामिति (वा० सं० १।११) मन्त्रेण शकटादवरोहति। तत 'उर्वन्तरिक्ष' (वा० सं० १।११) मितिमन्त्रेण गार्हपत्यसमीपे उत्तरस्यां गच्छति। ततः शूर्पं सहविष्कं 'पृथिव्यास्त्वे' (वा० सं० १।११) ति मन्त्रेण श्रपणस्य (गार्हपत्यस्य) हवनीयस्य वा पश्चात् सादयति।

३—अथवा अनसः कार्यं पात्र्या कार्यम् अस्मिन् पक्षे अनसः स्थापनादिकं न भवति तत्स्थाने पात्री आसादनीया। पात्र्यासादनानन्तरं सहविष्कां पात्रीं श्रपणस्य पश्चात् प्रागग्रामुदगग्रां वा स्थापयित्वा तस्या अधस्तात् स्फ्यं प्रागग्रमुदगग्रं वा प्रेरयित्वोपधेयम्। ततः शूर्पाग्निहोत्रहवण्योरादानम्। अस्मिन् पक्षे उर्वन्तरक्षमिति पात्री समीपे गत्वा धूरसीति देवानामसीति विष्णुस्त्वाक्रमतामित्येतान् त्रीन् मन्त्रान् पात्रीविले जपति पात्र्याः पूर्वार्धमभिमृश्य जपति 'बिलं

तदनन्तर जलस्पर्श करना चाहिये। उसके बाद 'उर्वन्तरिक्षम्' मन्त्र से शकट की ओर जाता है। शकट के अग्रभाग के समीप बैठकर 'धूरसि' मन्त्र से उस शकट की दक्षिण या उत्तर की एक धुरा का स्पर्श करना चाहिये। तदनन्तर वहाँ स्थित हुए ही उपस्तम्भन करने के पश्चात् उत्तरा ईषा का स्पर्श करके 'देवामसि' मन्त्र का जप करे। उसके बाद शकट के पीछे के मार्ग से दक्षिण की ओर जाकर 'विष्णुस्त्वा क्रमताम्' मन्त्र से दक्षिण चक्र के ऊपर आरोहण करके 'उरुवाताय' मन्त्र से व्रीहि अथवा यवात्मक हविष्य को देखे। तदनन्तर हवि में यदि कुछ तृण आदि हों, तो उसे लेकर 'अपहतं रक्षः' मन्त्र से निकाल दे। यदि अन्य तृणादिक न हों तो इसी मन्त्र से हवि का स्पर्श कर ले। उसके बाद जल स्पर्श करे। उसके बाद 'यच्छन्ताम्' मन्त्र से हवि का स्पर्श करे। ततः सव्य हस्त में शूर्प लेकर उस पर अग्निहोत्रहवणी को उत्तान रखकर पूर्वाभिमुख हुआ 'देवस्यत्वा' मन्त्र से एक मुष्टि हवि उसमें डाल दे, उसी प्रकार पुनः दो मुष्टि हवि, इसी मन्त्र से उसमें डालकर चौथी मुष्टि से हवि को लेकर बिना मन्त्र के (अमन्त्रक) ही उसमें डाल दे। इस प्रकार ग्रहण किये हुए हवि को शूर्प में उसके दक्षिण भाग में सँवार के स्थापित करे, जिससे अन्य हवि में उसका मिश्रण न हो पाय। उसके बाद अग्नीषोमीय पुरोडाशार्थ 'देवस्यत्वा अग्नीषोमाभ्यां जुष्टम्' मन्त्र से तीन मुष्टि पूर्व की तरह हवि का ग्रहण करे और चतुर्थ मुष्टि हवि का तूष्णीं ग्रहण करे। तब शूर्प से पृथक् रूप से शूर्प के उत्तर भाग में उस हवि को रखकर 'भूताय त्वा' मन्त्र से शकट में बचे हुए अवशिष्ट हवि का स्पर्श करे। उस गृहीत किये हुए हवि का किसी अन्य के साथ मिश्रण नहीं होना चाहिए। तदनन्तर शकट में बैठा हुआ ही 'स्वरभिविख्येषम्' मन्त्र से पात्री को देखे। तदनन्तर 'दृꣳहन्ताम्' मन्त्र से शकट से नीचे उतरे। उसके बाद 'उर्वन्तरिक्षम्' मन्त्र से गार्हपत्य के समीप उसके उत्तर भाग में जाय। तदनन्तर सहविष्क शूर्प का 'पृथिव्यास्त्वा' मन्त्र से श्रपण (गार्हपत्य) के अथवा आहवनीय के पश्चिम भाग में स्थापन कर दे।

३—अथवा शकट का कार्य, पात्री से भी किया जाता है। इस पक्ष में शकटस्थापन आदि नहीं होता है। उसके स्थान में पात्री का आसादन (स्थापन) किया जाता है। पात्री का आसादन करने के अनन्तर सहविष्क पात्री को श्रपण (गार्हपत्य) के पश्चिम भाग में प्रागग्र अथवा उदगग्र स्थापित करके उसके नीचे स्फ्य को प्रागग्र अथवा उदगग्र करके रखना चाहिये। तदनन्तर शूर्प और अग्निहोत्रहवणी दोनों का ग्रहण करे। इस पक्ष में 'उर्वन्तरिक्षम्'

पात्रीमुख'मिति तैत्तिरीयश्रुतेः। यद्युवैवानो भवति जघनेन गार्हपत्यं स्फ्यं निदधाति स्फ्योपरि पात्री पात्र्यां पुरोडाशीयानावपतीत्यर्थः। पूर्वार्धं पात्र्या अभिमृशति धूरसीत्यादि। पात्र्या उत्तरतः पश्चाद्वा दक्षिणतो वा यथासम्भवं प्राङ्मुख उपविष्टो हविरीक्षणमपद्रव्यनिरसनमालभनं वा कृत्वा अप उपस्पृश्य हविरालभ्य ग्रहणं शेषभिमर्शनम् प्राङीक्षणं च कृत्वा दृ ७ हन्तामित्यनेन मन्त्रेणोत्तिष्ठति। तत उत्तरतो गत्वा श्रपणस्य पश्चादासादयति। ततः समप्रमाणौ साग्रौ अनन्तर्गर्भौ अक्षारिताग्नौ कुशौ 'पवित्रेस्थ' (वा० सं० १।१२) इति मन्त्रेण कुशैः छुरिकास्थानीयैश्छिनत्ति।

४—अथवा तथा विधांस्त्रीन् कुशान् अनेनैव मन्त्रेणानूहितेन कुशैश्छिनत्ति। ततोऽग्निहोत्रहवण्यां स्वयमेवोदकमासिच्य सविता व इति मन्त्रेण ताभ्यां पवित्राभ्यामुत्पुनाति उत्क्षिपति। पवित्रयोर्हविर्ग्रहण्यां स्थापनम्। ततः सव्यहस्तेऽग्निहोत्रहवणौ निधाय सव्यहस्तस्थामेव संलग्नामेव दक्षिणहस्तेनोदिङ्गयति ऊर्ध्वं चालयति। ततः 'प्रोक्षिताः स्थे' (वा० सं० १।१३) ति मन्त्रेण प्राणीतेन जलेन तासां सकृत्प्रोक्षणम् 'प्रोक्षिताः स्थेति तासां प्रोक्षणमिति' (का० श्रौ० सू० २।३।३५) इतिरीत्या सायणादिरीत्या तु मानसोपचारैरेव तासां प्रोक्षणम्। ततो ब्रह्मन् हविः प्रोक्षिष्यामीति ब्रह्माणं पृच्छति—ततो ब्रह्मा प्रोक्ष यज्ञं धेहीत्यन्तमुपांशु जपित्वा—ओम् प्रोक्षेत्युच्चैः प्रस्तौति। ततोऽध्वर्युरग्निहोत्रहवण्याः सकाशादुदकं हस्तेनादाय शूर्पस्थे हविषी प्रोक्षति अग्नये त्वा जुष्टमिति प्रथमम् अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टमिति द्वितीयम्, ततः सर्वाणि पात्राणि दैव्याय कर्मणे इति मन्त्रेण प्रोक्षति। अत्र बहूदकमादाय प्रोक्षणं कार्यम्

मन्त्र से पात्री के समीप जाकर 'धूरसि, देवानामसि, विष्णुस्त्वा क्रमताम्' इन तीन मन्त्रों का जप, पात्री के बिल से करना चाहिये, 'बिलं पात्रीमुखम्' इस तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार पात्री के पूर्वार्धभाग का स्पर्श कर जप करना चाहिये। यदि शकट हो तो गार्हपत्य के पश्चिम भाग में स्फ्य को स्थापित करे, उस पर पात्री को रखे, उस पात्री में पुरोडाशीय पदार्थों को रखे। 'धूरसि' मन्त्र से पात्री के पूर्वार्ध का स्पर्श करे। पात्री के उत्तर या पश्चिम अथवा दक्षिण भाग में यथा सम्भव प्राङमुख बैठकर हविरीक्षण अपद्रव्य निरसन आलम्भन (स्पर्श) करे। तब हवि का स्पर्श करते हुए उसका ग्रहण करे और अवशिष्ट हवि का अभिमर्शन (स्पर्श) करे। तदनन्तर पूर्व की ओर देखकर 'दृ ७ हन्ताम्' मन्त्र कहते हुए उठे, और उत्तर की ओर से जाकर गार्हपत्य के पश्चात् भाग में उस गृहीत हवि को रख दे। तदनन्तर समान प्रमाण के साग्र, अनन्तर्गर्भ, अक्षारिताग्र दो कुशों (दर्भों) को छुरिका के स्थान में तीन कुशों से 'पवित्रेस्थ' मन्त्र को कहकर काट दे।

४—अथवा उसी प्रकार के तीन कुशों को इसी अनूहित मन्त्र से तीन कुशों के द्वारा काट दे। उसके बाद अग्निहोत्रहवणी में स्वयमेव जल डालकर 'सविता व' मन्त्र से उन दो पवित्रों से उस जल का उत्पवन (उत्क्षेपण) करे। तदनन्तर उन दो पवित्रों को हविर्ग्रहणी में रख दे। उसके बाद सव्य हाथ में अग्निहोत्रहवणी को रखकर दक्षिण हाथ से उसके जल का उद्ङ्गिन करना चाहिये यानी ऊपर की ओर उछालना चाहिये। उसके बाद 'प्रोक्षिताः स्थ' मन्त्र से प्रणीता पात्र के जल से उनका सकृत् प्रोक्षण करना चाहिये। किन्तु सायण के अनुसार मानसोपचार से ही उनका प्रोक्षण करने के लिये कहा गया है। तदनन्तर 'ब्रह्मन् हविः प्रोक्षिष्यामि' इस प्रकार ब्रह्मा से पूछता है। तब ब्रह्मा 'प्रोक्ष यज्ञ धेहि' तक उपांशु कहकर 'ॐ प्रोक्ष' ऐसा ऊँचे स्वर में कहता है। तब अध्वर्यु अग्निहोत्रहवणी पात्र से जल को हाथ में लेकर शूर्प स्थित हवि पर प्रोक्षण करता है। 'अग्नये त्वा जुष्टम्' मन्त्र से प्रथम हवि को 'अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टम्' मन्त्र से द्वितीय हवि को तदनन्तर 'दैव्याय कर्मणे' मन्त्र से समस्त पात्रों को प्रोक्षण करे। बहुत सा जल लेकर प्रोक्षण करना चाहिये, जिससे प्रोक्षण के जल कण सभी पात्रों का स्पर्श कर सकें। प्रत्येक पात्र पर प्रोक्षण की आवृत्ति का पक्ष युक्ततर है, क्योंकि 'प्रोक्षण' करना पात्रों का संस्कार है। प्रत्येक के संस्कारार्थ संस्कार की आवृत्ति करना उचित ही है। पात्रों को न्युब्ज (मुँह के बल लिटाकर) स्थापित करे। 'उत्तानानि कृत्वा त्रिः प्रोक्षति' के अनुसार सत्रान्तरों में सकृत् (एक बार) समन्त्रक और दो बार तूष्णीम् प्रोक्षण पत्रों को उत्तान करके करे। तद-

यथा प्रोक्षणीविन्दवः सर्वाणि पात्राणि स्पृशेयुः। प्रतिपात्रं प्रोक्षणावृत्तिपक्षो युक्ततरः प्रोक्षणस्य पात्रसंस्कारत्वात् प्रतिसंस्कारं संस्कारावृत्तिर्युक्तैव। पात्राणि न्युब्जान्यासादनीयानि। 'उत्तानानि कृत्वा त्रिः प्रोक्षतीति सत्रान्तरेषु सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीम्। ततोऽसञ्चरे प्रणीताहवनीयान्तराले गार्हपत्याहवनीयान्तराले वा प्रोक्षणीनां निधानं कार्यम् उभयत्र सञ्चरणनिषेधात्। ततोऽध्वर्युः शर्मासीति मन्त्रेण कृष्णाजिनं हस्तेन गृह्णाति। तत आसादितपात्रेभ्यः परतो गत्वा अवधूतमितिमन्त्रेण कृष्णाजिनमवधूनोति। उदकोस्पर्शनम्। तत उत्तरेण गार्हपत्यमुत्करदेशे प्रत्यग्ग्रीवं कृष्णाजिनमास्तृणाति। 'अदित्यास्त्वगसी'तिमन्त्रेण सव्येन हस्तेनाविमुक्ते कृष्णाजिने दक्षिणेन हस्तेन उलूखलमाहृत्य कृष्णाजिनस्योपरि निदधाति। अद्रिरसि वानस्पत्य इति मन्त्रेण ग्रावासि पृथुबुध्न इत्यनेन वा प्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति उभयोर्मन्त्रयोः शेषः कार्यः ततः शूर्पे पृथक् स्थापितं हविर्द्वयं मिश्रीकृत्य सव्येनाविमुक्तोलूखलमध्ये अग्नेस्तनूरितिमन्त्रेण शूर्पेणैव हविरावपति। ततोऽध्वर्युर्यजमानयोर्वाग्विसर्गः। ततोऽध्वर्युः 'बृहद्ग्रावे'तिमन्त्रेण मुसलंहस्तेन गृह्णाति स इदं देवेभ्य इति। उलूखलमध्ये प्रवेशयति। ततः स्वयमेव कण्डने प्रवृत्तः कण्डनं कुर्वन्नेव हविष्कृदेहि हविष्कृदेहीति त्रिः हविःकर्त्रीं पत्नीं हविषः कण्डनकर्त्तारमग्नीधं वाह्वयति। अत्रोभयोर्वाग्विसर्गः। यदैव हविष्कृदेहीत्याह्वानं तदैवाग्नीत् कुक्कुटोऽसीति मन्त्रेण शम्यया द्विर्दृषदं कुट्टयति। उपलां शम्यया सकृत्कुट्टयति। तदनन्तरं पत्नी वा आग्नीध्रो वा कण्डनं करोति 'वितुषीभूतेषु व्रीहिषु "अध्वर्युर्वर्षवृद्धयसीतिमन्त्रेण हस्तेन शूर्पं गृह्णाति। ततः त्वा वर्षवृद्धमिति मन्त्रेण कण्डितहविरुलूखलान्निष्कास्य तूष्णीं शूर्पे निदधाति ततः 'परापूतं रक्ष' इति मन्त्रेण शूर्पेण निष्पुनाति तुषान् पृथक्करोति। ततोऽप उपस्पृश्य वायुर्वा" इति मन्त्रेण तण्डुलान् कण्डितान् व्रीहींश्च विविनक्ति। ततः कण्डितान्निःसार्य अकण्डितान् पुनरप्युलूखले प्रवेश्य कण्डनं कृत्वा पुनर्निष्कास्य शूर्पे कृत्वा तुषान् पृथक्कुर्यात्। ततः सर्वांस्तुषान'पहतमि'ति मन्त्रेणोत्करदेशे निरस्येत्।

नन्तर प्रणीता और आहवनीय के अन्तराल (बीच) में अथवा गार्हपत्य और आहवनीय के अन्तराल में प्रोक्षणी पात्र को स्थापित करे, क्योंकि उभयत्र सञ्चरण का निषेध किया गया है। उसके बाद अध्वर्यु, 'शर्मासि' मन्त्र से कृष्णाजिन का हाथ से ग्रहण करे। तदनन्तर आसादित पात्रों के आगे जाकर 'अवधूतम्' मन्त्र से कृष्णाजिन को दिलावे, और जलस्पर्श करे। तब गार्हपत्य के उत्तर उत्कर देश में कृष्णाजिन को प्रत्यक् ग्रीव करके बिछावे। 'अदित्यास्त्वगसि' मन्त्र से सव्यहस्त से स्पृष्ट उस कृष्णाजिन पर दक्षिण हस्त से उलूखल को लेकर रखे। 'अद्रिरसि वानस्पत्यः' मन्त्र से अथवा 'ग्रावासि पृथुबुध्नः' मन्त्र से भी उलूखल की उस पर स्थापना कर सकते हैं। दोनों मन्त्रों के साथ 'प्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्तु' यह शेष जोड़ना चाहिये। उसके बाद शूर्प में पृथक्-पृथक् रखे हुए दोनों हवियों को परस्पर मिश्रित करके सव्य हाथ से पकड़े हुए उलूखल में 'अग्नेस्तनूः' मन्त्र से शूर्प से ही हवि डालता है। तब अध्वर्यु और यजमान का वाग्विसर्ग होता है यानी अपना मौन तोड़ते हैं। उसके बाद अध्वर्यु 'बृहद्ग्रावा' मन्त्र से मुसल को हाथ से ग्रहण करता है। 'स इदं देवेभ्यः' मन्त्र से उलूखल में उसे रखता है। उसके बाद स्वयं ही कण्डन में प्रवृत्त हुआ अध्वर्यु कण्डन करता हुआ ही 'हविष्कृदेहि, हविष्कृदेहि' ऐसा तीन बार हविः कर्त्री पत्नी को अथवा कण्डन करने वाले अग्नीध को बुलाता है। इस समय दोनों का वाग्विसर्ग होता है जब भी 'हविष्कृदेहि' यह आह्वान किया जाता है, अभी अग्नीत् 'कुक्कुटोऽसि' मन्त्र से शम्या से दो बार दृषद् को बजाता है। और शम्या से उपला को सकृत् (एक बार) बजाता है। तदनन्तर पत्नी अथवा अग्नीध कण्डन करता है। व्रीहियों के निस्तुष हो जाने पर अध्वर्यु 'वर्षवृद्धमसि' मन्त्र से हाथ में शूर्प का ग्रहण करता है। तब 'त्वा वर्षवृद्धम्' मन्त्र से कण्डित हवि को उलूखल से निकाल कर तूष्णीं (अमन्त्रक) शूर्प में रखता है। तदनन्तर 'परापूतं रक्षः' मन्त्र से उसको शूर्प से फटकता है यानी पखाड़ता है, और तुषों को अलग करता है। तब जल स्पर्श करता है। 'वायुर्वा' मन्त्र से तण्डुल और कण्डित व्रीहियों को अलग-अलग करता है। कण्डितों को निकाल देता है, अकण्डितों को पुनरपि उलूखल में डालकर पुनः उनका कण्डन करके पुनः उन्हें निकालकर शूर्प में डालकर तुषों को 'अपहतम्' मन्त्र से उत्कर में डाल दे। फिर जल स्पर्श करे। तब शूर्प में स्थित तण्डुलों को पात्री में डालकर 'देवो वः सविता' मन्त्र से उनका अभिमन्त्रण करता है। अर्थात् तण्डुलों को अनामिका के अग्र भाग से स्पर्श करते हुए या देखते हुए मन्त्र को पढ़ता है।

उदकोपस्पर्शः ततः शूर्पस्थान् तण्डुलान् पात्र्यां प्रक्षिप्य 'देवो वः सविते'तिमन्त्रेणाभिमन्त्रयति तण्डुलाननामिकाग्रेण स्पृशन् विलोकयन् वा मन्त्रं पठति। ततस्त्रिः फलीकरोति त्रिः कण्डनेन सूक्ष्मकणिकाभ्यो वियोज्योज्वलान्-करोति। पूर्वं हविरुलूखलमध्ये न्युप्य कण्डनं निष्कास्य शूर्पेण निष्पूय कणानि दधाति। तथैव पुनर्वारत्रयमेव-फलीकरणम्।

धृष्टिरस्यपाग्नेऽअग्निमामादं जहि निष्क्रव्याद ँ सेधा देवयजं वह। ध्रुवमसि पृथिवीं दृ ँ ह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजात वन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय॥ वा० सं० १।१७॥

अर्थ—हे उपवेष! तुम प्रगल्भ हो। आमात् (अपक्व पदार्थ को भक्षण करने वाला लौकिक), क्रव्याद (प्रेतमांस को भक्षण करने वाला चिताग्नि) और तीसरा यज्ञीय अग्नि। इस प्रकार से अग्नि के तीन भाग हैं। हे गार्हपत्य अग्ने! तुम आमात् अग्नि का त्याग करो और क्रव्यात् अग्नि को दूर करो और तीसरे यज्ञिय अग्नि को समीप में ले लो। हे कपाल! तुम स्थिर हो उस कारण पृथ्वी को स्थिर करो। ब्राह्मण, क्षत्रिय और यजमान कुल के लोग पुरोडाश की निष्पत्ति के लिये जिसका स्वीकार करते हैं, ऐसे हे कपाल! तुम्हें मैं अङ्गारों पर रखता हूँ। उससे मेरे शत्रुओं का वध हो।।१७।।

१—(वा० सं० १।१७) 'धृष्टिरसीत्युपवेषमापाय' (का० श्रौ० सू० २।४।२५) अपाग्न इत्यङ्गारान् प्राचः करोति। पलाशशाखाया मूलदेशे छिन्नः काष्ठभागोऽङ्गारापोहनसमर्थो हस्ताकृतिकाष्ठ उपवेषः। मूलतः शाखां परिवास्योपवेषं करोतीत्यापस्तम्बः। 'धृष्टिरसी'ति मन्त्रेणाग्नीदङ्गारान् खरस्य पूर्वभागे अपाग्न इति प्रेरयेत् गार्हपत्य-खरस्थाने खरस्यापरार्धे कपालोपधानविधानात्। हे उपवेष त्वं धृष्टिरसि प्रगल्भोऽसि (त्रिधृषा प्रागल्भ्ये) तत्रापाग्न इत्यङ्गारान् प्राचः करोति। तत्र त्रयोऽग्नयो भवन्ति। प्रथम आमात् आममपक्वमत्तीत्यामाल्लौकिकोऽग्निः, द्वितीयः क्रव्याद् शवदाहे क्रव्यं मांसमत्तीति क्रव्यात् चिताग्निः, तृतीयो यागयोग्यः। तथाविधांस्त्रीनङ्गारान् गार्हपत्यात्प्राग्भागे पृथक् कृत्य तेषां मध्ये यागयोग्यताहीनौ द्वावग्नी आमात् क्रव्यात्सञ्ज्ञौ वारयितुं गार्हपत्यं प्रत्युच्यते—हे गार्हपत्य

उसके बाद तीन बार फलीकरण करता है। अर्थात् तीन बार कण्डन करके सूक्ष्म कणिकाओं से अलग करके उन्हें उज्ज्वल करता है। हवि को उलूखल में डालकर कण्डन करके उसे निकाल कर शूर्प से फटक कर कणों को अलग करता है, तथैव पुनः दो बार करने को त्रिःफलीकरण कहते हैं।

१—कात्यायन श्रौतसूत्र कहता है कि 'अपाग्न' मन्त्र से अङ्गारों को पूर्व की ओर कर ले। पलाश की शाखा का उसके मूल भाग से काटा गया काष्ठ भाग, जो अङ्गारों को सरकाने में समर्थ हाथ के आकार का होता है, उसे 'उपवेष' कहते हैं। 'मूलतः शाखाम्परिवास्य उपवेषं करोति'—ऐसा आपस्तम्ब ने भी कहा है। 'धृष्टिरसि' मन्त्र से उपवेष को लेकर अग्नीत् अङ्गारों को खर के पूर्व भाग में 'अपाग्न' मन्त्र से सरकावे। क्योंकि गार्हपत्य खर स्थान में खर के पश्चिम भाग में कपालों के उपधान का विधान किया गया है। हे उपवेष! तुम धृष्टि यानी प्रगल्भ हो, अर्थात्

अग्ने आमदमग्निमपजहि परित्यज तथा क्रव्यादमग्निं निःषेध निःशेषेण दूरं गमय आदेवयजमित्यङ्गारान् आहृत्य कपालेनाच्छादयति ध्रुवमसीति (का० श्रौ० सू० २।४।२६) आदेवयजमिति मन्त्रेण पूर्वस्यां दिशि अपोढानामङ्गाराणां मध्ये एकमङ्गारमुपवेषेण पुरोडाशश्रपणस्थाने आनीय स्थापयित्वा 'ध्रुवमसी'तिमन्त्रेण तस्याङ्गारस्योपरि एकं कपालं स्थापयेदग्नीन् ।

२—मन्त्रार्थस्तु—हे गार्हपत्य देवयजं देवा इज्यन्तेऽस्मिन्निति देवयाट् तं देवयजं देवानां यजनयोग्यमग्निं तृतीयमङ्गारमावह समीपमानय । प्राग्भागे त्रीनङ्गारान् पृथक्कृत्य मध्ये यागयोग्यताहीनौ आमातक्रव्यात्संज्ञौ द्वावग्नी वारयितुं गार्हपत्यं प्रत्येवमुक्तिः । 'व्यवहिताश्चे' (पा० सू० १।४।८२) ति क्रियापदोपसर्गयोर्व्यवधानम् । तस्मात् अपजहि निःषेध । सोपसर्गयोर्जहतिसेधत्योर्निषेधार्थकत्वम् देवा इज्यन्तेऽस्मिन्निति देवयाट् तं कपालेनाच्छादयति—'त्रिभिः कपालैस्त्रींल्लोकान् यजमानो जयति चतुर्थेन दिशो यश्चैषु संस्क्रियते पुरोडाशः सोऽप्याधारवशात् त्रिलोकविग्रहो भूत्वा देवताः प्रीणाति यदु वा आत्मसमितमन्नं तदवति तन्नहिनस्ति इति श्रुतेः इत्युव्वटाचार्यः । हे कपाल त्वं ध्रुवमसि स्थिरं भवसि । अङ्गारोपरि वर्तमानमपि इतस्ततो न पतसि । पृथिवीं भूमिं दृꣳह दृढीकुरु । पुरोडाशपाकवेलायां त्वया व्यवधाने सति भूमेरत्यन्तदाहकृतम् शैथिल्यं न भविष्यति । किञ्च ब्रह्मवनित्वादिविशिष्टैस्त्वामुपदधामि देवयागहेतावङ्गारे स्थापयामि किमर्थं द्विषतो भ्रातृव्यस्य यागविघातरूपं द्वेषं कुर्वतोऽसुरस्य पाप्मनो वा वधाय हिंसार्थम् । 'व्यन् सपत्ने' (पा० सू० ४।१।१४५) इत्याद्युदात्तत्वात् भ्रातृव्यशब्दः शत्रुवाची । कथं भूतं त्वां ब्रह्मवनि ब्रह्मणा ब्राह्मणेन वन्यते पुरोडाशनिष्पत्त्यर्थं सम्यक् स्वीक्रियते (वनषण संभक्तौ) इति ब्रह्मवनिः, तथा क्षत्रवनिः क्षत्रेण वन्यते इति क्षत्रवनिः, सजातवनिः समानकुले जाता यजमानस्य ज्ञातयः सजातास्तैर्वन्यत इति सजात-

---

तीव्र अङ्गारों को इधर-उधर सरकाने में तुम समर्थ हो। तीन प्रकार के अग्नि होते हैं। पहिला 'आमात्' नाम का अग्नि है। 'आमम् अपक्वम् अत्ति इति आमात्' यह उसकी निरुक्ति है। इस 'आमात्' अग्नि को लौकिकाग्नि कहते हैं। दूसरा 'क्रव्याद्' नाम का अग्नि है। शवदाहे क्रव्यं मांसम् अत्तीति क्रव्यात्' यह उसकी निरुक्ति है। इस 'क्रव्यात्' अग्नि को चिताग्नि कहते हैं। तीसरा अग्नि, याग के योग्य होता है। 'देवाः इज्यन्ते अस्मिन् असौ देवयाट्, तं देवयजम्' इस निरुक्ति से यह तृतीय अग्नि 'देवयाट्' नाम का है। इस प्रकार के तीनों अङ्गारों को गार्हपत्य के पूर्व भाग में पृथक् करके उनमें से यागयोग्यता से रहित दो अग्नि हैं, उन्हें कोई 'अमात्' 'क्रव्यात्' संज्ञक न समझ ले, इसलिये गार्हपत्य के प्रति कहा जा रहा है कि हे गार्हपत्य ! अग्ने ! 'आमाद्' अग्नि का परित्याग कर दो, तथा 'क्रव्याद्' अग्नि को सम्पूर्णतया दूर कर दो। 'आदेवयजम्' इस मन्त्र से पूर्व दिशा में सरकाए हुए अङ्गारों में से एक अङ्गार को उपवेष से पुरोडाशश्रयण करने के स्थान में लाकर स्थापन करे और 'ध्रुवमसि' मन्त्र से उस अङ्गार के ऊपर एक कपाल को अग्नीत् रख दे।

२—मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे गार्हपत्य ! देवयज के योग्य तृतीय अङ्गार (अग्नि) को समीप में ले आओ। उस देवयाट् अग्नि को कपाल से आच्छादित किया जाता है। हे कपाल ! तुम स्थिर रहते हो। अर्थात् अङ्गार के ऊपर रहते हुए भी इधर-उधर गिरते नहीं हो। पुरोडाश को परिपक्व करते समय तुम्हारे द्वारा व्यवधान किये जाने से भूमि में अत्यन्त दाहकृत शिथिलता नहीं हो पाती। किञ्च ब्रह्मवनित्वादि विशिष्ट गुणों से युक्त होने के कारण देवयाग हेतुभूत अङ्गार पर तुम्हारी स्थापना कर रहा हूँ। जिससे तुम, याग विघात रूप द्वेष रखने वाले शत्रुभूत पापी असुर का विनाश कर पाओ। मन्त्र प्रयुक्त 'भातृव्य' शब्द का अर्थ 'शत्रु' है। क्योंकि 'व्यन् सपत्ने' इस पाणिनि सूत्र से आद्युदात्त होने से भ्रातृव्य शब्द, शत्रुवाचक होता है। ब्रह्मवनि आदि शब्दों की निरुक्ति इस प्रकार है—'ब्रह्मणा ब्राह्मणेन वन्यते पुरोडाशनिष्पत्त्यर्थं सम्यक् स्वीक्रियते इति ब्रह्मबनिः'। वन षण संभक्तौ धातु से 'वनिः' की निष्पत्ति होती है। तथा 'क्षत्रेण वन्यते इति क्षत्रवनिः' और 'सजातवनिः' अर्थात् समान कुले जाता यजमानस्य ज्ञातयः सजाताः तैर्वन्यते इति सजातवनिः। हे कपाल ! उपर्युक्त गुणों से विशिष्ट रहने वाले तुम्हारा मैं उपधान कर रहा हूँ। अथवा

वनिः, तम् । हे कपाल इत्थंभूतं त्वामहमुपदधामि । ब्रह्म एव वा यद्वनोति संभजते तत्कपालं ब्रह्मवनि । एवं क्षत्रवनि सजातवन्यपि ।

३—दयानन्दस्वामिरीत्या तु—हे अग्ने परमेश्वर त्वं धृष्टिरसि अतो निष्क्रव्यादमामादं देवयजमग्निं सेध । एवं मङ्गलाय शास्त्राणि शिक्षयित्वा दुःखमपजहि सुखं चावह । हे परमेश्वर त्वं ध्रुवमसि अतः पृथिवीं दृꣳह । त्वं ध्रुवमसि । हे अग्ने यत ईदृशो भवान् तस्मादहं भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वामुपदधामि । अन्वयान्तरञ्च हे यजमान हे विद्वन् यतोऽयमग्निः धृष्टिरस्यस्ति तथा चामान्निष्क्रव्यात् देवयजं यज्ञमावहति तस्मात्त्वमिममामादं निष्क्रव्याद् देवयजमाग्नि मावह । अन्येभ्यस्तमेवं सेध शिक्षय तदनुष्ठानेन दोषानपजहि । यतोऽयमग्निः सूर्यरूपेण ध्रुवं ध्रुवोऽस्यस्ति तस्मादयमाकर्षणेन पृथिवीं दृꣳह धरति । कस्मात् त्वं तमहं ब्रह्मवनिं क्षत्रवनिं सजातवनिं भ्रातृव्यस्य वधायोपदधामि—

४—भावार्थः—सर्वशक्तिमतेश्वरेण यतोऽयमामात् दाहकस्वभावोऽग्नी रचितः ततो नायं भस्मादिकं दग्धुं समर्थो भवति । येनेमान् पदार्थान् पक्त्वाऽदन्ति स आमात् । येनोदरस्थमन्नं पच्यते येन च मनुष्या मृतं देहं दहन्ति स क्रव्यात् संज्ञोऽग्निर्येनायं दिव्यगुणप्रापको विद्युदाख्यश्च रचितस्तथा येन पृथिवीधारणाकर्षण प्रकाशकः सूर्यो रचितः, यश्च ब्रह्मादिभिर्वेदविद्भिर्ब्राह्मणैः क्षत्रियैः समानजन्मभिर्मनुष्यैश्च वन्यते संसेव्यते तथा यः सर्वेषु जातेषु पदार्थेषु वर्तमानः परमेश्वरो भौतिकोऽग्नि र्वा स एव सर्वैरुपास्यो भौतिकश्च क्रियासिद्धयर्थं सेव्यः ।

५—अत्रापि व्यत्ययबाहुल्यम् दोषः । सति सम्भवे यथाश्रुतार्थं व्याख्यानमेव युक्तम् । अग्निपदस्यापि क्वचि-

---

ब्रह्म ही जिसका वनन (संभजन) करता है, उस कपाल को 'ब्रह्मवनि' कहते हैं—'ब्रह्म एव वा यद्वनोति संभजते तत्कपालं ब्रह्मवनि । इसी प्रकार 'क्षत्रवनि' और 'सजातवनि' की निरुक्ति समझनी चाहिये ।

३—किन्तु दयानन्द स्वामी के अनुसार मन्त्र का अर्थ होता है कि 'हे अग्ने परमेश्वर ! तुम धृष्टि हो अतः निष्क्रव्याद् आमाद् देवयज अग्नि को प्राप्त करो । एवं मङ्गल करने के लिये शास्त्रों की शिक्षा देकर दुःख को दूर करो और सुख को दो । हे परमेश्वर ! तुम ध्रुव हो । अतः पृथ्वी को दृढ़ करो । हे अग्ने ! तुम ध्रुवादि गुणों से विशिष्ट हो, इसलिये मैं भ्रातृव्य के नाशार्थ ब्रह्मवनि-क्षत्रवनि-सजातवनि के रूप में तुम्हारा उपधान करता हूँ ।

अन्य प्रकार से भी अन्वय प्रदर्शित किया है - हे यजमान ! हे विद्वन् ! जब कि यह अग्नि 'धृष्टिरसि' धृष्टि है, तथा आमात् निष्क्रव्यात् होकर भी 'देवयजं' यज्ञ को सम्पन्न करता है, अतः तुम इस आमाद् निष्क्रव्याद् देवयज अग्नि को सम्पन्न करो । तथा अन्य लोगों के लिये उसे इस प्रकार बताओ (इस प्रकार से उसकी शिक्षा दो) कि उसके अनुष्ठान से दोषों को दूर करो । क्योंकि यह अग्नि सूर्य के रूप में ध्रुवोऽसि' ध्रुव है । इसी कारण यह अग्नि, आकर्षण के द्वारा पृथिवी का धारण दृढ़ता से करता है । क्योंकि तुम उसे और मैं ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि, सजातवनि को भ्रातृव्य के वधार्थ स्थापन करता हूँ ।

४—भावार्थ यह बताया गया है कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर के द्वारा इस आमात् दाहक स्वभाव के अग्नि की रचना की गई है, उस कारण यह हम लोगों को दग्ध करने में समर्थ नहीं है, जिससे इन पदार्थों को पकाकर खाते हैं वह आमात् है, और जिससे उदरस्थित अन्न को पकाया जाता है, और जिससे मनुष्य मृत देह को जलाते हैं, वह क्रव्यात् है अग्नि है, जिसने इस दिव्य गुण के प्रापक और विद्युत् संज्ञक अग्नि की रचना की है, तथा जिसने पृथिवी के धारण, आकर्षण, प्रकाशक सूर्य की रचना की है, और जो ब्रह्मादि वेदवेत्ता ब्राह्मणों के क्षत्रियों के समान जन्म वाले मनुष्यों के द्वारा वनन यानी सम्यक् प्रकार से सेवन किया जाता है, तथा जो उत्पन्न हुए सभी पदार्थों में व्याप्त रहने वाला परमेश्वर अथवा भौतिक अग्नि है, उसी की सबको उपासना करनी चाहिये, और भौतिक अग्नि की अपनी क्रिया-सिद्धि के लिये सेवा करनी चाहिये ।

५—यहाँ भी व्यत्ययबाहुल्य का दोष हो गया है । जहाँ तक सम्भव हो यथाश्रुत व्याख्यान करना ही उचित

त्परमात्मपरत्वेऽपि सर्वत्र तथाव्याख्यानमनुचितमेव। निष्क्रव्यादमित्यत्र निरूपसर्गो निरर्थक एव। 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८) इति क्रियापदोपसर्गयोर्व्यवधानस्मरणात्। अपेत्यस्य जहीति क्रियापदेन निरित्यस्य सेधेति क्रियापदेन सम्बन्धो युक्तः। संस्कृतपदार्थे क्रव्यं पक्वं मांसमत्तीत्युक्तम्—तच्च व्याख्यातम् आमादितस्य प्रतिद्वन्द्वितया। संस्कृतभाषापदार्थयोरपि येन च मनुष्या मृतं देहं दहन्ति सक्रव्यादित्युक्तः। यद्यपि क्रव्यं पक्वं मांसमत्ति तस्मान्निर्गतमित्युक्तम् तथा तस्य कोवार्थ इति नोक्तम्। क्रव्यादग्नेर्निर्गतः कोऽग्निः? आमादं जहि निष्क्रव्यादं सेध शास्त्राणि शिक्षयेति केन किं श्लिष्यते? देवान् विदुषो दिव्यगुणान् वा यजति संगतान् करोति येन यज्ञेन तं देवयजं यज्ञम् आवह प्रापय प्रापयति। प्रथमान्वये तु निष्क्रव्यादमामादं देवयजमग्निं सेधेत्युक्तम्। येन त्रिविधानामग्नीनां शिक्षणं प्रार्थयते इति विज्ञायते तस्य कीदृशी शिक्षा भवतीति नोक्तम्। मङ्गलाय शास्त्राणि शिक्षयित्वा दुःखमपजहि। तत्र मङ्गलाय शास्त्राणीति कुतोलब्धमित्यपि नोक्तम्। उपस्थितं कर्म त्यक्त्वा सुखमावहेति कर्मयोजनमपि प्रमाद एव। हे परमेश्वर त्वं ध्रुवमसीत्यपि चिन्त्यम्। किञ्च ध्रुवोऽस्यतः पृथिवीं दृꣳह इत्यनेन कः सम्बन्धः? अत इत्यनेन हेतुत्वं विज्ञायते प्रकृते तदीयस्य ध्रौव्यस्य पृथिव्या ध्रौव्ये कथञ्चिदुपयोगेऽपि पृथिव्यास्तत्स्थानां मनुष्याणां सुखवर्धने तु कथं तदुपयोग इति विद्वांसो विदाङ्कुर्वन्तु।

६—यच्च ध्रुवमित्यस्य निश्चलसुखमसीत्यर्थः कृत इति तत्तु निर्मूलमेव। यत ईदृशो भवांस्तस्मदाहं भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवनिं क्षत्रवनिमुपदधामि हृदये इदमपि तथाविधमेवासङ्गतम् हेतुहेतुमद्भावानुपपत्तेः। ब्रह्म-ब्राह्मणं विद्वांसं वनतीति व्युत्पत्त्या धात्वर्थानुसारेण ब्राह्मणं भजतीत्येवार्थः। भाषार्थे तु ब्राह्मणादि प्राणिमात्रसुखदात्रित्युक्तम्। यः प्राणिमात्रसुखदाता तस्य भ्रातृव्यवधाय हृदय उपधानमपि विरुद्धमेव।

है। 'निष्क्रव्यादम्' में 'निर्' उपसर्ग निरर्थक ही है। 'व्यवहिताश्च' इस पाणिनि सूत्र ने क्रिया पद और उपसर्ग में व्यवधान बताया है। 'अपेत्य' का 'जहि' इस क्रिया पद के साथ 'निर्' का 'सेध' इस क्रिया पद के साथ सम्बन्ध करना उचित है। संस्कृत पदार्थ में 'क्रव्यं पक्वं मांसमत्ति' कहा है, और उसकी व्याख्या की है 'अमात्' की प्रतिद्वन्द्वितया। संस्कृत भाषा और पदार्थ में भी 'जिससे मनुष्य, मृत देह को जलाते हैं, वह क्रव्यात् है', कहा है। यद्यपि 'क्रव्यं पक्वं मांसम् अत्ति, तस्मात् निर्गतम्' यह कहा गया है, वैसे ही उसका क्या अर्थ है? यह नहीं बताया है। क्रव्यादग्नि से निर्गत कौन सा अग्नि है? 'आमादं जहि, निष्क्रव्यादं सेध, शास्त्राणि शिक्षय' इनमें किससे क्या सम्बद्ध है अर्थात् किसी का किसी से कोई मेल नहीं है। देवताओं को अथवा दिव्य गुणों से सम्पन्न विद्वानों को 'यजति' सङ्गत करता है जिस यज्ञ से, उस देवयजम्' यज्ञ को 'आवह प्रापय प्रापयति' प्राप्त कराता है। पहिले अन्वय में तो 'निष्क्रव्यादमामादं देवयजमग्निं सेध' कहा है। जिससे त्रिविध अग्नियों के शिक्षण की प्रार्थना की गई है, यह ज्ञात हो रहा है, किन्तु उसकी कैसी शिक्षा है, यह नहीं बताया। 'मङ्गलाय शास्त्राणि शिक्षयित्वा दुःखमपजहि' यह जो कहा, उस में 'मङ्गलाय शास्त्राणि' यह अर्थ कहाँ से लब्ध हुआ, इसे नहीं बताया। उपस्थित कर्म का परित्याग कर 'सुखमावह' इस प्रकार कर्म की योजना करना भी नितान्त प्रामादिक ही है। 'हे परमेश्वर! तुम ध्रुव हो'—यह कथन भी चिन्त्य है। किञ्च 'ध्रुवोऽसि अतः पृथिवीं दृꣳह' इससे क्या सम्बन्ध है? अतः कहने से हेतुत्व ज्ञात होता हैं। प्रकृत में उसकी ध्रुवता का पृथिवी की ध्रुवता में कथञ्चित् उपयोग हो सकने पर भी पृथिवी और उस पर रहने वाले मनुष्यों के सुखवर्धन में उसका कैसे उपयोग हो सकता है? इस पर विद्वान् लोग स्वयं विचार करें।

६—और जो 'ध्रुवम्' का 'निश्चल सुखमसि' अर्थ किया है, वह तो निर्मूल ही है। क्योंकि 'ऐसे आप हैं, इसलिये मैं भ्रातृव्य के वधार्थ ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि का हृदय में उपधान करता हूँ' यह कहना भी उसी तरह असङ्गत है, क्योंकि हेतु-हेतुमद्भाव नहीं बन पा रहा है। 'ब्रह्म ब्राह्मणं वनति' इस व्युत्पत्ति से धात्वर्थ के अनुसार 'ब्राह्मणं भजति' यही अर्थ होता है। किन्तु भाषार्थ करते समय 'ब्राह्मणादि प्राणिमात्र के सुखदाता' कह दिया है। जो प्राणिमात्र को सुख देने वाला है, उसका मैं हृदय में उपधान करूँ' यह कहना भी विरुद्ध ही है।

७—द्वितीयेऽर्थेऽपि यतः सोऽग्नि धृ ष्टिरस्ति तथा चामान्निष्क्रव्याद् देवयजं यज्ञमावहति तस्मात्त्वमिममामादं निष्क्रव्यादं देवयजमावह, अन्येभ्यस्तमेवं सेध शिक्षय तदनुष्ठानेन दोषमपजहि एतावतेदं ज्ञायते यदामाद्—निष्क्रव्याद् कश्चिदस्ति स देवयजं यज्ञमावहति त्वं तमावह। अत्र तु देवयजं यज्ञमिति पदद्वयमपि तद्विशेषणत्वेनैवोरीकृतम् अनुष्ठानं कस्य भविष्यति ? यज्ञस्यामादो वा ? यज्ञस्यैव चेत् कथमावहतीत्यनेन तत्सम्बन्धः ? यतोऽयमग्निः सूर्यरूपेण ध्रुवोऽस्ति स आकर्षणेन पृथिवीं धरति।

८—भावार्थे तु परमेश्वरेणाग्नीरचित इत्यप्युक्तम् तत्कस्य पदस्यार्थः ? आकर्षणमपिकस्य विद्युदाख्योग्निः कस्यपदस्यार्थ इत्यपि दुरधिगम एव। हिन्द्यां तु विद्वन् हे यजमानयतोऽयं भौतिकोऽग्निस्तीक्ष्णमितितथा निकृष्टान् पदार्थान् वर्जयित्वा उत्तमपदार्थैर्विदुषां दिव्यगुणानां वा प्रापकं यज्ञं प्रापयति तस्मात्त्वं निष्क्रव्याद् दग्धान् भस्मादिपदार्थां स्त्यक्त्वाऽपक्वदाहक विदुषां दिव्यगुणानाञ्च प्रापकं प्रत्यक्ष विद्युद्रूपमग्निमावह। तथा तज्जिज्ञासुभ्यः शास्त्रीया शिक्षा ? सेध शिक्षय। तदनुष्ठानेन दोषमपजहि। यतोग्निः सूर्यरूपेण ध्रुवः निश्चलोस्ति अतः स आकर्षणशक्त्या पृथिवीं तत्स्थान् प्राणिनश्च दृढं हति। अत एवाहं ब्रह्मादिजीवमात्रस्य सुखदुःखानां पृथक् पृथक् प्रापकं भौतिकमग्निं भ्रातृव्यस्य दुष्टानां शत्रूणां वा वधाय हवनवेद्यां विमानादि यानेषु वा स्थापयामि इति,

९—तदपि निर्मूलमेव निकृष्टान् पदार्थान् वर्जयित्वा इति निष्क्रव्याद् पदस्य कथमर्थः ? यदि तु तस्मान्निर्गतं निष्क्रव्यादमिति व्युत्पत्त्या सोऽर्थो लभ्यत इति, तदप्यसङ्गतम् यस्मिन् यस्य सत्त्वं भवेत् तस्मादेव तस्य निर्गमनं भवति यथा तिलात्तैलस्य निर्गमनम्। नहि सिकतायाः सकाशात् तैलनिर्गमनं सम्भवति। क्रव्याद्रूपेऽग्नौ यद्यामादग्निस्तिष्ठेत्तत एव तस्मात्तस्य निर्गमनं भवेत्। न च तत्सम्भवति आमाद्रूपेऽग्नावपि न क्रव्यादग्निर्भवति येन

७—द्वितीय अर्थ में भी 'जब कि वह अग्नि 'धृष्टि' है, तथा च आमाद् निष्क्रव्याद्, देवयज्ञ का रूप धारण करता है, इसलिये तुम इस 'आमाद्' निष्क्रव्याद् देवयज यज्ञ का वहन करो, अन्यों के लिये तुम ऐसी शिक्षा दो, उसके अनुष्ठान से दोष को दूर करो। यह कहने से प्रतीत होता है कि निष्क्रव्याद् कोई है, वह यज्ञ का वहन करता है, उसे तुम वहन करो। यहाँ तो 'देवयजम्' और 'यज्ञम्' दोनों ही पदों को विशेषण के रूप में माना है, तब अनुष्ठान किसका होगा ? यज्ञ का या आमाद् का ? यज्ञ का ही अनुष्ठान यदि होगा तो 'आवहति' के साथ उसका सम्बन्ध कैसे होगा ? क्योंकि यह अग्नि, सूर्य के रूप में ध्रुव है, वही आकर्षण के द्वारा पृथिवी पर भी है।

८—भावार्थ में कहा गया है कि परमेश्वर ने अग्नि की रचना की है, किन्तु यह किस पद का अर्थ है ? आकर्षण भी किसका ? 'विद्युत् नाम का अग्नि', यह किस पद का अर्थ है ? हिन्दी अर्थ करते समय कह दिया है कि हे विद्वन् ! हे यजमान ! जब कि यह भौतिक अग्नि, तीक्ष्ण समझकर उन तीक्ष्ण निष्कृष्ट पदार्थों को छोड़कर उत्तम पदार्थों से विद्वानों के अथवा दिव्य गुणों के प्रापक यज्ञ के प्रति पहुँचाता है इसलिये तुम 'निष्क्रव्यादं' दग्ध हुए मत्स्यादि पदार्थों को त्यागकर अपक्व पदार्थ के दाहक और दिव्य गुण सम्पन्न विद्वानों के प्रापक प्रत्यक्ष विद्युद्रूप अग्नि को वहन करो। तथा उसे जानने की इच्छा रखने वालों के लिये शास्त्रीय शिक्षा का शिक्षण दो। इस प्रकार अनुष्ठान कर दोष को दूर करो। क्योंकि अग्नि, सूर्य के रूप में 'ध्रुव' निश्चल है। अतः वह आकर्षण शक्ति से पृथिवी को और उस पर रहने वाले प्राणियों को दृढ़ करता है। अतएव मैं, ब्रह्मादि जीव मात्र के सुख-दुःखों को पृथक् पृथक् प्राप्त कराने वाले भौतिक अग्नि की स्थापना भ्रातृव्य के अर्थात् दुष्टों अथवा शत्रुओं के वधार्थ हवन की वेदी में अथवा विमानादि यानों में स्थापना करता हूँ।'

९—यह कथन भी निर्मूल है। क्योंकि 'निकृष्टान् पदार्थान् वर्जयित्वा' यह अर्थ 'निष्क्रव्याद्' पद का कैसे होगा ? यदि 'तस्मान्निर्गतं निष्क्रव्यादम्' इस व्युत्पत्ति से वैसा अर्थ करते हो, तो वह भी सङ्गत नहीं होगा। क्योंकि जिसमें जिसकी सत्ता (सत्त्व) हो, उसी से उसका निर्गमन हो सकता है। जैसे तिलों से तैल का निर्गमन होता है। सिकता (वालु-रेत) से तैल का निर्गमन कदापि नहीं होता है। क्रव्याद् रूप अग्नि में यदि आमाद् अग्नि, स्थिर रहे तो

तस्मात्तस्य निर्गमनं सिद्धयेत। न च यथा नीरूपो वायुर्भवति न च तत्र रूपं भवति कथं तर्हि निर्गतं रूपं यस्मात्स नीरूपो वायुरुच्यते तथैव च निर्गता गुणा यस्मात् स निर्गुण इति वाच्यम् तत्र, तु निरस्तं बाधितं रूपं यस्मात् स वायुर्नीरूपः, नित्यनिरस्ता बाधिता गुणा यस्यात्स निर्गुण इति व्युत्पत्तेरभ्युपगमात्।

१०—सिद्धान्ते तु वायोस्तेजस उत्पत्ते रूपस्यापि तत उद्‌गमः सम्भवत्येव। सर्वकारणात् परमेश्वरात् गुणानामप्युद्भवात् भवत्येव निर्गुणत्वोपपत्तिः, न तथा प्रकृते आमाद्यग्नौ क्रव्यादः सम्भवति येन ततः स निर्गच्छेत् तावतापि आमादग्निरन्नादिपाचक एव भवति, विद्युदाख्यः कथं तेन ग्रहीतुं शक्यः ? शक्तिमता परमेश्वरेण भौतिकोग्निर्निमितः। स चादग्धं दहति। नैतावदेव किन्तु दाह्यमेव दहति नादाह्यमात्मानम्, वाय्वाकाशादिकमपि न दहति, तदपि वक्तव्यम्। बाह्यः कौष्ठ्यं च दहति मांसश्चास्ति तेनैव दिव्यगुणप्रकाशिका विद्युत्पद्यते तेनैव पृथिवीधारकः सूर्यो निर्मितः। या वेदविद्भिर्ब्राह्मणैः धनुर्वेदविद्भिश्च क्षत्रियैस्तथा प्राणिमात्रेण सेव्यते तथा यः सर्वव्यापकः स एव सर्वोपास्यः, यश्च क्रियासिद्धयर्थं भौतिकोग्निर्यथा योग्यं सेव्यः यद्यपि न भौतिकोग्निः सूर्यादिकमुत्पादयति, कथञ्चित्तदभ्युपगमेऽपि न प्रकृतमन्त्रेण तादृशोऽर्थो बोध्यते पदानां वाक्यानाञ्च तद्विपरीतार्थावबोधकत्वात्।

११—वस्तुतस्तु श्रुतिसूत्रपारम्पर्यशून्यत्वादेव वेदनाम्ना निरर्थकमितस्ततो बुद्धिभ्रमणमिति नास्ति तिरोहितं विदुषाम्। शतपथव्याख्यानमत्रापि चर्चितं तेनेति शतपथव्याख्यानमपि उपस्थाप्यते।

१२—स वै कपालान्येवान्यतर उपदधाति। दृषदुपलेऽन्यतरद्वा। एतदुभयं सहक्रियते। तद्यदेतदुभयं

उसी से उसका निर्गमन सम्भव हो सकेगा। किन्तु वह कभी सम्भव नहीं है। आमाद् अग्नि में 'क्रव्याद्' नाम का अग्नि नहीं रहता है, जिससे उसका निर्गमन उससे सम्भव हो सके। यदि यह शङ्का करो कि जैसे 'वायु' नीरूप होता है, क्योंकि उसमें रूप का होना सम्भव ही नहीं है, तब 'निर्गतं रूपं यस्मात् स नीरूपौ वायुः' यह कैसे कहा जाता है ? उसी तरह 'निर्गता गुणा यस्मात् स निर्गुणः' यह कह सकते है। किन्तु ऐसी शङ्का करना उचित नहीं है। वहाँ तो 'नित्य निरस्त (बाधित) है रूप जिससे, वह वायु 'नीरूप' कहा गया है। उसी तरह नित्य निरस्त (बाधित) हैं गुण, जिससे, उसे निर्गुण कहा गया है। नीरूप वायु और निर्गुण की यही व्युत्पत्ति की जाती है, यही सबको मान्य है।

१०—सिद्धान्त में तो वायु से तेज की उत्पत्ति होने के कारण 'रूप' की भी उससे उत्पत्ति का होना सम्भव हो ही सकता है। सर्वकारणभूत परमेश्वर से गुणों का भी उद्भव होने से 'निर्गुणत्व' की उपपत्ति हो ही जाती है। उस प्रकृत आदि अग्नि में क्रव्याद को सम्भावना नहीं है, जिससे उससे वह निर्मित हो सके। तावतापि आमाद् अग्नि अन्न आदि का पाचक ही होता है, उससे विद्युत्संज्ञक अग्नि का ग्रहण करना कैसे शवक्य हो सकता है ? शक्तिमान् परमेश्वर ने भौतिक अग्नि का निर्माण किया है। वह अग्नि, अदग्ध का दहन करता है। इतना ही नहीं है, अपितु वह दाह्य (जलाने के योग्य पदार्थ) को ही जलाता है। वह अदाह्य आत्मा को नहीं जलाता है। वह वायु आकाश आदि को भी नहीं जलाता है। उसे भी बताना चाहिये था। बाह्य कौष्ठ्य को जलाता है और मांस को खाता है, उसी से दिव्य गुण की प्रकाशिका विद्युत् उत्पन्न होती है, उसी ने पृथिवी के धारक सूर्य का निर्माण किया है। वेदविद् क्षत्रियों का तथा समस्त प्राणिमात्र का वही सेवनीय है। तथा जो सर्वव्यापक है, वही सबका उपास्य है, क्रिया सिद्धयर्थ जो भौतिक अग्नि है वह यथायोग्य सेव्य है, यद्यपि भौतिक अग्नि, सूर्य आदि का उत्पादक नहीं है। यथा कथञ्चित् उसे वैसा मान भी लें तो भी प्रकृत मन्त्र से वैसा अर्थ अवगत नहीं हो रहा है, क्योंकि प्रकृत मन्त्र के पद और वाक्यों से तद्विपरीत अर्थ का बोधन होता है।

११—वस्तुतस्तु श्रुति-सूत्र की परम्परा का ज्ञान न होने से ही वेद के नाम पर निरर्थक प्रलाप करके जनता की बुद्धि में भ्रम पैदा कर दिया गया है, इसे विद्वान् लोग अच्छी तरह से जान चुके हैं। यहाँ शतपथ व्याख्या की भी उन्होंने चर्चा की है, जो प्रलाप मात्र है। तदर्थ हम शतपथ व्याख्या को भी उपस्थित कर दे रहे हैं।

१२—"सवैकपालान्येवान्यतर उपदधाति·····················सहक्रियते।" (श० प०१।१।२।१-२) इस शतपथ

शिरोहवा एतद्यज्ञस्य यत्पुरोडाशः स चान्येवेमानि शीर्ष्णः कपालानि एतन्येवास्य कपालानि मस्तिष्क एव पिष्टानि तद्वा एतदेकमङ्गमेक ७ं संह करवावेति तस्माद्वा एतदुभयं सहक्रियते ।' (श० १।१।२।१-२)

१३—अत्र कपालोपधानपेषणयोर्युगपदनुष्ठानं विधत्ते श्रुतिः। तथैव कात्यायनोऽपि (का० श्रौ० सू० २।१०८) अन्यतरः ऋत्विजां मध्ये एकः आग्नीध्रः स कपालानामुपधाता अन्यतरः अध्वर्युः सपेषणार्थं दृषदुपले उपदध्यात् । उक्तं कर्तृभेदमुपपादयति तद्वा एतदुभयं सहक्रियते । एककर्तृकत्वे तु पर्यायेणैवानुष्ठानं स्यान्न सह्यनुष्ठानम्। एतच्चोभयं सहानुष्ठेयम् अतो विभिन्नावेव कर्तारौयुगपत्कुर्यातामित्यर्थः। सहानुष्ठानमुपपादयितुमनुवदति तद्यदिति—शिरोह वा एतद्यज्ञस्य यत्पुरोडाशः। पुरोडाशस्य यज्ञाशिरस्त्वमुक्तं तदुपपादयति स दान्येवेमानि मस्तिष्कः एव शिरः। कपालान्तर्गतं मांसं मस्तिष्कः। तद्वा एतत्कपालं मस्तिष्करूपं मिलितं सच्छिरः संज्ञकमेकमङ्गं प्रसिद्धं लोके। तथात्रापि। शिरःकपालमस्ति कपालपिष्टयोः सहप्रयोगात् पुरोडाशात्मकस्य यज्ञशिरस एकीकरणं सेत्स्यति।

१४—स यः कपालान्युपदधाति स उपवेषमादत्ते धृष्टिरसीति स यदेनेनाग्निधृष्ण्वेवोपचारति तेन धृष्टिरथ यदेनेन यज्ञ उपालभते उपेव वा एनेनैत द्वेवेष्टि तस्मादुपवेषोनाम' (श० १।१२।३) कपालान्युपदधतः कृत्यमाह— उपवेषमाह धृष्टिरसीति। अङ्गारविभजनार्थं काष्ठमुपवेषः। धृष्टिशब्दार्थं निर्वक्ति धृष्णे वेति इति। क्रियाविशेषणमेतत्। अनेधृष्णु यथास्यात्तथा अग्निना व्यवहरतीत्यर्थः। (ञिधृषा प्रागल्भ्ये) स्वा० (३३) इत्यस्मात् धृष्णोत्यनेनेति धृष्टिः करणे क्तिनि सिद्धयति। अत एतदुपवेषस्य संज्ञान्तरम्। तथा चान्यत्र श्रूयते धृष्टिरुपवेष इति।

१५—अथेत्यादिनोपवेषस्य निर्वचनम्। अथ यज्ञे एतेन काष्ठेन यदङ्गारादिकमुपालभते प्राप्नोति तत् एतत् एतेनोपवेषेण वेवेष्टीय (विष्लृ व्याप्तौ) इत्यस्मात् करणसाधनो घञन्त उपवेषशब्दः। सर्वथापि सिद्धान्तानुसारिव्याख्यानमेव पोषयति श्रुतिः। तेन प्राचोऽङ्गारानुदूहति। अग्निमामादं जहि निष्क्रव्याद ७ं सेधेत्ययं वा आमाद्येनेदं मनुष्या पक्त्वा अश्नन्ति। येन पुरुषं दहन्ति स क्रव्यादेतां वेवैतदुभावतोपहन्ति' (श० १।१।२।४) अग्निगताशुद्धयंशस्य निरसनं विधत्ते श्रुतिः तेन प्राचोऽङ्गारानुदूहति। तेनोपवेषेण प्राचस्त्रीन् प्राग्दिग्गतानुदूहति। मन्त्रगतयोरामात्क्रव्यात्-शब्दयोर्विवक्षितार्थमाह—आममपक्वमत्तीत्यामात् मनुष्याणामोदनादिपाकहेतुरग्निरामादुच्यते। क्रव्यं पललमत्तीति क्रव्यात् शवदहनोग्निः। तावेतामामात्क्रव्यादौ एतेनापहन्ति आमादमपजहि क्रव्याद निःसेधेति मन्त्रवाक्यद्वयेन निरस्यतीत्यर्थः।

के द्वारा भगवती श्रुति ने कपालोपधान और पेषण का युगपदनुष्ठान का विधान किया है। उसी तरह कात्यायन ने भी बताया है। पुरोडाश को यज्ञ का शिर बताया है। कपाल और पिष्ट का सहप्रयोग करने से पुरोडाशात्मक यज्ञ शिर का एकीकरण सिद्ध होगा।

१३—जो कपालों का उपधान करता है, वही 'धृष्टिरसि' मन्त्र से 'उपवेष' का ग्रहण करता है। अङ्गार विभजन जिस काष्ठ से किया जाता है, उसे 'उपवेष' कहते हैं। 'ञिधृषा प्रागल्भ्ये' धातु से धृष्णोति अनेनेति धृष्टिः' इस कारण व्युत्पत्ति के आधार पर करण अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर 'धृष्टि' शब्द निष्पन्न होता है। अतः 'धृष्टि' शब्द 'उपवेष' का ही नामान्तर है। 'उपवेषेण वेवेष्टि इत्युपवेषः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'विष्लृव्याप्तौ' धातु से करण साधन घञन्त 'उपवेष' शब्द निष्पन्न होता है।

१४—सर्वथापि सिद्धान्तानुसारी व्याख्यान का ही समर्थन श्रुति करती है। उसने अग्निगत अशुद्धि रूप अंश के निरसन का विधान किया है। मन्त्रगत 'आमात्' 'क्रव्यात्' शब्दों के विवक्षित अर्थों को बताया है। अपक्व को खाने वाले अग्नि को आमात् अर्थात् मनुष्यों के भक्षण किये हुए ओदनादि पदार्थों का पाक करने वाला अग्नि आमात्' शब्द से कहा जाता है। और 'क्रव्यं पललम् अत्ति इति क्रव्यात्' अर्थात् शव को जलाने वाले अग्नि को 'क्रव्यात्' कहते हैं। दो मन्त्रों से आमात् और क्रव्यात् नामक अग्नियों का निरसन बताया गया है।

१५—अथाङ्गारमास्कौति आदेव यजं वहेति यो देवयाट् तस्मिन् हविषि श्रपयाम तस्मिन् यज्ञं तनवामहा इति तस्माद्वा आस्कौति' (श०१।१।२।१५) एवमयज्ञियमग्निं मन्त्रेण निर्हृत्य शुद्धादग्नेः पुरोडाशश्रपणार्थमङ्गाराहरणं विधत्ते श्रुतिः। आस्कौति विभजतीत्यर्थः। (स्कुञ् आप्रवणे क्र्यादिः, धातु ३६) इत्थं कुर्वतामभिप्रायमाह देवान् यजतीति देवयाट् योग्निः तस्मिन् हविꣳषि श्रपयामः हविःश्रपणादिकं करवामहै इत्यनेनाभिप्रायेण तस्मिन् यज्ञं तनवामहै तस्मात्कारणात् देवयजमग्निमास्कौति। एतदेव सायणादिभिः स्पष्टीकृतं स्वस्वभाष्येषु। त्रीनङ्गारानुपवेषेण प्राग्गतान् पृथक्करोति। तेषां मध्ये द्वावामात्क्रव्यात्संज्ञौ। 'आमादं जहि क्रव्यादं निःषेधे'ति मन्त्राभ्यां निरस्य 'देवयजमावहे'ति मन्त्रेण यज्ञियमग्निं हविःश्रपणार्थमास्कौति आहरति।

१६—तं मध्यमेन कपालेनाभ्युपदधाति। देवा हवै यज्ञं तन्वानास्ते असुरराक्षसेभ्यः आसङ्गाद्बिभयाचक्रुः। नेन्नोऽधस्तान्नाष्ट्राः रक्षाꣳस्युपोत्तिष्ठानीत्यग्निर्हि रक्षसामुपहन्ता तस्मादेवमुपदधाति। तद्यदेष एव भवति नान्य एष हि यजुष्कृतो मेध्यस्तस्मान्मध्यमेन कपालेनोपदधाति' (श० १।१।२।१६) तस्मिन्नङ्गारे मध्यमकपालस्योपधानं विधत्ते श्रुतिः अङ्गारस्योपरि विहितं कपालोपधानं प्रशंसति—यज्ञं तन्वाना देवा असुरराक्षसासङ्गाद् भीता जाताः। नोऽस्माकं हविषो भागेन राक्षसादय उपतिष्ठेयुरित्यनेनाभिप्रायेणाङ्गारस्योपरि कपालोपधानं कृतवन्तः। एवं कृते सत्युक्तभयनिवृत्तिमाह—यतोग्नी रक्षसामपहन्ता किञ्च 'आदेव यजमाहे'ति यजुर्मन्त्रेण मेध्यः कृतोऽयमग्निरत उक्तमन्त्रेण स्थापितस्यैवाङ्गारस्योपरि कपालोपधानं प्रशंसति। यजुषा मन्त्रेण संस्कृतत्वादेष एव हि कपालोपधाने प्रशस्यो नान्य इति।

१७—स उपदधाति ध्रुवमसि पृथिवीं दृꣳहेति। पृथिव्या एव रूपेणैतदेव दृꣳहत्येतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधायेति बह्वीर्वै यजुःष्वाशीस्तद्ब्रह्म च क्षत्रं चाशास्त उभेवीर्ये सजातवनीति भूमा वै सजातास्तद् भूमानमाशास्त उपदधामि भ्रातृव्यस्य वधायेति यदि नाभिचरद्यद्यु अभिचरेदमुष्य वधायेति ब्रूयादभिनिहितमेव सव्यस्य पाणेरङ्गुल्या भवति। अग्रे विहितमुपधानमनूद्य मन्त्रं विधत्ते 'स उपदधातीति। पृथिवीं दृꣳहे'ति पृथिवीसम्बन्धश्रवणात् तत्सम्बन्धिरूपेणेव कपालं दृढं करोति। दृढेन चैतेन कपालेन विद्वेषणं कुर्वन्तं शत्रुं बाधते।

१८—एतन्मन्त्रशेषमनूद्य व्याचष्टे बाह्मवनीति। यजुःषु बहुविधा खलु आशीःफलप्रार्थना भवति अतो बहुविधं ब्राह्मक्षत्रादिसंभजनमनेन प्रतिपाद्य मन्त्रगतब्रह्मक्षत्रशब्दयोर्लक्षणया तद्वीर्यवत्त्वं विवक्षित्वा व्याचष्टे–ब्रह्म च क्षत्रं चाशास्ते अथात उभेवीर्ये आशास्ते ब्रह्म वीर्यं क्षत्रवीर्यं चास्मान् सम्भवत्विति प्रार्थयते सजातवनीत्यनेन भूमानमाशास्ते कुतः समानं जायन्ते इति व्युत्पत्त्या सजाता ज्ञातयो भवन्ति। तेषु बहुभावस्य दर्शनात् धर्मिवाचिना सजातशब्देन तद्धर्मो विवक्षितः। अभिचरतो विशेषं वक्तुं नित्यपक्षमनुवदति—यद्यु अभिचरेत्तदा भ्रातृव्यस्य वधायेति स्थाने अमुष्य वधायेति षष्ठ्यन्तं शत्रोर्नाम निर्दिश्य ब्रूयात्। उपहितस्य कपालस्योपरि सव्यस्यपाणेरङ्गुल्या अभिनिधानं विधत्ते श्रुतिः।

१५—और पुरोडाशश्रपण के लिये शुद्ध अग्नि के आहरण का विधान श्रुति ने किया है। इसी अर्थ को सायणादि आचार्यों ने अपने-अपने भाष्यों में स्पष्टतया बताया है।

१६—उस शुद्ध अग्नि पर मध्यम कपाल के उपधान का विधान श्रुति ने किया है। अङ्गार पर विहित हुए कपालोपधान की प्रशंसा की गई है अङ्गार पर कपालोपधान करने से देवताओं का भय दूर हो गया, क्योंकि अग्नि राक्षसों का अपहन्ता है। किञ्च 'आदेवयजं वह' इस यजुर्मन्त्र से इस अग्नि को पवित्र किया जाता है, अतः उक्त मन्त्र से स्थापित किये गये अङ्गार पर ही किये गये कपालोपधान की प्रशंसा की गई है। एवञ्च यजुर्मन्त्र से संस्कृत होने के कारण यह ही कपालोपधान में प्रशस्य है, अन्य नहीं।

१९—हे अग्ने विशिष्टैश्वर्यशालिन् अग्ने वैश्वानर हे परमेश्वर वा त्वं धृष्टिः प्रगल्भोऽसि, अप्रधृष्यस्वभावत्वात्। केनोपनिषद्रीत्याग्निरन्यापेक्षया प्रगल्भोऽपि परमेश्वरापेक्षयां प्रधृष्य एव जातः। तृणदाहेऽप्यसमर्थत्वात्। परमेश्वरस्त्व-ग्नेरप्यग्निः 'सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः' (वा० रा० २।) इति बाल्मीकीयरामायणवचनात् स एव सर्वथा धृष्टिः प्रगल्भः। त्वमेव कृपया आमादं लौकिकमग्निमपजहि क्रव्यादं श्मशानाग्निश्च निःषेध निःशेषेण दूरं गमय देवयजश्चाग्निमावह सर्वेषां त्वदाज्ञावशवर्तित्वात्। तस्मिन्नेव यज्ञियेऽग्नौ त्वदंशभूतानां देवानां तव च हवींषि श्रपयामः। तत्रैव च त्वदाराधनलक्षणं यज्ञं श्रौतं स्मार्तं च तनवामहै।

२०—हे ब्रह्मन् त्वं ध्रुवमसि पृथिवीं दृꣳह दृढ़ीकुरु त्वत्कृपयैव पृथिव्या भारापनोदनेन तस्या दृढीभावो भवति। हिरण्यकशिपुरावणादिवधेन भगवतैव रक्षिताऽवतिष्ठते इति पुराणादिषु प्रसिद्धम्। ब्रह्मणा क्षत्रेण च वननीयम् संभजनीयं सजातैस्तज्ज्ञातिभिः सर्वैरमृतपुत्रैर्जीवैश्च वननीयं ब्रह्मवनिक्षत्रवनिसजातवनि त्वा त्वामहम् उप सामीप्येन स्वात्मत्वेन धारयामि निश्चिनोमि किमर्थमित्याह—भ्रातृव्यस्य वधाय कामक्रोधादिवैरिवर्गस्य वधाय समूलोन्मूलनाय स्वात्मानन्दहर्तृत्वेन तस्यैव सर्वापकारकत्वात्।

२१—यद्वा राष्ट्ररक्षणाय राजानं वीरं सेनापतिं वा आह—हेप्रतापानल पूर्णतेजस्विन् त्वं धृष्टिः प्रगल्भः शत्रुभिरप्रधृष्योऽसि। आमादमपक्वमेवात्ति अकालेऽपक्वमतरुणं बालमत्ति हन्तीत्यामात् तं क्रूरं शत्रुमपजहि विनाशय। तथा क्रव्यादं हतप्रायं वृद्धं हन्तीति क्रव्यात् तमपि निःशेषेण सेध मृत्युमुखं गमय। हे तेजोनिधान त्वं नैश्चल्येन धैर्येण च ध्रुवमसि। पृथिवीञ्च दृꣳह दृढ़ीकुरु समृद्धया वर्धय। ब्रह्मवनि ब्रह्मब्राह्मणं वनति संभजते इति ब्रह्मवनि ब्राह्मण संभजन परायणमत एव ब्रह्मवीर्येण संभजनीयं क्षत्रवनि क्षत्रवीर्येण संभजनीयं तथा सजातवनि—

१९—हे अग्ने! विशिष्ट ऐश्वर्यशालिन्! अग्ने! वैश्वानर अथवा हे परमेश्वर! तुम प्रगल्भ (धृष्टि) हो, क्योंकि तुम्हारा स्वभाव अप्रधृष्य है। केनोपनिषद् के अनुसार अन्य की अपेक्षा अग्नि प्रगल्भ रहने पर भी परमेश्वर की अपेक्षा वह प्रधृष्य ही है, क्योकि वह तिनका जलाने में भी असमर्थ है। किन्तु परमेश्वर तो अग्नि का भी अग्नि है। वाल्मीकि रामायण में भी इसी बात को बताया गया है। अतः वह ही सर्वथा प्रगल्भ (धृष्टि) है। तुम ही कृपा करके आमाद लौकिक अग्नि का त्याग करो और क्रव्याद जो श्मशानाग्नि है, उसे निःशेषतया दूर कर दो। सभी प्राणी तुम्हारी आज्ञा के वशवर्ती हैं, इसलिये तुम देवयज नामक अग्नि को यहाँ प्राप्त करा दो। उसी यज्ञिय अग्नि में तुम्हारे लिये और तुम्हारे अंशभूत देवताओं के लिये हवियों को हम पका सकें, और उसी अग्नि में त्वदाराधन लक्षण श्रौत-स्मार्त यज्ञ का हम अनुष्ठान कर सकें।

२०—हे ब्रह्मन्! तुम ध्रुव हो, पृथिवी को दृढ़ कर दो। तुम्हारी कृपा से ही पृथिवी का भारापनोदन हो हो पाता है। उसी कारण उसका दृढीभाव हो पाता है। हिरण्यकशिपु-रावण आदि महान् दैत्यों का वध करके भगवान् ने ही पृथिवी की रक्षा करके उसे स्थिर किया है, यह सब कथाएँ पुराणों में प्रसिद्ध हैं। ब्रह्म और क्षत्र के द्वारा वननीय अर्थात् सेवनीय, और सजातीय सभी जीवधारी अमृत पुत्रों से सेवनीय होने वाले तुमको मैं अपने आत्मा के रूप में समझता हूँ। जिससे तुम हमारे काम क्रोधादि जो शत्रु वर्ग (भ्रातृव्य) हैं, उनको समूल उन्मूलन कर सको, क्योंकि इन शत्रुओं ने हमारे आनन्द को नष्ट कर दिया है, इसलिये ये काम क्रोधादि ही हम सभी के महान् अपकारकर्ता शत्रु हैं।

२१—अथवा राष्ट्र की सुरक्षा के लिये राजा को, वीर को या सेनापति को कहा जा रहा है— हे प्रतापानल! पूर्णतेजस्विन्! तुम प्रगल्भ (धृष्टि) हो, अर्थात् शत्रुओं के द्वारा अप्रधृष्य हो। 'आमाद' यानी अपक्व को ही 'अत्ति' भक्षण करता है, अर्थात् असमय में 'अपक्व' जो तरुण नहीं है ऐसे बालक को 'अत्ति हन्ति' नष्ट करता है, इसलिये उसे आमात् कहा गया है ऐसे उस क्रूर शत्रु का विनाश करो। तथा 'क्रव्याद' यानी हत (मृत) प्राय वृद्ध को जो मारता है, उसे 'क्रव्याद्' कहा गया है। उस क्रव्याद् को भी मृत्यु के मुख में पहुँचा दो। हे तेजोनिधान! तुम

सर्वप्राणिमात्रेण वननीयं भजनीयं त्वा त्वामहं भ्रातृव्यस्य शत्रो राष्ट्रद्रोहिणो वधाय निर्मूलनाय उपदधे राष्ट्ररक्षणाद-संग्रामभूमौ स्थापयामि ।

अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व धरुणमस्यन्तरिक्षं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय । धर्त्रमसि दिवं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय । विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि चित स्थोर्ध्वचितो भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम् ॥ वा० सं० १ । १८ ॥

अर्थ—हे अग्ने ! हमारे द्वारा अनुष्ठित उत्तम कर्म को तुम स्वीकार करो। हे द्वितीय कपाल ! पुरोडाश को तुम धारण करने वाले हो, इस कारण अन्तरिक्ष को दृढ़ करो। ब्राह्मण, क्षत्रिय और यजमानकुलोत्पन्न पुरुष पुरोडाश-निष्पत्त्यर्थ जिसको स्वीकार करते हैं ऐसे तुम्हें, शत्रु वध करने के लिये मैं अङ्गारे पर रखता हूँ। हे तृतीय कपाल ! तुम पुरोडाश के धारक हो उस कारण द्युलोक को दृढ़ करो। क्षत्रिय और यजमान कुलोत्पन्न पुरुष पुरोडाश निष्पत्त्यर्थ जिसको स्वीकार करते हैं ऐसे तुम्हें शत्रु का वध करने के लिये मैं अङ्गारे पर रखता हूँ। हे चतुर्थ कपाल ! समस्त दिशाओं की दृढ़ता के लिये मैं अङ्गारे पर तुम्हारी स्थापना करता हूँ। हे कपालो ! तुमको समीप में तथा ऊर्ध्व भाग की ओर से एकत्र किया गया है। भृगुसंज्ञक और अङ्गिरसंज्ञक देवर्षियों के तपोरूपी अग्नि से तुम तप्त हो जाओ ॥१८॥

१—सव्याङ्गुल्या शून्येऽङ्गारं निदधात्यग्ने ब्रह्मेति' (का० श्रौ० सू० २।४।२९) वामहस्तस्यानामिकया स्पृष्टे कपाले अङ्गारान्निदध्यादग्नीत्। एतच्चाङ्गारनिधानं कपालसंस्कारकमतः प्रतिकपालं नावर्तनीयम्। गृभ्णीष्वेति-मन्त्रशेषः। निधीयमानाङ्गाररूप हे अग्ने प्रौढकमदानीमस्माभिरनुष्ठीयमानं गृभ्णीष्व। नाशकानां रक्षसां वधेनास्मान-

---

नैश्चल्य के (धैर्य के) कारण ध्रुव हो, अतः पृथिवी को दृढ़ करो अर्थात् समृद्ध करो। तुम ब्रह्मवनि 'ब्रह्म ब्राह्मणं वनति-संभजते' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ब्राह्मण सेवा परायण हो, अतएव ब्रह्म वीर्य के द्वारा संभजनीय (आराधनीय) हो, तथा तुम क्षत्रवनि अर्थात् क्षत्रवीर्य से संभजनीय हो, तथा तुम सजातवनि सर्वप्राणिमात्रेण वननीयं' अर्थात् समस्त प्राणियों से भजनीय हो, अतः मैं भ्रातृव्य अर्थात् राष्ट्रद्रोही शत्रु के वधार्थ यानी निर्मूलनार्थ राष्ट्र की रक्षा के हेतु सँग्राम भूमि में तुम्हारी स्थापना करता हूँ।

१—कात्यायन श्रौत सूत्र में कहा गया है कि अग्नीत् नाम का ऋत्विक् अपने वाम हस्त की अनामिका से स्पृष्ट हुए कपाल पर अङ्गारों को स्थापित करे। यह अङ्गारनिधान, कपाल संस्कारक है, अतः प्रत्येक कपाल पर अङ्गार निधान की आवृत्ति नहीं होगी। 'गृभ्णीष्व' ऐसा मन्त्रशेष समझना चाहिये। निधीयमान अङ्गार रूप हे अग्ने ! इस समय हमारे द्वारा अनुष्ठीयमान जो प्रौढ़कर्म हो रहा है, उसे स्वीकार करो। कर्म के विनाशक राक्षसों का वध

नुगृह्णीष्व । अतएव काण्वशतपथे 'अग्निर्हिनाष्ट्राणां रक्षसां हन्तेति। यद्वा ब्राह्मणं सव्यांगुलिदानेन संसक्तं मामनुगृह्णीष्व अनुगृहाण।

२—धरुणमिति पश्चात् (का० श्रौ० सू० २।४।३०) धरुणमितिमन्त्रेण मध्यमस्य कपालस्य पश्चात् द्वितीयं कपालं प्रथमोपहितेन कपालेन संश्लिष्टमुपदध्यात्। हे द्वितीय कपाल, धरुणं पुरोडाशस्य धारकमसि। अतस्तमन्तरिक्षं दृढीकुरु। पुरोडाशकपालवेलायामुत्पन्नया ज्वालया अन्तरिक्षलोकस्योपद्रवो यथा न स्यात्तथा कुरु। यद्यप्येतत्कपालं ज्वालान्तरिक्षयोर्मध्ये व्यवधायकं न भवति तथाप्यन्तरिक्षदाढर्चार्थं कपालदेवता प्राथ्यंते।

३—'पुरस्ताद्धर्त्रमिति' (का० श्रौ० सू० २।४।३१) मध्यमस्य कपालस्य पुरस्तात् धर्त्रमिति तृतीयं कपालं संश्लिष्टमुपदध्यात्, 'धर्त्रमसि दिवः ब्रह्मवनि' हे तृतीय कपाल, विधारकोऽसि ज्वालाग्रेण दाहाभावाय दिवं द्युलोकं दृढीकुरु। 'विश्वाभ्य इति दक्षिणतः' (का० श्रौ० सू० २।४।३२) प्रथमकपालस्य दक्षिण भागे संश्लिष्टं चतुर्थं कपालं विश्वाभ्यः सर्वाभ्य आशाभ्यो दिग्भ्यः दिग्दाढर्चाय त्वामुपदधामि। पुरोडाशनिष्पत्त्यर्थं ब्रह्मणा वन्यते ब्रह्मवनि तथैव क्षत्रेण वन्यते क्षत्रवनि समानकुले जातैर्वन्यते इनि सजातवनि इति पूर्ववत् त्वा भ्रातृव्यस्य शत्रोर्वधायोपदधामि। सर्वासु श्रुतिषु त्रय इमे लोकाः श्रूयन्ते। पृथिव्यादिलोकत्रयप्रसिद्धम्। कस्याश्चित् भूर्लोकभुवर्लोकस्वर्लोकमहर्लोकजनलोक तपोलोकसत्यलोकेति सप्तानां लोकानां समाहारः श्रूयते। अतो महर्लोकादयः स्वर्गलोकस्यावयवा उतान्यच्चतुर्थ-स्थानमिति विशेषानिश्चयात् लोकविशेषनामधेयमनुच्चार्य साधारण्येनाशाभ्य इति श्रुतम्।

४—समं विभज्य द्वे दक्षिणतः एवमुत्तरतश्चितः स्थेति' (का० श्रौ० सू० २।४।२३) अष्टासु कपालेषु चतुर्भ्यो-

---

करके हम पर अनुग्रह करो। अत एव काण्व शतपथ ब्राह्मण में 'अग्निर्हि ७ नाष्ट्राणां रक्षसां हन्ता कहा गया है। अथवा ' सव्यांगुलि के स्पर्श द्वारा संसक्त हुए मुझ ब्राह्मण पर अनुग्रह करो।

२—'धरुणमिति पश्चात्' इस श्रौत सूत्र के अनुसार 'धरुणमसि' मन्त्र से मध्यम कपाल के पश्चात् भाग में द्वितीय कपाल को प्रथमोपहित कपाल से संश्लिष्ट करके रखे। हे द्वितीय कपाल ! तुम पुरोडाश के धारक हो। अतः उस अन्तरिक्ष को दृढ़ कर दो। अर्थात् पुरोडाश कपालपाक के समय उत्पन्न होने वाली ज्वाला से अन्तरिक्ष लोक को किसी प्रकार का उपद्रव जिस तरह न हो पाये वैसा करो। यद्यपि यह कपाल, ज्वाला और अन्तरिक्ष दोनों के मध्य में व्यवधायक नहीं है, तथापि अन्तरिक्ष की दृढ़ता के लिये कपालाधिष्ठात्री देवता की प्रार्थना की जा रही है।

३—'पुरस्ताद्धर्मम् इति' इस सूत्र के अनुसार मध्यम कपाल के (प्रथम कपाल के) पूर्व भाग में 'धर्त्रमसि' इस मन्त्र से तृतीय कपाल को मध्यम कपाल से संश्लिष्ट करके रखे। हे तृतीय कपाल ! तुम विधारक हो, अपनी ज्वाला के अग्र भाग से दाह न होने देने के लिये द्युलोक को दृढ़ कर दो। 'विश्वाभ्य इति दक्षिणतः' इस सूत्र के अनुसार प्रथम कपाल के दक्षिण भाग में संश्लिष्ट करके विद्यमान चतुर्थ कपाल की स्थापना, समस्त दिशाओं की दृढ़ता के लिये कर रहा हूँ। पुरोडाशनिष्पत्ति के लिये ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि, सजातवनि रूप वाले तुम्हारी स्थापना, शत्रुवध के लिये कर रहा हूँ। सभी श्रुतियों में ये तीन लोक ही सुनाई पड़ते हैं। पृथिवी आदि तीन लोक प्रसिद्ध ही हैं। किसी श्रुति में भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक—इन सात लोकों का समाहार श्रुत होता है। अतः महर्लोक आदि क्या स्वर्गलोक के अवयव (भाग) हैं, अथवा कोई अतिरिक्त अन्य चतुर्थ स्थान है ? इसका निश्चय न होने से लोक विशेष का का कोई नाम न बताकर सामान्य रूप से 'आशाभ्यः' कह दिया गया है।

४—'समं विभज्य द्वे दक्षिणतः एवमुत्तरतश्चितः स्थेति' सूत्र के अनुसार आठ कपालों में से अवशिष्ट जो चार कपाल हैं, उनका समविभाजन करके दो दक्षिण की ओर दो उत्तर की ओर 'चितःस्थ' इस मन्त्र की आवृत्ति करते

ऽवशिष्टानि चत्वारि समं विभज्य द्वे दक्षिणतो द्वे उत्तरतः चितः स्थेति मन्त्रावृत्त्या प्रादक्षिण्येन एवं चतुर्थात्पूर्वमपरं चतुर्थात्परं तत उत्तरतः पश्चादेकं पूर्वं द्वितीयमुपदध्यात्। 'तूष्णीं वा' (का० श्रौ० सू० २।४।३४) पुरोडाशार्थं कपालचतुष्टयस्य स्थापितत्वात् प्रकृतेऽष्टकपालानां विहितत्वात् वाशिष्टं यत्कपालचतुष्टयं तद् द्वेधा विभज्य दक्षिणोत्तरयोर्दिशोः चितः स्थेति मन्त्रेणोपदध्यात्। उर्ध्वं चित इति मन्त्रशेषः। (चित्र् चयने इति क्विबन्तस्य रूपम्) हे कपालविशेषाः, यूयं चितःस्थ मध्यमकपालस्योपचयकारिणोभवथेत्यर्थः। तथैवोर्ध्वचितः उत्तरकपालोपहितानां द्वितीयादिकपालानामप्युपकारिणो भवत। 'भृगूणामित्यङ्गारैरभ्यूहति' (का० श्रौ० सू० २।४।३७) अङ्गारैः कपालान्याच्छादयेत। हे कपालानि, यूयं भृगूणां भृगोरपत्यानि बहवो भृगवस्तेषां भृगुनामकानामेवमङ्गिरसामङ्गिरोनामकानां च देवर्षीणां तपोरूपेणानेनाग्निना तप्यध्वम् तप्तानि भवन्तु। अस्याग्नेस्तदीयतपोरूपत्वं भावयेदित्यर्थः। सर्वथापि दिव्यानां देवानां कृते पुरोडाशादिपाकाय न भौतिकोऽग्निः किन्तु दिव्यानां महर्षीणां तपोरूपेणाग्निना तत्पाक इति। तदुक्तं तित्तिरिणा—'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वमित्याह देवतानामेवैतानि तपसा तरन्तीति।'

५—आधुनिकस्तु, हे अग्ने, त्वं धरुणमसि कृपयास्मत्प्रयुक्तं ब्रह्म गृह्णीष्व। तथास्मासु अन्तरिक्षमक्षयं विज्ञानं दृ७ंह वर्धय। अहं भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वामुपदधामि हे सर्वधातः, त्वं सर्वेषां लोकानां धर्त्रमसि। कृपयास्मासु दिवं ज्ञानप्रकाशं दृ७ंह वर्धय। अहं भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वामुपदधामि त्वां सर्वव्यापकं ज्ञात्वा विश्वाभ्य आशाभ्य उपदधामि। हे मनुष्या यूयमप्येवं विदित्वा चितः स्थ ऊर्ध्वचितः कपालानि कृत्वा भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्। इति सर्वत्र व्यत्ययबाहुल्यपूर्णमेवास्य व्याख्यानम्। यद्यत्र परमात्मा भौतिकोऽग्निर्वा सम्बोध्यस्तदा आकाशस्थान् पदार्थान् अन्तरात्मस्थं ज्ञानं वा दृढीकुरु करोति वेति, तथापि नहि धरुणमसि धर्त्रमसीतिशब्दभेदेन वस्तुभेदो भवति। अतएव कथमेकस्यैवान्तरिक्षस्य दिवो वधकत्वं स्यात्। एव

हुए प्रदक्षिण तथा चतुर्थ कपाल से पूर्व और दूसरे को चतुर्थ से पर स्थापित करे, तदनन्तर अवशिष्ट दो कपालों में से एक को उसके उत्तर की ओर और दूसरे को तूष्णीम् ही रख दे। अभिप्राय यह है कि पुरोडाश के लिये चार कपालों की स्थापना हो चुकी है, किन्तु प्रकृत में आठ कपालों का विधान किया गया है, अतः अवशिष्ट जो चार कपाल हैं, उनका द्विधा विभाजन करके दक्षिण और उत्तर दिशा में दो-दो कपालों का 'चितः स्थ' मन्त्र से उपधान करे। 'ऊर्ध्व चितः स्थ' यह मन्त्रशेष है। 'चित्र्' 'चयने' धातु से क्विप् प्रत्यय करके 'चित्' रूप बनता है। हे कपाल विशेषों ! तुम मध्यम कपाल के उपचयकारी हो। तथैव उत्तर कपालोपहित द्वितीय कपालों के भी उपकारी हो जाओ। 'भृगूणामित्यङ्गारैरभ्यूहति' सूत्र के अनुसार अङ्गारों से कपालों को आच्छादित करे। हे कपालों ! तुम, भृगुओं के अङ्गिरस् नाम के देवर्षियों के तपोरूप इस अग्नि से तप्त हो जाओ। इस अग्नि को उनके तपोरूप समझो। सर्वथापि देवताओं के लिये पुरोडाश के पाकार्थ, भौतिक अग्नि नहीं है, किन्तु दिव्य महर्षियों के तपोरूप अग्नि से उसका पाक होगा। इसी बात को तित्तिरि ने भी कहा है।

६—कोई आधुनिक उक्त मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार करता है—हे अग्ने ! तुम धरुण हो, कृपया अस्मत्प्रयुक्त ब्रह्म का ग्रहण करो। तथा हम लोगों के विज्ञान की वृद्धि करो। मैं भ्रातृव्य के वधार्थ ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि और सजातवनि रूप वाले तुम्हारी स्थापना करता हूँ। मैं सर्वधातः ! तुम सम्पूर्ण लोगों के धर्त्रमसि' धारक हो। कृपया हममें ज्ञान का प्रकाश अच्छी तरह वृद्धिङ्गत कर दो। मैं भ्रातृव्य के वधार्थ ब्रह्मवनि-क्षत्रवनि-सजातवनि गुणों से विशिष्ट हुए तुम्हारी स्थापना करता हूँ, तुम्हें सर्वव्यापक समझकर समस्त दिशाओं के लिये तुम्हारी स्थापना करता हूँ। हे मनुष्यों ! तुम भी ऐसा जानकर कपालों को ऊर्ध्वचित् करके भृगु और अङ्गिरसों के तप से तप्त हो जाओ।' इस प्रकार सर्वत्र व्यत्यय बाहुल्य पूर्ण ही इसका व्याख्यान है। यदि यहाँ पर परमात्मा अथवा भौतिक अग्नि, सम्बोध्य होता तो आकाशस्थित पदार्थों को अथवा अन्तरात्मा में स्थित ज्ञान को दृढ़ करो अथवा करता है—यह अर्थ होता है तथापि 'धरुणमसि धर्त्रमसि' इस शब्द भेद से वस्तु भेद नहीं होता है। अत एव एक ही अन्तरिक्ष का

ब्रह्मणो वेदस्य ब्रह्माण्डस्य मूर्तद्रव्यस्य वा प्रकाशकत्वं ब्रह्मवनित्वं सम्भजनार्थस्य वनेर्विभाजकत्वप्रकाशकत्वाद्यर्थानुपपत्तेः।

६—वस्तुतस्तु ब्रह्मणा ब्राह्मणेन वन्यते पुरोडाशनिष्पत्त्यर्थं सम्भज्यते व्रियत इति ब्रह्मवनि तथैव, क्षत्रेण वन्यते सजातैर्यजमानसमानकुलेजातैस्तज्जातीयैर्वन्यत इति क्षत्रवनि, सजातवनि त्रिभिः कपालैस्त्रीन् लोकान् यजमानो जयति चतुर्थेन दिशो जयति। यश्चैव पुरोडाशोऽत्र संस्क्रियते सोऽप्याधारवशात् त्रिलोकीविग्रह एव भूत्वा देवताः प्रीणाति, तदर्थमेव कपालानां देवतातर्पणहेतुत्वे सर्वाभीष्टप्रदत्वमग्नौ तदुपधानेन शत्रूणामसुराणां पाप्मनां तापकत्वेन सर्वानिष्टनिवारकत्वमपि सिद्ध्यति। एवं ब्राह्मणसूत्रयाज्ञिकपद्धत्यनुसारेण मन्त्राणां तेषां तेषु तेषु कर्मसु विनियोगवशादेव मन्त्रार्थसङ्गतिः, न स्वाभ्यूहितविद्वद्राजादिप्रशंसापरत्वे तत्तदुपदेश परत्वे वा मन्त्रार्थसङ्गतिः सम्भवति।

७—चितामूर्ध्वचिताश्च को भेद इति न स्पष्टम्। कानि च तानि कपालानि यान्यग्नौ धार्यन्ते? भृगवः के इति न स्पष्टम्। तेषामङ्गिरसाश्च तपः कीदृशमित्यपि न स्पष्टम्।

८—यदपि च—'हे विद्वन् येनाग्निना धरुणं ब्रह्मान्तरिक्षं गृह्यते दृंह्यते च तं त्वं होमार्थं शिल्पविद्यासिद्ध्यर्थंश्च गृभ्णीष्व दृंह च। तथैवाहमपि भ्रातृव्यस्य वधाय त्वा तं ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि उपदधामि। एवं यो वायुर्धर्त्रं सर्वलोकधारकोऽस्ति दिवं च दृंहति तमहं यथा भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि तथैव त्वमप्येतं तस्मैप्रयोजनायोपदृंह।

दिवोवर्धकत्व कैसे होगा? एवं वेद, ब्रह्माण्ड अथवा मूर्तद्रव्य का प्रकाशकत्व, ब्रह्मवनित्व और सम्भजनार्थक वनि का विभाजकत्व प्रकाशकत्व आदि अर्थ करना अनुपपन्न है।

६—वस्तुतस्तु 'ब्रह्मणा ब्राह्मणेन वन्यते पुरोडाशनिष्पत्त्यर्थं सम्भज्यते व्रियते इति ब्रह्मवनि', तथैव 'क्षत्रेण वन्यते सजातैर्यजमान समानकुले जातैस्तज्जातीयैर्वन्यत इति क्षत्रवनि', सजातवनि त्रिभिः कपालैः त्रीन् लोकान् यजमानो जयति चतुर्थेन दिशो जयति।' जो पुरोडाश यहाँ संस्कृत किया जा रहा है, वह भी आधारवशात् त्रिलोकी स्वरूप होकर ही देवताओं को सन्तुष्ट करता है। उसी के लिये कपालों को देवता सन्तोष का कारण होने से सर्वाभीष्टप्रदत्व है। अग्नि पर उसका उपधान करने से शत्रुओं का पापी असुरों का वह तापक हो जाता है। अत एव सर्वानिष्टनिवारकत्व होना भी उसका सिद्ध हो जाता है। एवं ब्राह्मण, सूत्र तथा याज्ञिक पद्धति के अनुसार उन मन्त्रों की उन-उन कर्मों में विनियोगवशादेव मन्त्रार्थ की सङ्गति लग जाती है। किन्तु किसी विद्वान् या राजा की प्रशंसा परक या तत्तदुपदेश परक अर्थ कल्पना करने पर मन्त्रार्थ सङ्गति का लगाना सम्भव नहीं है।

७—'चित और ऊर्ध्वचित' में क्या भेद है? उसे स्पष्ट नहीं किया है। कौन से वे कपाल हैं, जिन्हें अग्नि पर धारण कराया जाता है? भृगु कौन हैं? यह भी स्पष्ट नहीं किया है। उनका और अङ्गिरसों का कैसा तप है? यह भी स्पष्ट नहीं किया है।

८—और जो यह कहा गया है कि 'हे विद्वन्! जिस अग्नि से ब्रह्म अन्तरिक्ष का ग्रहण किया जाता है और उसे दृढ़ किया जाता है उसे तुम होम के लिये और शिल्प विद्या की सिद्धि के लिये ग्रहण करो और उसे दृढ़ करो। तथैव मैं भी भ्रातृव्य के वधार्थ ब्रह्मवनि–क्षत्रवनि–सजातवनि गुणों से सम्पन्न हुए तुम्हारी स्थापना करता हूँ। इस प्रकार उस अग्नि का धारण करने पर वह अग्नि, सुख देगा। एवं जो वायु, सम्पूर्ण लोक का धारक है और स्वर्ग को दृढ़ करता है, उसे, मैं जिस प्रकार भ्रातृव्य के वधार्थ ब्रह्मवनि आदि गुणों वाले अग्नि का उपधान करता हूँ, उसी तरह तुम भी इसे उस प्रयोजन के लिये अच्छी तरह स्थापन करो।

९—हे शिल्पविद्याचिकीर्षो विद्वन् येन वायुना पृथिवी द्यौः सूर्यलोकश्च धार्यते दृंह्यते च तं त्वं जीवनार्थं शिल्प-विद्यार्थं च धारय दृंह च। ब्रह्मवनीत्यादि पूर्ववत्।

१०—हे मनुष्या यथा वायुविद्या त्वा तमग्निं वायुञ्च विश्वाभ्य आशाभ्य उपदधाति तथैव यूयमप्युपधत्त। यथार्थं शिल्पविद्यार्थं च ऊर्ध्वचित कपालानि धारितवन्तः सन्तो भृगूणामङ्गिरसाञ्च तपसा तप्यध्वं तापयत च। अत्र कथं भौतिकाग्निना सर्वधारकवेदोऽन्तरिक्षं वा धार्यत इति दृष्टान्त एवासिद्धः। तथा युष्माभिर्होमार्थं शिल्पविद्यार्थ-मग्निर्ग्राह्य इति तु लोकसिद्धमेव। किञ्च तथाहमपि भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवन्यादिविशिष्टं गृह्णामीत्यत्राहं पदार्थः कः? वायुना कथं सूर्यलोको दृंह्यते कथं कीदृशी वायुविद्या कथञ्च वायुना शत्रुनाशः? शिल्पविद्या च सामाजिकै र्वर्ध्यते इति सर्वं शब्दमात्रम्।

११—वस्तुतस्तु पाश्चात्यानां प्रभावात् पुराणेतिहाससमराङ्गणसूत्रधारादिवर्णितविविधयानादिप्रभावित-त्वादेव मन्त्रेषु तादृशार्थाभासयोजनमुपहासास्पदमेव। ये पुराणेतिहासानां प्रामाण्यमेव नोरीकुर्वन्ति तेषां कृते समराङ्गण-सूत्रधारप्रामाण्यस्य तु कथैव का, भृग्वङ्गिर आदयो न व्यक्तिविशेषा इत्युक्त्वापि के ते इति नोक्तम्।

१२—यत्तु केनचित् कपालपदेन पारदरसयुक्ता घटा वायुयानचालनायस्थापनीयाः। अग्नितापप्रभावात् घटस्थ-पारदसोत्थानात् वायुयानगमनं सिद्धयतीत्युक्तम्, तदपि तुच्छम्, कपालशब्दस्य घटबोधकत्वाभावात्। मूले मन्त्रे तु कपाल-शब्दोऽपि नास्त्येव।

१३—माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः (नि० ११।१९) कथं तस्य गणस्य पतयः, कथं च तेन कपालस्य

९—हे शिल्पविद्या को चाहने वाले विद्वान्! जिस वायु से पृथिवी, द्यौ और सूर्यलोक धारण किया जाता हैं और दृढ़ बनाया जाता है, उसे तुम जीवनार्थ और शिल्प विद्या के लिये धारण करो और दृढ़ बनाओ। ब्रह्मवनि आदि पूर्ववत् ही समझना चाहिये।

१०—हे मनुष्यो! जैसे वायुविद्या उस अग्नि और वायु को सम्पूर्ण दिशाओं के लिये धारण करती है, तथैव तुम भी धारण करो। अर्थ के लिये और शिल्पविद्या के लिये ऊर्ध्वचित कपालों को धारण करवाया था, तथा भृगु और अङ्गिरसों के तप से सन्तप्त हो जाओ, और तपाओ। यहाँ पर भौतिक अग्नि के द्वारा सर्वधारक वेद या अन्तरिक्ष का धारण कैसे किया जा सकता है? अतः दृष्टान्त ही असिद्ध है। तथा तुम लोग होम के लिये, शिल्प विद्या के लिए अग्नि को ग्रहण करो—इस प्रकार का ग्रहण तो लोकसिद्ध ही है। किञ्च—उसी तरह 'अहमपि'—मैं भी भ्रातृव्य के वधार्थं ब्रह्मवन्यादि विशिष्ट का ग्रहण करता हूँ यहाँ पर 'अहम्' पदार्थ क्या है? वायु से सूर्य लोक को कैसे दृढ़ किया जाता है? कौन सी वह वायु विद्या है? वायु से शत्रुनाश कैसे होता है? और 'सामाजिकों के द्वारा शिल्पविद्या का वर्धन किया जाता है'—यह सब शब्द मात्र ही है।

११—वस्तुतस्तु पाश्चात्यों के प्रभाव में आकर तथा पुराण, इतिहास, समराङ्गण सूत्रधारादि के द्वारा वर्णित विविध यान आदि के पढ़ने मात्र से मोहित होकर मन्त्रों में भी उसी प्रकार अर्थाभासों की योजना कर देना उपहासा-स्पद ही है। जो लोग पुराण–इतिहास आदि के प्रामाण्य का स्वीकार ही नहीं करते, उनके लिये समराङ्गण सूत्रधार के प्रामाण्य के विषय में कहना ही क्या है? भृगु-अङ्गिरा आदि कोई व्यक्तिविशेष नहीं हैं, यह कह तो दिया है, किन्तु वे कौन थे? इसे नहीं कहा।

१२ यह जो किसी ने कहा है कि 'कपाल' शब्द से पारद के रस से पूर्ण घटों को वायुयान के चलाने के लिये स्थापित करना चाहिये। अग्नि के ताप के प्रभाव से घटस्थित पारदरस के उत्थान से वायुयान उड़ने लगता है। किन्तु यह कथन सारहीन है। क्योंकि 'कपाल' शब्द 'घट' का बोधक नहीं है। और मूल मन्त्र में तो 'कपाल' शब्द का उल्लेख तक नहीं है।

१३—'माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः'—उस गण के 'पति' कैसे? और उससे कपाल का 'ताप' कैसे?

ताप: ? 'वायुरापश्चन्द्रमा' (गो० ब्रा० पू० २।६) 'अङ्गिरा उ ह्यग्नि:' (श० १।४।१।२५) 'अङ्गिरा वा अग्नि:' (श० ६।४।४.४) एतेषामपि तप: कीदृक्, कथञ्च तेन कपालताप: इति वक्तव्यम् ।

१४—यत्तु—'अङ्गिरस्तम:' (ऋ० सं० १।१००।४) इत्येव बहुषु मन्त्रेषु दर्शनात् नेयं व्यक्तिविशेषस्य संज्ञा, अन्यथा तमप्प्रत्ययानुपपत्ति: स्यादिति, तन्न युवतमादिव्यक्तिष्वपि तमप्प्रत्ययदर्शनेनादोषात् । सायणादिरीतिस्तु, शतपथादिश्रुत्यनुसारिण्येव । तद्रीत्या तु शम्या-दृषदुपलाद्यधिष्ठातृदेवतानां चेतनत्वात् ऐश्वर्यवत्त्वाच्च ते सम्बोधनार्हा: सन्त्येवेत्यसकृदावेदितमेव ।

१५—शतपथे तु दयानन्दीयव्याख्यानविरुद्धं सायणादिव्याख्यानानुसार्येव व्याख्यानं दृश्यते तथाहि—'अथाङ्गारमभ्यूहति' अत्र समन्त्रकं कपालस्योपर्यङ्गाराभ्यूहनं विधत्ते श्रुति: । अग्ने ब्रह्मे तिमन्त्रनिर्देश: । किं कारणमित्यपेक्षायामाह—पुरापुरोडाशाधिश्रयणात् प्राक् इह न ष्ट्रा रक्षांसि नाविशेयुरित्येतदर्थं तत्राग्नेरभ्यूहनं युक्तम् । यतोऽग्नी रक्षसामपहन्ता । एतावता मन्त्रस्य कपालानामुपर्यङ्गाराभ्यूहने विनियोग: । तत्प्रयोजनञ्च स्पष्टमेवोक्तं भवति । तेन मन्त्रार्थोऽपि तदनुगुण एव । अथ यत्पश्चात् तदुपदधाति धरुणमस्यन्तरिक्षं दृ ७ हेत्येतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते । ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि भ्रातृव्यस्य वधायेति पश्चात्कपालस्योपधानं विधत्ते । मध्यमकपालस्योपधानानन्तर्यमथशब्दार्थ: । धरुणमस्यन्तरिक्षं दृ ७ ह । तथा प्रार्थनयान्तरिक्षस्यैव रूपेणैतत्कपालं दृ ७ हति । एतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते ब्रह्मवनि त्वा…………उपदधामि ।

अथ यत्पुरस्तात्तदुपदधाति धर्त्रमसि दिव: दृ ७ ह…………इति मध्यमकपालस्य पूर्वदेशे स्थाप्यस्योपधानं विधत्ते । दिव: सम्बन्धिना रूपेण एतत् ७ तृतीयं कपालं दृढीकरोति । अथ यद्दक्षिणतस्तदुपदधाति विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामीति । स यदिमांल्लोकानत्ति चतुर्थमस्ति वा न वा ते वैतत् द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते । अनद्धा वैतद्यद्विश्वा आशास्तस्मादाह विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामीति । तूष्णीं वैवेतराणि कपालान्युपदधाति चित: स्थोर्ध्वचित इति वा । दक्षिणभागस्थितस्य कपालस्योपधानं विधत्ते । मन्त्रस्य तात्पर्यमाह—पूर्वं हि त्रिभिरुपहितै: कपालै: पृथिव्यादिलोकत्रयसकाशात् शत्रोर्बाध उक्त: । इदानीं तु इमान् त्रींल्लोकानतिक्रम्य यत् चतुर्थं स्थानं तदस्ति वा न वेति सन्दिग्धमेव लोकत्रयवत्प्रसिद्ध्यभावात् अतो मन्त्रे लोकवाचिनं शब्दविशेषं परित्यज्य विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य: इति सर्वशब्दपर्यायस्य विश्वशब्दस्य प्रयोग: । तेन सन्दिह्यमानात् सर्वस्मादेव स्थानात् द्विषन्तं शत्रुं स यजमानश्चतुर्थकपालोपधानेन बाधते । विश्वाभ्य इति मन्त्रस्य लोकत्रयातिरिक्तपरत्वमुपपादयति—अनद्धा वा इति । लोकत्रयातिवर्तिन: सद्भावोऽसद्भावश्च अनद्धा वै अस्माकमप्रत्यक्ष एव । यद् विश्वा आशा तदप्यनद्धा अप्रत्यक्षमेव लोकत्रयवत् तत्प्रसिद्ध्यभावात् । अतोऽप्रत्यक्षवादिना विश्वाभ्य आशाभ्य इति पदद्वयेन लोकत्रयातिरिक्तं सकलमेवाप्रत्यक्षं विवक्षितम् । एवं कपालचतुष्टयस्य मन्त्रेणोपधानं विधाय अवशिष्टकपालोपधाने पक्षद्वयमाह—तूष्णीं चित: स्थेति मन्त्रेण वा ।

'वायुरापश्चन्द्रमा:', 'अङ्गिरा उ ह्यग्नि:', 'अङ्गिरा वा अग्नि:' इनका भी तप कैसा ? और उससे कपाल का तप होना कैसे ? यह सब बताना चाहिये था ।

१४—यह जो कहा है कि 'अङ्गिरस्तम:' इतना ही अनेक मन्त्रों में दृष्ट होने से यह किसी व्यक्ति विशेष की संज्ञा नहीं है, अन्यथा 'तमप्' प्रत्यय अनुपपन्न होगा । किन्तु यह कहना भी उचित नहीं है, 'युवतम' आदि व्यक्तियों में भी तमप् प्रत्यय का होना देखा जाता है, अत: कोई दोष नहीं है । सायणादि आचार्यों की रीति तो शतपथादि श्रुति का ही अनुसरण करती है । उनकी रीति के अनुसार तो शम्या-दृषद-उपल आदि यज्ञीय पदार्थों की अधिष्ठातृ देवता चेतन और ऐश्वर्यशाली होती हैं, अत: वे सम्बोध्य होती हैं, इस बात को कई बार कहा जा चुका है ।

१५—शतपथ में तो दयानन्दीय व्याख्यान के विरुद्ध सायणादिव्याख्यानानुसारी ही व्याख्यान दिखाई देता है । उपहित कपालों पर अङ्गारों से अभ्यूहन का विधान किया गया है । भृगु और अङ्गिरसों के तप का जो विशेषण है,

अथाङ्गारैरभ्यूहति । भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वमिति एतद्वै तेजिष्ठं तेजो यद्भृग्वङ्गिरसां तपसा सुतप्तान्यसन्निति । तस्मादेवमभ्यूहति (श० १।२।१।८।१३) उपहितेषु कपालेषु अङ्गारैरभ्यूहनं विधत्ते—भृगूणामङ्गिरसां तपसो यद्विशेषणम् तद् व्याचष्टे एतद्वेति । यद् भृग्वङ्गिरसां महर्षीणां तपोविशेषजनितं तेजः एतत्खल्वग्न्यादितेजोऽन्तरात् तेजिष्ठं तेजस्वितमम् अतिशयेनदीप्तं, तेजस्विशब्दादिष्ठनि 'विन्मतोर्लुक्' (पा॰ सू॰ ५।३।६५) इति लुक् ।

१६—मन्त्रस्याभिप्रायमाह—एतान्युपहितानि कपालानि भृग्वङ्गिरसां तपसा सुष्ठ्वतिशयेन तप्तानि भवेयुरनेनाभिप्रायेण असन् इति पञ्चमलकारेरूपम् । एतावता भृग्वङ्गिरसो व्यक्तिविशेषा न सन्तीत्यपास्तम्, शतपथश्रुत्यैव भृग्वङ्गिरसां सुतप्तानां तेजिष्ठत्वप्रतिपादनात् । नचाङ्गिरस्तममितितमप् प्रत्ययानुपपत्तिः, अन्वर्थसंज्ञामङ्गिरसां बहूनां मध्येतिशयितार्थेऽपि तमप्प्रत्यये बाधाभावात् । तथैवात्रोक्तं सायणाचार्येण—

१७—अध्यात्मपक्षे तु—हे अग्ने तेजस्विन् ब्रह्मचारिन् ब्रह्मवेदं गृभ्णीष्व गुरुपारम्पर्येणाधीष्व । वेदतात्पर्यविषयोभूतं मुख्यमपिब्रह्म वेदान्तविचारेणावगच्छ । त्वं धरुणमसि वेदस्य तत्प्रतिपाद्यस्य परमतत्त्वप्राप्तिसाधकस्य श्रौतस्मार्तकर्मणः धरुणमसि धारणसामर्थ्यं वीर्यमसि । धर्मधर्मिणोरभेदात्, तदध्ययनेन तदर्थानुष्ठानेन चान्तरिक्षं तत्रत्यं देवसमूहं च दृंह वर्धय दाढर्च्यं च सम्पादय । अहं वेदपुरुषो भ्रातृव्यस्य वधाय कामादि निरासाय त्वा त्वां ब्रह्मवनि ब्रह्मसम्भजनशीलं त्वां क्षत्रवनिं सजातवनिं क्षत्रादि सर्वजनसंभजनीयं त्वा उपदधामि सम्पादयामि । धर्त्रमसि यमनियमादीनां विविधोपासनानाञ्च धारयित्रसि तत्सामर्थ्यवानसि । तेनदिवं द्युलोकं तत्रत्यांश्च दृꣳह दृढी कुरु ब्रह्मचर्यलक्षणेन ब्रह्मवीर्येण तत्पूर्वकोपासनैरेव ब्रह्मलोकप्राप्तिसम्भवात् । तेन भ्रातृव्यस्यानैश्वर्यलक्षणस्य वधाय त्वा ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि । 'विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयꣳ सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते । इतिमन्त्रवर्णात् ।

उसकी व्याख्या करते हैं । महर्षि भृगु अङ्गिरसों के तपोविशेष से उत्पन्न जो तेज है, वह अग्नि आदि अन्य तेजों से तेजस्वितम है, यानी अतिशय दीप्तिमत् है । अतिशय अर्थ में 'तेजस्वि' शब्द से 'इष्ठन्' प्रत्यय किया गया है ।

१६—मन्त्र का अभिप्राय बताते हैं—ये उपहित कपाल भृगु अङ्गिरसों के तप से सम्यक् प्रकार से अतिशय तप्त हों, इस अभिप्राय से 'आसन्' यह पञ्चम लकार का रूप है । इस बिवेचन से 'भृगु और अङ्गिरसों' को व्यक्ति विशेष न कहने का खण्डन हो जाता है । शतपथ श्रुति ने ही सुतप्त भृगु अङ्गिरसों का तेजष्ठित्व बताया है । तथा 'अङ्गिरस्तमम्' में तमप् प्रत्यय का होना अनुपपन्न भी नहीं है । अन्वर्थ संज्ञा वाले अनेक अङ्गिरसों के मध्य में अतिशयित अर्थ के बोधनार्थ तमप्' प्रत्यय के होने में कोई बाधक नहीं है । उसी तरह यहाँ पर सायणाचार्य ने कहा भी है ।

१७—अध्यात्म पक्ष में तो—हे अग्ने तेजस्विन् ब्रह्मचादिन् ! 'ब्रह्म' यानी वेद का गुरु परम्परा से अध्ययन करो । समस्त वेद का तात्पर्य जिसमें है उस ब्रह्म को वेदान्त वाक्यों का विचार कर समझो । तुम, वेद प्रतिपाद्य परमतत्त्वप्राप्तिसाधक श्रौत-स्मार्त कर्म के धारण करने में सामर्थ्य रूप वीर्य हो । धर्म और धर्मी का अभेद होने से वेद के अध्ययन तथा तदर्थानुष्ठान से अन्तरिक्ष और वहाँ के देव समूह का वर्धन करो और उनको सुदृढ़ बनाओ । मैं वेद पुरुष, भ्रातृव्य के वधार्थ यानी कामादि के निरासार्थ ब्रह्म सम्भजनशील, क्षत्रादि सर्वजन सम्भजनीय, अर्थात् ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि, सजातवनि गुणों से युक्त हुए तुम्हारा सम्पादन करता हूँ । तुम यमनियमादि और विविध उपासनाओं के धारण करने वाले हो अर्थात् उसे धारण करने का सामर्थ्य तुममें है । उस कारण द्युलोक तथा वहाँ के निवासियों को दृढ़ करो । ब्रह्मचर्य लक्षण ब्रह्मवीर्य से और तत्पूर्वक उपासनाओं से ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति का होना सम्भव है । अतः अनैश्वर्य लक्षण भ्रातृव्य के वधार्थ, ब्रह्मवनि–क्षत्रवनि–सजातवनि गुण विशिष्ट रहने वाले तुम्हारी स्थापना करता हूँ । 'विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयꣳ सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।' यह मन्त्रवर्ण है ।

१८—यद्वा ब्रह्मचारी अग्निमेव परमात्मानं वा प्रार्थयते—हे अग्ने देव परमात्मन् वा त्वं ब्रह्मवेदं गृभ्णीष्व कृपया मां ब्रह्मवेदं ग्राह्य, वेदप्रायं ब्रह्म वा मां ग्राह्य प्रापय। तत्प्रापणेन मामनुगृह्णीष्व वा। त्वं धरुणमसि, तद्धानसीत्यर्थः। अग्निदेवतानुग्रहेणैव वेदाविद्यामेधाप्राप्तिश्रवणात्। 'यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मेधयाद्य मामग्ने मेधाविनं कुरु' इति मन्त्रवर्णात्। परमेश्वरानुग्रहस्तु सर्वकल्याणहेतुः प्रसिद्ध एव। त्वमन्तरिक्षं दृꣳह। अग्नेर्वैश्वानर विराड्रूपत्वेनान्तरिक्षादिदाढर्च हेतुत्वमपि प्रसिद्धमेव। भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवनि ब्रह्मसंभजनीयं सजातवनि प्राणिमात्रसंभजनीयं त्वामहमुपदधामि हृदये धारयामि। हे अग्ने त्वं धर्त्रमसि सर्वधारयित्रसि हिरण्यगर्भरूपत्वात्। तेन दिवं दृꣳह। भ्रातृव्यस्य बधाय ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि त्वा सजातवनि त्वोपदधामि किञ्च विश्वाभ्य आशाभ्यो दिग्भ्यः सर्वाभ्यः कामनाभ्यो वा त्वोपदधामि। हे चितः सामान्यज्ञानवन्तो जीवा यूयमूर्ध्वचितः स्थ परमात्मज्ञानवन्तो भवथ। ऊर्ध्वं ब्रह्म सर्वकारणत्वात् व्यापकत्वात् सूक्ष्मत्वाच्चोत्कृष्टं ब्रह्म। तच्चेतन्ति जानन्तीत्यूर्ध्वचितः स्थ। तदर्थं भृगूणामङ्गिरसाञ्च प्रसिद्धेन तपसा तप्यध्वम्। तज्जातीयेन तपसैव निष्कल्मषेण बुद्धिशुद्धिविवेकवैराग्यशमदममुमुक्षुत्वादि सम्पत्तौ चोर्ध्वचेतृत्वं सम्भवति।

१९—नात्र दयानन्दोक्तमर्थं मनागपि शतपथश्रुतिः स्पृशति।

शर्मास्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूताऽअरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रतित्वादितिर्वेत्तु। धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु दिवः स्कम्भनीरसि धिषणासि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु॥ वा० सं० १।१९॥

१८—अथवा ब्रह्मचारी, अग्नि या परमात्मा की प्रार्थना कर रहा है—हे अग्निदेव अथवा परमात्मन्! तुम वेद का ग्रहण करो और कृपया मुझे वेद का ग्रहण करवाओ। अथवा वेदप्राय ब्रह्म, मुझे प्राप्त करवाओ। उसे प्राप्त कराकर मुझ पर अनुग्रह करो। तुम उसे धारण करने में समर्थ हो। अग्नि देवता के अनुग्रह से ही वेदादि विद्या ग्रहण करने की मेधा की प्राप्ति होती है, यह श्रुत है इसी बात को मन्त्र वर्णात्मक श्रुति ने बताया है। परमेश्वर का अनुग्रह ही समस्त कल्याणों की प्राप्ति में हेतु है, यह प्रसिद्ध ही है। हे अग्ने! तुम ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि, सजातवनि हो, इसी कारण मैं तुम्हें अपने हृदय में धारण करता हूँ। हे अग्ने! तुम हिरण्य गर्भ स्वरूप हो, अत एव सबके धारक हो। इसी कारण तुम द्यु लोक को दृढ़ कर दो। भ्रातृव्य के विनाशार्थ मैं तुम्हारी स्थापना करता हूँ। किञ्च समस्त दिशाओं के लिये अथवा समस्त कामनाओं की पूर्ति के लिये मैं तुम्हारी स्थापना करता हूँ। हे चितः! सामान्य ज्ञान से सम्पन्न जीवों! तुम सब, परमात्मा के ज्ञान को प्राप्त कर लो। यह ब्रह्म समस्त सृष्टि का कारण है, सर्वत्र व्यापक है, सूक्ष्म है, अतः सर्वोत्कृष्ट है। ऐसे उस ब्रह्म को जानकर तुम सब ऊर्ध्व चित् हो जाओ। तदर्थ भृगु और अङ्गिरसों के प्रसिद्ध तप के अनुसार तप करो। उस प्रकार के निष्कल्मष तप से ही बुद्धि शुद्धि, विवेक, वैराग्य, शम, दम, मुमुक्षुत्व आदि सम्पत्ति के होने पर ही ऊर्ध्वचेतृत्व का होना सम्भव हो सकता है।

१९—इस विषय में दयानन्दोक्त अर्थ का स्पर्श भी शतपथ श्रुति से नहीं उपलब्ध हो रहा है।

अर्थ—हे कृष्णाजिन ! तुम दृषद् (सिल) धारण करने में सुखहेतु हो। इस कृष्णाजिन पर संलग्न रहने वाला राक्षस दूर किया गया। तथा प्रतिबन्धक शत्रु भी भूमि पर कम्पित हो गये। हे कृष्णाजिन ! तुम भूमि देवता की त्वचा हो। तुम्हें भूमि देवता अपनी त्वचा समझे। हे दृषद् ! (हे सिला !) तुम पर्वत पर उत्पन्न हुई हो और पर्वत के समान इस पेषण कर्म को धारण करते हो। भू देवी की कृष्णाजिन रूपी त्वचा तुम्हें अपनी आत्मीय समझे। हे शम्ये ! तुम द्यु लोक का स्तम्भन करती हो। हे उपल ! तुम पेषण कर्म करते हो। तुम दृषद् (सिल) की अपेक्षा लघु (छोटी) हो, उस कारण दृषद् की कन्या जैसी शोभा दे रही हो अतः दृषद् का पाषाण तुम्हें अपनी कन्या के रूप में पहिचाने ॥१९॥

१—'कृष्णाजिनमादत्ते पूर्ववत्' (का० श्रौ० सू० २।५।२) अध्वर्युः फलीकरणानन्तरमेव कृष्णाजिनमादत्ते। कृष्णाजिनं प्रति पूर्ववत्। अवहननमिव आदानमवधूननं सव्याशून्यकरणम् चेत्येतेषां विधिर्भवति। तच्चैतत्पेषणार्थत्वात् तदपेषणे न भवति। मन्त्रास्तु व्याख्यातप्रायाः। 'तस्मिन् दृषदं धिषणासीति' (का०श्रौ० सू० २।५।३) सव्याशून्ये तस्मिन् कृष्णाजिने दृषदं स्थापयेदध्वर्युः धिषणासीति मन्त्रेण। हे पेषणाधारभूते शिले त्वं पर्वती पर्वतात्मिकासि धीः कर्म-बुद्धिर्वा तदुभयं सीदति सनोति वेति कर्माङ्गत्वात् दृषद् धिषणोच्यते। कृष्णाजिनरूपा भूमेस्त्वगियं प्रतिवेत्तु प्रतिगृह्य त्वदवस्थानमनुजानातु। वेत्त्वित्यस्याभिप्रायं कण्व आह प्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति संज्ञामेवैतत्, दृषदे च कृष्णाजिनाय च वदति नेदन्योऽन्यं हिनसाते इतीति। एतदेतेन मन्त्रेण दृषदश्च कृष्णाजिनस्य च संज्ञामेव वदति किमर्थं परस्पर-मेते हिंसां नैव कुरुतामित्येतदर्थम्। 'पश्चाच्छम्यामुपोहत्युदीचीं दिव इतीति' (का० श्रौ० सू० २।५।४) दिव इति मन्त्रेण दृषदः पश्चाद् भागे उदगग्रां शम्यां द्वादशाङ्गुलां दृषदोऽधस्तात् प्रवेशयेदध्वर्युः। तेन पश्चाद्भागे उच्चा अग्रतो निम्ना दृषद् भवतीति। मन्त्रार्थस्तु—हे काष्ठमयि शम्ये त्वं दिवो द्युलोकस्य स्कम्भनीरसि, अधः पतनवारणाय स्तम्भनकारिणी भवसि 'अन्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिव्यौ वी विष्टब्धे' (श० १।२।१।१६) इति श्रुतेः। व्यत्ययेन द्वितीयाबहुवचनम्। कण्वशाखायां तु स्कम्भन्यसीतिपाठः। शम्यायां द्युलोकस्तम्भनहेतुत्वं दर्शयति श्रुतिः 'द्यावापृथिवी-सहास्ताम्, ते शम्यामात्रमेकमहर्वेता ७ं शम्यामात्रमेकमहरिति' (तै०) पुरा प्रजापतिना सृष्टे द्यावा पृथिव्यौ जतुकाष्ठवत् परस्परं संश्लिष्टे अभूताम्। प्रतिदिनं तथेति विवक्षया वीप्सोक्ता। तयोः पुनः संश्लेषे यागस्यावकाशो न स्यात् ततो विश्लेषाय दिवः स्कम्भन्यसीति मन्त्रः। दृषदुपलां धिषणासीति' (का० श्रौ० सू० २।४।५।५) पेषणार्थं

१—कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुरोध से अध्वर्यु, फलीकरण के अनन्तर ही कृष्णाजिन का ग्रहण करता है। जिस प्रकार अवघात के लिये कृष्णाजिन का प्रयोग बताया गया था, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। अर्थात् आदान, अवधूनन, सव्याशून्यकरणत्व आदि सब विधियाँ यहाँ पर भी की जाती हैं। ये सब विधियाँ पेषणार्थ होने से जहाँ पेषण नहीं हैं, वहाँ ये विधियाँ नहीं होती हैं। मन्त्र तो व्याख्यातप्राय ही हैं। 'तस्मिन् दृषदं धिषणासीति' इस सूत्र के अनुसार सव्य हस्त से अशून्य उस कृष्णाजिन पर अध्वर्यु दृषद् को स्थापित करे 'धिषणासि' इस मन्त्र से। हे पेषणाधारभूते शिले ! तुम पर्वतात्मिका हो। 'धीः कर्म बुद्धिर्वा तदुभयं सीदति सनोति वा' इस निरुक्ति के अनुसार कर्म का अङ्गभूत रहने से 'दृषद्' को धिषणा कहा जाता है। अदिति रूप भूमि की यह कृष्णाजिन रूपा त्वचा है ऐसा समझे। तदनन्तर सूत्रकार कहते हैं कि 'दिवः' इस मन्त्र से दृषद् के पश्चात् भाग में अधस्तात् द्वादशांगुल वाली शम्या को उदगग्र रखे। इस प्रकार दृषद् के नीचे शम्या को प्रविष्ट करने से वह दृषद् पश्चात् भाग में ऊँची और अग्र भाग में निम्न (नीची) हो जाती है। हे काष्ठमयि शम्ये ! तुम द्यु लोक को अधः पतन से रोकने वाली हो अतः स्तम्भनकारिणी हो। पहले किसी समय प्रजापति के द्वारा स्पर्श किये जाने पर द्यौ और पृथिवी, जतु-काष्ठ के समान परस्पर एक दूसरे से चिपक गईं। उनके परस्पर चिपक जाने से याग के लिये कहीं जगह (अवकाश) ही नहीं रही। अतः 'दिवः स्कम्भन्यसि' मन्त्र से उनका परस्पर विश्लेषण किया जाता है। तदनन्तर सूत्र कहता है कि पेषणाथ दृषद् के समान उपला को भी स्थापित करे। हे उपले ! उपरितन शिले ! तुम पेषण व्यापार की धारिका हो। तुम

दृषद इवोपलां स्थापयेत् । हे उपले त्वं पार्वतेयी पर्वत्यभिधाना अधस्तनशिलायाः सम्बन्धिनी पुत्रीरूपाधिषणासि पेषण-व्यापारस्य धारिकासि अतस्त्वं मातृसमानपर्वती प्रतिवेत्तु ।

२—आधुनिकस्तु—अनेन मन्त्रेण यज्ञस्य स्वरूपमङ्गानि चोपदिश्यन्ते—हे मनुष्याः भवन्तो योऽयं शर्म सुखदोऽदितिर्नाशरहितो स्वस्ति येन रक्षो दुःखमवधूतम्, अवधूता निष्टा अरातयः । योदित्या अन्तरिक्षस्य पृथिव्याश्च त्वगस्ति त्वा तं प्रतिवेत्तु विदन्तु येन विद्याख्येन यज्ञेन पर्वती दिवः स्कम्भनी असि । पार्वतेयी धिषणास्यदित्यास्त्वग्वद्विस्तार्यते त्वा तं प्रतिवेत्तु यथावज्जानन्तु । येन सत्सङ्गत्याख्येन पर्वती ब्रह्मज्ञानवती धिषणासि प्राप्यते त्वा तमपि प्रतिवेत्तु जानन्तु ।

३—अत्र बहून् पदार्थान् महीधरोक्तान् गृह्णन्नपि व्यत्ययेन स्वाच्छन्द्येन स्वभिमतार्थे मन्त्रं योजितवान् । मनुष्यैर्यो विज्ञानेन सम्यक् सामग्रीं सम्पाद्य यज्ञोऽनुष्ठीयते यश्च बुद्धिवर्धकोऽस्ति सोऽग्निना मनसा वा संसाधितः सूर्यप्रकाशं त्वग्वत् सेवते इति भावार्थः ।

४—प्रथमन्त्वत्र मन्त्रे यज्ञ शब्दो नास्ति । तथा च यज्ञः शर्मसुखरूपोऽस्तीति कथनमसङ्गतमेव । रक्षो दुःखमित्यपि निर्मूलम् यज्ञो नाशरहितोऽस्तीत्यपि प्रमाणविधुरम्, होमरूपस्य सङ्गतिलक्षणस्य च प्रत्यक्षेणैव नाशदर्शनात् । 'येन रक्षो दुःखं दुष्टस्वभावश्च पुरुषा नश्यन्ति' इत्यपि न सङ्गतम्, 'अवधूतम्' 'अवधूताः' इत्यनयोर्यज्ञविशेषणत्वासम्भवात् येनेतिपदमपि मूले नास्ति, अध्याहारेण तत्कल्पने तु विपरीतस्यापि कल्पयितुं शक्यत्वात् । अदितेरन्तरिक्षस्य पृथिव्याश्च त्वग्वत् वेदवाणी कथं सम्भवति ? वेदवाण्यां तत्र च सादृश्यमूलं किम् ? विद्या रूपे च यज्ञे किं मानम् ? कस्य शब्दस्य चायमर्थः ? सा सूर्यादिलोकस्तम्भिनी मेघकन्या पृथिवी तुल्या च कथम् ? पदार्थनिरूपणे च यज्ञस्या-

---

पार्वतेयी हो, अर्थात् अधस्तन जो दृषद् है, उसकी पुत्री हो । श्रुति भी कहती है 'कनीयसी ह्येषा दुहितेव भवति ।' अतः मातृ तुल्या पर्वतो रूपा दृषद् तुम्हें अपनी पुत्री समझे ।

२—किसी आधुनिक ने इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की है—इस मन्त्र से यज्ञ का स्वरूप और अङ्ग बताये जा रहे हैं । हे मनुष्यों ! आप लोग, सुख देने वाले, नाशरहित कल्याणमय, तथा जिसने दुःख को दूर कर दिया है, और शत्रुओं को जिसने नष्ट कर दिया है, जो अन्तरिक्ष और पृथिवी की त्वचा है, उसे पहिचान लें । जिस विद्या नामक यज्ञ से पर्वती दिवः स्कम्भनी हो । तुम पार्वतेयी धिषणा हो अथवा अदिति के त्वक् रूप हो, उसे आप यथावत् जान लें । जिस सत्सङ्गति से ब्रह्मज्ञानवती धिषणा प्राप्त होती है, उसे भी आप लोग जान लें ।

३—यहाँ पर महीधरोक्त अनेक पदार्थों को गृहीत करते हुए भी स्वच्छन्दता पूर्वक स्वाभिमत अर्थ में मन्त्र की योजना कर दी गई है । सबका भाव यह बताया है कि मनुष्य, विज्ञान के सम्यक् सामग्री का सम्पादन करके जिस यज्ञ का अनुष्ठान करता है, जो बुद्धि को बढ़ाने वाला है, वह यज्ञ, अग्नि से अथवा मन से अनुष्ठित हुआ मनुष्यों की सेवा करता है । जैसे त्वक् सूर्य का सेवन करती है ।

४—किन्तु यह स्वच्छन्दतापूर्वक किया गया अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि पहली बात तो यह है कि प्रस्तुत मन्त्र में 'यज्ञ' शब्द नहीं है । अतः 'यज्ञ' सुख स्वरूप है, यह कथन असङ्गत ही होगा । 'रक्षस्' को दुःख कहने में भी कोई मूल प्रमाण नहीं है । 'यज्ञ' को नाश रहित बताने में भी कोई प्रमाण नहीं है । क्योंकि होम रूप, दान रूप, सङ्गति लक्षण का नाश तो प्रत्यक्ष ही है । अतः उससे दुःख का और दुष्ट स्वभाव के लोगों का नाश होने की बात करना भी असङ्गत ही है । 'अवधूतम्' और 'अवधूताः' ये दोनों 'यज्ञ' के विशेषण नहीं हो सकते । 'येन' यह पद भी मूल में नहीं है । अध्याहार से यदि कल्पना करेंगे तो उसके विपरीत कल्पना भी की जा सकेगी । अन्तरिक्ष और पृथिवी की त्वक् के समान वेदवाणी का सम्भव कैसे हो सकेगा ? वेदवाणी में उसके सादृश्य का मूल क्या होगा ? विद्या रूप यज्ञ के होने में क्या प्रमाण है ? और किस शब्द का यह अर्थ है ? वह सूर्यादि लोकस्तम्भिनी मेघकन्या, पृथिवी के तुल्य कैसे

नुष्ठाता यजमानः इत्यत्र अदितिरिति पदनामसु पठितम् (निघण्टु ५।५) इति प्रमाणमुक्तम्, तच्चासङ्गतमेव । अदिति-पदस्य पदार्थत्वेऽपि न यजमानार्थता । न च यजमान इत्यपि प्राड्विवाकादिपदवत् पदमेवेति वाच्यम् । तथात्वे अदिति-पदेन प्राड्विवाकस्यापि बोधापत्तेः ।

५—यत्तूक्तम्—"धृष्णोति सर्वा विद्या यया सा धिषणा 'धृषेर्धिष च संज्ञायाम्' (उ० २।८२) अनेन धिषणा-शब्दसिद्धिः । महीधरेण धिषणेदं पदं धियं बुद्धिं कर्म वा सनोति व्याप्नोतीति भ्रान्त्या व्याख्यात"मिति, तदपि भ्रान्ति-मूलकः प्रलाप एव । प्रकृते 'दृषदमुपदधाति धिषणासीति—अथोपलां दधाति धिषणासि' (श०१।१।२।१५-१६) 'तस्मिन् दृषदं धिषणासीति' (का० श्रौ० सू० २।५।३) इति श्रुतिसूत्रविरोधेन धिषणापदस्य संज्ञापरत्वानुपपत्तेः । प्रकृते दृषदः उपलायाश्च देवतयोः बुद्धिकर्मणोर्व्यापकत्वेन दातृत्वेन वा स्तुतिरभिप्रेता । सा च संज्ञायामनुपपन्नैव स्यात् । अत एव सूत्रकारेण संज्ञायामित्युक्तम् । तस्मान्नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति इति न्यायः प्रसरति । अन्यथा त्वया पर्वतशब्दात् पर्वतीत्युपपत्तौ किमर्थं पर्वणे ज्ञानं विद्यतेऽस्यां क्रियायामिति गौरवमाश्रीयते ? पार्वतेयी वृष्टिरिति पदार्थे गदितम् । अन्वये भाषाव्याख्याने च न तदुपयोगः । पर्वती कथं दिवः स्कम्भनीत्यद्यापि न स्पष्टम् । कोऽयं यज्ञः कानि च तदङ्गानीति बहुप्रलपतापि नोक्तमेव । भावार्थभाषायामपि—मनुष्यैः स्वविज्ञानैः सम्यक्तया पदार्था-नेकीकृत्य तैर्यज्ञोऽनुष्ठेयः । अग्निना मनसा च साधितो यज्ञः सूर्यप्रकाशं त्वचा तुल्यं सेवते सेवयते इति टिप्पणी ।

६—कथमेतत्सर्वं सङ्गतमिति विद्वांसो विदाङ्कुर्वन्तु । तदीयास्तु मुग्धा एवास्मिन् पाण्डित्ये । शतपथविरुद्धञ्च सर्वमेतत् । तथाहि—अपि यो दृषदुपले उपदधाति स कृष्णाजिनमादत्ते । शर्मासीति । तदवधुनोत्यवधूतँ रक्ष इति । सोऽसावेव बन्धुस्तत्प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणात्यदित्यास्त्वगसि । प्रतित्यादितिर्वेत्तु सोऽसावेव बन्धुः । पूर्वत्र श्रुतौ सूत्रे च कपालोपधानपेषणयोः सहानुष्ठानमुक्तम् । अत एवापर्यायेणैकपुरुषानुष्ठेयत्वासम्भवेनोभाभ्यामृत्विग्भ्यामपर्यायेणानु-

---

हो सकेगी ? और पदार्थ निरूपण में यज्ञ का अनुष्ठाता यजमान है, इस प्रसङ्ग में 'अदिति' को पदनामों में पढ़ा है, यह प्रमाण बताया गया है । किन्तु यह कथन भी सङ्गत नहीं है । 'अदिति' पद, यद्यपि पदार्थ है, तथापि वह यज-मानार्थक नहीं है । यह भी आप नहीं कह सकते कि 'यजमान' पद भी प्राड्विवाक आदि पद के समान है, अन्यथा 'अदिति' पद से प्राड्विवाक का भी बोध होने लगेगा ।

५—यह जो कहा था कि "धृष्णोति सर्वा विद्या यया सा धिषणा । 'धृषेर्धिष च संज्ञायाम्' अनेन धिषणा शब्दसिद्धिः । महीधरेण धिषणेदम्पदं धियं बुद्धिं कर्म वा सनोति व्याप्नोतीति भ्रान्त्या व्याख्यातम् इति ।" किन्तु यह भी उनका भ्रान्तिमूलक प्रलाप ही है । क्योंकि उस आधुनिक का कथन, श्रुति तथा सूत्र के विरुद्ध है । अतः 'धिषणा' पद को संज्ञापरक बताना अनुपपन्न है । प्रकृत में दृषद् और उपला के देवताओं की, बुद्धि और कर्म के व्यापकत्वेन अथवा दातृत्वेन स्तुति अभिप्रेत है । 'धिषणा' को संज्ञा मानने पर स्तुति तो अनुपपन्न हो जायगी । अत एव सूत्रकार ने 'संज्ञायाम्' कहा है । इसलिये इस आधुनिक व्याख्याकार के विषय में 'स्थाण्वन्धन्याय' ही चरितार्थ हो रहा है । अन्यथा तुमने 'पर्वत' शब्द से 'पर्वती' शब्द की उपपत्ति हो सकने पर भी 'पर्वणे ज्ञानं विद्यते अस्यां क्रियायाम्' इस गौरव का स्वीकार क्यों किया ? 'पार्वतेयी वृष्टिः' इस पदार्थ पर कहा है कि अन्वय में भाषा व्याख्यान में उसका उपयोग नहीं है । 'पर्वती' दिवःस्कम्भनी किस प्रकार से है, इसे अभी तक स्पष्ट नहीं किया है । यह यज्ञ कौन सा है ? और कौन से उसके अङ्ग है ? यह तुमने बहुप्रलाप करते हुए भी नहीं बता पाया । भावार्थ भाषा में भी—सभी मनुष्य अपने विज्ञान की सहायता से सम्यक्तया पदार्थों को संगृहीत करके उनके द्वारा यज्ञ का अनुष्ठान करें । अग्नि और मन के द्वारा साधित हुआ यज्ञ, सूर्य प्रकाश को त्वचा के समान सेवन करता है और सेवन कराता है ।

६—किन्तु यह सब कैसे सङ्गत हो सकता है ? विचारशील विद्वान् लोग ही इसकी असमञ्जसता को पहिचान सकते हैं । आधुनिक व्याख्याकार के अन्धानुकरणशील अनुयायी तो उसके इस बेतुके पाण्डित्य पर तो मुग्ध ही हैं ।

ष्ठानमुक्तम्। कपालोपधानं विधाय पेषणं विधातुमारभते कृष्णाजिनस्योपरि कर्त्तव्यं तदभिप्रेत्य तदादानं विधत्ते—स कृष्णाजिनमिति। सोऽसावेव अवहननप्रकरणे कृष्णाजिनावधूननविधिशेषो यः प्रागाम्नातः तन्नाष्ट्रा एवेद्रक्षांस्यतोऽपहन्तीति स एवात्रानुषज्य योजनीयः। इत्यतिदेशः कृष्णाजिनस्यास्तरणं विधत्ते तदिति प्रागाम्नातमेव मन्त्रव्याख्यानं तदत्रातिदिशति सोऽसावेव बन्धुस्तत्समानधर्मेत्यर्थः।

७—अथ शम्यामुदीचीनाग्रामुपदधाति दिवःस्कम्भनीरसीत्यन्तरिक्षमेव रूपेणान्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे। तस्मादाह दिवः स्कम्भनीरसीति (श० १।१२।१६) तत्र स्पष्टं शम्याया द्युलोकस्तम्भनहेतुत्वं वक्तुमन्तरिक्षरूपत्वमुक्तम्। तेनान्तरिक्षलोकात्मिका शम्योक्ता। इमे द्यावापृथिव्यावन्तरिक्षेण हि यस्माद्विष्टब्धे विविधमधस्तादुपरिष्टाच्च धारिते अन्तेऽन्तरिक्षात्मिका शम्यापि दिवः स्कम्भनीरसीति स्तूयते। नात्र पर्वत्या न वा पार्वतेय्या अत्र दिवः स्कम्भनीत्वं सम्भवत्युपपद्यते वा।

८—अथोपलामुपदधाति—धिषणासि पार्वतेयी प्रतित्वा पर्वती वेत्त्विति कनीयसी ह्येषा दुहितेव भवति तस्मादाह पार्वतेयीति प्रति त्वा पर्वती वेत्तु प्रति हि स्वः सञ्जानीते। तत्संज्ञामेवैतत् दृषदुपलाभ्यां वदति नेदन्योऽन्य ७ हिनसाते इति। द्यौरेषा रूपेण हनू एव दृषदुपले जिह्वैव शम्या। तस्माच्छम्यया समाहरन्ति जिह्वया वदति (श० १।१।२।१७) इह दृषदुपरि उपलायाः समन्त्रकं स्थापनं विधत्ते अथेति। पार्वतेयी शब्दं व्याचष्टे कनीयसीत्यादिना। यस्मादेषोपलाऽतिशयेन दृषदः सकाशादल्पपरिमाणा अत एषा दृषदो दुहितेव भवति। दुहिताहि लोके मातुरल्पीयसी भवति। तस्मादेषा पर्वत्याः पुत्री पार्वतेयी 'स्त्रीभ्यो ढक्' (पा० सू० ४।१।१२०) इति ढक्। एतदालोक्यैव दयानन्देन पर्वतस्य मेघस्य दुहितेव या सा पार्वतेयी अथवा पार्वत्या घनपङ्क्त्याः कन्या पार्वतेयी वृष्टिरुक्ता किन्तु परस्परं सङ्गतिर्नोपपादिता। अर्थापनकाले तु मेघकन्या अर्थात् पृथिवीतुल्या वेदवाणीत्युक्तम्। तदेतत् सर्वं पूर्वोक्तशतपथश्रुतिविरुद्धमेव।

उसका यह सम्पूर्ण व्याख्यान केवल प्रलापमात्र ही है, क्योंकि वह सब, शतपथ श्रुति के विरुद्ध है। पूर्वत्र श्रुति और सूत्र में कपालोपधान और पेषण का सहानुष्ठान कहा गया था। वह सहानुष्ठान एक ही पुरुष के द्वारा होना सम्भव न होने से दो ऋत्विजों के द्वारा उस सहानुष्ठान को कहा गया। कपालोपधान का विधान करके पेषण के विधान का आरम्भ किया गया है। वह पेषण कृष्णाजिन पर करना है, इसलिये कृष्णाजिन के आदान का विधान किया गया है। ततः कृष्णाजिन के आस्तरण का विधान किया गया है।

७—शतपथ ने शम्या को द्युलोक के स्तम्भन का हेतु बताने के लिये उसे अन्तरिक्ष रूप कहा है। अतः अन्तरिक्षलोकात्मिका शम्या है, यह स्पष्टतया बताया है। इन द्यावा पृथिवी को क्योंकि अन्तरिक्ष के द्वारा विविध प्रकार से नीचे-ऊपर धारण किया गया है, अतः अन्त में अन्तरिक्षात्मिका शम्या की भी 'दिवः स्कम्भनीरसि' के द्वारा स्तुति की गई है। यहाँ पर पर्वती की अथवा पार्वतेयी की दिवःस्कम्भनीयता का होना न सम्भव है, और न उपपन्न ही है।

८—दृषद् के ऊपर उपला का समन्त्रक स्थापन करने का विधान शतपथ कर रहा है। 'कनीयसी' इत्यादि से 'पार्वतेयी' शब्द की व्याख्या उसने की है। यह उपला, दृषद् की अपेक्षा अत्यल्पपरिमाण की है, इसलिये यह दृषद् की कन्या के समान है। लोकव्यवहार में भी माता की अपेक्षा दुहिता (कन्या) अल्पपरिमाण ही होती है। इसलिये यह, पर्वती की पुत्री पार्वतेयी 'स्त्रीभ्यो ढक्' सूत्र से ढक् प्रत्यय किया गया है। यह देखकर ही दयानन्द ने 'पर्वतस्य मेघस्य दुहितेव या सा पार्वतेयी, अथवा पार्वत्या घनपङ्क्त्याः कन्या पार्वतेयी वृष्टिः' कह दिया है, किन्तु सङ्गति का उपपादन नहीं किया। अर्थ करते समय मेघकन्या अर्थात् पृथिवी तुल्या वेदवाणी कह दिया है। किन्तु यह सब, पूर्वोक्त शतपथश्रुति के विरुद्ध ही है।

९—'प्रति त्वा पार्वती वेत्तु' इति मन्त्रशेषेण परस्परहिंसापरिहारार्थं दृषदुपलयोर्मित्रीकरणमर्थ इति व्याचष्टे प्रतित्वेति। उपर्यवस्थानलक्षणेन रूपेण एषा उपला द्यौरेव द्युलोकात्मिकैव। तदेको दृषदुपले स समाहन्तीति प्रागुपात्तयोः समाहननं विहितम्। तत्र शम्यायाः साधनत्वं प्रसङ्गादुपपादयति। हनू एवेति। दृषदुपलयोरुभयत्रावस्थानात् हनुत्वं तन्मध्येऽवस्थानात् शम्याया जिह्वात्वम्। यस्माच्च जिह्वया लोको वदति तस्माज्जिह्वास्थानीयया शम्ययैव समाहननं कुर्यादित्यर्थः। सर्वथापि शतपथश्रुतिकात्यायनसूत्रयाज्ञिकपारम्पर्यपद्धतिसमाश्रितं सायणोव्वटमहीधरसम्मतमेव व्याख्यानं विजयते।

१०—अध्यात्मपक्षेऽपि—हे आत्मन् त्वं शर्मासि सुखरूपोऽसि। स्वरूपसुखानुसन्धानेनैव रक्षो विघ्नकारकतत्त्वमवधूतं निगृहीतम्। अरातयः संस्काररूपेणावस्थिताः प्रतिपक्षाश्च बाधिताः। त्वमदित्याश्चिच्छरीराया अखण्डायाः परचितेस्त्वक् त्वगिव स्वरूपमेवासि। अदितिस्त्वां स्वकीयत्वेन वेत्तु जानातु। तस्याः स्वामीयत्वमननादेवात्मनां कल्याणसम्भवात् हे परचिते त्वं धिषणासि विज्ञानरूपासि। ननु विज्ञानस्य क्षणभङ्गुरत्वेन ममापि तथात्वं स्यादिति तत्राह—पर्वती शिलावत् कूटस्थासि। पर्वतशिलावन्निर्विकारेत्यर्थः। यद्वा त्वं पर्वती असि। पर्वतात्मिकासि पर्वतशिलावदविचलासीत्यर्थः। नन्वेवमायातं तद्वदेव जड़त्वमपीति चेन्न, यतस्त्वं धिषणासि नित्यबोधरूपासीत्यर्थः। यद्वा अदित्या अनन्ताखण्डरूपायाश्चिच्छरीरायास्त्वग्रूपा प्रत्यक्चितिस्त्वां तथाभूतां वेत्तु जानातु। हे प्रत्यक्चिते त्वं दिवो द्युलोकस्य बाह्यानां ज्योतिषामादित्याग्निविद्युतामान्तराणामिन्द्रियमनोबुद्ध्यादीनां ज्योतिषां त्वमेव स्कम्भिनी धारिणी असि। 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते' (श्री० भ० गी० १३।१७) इति भगवदुक्तेः। हे प्रत्यक्चिते

९—'प्रतित्वा पार्वती वेत्तु' इस मन्त्रशेष के द्वारा परस्पर हिंसा के परिहारार्थ दृषद् और उपला दोनों में मैत्रीकरण बताना ही प्रयोजन है। ऊपर स्थिति रहने से यह उपला, द्युलोकात्मिका ही है। ततः समाहनन का विधान है। उसमें प्रसङ्गात् शम्या की साधनता का उपपादन कर दिया है। दृषद् और उपला दोनों की अवस्थिति उभयत्र होने से उनका हनुत्व सिद्ध होता है और उन दोनों के बीच में शम्या के रहने से उसका जिह्वात्व सिद्ध होता है। जिह्वा से लोक बोला करते हैं, इसलिये जिह्वा स्थानीय शम्या से ही समाहनन करना चाहिये। सर्वथापि शतपथश्रुति-कात्यायनसूत्र-याज्ञिकपरम्पराप्राप्त पद्धति पर आश्रित सायण-उव्वट-महीधर आचार्यों की विरचित व्याख्या ही प्रामाणिक होने से आदरणीय है।

१०—अध्यात्म पक्ष में भी—हे आत्मन्! तुम सुख (शर्म) रूप हो, अपने स्वरूपसुखानुसन्धान से ही विघ्नकारकतत्त्व राक्षसों को तुमने निगृहीत कर दिया है। संस्कारों के रूप में अवस्थित शत्रुओं को और प्रतिपक्षियों को तुमने नष्ट कर दिया है। तुम अदिति के अर्थात् चिच्छरीररूपिणी, अखण्ड पराचिति के त्वचा के ही समान यानी तत्स्वरूप ही हो। अदिति तुम्हें अपना स्वकीय समझे। तुम्हारे प्रति स्वात्मीयत्वरूपेण उसके द्वारा चिन्तन किये जाने से ही समस्त आत्माओं के कल्याण का होना सम्भव है। हे पराचिते! तू विज्ञानरूपा है। विज्ञान के क्षणभंगुर होने पर भी पराचिति, क्षणभगुर नहीं है। वह तो शिला की तरह कूटस्थ है। अर्थात् पर्वत शिला के समान वह निर्विकार है। अथवा तुम पर्वती हो, यानी पर्वत शिला के समान अविचल हो। पर्वत शिला के समान रहने पर भी वह जड़ा नहीं है। क्योंकि वह 'धिषणा' यानी नित्य बोध रूप है। अथवा अदिति के अर्थात् अनन्त अखण्ड रूप चिच्छरीरिणी के त्वग्रूप यानी प्रत्यक् चिति रूप हो, वह अदिति तुमको इसी प्रकार यानी अपनी त्वचा के समान ही समझती रहे। हे प्रत्यक् चिते! तुम द्यु लोक के ज्योति रूप आदित्य, अग्नि, विद्युत् आदि बाह्य तथा इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि आन्तर ज्योतियों के एकमात्र धारक तुम ही हो। भगवान् भी श्रीमद्भगवद्गीता में यही कह रहे हैं—"ज्योतिषामपितज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते" इति। हे प्रत्यक्चिते! तुम विज्ञान रूपा हो, फिर भी अनित्य नहीं हो। तुम पार्वतेयी हो यानी पर्वती के अर्थात् तत्पदार्थरूपा ईश्वरचिति की दुहिता के समान हो, अतः महती शिला के समान कूटस्थ हो। क्योंकि भगवती श्रुति कह रही है—हे आत्माओं! तुम 'अमृतस्य पुत्राः'—अमृत के पुत्र हो। भगवान् भी कह रहे

त्वं धिषणासि विज्ञानरूपासि, तथात्वेऽपि नानित्या किन्तु पार्वतेयी पर्वत्या तत्पदार्थरूपाया ईश्वरच्चितेः दुहितेव पार्वतेयी महती शिलेव कूटस्थासि। 'अमृतस्य पुत्राः' (वा० सं० ११।५) 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (श्री० म० गी० १५।७) इत्यादि वचनेभ्यः। एतन्मन्त्रमाश्रित्यैव योगवाशिष्ठे त्रिपुरसुन्दरीरहस्ये च शिलोपाख्यानं प्रवृत्तं वेदितव्यम्। पर्वती त्वा त्वां स्वकीयत्वेन वेत्तु जानात्वित्यर्थः। अखण्डायाश्चितेरेव सर्वैश्वर्यपूर्णा चितिरीश्वररूपा प्रत्यक्चितिर्जीवरूपा। सा च तदंशरूपैव। उभे चाखण्डचित्परब्रह्माभिन्ने एव।

धान्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा। दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धां देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वा महीनां पयोऽसि॥ वा० सं० १। २० ॥

अर्थ—हे हविर्द्रव्य ! तुम धान्य अर्थात् सन्तोष करने वाले हो, उस कारण देवताओं को सन्तुष्ट करो। हे तण्डुल ! प्राण (श्वसन वायु), उदान (उत्क्रान्ति वायु), व्यान (व्यापक वायु) वायु का प्रदान करने के लिये तुम्हें पीसकर चूर्ण बना रहा हूँ। (तण्डुलों में प्राण सञ्चार के लिये उनका पेषण किया जाता है। क्योंकि देवताओं के लिये हवि सजीव बनाया जाता है।) हे हविर्द्रव्य ! मैं तुम्हें आयुष्य की वृद्धि के लिये दीर्घ कर्मसन्तति के उद्देश्य से कृष्णाजिन पर स्थापित करता हूँ। प्रेरणा देने वाले सुवर्ण के अंगुलीयक आदि आभूषणों को धारण किये हुए देवता छिद्ररहित अपने अञ्जलि से तुम्हारा ग्रहण करे। हे हविर्द्रव्य ! यजमान की नेत्रशक्ति के वर्धनार्थ मैं तुम्हारी ओर देखता हूँ। हे आज्य ! तुम गाय के दूध से उत्पन्न हुए हो, उस कारण दुग्धरूप हो ॥२०॥

१—धान्यमसीति तण्डुलान् पिनष्टि प्राणाय त्वेतीति प्रतिमन्त्रम् (का०श्रौ०सू० २।५।६) दृषद उपरि तण्डुलान् प्रक्षिप्य पिंष्यादध्वर्युः। हे हविस्त्वं धान्यमसि। धिनोति प्रीणाति देवानिति धान्यम्, तेन धान्यपदेन व्रीहिवद्यवादयोऽपि गृह्यन्ते, धिनोतेः प्रीणनार्थत्वात्। देवानग्न्यादीन् धिनुहि प्रीणय। प्रकर्षेण अनिति सदा चेष्टते इति प्राणः श्वासवायुः।

हैं—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।' इस मन्त्र के आधार पर ही योगवासिष्ठ में और त्रिपुरसुन्दरी रहस्य में शिलोपाख्यान बताया गया है। पर्वती, तुम्हें अपना स्वकीय समझे। अखण्ड चिति से ही सर्वैश्वर्यपूर्ण ईश्वर रूपा चिति है और प्रत्यक् चिति जीव रूपा है। वह उसकी अंश रूप ही है। दोनों ही अखण्डचित्परब्रह्म से अभिन्न ही हैं।

१—कात्यायन श्रौत सूत्र के अनुसार दृषद् के ऊपर तण्डुलों को डालकर अध्वर्यु उनको पीसे। हे हविः ! तुम धान्य हो। 'धिनोति प्रीणाति देवान् इति धान्यम्'—यह 'धान्य' पद की निरुक्ति है। अतः 'धान्य' पद से व्रीहि की तरह 'यव' आदि का भी ग्रहण किया जाता है। क्योंकि 'धिनु' धातु प्रीणनार्थक है। अग्न्यादि देवों को प्रसन्न करो। 'प्रकर्षेण अनिति सदा चेष्टते इति प्राणः' इस निरुक्ति से 'प्राण' का अर्थ 'श्वासवायु' है। 'व्याप्य चेष्टते इति व्यानः' इस निरुक्ति से 'व्यान' का अर्थ है—शरीर में व्यापक रूप से रहने वाला और बल का हेतुभूत वायु। हे हविः, हे तण्डुल ! मैं तुम्हारा पेषण तुम्हें प्राणदान करने के लिये करता हूँ, तुम्हारी हिंसा करने के लिये नहीं। इसी प्रकार

व्याप्य चेष्टते इति व्यानः—शरीरव्यापको बलहेतुर्वायुः। हे हविः हे तण्डुल त्वां प्राणाय प्राणदानाय न हिंसायै पिनष्मीति शेषः। एवमुत्तरमन्त्रयोरपि। एभिर्मन्त्रैः प्राणादिदानेन हविषः सजीवत्वं क्रियते इत्यभिप्रायः। जीवं वै देवानां हविरमृतममृतानामित्युपक्रम्य दृषदुपलाभ्यां हविर्यज्ञं घ्नन्तीति प्रतिपाद्य स यदाह प्राणाय त्वोदानाय त्वेति तत्प्राणापानौ दधातीत्यादिना हविषः पुनर्जीवनसम्पत्तिरुक्ता शतपथश्रुत्या—दीर्घामिति कृष्णाजिने प्रोहति' (का० श्रौ० सू० २।५।७) पिष्टानि हवींषि उपलया कृष्णाजिनोपरि पातयेदध्वर्युः। प्रसयनं प्रसितिः प्रबन्धः (षिञ् बन्धने) कर्मसन्ततिः दीर्घामविच्छिन्नां प्रसितिकर्मपरम्परामभिलक्ष्य आयुषे यजमानस्यायुर्वृद्धयर्थं धां त्वां कृष्णाजिने दधामि। दधातेर्लुङि 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० सू० ६।४।७५) अडागमाभावः। यजमानस्यायुर्वृद्धौ सत्यामेव कर्मपरम्परा प्रवर्तते अन्यथा लोपप्रसङ्गात्। 'दीर्घामनुप्रसितिमायुषेऽधामित्याह' इति तैत्तिरीय श्रुतेः।

२—यद्वा हे हविः दीर्घा प्रासितिः कृष्णाजिनाख्यामनु त्वां धां धारयामि कृष्णाजिने प्रक्षिपामीत्यर्थः।

३—लौकिकास्तु 'कुर्वते कर्मभोगाय कर्म कर्तुञ्च भुञ्जते' कर्मानुष्ठानं भोगाय भोगश्च कर्मानुष्ठानाय वैदिकास्तु दीर्घायुष्ट्वमपि दीर्घामविच्छिन्नां प्रसितिं देवताराधनलक्षणकर्मसन्ततिमनुलक्ष्यैव कामयन्ते तादृक्कर्मसन्ततिः भक्तिरूपत्वेन पञ्चमपुरुषार्थत्वेनाभिप्रेयते सत्त्वशुद्धिविवेकवैराग्यब्रह्मात्मज्ञानयोग्यताप्राप्तिक्रमेण ब्रह्मात्मप्राप्तिपर्यवसायिनीवा।

४—यद्वा (षहमर्षणे) इति धातुना निष्पन्नत्वात् प्रसहनात् प्रसितिः तन्तुर्जालं वा 'प्रसितिः प्रसहनात् तन्तुजालं बा' (नि० ६।१२) इति निरुक्तवचनात् प्रकृते प्रसिति शब्देन कृष्णाजिनमभिधीयते। तस्यापि पिष्टानां

अगले दो मन्त्रों में भी समझना चाहिये। इन मन्त्रों से प्राणदान करके हवि को सजीव किया जाता है। 'यह हवि, देवताओं का जीव है, वह अमृतों का भी अमृत है,—ऐसा उपक्रम करके 'दृषद् और उपला के द्वारा हवि रूप यज्ञ को नष्ट करता है' ऐसा बताकर, जब वह यह कहता है कि 'प्राणायत्वोदानायत्वा' इस मन्त्र से 'प्राण' 'अपान' को उसमें स्थापित करता है। एवञ्च इस प्रकार कहने से हवि की पुनर्जीवन सम्पत्ति बताई गई है। इतना शतपथ श्रुति के बताने के पश्चात् श्रौत सूत्र के अनुसार अध्वर्यु उस पिष्ट हवि को उपला से कृष्णाजिन पर गिराता है। 'प्रसयनं प्रसितिः' के अनुसार 'प्रसिति' का अर्थ प्रबन्ध' है। 'षिञ्' बन्धने धातु से 'प्रसिति' को निष्पत्ति होती है। एवञ्च कर्म सन्तति अर्थात् दीर्घ अवच्छिन्न प्रसिति कर्म परम्परा के उद्देश्य से यजमान की आयुर्वृद्धि के लिये तुम्हें कृष्णाजिन पर रख रहा हूँ। यजमान की आयुर्वृद्धि होने पर हीं कर्म परम्परा प्रवृत्त हो सकती है। अन्यथा उसके लुप्त होने का ही प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

२—अथवा पूर्व मन्त्रों से हवि को प्राणदान करके सजीव किया, इस मन्त्र से हवि को आयु का दान किया जा रहा है। हे हविः! 'दीर्घ प्रसिति अर्थात् कृष्णाजिन पर तुम्हें मैं रख रहा हूँ। अभिप्राय यह है कि मैं तुम्हें कृष्णाजिन पर डाल रहा हूँ। उससे तुम्हारी आयुर्वृद्धि होगी।

३—सांसारिक लोग तो 'कुर्वते कर्म भोगाय कर्मकर्तुञ्च भुञ्जते'—भोग के लिये कर्म किया करते हैं, और कर्म के लिये भोग का अनुभव करते रहते हैं—यह सांसारिक लोगों की स्थिति है। किन्तु वैदिक लोग दीर्घ अविच्छिन्न देवताराधन लक्षण कर्मसन्तति को लक्ष्य करके ही दीर्घायुष्ट्व की कामना करते हैं। इस प्रकार की कर्म सन्तति को भक्ति रूप पञ्चम पुरुषार्थ के रूप में सत्त्वशुद्धि विवेक वैराग्य ब्रह्मात्म ज्ञान योग्यता प्राप्ति के क्रम से अथवा ब्रह्मात्म प्राप्ति पर्यवसायिनी के रूप में मानते हैं।

४—अथवा षह्' भर्षणे धातु से निष्पन्न होने से अथवा 'प्रसहनात् प्रसितिः तन्तुर्जालं वा' इस निरुक्त वाक्य से प्रकृत में ' प्रसितिः शब्द से कृष्णाजिन को बताया गया है। वह भी पिष्टों का धारक होने से उसमें प्रसहन कर्तृत्व

धारकत्वेन प्रसहनकर्तृत्वोपपत्तेः। तथा च हे हविः दीर्घां प्रसितिं कृष्णाजिनाख्याममुधां कृष्णाजिने त्वां प्रक्षिपामि किमर्थमायुषे त्वदीयायुर्वृद्धयर्थम्। दीर्घायुष्यैव मृगस्य कार्ष्णोपपत्त्या कृष्णाजिने धारणेन हविषोऽपि दीर्घायुष्ट्वं सेत्स्यति। तदुपवेशिनामृषीणामपि तत एव दीर्घायुष्ट्वम् हविषामपि दीर्घकालिकसुखजनकादृष्टजनकत्वं दीर्घकालिकदेवतातृप्तिजनकत्वमेव वा दीर्घायुष्ट्वम्।

५—देवो व इतिमन्त्रशेषः पूर्ववदेव व्याख्यातव्यः।

अत्र पिष्टग्राहकत्वात् प्रसितिशब्देन कृष्णाजिनं गृह्यते। तथा च हे हविः दीर्घां प्रसितिं कृष्णाजिनाख्यामनुलक्ष्य त्वां धारयामि। कृष्णाजिने प्रक्षिपामीत्यर्थः। किमर्थमायुष्ये त्वदीयायुर्वृद्धयर्थम्। यथा पूर्वमन्त्रैर्हविषः प्राणदानेन सजीवत्वं कृतं तथैवानेन मन्त्रेण तस्य दीर्घायुष्ट्वं क्रियते। देवो वः सवितेत्यादिमन्त्रस्तु पूर्ववदेव व्याख्येयः।

६—'चक्षुषे त्वेतीक्षते' (का० श्रौ० सू० २।५।८) ईक्षे इत्यध्याहृतेन 'चक्षुषे त्वे'ति मन्त्रेण पिष्टानि पश्येदध्वर्युः। हे हविः चक्षुषे यजमानस्य चक्षुरिन्द्रियपाटवाय त्वा त्वामीक्षे।

७—यद्वा हे हविः चक्षुषे त्वदीयाय चक्षुरिन्द्रियाय तव चक्षुरादिबाह्येन्द्रियदानाय त्वामीक्षे। हविषः सजीवत्वे दीर्घायुष्ट्वे च चक्षुराद्यपेक्षाया अपि सत्त्वात्। दिव्यानाममृतानां देवानां दिव्या एव भोगा अपि भवन्ति। ते चापि चेतना भवन्ति। तत एव भोग्यस्य भोक्तृतादात्म्यापत्तिरेव भोगः। तत एव पूर्वमुक्तं परदेवताया नासायां गन्धदेवता श्रोत्रे पुण्यदेवता नाभौ धूपदेवता नयने दीपदेवता जिह्वायां नैवेद्यदेवता विलीना विभाव्यात्मानं पदकमले विलीनं विभाव्यानन्तब्रह्मस्वरूपं चिन्तयेत्। अत एव अहमन्नमहमन्नमहमन्नमित्युपासकानां स्वस्यदेवान्नत्वेन तद्भोग्यत्वभावनाद्रियते। अन्ते अनन्तसौख्यस्यैव तद्धविष्ट्वोक्तेः। तदाधारभूतपात्रस्यापि चिन्मयत्वमुक्तम्—'चित्पात्रे सद्धविः सौख्यं विविधानेकभक्षणम्। निवेदयामि ते देवि सानुगायै गृहाण तत्॥' इति।

उपपन्न होता है। तथा च हे हविः! दीर्घां प्रसितिं अर्थात् जो कृष्णाजिन है, उस पर तुम्हें मैं डाल रहा हूँ, जिससे तुम्हारी आयुर्वृद्धि हो। दीर्घ आयु वाले मृग की ही कृष्णता का होना सम्भव रहता है अतः कृष्णाजिन पर हवि को रखने से हवि को भी दीर्घायुष्ट्व प्राप्त होगा। और उसको स्थापन करने वाले उन ऋषियों को भी उसी से दीर्घायुष्ट्व का लाभ होगा हवियों में भी दीर्घकालिक सुखजनक अदृष्टजनकत्व अथवा दीर्घकालिक देवता तृप्ति जनकत्व को ही दीर्घायुष्ट्व समझा जा सकता है।

५—'देवो वः' यह मन्त्र शेष है, इसकी पूर्व की तरह ही व्याख्या करनी चाहिये।

६—ततः 'चक्षुषेत्वा' इस मन्त्र से अध्वर्यु पिष्टों का ईक्षण करे। हे हविः! यजमान के चक्षुरिन्द्रिय की शक्ति वर्धनार्थ मैं तुम्हारा वीक्षण कर रहा हूँ।

७—अथवा हे हविः! तुम्हारे चक्षुरिन्द्रिय के लिये अर्थात् तुम्हें चक्षुरादि बाह्येन्द्रिय का दान करने के लिये मैं तुम्हें देख रहा हूँ। क्योंकि हवि के सजीव और दीर्घायु होने में चक्षुरादि की अपेक्षा भी होती है द्यु लोक में रहने वाले अमृत देवों के भोग भी दिव्य ही होते हैं। वे भी चेतन होते हैं। उसी कारण भोग्य की भोक्ता के साथ जो तादात्म्यापत्ति है, उसी को 'भोग' शब्द से कहा जाता है। अतएव पहले कह चुके हैं कि तत्तत्स्थानों में तत्तत् भाग्य की अधिष्ठात्री पर देवताएँ विलीन हुआ करती हैं। जैसे—नासिका में गन्ध देवता, श्रोत्र में पुण्य देवता, नाभि में धूप देवता, नेत्र में दीप देवता, जिह्वा में नैवेद्य देवता, विलीन हो गई हैं, ऐसी भावना करके आत्मा की परकमल में विलीन होने की भावना करते हुए अनन्त ब्रह्म स्वरूप का चिन्तन करना चाहिये। अत एव 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्' इस प्रकार से उपासक लोग अपने को ही देय अन्न के रूप में भोग्य भावना का विषय बना लेते हैं। अन्त में अनन्त सौख्य को ही उसका हवि कह देते हैं। उसके आधारभूत पात्र को भी चिन्मय कहा है।

"चित्पात्रे सद्धविः सौख्यं विविधानेकभक्षणम्। निवेदयामि ते देवि सानुगायै गृहाण तत्॥"

८—'पिष्यमाणेषु निर्वयत्यन्यो महीनामित्याज्यम्' (का० श्रौ० सू० २।५।८) तण्डुलेषु पिष्यमाणेषु अन्यो ब्रह्मा गृहीतवेदः महीनामिति मन्त्रेण पात्रान्तरादाज्यस्थाल्यामाज्यं क्षिपेत् । अन्यशब्देन परिक्रीतत्वादृत्विजामन्यतमोऽभिधेयः। तत्राध्वर्योरग्नीधश्च कपालोपधानपेषणयोर्व्यापृतत्वात् ब्रह्मैवान्यपदेनाभिधीयते। मन्त्रार्थस्तु—हे आज्य त्वं महीनां गवां पयोऽसि क्षीरमसि, क्षीरेणोत्पादितमसीत्यर्थः। 'मह्यो वा एता एतेन नाम्ना यद्गाव' इति काण्व श्रुत्या महीपदेन गाव उच्यन्ते। महीनां पूज्यानां तासामेव सर्वपूज्यत्वात् मातारुद्रणामित्यादिमन्त्रवर्णेभ्यः। महीजाता वा गावो मही शब्देनोच्यन्ते।

९—दयानन्दस्तु अत्र सर्वत्रैव व्यत्ययेति इत्येव तस्य व्याख्यानमूलम्। 'यदिदं यज्ञशोधितं धान्यमस्ति यच्च यज्ञशोधितं पयोस्ति तत् देवान् धिनुहि धिनोति। तस्माद्यथाह तत्प्राणाय तदुदानाय तद् व्यानाय दीर्घां प्रसितिमायुषे धां दधामि तथैव यूयं सर्वे मनुष्यास्तस्मै प्रयोजनाय सर्वं धत्त। तथा यो वः अस्मान् हिरण्यपाणिर्देवः सविता जगदीश्वरोऽच्छिद्रेण पाणिना महीनां चक्षुषे त्वा प्रत्यनुगृह्णातु प्रकृष्टतयाऽनुगतं गृह्णाति तथैव वयं तं प्रतिगृह्णीमः।'

१०—तदिदं व्याख्यानं सर्वथा प्रमाणबहिर्भूतम्, प्रकृतेषु पुरुषव्यत्ययेषु प्रमाणाभावात्। अतएव धान्यमसीत्यस्य स्थाने धान्यमस्ति 'वः' इत्यस्य अस्मान् इत्यादि व्याख्यानम् अपव्याख्यानमेव। यज्ञादिति शब्दस्य मूलेऽभावात्। यज्ञात् शुद्धं धातुमर्हं धान्यमित्याद्यपि निरर्गलमेव। रोगनाशकेन स्वादिष्टतमेनेत्यप्युदक्षरमेव। यदपि प्रकृष्टं मन्यते येन तस्मै जीवनधारणहेतवे बलाय, ऊर्ध्वं मन्यते चेष्टयते येन तस्मै उत्क्रमणपराक्रमहेतवे, विविधं मन्यते

८—'पिष्यमाणेषु' इस कात्यायन श्रौत सूत्र के अनुसार तण्डुलों का पेषण करने के बाद अन्य 'ब्रह्मा' नाम का ऋत्विज् हाथ में वेद (दर्भमुष्टि) को ग्रहण करते हुए 'महीनाम्' मन्त्र बोलकर पात्रान्तर से आज्यस्थाली में आज्य उडेल ले। ऋत्विजों के परिक्रीत रहने से 'अन्य' शब्द से ऋत्विजों में से ही किसी अन्यतम को समझना चाहिये। किन्तु प्रस्तुत परिस्थिति में अध्वर्यु और अग्नीध, कपालोपधान और पेषण कार्य में व्यापृत हैं, इसलिये 'अन्य' शब्द से ब्रह्मा संज्ञक ऋत्विज् ही कहा गया है। मन्त्रार्थ यह है—हे आज्य ! तुम गोक्षीर रूप हो, यानी क्षीर से उत्पन्न हुए हो। 'मही' शब्द काण्व श्रुति के अनुरोध से 'गो' का बोधक है। 'महीनाम्' का अर्थ, पूज्यानाम् किया गया है, क्योंकि 'मातारुद्राणाम्' इत्यादि मन्त्रवर्णों से 'गौ' ही सर्वपूज्या है।

९—स्वामी दयानन्द ने प्रस्तुत मन्त्र की जो व्याख्या की है, उसमें सर्वत्र ही रूपान्तरण (व्यत्यय) का ही आश्रय किया है। व्यत्यय को आधार बनाकर ही उन्होंने व्याख्या कर डाली है। तथाहि—"यह जो यज्ञशोधित धान्य है, और जो यज्ञशोधित पय है, वह देवताओं को प्रसन्न करता है। तस्मात् वही प्राण के लिये, वही उदान के लिये, वही व्यान के लिये, और वही दीर्घ जीवन के लिये है, इसी कारण मैं उसका धारण करता हूँ, उसी तरह तुम सभी मनुष्य, उसी प्रयोजन के लिये उसको धारण करो। तथा जो हिरण्यपाणि जगदीश्वर सविता देव, अपने अच्छिद्र पाणि (अञ्जलि) से दृष्टि के लिये प्रकृष्टतया अनुगत हुए तुमको ग्रहण करता है, तथैव हम उसे स्वीकार करते हैं।"

१०—किन्तु यह दयानन्दीय सम्पूर्ण व्याख्या सर्वथैव प्रमाण बहिर्भूत होने से अप्रामाणिक है। जहाँ-तहाँ पुरुषव्यत्यय किया गया है, वैसा व्यत्यय करने में कोई प्रमाण नहीं है। अतएव 'धान्यमसि' के स्थान में 'धान्यमस्ति' इत्यादि व्याख्यान करना अपव्याख्यान ही कहलाता है। मूल में 'यज्ञात्' यह शब्द है ही नहीं। यज्ञ से शुद्धं धातुम्, अर्हम्, धान्यम्' इत्यादि जो कहा गया है वह भी सब निरर्गल ही है। 'रोगनाशकेन, स्वादिष्टतमेन' जो कहा है, वह भी उदक्षर ही है। क्योंकि मूलमें इस प्रकार के कोई अक्षर नहीं हैं। यह जो कहा है, प्रकृष्टं मन्यते येन तस्मै जीवनधारणहेतवे बलाय, ऊर्ध्वं मन्यते चेष्टयते येन तस्मै उत्क्रमण पराक्रमहेतवे, विविधं मन्यते व्याप्यते येन तस्मै सर्वेषां शुभगुणानां कर्मविद्याज्ञानां

व्याप्तिर्व्याप्यते येन तस्मै सर्वेषां शुभगुणानां कर्मविद्याङ्गानां व्याप्तिहेतवे दीर्घां विस्तृतामनु पश्चात् प्रसितिं प्रकृष्टं सिनोत्यनया प्रसितिस्तामायुषे पूर्णायुर्वर्धनेन सुखभोगाय धां दधामी'ति, तदपि बालभाषितम् लोके प्राणेन बलं वर्धते नहि बलेन प्रकृष्टं मन्यते, तथैव बलेन न जीवनधारणं भवति किन्तु जीवनधारणेन बलं भवति इति लोकानुभवविरोधात्।

११—भाषाव्याख्याने तु संस्कृतव्याख्यानाद्विपरीतमेवोक्तम्। उदानायेत्यस्य स्फूर्ति-बल-पराक्रमेभ्य इत्यर्थं उक्तः। स चासङ्गत एव। उदानपदेन स्फूर्ति-बल-पराक्रमहेतोर्वायुविशेषस्य वक्तुं शक्यत्वेऽपि स्फूर्त्यादिग्रहणासम्भवात्। तथैव व्यानायेत्यस्य शुभगुणशुभकर्मविद्याङ्गानां विस्तारोऽर्थो गृहीतः परं सोऽपि न व्यानपदार्थः अप्रसिद्धेः। व्युत्पत्त्यापि येन शुभगुणादयो विस्तार्यन्ते स वायुविशेष एव व्यानपदार्थो भवति। एवमेवानर्थकं बहुप्रलपतापि अनुप्रसितिशब्दार्थो न निरूपितः। भाषाव्याख्याने तु तस्य अत्युत्तमसुखबन्धनयुक्तयज्ञक्रिया इत्यर्थ उक्तः। तत्र यज्ञक्रियया सुखबन्धनेन कः सम्बन्धः? सुखं बन्धनं च कथम्? पश्चादर्थकस्य अनुपसर्गस्य क्व सम्बन्ध इत्यप्यनिरूपितमेव। हिरण्यपदस्य मोक्षः कथमर्थ इत्यपि चिन्त्यमेव त्वद्रीत्या विनश्वरस्य सावधिकस्य मोक्षस्य हिरण्मयत्वानुपपत्तेः। हिरण्यं प्रकाशार्थं ज्योतिः प्राणिर्व्यवहारो यस्येत्यपि नोपपद्यते पाणिपदे न व्यवहारहेतोरिन्द्रियविशेषस्य ग्रहणसम्भवेऽपि पाणिशब्दस्य व्यवहारार्थत्वानुपपत्तेः। एवं चक्षुषे इत्यस्य प्रत्यक्षज्ञानं नेत्रव्यवहारश्च नार्थः सम्भवति, तद्धेतावपि तत्प्रयोगात्। महीनां महतीनां वाचां पृथिवीनाञ्च पयो अन्नं जलं च येन शुद्धमस्यास्तीति व्यत्यासे स्वाच्छन्द्येऽपि किं निरूपितम्? अन्वये तु पयः प्रविलोप्य महीनां चक्षुषे इत्युक्तम्।

हेतवे दीर्घां विस्तृतामनुपश्चात् प्रसितिं प्रकृष्टं सिनोत्यनया प्रसितिस्तामायुषे पूर्णायुर्वर्धनेन सुखभोगाय धां दधामि'— यह कथन भी बालभाषित के ही तुल्य है। लोकव्यवहार तो यह दिखाई देता है कि प्राण से बल की वृद्धि होती है, बल होने मात्र से कोई प्रकृष्ट नहीं माना जाता, तथैव बल होने मात्र से जीवन धारण नहीं होता है, अपितु जीवन धारण से बल होता है, अतः दयानन्दीय कथन लोकानुभव के विरुद्ध है।

११—हिन्दी भाषा के व्याख्यान में तो संस्कृत में किये गये स्वयं की व्याख्या के विपरीत ही लिख मारा है। 'उदानाय' का अर्थ करते हैं, कि 'स्फूर्ति-बल-पराक्रमेभ्यः'—किन्तु यह अर्थ करना असङ्गत ही है। 'उदान' पद से स्फूर्ति-बल-पराक्रम के हेतुभूत वायुविशेष को यद्यपि कहा जा सकता है तथापि स्फूर्ति आदि का ग्रहण करना तो सम्भव ही नहीं है। तथैव 'व्यानाय' का अर्थ करते हैं कि 'शुभगुण शुभकर्मविद्याङ्गानां विस्तारः।' किन्तु 'व्यान' पद का अर्थ, जो आपने कहा है, वह नहीं हो सकता, क्योंकि वह अर्थ, कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। व्युत्पत्ति के आधार पर भी जिससे शुभ गुण आदि का विस्तार किया जाता है, वह 'वायु विशेष ही', व्यान पदार्थ होता है। इसी प्रकार अनर्थक बहुत सारा प्रलाप करते हुए भी आपने 'अनुप्रसिति' शब्द का अर्थ, नहीं बताया। किन्तु हिन्दी भाषा में किये व्याख्यान में उसका अर्थ आपने 'अत्युत्तम सुखबन्धनयुक्तयज्ञक्रिया' बताया है। अब सोचिये कि 'यज्ञक्रिया' के साथ 'सुखबन्धन' का क्या सम्बन्ध है? इधर सुख भी कहते हैं और उसे ही बन्धन बता रहे हैं, कैसा वदतोव्याघात है? 'पश्चात्' अर्थ वाले 'अनु' उपसर्ग का कहाँ सम्बन्ध है, उसे बताया ही नहीं है। 'हिरण्य' पद का 'मोक्ष' बता रहे हैं, किन्तु वह भी विचारणीय है। तुम्हारी रीति से विनश्वर, सावधिक मोक्ष में हिरण्मयत्व का होना अनुपपन्न है। क्योंकि 'हिरण्यं प्रकाशार्थं ज्योतिः पाणिर्व्यवहारो यस्य'—यह कहना भी उपपन्न नहीं हो रहा है। 'पाणि' पद से यद्यपि व्यवहार हेतुभूत इन्द्रिय विशेष का ग्रहण करना सम्भव है, तथापि 'पाणि' शब्द को व्यवहारार्थक बताना उपपन्न नहीं है। इसी प्रकार 'चक्षुषे' का अर्थ, 'प्रत्यक्ष ज्ञान और नेत्रव्यवहार' कहना सम्भव नहीं है। क्योंकि उसके हेतु में भी उसका प्रयोग होता है। 'महीनां महतीनां वाचां पृथिवीनाञ्च पयः अन्नं जलञ्च येन शुद्धमस्यास्ति' इस प्रकार व्यत्यास करते समय स्वच्छन्दता बरतने पर भी तुम बता क्या पाये? अन्वय करते समय 'पयः' शब्द को ही उड़ा दिया है, और 'महीनां चक्षुषे' यह कह दिया है।

१२—भाषायां तु—ईश्वरो यथोत्तमव्यवहारेण महीनां वाणीनां चक्षुषे प्रत्यक्षज्ञानाय त्वा तत् प्रत्यनुगृह्णातु तथैव वयमपि अच्छिद्रेण पाणिना स्तुतिभिः प्रतिगृह्णीम इत्युक्तम्। तत्र केन किं श्लिष्यते ? यत्तु भावार्थत्वे नोक्तं —ये यज्ञेन शोधिता अन्नजलवाय्यादयः पदार्था भवन्ति ते सर्वेषां शुद्धये बलपराक्रमाय दृढाय दीर्घायुषे च समर्था भवन्ति तस्मात्सर्वैरेतद्यज्ञकर्म नित्यमनुष्ठेयं तथा च परमेश्वरेण महती पूज्या वाक् प्रकाशिता, तस्या प्रत्यक्षकरणायेश्वरानुग्रहापेक्षा स्वपुरुषार्थता च कार्या।

१३—इयं पङ्क्तिः कथं शुद्धेति चिन्त्यम्। यथेश्वरः परोपकारिणां नृणामुपर्यनुग्रहं करोति तथैवास्माभिरपि सर्वेषां प्राणिनामुपर्यनुग्रहः कार्यः। यथायमन्तर्यामीश्वरः सूर्यलोकश्च अध्यात्मनिवेदेषु च सत्यं ज्ञान भूतद्रव्याणि च नैरन्तर्येण प्रकाशयति तथैव सर्वैरस्माभिः सर्वैर्मनुष्यैः सर्वेषां सुखायाखिला विद्याः प्रत्यक्षीकृत्य नित्यं प्रकाशनीयाः पृथिवीराज्यसुखञ्च नित्यं कार्यम्' एवमशुद्धिबहुलमूलमन्त्राक्षरसम्बन्धशून्यं भाष्याभासलेखकोऽपि सायणमहीधरादिलेखेषु दोषान्वेषणाय प्रयतत इत्याश्चर्यमेव। 'घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः' एवायम्। शतपथश्रुतिस्तु—अथ हविरावपति धान्यमसि धिनुहि देवानिति धान्यं हि देवान् धिनवदित्युहि हविर्गृह्यते (श० १।१।२।१८) अत्र पेषणार्थं दृषद उपरि समन्त्रकं तण्डुलप्रक्षेपं विधत्ते मन्त्रगत धान्यशब्दस्याभिप्रायमाह देवान् धिनवदिति धिविः प्रीणनार्थः। भ्वादिः ५८४ धातुः। यष्टव्यानग्न्यादिदेवान् धिनवत् प्रीणयेदित्यनेनैवाभिप्रायेण हविर्गृह्यते। अतो धिनोति प्रीणयतीति धान्यम्। यत एवमतो देवान् धिनुहीति मन्त्रार्थः। तस्माद् धातुमहै यज्ञं शुद्धमन्नमित्यादिकमप्रामाणिकमेव। अथपिनष्टि—प्राणाय त्वोदानाय............... (श० १।२।५।१९) समन्त्रकं पेषण विधत्ते—पिनष्टि चूर्णयति (पिष्लृ सञ्चूर्णने) रु० प०। प्रकर्षेणानिति चेष्टते नासिकाभ्यां बहिर्निर्गच्छन् श्वासरूपो वायुः प्राणः, ऊर्ध्वादधो देशं प्रत्यनिति चेष्टते इत्युदानः नासिकाभ्यां देहे पुनः प्रविशन् वायुः अन्नपानादिरसं विविधं सर्वासु नाडीषु प्रेरयतीति व्यानः

१२—हिन्दी व्याख्या करते समय कह रहे हैं कि 'ईश्वर जिस प्रकार उत्तम व्यवहार से 'महीनां वाणीनां' बाणियों के 'चक्षुषे प्रत्यक्षज्ञानाय प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये 'त्वा तत्' उसे प्रत्यनुगृहीत करे, तथैव हम भी अच्छिद्र पाणि से स्तुतियो से स्वीकार करते हैं।' अब विचार करिये कि इस अर्थ में किसका किससे क्या सम्बन्ध बन रहा है ? अच्छा और देखिये कि भावार्थ बताते समय जो कहा है 'जिस यज्ञ से शोधित किये गये अन्न, जल, वायु आदि पदार्थ होते हैं, वे सभी के शुद्धि के लिये, दृढ़ बल-पराक्रम के लिये, दीर्घायु के लिये समर्थ होते हैं। इसलिये सभी लोग इस यज्ञ कर्म का नित्य अनुष्ठान करें, तथाच परमेश्वर ने 'महतीपूज्या' पूजनीय वाक्य प्रकाशित की है, उसका प्रत्यक्ष करने के लिये ईश्वर के अनुग्रह की अपेक्षा और अपना पुरुषार्थ करना चाहिये।'

१३—उक्त भावार्थ की पंक्तियाँ कितनी शुद्ध हैं, इस पर भी विचारशील विद्वान् विचार कर लें। जैसे 'ईश्वर, परोपकारी लोगों पर अनुग्रह करता है, उसी प्रकार हमें भी समस्त प्राणियों पर अनुग्रह करना चाहिये। जैसे यह अन्तर्यामी ईश्वर और सूर्यलोक आत्मा में और वेदों में सत्यज्ञान और भूत द्रव्यों को निरन्तर प्रकाशित करता है, उसी तरह हम सभी मनुष्य सब के सुख के लिये सम्पूर्ण विद्याओं को प्रत्यक्ष कर नित्य प्रकाशित किया करें और पृथ्वी राज्य सुख को नित्य किया करें।' इस प्रकार के अशुद्धि बहुल और मूलमन्त्राक्षर के सम्बन्ध से रहित भाष्याभास का लेखक भी सायण-महीधर आदि आचार्यों के लेखों में दोषान्वेषण के लिये यदि प्रयत्न करता है तो इससे अधिक आश्चर्य और क्या हो सकता है ? इस प्रकार का दुष्प्रयत्न तो 'घटानां निर्मातुस्त्रिभुवन विधातुश्च कलहः' के तुल्य ही समझा जायगा। शतपथ श्रुति तो यहाँ पर पेषणार्थ दृषद के ऊपर समन्त्रक तण्डुल प्रक्षेप का विधान कर रही है। मन्त्रगत 'धान्य' शब्द के अभिप्राय को बता रहे हैं—'देवान् धिनवदिति'। यहाँ 'धिवि' प्रीणनार्थक भ्वादिगण का धातु है। 'यष्टव्य अग्नि आदि देवताओं को प्रसन्न करे' इस अभिप्राय से ही हविर्ग्रहण किया जा रहा है। अतः 'धिनोति प्रीणयति इति धान्यम्'—यह धान्य शब्द की निरुक्ति है। इसी कारण 'देवताओं को प्रसन्न करो' यह मन्त्र का अर्थ है। इसलिये 'धातुमहैयज्ञं शुद्धमन्नम्' इत्यादि अर्थ करना अप्रामाणिक ही है। 'अथ पिनष्टि प्राणायत्वोदानाय' यह

उर्ध्वावाङ्वृत्ति विलक्षणो मध्यवृत्तिर्वायुः एतन्मन्त्रार्थं उत्तरमन्त्रसापेक्ष इति तदुभयं समुच्चित्य व्याख्यातुमुत्तरमन्त्रं विनियुङ्क्ते 'प्रोहति देवो व' इति अनेन मन्त्रेण कृष्णाजिने प्रक्षिपतीति तत्रैव सायणाचार्यः। कात्यायनरीत्या विनियोगस्तूक्त एव।

'तद्यदेवं पिनष्टि जीवं वै देवानां ७ं हविरमृतममृतानामथैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्या ७ं हविर्यज्ञं घ्नन्ति' (श० १।२।५।२०)।

१४—स यदाह—प्राणाय त्वोदानाय त्वेति तत्प्राणोदानौ दधाति। दीर्घामनुप्रसितिमायुषे धामिति तदायुर्दधाति देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना सुप्रतिगृहीतान्यासन्निति चक्षुषे त्वेति तच्च सुर्दधात्येतानि वै जीवतो भवन्त्येवमेव देवाना ७ं हविर्भवत्यमृतममृतानां तस्मादेवं पिनष्टि पि ७ंषन्ति। पिष्टान्यभीन्धते कपालानि प्राणायेति मन्त्रस्याभिप्रायं वक्तुं पेषणमनुवदति तद्यदिति। अमृतानां मरणरहितानां देवानां हविः जीवं प्राणधारणयुक्तमेव सत् अमृतं मरणसाधनं न भवति। अथैवं सत्येतद्यज्ञसाधनं हविरवहननपेषणाभ्यामृत्विजो मारयन्ति। तथा सति निर्जीवत्वात् तस्यामृतसाधनत्वं न युक्तमिति भावः। मन्त्रप्रयोगेणास्य परिहारं दर्शयति स पराहेति। पेषणसमये 'प्राणाय त्वे'ति मन्त्रं प्रयुञ्जानाः प्राणादीनेवास्मिन् हविषि स्थापयतीत्यर्थः। प्राणोदानादिधारणादीनि जीवतः पुरुषस्य लिङ्गानि। एवमनेन मन्त्रप्रयोगेण प्राणोदानादि स्थापने सति हविरपि सजीवमेवेति युक्तम्। तस्यामृतत्वसाधनत्वमिति।

१५—एवं समन्त्रकमध्वर्युणा पेषणे कृते सति यजमानपरिचारिका अवशिष्टं सर्वं चूर्णीकुर्युः। तथोपहितानि कपालानि अभीन्धते। अङ्गारैप्रदीप्तानि कुर्युः, उभयोः सहानुष्ठानस्योक्तत्वात्।

शतपथ श्रुति समन्त्रक पेषण का विधान बता रही है। 'पिनष्टि चूर्णयति' यहाँ पर पिष्लृ' सञ्चूर्णने धातु है। 'प्रकर्षेण अनिति चेष्टते नासिकाभ्यां बहिर्निर्गच्छन् श्वासरूपो वायुः प्राणः, ऊर्ध्वादधो देशं प्रत्यनिति चेष्टते इति उदानः, नासिकाभ्यां देहे पुनः प्रविशन् वायुः अन्नपानादि रसं विविधं सर्वासु नाडीषु प्रेरयति इति व्यानः, उर्ध्वावाङ्वृत्तिविलक्षणो मध्यवृत्तिर्वायुः'—यह मन्त्रार्थ उत्तर मन्त्र की अपेक्षा रखता है, इसलिये दोनों का समुच्चय करके व्याख्या करने के लिये उत्तर मन्त्र का विनियोग किया गया है। अतः 'प्रोहति देवो वः' मन्त्र से कृष्णाजिन पर प्रक्षेप किया जा रहा है। कात्यायन की रीति से विनियोग को पूर्व बता ही चुके हैं।

१४—'स यदाह—प्राणायत्वोदानायत्वेति तत्प्राणोदानौ दधाति व्यानायत्वे त तद् व्यानं दधाति। दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धामिति तदायुर्दधाति, देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना सुप्रतिगृहीतान्यासन्निति चक्षुषेत्वेति तच्चक्षुर्दधाति एतानि वै जीवतो भवन्ति, एवमेव देवाना ७ं हविर्भवति अमृतम् अमृतानां तस्मादेवं पिनष्टि पि ७ंषन्ति। पिष्टान्यमीन्धते कपालानि प्राणायेति मन्त्रस्याभिप्रायं वक्तुं पेषणमनुवदति तद्यदिति।' मरण रहित देवताओं के लिये जो हवि है, वह प्राण धारण युक्त होता हुआ मरण साधन नहीं होता है। ऐसा होने पर इस यज्ञ साधनभूत हवि को अवहनन-पेषण के द्वारा ऋत्विज् लोग मारते हैं। तब वह निर्जीव हो जाता है। निर्जीव हो जाने से उसको अमृत का साधन कहना उचित नहीं है—यह अभिप्राय है। तब मन्त्रप्रयोग के द्वारा उसका परिहार प्रदर्शित करते हैं—'स पराहेति'। पेषण करते समय 'प्राणायत्वा' मन्त्र का प्रयोग करते हुए प्राणादिकों को ही इस हवि में स्थापन करते हैं—यह अर्थ है। प्राण, उदान आदि को धारण करना ही जीवित पुरुष के चिह्न होते हैं। इस रीति से मन्त्र प्रयोग के द्वारा प्राण-उदान आदि का उसमें स्थापन किये जाने पर हवि को सजीव कहना ही उचित है। इसीलिये उसे अमृतत्व का साधन कहा गया है।

१५—इस प्रकार अध्वर्यु के द्वारा समन्त्रक पेषण कर चुकने पर यजमान की परिचारिकाएँ सम्पूर्ण अवशिष्ट भाग को पीसती हैं। तथा उपहित कपालों को अङ्गारों से प्रदीप्त करते हैं। क्योंकि दोनों का अनुष्ठान युगपत् बताया गया है।

१६--"अथैकमाज्यं निर्वपति। यद्वा आदिष्टदेवतायै हविर्गृह्यते यावद्देवत्यं तद्भवति। तदितरेण यजुषा गृह्णाति न वा एतत् कस्यै च न देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशति यदाज्यं तस्मादनिरुक्तेन यजुषा गृह्णाति महीनां पयोऽसीति। मह्यइति ह वा एतासामेकं नामं यद्गवां तासां वा एतत्पयो भवति तस्मादाह महीनां पयोसीत्येव (खलु) मुहास्यैतत्—यजुषैव गृहीतं भवति तस्मादेवाह महीनां पयोऽसीति" (श० १।२।५।२२) पेषणसमय एवाज्यस्य निर्वापं विधत्ते—यदाचाध्वर्युः पिनष्टि अथ तस्मिन्नेव समये एकोऽन्यः आग्नीध्रादिराज्यं निर्वपति। तदुक्तमेव। पिष्यमाणेषु निर्वपत्यन्यो महीनामाज्यमिति कात्यायनसूत्रव्याख्यानसमये। तच्चाज्यं प्रसिद्धदेवतावाच्यग्न्यादिशब्दरहितेन मन्त्रेण ग्रहीतव्यमिति विधित्सयाह।

१७—यद्वा—यत्खलु हविः अग्नये जुष्ट गृह्णामीत्येवं देवतायै निर्दिष्टं भवति। तद्ग्रहणसाधनं यजुश्च यावद्देवत्यं भवति। तावद्देवत्यमेव तद्धविर्भवति। आज्यञ्च सर्वदेवतासाधारणमिति देवतादेशनरहितेनैव यजुषा ग्राह्यमिति। तथाचाज्यस्य सर्वदेवतासाधारण्यं सेत्स्यति। एवमनिरुक्तयजुषा ग्रहणमुपपाद्य तद्विधत्ते तस्मादिति। देवतानाम निःशेषेणोक्तं यस्मिंस्तन्निरुक्तम् तद्विलक्षणमनिरुक्तम् तादृशञ्च महीनामिति यजुः। तत्र प्रसिद्धदेवतावाचिपदानुपलम्भात्।

१८—अथैतन्मन्त्र व्याचष्टे मह्य इति। (मह पूजायाम् भ्वादिः) मह्यन्ते पूज्यन्ते इति मह्यः। एतच्च तासां गवामेकं साधारणं नाम। हे आज्य त्वं महीनां गवां पयोऽसि पयः कार्यत्वात् गोभिः श्रीणीत मत्सरमितिवत् विकारे प्रकृतिशब्दः। ग्रहीतव्याज्यप्रकाशकत्वात् मन्त्रोऽयं तत्र प्रयोक्तव्यः। अनेन मन्त्रेणाज्ये निरुप्ते सति तत्प्रकाशनसमर्थत्वात् यजुषैव तदाज्यं गृहीतं भवतीत्यर्थः। तथा च प्रकृते महीनां पृथिवीनां वाचां वेत्यादि व्याख्यानमपव्याख्यानमेव। एवमेव प्राणाय त्वोदानाय त्वेत्यादिनामन्त्रेण हविषि प्राणोदानव्यादीनां धारणम् दीर्घामनुप्रसितिमित्यादिना हविष्यायु-

---

१६—शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पेषण के समय ही आज्य के निर्वाप का विधान किया गया है। जब अध्वर्यु पीसता है तब उसी समय तब एक अन्य अग्नीध्र आदि आज्य का निर्वाप करता है। उस आज्य का ग्रहण प्रसिद्ध देवता वाचक अग्नि आदि शब्द से रहित मन्त्र से करने का विधान है।

१७—अथवा जो हवि 'अग्नये जुष्टं गृह्णामि' कहकर देवता के लिये निर्दिष्ट किया गया है, और उसके ग्रहण करने में साधनीभूत यजु, जिस देवता को बताता है, उसी देवता का वह हवि समझा जाता है। आज्य जो है, वह तो सर्व देवता साधारण है। इसलिये देवता निर्देश रहित यजु से ही उसका ग्रहण कर लेना चाहिये। तथा च आज्य का सर्व देवता साधारण्य सिद्ध हो जायगा। इस प्रकार से अनिरुक्त यजु से उसके ग्रहण का उपपादन कर उसका विधान किया जाता है 'तस्मादिति।' देवता का नाम, निःशेषतया (सम्पूर्ण) जिस मन्त्र में कहा गया हो वह निरुक्त कहा जाता है, और उससे भिन्न को अनिरुक्त कहते हैं। यह 'महीनाम्' यजु उसी प्रकार का है। उसमें प्रसिद्ध देवता वाचक कोई पद उपलब्ध नहीं है।

१८—अब इस मन्त्र की व्याख्या करते हैं 'मह्य' इति। 'मह पूजायाम्', भ्वादि गण का धातु है। मह्यन्ते पूज्यन्ते इति मह्यः। यह उन गौओं का एक साधारण नाम है। हे आज्य! तुम 'मही' नामक गौओं का 'पय' हो, क्योंकि पय' के ही कार्य के रूप में हो। 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' के समान विकार में प्रकृति शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। ग्रहीतव्य आज्य का प्रकाशक होने से इस मन्त्र का वहाँ प्रयोग करना चाहिये। इस मन्त्र से आज्य का निर्वाप करने पर उसके प्रकाशन में समर्थ होने के कारण यजु से ही उस आज्य का ग्रहण होता है। तथा च प्रकृत में 'मही' का अर्थ, 'पृथिवी या वाणी' बताना अनर्गल ही है, अतः उस अनर्गल व्याख्यान को अपव्याख्यान ही समझना चाहिये। एवमेव 'प्राणाय त्वोदानायत्वा' इत्यादि मन्त्र से हवि में प्राण, उदान, व्यान आदि का धारण, 'दीर्घामनुप्रसितिम्' इत्यादि मन्त्र से हवि में आयु का प्रदान, 'चक्षुषे त्वा' इत्यादि मन्त्र से हवि में चक्षुरादि इन्द्रिय का दान, तथा

र्दानम्, चक्षुषे त्वेत्यादिना चक्षुरादीन्द्रियदानेन हविषः सजीवत्वापादनेनामृतत्वममृतसाधनत्वञ्च साधितम् भवतीति निगदव्याख्यातम् एवं यथाविनियोगं मन्त्राणां व्याख्यानमुक्तम् ।

१९—कण्डिकामात्रस्यानुगतोऽर्थस्तु परमात्मनः सार्वात्म्यबोधनायाह—हे सर्वाधिष्ठानचैतन्य त्वं धान्यमसि, सर्वेषां विशेषतो देवानां प्रीणनहेतुत्वात् धान्यमसि । (धिवि प्रीणने) इति धात्वर्थानुगमात् । तस्माद्देवान् स्वांशभूतान् अग्न्यादीन् धान्यरूपेण धिनुहि प्रीणय । त्वा त्वां दृषदुपलाभ्यां उलूखलमुसलाभ्यां यद्वयमृत्विजो घ्नन्ति पिषन्ति तत्तु भोक्तॄणां प्राणाय प्राणार्थमर्थात् प्राणरक्षणार्थम् । तादर्थ्ये चतुर्थी । जीवनहेतवे प्राणाय उदानाय ऊर्ध्वगतिसाधनोदानरक्षणाय यद्वा अमृतानां देवानां हविषोऽप्यमृतत्वसाधनाय तेषु प्राणादीनामाधानेन सजीवत्वाय तथा दीर्घां विततां प्रसितिं कर्मपरम्परामनुलक्ष्य तत्सिद्धये आयुषे दीर्घायुष्ट्वाय हविषो वा दीर्घायुष्ट्वाय त्वां धां धारयामि । वो युष्मानिति भोग्यबहुत्वाभिप्रायेण बहुवचनम् । चक्षुषे चक्षुरादिसर्वेन्द्रियपाटवाय, चक्षुरिति सर्वेन्द्रियोपलक्षणार्थम् हविषो वा सर्वेन्द्रिययोगाय सवितादेवो हिरण्यपाणिः अच्छिद्रेण दोषरहितेन पाणिना प्रतिगृह्णातु । हे सर्वाधिष्ठान त्वमेव महीनां परमपूज्यानां गवां पयोऽसि । दुग्धदध्याज्यरूपमसि सर्वेषां भोक्तॄणां देवानाञ्चाप्यायनहेतुत्वात् । अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्मण एवान्नान्नादरूपत्वात् । 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्' — 'अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः' = इत्यादि श्रुतेः । ब्रह्मात्मकमपि हविर्धान्यं पयो वा सवित्रा देवेन हिरण्यपाणिना अच्छिद्रेण पाणिना गृहीतमेव संस्कृतं भवति । तेन संस्कृतेन धान्येन पयसा वा भोक्तॄणां प्राणादिमत्त्वं दीर्घायुष्ट्वं चक्षुरादिपाटवयुक्तत्वं देवानां हविषोऽपि प्राणादिमत्त्वं सम्पद्यते । 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' (श्री० भ० गी० ४।२४) इत्यादिना प्रतिपादिते ब्रह्मयज्ञे ब्रह्महविरपि संस्क्रियते । ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणैव च हूयते ।

हवि में सजीवत्व के आपादन से अमृतत्व, और अमृत साधनत्व को सिद्ध कर दिया है । एवं विनियोग को देखते हुए मन्त्रों का व्याख्यान किया गया है ।

१९—सम्पूर्ण कण्डिका का अनुगत अर्थ तो परमात्मा की सर्वात्मता बोधन करना है, उसी को कह रहे हैं—हे सर्वाधिष्ठान चैतन्य ! तुम धान्य रूप हो, क्योंकि सभी के विशेष कर देवों के प्रसन्न करने में हेतुभूत हो । यहाँ पर 'धिवि' प्रीणने धातु है । इसलिये अपने अंशभूत अग्नि आदि देवताओं को अपने धान्य स्वरूप से प्रसन्न कर दो । हम ऋत्विज् लोग दृषद् और उपला से तथा उलूखल और मुसल से जो तुम्हें पीसते-कूटते हैं, वह तो भोक्ताओं के प्राण रक्षणार्थ कूटते-पीसते हैं । यहाँ तादर्थ्ये चतुर्थी है । अर्थात् जीवन के हेतुभूत प्राण के लिये तथा ऊर्ध्वगति के साधनभूत उदान के रक्षण के लिये अथवा देवताओं के हवि में भी अमृतत्व की साधनता के लिये उसमें प्राण आदि के आधान के द्वारा सजीवता लाने के लिये तथा विस्तृत कर्म परम्परा को उद्देश्य कर उसकी सिद्धि के लिये, दीर्घायुष्ट्व के लिये हवि के दीर्घायुष्ट्व के लिये मैं तुम्हें धारण कर रहा हूँ । वः=युष्मान्—यह बहुवचन का प्रयोग, भोग्यबहुत्व के अभिप्राय से किया गया है । चक्षुरादि समस्त इन्द्रियों के पटुत्व के लिये अथवा हवि में समस्त इन्द्रियों की प्राप्ति होने के लिये यह सवितादेव हिरण्यपाणि अपने दोष रहित (अच्छिद्र) हाथों से तुम्हारा स्वीकार करे । यहाँ पर 'चक्षु' शब्द, समस्त इन्द्रियों का उपलक्षक है । हे सर्वाधिष्ठान ! तुम ही परम पूजनीय गौओं के क्षीर (पय) हो अर्थात् समस्त भोक्ताओं और देवताओं के आप्यायन (पोषण) में हेतुभूत दुग्ध, दधि, आज्य स्वरूप हो । क्योंकि अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म ही अन्न और अन्नाद रूप होता है । इसी बात को 'अहमन्नम्—अहमन्नादः' कहकर भगवती श्रुति बता रही है । धान्य अथवा पयोरूप हवि, ब्रह्मात्मक रहने पर भी उसे जब सविता देव, अपने दोषरहित हिरण्यपाणि से ग्रहण करता है, तभी वह संस्कृत हो पाता है । उस सुसंस्कृत हुए धान्य अथवा पयोरूप हवि से भोक्ताओं में प्राणादिमत्त्व, दीर्घायुष्ट्व, और चक्षुरादि समस्त इन्द्रियों के पाटव से युक्तत्व तथा देवताओं के हवि में भी प्राणादिमत्त्व सम्पन्न होता है । 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' इत्यादि वाक्य से प्रदिपादित ब्रह्मयज्ञ में ब्रह्मात्मक हवि भी संस्कृत होता है, और ब्रह्मात्मक अग्नि में ब्रह्म के द्वारा ही उसकी आहुति दी जाती है ।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् संवपामि समापऽओषधीभिः समोषधयो रसेन। स ꣳ रेवतीर्जगतीभि ङ्‌ पृच्यन्ता ꣳ संमधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम् ॥ वा० सं० १।२१ ॥

अर्थ—प्रेरक देवता की प्रेरणा से अश्विनी कुमारों के दो बाहुओं से और पूषा देवता के दोनों हाथों से मैं उस पिष्ट को पात्र में अच्छी प्रकार से रख रहा हूँ। उपसर्जनी संज्ञक जल पिष्ट रूप ओषधि से युक्त हो। और पिष्ट रूप ओषधि,, उपसर्जनी रूप जल से युक्त होकर रहे। उपसर्जनी रूप मधुर जल, उस मधुर पिष्टौषधि से युक्त हो जाय अर्थात् जल और पिष्ट का उत्तम संसर्ग हो जाय ॥२१॥

१—पात्र्यां सपवित्रायां पिष्टान्यावपति देवस्य त्वेति' (का० श्रौ० सू० २।५।१०) सवितु र्देवस्य प्रेरणे सति तेन प्रेरितोऽहं त्वा त्वामश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामेतानि पिष्टानि संवपामि पात्र्यामेकीभावेन क्षिपामि। यद्यपि देवस्य त्वेति पुनः पुनस्तत्कथनं निरर्थकमिवाभाति तथापि संस्कारोज्जननार्थं हितं पथ्यं पुनः पुनरुच्यमानं न दोषायेति पुनरुक्तिः। पात्र्यां सपवित्रायां पिष्टान्यावपति देवस्य त्वेति। उपसर्जनीरानयत्यन्यः पवित्राभ्यां प्रतिगृह्णाति समापइति' (का० श्रौ० सू० २।५।१२-१३) पिष्टेषु संवपनीया उपसेचनीया आप उपसर्जन्यः। अध्वर्युः प्रोक्षणीतः पवित्रे आदाय इडायामुदगग्रे निधाय तदुपरि कृष्णाजिनस्थानि पिष्टानि कृष्णाजिनेनैव पातयेत्। ता अग्नीत् तन्नामक ऋत्विक् आनयेदध्वर्युः पवित्राभ्यां सहितो मन्त्रेण प्रतिगृह्णीयात् इति सूत्रार्थः।

२—मन्त्रार्थस्तु—उपसर्जनीरूपा आपः ओषधीभिः पिष्टरूपाभिः सम्पृच्यन्ताम् सङ्गच्छन्ताम् सम्यगेकीभवन्तु। तथाचोषधयः पिष्टरूपाः रसेनोपसर्जनीरूपेण जलेन सम्पृच्यन्ताम् पृची सम्पर्के संसृज्यन्ताम्। 'रेवतीः रेवत्य आपो जगत्य ओषधयः' इति श्रुत्यनुसारेण रेवतीः रेवत्यः रेवती रूपा आपः जगतीभिः पिष्टरूपाभिः सम्पृच्यन्त्याम्। मधुमतीः माधुर्यो-

---

१—'पात्र्यां सपवित्रायां पिष्टान्यावपति देवस्य त्वेति'—इस सूत्र के अनुरोध से सविता देवता के द्वारा प्रेरित हुआ मैं अश्विनियों के बाहुओं से और पूषा देवता के हाथों से तुम्हारे (हवि के) लिये इन पिष्टों को पात्री में एक करने के लिये डाल रहा हूँ। यद्यपि पूर्वोक्त 'देवस्य त्वा' मन्त्र से ही यह सब कार्य किया जा सकता है तब पुनः पुनः उसे कहना निरर्थक ही प्रतीत होता है, तथापि संस्कार को उज्ज्वल करने के लिये हित (पथ्य) कारक बात को पुनः पुनः कहना दोषावह न होने से यह पुनरुक्ति की गई है। 'उपसर्जनीरानयत्यन्यः' इस सूत्र के अनुसार 'उपसर्जनी को लाया जाता है। पिष्ट में उपसेचन योग्य जल को 'उपसर्जनी' कहते हैं। अध्वर्यु प्रोक्षणी पात्र से पवित्रों (दो पवित्रों) को लेकर उन्हें इडापात्री पात्री पर उदगग्र रखकर उन पर, कृष्णाजिन पर स्थित पिष्ट को कृष्णाजिन से ही गिरा दे। उस उपसर्जनी संज्ञक जल को अग्नोत् नाम का ऋत्विक् ले आवे, और अध्वर्यु, दो पवित्रों के सहित होता हुआ मन्त्रोच्चार पूर्वक उसको लेवे। यह सूत्रार्थ है।

२—मन्त्रार्थ इस प्रकार होगा—उपसर्जनी रूप जल, पिष्ट रूप ओषधियों के साथ अच्छी प्रकार से एक रूप हो जाय। उसी प्रकार पिष्ट रूप ओषधि भी उपसर्जनी रूप जल के साथ अच्छी तरह सम्पृक्त हो जाय। 'रेवत्य आपो

पेता आप: मधुमतीभि: पिष्टरूपाभिरोषधीभि: सम्पृच्यन्ताम्। मधुस्वादोपेतानामपां तथाभूतानामोषधीनाञ्च परस्परं प्रीतिहेतुत्वात् सम्पर्को भवत्विति यावत्। देवग्राह्यपुरोडाशप्रकृतिद्रव्याणाम् ओषधीनामपाञ्चोत्कर्षवर्णनेन तन्महत्त्वमनुचिन्तनीयम्।

३—आधुनिकस्तु– हे मनुष्या यथाहं सवितुर्देवस्य परमात्मन: प्रसवे संसारे सवितृमण्डलस्य प्रकाशे वा चाश्विनो: सूर्यभूम्योर्बाहुभ्यां तेजोदृढत्वाभ्यां पूष्णोवायोर्हस्ताभ्यां प्राणापानाभ्यां यमिमं यज्ञं संवपामि विस्तारयामि तथैव त्वा तं यूयमपि संवपत। यथैतस्मिन् प्रसवे प्रकाशे चौषधीभिराप ओषधयो रसेन जगतीभी रेवत्यश्च सम्पृच्यन्ते यथा मधुमतीभि: मधुमत्य: सम्पृच्यन्ते तथैवौषधीरोषधयो रसेन जगतीभि: सहरेवत्यश्चास्माभि: सम्पृच्यन्ताम् एवं मधुमतीभि: सह मधुमत्यो नित्यं सम्पृच्यन्ताम्। अर्थात् युक्त्या वैद्यकरीत्या शिल्परीत्या वा यवाद्योषधीभिराप ओषधयश्च रसेन सम्पृच्यन्ताम्।

४—भावार्थस्तु—विद्वद्भिरीश्वरोत्पादिते सूर्यप्रकाशितेऽस्मिन् जगति बहुविधानां सम्प्रयोक्तव्यानां द्रव्याणां सम्प्रयोक्तु महैर्बहुविधैर्द्रव्यैर्मेलनेन त्रिविधो यज्ञो नित्यमनुष्ठेय:। यथा जलं स्वरसेनौषधीर्वर्धयति ता उत्तमरसयोगात् रोगनाशकत्वेन सुखदायिन्योभवन्ति यथेश्वर: कारणात्कार्यं यथावद्रचयति सूर्य: सर्वं जगत्प्रकाश्य सततं रसं भित्वा पृथिव्या आकर्षति वायुश्च धारयित्वा पुष्णाति तथैवास्माभिरपि यथावत्संस्कृतै: संप्रयोजितैर्द्रव्यैर्विद्वत्सङ्गविद्योन्नतिहोमशिल्पाख्यैर्यज्ञैर्वायुर्वृष्टिजलशुद्धयश्च सदैव कार्या' इति तदसत्।

५—संवपामीतिक्रियाया ईश्वर: कर्तेत्यत्र बीजाभावात्। मन्त्रे यथा पदस्याभावाच्च। नचेश्वरवज्जीवा अपि

जगत्य ओषधय:' इस श्रुति के अनुसार रेवती रूप जल, जगती रूप पिष्ट के साथ संसृष्ट हो जाय। माधुर्य से युक्त जल, पिष्ट रूप ओषधियों के साथ सम्पृक्त हो जाय। अर्थात् मधुस्वादोपेत जल, और वैसे ही ओषधीयाँ परस्पर दोनों की प्रीति होने से सम्पृक्त होवें। देवग्राह्य पुरोडाश प्रकृति द्रव्यों का ओषधी और जल का उत्कर्ष वर्णन करने से उनका महत्त्व समझना चाहिये।

३—किसी आधुनिक ने इस प्रकार व्याख्या की है—'हे मनुष्यों! जैसे मैं परमात्मा के रचित संसार में अथवा सवितृ मण्डल के प्रकाश में सूर्य-भूमि के बाहुओं से अर्थात् तेज और दृढ़ता से तथा वायु के हाथों से यानी प्राण, अपान से इस यज्ञ का विस्तार करता हूँ, उसी तरह उस यज्ञ का विस्तार तुम भी करो। जैसे इस प्रकाश में ओषधियाँ रस से और रेवतियाँ, जगतियों के साथ हमसे सम्पृक्त हो जाँय। उसी प्रकार मधुमतियों के साथ मधुमतियाँ नित्य सम्पृक्त रहें। अर्थात् युक्ति से वैद्यक रीति से ओषधियों के साथ जल, और ओषधियाँ रस के साथ सम्पृक्त रहें।'

४—भावार्थ इस प्रकार बताया है—'विद्वान् लोगों को चाहिये कि वे, ईश्वरोत्पादित और सूर्य प्रकाशित इस जगत् में बहुविध सम्प्रयोक्तव्य द्रव्यों का, सम्प्रयोग करने योग्य बहुविध द्रव्यों के साथ मिश्रण करके तीन प्रकार के यज्ञ नित्य किया करें। जैसे जल अपने रस से ओषधियों को बढ़ाता है वे ओषधियाँ, उत्तम रस का सम्बन्ध पाकर रोग नाशक होने से सुखदायिनी होती हैं। जैसे ईश्वर, कारण से कार्य की रचना यथावत् करता है, सूर्य सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित कर सतत् रस को पृथिवी से पृथक् कर उसको खींचता रहता है। वायु भी धारण करके पुष्ट करता है उसी तरह हम लोग भी यथावत् संस्कृत और सम्प्रयोजित हुए द्रव्यों से और विद्वत्सङ्ग, विद्योन्नति, होम, शिल्प संज्ञक यज्ञों से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि सर्वदा करनी चाहिये।'

५—किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं है। 'संवपामि' इस क्रिया का कर्ता 'ईश्वर' है, यह कहना निर्मूल है। मन्त्र में 'यथा' पद भी नहीं है। ईश्वर की तरह जीव भी सूर्यादिकों के निर्माण करने में क्या समर्थ हो सकते हैं! अर्थात् नहीं हो सकते हैं। यथा कथञ्चित् जल ओषधि आदि का सम्मेलन करने की बात कहना भी निरर्थक ही है।

सूर्यादीन् निर्मातुं शक्नुवन्ति । यथा कथञ्चित् जलौषधादिसम्मेलनं तु निरर्थकमेव । वैद्यकरीत्या शिल्पादिरीत्या सम्मेलनं तु तत्रैव प्रसिद्धमित्यन्यथासिद्धमेवैतत् ।

६—शतपथे च सनातनिसिद्धान्तानुसार्येव विवरणं दृश्यते । तथाहि—पवित्रवति संवपति पात्र्यां पवित्रेऽवधाय देवस्य त्वा सवितु……… ……संवपामीति । सोऽस्वैतस्य यजुषो बन्धुः (श० १।२।२।१) पिष्टानां पिण्डकरणार्थं पात्र्यां संवापं विधत्ते पवित्रवतीति । पवित्रवत्यां पात्र्यमिति वक्तव्ये पवित्रवतीति सामान्योपक्रमात् नपुंसकनिर्देशः । तदेव विवृणोति पात्र्यां पवित्रे दर्भद्वयमवधाय 'देवस्य त्वे'ति मन्त्रेण पिण्डकरणाय पिष्टसंवापः कर्त्तव्य इत्यर्थः ।

सोऽसावेतस्येति—सविता वै देवानां प्रसवितेत्यादिना ग्रहणप्रकरणे प्रागामाम्नात एव वाक्यशेषोऽस्यापि यजुषः शेषत्वे योजनीय इत्यर्थः । तद्बन्धुत्वाद् ग्रहणप्रकरणस्य मन्त्रव्याख्यानमेवास्यापि व्याख्यानं वेदितव्यमिति यावत् ।

अथान्तर्वेद्युपविशति अथैक उपसर्जनीभिरैति ता आनयति ताः पवित्राभ्यां प्रतिगृह्णाति समाप ओषधीभिरिति स ७ ं ह्येतदाय ओषधीभिरेताभिः पिष्टाभिः सङ्गच्छन्ते समोषधयो रसनैति स ७ ं ह्येतदोषधयो रसेनैता पिष्टा अद्भिः सङ्गच्छन्ते आपो ह्येता स।७ ं रसः स ७ ं रेवतीभिर्जगतीभिः पृच्यन्तामिति रेवत्य आपो जगत्य ओषधयस्ता उ ह्येतदुभय्यः सम्पृच्यन्ते सम्मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्तामिति स ७ ं रसवत्या रसवतोभिः पृच्यन्तामित्येवैतदाह (श० १।१।२।२) ।

अथान्तर्वेद्युपविशतीति हविःश्रपणार्थम् आहवनीये गार्हपत्ये वा कात्यायनस्तु ब्राह्मणान्तरभिप्रायेण विकल्पमाह 'श्रपणस्य पश्चादुपविशत्यन्तर्वेदि वा' (का० श्रौ० सू० २।१३२) अथैक आग्नीध्रादिः उपसर्जनीभिः सहेति उपसृजत्याभिरिति व्युत्पत्त्या पिष्टसंसर्जनार्था आपः उपसृजन्यस्ताभिरद्भिः सहागच्छेदित्यर्थः । तासां तूष्णीमासेचनं विधत्ते ता आनयति ताः पवित्राभ्यमित्यादि—आनीयमानाः 'ताः समाप' इति मन्त्रेण पिष्टानामुपरि पवित्राभ्यां प्रतिगृह्णीयात् ।

७—मन्त्रतात्पर्यमाह—संह्येतादिति । एतत् एर्तहि एता आनीयमाना आपः पिष्टरूपेणात्रस्थिताभिः

वैद्यक रीति से (शिल्पादि की रीति से) सम्मेलन तो तत्तच्छास्त्र में ही प्रसिद्ध है, उसी का पिष्ट पेषण करना अन्यथा सिद्ध ही होगा ।

६—शतपथ ब्राह्मण में जो विवरण उपलब्ध है, वह तो सनातन सिद्धान्तानुसारी ही उपलब्ध होता है। तथाहि शतपथ ब्राह्मण कहता है कि पिष्टों (चूर्ण) का पिण्ड (गोला) बनाने के लिये पात्री में संवाप का विधान किया गया गया है। ब्राह्मण में 'पवित्रवति संवपति पात्र्यां' कहा है। किन्तु यहाँ पर 'पवित्रवत्यां पात्र्याम्' भी कहा जा सकता था, किन्तु सामान्यतः उपक्रम करने के कारण 'पवित्रवति' ऐसा नपुंसक लिंग में निर्देश किया गया है। उसी का विवरण कर रहे हैं—पात्री में दो पवित्रों को रखकर 'देवस्यत्वा' मन्त्र से पिण्ड बनाने के लिये पिष्ट का संवाप करना चाहिये। 'सविता जो है, वह देवों का प्रसविता है' यह कहकर सूचित किया है कि ग्रहण प्रकरण में पूर्व जो वाक्य शेष पढ़ा गया है, उसी को इस यजु के शेष रूप में जोड़ देना चाहिये। क्योंकि ग्रहण प्रकरण, उसका बन्धु है, यानी उसी के समान है, अतः मन्त्र का व्याख्यान को ही इसी का व्याख्यान समझना चाहिये। शतपथ और कात्यायन श्रौत सूत्र के अनुरोध से आग्नीध्र नाम का ऋत्विज्, उपसर्जनी संज्ञक जल के साथ आवे। 'उपसृजति आभिः' इस व्युत्पत्ति से पिष्ट संसर्जनार्थ जल को उपसर्जनी कहते हैं। उस जल से तूष्णीं (मन्त्रोच्चारण के बिना ही) आसेचन का विधान किया गया है। 'पवित्राभ्याम्' इत्यादि मन्त्र से ले आये हुए उस जल को 'समाप' इस मन्त्र से पिष्ट के ऊपर पवित्रों से ले ले।

७—मन्त्र के तात्पर्य को बता रहे हैं—यह लाया हुआ जल, पिष्ट रूप से अवस्थित ओषधियों के साथ

ओषधीभिः सङ्गच्छन्ते। अतो मन्त्रगतौषधिशब्देन तद्विकाराः पिष्टा विवक्षिताः समित्युपसर्गश्रवणात्। योग्यक्रियाध्याहारो युक्त एव। एवमपामोषधिभिः सङ्गतिं प्रतिपाद्य व्यतिहारेण अद्भिः सङ्गतिः प्रतिपाद्यते इति व्याचष्टे—समोषधय इति। पूर्ववदत्राप्योषधिशब्दः पिष्टपरः रसशब्देन चापोविवक्षिताः। एताः पिष्टा अद्भिः सङ्गच्छन्ते। आपोहीति—उपष्टम्भकाप्यावयवयुक्ताः खल्वोषधयः आर्द्रा रसवत्यो भवन्ति अतस्तासामुदक एव रस इत्यर्थः।

८—मन्त्रगतरेवतीशब्दस्यार्थमाह—रेवत्य आपः रयिर्धनमासामस्तीति रेवत्य आपः। नदीतडागादिष्ववस्थितानां तासां धनमूलत्वं प्रसिद्धमेव। व्रीहियवादिलक्षणधनस्य तदाश्रितत्वात्। अतो मन्त्रे रेवतीशब्देनापो विवक्षिताः। 'रयेर्मतौ बहुलम्' (पा० सू० ६।१।३४) वैदि० प्र० वार्ति (४४७३) इति सम्प्रसारणे 'उगितश्च' (पा० सू० ४।१।४६) इतिङीप्। जगतीशब्देन चौषधयो गृह्यन्ते। गम्यन्ते सर्वैः प्राणिभिर्जीवनाय प्राप्यन्ते इति जगत्यः ओषधयः। मधुमतीः मधुमत्यो माधुर्यरसोपेता अपो मधुमतीभिर्माधुर्यरसोपेताभिरोषधीभिः पृच्यन्ताम् एकीभवन्तु। तदेव स्पष्टयति—रसवत्यो रसवतीभिः सम्पृच्यन्ताम्।

९—अत्र श्रुतिसूत्रानुसारेण स्पष्टमेवोपसर्जनीभिरद्भिः पिष्टानां पिण्डीकरणाय व्रीहियवादिपिष्टरूपाणां मधुमतीनां रसवतीनामोषधीनां तथाविधानामेवापां सम्पर्कोऽभिसाध्यते। नात्र शिल्पशास्त्रानुसारेण विमानादिनिर्माणमभीष्टम् तत्र मधुमतीरसवत्यादिपदस्वारस्याभावात्। नाप्यायुर्वेदीयौषधिनिर्माणाय तद्योगो विवक्षितः।

१०—अध्यात्मपक्षे परमेश्वराराधने प्रवृत्तः साधकोदिव्यभावनया प्राकृतभावमपोह्य वदति हे निवेदनीय हविः

सम्मिश्रित होता है। अतः मन्त्रगत ओषधि शब्द से उसके विकारभूत पिष्ट विवक्षित हैं, क्योंकि सम्' उपसर्ग का श्रवण हो रहा है। योग्यक्रिया का अध्याहार करना उचित ही है। इस प्रकार जल की ओषधियों के साथ सङ्गति बताकर व्यतिहार के द्वारा जल के साथ सङ्गति बताते हैं। पहिले की तरह यहाँ भी ओषधि शब्द, पिष्टपरक है, और 'रस' शब्द से जल विवक्षित है। ये पिष्ट, जल के साथ मिश्रित होते हैं। उपष्टम्भक आप्य (जलीय) अवयवों से युक्त ये ओषधियाँ हैं। ये ओषधियाँ रसवती हो जाती हैं। अतः उनका रस 'उदक' ही है।

८—मन्त्रगत 'रेवती' शब्द के अर्थ को बताते हैं—रेवत्य आपः 'रयिर्धनमासामस्तीति रेवत्य आपः'। नदी-तड़ाग आदिकों में स्थित जलों की धनमूलकता तो प्रसिद्ध ही है। व्रीहियवादि लक्षण जो धन है, वह तदाश्रित ही है, यह बात प्रसिद्ध ही है। अतः मन्त्र में 'रेवती' शब्द से 'जल' ही विवक्षित है। 'रयेर्मतौ बहुलम्'—(वार्ति० वैदि० प्र० ४४७३) इस वार्तिक से सम्प्रसारण करने पर 'उगितश्च' (पा० सू० ४।१।४६) इस सूत्र से 'ङीप्' होता है। 'जगती' शब्द से ओषधियों का ग्रहण होता है। 'गम्यन्ते सर्वैः प्राणिभिर्जीवनाय प्राप्यन्ते इति जगत्यः'=औषधयः। सम्पूर्ण प्राणियों के जीवन के लिये जो प्राप्त की जाती हैं, ऐसी ओषधियों को 'जगती' कहते हैं। 'मधुमतीः मधुमत्यो माधुर्य-रसोपेता आपो मधुमतीभिर्माधुर्यरसोपेताभिरोषधिभिः'—मधुर-रस से युक्त जल को मधुमती कहते हैं, अतः वह मधुर जल, माधुर्य रस से युक्त जो ओषधियाँ हैं, उनके साथ 'पृच्यन्ताम्' एक हो जाय। उसी को स्पष्ट करते हैं—रसवान् जल, रसवती ओषधियों के साथ एक हो जाय यानी घुल-मिल जाय।

९—यहाँ पर श्रुति और सूत्र के अनुसार स्पष्टतया ही यह सिद्ध कर दिया है कि उपसर्जनी संज्ञक जल से पिष्ट का पिण्ड (गोला) तैयार करने के लिये व्रीहि-यवादि पिष्टरूप मधुमती नामक ओषधियों का उसी प्रकार के जल से ही सम्पर्क किया जाय। यहाँ पर किसी शिल्प शास्त्र के अनुसार विमान आदि का निर्माण करना अभीष्ट नहीं है। क्योंकि उसमें 'मधुमती-रसवती' आदि पदों का कोई स्वारस्य नहीं है। तथा न ही आयुर्वेदीय ओषधि का निर्माण करने में उनका सम्बन्ध विवक्षित है।

१०—अध्यात्म मक्ष में—परमेश्वर की आराधना करने में प्रवृत्त हुआ साधक अपनी दिव्य भावना से प्राकृत भाव को दूर करके कह रहा है—हे निवेदनोय हविः प्रपञ्च के उत्पादक स्व-प्रकाश परमेश्वर सविता देव के यानी

देवस्य स्वप्रकाशस्य सवितुः प्रपञ्चोत्पादयितुः परमेश्वरस्य प्रसवे प्रेरणे अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णाः सर्वपोषकस्य भगवतः सूर्यस्य हस्ताभ्यां त्वां संवपामि चिन्मये दिव्ये पात्रे सत्सौख्यमयं हविः प्रक्षिपामि न तु साधारणाभ्यां बाहुभ्यां न वा साधारणाभ्यां हस्ताभ्यामाप ओषधीभिर्भगवत्तृप्तये सम्पृच्यन्ताम् अद्भिश्चौषधयः सम्पृच्यन्ताम्। आप ओषधयश्चापि न साधारणाः किन्तु छन्दोरूपाः किन्तु छन्दोरूपाः रेवतीरूपा आपः, जगतीरूपाश्चौषधयः 'रेवत्य आपो जगत्य ओषधय' इति श्रुतेः। उभय्यश्च मधुमत्यो रसवत्यश्च भवन्ति। रसात्मकब्रह्मभावनया आप ओषधयश्च रसात्मकब्रह्मरूपा एव भवन्ति। सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य तज्जलानत्वेन ब्रह्मरूपतया भावनया तस्यैवाविर्भाविनेन सर्वत्र दिव्यत्वापादन-सम्भवात्।

जनयत्यै त्वा संयौमीदमग्नेरिदमग्नीषोमयोरिषे त्वा धर्मोऽसि विश्वायु-रुरुप्रथाऽउरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथतामग्निष्टे त्वचं मा हि ँ सीद्देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधि नाके ॥ वा० सं० १। २२॥

अर्थ—हे जल और पिष्ट रूप दो पदार्थों ! यजमान को सन्तति प्राप्त हो एतदर्थ मैं तुम्हें संयुक्त कर रहा हूँ। (तदनन्तर जल मिश्रित पिष्ट के दो पिण्ड तैयार करके अलग-अलग रखे) 'यह अग्नि का पिण्ड है'—ऐसा कहकर प्रथम पिण्ड का स्पर्श करे और 'यह अग्नीषोम का पिण्ड है'—ऐसा कहकर द्वितीय पिण्ड का स्पर्श करे। हे घृत ! वृष्टि के लिये मैं तुम्हें अग्नि पर रखता हूँ। हे पुरोडाश ! तुम दीप्यमान प्रवर्ग्य स्वरूप हो और सम्पूर्ण आयु को देने वाले हो। हे पुरोडाश ! तुम स्वभावत एव प्रसरणशील हो, इस कारण तुम फैल जाओ। और यह यजमान पुत्र-पशु आदि से युक्त होकर प्रसिद्धि को प्राप्त हो। हे पुरोडाश ! पकाते समय यह अग्नि, त्वचा के समान जो तुम्हारा ऊपरी भाग है उसे न जलावे। हे पुरोडाश ! सविता देवता अतिशय वृद्धिङ्गत द्यु लोक में रहने वाले नाक संज्ञक अग्नि के द्वारा तुम को परिपक्व करे ॥२२॥

१—'संयौति जनयत्यै त्वेति' (का० श्रौ० सू० २।५।१४) जनयत्यै त्वेति मन्त्रेण पिष्टानां मिश्रीकरणं कुर्यात्।

सूर्य देव की प्रेरणा प्राप्त होने पर अश्विनी देवताओं के बाहुओं से तथा सर्व पोषक भगवान् सूर्य के हाथों से चिन्मय दिव्य पात्र में सौख्यमय तुझ हवि को रख रहा हूँ, न कि साधारण बाहुओं से तथा न साधारण हाथों से। भगवान् की तृप्ति के लिये जल, ओषधियों के साथ और ओषधियाँ, जल के साथ एक रूप हो जाँय। ये जल और ओषधियाँ भी साधारण नहीं हैं। किन्तु छन्दो रूप हैं। रेवती रूप 'आप्'=जल है और जगती रूप ओषधियाँ हैं। इसी बात को श्रुति ने भी कहा है। दोनों ही मधुमती और रसवती हैं। रसात्मक ब्रह्म भावना से जल और ओषधियाँ, रसात्मक ब्रह्म रूप ही हैं। समस्त प्रपञ्च 'तज्ज, तल्ल, और तदन' रूप होने से ब्रह्म रूप है, ऐसी भावना करने से उसी का आविर्भाव होता है, जिससे सर्वत्र दिव्यता का अपादान होना अवश्य सम्भावित है।

१—कात्यायन श्रौत सूत्र के अनुसार 'जनयत्यै त्वा' इस मन्त्र से पिष्ट का मिश्रीकरण करना चाहिये। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे जलौषधि रूप द्रव्यद्वय ! तुम्हारा मैं सम्यक् मिश्रण करता हूँ। किसलिये मिश्रण कर रहे हो ? उत्तर

मन्त्रार्थस्तु—हे ओषधिरूपद्रव्यद्वय त्वा त्वां संयौमि सम्यङ् मिश्रीकरोमि (यु मिश्रणामिश्रणादौ) किमर्थं जनयत्यै यजमानस्य प्रजोत्पत्त्यै जलपिष्टयोर्मिश्रणेन पुरोडाशोत्पत्तिरिव यजमानदम्पत्योः शुक्रशोणितमिश्रणेन प्रजोत्पत्तिर्यथा भवेत् तथा त्वां संयौमि।

२—यद्वा यजमानस्य जनयत्यै श्रीप्रजापशुभिर्यजमानं वनयितुं संमिश्रयितुं त्वा त्वां संयौमि पुरोडाशोत्पत्त्यै संमिश्रयामि। यथा त्वं संम्मिश्रितः पुरोडाशभावमासाद्य अधिश्रितः सन् दैवाद्योनेरधिजायसे अमर्त्यस्य तव मर्त्यैर्जनयितुमशक्यत्वात्।

३—'संविभज्यासंहरिष्यन्नारभते इदमग्नेदिमग्नीषोमयोः' (का० श्रौ० सू० २।५।१५) मिश्रीकृतस्य पिष्टस्यावदानाङ्कितं पिण्डद्वयं कृत्वा पुनरमेलयिष्यन् इदमग्नेः अग्निसम्बन्धि भवतु—इति प्रथमं पिण्डं स्पृशेत् इदमग्नीषोमयोर्भवत्विति द्वितीयं स्पृशेत् इषेत्वेत्याज्यमधिश्रयति' (का० श्रौ० सू० २।५।१६) हे आज्य इष्यमाणवृष्टचर्थं त्वामधिश्रयामीति शेषः। 'घर्मोऽसीति पुरोडाशमिति (का० श्रौ० सू० २।५।२७) हे पुरोडाश त्वं घर्मोऽसि (घृ क्षरणदीप्तयोः) इति धातोर्निष्पन्नेन घर्मशब्देन दीप्यमानः प्रवर्ग्य उच्यते। महावीरपात्रस्य श्रप्यमाण आज्ये पयोनिःक्षेपेण विशिष्टज्वालोल्लासेन प्रवर्ग्येण श्रप्यमाणत्वात् दीप्यमानत्वाच्चाज्यस्य तत्तुल्यता। 'विश्वायुरसि विश्वं कृत्स्नमायुर्यस्मात् सविश्वायुः, यस्माद्यजमानः सर्वायुरवाप्नोति स त्वमिति भावः। 'विश्वायुरिति तदायुर्दधाति' इति श्रुतेः।

४—'उरु प्रथेति प्रथयति यावत्कपालमनतिपृथुम्' (का० श्रौ० सू० २।५।१०) अधिश्रितं पुरोडाशं यावत्परिणामानि कपालानि तावत्पृथुं प्रसृतं कुर्यात्। नातिपृथुं नातिविपुलं कुर्यात्।

५—ननु यावत्कपालमित्युक्त्यैवानतिपृथुत्वे सिद्धे पुनरनतिपृथुत्वकथनं किमर्थमिति चेन्न, कपालानां श्रुत्युक्त-

---

दिया गया है कि 'जनयत्यै'। अर्थात् यजमान की प्रजोत्पत्ति के लिये। जल और पिष्ट के मिश्रण से जिस प्रकार पुरोडाश की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार यजमान दम्पत्ती के शुक्र-शोणित के मिश्रण से प्रजोत्पत्ति जैसे हो सके उस तरह से मैं तुम्हें मिश्रित कर रहा हूँ।

२—अथवा यजमान को श्री, प्रजा, पशु आदि ऐश्वर्य से संयुक्त करने के लिये तुम्हें मैं पुरोडाश के उत्पत्त्यर्थ मिश्रित करता हूँ। जैसे तुम पुरोडाश भाव को प्राप्त होकर दैवयोगात् योनि से उत्पन्न होते हो, क्योंकि तुम अमर्त्य हो अतः मर्त्यों के द्वारा तुमको उत्पन्न करना शक्य नहीं है।

३—कात्यायन श्रौत सूत्र के अनुसार मिश्रीकरण किये हुए पिष्ट के अवदानाङ्कित पिण्डद्वय को बनाकर पुनः यदि मेलन होगा तो 'यह अग्नि से सम्बन्धित हो' ऐसा कहकर प्रथम पिण्ड का स्पर्श करे। 'यह अग्नीषोम से सम्बन्धित हो'—ऐसा कहकर द्वितीय पिण्ड का स्पर्श करे। तदनन्तर 'इषेत्वेत्याज्यमधिश्रयति'—इस श्रौत सूत्र के अनुसार हे आज्य! अभिलष्यमाण वृष्टचर्थ तुम्हारा मैं अधिश्रयण करता हूँ। ततः 'घर्मोऽसीति पुरोडाशम्' इस कात्यायन वचन के अनुसार हे पुरोडाश! तुम घर्म हो। 'घृ क्षरण दीप्त्योः' इस धातु से निष्पन्न हुए घर्म शब्द से दीप्यमान 'प्रवर्ग्य' बोधित किया जाता है। महावीर पात्र में आज्य के परिपक्व होते समय पयोनिःक्षेप (दूध प्रक्षेप) से एक विशेष प्रकार की ज्वाला निकलती है, अतः श्रप्यमाण और दीप्यमान धर्मों की समानता को देखकर प्रवर्ग्य के साथ आज्य की तुलना की गई है। तुम विश्वायु हो, 'विश्व यानी सम्पूर्ण आयु जिससे प्राप्त होती है, उसे विश्वायु कहते हैं। जब कि यजमान सम्पूर्ण आयु प्राप्त करता है, और वह तुम ही हो। श्रुति भी विश्वायुरिति तदायुर्दधाति' कहती है।

४—तदनन्तर कात्यायन के अनुसार अधिश्रित पुरोडाश को जितने परिमाण का कपाल हो उतना ही उसे विस्तृत करना चाहिये। कपाल के परिमाण से अधिक उसे फैलाना नहीं चाहिये।

५—यदि कोई यह आशङ्का करे कि 'यावत् कपालम्' कहने से ही पुरोडाश का अनति पृथुत्व सिद्ध ही है तो

परिमाणज्ञापनाय तदुक्तेः सार्थक्यात् । 'अश्वशब्दमात्रं कुर्यादित्युहैक आहुः' (श० १।१।२।१०) ।

६—मन्त्रार्थस्तु—हे पुरोडाश त्वं स्वभावतः उरुप्रथाः—उरु विस्तीर्णं यथा स्यात्तथा प्रथते प्रसरतीति उरुप्रथाः अत इदानीमपि उरु प्रथस्व प्रसृतः प्रख्यातो भव । येन ते तव यज्ञपतिः यजमानः उरु विस्तीर्णं यथा स्यात्तथा पुत्रपश्वादिभिः प्रथताम् प्रख्यातो भवतु ।

७—'अग्निष्ट इत्यद्भिरभिमृशति सकृत् त्रिर्वा' (का० श्रौ० सू० २।५।२१) पुरोडाशं सोदकेन हस्तेन सर्वतः स्पृशेत् सकृदेकवारं त्रिः बारत्रयं वा । ततः पात्र्यङ्गुलिक्षालनं पिष्टलेपापनयनमनुक्तमपि कर्त्तव्यम् । 'पात्राङ्गुलिप्रक्षालनम७ येभ्यो निनयति' (का० श्रौ० सू० २।५।२८) 'पिष्टलेपाञ्जुहोति' (का० श्रौ० सू० ३।८।१) इतिसूत्राभ्यां प्रतिपत्तिकर्म विधानात् । उत्पत्तिमन्तरा प्रतिपत्त्यसम्भवात् ।

८—मन्त्रार्थस्तु—हे पुरोडाश अग्निः श्रपणाय प्रवृत्तः ते तव त्वचं त्वक्सदृशमुपरिभागं मा हिंसीत् मा विनाशयतु । अतिदाहेन मषीभावो नाशो यथा न स्यात् तथा करोतु । अवघातात् पेषणात् श्रपणाच्च जायमानो हविष उपद्रवो जलस्पर्शेन शाम्यति ।

९—देवस्त्वेति श्रपणम्' (का० श्रौ० सू० २।५।२३) देवस्त्वेति मन्त्रेण श्रपणं हविषामिति शेषः पुरोडाशस्यो (धानानाञ्चो) परि अङ्गारान् निदध्यात् । चरुपात्रस्य चाधस्तात् अङ्गारनिधानम् ।

१०—मन्त्रार्थस्तु—हे पुरोडाश सविता देवः वार्षिष्ठे अत्यन्तं वृद्धे उत्कृष्टे वा नाके अधि उपरिस्थितं त्वा त्वां श्रपयतु । 'नाको नामाग्नी रक्षोहा' इति तित्तिरिवचनात् । नाको नाम स्वर्गस्थोऽग्निः । सविता वा नाके स्वर्गे

पुनः 'अनति पृथुत्व' कहने की क्या आवश्यकता थी ? इस आशङ्का का उत्तर यह है कि कपालों का परिमाण श्रुत्युक्त है, यह प्रकट करने के लिये पुनः कथन सार्थक है ।

६—मन्त्रार्थ यह है—हे पुरोडाश ! तुम स्वाभाविक रूप से ही उरुप्रथ हो, अर्थात् जिस तरह से विस्तीर्ण हो सकते हो, वैसे ही प्रस्तृत होते हो, इसीलिये उरुप्रथ कहलाते हो । अतः इस समय भी प्रस्तृत यानी प्रख्यात हो जाओ । जिससे तुम्हारा यज्ञपति यानी यजमान, जिस तरह से विस्तीर्ण हो सके उस तरह पुत्र–पशु आदिकों से प्रख्यात हो जाय ।

७—ततः सूत्र बताता है कि जल से युक्त हुए हाथ से पुरोडाश को चारों ओर से एक बार अथवा तीन बार स्पर्श करे । तदनन्तर पात्री में अंगुलि प्रक्षालन यानी पिष्ट लेप को दूर करना यद्यपि अनुक्त है, तथापि उसे करना चाहिये । क्योंकि दो सूत्रों से प्रतिपत्ति कर्म का विधान किया है । उत्पत्ति के बिना प्रतिपत्ति का होना सम्भव नहीं है, अतः अनुरक्त रहने पर भी उसे करना चाहिये।

८—मन्त्र का अर्थ यह होगा—हे पुरोडाश ! श्रपणार्थ प्रवृत्त हुआ अग्नि, तुम्हारी त्वचा को यानी त्वचा के तुल्य तुम्हारे ऊपरी भाग को नष्ट न करे । अत्यधिक दाह से मषीभाव यानी नाश जैसे न हो पाय, वैसा करे । अवघात से, पेषण से, और श्रपण से हवि को होने वाले उपद्रव की शान्ति जल स्पर्श से हो पाती है ।

९—'देवस्त्वा' इस मन्त्र से हवियों का श्रपण करना चाहिये । अर्थात् पुरोडाश के ऊपर अङ्गारों को रखे । चारुपात्र के नीचे अङ्गारों को रखना चाहिये ।

१०—मन्त्रार्थ यह है—हे पुरोडाश ! सविता देव, अत्यन्त वृद्ध अथवा उत्कृष्ट नाक (स्वर्ग) में ऊर्ध्वस्थित हुए तुम्हारा श्रपण करे । तित्तिरि के वचनानुसार स्वर्गस्थ अग्नि को 'नाक' कहा गया है । अथवा सविता जो स्वर्ग में स्थित है । पुरोडाश के श्रपण में मनुष्य का कर्तृत्व नहीं है, अपितु नाक स्थित सविता का ही कर्तृत्व है । दिव्य लोक

स्थित:। पुरोडाशश्रपणेन मनुष्यस्य कर्तृत्वमपितु नाकस्थस्य महाभाग्यस्य सवितुरेव। दिव्ये लोके दिव्येन लोकेन दिव्याग्नौ पुरोडाशस्य श्रपणात् तदुत्कर्ष: ततश्च यजमानस्यापि दिव्यलोकजन्मलाभ: सेत्स्यति।

११—स्वामिदयानन्दस्तु—"हे मनुष्य यथाहं जनयत्यै सर्वसुखोत्पादिकायै राज्यलक्ष्म्यै त्वां तं यज्ञं संयौमि मिश्रयामि अग्नौ प्रक्षिप्य वियोजयामि वा तथैव भवद्भिरपि संपूयताम्। अस्माभिर्यदिदं संस्कृतं हविरग्नेर्मध्ये प्रक्षिप्यते तदिदं विस्तीर्णं भूत्वा अग्नीषोमयोर्मध्ये स्थित्वेषे अन्नाद्याय भवति। यो विश्वायुर्विश्वमायुर्यस्मात् उरुप्रथा धर्मो यज्ञो यस्यास्ति तमेतमुरु प्रथस्व। यथाऽयं मया उरु प्रथ्यते तथैव प्रतिजनस्तमुरु प्रथस्व। एवं कृतवते ते तुभ्यमयं यज्ञपतिरग्नि: सवितादेवो जगदीश्वरश्चोरु सुखं प्रथताम्। ते तव त्वचं मा हिंसीत् नैव हिनस्ति। स खलु त्वां वर्षिष्ठेऽधिनाके तं प्रथयतु सुखयुक्तं करोतु।" इति,

१२—तदपि कल्पनामात्रम्, सर्वसुखोत्पादिकायै लक्ष्म्यै कोऽयं त्रिविधो यज्ञ: ? तेन च यज्ञेन के राज्यलक्ष्मी: प्राप्ता:। संस्कृतं हविरग्निमध्ये प्रक्षेपेण नश्यति। तद्विस्तीर्णं भूत्वा अग्नीषोमयोर्मध्येस्थित्वेषो भवति' इत्याद्यपि निर्मूलम्, तन्मते धर्माधर्मापूर्वरूपस्याद्दष्टस्यानभ्युपगमात्।

१३—यदपि—हे मनुष्य यथाहं मनुष्यो यो विश्वायुरुरुप्रथा धर्मो यज्ञोऽस्ति तं जनयत्या इषे संयौमि तत्सिद्ध्यर्थमग्नेर्मध्ये इदमग्नीषोमयोर्मध्ये संस्कृतं हवि: संवपामि प्रक्षिपामि तथा त्वमप्येतं कुरु, प्रथस्व बहु विस्तारय यतोऽयमग्निस्तव त्वचं न हिंस्यात्। यथा च देव: सविता वर्षिष्ठेधिनाके यं यज्ञं श्रपयेत् तथा भवानपि त्वा तं संयौतु' इति।

१४—तदपि न सङ्गतम्, मन्त्राक्षराणां ताद्दशार्थाननुगतत्वात्। अग्नि: कस्य त्वचं न दहेत् कणश्च न दहेत् इत्यपि न स्पष्टम्।

में भी दिव्य अग्नि पर पुरोडाश का श्रपण होने से उसका उत्कर्ष सूचित होता है, उससे देवता की तृप्ति का उत्कर्ष, और उस से यजमान को भी दिव्य लोक में जन्मलाभ होना सम्भव हो सकेगा।

११—स्वामी दयानन्द इस प्रकार व्याख्या करते हैं—'हे मनुष्य ! जैसे मैं समस्त सुखों को उत्पादन करने वाली राज्यलक्ष्मी के लिये उस यज्ञ को मिश्रित करता हूँ अथवा अग्नि में प्रक्षेप करके विनियोग करता हूँ, उसी तरह आप लोग भी अच्छी तरह उसे पवित्र करें। हम लोग जो इस संस्कृत हवि को अग्नि में डालते हैं, तो वह विस्तीर्ण होकर अग्नीषोम के मध्य में स्थित होकर अन्नाद्य के लिये होता है। जो विश्वायु (विश्वमायुर्यस्मात्) उरुप्रथा धर्मवान् यज्ञ जिसका है उसको खूब विस्तीर्ण करो। जैसे मैं इसे विपुलतया विस्तीर्ण करता हूँ, तथैव प्रत्येक मनुष्य उसे खूब विस्तीर्ण करे। इस प्रकार करने वाले तुम्हारे लिये यह यज्ञपति अग्नि सविता देव जगदीश्वर विपुल सुख विस्तार करे। तुम्हारी त्वचा को वह ऐसा करने पर नष्ट नहीं करेगा। वह तुम्हें अत्यधिक वृद्ध (श्रेष्ठतम) नाक में सुख से युक्त करे।"

१२—किन्तु यह व्याख्या केवल काल्पनिक है। सर्वसुखोत्पादिका लक्ष्मी के लिये कौन सा यह त्रिविध यज्ञ है ? जिस यज्ञ से राज्य लक्ष्मी की प्राप्ति बताई जा रही है। संस्कृत हवि का अग्नि में प्रक्षेप करने पर विनाश होता है। वह विस्तीर्ण होकर अग्नीषोम के मध्य में स्थित हुआ अन्नाद्य के लिये होता है'—इत्यादि कथन भी निर्मूल है। क्योंकि तुम्हारे मत में अपूर्व रूप धर्माधर्म, जिसे अदृष्ट कहा जाता है, उसकी स्वीकार नहीं किया गया है।

१३—यह जो तुमने कहा है कि 'हे मनुष्य ! जैसे मैं मनुष्य, जो विश्वायु उरुप्रथा धर्मवान् यज्ञ है, उसे इट् के लिये (जनयत्यै इषे) संयवन करता हूँ, तत्सिद्ध्यर्थ अग्नि में अर्थात् अग्नीषोम के मध्य में इस संस्कृत हवि को डालता हूँ, तथा तुम भी उसे करो, बहुत विस्तार करो, जिससे यह अग्नि, तुम्हारी त्वचा को नष्ट नहीं करेगा। जैसे सविता देव वर्षिष्ठ नाक में जिस यज्ञ का श्रपण करेगा, तथा आप भी उसका संयवन करे।'

१४—किन्तु यह कथन भी असङ्गत है, क्योंकि मन्त्र के अक्षरों से तुम्हारे किये अर्थ का कोई सम्बन्ध ही

१५—सिद्धान्ते तु पुरोडाशविषयाः श्रपणमन्त्रा एते। तथा च हे जलौषधिरूपपदार्थद्वय जनयत्यै यजमानस्य प्रजोत्पादनार्थं संयौमि अनयोर्द्रव्ययोर्मिश्रणं करोमि। तथैव शुक्रशोणितमिश्रणेन यजमानस्य प्रजोत्पत्तिर्भवति। विधि-प्रयुक्तैः कर्मभिर्विशिष्टमदृष्टमुत्पद्यते तेनैव शास्त्रसिद्धोऽर्थः सम्पद्यतेऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा। स्तुत्यर्था चोक्ति-स्तथाविधा सम्भवति। 'प्रजा एवैतेन दधारे'ति तित्तिरिश्रुतेः। कात्यायनाद्यनुसारेण मिश्रीकृतं पिण्डसमूहं द्वेधा विभज्य भागद्वयोपेतान् पिष्टान् पृथगेव स्पृशेद्। इदं पिष्टस्य प्रथमार्धमग्निसम्बन्धि भवत्विति शेषः। इदं द्वितीयार्धमग्नीषोमयोः सम्बन्धि भवतु समं विभज्याहरिष्यन्नारभते' (का० श्रौ० सू० २।५।१५) इति कात्यायनसूत्रात्।

१६—इषे त्वे त्याज्यमधिश्रयतीति' (का० श्रौ० सू० २।५।१७) आज्यस्य प्रविलापनार्थं तत्पात्रस्याग्नावधि श्रयणम्। हे आज्य त्वामिषे इष्यमाणवृष्टिसिद्धयर्थमधिश्रयतीति शेषः। 'घर्मोऽसीति पुरोडाशम्' (का० श्रौ० सू० २।५।१९) अधिश्रयतीत्यनुवृत्तिः। विश्वायुरितिमन्त्रशेषः। घर्मशब्दोऽत्र दीप्यमानं प्रवर्ग्यं ब्रूते। हे पुरोडाश त्वं श्रप्य-माणतया घर्मोऽसि दीप्यमानत्वात् प्रवर्ग्योऽसि। तथा विश्वायुः विश्वं पूर्णं यजमानसम्बन्ध्यायुर्यस्मात् स त्वं विश्वायुः। 'विश्वमेवायुर्यजमाने दधातीति।' तित्तिरिश्रुतेः। उरु प्रथा इति प्रथयति यावत्कपालम् कपालेष्वधिश्रितं पुरोडाशं कपाल परिमाणमनतिक्रम्य सर्वेषु कपालेषु संश्लेषयितुं प्रसारयेत इत्यत्रापि हे पुरोडाश त्वं स्वभावत उरुप्रथा उरु विस्तीर्णं यथा स्यात्तथा प्रथस्व तथा ते यज्ञपतिः उरु प्रथतां प्रख्यातो भवतु। 'अग्निष्टमित्यद्भिरभिमृशति' (का० श्रौ० सू० २।५।२१) हे पुरोडाश श्रपणाय प्रवृत्तोऽग्निस्ते त्वचं त्वक्सदृशमुपरितनं भागं मा हिंसीत् मा विनाशयतु। अत्रातिदाहेन मषीभावो विनाशः सोऽस्य माभूत्। अवघातपेषणाभ्यां य उपद्रव आसीत् श्रपणेन च योभविष्यति तत्सर्वमुदकस्पर्शेन शाम्यति इत्यर्थः। तदेतत् सर्वं शतपथे स्पष्टम्।

नहीं बैठ रहा है। अग्नि किसकी त्वचा को दहन नहीं करेगा और क्यों नहीं दहन करेगा? इसे भी स्पष्ट नहीं किया है।

१५—तथा च हे जलौषधि रूप पदार्थद्वय! यजमान के लिये प्रजोत्पादनार्थ इन दो द्रव्यों का मैं मिश्रण कर रहा हूँ। तथैव शुक्र-शोणित के मिश्रण से यजमान की प्रजोत्पत्ति होगी। विधि प्रयुक्त कर्मों से विशिष्ट अदृष्ट की उत्पत्ति होती है। उसी से शास्त्रसम्मत अर्थ सम्पन्न होता है चाहे वह इस जन्म में हो या जन्मान्तर में हो। उस प्रकार की उक्ति का स्तुत्यर्थ होना भी सम्भव हो सकता है। क्योंकि तित्तिरि श्रुति 'प्रजा एवैतेन दधार' कहती है। कात्यायन के अनुसार मिश्रीकृत पिण्ड समूह का द्वेधा विभजन करके दोनों भागों से युक्त पिष्टों को पृथक्-पृथक् स्पर्श करे। पिष्ट का यह प्रथमार्ध, अग्नि से सम्बन्धित हो, और यह द्वितीयार्ध अग्नीषोम से सम्बन्धित हो, क्योंकि 'समं विभज्याहरिष्यन्नारभते' यह कात्यायन सूत्र इसमें प्रमाण है।

१६—'इषेत्वे त्याज्यमधिश्रयति' सूत्र के अनुसार आज्य का प्रविलापन करने के लिये उसके पात्र को अग्नि पर चढ़ावे। हे आज्य! तुम्हें इष्यमाण वृष्टि सिद्धयर्थ अधिश्रित किया जा रहा है। 'घर्मोऽसीति पुरोडाशम्' सूत्र में 'अधिश्रयति' की अनुवृत्ति की जाती है। 'विश्वायुः' यह मन्त्र शेष है। यहाँ पर 'घर्म' शब्द, दीप्यमान प्रवर्ग्य को बता रहा है। हे पुरोडाश! श्रप्यमाण होने से तुम घर्म रूप हो, और दीप्यमान होने से तुम प्रवर्ग्य हो। तथा यजमान सम्बन्धि पूर्ण आयु जिससे प्राप्त होती है, वही तुम विश्वायु रूप हो। क्योंकि तित्तिरि श्रुति कह रही है—'विश्वमेवायु-र्यजमाने दधाति' इति। कपाल पर अधिश्रित पुरोडाश को कपाल परिमाण का अतिक्रमण किये बिना सभी कपालों से संश्लिष्ट करने के लिये उसे फैलाना चाहिये। यहाँ पर भी पुरोडाश! तुम स्वभाव से ही उरुप्रथ हो जाओ, अर्थात् जिस तरह से विस्तीर्ण हो सको उस तरह फैलो। तथा तुम्हारा यज्ञपति खूब प्रख्यात हो। 'अग्निष्टमित्यद्भिरभिमृशति' सूत्र के अनुसार हे पुरोडाश! श्रपणार्थ पवित्र हुआ अग्नि तुम्हारी त्वचा को यानी त्वक् सदृश तुम्हारे ऊपरी भाग को नष्ट न करे। अर्थात् अत्यधिक दाह से मषी भाव अर्थात् विनाश इसका न हो पाये। अवघात और पेषण के द्वारा जो उपद्रव हुआ था और श्रपण से जो उपद्रव होगा, वह सब, उदक के स्पर्श मात्र से शान्त हो जायगा। इस सम्पूर्ण अभि-प्राय को शतपथ ने स्पष्ट रूप से बताया है।

१७—'अथ सौयौति जनयत्यै त्वा संयौमीति । यथा श्रियेऽन्नाद्याय इमाः प्रजा यजमानाय यच्छेदेवं वैतत् संयौत्यधिवक्ष्यंन्नु वै संयौति यथा वा अधिवृत्त्योऽग्नेरधिजायेतैवं वैतत् संयौति' (श० १।१।२।३) आसिक्तजलेन पिष्टानां समन्त्रकं मिश्रीकरणं विधत्ते—अथ संयौति । मन्त्रतात्पर्यकथनेन संयवनं प्रशंसति– यथा खल्विमाः प्रजा यजमानाय (षष्ठ्यर्थे चतुर्थी) यजमानस्य श्रिये सम्पदर्थमन्नाद्यर्थं च नियच्छेदेवमेतदनुकूलमेव तत्पिष्टसंवनमित्यर्थः । मन्त्रगतस्य जनयत्यै पदस्य जननायेत्यर्थः । तमुपजीव्य प्रशंसति अधिवर्जनं पुरोडाशस्याग्नावधिश्रयण करिष्यन् खलु संयौति—यथा खल्वधिश्रितः पुरोडाशोऽग्नेः सकाशात् जायेत एव तदनुगुणं संयवनम् ।

१८—अथ द्वेधाकरोति—यदि द्वे हविषी भवतः पौर्णमास्यां नौ द्वे हविषी भवतः स यत्र पुनर्न स७ हरिष्यन्स्यात् तदभिमृशतीदमग्निरिदमग्नीषोमयोरिति नाना वा एतदग्रे हविर्गृह्णन्ति तत् सहावघ्नन्ति तत् सं पि७ षन्ति । तत् पुनर्नाना करोति तस्मादेवमभिमृशत्यधिवृणक्त्येवैव पुरोडाशमधिश्रयत्यसावाज्यम्' ॥ (श० १।१।२।४) द्वेधेत्यादिविभागविधिः—कुत्र हविर्द्वयमिति तद्दर्शयति । पौर्णमासीशब्देन तत्कालानुष्ठेयं कर्म विवक्षितम् तत्र ह्याग्नेयोऽष्टाकपालः, अग्नीषोमीय एकादशकपालः, इति द्वे हविषी विहिते इत्यर्थः ।

१९—एवं द्वेधा विभज्य विभक्तयोरभिमर्शनं विधत्ते—'स खल्वध्वर्युः यत्र यस्मिन् काले तत् हविर्द्वयं पुनर्न हरिष्यन् स्यात्—संहरणमेकीकरणम् तत्करिष्यन् न भवेत् तत् तदानोमिदमग्नेरित्येकं भागमभिमृशति—इदमग्नीषोमयोरित्यपरम् । तावेतौ यथासंख्यमाग्नेयाग्नीषोमीयपुरोडाशावित्यर्थः । कथमनयोर्द्वित्वं कुत्र वातयोः संहरणं यद् व्यावृत्तये न संहरिष्यन्निति विशेष्यते तत्सर्वं दर्शयति नाना वा एतदित्यादिना । अग्नेर्निर्वापसमये अग्नये जुष्टं निर्वपामि अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि इति पृथक् पृथक् देवतादेशनात् ग्रहणस्य नानात्वम् । अवहननादिसंस्कारे सहैवानुष्ठिते सति तत्संहरणं भवति । तद्धविरस्मिन् समये पुनरनेन मन्त्रेण यथास्वं विभजतीत्यर्थः । इतः परमेकीकरणं न भवतीति तदेवासंहरणम् ।

१७—आसक्ति जल से पिष्ट का समन्त्रक मिश्रीकरण का विधान किया जाता है। मन्त्र के तात्पर्य कथन में संयवन की प्रशंसा की गई है—जैसे यह प्रजा, यजमान की सम्पत्ति, और अन्न आदि के लिये नियन्त्रित कर सके, तदनुकूल ही वह पिष्ट संयवन है। मन्त्रगत 'जनयत्यै' पद का अर्थ 'जननाय' है। उसी को उपजीव्य बनाकर प्रशंसा की गई है। पुरोडाश का अग्नि पर अधिश्रयण करते हुए संयवन करता है। जिस प्रकार अधिश्रित हुआ पुरोडाश, अग्नि में से हो सके, तदनुगुण ही संयवन करना है।

१८—तदनन्तर शतपथ 'द्वेधा' इत्यादि से विभाग का विधान कर रहा है। ये दो हवि कहाँ होते हैं ? उसे बता रहे हैं—'पौर्णमासी' शब्द से तत्काल में अनुष्ठेय कर्म की विवक्षा की गई है। उस कर्म में एक 'आग्नेय अष्ट्रा कपाल' और दूसरा 'अग्नीषोमीय एकादश कपाल' इस प्रकार दो हवियों का विधान किया गया है।

१९—इस प्रकार द्वेधा विभाजन करके उनके अभिमर्शन (स्पर्श) का विधान किया गया है। जिस समय उन दो हवियों का एकीकरण नहीं किया जायगा उस समय 'इदमग्नेः' इस प्रकार कहकर एक भाग का स्पर्श किया जाता है और 'इदमग्नीषोमयोः' कहकर दूसरे भाग का स्पर्श किया जाता है। ये दोनों हवियाँ यथासंख्य अग्नि और अग्नीषोम देवता के पुरोडाश समझे जाते हैं। ऐसी स्थिति में इनका द्वित्व कैसे समझा जायगा ? इन दोनों का संहरण कहाँ बताया गया है ? जिसकी व्यावृत्ति करने के लिये 'न संहरिष्यन्' यह विशेषण आप दे रहे हैं। हमारे इसी अभिप्राय का शतपथ ने 'नाना वा एतत्' कहकर समर्थन किया है। अग्नि के लिये निर्वाप करते समय 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि, अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि' इस प्रकार पृथक्-पृथक् देवता का कथन करने से यहाँ ग्रहण का नानात्व स्पष्ट है। अवहननादि संस्कारों को सदैव अनुष्ठित किये जाने पर वह संहरण होता है। अर्थात् इसी समय उस हवि के पुनः इस मन्त्र से यथास्व तत्तद् देवताओं के लिये विभाग किये जाते हैं। इसके बाद एकीकरण नहीं किया जाता, इसी को 'असंहरण' कहते हैं।

२०—पुरोडाशकपालस्याज्याधिश्रयणस्य च समानकालतां विवक्षुः कर्तृभेदमाह—अधिवृणक्तीति । एषोऽध्वर्युः पुरोडाशमधिवृणक्ति अग्नेरुपर्यधिश्रयति । अथैक आज्यं निर्वपति इति प्रागाज्यशब्दपर्यायेणैकशब्देन य आग्नीध्र आज्यनिर्वापकर्तृतया प्रतिपादितः सोऽत्र 'असा'वित्यदस्शब्देन विप्रकृष्टवाचिना परामृश्यते ॥ पुरोडाशाधिश्रयणसमये असावाग्नीध्रः आज्यमधिश्रयेदित्यर्थः ।

२१—तद्वा एतत् उभयꣳ सह क्रियतेऽर्धो वा एष आत्मनो यज्ञस्य यदाज्यमर्थोयदि हविर्भवति स यश्चासावर्धो य उ चायमर्धस्ता उभावग्निं गमयावेति तस्माद्वा एतदुभयꣳ सह क्रियते एवमुहैष आत्मा यज्ञस्य सन्धीयते । (श० १।२।२।५) उभयोः पुरोडाशाधिश्रयणाज्याधिश्रयणयोः सहानुष्ठानमुपपादयति—अर्धो वा एष इत्यादि । आज्यं यज्ञशरीरस्यार्धभागः । उपस्तरणाभिधारयोः प्रयाजादीनाञ्च तत्साध्यत्वात् । इतरोऽर्धः पुरोडाशादिर्हविः सहाधिश्रयणेनार्धद्वयमेकीकृत्याग्निं प्रापयावेत्यध्वर्योराग्नीध्रस्य चाभिप्रायः । एवमुहेति आज्यहविषोरुभयोः सहाधिश्रयणे सत्यर्धद्वयस्यैकीकरणात् यज्ञशरीरं सन्धीयते ।

२२—सोऽसावाज्यमधिश्रयति इषे त्वेति । वृष्टयै तदाह यदाहेषेत्वेति । तत्पुनरुद्वासयति ऊर्जेत्वेति । यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह (श० १।२।२।६) विहितमाज्याधिश्रयणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते सोऽसाविति । इष्यते इति इट् इति व्युत्पत्त्या इट्शब्देन वृष्टिर्विवक्षिता । वृष्टयै तदाहेत्यादि । ऊर्जेत्वेत्युद्वासयति । तस्माद् वृष्टादुदकात् जायमानो यो बलकरो रसः स अर्कशब्देन विवक्षितः ।

२३—अथ पुरोडाशमधिवृणक्ति घर्मोऽसीति यज्ञमेवैतत् करोति यथा घर्मं प्रवृञ्ज्यादेवं वृणक्ति विश्वायुरिति तदायुर्दधाति' (श० १।२।२।७) अधिवृणक्ति अग्ना उपरि वृणक्ति वर्जयति श्रपणार्थं स्थापयतीत्यर्थः । यज्ञमेवैतदिति । घर्मोऽसीति घर्मतादात्म्यस्तवनात् घर्मस्य च सोमयागाङ्गत्वात् तदात्मकमेवैतत्करोति । घर्मस्य यत् प्रवृञ्जनं सोमे तत्सदृशमेव पुरोडाशस्य प्रवृञ्जनमित्यर्थः । विश्वायुरितिमन्त्रे तदायुर्दधाति ।

२०—पुरोडाश कपाल और आज्याधिश्रयण की समान कालता को बताने की इच्छा से कर्तृभेद को बता रहे हैं—वह अध्वर्यु 'पुरोडाशमधिवृणक्ति' अर्थात् अग्नि के ऊपर उसे अधिश्रित करता है, और 'अथैक आज्यं निर्वपति' कहकर अन्य शब्द के पर्याय 'एक' शब्द से जिस आग्नीध्र को आज्यनिर्वापकर्ता के रूप में प्रतिपादित किया था, उसी का यहाँ पर 'असौ' इस 'अदस्' शब्द जो विप्रकृष्ट का वाचक है, उससे परामर्श किया गया है । अर्थात् पुरोडाश के अधिश्रयण काल में वह आग्नीध्र आज्य का अधिश्रयण करे ।

२१—'तद्वा एतत् उभयꣳ सह क्रियतेऽर्धो वा एष'—(श० प० १।२।२।५) इस शतपथ ब्राह्मण के द्वारा पुरोडाशाधिश्रयण दोनों के सहानुष्ठान का उपपादन किया जा रहा है । आज्य यज्ञ शरीर का अर्ध भाग है, क्योंकि उपस्तरण, अभिघार और प्रयाज आदि उसी के द्वारा सम्पादन किये जाते हैं । दूसरा अर्ध भाग पुरोडाशादि हवि है, अधिश्रयण के साथ अर्धद्वय को एक करके अग्नि के प्रति प्राप्त करावे, यह अध्वर्यु और आग्नीध्र का अभिप्राय है । आज्य और हवि दोनों का एक साथ होने पर अर्धद्वय का एकीकरण करने से यज्ञ शरीर को जोड़ा जाता है ।

२२—'सोऽसावाज्यमधिश्रयति'—(श० १।२।२।६) इस ब्राह्मण के द्वारा, विहित आज्याधिश्रयण का अनुवाद कर मन्त्र का विधान किया गया है । 'इष्यते इति इट्' इस व्युत्पत्ति के बल पर 'इट्' शब्द से वृष्टि की विवक्षा की गई है । 'उर्जेत्वा' मन्त्र से उद्वासन किया जाता है । उस वर्षा के जल से होने वाला जो बलकारक रस है, उसे 'ऊर्क्' शब्द से विवक्षित किया गया है ।

२३—'अथ पुरोडाशमधिवृणक्तिः'—(श० १।२।२।७) इस ब्राह्मण के द्वारा अग्नि पर श्रपण के लिये स्थापन करना बताया गया है । 'घर्मोऽसि' मन्त्र से घर्म के साथ तादात्म्य का स्तवन करने से और घर्म सोमयाग का अङ्ग होने से इसे तदात्मक ही करता है । घर्म का जो प्रवृञ्जन सोम में है, तत्सदृश ही पुरोडाश का प्रवृञ्जन कहा गया है । 'विश्ववायु' मन्त्र से उसमें आयु की स्थापना करता है ।

२४—तं प्रथयति उरु प्रथा उरु प्रथस्वेति प्रथयत्येवैनं कुरुते यज्ञपतिः प्रथतामिति यजमानो वै यज्ञपतिस्तद्यजमानायैवैतदाशिषमाशास्ते ।' (श० १।२।२।८) तं प्रथयति उपहितेषु कपालेषु पुरोडाशं प्रथयति विस्तारयतीत्यर्थः। प्रथयत्येवैतदित्यादिना विहितस्य प्रशंसा प्रथयति पृथु विस्तीर्णं प्रभूतं करोतीत्यर्थः। पुरोडाशस्योरु प्रथनेन यजमानस्यापि प्रजापशुधनादिभिः प्रथनं भवतीति फलोक्त्या तत्प्रशंसैव। तं न सत्रा पृथुं कुर्यात् मानुषꣳ ह कुर्यात्। यत्पृथुं कुर्यात् व्यृद्धं वैतत् यज्ञस्य यन्मानुषं नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्मान्न सत्रा पृथुं कुर्यात् (श० १।२।२।९)

२५—पुरोडाशस्य स्वाभिमतपरिमाणविधित्सया परिमाणान्तरं निषेधति तन्नेति। सत्रेति निपातोऽनेकार्थत्वात् अत्रातिशयार्थः। सत्रा पृथुमतिपृथुं न कुर्यात्। विपक्षे बाधकमाह मानुषꣳ ह तत् यदति पृथुकरणम्। नन्वस्तु मानुषं को दोष इति तत्राह—व्यृद्धं विगता ऋद्धिर्यस्मात्तत् तस्मादतिपृथुकरणेन यज्ञे विगतर्द्धिकरणमेव भवति। यज्ञे तन्न युक्तमित्यर्थः।

२६—अश्वशफमात्रं कुर्यादित्युहैक आहुः कस्तद्वेद यावानश्वशफो यावन्तमेव स्वयं मनसा न सत्रा पृथुं मन्येतैव कुर्यात् ।' (श० १।२।२।१०) पक्षान्तरमुपन्यस्यति। अयमपि पक्षो दुर्ज्ञातत्वान्न साधुरित्याह—कस्तद्वेद यावानश्वशफः। स्वाभिमतं पुरोडाशपरिमाणमाह—यावन्तमिति यावत्परिमाणविशिष्टमेव स्वयं मनसैवातिपृथुं न मन्येत किन्तु दैवतसौविष्टकृतेडाद्यवदानपर्याप्तं मन्येत तावत् परिमाणविशिष्टं कुर्यादित्यर्थः।

२७—तमद्भिरभिमृशति सकृद्वा त्रिर्वा तद्यदेवास्यात्रावघ्नन्तो पिꣳषन्तो क्षण्वन्ति वा विवृहन्ति शान्तिरापस्तमद्भिः शान्त्या शमयति ।' (श० १।२।२।११) पुरोडाशस्याद्भिरभिमर्शनं विधत्ते तमिति। तद्यदेवास्यावघ्नन्तो पिंषन्तो वा क्षण्वन्ति सकृद्वा त्रिर्वा हिंसन्ति विवृहन्ति (वृहू उद्यमने) विश्लेषयन्ति शान्तिरापः दाहतृष्णादिशमनहेतुत्वे-

---

२४—'तं प्रथयति उरुप्रथा'—(श० प० १।२।२।८) इस शतपथ ब्राह्मणोक्त 'तं प्रथयति' का अर्थ—रखे हुए (उपहित) कपालों पर पुरोडाश का विस्तार करता है—अर्थात् पुरोडाश को फैलाता है। और 'प्रथयत्येवैनमेतत्' से विहित की प्रशंसा की गई है। 'प्रथयति' का अर्थ 'पृथु'=विस्तीर्ण अर्थात् प्रभूत करता है। पुरोडाश का उरु प्रथन (अधिक विस्तार) करने से यजमान का भी प्रजा, पशु, धन आदि के द्वारा विस्तार (प्रथन) होता है, इस प्रकार फल कथन के द्वारा उसकी प्रशंसा ही प्रतीत होती है।

२५—'तं न सत्रा पृथुं कुर्यात्'—(श० प० १।२।२।९) के द्वारा पुरोडाश के स्वाभिमत परिमाण का विधान करने के लिये परिमाणान्तर का निषेध किया गया है। अर्थात् पुरोडाश का अति विस्तार न करे। यहाँ पर 'सत्रा' निपात (अव्यय) अनेकार्थक होने से उसका 'अतिशय' अर्थ है। 'तं न सत्रा पृथुं कुर्यात्' अर्थात् पुरोडाश को अति पृथु (अत्यधिक विस्तृत) न करे। विपक्ष में (वैसा न करने पर) बाधक बता रहे हैं—जो अति पृथुकरण है, वह मानुष है। उसके मानुष हो जाने में क्या दोष है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं—'व्यृद्धं' विगतर्द्धिक होता है अति विस्तार करने से यज्ञ में विगतर्द्धिकरण ही होता है। अर्थात् यज्ञ, ऋद्धि शून्य हो जाता है। इसलिये यज्ञ में पुरोडाश का अति विस्तार करना उचित नहीं है।

२६—'अश्वशफमात्रं कुर्यादित्युहैक आहुः'—(श० प० १।२।२।१०) इस ब्राह्मण के द्वारा एक अन्य पक्ष को उपस्थित कर रहे हैं। किन्तु यह पक्ष भी दुर्ज्ञेय होने से समीचीन नहीं है। क्योंकि कौन जानता है कि अश्वशफ (घोड़े का खुर) इतने परिमाण है। अतः स्वाभिमत पुरोडाश परिमाण को बताते हैं—स्वयं अपने मन से ही इतने परिमाण का है ऐसी कल्पना करके उसे (पुरोडाश को) अति पृथु (अत्यधिक विस्तृत) न करे, किन्तु दैवत सौविष्टकृत इडा आदि के अवदान के लिये जितना पर्याप्त हो उतने परिमाण से युक्त उसका विस्तार करे।

२७—'तमद्भिरभिमृशति सकृद्वा'—(श० प० १।२।२।११ इस ब्राह्मण के द्वारा जल से पुरोडाश के अभिमर्शन का विधान किया गया है। अवहनन या पेषण करने वाले एक बार अथवा तीन बार जो हिंसा करते हैं, अथवा

नापां शान्तिरूपता। तदद्भिः शान्त्या शमयति। अद्भिरभिमर्शनेन तत्संदधाति हननाद्युपद्रवकृतहिंसानिवारणेन तत्सन्धानमेव करोति।

सोऽभिमृशति। अग्निष्टे त्वचं मा हिꣳसीदित्यग्निना वा एनमेनदभितप्स्यन् भवत्येष ते त्वचं मा हिꣳसीदित्येवमेवैतदाह (श० १।२।२।१२)

२८—सोऽभिमृशतीत्यादि विहिताभिमर्शनानुवादेन मन्त्रविधानम्। अग्निष्टे त्वचं मा हिꣳसीदितिमन्त्रेणाहिंसाप्रार्थनं युक्तमिति व्याचष्टे—अग्निना वा एनमेतदभितप्स्यन् भवति। अभितः सर्वतः तपनं करिष्यन् ते त्वचं मा हिꣳसीत् मषीभावं नोत्पादयत्वित्यर्थः। सर्वथापि शतपथब्राह्मणरीत्यैव सायणादिव्याख्यानम्। दयानन्दीयं व्याख्यानं तु न मनागपि शतपथाभिप्रायं स्पृशति।

२९—तं पर्यग्निं करोति अच्छिद्रमेवैनमेतदग्निना परिगृह्णाति। नेदेनं नाष्ट्रा रक्षांसि प्रमृशन्तीत्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तस्मात्पर्यग्निं करोति।' (श० १।२।२।१३) पर्यग्निकरणं विधत्ते—

परितोऽग्निर्यस्य स पर्यग्निः परितोऽग्निमन्तं पुरोडाशं करोतीत्यर्थः। तस्य प्रयोजनमाह—अच्छिद्रमेवेति। अग्निना निर्विघ्नमेवैतत्क्रियते। राक्षसादिसंस्पर्शाभावार्थं प्राकारवन्नीरन्ध्रमग्निना वेष्टनं कृतं भवतीत्यर्थः।

३०—तꣳ श्रपयति देवस्त्वा सविता श्रपयत्विति। न वा एतस्य मनुष्यः श्रपयिता। देवो ह्येष तदेनं देव एव सविता श्रपयति वर्षिष्ठेऽधिनाक इति। देवत्रा एतदाह यदाह वर्षिष्ठेधिनाक इति। तमभिमृशति शतं वेदानीति तस्माद्वा अभिमृशति (श० १।२।२।१४)

विश्लेषण (पृथक्-पृथक्) करते हैं, उसे शान्ति रूप जल से शमन करते हैं, अर्थात् जल से अभिमर्शन कर हननादि उपद्रव कृत हिंसा का निवारण कर उनको जोड़ ही देता है। दाह-तृष्णादि के शमन के कारण जल को शान्ति रूप कहा गया है।

२८—'सोऽभिमृशति अग्निष्टे त्वचं'—(श० प० १।२।२।१२) 'सोऽभिमृशति' इत्यादि से विहित अभिमर्शन का अनुवाद करके मन्त्र का विधान किया गया है। 'अग्निष्टे त्वचं मा हिंसीत्' इस मन्त्र से अहिंसा प्रार्थन (इच्छा) करना उचित है। इस प्रकार अग्रिम अंश से उसकी व्याख्या कर रहे हैं—चारों ओर से तपाने वाला तुम्हारी त्वचा में मषी भाव (कालापन) उत्पन्न न करे। इस प्रकार सभी तरह से शतपथ ब्राह्मण की रीति का अनुसरण करते हुए ही सायणादि भाष्यकारों का व्याख्यान है। किन्तु दयानन्द स्वामी का व्याख्यान तो शतपथ ब्राह्मण के अभिप्राय का स्पर्श तक नहीं कर रहा है।

२९—'तं पर्यग्निं करोति अच्छिद्रमेवैनमेतद्'—(श० प० १।२।२।१३) ब्राह्मण के द्वारा पर्यग्निकरण का विधान किया जा रहा है। परितः चारों ओर है अग्नि जिसके, उसे पर्यग्नि कहते हैं। 'तं पर्यग्निं करोति' अर्थात् पुरोडाश को चारों ओर से अग्निमान् (अग्नि से युक्त) करता है। उस पुरोडाश को चारों ओर से अग्नि परिवेष्टित करने का प्रयोजन बता रहे हैं कि उसे (पुरोडाश को) अग्नि के द्वारा विघ्नरहित किया जाता है। अर्थात् राक्षसादि के द्वारा उसे स्पर्श न होने देने के लिये प्राकार (परकोटे) की तरह रन्ध्र (छिद्र) रहित जिस तरह हो सके उस तरह अग्नि से उसे वेष्टित किया जाता है।

३०—'तं श्रपयति देवस्त्वा सविता'—(श० प० १।२।२।१४) इस ब्राह्मण से समन्त्रक श्रपण का विधान किया जा रहा है। इस दिव्य पुरोडाश का श्रपण करने वाला (श्रपयिता) मनुष्य नहीं है, क्योंकि वह देवता से सम्बन्धित है। सविता देव ही उसे पकाता है। देवताओं के प्रति ही यह कहा जा रहा है कि वृद्धतम अर्थात् उत्कृष्टतम या वृहत्तम स्वर्ग में सविता देव श्रपण करें। तथा च उस लोक (स्वर्ग लोक) में निवास करने वाले देवताओं के

समन्त्रकं श्रपणं विधत्ते--देवस्त्वा सविता श्रपयतु न वा एतस्य दिव्यस्य पुरोडाशस्य मनुष्यः श्रपयिता हि यतो देवसम्बन्धित्वाद्देवो ह्येष तत् तस्मादेनं सविता श्रपयति वर्षिष्ठेऽधिनाक इति। मन्त्रपाठे देवत्रो देवान् प्रत्येवैतदाह--वर्षिष्ठे वृद्धतमे उत्कृष्टतमे बृहत्तमे वा नाके स्वर्गे देवः सविता श्रपयत्विति मन्त्रार्थः। तथा च तल्लोकनिवासिनो देवान् प्रत्येवैतद्वचनम्। 'देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यः' (पा० सू० ५।४।५६) इति द्वितीयार्थे त्राप्रत्ययः। यद्वर्षिष्ठेधिनाक इति तदाह तमभिमृशतीति श्रपणानन्तरं तस्याभिमर्शनं विधत्ते अभिमृशतोऽभिप्रायमाह शृतमिति शृतं पक्वं वेदानि जानामीत्यर्थः। तस्माद्वा अभिमृशति--

३१--परमेश्वरपरत्वे तु हे भगवन्निवेदनीयदिव्यहविः जनयत्यै परमेश्वरप्रीत्युत्पत्त्यै त्वा त्वां संयौमि मधुमतीभिरोषधीभिर्मधुमतीरापः मधुमतीभिरद्भिर्मधुमतीरोषधीः सम्मिश्रयामि घृतदुग्धमधुशर्करचूर्णादिमिश्रणेन दिव्यरसात्मकं नैवेद्यं सम्पादयामि। तत एवैकमर्धमग्नेर्विप्रलम्भशृङ्गाररसारसर्वस्वस्य भगवतः कृष्णस्य केवलधर्मिणो भागोस्तु द्वितीयं चार्धमग्नीषोमयोः उद्बुद्धोद्वेलितसम्प्रयोगविप्रयोगात्मकोभयविधशृङ्गाररससमुद्रसारसर्वस्वयो राधाकृष्णयोरस्तु। विप्रलम्भात्मके राधारूपो धर्मोऽव्यक्तः। सम्भोगशृङ्गारे तूभयोरभिव्यक्तिरित्युभयरूपता।

३२--इषे इष्यमाणायै प्रेमरसवृष्टयै त्वा विभजामीति शेषः। हे सर्वेश्वर तृप्तिहेतुर्नैवेद्य त्वं घर्मोसि त्वं सोमाङ्गप्रवर्ग्यरूपोऽसि प्रवर्ग्यस्य सोमयागपूरकत्ववत् तवापि भगवदाराधनापूरकत्वात्। विश्वायुरसि विश्वं सम्पूर्णं साफल्योपेतमायुर्यस्मात् तत् अतिप्रियवस्तुनोभगवदर्पणेनैव जीवनसाफल्यं भवति तदभावेतु व्यर्थमेवायुर्ह्रियते। 'तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किन्न श्वसन्त्युत। न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे ॥' (श्री० भा० म० पु० २।३।१८) इति श्रीमद्भागवतवचनेन भगवत्सम्बन्धविधुरस्य जीवनस्य भस्त्रादिश्वसनवद् वैयर्थ्यनिःसारत्वादिप्रतिपादनात्। उरुप्रथास्त्वं स्वभावतो भगवत्सम्बन्धित्वात् प्रख्यातवैभवोऽसि। इदानीमुरु प्रथस्व सम्यक् प्रख्यातो भव। भगवद्भावनया भावितमधुना भगवदुपासनाङ्गत्वेन लोके वेदे च प्रख्यातो भव। यथा काष्ठादिष्वव्यक्तरूपेण व्यापकोऽप्यग्निर्दाहकत्व-

---

प्रति ही यह वचन है। 'देवत्रा उ' यहाँ पर 'देवमनुष्यपुरुष पुरुमर्त्येभ्यः'--(पा० सू० ५।४ ५६) इस पाणिनि सूत्र से द्वितीया के अर्थ में 'त्रा' प्रत्यय किया गया है। इसलिये 'देवत्रा' का अर्थ देवान् प्रति' किया गया है। 'यद्वर्षिष्ठेऽधिनाक इति एतत् आह तमभिमृशति' से श्रपण के पश्चात् उसके अभिमर्शन का विधान हुआ है। अभिमर्शन (स्पर्श) करने वाले का अभिप्राय बता रहे हैं--यह (पुरोडाश) शृत अर्थात् पक्व हो गया है ऐसा मैं जान रहा हूँ। उसकी परिपक्वता जानने के लिये वह उसका अभिमर्शन (स्पर्श) करता है।

३१--इसी मन्त्र का परमेश्वरपरक अर्थ इस प्रकार कर सकते हैं--भगवान् को अर्पण करने योग्य हे दिव्य हवि! परमेश्वर की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिये मधुमती ओषधियों के साथ मधुमान् (मधुर) जल को मधुर जल के साथ मधुमती (मधुर) ओषधियों को मिला रहा हूँ, घृत, दुग्ध, मधु, शर्करा चूर्णादि के मिश्रण से दिव्यरसात्मक नैवेद्य का सम्पादन कर रहा हूँ। उसी में से एक अर्ध भाग अग्नि का अर्थात् विप्रलम्भ शृङ्गार सार सर्वस्व भगवान् श्रीकृष्ण रूप केवल धर्मी का रहे, और द्वितीय अर्ध भाग, अग्नीषोम का अर्थात् उद्बुद्ध और उद्वेलित सम्प्रोग-विप्रयोगात्मक उभयविध शृङ्गार रस में राधा रूप धर्म अव्यक्त है, किन्तु सम्भोग शृङ्गार रस में तो दोनों की अभिव्यक्ति रहने से उभयरूपता है।

३२--'इषे' अर्थात् अर्थात् अभिलषणीय प्रेम रस की वृष्टि के लिये मैं तुम्हें विभक्त कर रहा हूँ। सर्वेश्वर की तृप्ति के हेतुभूत हे नैवेद्य! 'त्वं घर्मोऽसि'--तुम घर्म रूप हो अर्थात् तुम सोम के अङ्गभूत प्रवर्ग्य रूप हो, क्योंकि प्रवर्ग्य जैसे सोमयाग का पूरक होता है, तद्वत् तुम भी भगवदाराधना की पूर्णता करने वाले हो। तुम 'विश्वायुरसि' विश्वायु हो अर्थात् सम्पूर्ण आयु सफलता से युक्त जिसके कारण होती है। अत्यन्त प्रिय वस्तु को भगवदर्पण करने से ही जीवन की सफलता होती है, उसके अभाव में तो आयु व्यर्थ ही क्षीण होती रहती है। श्रीमद्भागवतकार कहते हैं--'तरवः किं न जीवन्ति' वृक्ष क्या जीवित नहीं रहते, 'भस्त्राः किन्न श्वसन्त्युत' अथवा लोहार-सुनार के यहाँ की धोंकनी (चमड़े की

प्रकाशकत्वरूपेणाभिव्यज्य काष्ठादिकमात्मसात्करोति तथैव भगवानव्यक्तरूपेण सर्वव्यापकोऽपि सगुणसाकाररूपेणाभिव्यज्य ध्येयरूपेण सर्वान्तर्निविश्य सर्वमात्मसात्करोति।

३३—वस्तुतो ब्रह्मैव मायया तद्रूपेण विवर्तते। यथा व्यक्ताग्निना काष्ठेन संश्लिष्टं काष्ठान्तरमपि व्यक्ताग्निकं भवति तथैव व्यक्तेन भगवता सम्बद्धं सर्वमपि व्यक्तभगवत्सत्ताकं भगवद्रूपमेव भवति। यथा लवणखनौ निपतितं सर्वमपि लवणमेव भवति तथैव व्यक्तभगवत्सम्बन्धेन सर्वमप्यवधूय बाह्योपाधिं भगवद्भावमेवोपगच्छति तथैव यज्ञपतिरुपासनात्मकयज्ञानुष्ठाताप्युरु प्रथताम्। अग्निः प्राकृतोऽग्निस्ते त्वचं मा हिंसीत् त्वत्स्पर्शेन तव प्राकृतत्वं मापादयतु किन्तु विशिष्टः सविता देवः भृगूणामङ्गिरसाञ्च तपोरूपेणाग्निना विरहरूपेण दिव्याग्निना वर्षिष्ठे सर्वोत्कृष्टे प्राकृते नाके स्वर्गे त्वा श्रपयितु पाकेन रसात्मकं करोतु।

मा भेर्मा संविक्थाऽअतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात्। त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वा॥ वा० सं० १। २३॥

अर्थ—हे पुरोडाश ! तुम डरो मत, तुम विचलित न होना। याग हेतुभूत जो पुरोडाश है वह ग्लानि से रहित रहे। यजमान की प्रजा भी ग्लानि रहित रहे। हे पात्र्यांगुलिप्रक्षालनोदक ! मैं तुम्हें त्रित, द्वित, और एकत संज्ञक देवता की ओर ले चलता हूँ ॥२३॥

बनी हुई) क्या श्वास नहीं लेती है ? 'न खादन्ति, न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे'—गाँव में रहने वाले पशु, क्या खाना, पीना, मलोत्सर्जनादि नहीं करते ? (श्री० भा० म० पु० २।३।१८) इस श्रीमद्भागवत के वचन से स्पष्ट बताया गया है कि भगवत्सम्बन्धविधुर (भगवत्सम्बन्धशून्य) जीवन, भस्त्रा (धोकनी) के श्वास के समान व्यर्थ है, निःसार है। 'उरुप्रथास्व'' तुम स्वभावतः ही भगवत्सम्बन्धी हो, उस कारण तुम्हारा वैभव (ऐश्वर्य) प्रख्यात है। अब इस समय भी तुम 'उरु प्रथस्व' अच्छी तरह प्रख्यात हो जाओ। अर्थात् यद्यपि भगवद्भावना से भावित (युक्त) रहने का तुम्हारा स्वभाव ही है, तथापि इस समय भगवदुपासना में अङ्ग बनकर लोक (संसार) व्यवहार में और वैदिक व्यवहार में भी अपने को प्रख्यात करो। जैसे काष्ठ आदिकों में अव्यक्त रूप से रहता हुआ भी व्यापक अग्नि दाहकत्व-प्रकाशकत्व रूप से अभिव्यक्त होकर काष्ठादि को आत्मसात् कर लेता है, उसी तरह अव्यक्त रूप में रहने वाला सर्वव्यापक भगवान् भी सगुण-साकार ध्येय रूप से अभिव्यक्त होकर और सबके भीतर प्रविष्ट होकर सबको आत्मसात् करता है।

३३—वस्तुतः ब्रह्म ही माया के द्वारा तत्तद्रूप से विवर्त को प्राप्त होता है अर्थात् अतात्त्विक परिणत होता है। जैसे व्यक्त (प्रकट) हुए अग्निमय काष्ठ से संश्लिष्ट हुआ काष्ठान्तर भी व्यक्ताग्निक अर्थात् अग्निमय हो जाता है, उसी तरह व्यक्त हुए भगवान् से सम्बद्ध हुआ सभी कुछ व्यक्त भगवत्सत्ताक अर्थात् भगवद्रूप ही हो जाता है। जैसे लवण (नमक) की खान में गिरा हुआ सभी कुछ लवणमय हो जाता है, उसी तरह व्यक्त हुए भगवान् के सम्बन्ध से बाह्योपाधि को निरस्त कर सब कुछ भगवद्भाव को ही प्राप्त हो जाता है। उसी तरह 'यज्ञपति' अर्थात् उपासना रूप यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला भी विपुल प्रसिद्धि को प्राप्त करे। 'अग्निः' अर्थात् प्राकृत अग्नि, तुम्हारी त्वचा की हिंसा न करे, यानी तुम्हारा स्पर्श कर तुम्हें प्राकृत न बना दे, किन्तु विशिष्ट सविता देव भृगु और अङ्गिरसों के तपोरूप अग्नि से यानी विरह रूप दिव्य अग्नि से सर्वोत्कृष्ट अप्राकृत स्वर्ग में तुम्हारा श्रपण करे, अर्थात् तुम्हें पकाकर रसात्मक करे।

१—'माभेरित्यालभते' (का० श्रौ० सू० २।५।२४) माभेरितिमन्त्रावृत्त्या पुरोडाशमालभेत श्रृताश्रृतज्ञानार्थत्वादस्याभिमर्शनस्य चरावपि प्राप्तिः, न धानासू तत्र दर्शनादेव पाकज्ञानसम्भवात्। हे पुरोडाश त्वं माभेः भयं मा कार्षीः। मा च संविक्थाः चलनं च मा कार्षीः। न भेतव्यं न चलितव्यं (ओविजी भयचलनयोः) अतमेरुरिति श्रृताभिवासयति भस्मना वेदेनोपवेषेण वा (का० श्रौ० सू० २।५।२५) श्रृतौ पुरोडाशौ अतमेरुरितिमन्त्रेण वेदेन (कुशमुष्टिना) उपवेषेण (काष्ठमयेन वा) भस्म गृहीत्वा तेनाच्छादयेत्। यज्ञो यागहेतुः पुरोडाशो भस्माच्छादनेन अतमेरुः ग्लानिरहितो भवतु। तमु ग्लानावित्यस्माद्धातोस्तमेरुशब्दो निष्पद्यते। तमेरुर्ग्लानिः, तद्भिन्नोऽतमेरुरग्लानिरित्यर्थः। तथैव यजमानस्य पुत्रपौत्रादिप्रजा अतमेरुर्ग्लानिरहिता भवतु।

२—'पात्र्याङ्गुलिप्रक्षालनमाꣳ येभ्यो निनयत्यभितप्य प्रत्यगसꣳस्यन्तमानत्रिताय त्वेति प्रति मन्त्रम्।' (का० श्रौ० सू० २।५।२६) पिष्टलिप्तपात्रीप्रक्षालनजलं पिष्टलिप्ताङ्गुलिजलञ्च पात्रीस्थमेव गार्हपत्यादाहृतेनोल्मुकेन तापयित्वा पूर्वत आरभ्य प्रत्यक्संस्थ उत्करसमीपे भूमौ परस्परमसंलग्नमाप्त्येभ्यस्त्रिसृभ्यो देवताभ्यो निनयेत् अध्वर्युः त्रिताय त्वेति प्रतिमन्त्रम्। आप्त्यानां देवता तदुद्देश्येन त्यागश्च कार्यः त्रिष्वपि मन्त्रेषु निनयामीत्यध्याहारः इति सूत्रार्थः।

३—मन्त्रार्थस्तु—हे पात्र्याङ्गुलिप्रक्षालनोदक त्रितनाम्नेदेवाय त्वा त्वां निनयामीति शेषः। एवं द्विताय देवाय एकताय देवाय त्वा निनयामि। अत्रायमितिहासो ज्ञातव्यः—कुतश्चिद्धेतोर्भीतोऽग्निः अपः प्राविशत्। ततो

१—'माभेरित्यालभते' (का० श्रौ० सू० २।५।२४) 'माभेर्मा' मन्त्र की आवृत्ति के द्वारा पुरोडाश का स्पर्श करे। यह अभिमर्शन (स्पर्श) पुरोडाश की परिपक्वता अपरिपक्वता के ज्ञानार्थ बताया गया है, अतः अभिमर्शन (स्पर्श) की चरु में भी प्राप्ति होती है। किन्तु धानाओं में नहीं, क्योंकि उनको देखने मात्र से ही उनकी पक्वता का ज्ञान हो जाता है। हे पुरोडाश ! तुम भय मत करो, और चञ्चल भी मत हो अर्थात् इधर-उधर खिसको भी मत, यानी न डरो और न खिसको, ('ओविजी' धातु भय और चलन अर्थ में हैं)। 'अतमेरुमिति ……………… वेदेनोपवेषेण वा'—(का० श्रौ० सू० २।५।२५) यह श्रौत सूत्र बता रहा है कि 'अतमेरुर्यज्ञो' (१।२३) मन्त्र की आवृत्ति (दो बार कहते हुए) करते हुए पक्व हुए दो पुरोडाशों को वेद (कुशमुष्टि) अथवा उपवेष (काष्टमय हस्त) से भस्म लेकर उससे आच्छादित करे। 'चरु' पर अभिवासन (भस्म से आच्छादन) नहीं किया जाता। 'यज्ञः' अर्थात् याग का हेतुभूत पुरोडाश, भस्म के आच्छादन से 'अतमेरुः' ग्लानिरहित हो जाय। 'तमुग्लानौ' धातु से 'तमेरु' शब्द की निष्पत्ति होती है। तमेरुः=ग्लानि, उससे भिन्न 'अतमेरुः'=अग्लानि है। तथैव यजमान की पुत्र-पौत्रादि प्रजा भी ग्लानिरहित हो।

२—'पात्र्यांगुलि प्रक्षालन…………………प्रति मन्त्रम्'—(का० श्रौ० सू० २।५।२६) पिष्ट लिप्त (आटे से सनी हुई) पात्री के जल को तथा पिष्टलिप्तांगुलि प्रक्षालन जल को उसी पात्री में, गार्हपत्याग्नि से लाये हुए उल्मुक (जलती हुई) से तपाकर पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा तक उत्कर के समीप भूमि पर परस्पर संलग्न न करते हुए तीन आप्त्य नामक तीन देवताओं के लिये त्याग दे, क्योंकि 'आप्त्य' में देवतात्व है, अतः उन तीन देवताओं के उद्देश्य से त्याग करना चाहिये। तीनों मन्त्रों में 'निनयामि' का अध्याहार किया जाता है। यह सूत्रार्थ है।

३—मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे पात्र्याङ्गुलिप्रक्षालनोदक ! त्रित नामक देव के लिये मैं तुम्हारा निनयन करता हूँ। उसी प्रकार द्वित नामक देव के लिये और एकत नामक देव के लिये मैं तुम्हारा निनयन करता हूँ। इस प्रसङ्ग का इतिहास जानने योग्य है। किसी कारण से भयभीत होकर अग्नि ने जल में प्रवेश किया, तब देवताओं ने उसका अन्वेषण कर उसे पकड़ा, तब अग्नि ने जल में अपना वीर्य छोड़ा, उससे ये आप्त्य संज्ञक देव उत्पन्न हुए,

देवास्तं ज्ञात्वा जगृहुः। तदग्निना वीर्यम्प्सुमुक्तम्। तत आप्त्या उत्पन्नाः त्रितद्वितैकता संज्ञाः। ते देवैः सहचरन्तो यज्ञे पात्रीप्रक्षालनजललक्षणं भागंलेमिरे (श० १।२।३।१)

४—स्वामिदयानन्दस्तु—'हे विद्वन् त्वमतमेरुः सन् यज्ञस्यानुष्ठानान्माभेः भयं माकुरु। एतस्मान्माविचल एवं यज्ञं कृतवतस्तेऽतमेरुः प्रजाभूयात्। अहं त्वा तमग्निं यज्ञाय त्रिताय त्वाद्विताय त्वा एकताय सुखाय संयौमि। ईश्वरः प्रतिमनुष्यमाज्ञापयति—आशीश्च ददाति नैवकेनापि मनुष्येण यज्ञसत्याचारविद्याग्रहणस्य सकाशात् भेतव्यम् विचलितव्यं वा। कस्मात् युष्माभिरेतैरेव सुप्रजाः शारीरिकवाचिकमानसानि निश्चलानि सुखानि प्राप्तुं शक्यानि' इत्याह।

५—तत्रेदं वक्तव्यम्—तेन विद्वानत्र संबोध्यते, तत्र किं मूलम्? यज्ञानुष्ठाने प्रवृत्तस्य भयोद्वेगशङ्कायाः अप्राप्तेश्च तथोक्तिर्निर्मूलैव। किञ्च यज्ञस्यानुष्ठानादतमेरुः प्रजा कथं भविष्यति? यदपि अहं त्वा तमग्निं यज्ञाय त्रिताय द्विताय एकताय संयौमीत्युक्तम् तदपि निर्मूलम् मूले यज्ञाय संयौमीति पदयोरभावात्। पूर्वमन्त्रतः संयौमीत्यस्यानुवृत्तावपि त्रिताय त्रयाणामग्निकर्महविषां भावाय द्विताय द्वयोर्वायुवृष्टिजलशुद्ध्योर्भावाय एकताय एकस्य सुखस्य भावाय त्वा तं संयौमि निश्चलं करोमीति यदुक्तं तदपि निर्मूलम्, एकस्य ब्रह्मणो भावाय द्वयोर्धर्मब्रह्मणोर्भावाय त्रयाणां धर्मार्थकामानां भावाय इत्यस्याप्यर्थस्य सम्भवेन दयानन्दोक्तेऽर्थे विनिगमनाविरहात्।

६—सिद्धान्ते तु त्रितादिदेवताविशेषग्रहणे प्रमाणमुक्तमेवशतपथ ब्राह्मणेऽयं मन्त्रो व्याख्यात इत्युक्त्वापि तद्वि-

---

जिनके त्रित, द्वित और एकत नाम हैं। उन्होंने देवों के साथ घूमते हुए यज्ञ में पात्री प्रक्षालन जल रूप भाग को पाया (श० प० १।२।३।१)।

४—स्वामी दयानन्द ने उक्त मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है—'हे विद्वन्! तुम अतमेरु होते हुए यज्ञ के अनुष्ठान से भय मत करो। इससे विचलित मत हो। इस प्रकार यज्ञ करने वाले तुम्हारी प्रजा अतमेरु हो। मैं 'त्वा' अर्थात् उस अग्नि को यज्ञ के लिये त्रिताय त्वा द्विताय त्वा एकताय यानी सुख के लिये मिश्रित करता हूँ। ईश्वर प्रत्येक मनुष्य को आज्ञा देता है, और आशीर्वाद देता है। कोई भी मनुष्य यज्ञ सत्य, आचार, विद्याग्रहण करने से न डरे अथवा विचलित न हो। क्योंकि इन्हीं से सुप्रजा को अर्थात् शारीरिक, वाचिक, मानसिक निश्चल सुखों को प्राप्त करना तुम्हारे लिये सम्भव हो सकता है।'

५—दयानन्द स्वामी के द्वारा किये गये अर्थ पर हमारा यह वक्तव्य है—स्वामी दयानन्द ने यहाँ पर विद्वान् को सम्बोधित किया है, किन्तु विद्वान् को सम्बोधित करने में मूल क्या है? यज्ञानुष्ठान में प्रवृत्त हुए मनुष्य के लिये भय, उद्वेग की शङ्का प्राप्त ही नहीं है, अतः भय, उद्वेग की शङ्का करना निर्मूल ही है। किञ्च यज्ञ के अनुष्ठान करने से प्रजा अतमेरु कैसे हो सकेगी? यह जो दयानन्द स्वामी ने कहा है कि 'अहं त्वा तमग्निं यज्ञाय त्रिताय द्विताय एकताय संयौमि'—वह भी निर्मूल है। क्योंकि मूल ग्रन्थ में 'यज्ञाय और संयौमि' दोनों पद नहीं हैं। पूर्व मन्त्र से 'संयौमि' पद की अनुवृत्ति करने पर भी 'त्रिताय'=अग्नि, कर्म और हवि इन तीनों के भाव के लिये (विद्यमानता के लिये) 'द्विताय'=वायु शुद्धि और वृष्टि जल की शुद्धि के भाव के लिसे (शुद्धता के लिये), 'एकताय'=एक सुख के भाव के लिये (सुख की सत्ता के लिये) 'त्वा'=तं उसे संयोमि=निश्चल करता हूँ" यह जो कहा वह भी निर्मूल है, क्योंकि एकस्य=ब्रह्म के भाव के लिये, द्वयोः=धर्म और ब्रह्म के भाव के लिये, त्रयाणां=धर्म, अर्थ, काम तीनों के भाव के लिये—इस अर्थ की भी सम्भावना की जा सकती है। अतः दयानन्दोक्त अर्थ में विनिगमना (युक्ति) नहीं है।

६—सिद्धान्त में तो त्रितादि विशेष देवताओं का ग्रहण करने में हम प्रमाण बता ही चुके हैं। दयानन्द स्वामी ने 'शतपथ ब्राह्मण में इस मन्त्र का व्याख्यान किया गया है' ऐसा कहकर भी उसके विरुद्ध ही मन्त्र का व्याख्यान उन्होंने कर दिया है।

रुद्धमेव व्याख्यानमत्रकृतम्। शतपथे तु–सोऽभिमृशति माभेर्मा संविक्था इति मा त्वं भैषीर्मा संविक्था यत्त्वामहममानुषं सन्तं मानुषोऽभिमृशामि–इत्येवैतदाह (श० १।२।२।१५) अत्र पूर्वश्रुत्या विहितमभिमर्शनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते सोऽभिमृशतीति मन्त्रगतं भेः इत्येतत्पदं व्याचष्टे मा त्वं भैषीः मा संविक्था मा च कम्पिष्ठा इत्यर्थः। भयकम्पयोः कारणमाह–यत्त्वाममानुषं दिव्यं सन्तं मानुषोऽभिमृशामि इत्येवैतदाह मन्त्रः–अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामित्युक्तभावनया ममाप्यमानुषत्वात्।

७—"मा भैषीर्मा संविक्था यं त्वा मानुषꣳ सन्तं मानुषोऽभिमृशामीत्येवैतदाह"—इति काण्वश्रुत्यनुसारेण कश्चिदाह योऽयं पुरोडाशो मनुष्येणाध्वर्युणा कृतस्तमिमं मनुष्य एव स्पृशति, ततो भयचलनयोरभाव इति, तत्तु न युक्तम्, त्वा मानुषꣳसन्तमित्यत्र माध्यन्दिनीयपाठानुसारेण त्वाऽमानुषं सन्तमित्यकारप्रश्लेषेण तदनुगुणस्यैवार्थस्य सम्भवात्। किञ्च मानुषस्य पुरोडाशस्य मानुषस्पर्शेन भयसम्भावनायामसत्यां निषेधोऽपि न सङ्गतः। प्राप्तौ सत्यामेव निषेधस्य सार्थक्यात्। पूर्वोक्तसंस्कारैः पुरोडाशस्यामानुषत्वसम्पादनाच्च।

८—यदा शृतोऽथाभिवासयति नेदेनमुपरिष्टान्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यवपश्यानिति नेद्व्व नग्न इव मुषित इव शयाताऽइत्युचैव तस्माद्वा अभिवासयति।' (श० १।२।२।१६) यदा यस्मिन् काले पुरोडाशः शृतः पक्वो भवति अथानन्तरमेव तस्योपर्यभिवासयति साङ्गारेण भस्मनाच्छादयेदित्यर्थः। तस्य प्रयोजनमाह--नेदेनमुपरिष्टान्नाष्ट्रा इति सदृष्टान्तात्तरं प्रयोजनान्तरं चाह ने द्वेवेति। नग्नः स्वभावतो विवसनः मुषितः चौरादिभिरपहृतवसनः, ता उभौ यथा निरावरणौ शयाते तद्वत् पुरोडाशोऽपि अभिवासनाभावे निरावरणः शयीत। नैव तथा शयीतेत्यनेनैवाभिप्रायेणाभिवासनं कर्त्तव्यमित्यर्थः। दिव्यानां देवानां कृते दिव्यैर्मन्त्रैर्दिव्याभिर्भावनाभिर्नानाविधैः संस्कारैः संस्कृतौ पुरोडाशौ न साधारणौ। तस्मात्तयोर्नाष्ट्रादिभ्यो रक्षणार्थमनग्नतार्थं चाभिवासनं युक्तमित्यर्थः।

शतपथ ब्राह्मण ने तो पूर्व श्रुति से विहित अभिमर्शन का अनुवाद कर मन्त्र का विधान किया है। मन्त्रगत 'भेः' पद की व्याख्या 'मा त्वं भैषीः' तुम भय मत करो अर्थात् कम्पित मत हो किया है। भय और कम्प का कारण बताया है कि तुम जैसे अमानुष (दिव्य) होते हुए को भी मैं मानुष (मनुष्य) स्पर्श (अभिमर्शन) कर रहा हूँ—इतना ही मन्त्र के द्वारा कहा गया है—'अश्विनो र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्' अश्विन् देवता के और पूषन् देवता के हाथों से इस प्रकार की भावना करने से मुझमें भी अमानुषत्व (दिव्यत्व) है।

७—"मा भैषीर्मासंविक्था यं त्वा मानुषं सन्तं" इस काण्व श्रुति के अनुसार कोई कहता है--मानुष शरीर धारी अध्वर्यु के द्वारा जो यह पुरोडाश किया गया है, उस पुरोडाश को मनुष्य ही स्पर्श कर रहा, उस कारण भय और विचलित होना सम्भव ही नहीं है। किन्तु यह कथन उसका उचित नहीं है। क्योंकि 'त्वामानुषं सन्तम्' यहाँ पर माध्यन्दिनीय पाठ के अनुसार 'त्वाऽमानुषम्' इस प्रकार अकार प्रश्लेष करने से तदनुगुण अर्थ का होना ही सम्भव होता है। किञ्च--मानुष पुरोडाश को मानुष स्पर्श से भय की सम्भावना हीन रहने पर, उसका निषेध कैसे सङ्गत हो पायेगा ? क्योंकि किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर ही निषेध का होना सार्थक होता है। और पूर्वोक्त संस्कारों से पुरोडाश में अमानुषत्व (दिव्यत्व) का सम्पादन किया गया है।

८—'यदा शृतोऽथाभिवासयति नेदेनमुपरिष्टान्नाष्ट्रा'--(श० १।२।२।१६) इस शतपथ ब्राह्मण ने बताया है कि जिस समय पुरोडाश परिपक्व हो जाता है, तत्काल ही उसको अङ्गार के सहित भस्म से आच्छादित कर दे उसे भस्म से आच्छादित करने का प्रयोजन बताया है--'नेदेनमुपरिष्टान्नाष्ट्रा' इसी तरह एक अन्य दृष्टान्त और एक दूसरा प्रयोजन भी 'नेद्‍व' से बताया है। जैसे--कोई स्वाभाविक रूप से ही नग्न हो अथवा चोरों के द्वारा जिसके सभी वस्त्र चुरा लिये गये हों, ऐसे दोनों ही आदमी जिस प्रकार निरावरण (बिना ओढने के) सोते हैं, उसी प्रकार अभिवासन (भस्म से आच्छादन) न करने पर पुरोडाश भी निरावरण हुआ शयन करेगा। वैस अर्थात् उस स्थिति में वह न सो पाये, इसी अभिप्राय से उस पर अभिवासन (आच्छादन) करना चाहिये। दिव्य देवताओं के लिये दिव्य मन्त्रों से, दिव्य भावनाओं से नानाविध संस्कारों से संस्कृत हुए ये दोनों पुरोडाश हैं, वे साधारण नहीं हैं। इसलिये उन

९--सोऽभिवासयति अतमेरुर्यज्ञो अतमेरुर्यजमानस्य प्रजाभूयात् इति नेदेतदनु यज्ञो वा यजमानो वा ताभ्यां यदिदमभिवासयामीति तस्मादेवमभिवासयति। (श० १।२।२।१७) अत्राभिवासनमन्त्रो विधीयते अतमेरुरतमनशील: इज्यतेऽनेनेतियज्ञ: पुरोडाश: स ग्लानिरहितोऽभूत्। अतो यजमानस्य प्रजादिरपि तथा भूयादिति मन्त्रार्थ:। इममर्थं प्रतिपादयति नेदेतदिति--यदिदमभिवासनम् एतदनु एतस्यानन्तरम् तस्मादतमेरुरितिमन्त्रप्रयोगेणाभिवासन कृततमनाभावात्। अतमेरुरिति मन्त्रेणाभिवासनात् यज्ञ: पुरोडाशो ग्लानिरहितो भवति। यजमानश्च तथाविधप्रजादिमंत्त्वेन ग्लानिरहितो भवति। सम्यक्पाकसिद्धचर्थमिदं भस्मनाच्छादनरूपमभिवासनम्। अस्याभिवासनस्य प्रयोजनं तित्तिरि: स्पष्टमाह—'मस्तिष्को वै पुरोडाश:, तं यत्राभिवासयेत, आविर्मस्तिष्क: स्यात्। अभिवासयति तस्मात् गुहा मस्तिष्क:। तस्मान्नाभिवासयति तस्मान्मांसेन रसेनास्थिच्छिन्नं वेदेनाभिवासयति तस्मात्केशै: शिरश्छिन्नम्' (वै० स०) अयमभिप्राय:—शिरस्यवस्थितो मेदस: खण्डो मस्तिष्क:। गुहा गूढ आच्छन्न: मेद:स्थानीयस्य मस्तिष्कस्य मांसस्थानीयं तस्याच्छादकम्। तस्यापि केशस्थानीया वेदतद्गर्भा आच्छादका इत्यर्थ:।

१०— अथ पात्रीनिर्णेजनम्। अङ्गुलिप्रणेजनमाप्त्येभ्यो निनयति तद्यदाप्त्येभ्यो निनयति' (श० १।२।२।१८) पात्र्यङ्गुलिप्रक्षालनोदकस्य निनयनं विधत्ते--अथेति। निर्णिज्यते शोध्यतेऽनेनेति निर्णेजनम्। अङ्गुलिप्रक्षालनपात्रीनिर्णेजनच्चोदकम् अद्भ्य जातत्वात् आप्त्या त्रितादयस्तेभ्योनिनयेदित्यर्थ:। विहितं निनयनं स्तोतुमनुवदति आप्त्येभ्यो निनयतीति शतपथवचनेन स्पष्टमेवाप्त्यपदवाच्येभ्य: त्रितादिभ्य: अङ्गुलिपात्रीप्रक्षालनोदकनिनयन क्रियते, तेनाप्त्य पदनिर्देश्या: त्रितादय: देवताविशेषा एव।

११—एतेषां त्रयाणामुत्पत्तिप्रकारमाह तैत्तिरीये--देवा वै हविर्भूत्वाऽब्रुवन् कस्मिन्निदं प्रक्ष्यामहे। सोऽग्नि-

---

दोनों पुरोडाशों का नाष्ट्रादिकों से रक्षा करने के हेतु और अनग्नता के हेतु अभिवासन (आच्छादन) करना उचित ही है।

९—'सोऽभिवासयति अतमेरुर्यज्ञो अतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात्'--(श० प० १।२।२।१७) इस ब्राह्मण से अभिवासन मन्त्र का विधान किया गया है। 'अतमेरु:'=ग्लानिरहित, 'इज्यते अनेन इति यज्ञ:'--जिससे यजन किया जाता है उसे 'यज्ञ' कहते हैं। अत: यज्ञस्वरूप पुरोडाश, अभिवासन से जैसे ग्लानिरहित हुआ उसी प्रकार अभिवासन करने वाले यजमान की प्रजा भी ग्लानि रहित हो जाय--यह मन्त्रार्थ है। इस अर्थ का प्रतिपादन 'नेदेतत्' से किया गया है। यह जो अभिवासन है, उसके अनन्तर। तस्मात् अर्थात् 'अतमेरु' इस मन्त्र प्रयोग से अनुष्ठित अभिवासन कृत ग्लानि शून्यता से। 'अतमेरु:' मन्त्र से अभिवासन करने पर यज्ञ (पुरोडाश) ग्लानि रहित हो जाता है। और यजमान भी वैसी ही ग्लानि रहित प्रजा से समन्वित होने के कारण स्वयं ग्लानिरहित हो जाता है। सम्यक् रीति से पाक सिद्ध होने के लिये यह भस्म से किया जाने वाला आच्छादन रूप अभिवासन है। इस अभिवासन के प्रयोजन को तित्तिरि स्पष्टतया बता रहे हैं--'मस्तिष्को वै पुरोडाश:..................शिरश्छन्नम्'--इस तैत्तिरीय मन्त्र का यह अभिप्राय है--शिर में अवस्थित मेद के खण्ड को मस्तिष्क कहते हैं।

१०—अब पात्री निर्णेजन। 'अंगुलि प्रणेजनमाप्त्येभ्यो' (श० प० १।२।२।१८) इस शतपथ के वचन से पात्री में स्थित अंगुलि प्रक्षालन किये हुए जल के निनयन का विधान किया गया है। 'निर्णिज्यते शोधते अनेन इति निर्णेजनम्' इससे शोधन किया जाता है इसलिये उसे निर्णेजन कहा गया है। अंगुलि प्रक्षालन और पात्री निर्णेजन उदक का त्रितादि आप्त्य देवताओं के लिये निनयन करे, क्योंकि ये त्रितादि भी जल से उत्पन्न हुए हैं इसीलिये वे आप्त्य कहलाते हैं। 'तद्यदाप्त्येभ्यो निनयति' से, विहित निनयन की स्तुति करने के लिये अनुवाद किया गया है। उक्त शतपथ वचन से स्पष्ट कहा गया है कि आप्त्य पद से कहे जाने वाले त्रितादि के लिये पात्री प्रक्षालन से जल का निनयन किया जाता है। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि आप्त्य पद से जिनका निर्देश किया गया है वे त्रितादि देवता विशेष ही हैं।

११—इन तीनों की उत्पत्ति का प्रकार तैत्तिरीय में बताया है--तैत्तिरीय श्रुति का अभिप्राय यह है कि

रब्रवीत् मयि तनूः सन्निधध्वम् अहं वस्त्रं जनयिष्यामीति ते देवा अग्नौ तनूः संन्यदधत् तस्मादाहुः अग्निः सर्वा देवताः सोऽङ्गारेणापः अभ्यपालयत्। स एकतोऽजायत। स द्वितीयमभ्यपालयत्। ततोद्वितोऽजायत। स तृतीयमभ्यपालयत्। ततस्त्रितोऽजायत। यदद्भ्योऽजायन्त तदाप्त्यानामाप्त्यत्वं तदेव अप्त्येषु मृक्षतेति। अयमभिप्रायः—देवाः पूर्वं ब्रीह्यवघातादिना हविः सम्पाद्य बीजवधादिपापलेपः कस्मिन् पुरुषे मार्जनीयः इति विचार्याग्निवचनेन स्ववीर्यमग्नौ स्थापितवन्तः। ततः सोऽग्निः सर्ववीर्यधारिणाऽङ्गारेणाब्देवतामभिलक्ष्य तद्वीर्यमपातयत्। तस्मादुत्पन्नानामेकतद्वितत्रितनाम्नां देवविशेषाणामापो मातरः देवतात्मानः पितरः इत्याप्त्यनामकत्वं च युक्तम्।

१२—चतुर्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास। स यमग्रेऽग्निꣳ होत्राय प्रावृणत स प्रैवाधन्वद्यं द्वितीयं प्रावृणत् स प्रैवाधन्वद्यं तृतीयं प्रावृणत स प्रैवाधन्वदथयोऽयमेतर्ह्यग्निः समीषा निलिल्ये सोऽयः प्रविवेश। तं देवा अनुविद्य सहसैवाद्भ्य आनिन्युः सोऽपोमितिष्ठे वावष्ठ पूतास्थ या अप्रपदनꣳ स्थ याभ्यो वो मामकामंनयन्तीति तत आप्त्याः सम्बभूवुस्त्रितो द्वित एकतः। (श० १।२।३।१)

निर्णेजननिनयनस्याप्त्यभागत्वमुपपादयितुं तावत्तेषामुत्पत्तिं प्रदर्शयति—चतुर्धेति। पुरा खल्वग्निः शरीरचतुष्टयधारणेन चतुर्विधो बभूव। यमाग्निं सोऽध्वर्युः होत्राय होतृकर्मणे प्रावृणत प्रवृतवान् व्यत्ययेन बहुवचनम्। सोऽग्निः प्राधन्वत् प्रागच्छत्। अभिमतेत्यर्थः। (धवि गमने भ्वादिः) ततो द्वितीयं प्रावृणत सोऽप्यगच्छत्। त्रिष्वप्यग्निषु-प्रगतेषु अथानन्तरं योऽयमिदानीन्तनः चतुर्थोऽग्निः सोऽयं भीषा पूर्वाग्निवन्मरणभयेन निलिल्ये निलीनो बभूव। स निलीय चापः प्रविवेश। अप्सु प्रविष्टं देवा अनुविद्य ज्ञात्वा सहसैव बलादद्भ्यः सकाशादानिन्युः आजह्रुः। स च बलादानीयमानोऽग्निरपोऽभिलक्ष्य तिष्ठेव ष्ठीवनं कृतवान्। (ष्ठिवु निरसने भ्वादिः) केनाभिप्रायेण ष्ठीवनमिति दर्शयति—हे आपः या यूयं भीतस्य मम अप्रपदनं स्थ अनाश्रयभूताः स्थ याभ्यश्च वः पञ्चम्यर्थे चतुर्थी युष्मत्सकाशात् अकामं मां बलान्नयन्ति ता यूयमवष्ठ्यूताः स्थ ष्ठीवनेन दूषिता भवत। यथा लोके परैः प्रार्थितं कार्यं कर्तुमक्षमः ष्ठीवनै निन्द्यते तद्वदपां निन्दा विवक्षितेत्यर्थः। तत् निष्ठीवनलक्षणवीर्यधारणात् ताभ्योऽद्भ्यः सकाशात् त्रितद्वितएकतसंज्ञका आप्त्या उत्पन्नाः। अद्भ्यो जातत्वात्तेषामाप्त्या इति संज्ञा।

देवताओं ने कभी पूर्व समय में व्रीहि पर अवघात आदि करके हवि का सम्पादन किया, उससे जो बीजवध के पाप का लेप हुआ, उसे किस पुरुष में छोड़ें ? ऐसा विचार कर अग्नि के कहने से अपने वीर्य को अग्नि में उन्होंने रखा। तब उस अग्नि ने सम्पूर्ण वीर्य को धारण करने वाले अङ्गार के द्वारा अब् देवता को लक्ष्य कर उस वीर्य को उसमें गिरा दिया। उससे उत्पन्न हुए एकत, द्वित और त्रित संज्ञक देव विशेषों की माता अप् (जल) हुई जो देवता रूप पितर हैं। इस कारण इनकी 'आप्त्य' संज्ञा उचित है।

१२—'चतुर्धा विहितो हवा' (श० १।२।३।१) इस ब्राह्मण वाक्य के द्वारा निर्णेजन के निनयन का आप्त्य भागत्व बताने के लिये उनकी उत्पत्ति को दिखा रहे हैं—पहले किसी समय अग्नि, चार शरीर धारण करके चतुर्विध हुआ था। जिस अग्नि को अध्वर्यु ने होतृ कर्म के लिये प्रवृत्त किया था। वह अग्नि पहले ही चला गया अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो गया था। (गमन अर्थ में भ्वादिगण का 'धवि' धातु है)। तब द्वितीय को प्रवृत्त किया, वह भी चला गया। तीनों अग्नियों के इस प्रकार चले जाने पर जो यह इस समय चतुर्थ अग्नि है, वह भी पूर्व अग्नि के समान मरण के भय से छिप गया था। वह छिप कर जल में प्रविष्ट हुआ। देवताओं ने उसे जल में प्रविष्ट हुआ जानकर बल पूर्वक उसे जल में से ले आये। बल पूर्वक लाये हुए उस अग्नि ने जल पर थूक (ष्ठीवन) दिया। (निरसन अर्थ में 'ष्ठिवु' धातु, भ्वादिगण में है)। किस अभिप्राय से उसने ष्ठीवन किया, उसे दिखाते हैं—हे जल ! तुम मुझ भयभीत को आश्रय नहीं दे पाये (अनाश्रयभूत रहे)। तुम्हारे समीप से मुझे बल पूर्वक ले जा रहे हैं, इसलिये तुम मेरे ष्ठीवन से दूषित हो जाओ। जैसे लोक व्यवहार में दूसरों के अभिलषित कार्य को पूर्ण करने में असमर्थ पर थूक दिया जाता है अर्थात् उसकी निन्दा की जाती है, उसी तरह यहाँ पर जल की निन्दा विवक्षित की गई है। उस निष्ठीवन रूप वीर्य

१३—त इन्द्रेण सहचेरुः । यथेवं ब्राह्मणो राजानमनुचरति । स यत्र त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रं विश्वरूपं जघान तस्य हैतेऽपि वध्यस्य विदाञ्चक्रुः । शश्वद्धैनं त्रित एव जघानात्यहतदिन्द्रोऽमुच्यत देवोहि सः ।' (श० १।२।३।२)

तेषां पात्रीनिर्णेजनोदकं भाग इत्येतत्प्रतिपादनायाह—यथेदानीं पुरोहितो ब्राह्मणो देशाधिपतिं राजानमनुसृत्य चरति तद्वदेव ते त्रितादयोऽपि—इन्द्रेण सार्धं तदनुसारेणावस्थिता असन् । स चेन्द्रो यत्र समये सोमपानादि साधनैः त्रिभिः शिरोभिरूपेतं त्वष्टुः पुत्रं विश्वरूपं जघान तस्मिन् समये त्रितादयोऽपि तस्य वदपस्य (कर्मणि षष्ठी) तं वध्यं विदाञ्चक्रुः । 'उपविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्' (पा० सू० ३।१।३८) इति विदेर्ज्ञानार्थात् आम् प्रत्ययः । अनन्तरमेनं विश्वरूपं त्रित एवेन्द्रसहायार्थं जघान । इन्द्रश्च तद्धननजनितपापात् अत्यमुच्यत । यस्मात्सइन्द्रोदेवोऽतोऽस्मिन् पापश्लेषो न युक्तः ।

१४—त उ हैत ऊचुः । उपैत्वेमऽएनो गच्छन्तु येऽस्य वध्यस्यावेदिषुरिति । किमिति यज्ञ एवेषुमृष्टामिति । तदेष्वेतद्यज्ञो मृष्टे यदेभ्यः पात्रीनिर्णेजनमङ्गुलिनिर्णेजनं निनयन्ति (श० १।२।३।३)

एवं विश्वरूपहननानन्तरं जनैः कृतं संवादं दर्शयति—ते लौकिकाजना विश्वरूपहननानन्तरमेतदूचुः—उपैवेति—ये खल्वस्य वध्यस्य वेदिषुः अज्ञासिषुः इमे एनः पात्रमुपगच्छन्तु । तदेनः किंरूपमिति प्रश्नपूर्वकमाह किमितीति । एषु त्रितादिषु यत् विश्वरूपवधजनितमेनः यज्ञ एव तत् एनः मृष्टाम् मृजीत । अश्लेषयदित्यर्थः । अतो यदेषां त्रयाणां पात्रीनिर्णेजनादि निनयनम् एतान् एतेन एषु त्रितादिषु तत् विश्वरूपहननजनितमेनो यज्ञो विमृष्टे विश्लेष्यति । तस्मादवहननपेषणादिजनितस्यैनसो रूपं पात्र्यादिनिर्णेजनमाप्त्येभ्यो निनेतव्यमित्यर्थः ।

१५—त उहाप्त्या ऊचुः अत्येव वयमिदमस्मत्परो नयामेति कमभीति य एवादक्षिणेन हविषा यजाता इति । तस्मान्नादक्षिणेन हविषा यजेताप्त्येषु ह यज्ञो मृष्ट आप्त्या उह तस्मिन् मृजते यो दक्षिणेन यजते ।' (श० १।२।३।४)

को धारण करने वाले जल (अप्) से त्रित, द्वित, एकत संज्ञक आप्त्य देवों की उत्पत्ति हुई है। अप् से उत्पन्न होने के कारण उन्हें 'आप्त्य' संज्ञा प्राप्त हुई है।

१३—'त इन्देण चेरुः ·········· देवो हि सः'—(श० १।२।३।२) उन आप्त्यों का यज्ञों में भाग, पात्री निर्णेजन नामक उदक है, यह बताने के लिये कह रहे हैं—जिस प्रकार आजकल पुरोहित ब्राह्मण देशाधिपति राजा का अनुसरण कर चलता है, उसी प्रकार वे त्रितादि देवता भी इन्द्र के साथ उसके अनुसार रहने लगे। जिस समय उस इन्द्र ने सोम पानादि के साधनभूत तीन शिर वाले त्वष्टृ पुत्र विश्वरूप को मारा उस समय त्रितादि देवों ने भी उस विश्वरूप को वध्य समझा। 'तस्य वध्यस्य' में 'उपविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्' (पा० सू० ३।१।३८) इस पाणिनि सूत्र से ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से 'आम्' प्रत्यय किया गया है। तदनन्तर उस त्रित ने ही इन्द्र की सहायता करने के लिये विश्वरूप को मार दिया। और उसके हनन करने के पाप से इन्द्र को मुक्त रखा, क्योंकि वह इन्द्र देवों का राजा है इस कारण उसे पाप का सम्बन्ध होने देना उचित नहीं है।

१४—'त ऊ हैत ऊचुः··············निनयन्ति।' (श० १।२।३।३) इस ब्राह्मण के द्वारा विश्वरूप की हत्या करने के अनन्तर लोगों ने जो संवाद किया उसे बताया जा रहा—वे लौकिक जन विश्वरूप का हनन करने के अनन्तर यह कहने लगे कि जिन्होंने इस वध्य को जाना था उन्हें यह पाप लगे। वह पाप किस स्वरूप का था ? इस प्रश्न पर कहा गया है कि त्रितादिकों में विश्वरूप के वध से उत्पन्न हुआ जो पाप है वह यज्ञ रूप ही है, वही उस पाप से सम्बद्ध हुआ अतः इन तीनों के लिये जो पात्री निर्णेजनादि निनयन है, उसके द्वारा इन त्रितादिकों से विश्वरूप हनन जनित पाप रूप यज्ञ सम्बद्ध हो जाता है। इसलिये अवहनन-पेषणादि से उत्पन्न पाप का रूप, पात्र्यादि निर्णेजन है, उसे आप्त्य देवों के लिये देना चाहिये।

१५—'त उहाप्त्या ऊचुः अत्येव·············यजवे' (श० १।२।३।४) इस ब्राह्मण के द्वारा उस पाप की

अथ तस्यैनसस्तैरपिकृतां निष्कृतिं दर्शयति—दक्षिणावतैव यज्ञेन यष्टव्यं नादक्षिणेनेति। प्रसङ्गादाह—त उहेति। वयमपीदमेनं परः परस्तादन्यत्राधारान्तरे अस्मत् अस्मत्तो नयामेति। कमभोति—कं पुरुषमभिलक्ष्येत्यर्थः। य एव दक्षिणारहितेन हविषा यजेत तस्मिन्निति शेषः। अदक्षिणयागनिषेधं विपक्षबाधोपन्यासेनोपपादयति—आप्त्येति। आप्त्या उ ह तस्मिन् मृजते एनः योऽदक्षिणेन यजते। एतावता सन्दर्भेण त्रितादयो देवविशेषा एव सिद्धचन्ति। न त्रयाणां भावस्त्रिता द्वयोर्भावो द्वितेत्यादिप्रमाणविरुद्धत्वात्।

१६—ततो देवा एतां दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणामकल्पयन् यदन्वाहार्यं नेददक्षिण ७ं हविरसदिति। तन्नाना-निनयति। तथैतेभ्यो समदं करोति तदभितपति तथैषा ७ं श्रुतं भवति। सनिनयति त्रितायत्वा द्वितायत्वैकतायत्वेति। पशुर्ह वा एष आलभ्य ते यत्पुरोडाशः (श० १।२।३।५)

प्रसङ्गाद्दर्शपूर्णमासयोरन्वाहार्यरूपां दक्षिणामाह--ततो देवा इति। अन्वाहरति यज्ञसम्बन्धिदोषजातं परि-हरत्यनेनेत्यन्वाहार्यो नाम ऋत्विग्भ्योदेयओदनः। तथा च तैत्तिरीयकम्--यद्वै यज्ञस्य क्रूरं यद्विश्लिष्टं तदन्वाहार्येणै-वान्वाहरति तदन्वाहार्यस्वान्वाहार्यत्वम्। तत आप्त्यानां निनयनम् पृथक् पृथगेव कार्यम्। तथा सत्यकलहो भविष्यति। एवं संस्कृतं पुरोडाशं पशुत्वेन स्तौति। तत्रैवार्थवादः--देवाः पुरुषं पशुमालेभिरे। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम। सोऽश्वं प्रविवेश। तेऽश्वमालभन्त। ततो मेधोऽपचक्राम। एवं पुरुषाश्वादि पशुषु आलब्धेषु तत स्ततो निष्क्रान्तो मेधोऽन्ते पृथिवीं प्रविष्टवान्। तं पृथिवीं खनन्तो देवा अन्वीषुः। पृथिव्यां व्रीहियवादिरूपेण परिणतं मेघं देवाः प्राप्तवन्तः मेधा विपरिणामरूपत्वादेव इदानीमपि एतौ व्रीहियवौ मेधवत्कर्षणलक्षणेन खननेन लभन्ते कर्षकाः। तेन व्रीहियवयोः सर्वपशु-सारत्वं विदुषो यजमानस्य तन्निष्पादितं पुरोडाशादिकं हविस्तावद्वीर्यवद् भवति। एवं सर्वपशुसारत्वात् लोमत्वगादिपश्वा-वयवयोगाच्च पुरोडाशः पशुरूप उक्तः।

उनके द्वारा कही गई निष्कृति बताते हैं— कि दक्षिणा युक्त ही यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये, दक्षिणा रहित यज्ञ न करे। प्रसङ्ग से कहते हैं—हम भी इस पाप को अपने से भिन्न दूसरे आधार में पहूँचाते हैं। कौन पुरुष इस पाप का आधार होगा ? जो कोई दक्षिणा रहित हवि से याग करेगा, वह इस पाप का आधार होगा। अदक्षिण याग के निषेध को विपक्ष बाध का उपन्यास करते हुए बताते हैं—वे आप्त्य कहते हैं कि उसमें यह पाप सम्बद्ध होता है, जो दक्षिणा रहित याग करता है। इस उक्त सन्दर्भ से त्रितादि, देवविशेष ही सिद्ध होते हैं। अतः तीनों के भाव (धर्म) को त्रिता और दोनों के भाव (धर्म) को द्विता कहना प्रमाण विरुद्ध है।

१६—'ततो देवा एतां··············यत्पुरोडाशः।' (श० १२।।३।५) प्रसङ्ग प्राप्त दर्शपूण मास में अन्वाहार्य रूप दक्षिणा को उक्त ब्राह्मण से कह रहे हैं। यज्ञ सम्बन्धि दोष समूह को जिसके द्वारा दूर किया जाता है, उसे 'अन्वाहार्य' कहते हैं, जो ऋत्विजों को दिया जाने वाला 'ओदन' है। इसी प्रकार तैत्तिरीय श्रुति भी कह रही है—जो कुछ यज्ञ में पाप या न्यूनता रहती है, वह सब अन्वाहार्य से ही दूर हो जाती है यही अन्वाहार्य की अन्वाहार्यता है। अतः आप्त्यों के लिये पृथक् पृथक् ही निनयन करना चाहिये। ऐसा करने पर ही होम अविकल (सम्पूर्ण) हो सकेगा। इसी प्रकार संस्कृत हुए पुरोडाश की पशु रूप में स्तुति की गई है। वहीं पर इस प्रकार का अर्थवाद है—देवों ने पुरुष पशु का आलम्भन किया। उस आलब्ध पशु को मेघ ले गया, और वह अश्व में प्रविष्ट हुआ। तब देवों ने अश्व का आलम्भन किया, तब उसे भी मेघ ले गया। इस प्रकार आलब्ध हुए पुरुषाश्वादि पशुओं को अपहरण करके निकल जाने वाला मेघ पृथिवी में प्रविष्ट हुआ। तब पृथिवी को खोदते हुए देवों ने उसका अन्वेषण करना आरम्भ किया। पृथिवी पर व्रोहि–यवादि के रूप में परिणत हुए मेघ को देवों ने प्राप्त कर लिया। मेघ के परिणत हुए रूप के कारण ही आज भी इन व्रीहि–यवों को मेघवत् कर्षण लक्षण खनन से कृषक लोग प्राप्त करते हैं। इसी कारण व्रीहि–यवों में सम्पूर्ण पशुओं की सारता होती है। विद्वान् यजमान का उनसे निष्पादित पुरोडाशादि हवि भी वैसा ही वीर्यवान् होता है। इस रीति से व्रीहि-यवों को सर्व पशु सार बताने के कारण लोम, त्वक् आदि पश्वावयवों के सम्बन्ध से पुरोडाश को पशु रूप कहा गया है।

१७—यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति यदाप आनयत्यथ त्वग्भवति यदा संयौत्यथ मा ᳪ सम्भवति सन्तत इव वहि: स तर्हि भवति हि मा ᳪ सं यदा श्रृतोथास्ति दारुण इव हि सम्भवति दारुणमिव ह्यस्थ्यथ यदु द्वासपिष्यन्नभिधारयति तं मज्जा न दधात्येषो सा संपश्च तदाहु: पाङ्क्त: पशुरिति।' (श० १।२।३।६-८) इत्यादिना पुरोडाशे लोमत्वगादि कल्पनयापि पशुत्वमुक्तम्। देवैरालब्धानामपक्रान्तमेधानां पुरुषादिपशूनां परिणामविशेषं दर्शयंस्तस्य प्रसङ्गादभक्ष्यतामाह—

स यं पुरुषमालभन्त स किं पुरुषो भव द्यावश्वं गाञ्च तौ गौरश्च गवयश्चाभवतां यमविमालभन्त स उष्ट्रोऽभवद्यमजमालभन्त स शरभोऽभवत्तस्मादेतेषां पशूनां नाशितव्यमपक्रान्तमेधाह्येतेपशव: (श० १।२।३।९)

१८—अध्यात्मपक्षेऽपि - संसारतापतप्तान् जीवान् परमेश्वरो वेदपुरुषोवाऽऽश्वासयति—हे आत्मन् माभै: मा भैषी: मा च संविक्था उद्वेगं च मा कार्षी:। परमेश्वराराधनलक्षणो यज्ञ: अतमेरु:, तमेरुर्ग्लानि र्न भवति यस्मात् सोऽतमेरु:। स्वप्रकाशब्रह्मसम्बन्धिनि यज्ञे ब्रह्मसम्बन्धित्वादेवातमेरुता तत्संसर्गान्न केवलं यजमाने किन्तु तत्प्रजादिष्वप्यतमेरुताऽभिव्यज्यते। तथा सति कुतो भयोद्वेगावकाश:। यजमानस्य प्रजा अतमेरुर्भूयात् भवतीत्यर्थ:। भयोद्वेगराहित्याय त्वा त्वां त्रिताय द्विताय एकताय निश्चयेन तपोभिस्त्रितादिमहर्षीणां यद्वैशिष्ट्यं तत्र त्वामुपलभामि। महाभारतानुसारेण त्रितादिमहर्षयो भगवद्दर्शनाय बहुकालं यज्ञं कृतवन्त:, तपस्तप्तवन्त: किन्तु भगवद्दर्शनं न जातम्। पुनस्तप्तवन्त: पुन: पुनर्वैकल्येऽपि तेऽनिर्विण्णास्तपस्तप्तवन्त:। ततो भगवद्दर्शनं जातम्। तस्मादेतान् त्रितं द्वितमेकतञ्च स्मृत्वा अनिर्विण्ण: अनुद्विग्नोऽभीत: सन् भगवदाराधनलक्षणे यज्ञे संल्लग्नोभवेत्यर्थ:।

१७—'यद पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति' (श० १।२।३।६-७) इत्यादि ब्राह्मण वाक्यों से पुरोडाश में लोम–त्वक् आदि की कल्पना करके भी उसे पशु कहा गया है।

देवों के द्वारा आलम्भन किये गये और मेघ के द्वारा अपहरण किये गये पुरुषादि पशुओं के परिणाम विशेष को प्रदर्शित करते हुए प्रसङ्गत: उसे अभक्ष्य बताते हैं। 'स यं पुरुषमालभन्त'—(श० १।२।३।९) इस वचन से यह बताया गया है कि पुरुषादि पशुओं का मांस भक्षण नहीं करना चाहिये, क्योंकि मेघ के द्वारा उनका अपहरण होने से वे अयज्ञिय हो गये हैं।

१८—अध्यात्म पक्ष में भी संसार ताप से सन्तप्त हुए जीवों को परमेश्वर अथवा वेदपुरुष आश्वासन दे रहा है—हे आत्मन्! मत डरो, और उद्वेग भी मत करो। परमेश्वराराधन रूप यज्ञ 'अतमेरु' अर्थात् ग्लानिकारक नहीं है। 'तमेरु:'=ग्लानि: न भवति यस्मात् स: अतमेरु: यानी जिससे ग्लानि नहीं होती है, उसे 'अतमेरु:' कहते हैं। स्वप्रकाश ब्रह्म सम्बन्धि यज्ञ में अतमेरुता इसलिये है, कि वह ब्रह्म से सम्बन्धित है। उसके संसर्ग से केवल यजमान में ही नहीं, किन्तु उसकी प्रजा आदि में भी अतमेरुता अभिव्यक्त होती है। उस स्थिति में कहाँ भला भय और उद्वेग के लिये अवसर है? निष्कर्ष यह है कि यजमान की प्रजा अतमेरु (ग्लानिरहित) होती है। भय और उद्वेग से राहित्य प्राप्त होने के लिये तुम्हें मैं त्रितादि महर्षियों को तप आदि के द्वारा जो वैशिष्ट्य उपलब्ध हुआ था। वैसा ही वैशिष्ट्य तुम्हें निश्चित रूप से प्राप्त करूँगा। महाभारत के अनुसार त्रितादि महर्षियों ने (त्रित, द्वित और एकत ने) भगवद्दर्शन प्राप्त करने के लिये बहुत समय तक यज्ञ किया था। तप भी तपा था, किन्तु भगवद्दर्शन उन्हें नहीं हुआ। पुन: उन्होंने तप किया, पुन:-पुन: विफलता पाते हुए भी वे निर्विण्ण (खिन्न) नहीं हुए और तप करते ही गये। तब उन्हें भगवद्दर्शन हो गया। इसलिये उन त्रित, द्वित और एकत महर्षियों का स्मरण कर निर्विण्ण, उद्विग्न, भयभीत न होते हुए भगवदाराधन लक्षण यज्ञ में संल्लग्न रहो।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् आददे-
ऽध्वरकृतं देवेभ्य इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः सहस्रभृष्टिः शततेजा वायुरसि
तिग्मतेजा द्विषतो वधः ॥ वा० सं० १।२४ ॥

अर्थ—हे स्फ्य ! प्रेरक देवता की प्रेरणा से अश्विनी कुमारों के बाहुओं से और पूषा देवता के हाथों से मैं देवोपकारार्थ यज्ञ करने वाले तुमको ग्रहण कर रहा हूँ। तुम इन्द्र के दक्षिण हाथ हो तथा सहस्रशः शत्रुओं को मारने वाले हो, अत्यधिक प्रकाशमान होकर वायु के समान हो, इस कारण तीक्ष्ण तेज के धारण करने वाले हो और कर्म से द्वेष रखने वाले शत्रुओं के घातक हो ॥२४॥

१—'देवस्य त्वेति स्फ्यमादाय सतृण ँ सव्येकृत्वा दक्षिणेनालभ्य जपतीन्द्रस्यबाहुरिति' (का० श्रौ० सू० २।६।६) देवस्यत्वेति तृणं स्फ्यमादाय तं वामहस्ते निधाय वामहस्तस्थमेन सतृणं स्फ्यं दक्षिणेन स्पृष्ट्वा इन्द्रस्येति मन्त्रं जपेत्। एतत्स्फ्यादानजपश्च स्तम्बयजुर्हरणर्थत्वात् तद्भावे न भवति। प्रहरणादिपुरीषनिवपनान्तं स्तम्बयजुर्हरणशब्देनोच्यते। स्फ्यशब्देन दारुमयोऽरत्निप्रमाणः खननहेतुर्यज्ञायुधविशेष उच्यते।

२—देवस्य त्वेति व्याख्यातमेव। शेषस्येत्थं व्याख्यानम्—देवेभ्यो देवोपकारार्थम् अध्वरकृतं अध्वरं करोति वेदिखननादिद्वारेणेत्यध्वरकृतम् स्फ्यमहमाददे गृह्णामि। सतृणं स्फ्यं सव्ये हस्ते कृत्वा दक्षिणेनालभ्यं जपतीन्द्रस्य बाहुरिति। हे स्फ्य त्वमिन्द्रस्य दक्षिणो बाहुरसि। तेन बाहुना धृतत्वात् तत्समानवीर्यत्वाद्वा स्फ्यस्य बाहुरूपत्वोपचारः। एष वै वीर्यवत्तमो य इन्द्रस्य बाहुर्दक्षिणः। कथंभूतः स्फ्यः सहस्रभृष्टिः सहस्रसंख्याकानां शत्रूणां भृष्टिर्भर्जनं मारणं येन सः, तथा शततेजा शतं तेजांसि यस्य सः बहुधा दीप्यमानः। वायुरसि वायुसदृशोऽपि असि। तिग्ममुत्साह एव तेजो यस्य

१—'देवस्यत्वेति स्फ्यमादाय'—(का० श्रौ० सू० २।६।६) 'देवस्यत्वा'—मन्त्र कहकर तृण के सहित स्फ्य को लेकर वाम हस्त में धारण करे, वाम हस्त में रखे हुए तृण सहित स्फ्य का दक्षिण हस्त से स्पर्श करके 'इन्द्रस्य' मन्त्र का जप करे। यह स्फ्य का आदान और जप, स्तम्बयजुर्हरण के लिये होता है, अतः स्तम्बयजुर्हरण के अभाव में उसे नहीं किया जाता। प्रहरण से लेकर पुरीषनिवपन तक के कर्म को 'स्तम्बयजुर्हरण' शब्द से कहा जाता है। और काष्ठ का अरत्निप्रमाण का खोदने के साधनभूत यज्ञायुध विशेष को 'स्फ्य' शब्द से कहा जाता है।

२—'देवस्य त्वा' की व्याख्या पूर्व की जा चुकी है। अवशिष्ट की व्याख्या इस प्रकार है—देवों के उपकारार्थ वेदिखननादि के द्वारा जो अध्वर करता है उस अध्वर कृत स्फ्य को मैं ग्रहण करता हूँ। तृण सहित स्फ्य को बाँये हाथ में लेकर दाहिने हाथ से उसे स्पर्श करके 'इन्द्रस्य बाहुः' मन्त्र का जप करता है। हे स्फ्य ! तुम इन्द्र के दक्षिण बाहु हो। उसने उसको बाहु से धारण किया है, इस कारण अथवा उसके समान उसमें वीर्य होने के कारण स्फ्य में बाहुरूपता का उपचार किया है। जो यह इन्द्र का दक्षिण बाहु है, वह समस्त वीर्यवानों में श्रेष्ठतम है। वह स्फ्य सहस्रभृष्टि है, अर्थात् एक सहस्र शत्रुओं को मारने वाला है, और अनेक प्रकार से दीप्यमान रहता है। वह वायु के समान भी है। उत्साह ही जिसका तेज है। अथवा तीक्ष्ण (प्रखर) तेज वाला है। जैसे वायु, वह्नि को प्रदीप्त कर तीव्र ज्वाला को पैदा करता हुआ तिग्म (तीक्ष्ण, प्रखर) तेजस्वी होता है, उसी प्रकार स्फ्य भी स्तम्बच्छेदनरूप

स तिग्मतेजाः। तेजतेरुत्साहकर्मत्वात्। तिग्माग्नि तीक्ष्णानि वा तेजांसि यस्य। यथावायुर्वह्निप्रदीप्य तीव्रां ज्वालामुत्पादयन् तिग्मतेजा भवति तथैव स्फ्योऽपि स्तम्बच्छेदरूपं कर्म कुर्वंस्तीव्रतेजाभवति। तथा द्विषतोवधः, द्विषतः शत्रोः कर्मद्वेषिणामसुराणां वा वधः वधकः हन्ता। स्फ्यस्य काष्ठमयत्वेऽपि मन्त्रबलात्तत्रेन्द्रबाहुत्वसहस्रभृष्टित्वशततेजस्त्व वायुत्वतिग्मतेजस्त्व द्विषद्धन्तृत्वानि भावनीयानि।

३—स्वामिदयानन्दस्तु—'अहमन्तर्यामिणः प्रेरणया अश्विनोः सूर्यचन्द्रयोः अध्वर्यूणां वा बाहुभ्यां बलवीर्याभ्यां तथा पूष्णः पुष्टिकारकवायोः हस्ताभ्यां ग्रहण धारणहेतुभ्यां उदानापानाभ्यां देवेभ्यो विद्वद्भ्यो दिव्यसुखेभ्यो वा अध्वरकृतमध्वरसम्पादकसामग्रीसमूहं त्वा तं यज्ञमाददे यो मयानुष्ठितो यज्ञः स इन्द्रस्य सूर्यस्य सहस्रभृष्टिः पदार्थसहस्रपचनक्षमः शततेजा बाहुः किरणसमूहः वायुः गमनागमनशीलः पवनः, तिग्मतेजा तीक्ष्णतेजा अस्ति तेनास्माभिः दिव्यानि सुखानि प्राप्तव्यानि शत्रुवधश्च कर्त्तव्य। ईश्वर आज्ञापयति—मनुष्यैः सम्पादितो यज्ञोऽग्निनोर्ध्वं प्रक्षिप्तद्रव्यः सूर्यकिरणस्थो वायुना धृतः सर्वोपकारी भूत्वा सहस्राणि सुखानि प्रापयित्वा दुखानां नाशको भवतीति' आह,

४—सर्वोऽप्ययं तदीयोऽर्थस्तदीयकल्पनासारो मूलाक्षराननुगतोऽसङ्गतश्च। सर्वान्तर्यामिणः प्रेरणयैव सर्वं कार्यं चेत् किं विशेषणमविशिष्टमिदमेव तत्प्रेरणयेति तत्र मानं वक्तव्यम्। तथैवाश्विनोर्बाहुभ्यां सूर्यचन्द्रयोर्बलवीर्याभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामुदानापानाभ्यां सर्वं कार्यं भवति चेत् किं विशेषणेन इदमेवेति चेत् तदपि प्रमाणापेक्षमेव। यज्ञश्च पूर्वोक्तस्त्रिविधः विद्वत्सेवा होमसत्सङ्गादिरूप एव स कथं सूर्यस्य किरणरूपोपि बाहुः सम्भवति? एवं सहस्र-

---

कर्म करता हुआ तीव्र तेजस्वी होता है। तथा यज्ञादि कर्मों के द्वेष्टा असुरादि शत्रुओं का वह वध कर देता है। स्फ्य के काष्ठमय रहने पर भी मन्त्र बल से उसमें इन्द्रबाहुत्व, सहस्रभृष्टित्व, शततेजस्त्व, वायुत्व, तिग्मतेजस्त्व द्विषद्धन्तृत्व की दृष्टि करनी चाहिये।

३—स्वामी दयानन्द तो उक्त मन्त्र का अर्थ यह बताते हैं—'मैं अन्तर्यामी की प्रेरणा से अश्विन अर्थात् सूर्य और चन्द्र के अथवा अध्वर्यु के बाहुओं अर्थात् बल और वीर्य से तथा पूषा अर्थात् पुष्टिकारक वायु के हाथों से अर्थात् ग्रहण-धारण करने में हेतुभूत उदान और अपान से देवों के लिये अर्थात् विद्वानों के लिये अथवा दिव्य सुख वालों के लिये अध्वर कृत यानी अध्वर सम्पादक सामग्री समूह रूप 'त्वा' यानी उस यज्ञ को मैं करता हूँ, जो मेरे द्वारा अनुष्ठित हुआ यज्ञ है, वह इन्द्र अर्थात् सूर्य के सहस्त्र भृष्टिः सहस्र पदार्थों को पकाने में समर्थ है, शततेजा बाहु अर्थात् किरण समूह, वायु अर्थात् गमनागमन शील पवन, तिग्मतेजाः अर्थात् तीक्ष्ण तेज का है। अतः उससे हमें दिव्य सुखों को प्राप्त करना चाहिये और शत्रुओं का वध करना चाहिये। ईश्वर आज्ञा दे रहा है कि मनुष्यों के द्वारा सम्पादित हुआ यज्ञ, जिसके द्रव्यों को अग्नि ने ऊपर फेंक दिया है, जो यज्ञ, सूर्य की किरणों में स्थित है और वायु ने जिसको धारण किया है, वह सबका उपकारक होकर हजारों सुखों को प्राप्त कराकर दुःखों का नाशक होता है।'

४—किन्तु स्वामी दयानन्द का किया हुआ यह सपूर्म्ण अर्थ उनका कपोलकल्पित ही है, क्योंकि मन्त्र के अक्षरों से उस अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं बैठ रहा है। तथा स्वामीजी की स्वयं की हुई कल्पना भी नितान्त असङ्गत है। सर्वान्तर्यामी की प्रेरणा से ही समस्त कार्य होते हैं, तब 'विशिष्ट यही कार्य उसकी प्रेरणा से हो रहा है' इस कथन में उन्हें प्रमाण देना चाहिये था। बिना प्रमाण के ही जो मन में आया सो कह डाला। तथैव 'अश्विनोर्बाहुभ्यां' सूर्य-चन्द्र के बल-वीर्य से 'पूष्णो हस्ताभ्यां' उदान-अपान से सम्पूर्ण कार्य होता है तो विशेषण देने की आवश्यकता क्या है? यदि आवश्यकता समझते हैं, तो प्रमाण उपस्थित करना चाहिये था, किन्तु कोई प्रमाण नहीं दे पाये। अतः प्रमाणरहित सारी कल्पना स्वामीजी ने कर डाली है। और पहले बताया हुआ यज्ञ तीन प्रकार का है—(१) विद्वत्सेवा, (२) होम और (३) सत्सङ्ग आदि। वह सूर्य की किरण रूप बाहु कैसे सम्भव हो सकता है? तथा सहस्रभृष्टित्वादिक भी उसमें कैसे सम्भव हो सकता है? दिव्य सुख और शत्रु वध भी उससे कैसे सिद्ध होगा? समाजी लोग प्रतिदिन

भृष्टित्वादिकमपि तत्र कथं सम्भवति ? दिव्यानि सुखानि शत्रुवधश्चापि कथं तेन सेत्स्यति ? सामाजिकाः प्रत्यहं त्वदभिमतं यज्ञं कुर्वन्त्येव न च दिव्यानि सुखानि शत्रुवधश्च तेषु दृश्यन्ते शतपथे तु त्वद्विपरीतः सायणादिसम्मत एवार्थो निरूपितः ।

५—तथाहि—इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार । स प्रहृतश्चतुर्धाऽभवत्तस्य स्फ्यस्तृतीयः यावद्वा यूपस्तृतीयं यावद्वा रथस्तृतीयं वा यावद्वाथ यत्र प्राहरत्तच्छकलोऽशीर्यत । स पतित्वा शरो नाम । यदशीर्यतैवमु स चतुर्धाभवत् ।' (श० १।२।४।१)

तत्र वेदिकरणार्थं स्फ्यादानविधिमनुसृत्य स्फ्यस्य वज्ररूपत्वं वक्तुमितिहासमाचष्टे—वृत्राय प्रहृतं वज्रं चतुर्धा भवत्तस्य स्फ्यस्तृतीयांशः । न्यूनाधिकराहित्येन तृतीयांशत्वज्ञानं दुर्लभमित्यभिप्रेत्य पक्षान्तरमाह—तृतीयाद्-भागान्न्यूनमधिकं यावदेव किञ्चित् तावानेव स्फ्यः । एवं यूपस्तृतीयः । चतुर्थभागस्य परिणामप्रकारमाह—अथ यत्र प्राहरत् इति । यत्र देशे प्रहृतो वज्रः शकलोभूत्वा शीर्यत शीर्णोऽभूत् स च शीर्णो भूत्वा भूमौ पतित्वा शरोऽभवत् । ततोद्वाभ्यां ब्राह्मणा यज्ञे चरन्ति द्वाभ्यां राजन्यबन्धवः संव्याधे यूपेन स्फ्येन च ब्राह्मणाः रथेन च शरेण राजन्यबन्धवः संव्याधे युद्धे तत्र तेषां चतुर्णां मध्ये यूपेन स्फ्येन ब्राह्मणा रथेन शरेण च क्षत्रियाश्चरन्ति ।

६—'स यत् स्फ्यमादत्ते । यथैव तदिन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छदेवमेवैष एतं पाप्मने द्विषते भ्रातृव्याय वज्रमुद्-यच्छति तस्माद्वै स्फ्यमादत्ते ।' (श० १।२।४।३)

अथ तस्य स्फ्यादानं विधत्ते स यदिति । तद्यच्छब्दाभ्यां प्रसिद्धिरभिधीयते । स प्रसिद्धोऽध्वर्युः स्फ्यमादत्ते वृत्रवधार्थमिन्द्रवद्द्वेषणशीलं पापरूपं शत्रुं हन्तुं स्फ्यलक्षणं वज्रमुद्यच्छतीत्यर्थः ।

७—तमादत्ते—देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णोहस्ताभ्यामाददेऽध्वरकृतं देवेभ्य इति । सविता

तुम्हारे अभिमत यज्ञ को करते ही हैं । किन्तु उनमें दिव्य सुख और उनके शत्रुओं का वध हुआ नहीं दीखता । शतपथ में तो तुम्हारे विपरीत, सायणादि सम्मत अर्थ ही बताया गया है ।

५—जैसे—'इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं .... चतुर्धाभवत् ।' (श० प० १।२।४।१) वहाँ वेदि के निर्माणार्थ स्फ्यादान की विधि का अनुसरण कर स्फ्य की वज्ररूपता को बताने के लिये इतिहास कर रहे हैं—वृत्रासुर पर प्रहार किया हुआ वज्र चतुर्धा विभक्त हुआ । उनमें जो तृतीय अंश (भाग) है, वह स्फ्य है । न्यूनाधिक्य के राहित्य से तृतीयांश का ज्ञान हो पाना कठिन है, यह सोचकर दूसरा पक्ष बताते हैं—तृतीय भाग से कम-ज्यादा (न्यूनाधिक) जो कुछ भी हो, उतना ही स्फ्य है । इस प्रकार तृतीय भाग जो है, वह यूप है । चतुर्थ भाग के परिमाण प्रकार को बताते हैं—जिस देश (स्थान) पर प्रहार किया हुआ वज्र, शकल (टुकड़ा) होकर शीर्ण हुआ, और शीर्ण होकर भूमि पर जो गिरा वही शर हो गया । इसलिये यज्ञ में ब्राह्मण लोग दो का व्यवहार करते हैं, और राजन्यबन्धु (क्षत्रिय) युद्ध में दो का व्यवहार करते हैं । अर्थात् ब्राह्मण यज्ञ में यूप और स्फ्य इन दो का उपयोग करते हैं । और क्षत्रिय लोग युद्ध में रथ एवं शर का उपयोग करते हैं ।

६—'स यत् स्फ्यमादत्ते । यथैव तदिन्द्रो' (श० प० १।२।४।३) इस शतपथ ब्राह्मण के द्वारा 'स्फ्य' के आदान का विधान किया जा रहा है । ब्राह्मण में प्रयुक्त 'तद् और यद्' इन दो शब्दों के प्रयोग से उसकी (अध्वर्यु की) प्रसिद्धि बताई गई है । यज्ञीय व्यवहार में प्रसिद्ध अध्वर्यु 'स्फ्य' का ग्रहण करता है । अर्थात् इन्द्र से द्वेष रखने वाले पापी शत्रु वृत्रासुर के वधार्थ स्फ्य रूप वज्र को वह अध्वर्यु हाथ में लेता है ।

७—'तमादत्ते । देवस्य त्वा सवितुः' (श० प० १।२।४।४) पूर्वोक्त ब्राह्मण से विहित आदान का इस ब्राह्मण के द्वारा अनुवाद कर मन्त्र का विधान किया जा रहा है । यद्यपि 'देवस्यत्वा' यह मन्त्र पहले आ चुका है, तथापि

वै देवानां प्रसविता तत्सवितृप्रसूत एवैनमेतदादत्तेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूषाभागदुघस्तत्तस्यैव हस्ताभ्यामादत्तेन स्वाभ्यां वज्रो वा एष तस्य न मनुष्योभर्ता तमेताभिर्देवताभिरादत्ते (श० १।२।४।४)

८—विहितमादानमनूद्य मन्त्रं विधत्ते तस्मादत्त इति। देवस्य त्वेति मन्त्रस्य प्रागाम्नातमपि ब्राह्मणं विधेय-विशेषे योजयितुं पुनराम्नायते सविता वा इत्यादिना। न स्वाभ्यां देवसम्बन्धिभ्यां बाहुभ्यां स्फ्यादानं न तु स्व-कीयाभ्यां लौकिकाभ्याम्। युक्तं चैतदित्याह वज्रो वेति। एष स्फ्यो वज्रस्तत्परिणामत्वात्। न हि मनुष्यस्तद्वज्रं भर्तुं शक्नोति अतो देवस्य त्वेति मन्त्रं प्रयुञ्जानस्तं स्फ्यलक्षणं वज्रं सवित्रादिदेवताभिरेवादत्ते आदानं कृतवान् भवति।

९—'आददेऽध्वरकृतं देवेभ्यः। अध्वरो वै यज्ञो यज्ञकृतं देवेभ्य इत्येवैतदाह—त ँ सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणे-नाभिमृश्य जपति स ँ श्यत्येवैनमेतद्यज्जपति (श० १।२।४।५)

आदद इति। ध्वरः हिंसाप्रत्यवायो वा नविद्यतेऽस्मिन्नित्यध्वरः, अध्वरशब्दस्य यज्ञोर्थः। अध्वरं करोतीति वेदिखननादिद्वारा अध्वरकृत्। तथा च यज्ञकृतं स्फ्यं देवेभ्यः देवोपकारार्थमादद इत्युक्तं भवतीत्यर्थः। स ँ श्यत्ये-वैनमिति वक्ष्यमाण जपतीति यत् एतत् एतेनैनं संश्यत्येव सम्यक् तनूकरोति तीक्ष्णीकरोत्येव (शो तनूकरणे) दिवादिः।

१०—यदिन्द्रस्य बाहुरसीत्यादि मन्त्रं जपति तेन वज्ररूपं स्फ्यं तीक्ष्णीकरोतीत्यर्थः। स जपति इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण इत्येष वै वीर्यवत्तमो य इन्द्रस्य बाहुर्दक्षिणस्तस्मादाहेन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण इति। सहस्रभृष्टिः शततेजा इति सहस्रभृष्टिर्वै स वज्र आसीत्तेजसा यं तं वृत्राय प्राहरत्तमेवैतत्करोति' (श०।१।२।४।६)

ब्राह्मण के द्वारा विधेय विशेष में उसकी योजना करने के लिये पुनः उसे पढ़ा गया है। वह अध्वर्यु अपने लौकिक हाथों से स्फ्य का ग्रहण नहीं कर रहा है, अपितु देवता के हाथों से उसको उठाता है। और यह उचित भी है, क्योंकि यह 'स्फ्य', वज्र का परिणाम होने से वज्र स्वरूप ही है। ऐसे वज्र को उठाना मनुष्य के बस का नहीं है अतः 'देवस्यत्वा' मन्त्र को कहता हुआ अध्वर्यु उस 'स्फ्य' रूप वज्र का आदान (ग्रहण) सविता आदि देवताओं के हाथों से ही मानों करता है।

९—'आददेऽध्वरकृतं देवेभ्यः' (श० प०१।२।४।२) 'ध्वर' शब्द का अर्थ हिंसा अथवा प्रत्यवाय है। वह हिंसा अथवा प्रत्यवाय जिसमें नहीं है, वह 'अध्वर' है, एवञ्च 'अध्वर' शब्द का अर्थ यज्ञ है। वेदीखनन आदि के द्वारा जो अध्वर को करता है वह अध्वरकृत् कहलाता है। तथाच यज्ञ (अध्वर) कृत् 'स्फ्य' को देवोपकारार्थ ग्रहण करता है। उस स्फ्य रूप वज्र को लेकर 'इन्द्रस्य बाहु' इस मन्त्र का जप करता है। इस मन्त्र के जप करने से वह वज्र तीक्ष्ण धार वाला होता है। अपने को या किसी अन्य को उसके स्पर्श करने का निषेध किया गया है।

१०—'स जपति इन्द्रस्य बाहुरसि'—(श० प० १।२।४।६) विहित जप का अनुवाद करके मन्त्र का विधान किया गया हैं। इन्द्र का दक्षिण बाहु वृत्रासुर का बध करने के कारण अत्यन्त वीर्यवान् है अतः वही तुम हो, इस प्रकार स्फ्य की स्तुति की जा रही है। द्वितीय भाग का अनुवाद करके उसकी व्याख्या करते हैं—'सहस्रभृष्टिः' इति। 'सहस्रं भृष्टयाश्रयः' एक हजार भृष्टियों का वह आश्रय है। 'भृष्टि' शब्द का अर्थ भर्जन, पाक, मारण है। सहस्रसख्यक शत्रुओं की भृष्टि अर्थात् मारण जा करता है, उसे सहस्रभृष्टि कहते हैं। वृत्रासुर वधादि हिंसा विशेष जिसके द्वारा किये गये हैं, ऐसा वह वज्र, सहस्रभृष्टि कहलाता है। जो वज्र अपरिमित दीप्ति वाला है, वह तुम ही हो। इस प्रकार स्फ्य की स्तुति की गई है। वज्र की इस प्रसिद्धि को प्रकट करने के लिये 'वै' शब्द दिया गया है। इस प्रकार से वर्णित जिस वज्र का वृत्र का वध करने के लिये इन्द्र ने प्रहार किया था।

११—विहितं जपमनूद्य मन्त्रं विधत्ते स इति। इन्द्रस्य दक्षिणो बाहुरतिशयेन वीर्यवान् वृत्रासुरवधकारित्वात् अतः स एव त्वमसीति स्फ्यस्य स्तुतिः द्वितीयं भागमनूद्य व्याचष्टे सहस्रं भृष्टयोऽश्रयः, यद्वा भर्जनानि हिंसाविशेषा वृत्रवधादीनि येन क्रियन्ते स वज्रः सहस्रभृष्टिः। यः शततेजा अपरिमितदीप्तिः तादृशो वज्रः स त्वमेवासीति स्फ्य-स्तुतिः वज्रस्येमां प्रसिद्धिं द्योतयितुं वै शब्दः। तमुक्तविधं वज्रं यं वृत्रवधार्थमिन्द्रः प्राहरत्।

१२—तदात्मकमेवानेन मन्त्रभागेन स्फ्यं करोति वायुरसि तिग्मतेजा इति। एतद्वै तेजिष्ठं तेजो यदयं योऽयं पवते। एषहीमांल्लोकांस्तिर्यङ् नु पवते। स ऽ श्यत्येवैनमेतद्द्विषतो वध इति यदिनाभिचरेत् यद्यु अभिचरेद-मुष्य वध इति ब्रूयात्तेन स ऽ शितेन नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीं नेदनेन वज्रेण स ऽ शितेनात्मानं वा पृथिवीं वा हिनसानीति। तस्मान्नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीम्' (श० १।२।४।७)

१३—तृतीयभागमनूद्य व्याचष्टे—यः तिग्मतेजा वायुः स एव त्वमसीति स्तुतिः। वायोस्तिग्मतेजस्त्वमुप-पादयति योऽयं वायुः पवतेऽन्तरिक्षे चरति एतत्खलु तेजसां मध्ये तेजस्वितमं तेजः इममेवातिशयमुपपादयति एष हीति। अग्न्यादितेजोऽन्तरं कुत्रचिदेव परिच्छिन्नमेषहि वायुरिमांल्लोकाननुक्रमेण तिर्यग्वृत्तिः पवते युगपद् व्याप्नोति। एतत्प्र-योजनमाह—स ऽ श्यतीति। एतत् एतेनोक्तविधवायुतादात्म्यप्रतिपादनेन स्फ्यात्मकं वज्रं संश्यति तीक्ष्णीकरोत्येवेति। अभिचारप्रयोगे द्विषतो वध इत्यस्य स्थाने अमुष्य देवदत्तादेर्वध इति शत्रोर्नाम निर्दिशेदित्यर्थः। एतेन मन्त्रजपात्तीक्ष्णी-कृतेन स्फ्येनात्मनोऽन्यस्य वा संस्पर्शं न कुर्यादित्याह—तेन नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीमित्यादिना। अन्यथा संशितेन वज्रेणात्मानं पृथिवीं वा हिनसानि हिंसितं करवाणि। तस्मान्नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीमिति।

१४—अध्यात्मपक्षे—आचार्यो योग्यं शिष्यं कर्मोपासनादौ प्रवर्तयन्नाह—हे शिष्य अहं सवितुः परमेश्वरस्य सर्वोत्पादयितुर्देवस्य स्वप्रकाशस्य परमात्मनोऽस्मिन् प्रसवे संसारे त्वा त्वामश्विनोर्देवभिषजोरध्यात्माधिदैवाद्यारोग्य-सम्पादकयोस्तयोर्भिषक्तमयोर्ब्रह्मविद्वरिष्ठयोश्च यशस्विभ्यां बाहुभ्यां पूष्णो हिरण्यपाणेः सूर्यस्य ज्योतिर्मयाभ्यां पाणिभ्यां देवेभ्यः देवश्च देवश्च देवश्च देवास्तेभ्यः, कर्मकाण्डसाध्यचान्द्रमसदेवभावप्राप्तये उपासनासाध्यहिरण्यगर्भपद-प्राप्तये ज्ञानसाध्यब्रह्मात्मभावप्राप्तये च आददे सर्वविधपुरुषार्थसाधनाय त्वां दीक्षयामि। कीदृशं त्वामध्वरकृतं श्रौतस्मार्तधर्मानुष्ठायिनं अध्वरं करोतीत्यध्वरकृत त्वमिन्द्रस्य परमैश्वर्यशालिनो भगवतो दक्षिणो बाहुः शत्रुनिरोध-भक्तरक्षणप्रतिष्ठापनदक्षो बाहुरिव दक्षिणो बाहुरसि तदन्तरङ्गसखासि। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि-

---

१२—'वायुरसि तिग्म तेजा' इस मन्त्रभाग के 'स्फ्य' को तदात्मक ही करता है। "एतद्वै तेजिष्ठं तेजो यदयं योऽयं पवते"—(श० १।२।४।७) मन्त्र के तृतीय भाग का अनुवाद करके व्याख्या की जा रही है—जो तिग्म तेज वाला (प्रखर तेज वाला) वायु है, वही तुम हो, यह स्तुति की गई है। वायु की तिग्म तेजस्विता का उपपादन करते हैं—जो यह वायु अन्तरिक्ष में चलता है, वही निश्चय से समस्त तेजों में तेजस्वितम तेज है। इसी अतिशय का उपपादन 'एष हीति' से किया है। अग्नि आदि अन्य तेज कहीं किसी स्थान पर ही परिच्छिन्न है, किन्तु तेजस्वितम वायु, क्रमशः इन लोकों को तिर्यग् वृत्ति होकर युगपत् व्याप्त करता है। इसका प्रयोजन 'स ऽ श्यतीति' से बताते हैं। इस प्रकार वायु से तादात्म्य प्रतिपादन के द्वारा 'स्फ्य' रूप वज्र को वह तीक्ष्ण करता ही रहता है। अभिचार प्रयोग में 'द्विषतो वध' के स्थान पर 'अमुष्य देवदत्तादेर्वधः' इस प्रकार से शत्रु के नाम का निर्देश करना चाहिये मन्त्र जप से तीक्ष्ण किये गये 'स्फ्य' का अपने से या अन्य किसी दूसरे से स्पर्श न करे। इस बात को तेन नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीम्' से बताया है। अन्यथा उस तीक्ष्ण वज्र से अपने को अथवा पृथिवी को हिंसित (नष्ट) करेगा।

१४—अध्यात्म पक्ष में—आचार्य अपने सुयोग्य शिष्य को कर्म, उपासना आदि में प्रेरित करते हुए कह रहा है—हे शिष्य ! मैं समस्त संसार को उत्पन्न करने वाले स्वप्रकाश परमात्मा सविता देव से निर्मित इस संसार में आध्यात्मिक आधिदैविक आरोग्य के सम्पादक और ब्रह्मविदों में वरिष्ठ देववैद्य अश्विनी कुमारों के यशस्वी बाहुओं

ष्यजात्रे ।' (ऋ० सं० १।१६४।२०) अथर्व० ९।९।२० तथा निरु० १४।३० इत्यादि श्रुतेः । कीदृशो बाहुः सहस्रभृष्टिः सहस्रं भृष्टयो असुररक्षसां भर्जनानि यस्मात्स तथोक्तः । देवासुरसङ्ग्रामे विष्णुरूपेण श्रीरामावतारे श्रीकृष्णावतारे च भगवद्दक्षिणबाहुनैव कोटिकोटिसख्यकानामसुररक्षसां संहारो जातः । शततेजाः शतं तेजांसि यस्य स बहुधा-दीप्यमानोऽङ्गदकङ्कणादिभी रोचमानो भगवदंशो जीवोऽपि भगवत्सख्येन तदभिध्यानात्तदनुग्रहादाविर्भूतैश्वर्यो नरावताराजुर्न इव सहस्रभृष्टिः शततेजा भवति । त्वं तिग्मतेजा वायुरसि तिग्मानि तेजांसि यस्य स तथोक्तः । यथा वायुर्वह्निं प्रदीप्य तीव्रां ज्वालामुत्पादयन् तिग्मतेजाभवति तथैव त्वमपि तत्प्रसादात् साधनादियोगाच्च तिग्मतेजा असि ।

१५—यद्वा परमैश्वर्यो हिरण्यगर्भो वायुरसि तदुपासनेन तदभेदात् ! द्विषतो वधः हन्तीति वधः द्विषतो हन्तेत्यर्थः । शास्त्राचार्योपदेशसंस्कारसंस्कृतस्य शास्त्रनिष्ठस्य द्विषतां हन्तृत्वं तिग्मतेजो हिरण्यगर्भसायुज्यं परमेश्वरसखित्वं चानायासेन सिद्ध्यतीत्यर्थः ।

पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिꣳसिषं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्वधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याꣳ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥ वा० सं० १ । २५ ॥

से तथा सूर्य के ज्योतिर्मय हाथों से समस्त देवताओं को कर्मकाण्ड साध्य चान्द्रमस देवभाव को प्राप्त कराने के हेतु, तथा उपासना साध्य हिरण्यगर्भ पद की प्राप्ति कराने के लिये और ज्ञानसाध्य ब्रह्मात्मभाव की प्राप्ति कराने के लिये तथा सर्वविध पुरुषार्थों की प्राप्ति कराने के लिये तुम्हें दीक्षा दे रहा हूँ। क्योंकि तुम श्रौत-स्मार्त धर्म के अनुष्ठान करने वाले हो, तुम परमैश्वर्यशाली भगवान् इन्द्र के दक्षिण बाहु हो, अर्थात् शत्रुनिरोध और भक्तरक्षण तथा उनका प्रतिष्ठापन करने में कुशल (निपुण) बाहु के तुल्य दक्षिण बाहु हो यानी उसके अन्तरङ्ग सखा हो। 'द्वा सुपर्णा सयुजा' श्रुति ने भी यही कहा है। बाहु की विशेषता बताते हैं—कि वह 'सहस्रभृष्टिः' है। हजारों असुर, राक्षसों को भूँज देने वाला है। देवासुर संग्राम में विष्णु रूप से, श्रीरामावतार में और श्रीकृष्णावतार में भगवान् के दक्षिण बाहु ने ही करोड़ों-करोड़ों असुर, राक्षसों का संहार किया है। उसी तरह तुम भी 'शततेजाः' हो, अर्थात् अङ्गद-कङ्कणादि आभूषणों बहुविध किरणों से झिलमिल करते हुए यानी देदीप्यमान रहते हो। भगवान् का अंशभूत यह जीव भी सख्य भाव से भगवान् का ध्यान (चिन्तन) करते रहने से उनके अनुग्रह को प्राप्त कर ऐश्वर्य को प्राप्त किये नरावतार अर्जुन की तरह सहस्रभृष्टि और शतशः तेजों से परिपूर्ण है। हे शिष्य ! तुम प्रखर तेज वाले वायु के स्वरूप हो। जैसे वायु, अग्नि को प्रदीप्त करके उससे तीव्र ज्वालाओं को उत्पन्न करता हुआ प्रखर तेज का होता है, उसी तरह तुम भी उसके प्रसाद से और साधना आदि करने के कारण प्रखर तेज से सम्पन्न हो।

१५—अथवा परमैश्वर्यशाली हिरण्यगर्भ वायु की उपासना करते रहने से उसके साथ तुम्हारा अभेद हो गया है, इसलिये तुम तद्रूप ही हो। तुम शत्रुओं के विनाशक हो। शास्त्र और आचार्य के उपदेश से उत्पन्न संस्कारों के कारण संस्कृत हुए एवं शास्त्रनिष्ठ रहने वाले तुम शत्रुविनाशकत्व, तिग्मतेजस्त्व, हिरण्यगर्भसायुज्य, परमेश्वरसखित्व आदि स्पृहणीय गुण अनायास ही स्थित हैं।

अर्थ—हे देवयाग साधनभूते पृथ्वि ! तुम्हारी ओषधि रूप तृण के मूल को मैं नष्ट नहीं करूँगा। हे पुरीष ! (स्फ्य के प्रहार करने पर निकली हुई मृत्तिका को पुरीष कहते हैं।) तुम गौओं के निवास स्थान में जाओ। हे वेदि ! तुम्हारे लिये द्युलोकाभिमानी देवता वृष्टि करे। हे सवितृ देव ! जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं उस शत्रु को सीमा की भूमि पर शत रज्जुपाशों से बांध दो और उसे अन्धतामिस्र नरक से मुक्त कभी भी मत होने दो ॥२५॥

१—'पृथिवी देवयजनीति तृणेऽन्तर्हिते प्रहरतीति' (का० श्रौ० सू० २।६।१६) तृणान्तर्हितायां भूमौ स्फ्येन (वज्रेण) प्रहारं कुर्यात्। तृण एव प्रहरणमिति सम्प्रदायः। हे पृथिवि देवयजनि देवा इज्यन्ते यस्यां सा देवयजनी तत्सम्बुद्धौ हे देवयजनि ते तव ओषध्यास्तृणरूपाया मूलमहं मा हिंसिषम् माविनाशिषम् 'वज्रं गच्छेति पुरीषमादत्ते' (का० श्रौ० सू० २।६।१७) वज्रेणोद्धृतां मृदं गृह्णीयात्।

२—हे पुरीष त्वं वज्रं गच्छ। व्रजन्ति गच्छन्ति स्थातुं गावो यत्र स देशो व्रजस्तम्। कीदृशं गोष्ठानं गवां स्थानमिदानीं स्थितिर्यस्मिन् तत् गोयुक्तं तदीयं स्थानं गच्छ। गोयुक्तं गोष्ठं गोव्रजं गच्छेत्यर्थः। 'वर्षतु त इति वेदिं प्रेक्षते' (का० श्रौ० सू० २।६।११) वर्षतु इतिमन्त्रेण वेदिं प्रेक्षते इति।

३—मन्त्रार्थस्तु—हे वेदे ते तुभ्यं त्वदर्थं द्यौः द्युलोकाभिमानी देवो वर्षतु जलसेकं करोतु (वृष सेचने) सेचनेन खननजनितदुःखशान्तिर्भवतु। 'वधानेत्युत्करे करोति' (का० श्रौ० सू० २।६।१२) गृहीतां मृदमुत्करे क्षिपेत्। हे देव सवितः योऽस्मान् द्वेष्टि वयं च यं द्विष्मस्तमुभयविधं शत्रुं परमस्यामन्तिमायां पृथिव्यां बधान। उत्करे क्षिप्तायां मृदि निगूढस्यारातेस्तत्र बन्धनं कुरु। भूमेरन्तिमप्रदेशेऽन्धतामिस्रो नरकस्तत्र शत्रुं वधान। अन्धेतमसि वधानेति यदाह परमस्याम्' इति श्रुतेः। कैर्बन्धनं कर्तव्यमित्यपेक्षायामुच्यते शतेनपाशैः शतसंख्याकाभिर्बन्धनरज्जुभिरस्मद्द्वेष्टृणाम-

---

१—'पृथिवि देव यजन्योषध्यास्ते मूलं मा हि ७ं सिषं—(वा० सं० १।२५) 'पृथिवि देवयजनीति'—(का० श्रौ० सू० २।६।१६) सूत्रकार कह रहे हैं कि तृण से ढकी हुई भूमि पर 'स्फ्य' (वज्र से प्रहार करे। तृण पर ही प्रहार करने का सम्प्रदाय है हे पृथिवि ! तुम देवयजनी हो। देवों का यजन जिस पर होता है, उसे देवयजनी कहते हैं। इसलिये हे देवयजनि पृथिवि ! तुम्हारे तृण रूप ओषधि के मूल को मैंने नष्ट नहीं किया है। 'व्रजं गच्छेति'—(का० श्रौ० सू० २।६।१७) इस सूत्र के अनुसार वज्र से उद्धृत की हुई मृत्तिका को ग्रहण करे।

२—हे पुरीष ! तुम व्रज में जाओ। 'व्रजन्ति गच्छन्ति स्थातुं गावो यत्र स देशो व्रजः।' जहाँ रहने के लिये गौएँ जाती हैं, उस स्थान को 'व्रज' कहते हैं। व्रज (गो-स्थान) की विशेषता बताते हैं कि इस समय गौएँ जहाँ स्थित हैं, अर्थात् गायों से युक्त जो गोव्रज (गोष्ठान) है, वहाँ जाओ। यानी अन्य गौओं से रहित व्रज में मत जाओ। 'वर्षतु त इति' (का० श्रौ० सू० २।६।११) सूत्र के अनुसार 'वर्षतु' मन्त्र से वेदि का प्रेक्षण करे।

३—मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—हे वेदे ! तुम्हारे लिये द्यु लोक का अभिमानी देव जल से सिञ्चन करे यानी वर्षा करे। (सेचन करने के अर्थ में 'वृष' धातु है)। सेचन करने से खनन करने के कारण (खोदने से) जो दुःख (कष्ट) तुम्हें हुआ होगा उसकी शान्ति हो जायगी। 'वधानेत्युत्करे करोति'—(का० श्रौ० सू० २।६।१२) सूत्र के अनुसार पूर्व ग्रहण की हुई मृत्तिका को उत्कर में डाल दे। हे सविता देव ! जो हमसे द्वेष करता है, और हम जिससे द्वेष करते हैं, उस उभयविध शत्रु को अन्तिम पृथिवी पर बाँध दो। अर्थात् उत्कर में प्रक्षिप्त मृत्तिका में निगूढ़ हुए शत्रु को वहीं पर बाँध दो। भूमि के अन्तिम प्रदेश में अन्धतामिस्र नरक है वहाँ पर शत्रु को बाँध दो। 'अन्धे तमसि वधान' इत्यादि अन्य श्रुतियाँ भी यही बता रही है। उस शत्रु को-जो हमसे द्वेष करता है, और जिससे हम द्वेष करते हैं-सैकड़ों रस्सियों से बाँधकर उस अन्धतामिस्र नरक में डाल दो जिससे वह कभी भी छुटकारा न पा सके।

स्मद्द्विष्टानाञ्च शत्रूणां बन्धनं कृत्वा अन्धतामिस्रे नरके तथा क्षिप यथा कदाचिदपि न मुच्येरन्। तदेवाह—अतो मा मौक् अतः अस्मात् अन्धतामिस्रनरकात्तं शत्रुसमूहं मा मौक् कदाचिदपि मा मुञ्च।

४—स्वामिदयानन्दस्तु—अहं सवितुर्देवस्य हे देव सवितः परमात्मन् तव कृपयाहं देवयजनि देवयसाधिकरणायास्तेऽस्थाः। पृथिवि भूमे ओषध्याश्च मूलं वृद्धिहेतुं मा हिंसिषम्। मया पृथिव्यां योऽयं यज्ञोनुष्ठीयते स व्रजं मेघं गच्छतु। गत्वा गोष्ठानं वर्षतु। द्यौर्वर्षतु। हे वीर त्वं परमस्यां पृथिव्यां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तं शत्रुं शतेन पाशैर्बधान वन्धय। तमतो बन्धनात् कदाचिन्मा मौक् मा मोचय।

५—भावार्थस्तु—ईश्वर आज्ञापयति—विद्वद्भिर्मनुष्यैः पृथिव्याराज्यस्य तस्यां त्रिविधस्य यज्ञस्य ओषधीनाञ्च हिंसनं कदाचिन्नैव कार्यम्। योऽग्नौ हुतस्य द्रव्यस्य सुगन्ध्यादिगुणविशिष्टो धूमो मेघमण्डलं गत्वा वायुसूर्याभ्यां छिन्नस्याकर्षितस्य धारितस्य जलसमूहस्य शुद्धिकरोभूत्वा अस्यां पृथिव्यां वायुजलौषधिशुद्धिद्वारा महत्सुखं सम्पादयति तस्मात्स यज्ञः केनापि कदाचिन्नैव त्याज्यः। ये दुष्टामनुष्यास्तस्यां पृथिव्यामनेकैः पाशैर्बद्ध्वा दुष्टकर्मभ्यो निवर्त्य कदाचित्ते न मोचनीयाः। अन्यत्र परस्परं द्वेषं विहाय अन्योन्यस्य सुखोन्नतये सदैव प्रयतितव्यम्' इत्याद्याह, तदपि निःसारम्, अस्पष्टत्वात्। तथाहि—ओषध्या मूलं किं यस्य हिंसनं निषिध्यते ? एवमेव मयानुष्ठितो यज्ञो व्रजं मेघं गच्छत्वित्यपि निःसारम्, मूलमन्त्रे यज्ञपदाप्रयोगात्। न वा मनुष्यस्येच्छामात्रेणाज्ञया वा किञ्चिद्वस्तु मेघं गच्छति। अग्नौ प्रहुतं वस्तु मेघमण्डलं गच्छत्येवेति चेत् तदापि लोटः प्रयोगो व्यर्थ एव तस्याभिप्रायाननुसारित्वात्। सुगन्ध्यादिविशिष्टस्य धूमस्य मेघमण्डलगमने तस्य वायुसूर्याभ्यां छिन्नता आकर्षणञ्चापि प्रमाणविधुरमेव। तस्य जलसमूहशुद्धि-

---

इसी बात को 'अतो मा मौक्' से कहा गया है, अर्थात् इस अन्धतामिस्र नरक से उस शत्रु समुदाय को कभी भी मुक्त मत करो।

४—स्वामी दयानन्द ने प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ कुछ और ही मनमानी ढंग से किया है। स्वामीजी कह रहे हैं—अहं सवितु र्देवस्य हे देव सवितः परमात्मन्! तुम्हारी कृपा से मैं देवयजनि देवयज्ञ के अधिकरणभूत तुम्हारा रहूँ। पृथिवि हे भूमे! वृद्धि के हेतुभूत ओषधि के मूल को मैं नष्ट न करूँ। मेरे द्वारा पृथिवी पर जो इस यज्ञ का अनुष्ठान किया जा रहा है, वह व्रजं मेघ को प्राप्त हो। और उसे प्राप्त होकर गोष्ठान की वर्षा करे। द्यौः वर्षा करे। हे वीर! तुम, इस पृथिवी पर जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष रखते हैं, उस शत्रु को सौ रस्सियों से बाँधो। उसे इस बन्धन से कभी भी मुक्त मत करो।

५—अभिप्राय यह है—ईश्वर की आज्ञा है कि विद्वान् मनुष्यों को पृथिवी अर्थात् राज्य का और उसमें होने वाले तीन प्रकार के यज्ञों का तथा ओषधियों का कभी भी विनाश नहीं करना चाहिये। अग्नि में हवन किये हुए द्रव्य का जो सुगन्धी धूम है, वह मेघमण्डल में जाकर वायु तथा सूर्य के द्वारा धारण किये हुए जल समूह को शुद्ध करता है और इस पृथिवी पर वायु जल ओषधि की शुद्धि करते हुए वह महान् सुख को देता है। इसलिये उस यज्ञ का त्याग कभी भी और कोई भी न करे। जो दुष्ट मनुष्य हैं उन्हें इस पृथिवी पर अनेक रस्सियों (पाशों) से बाँधकर और दुष्ट कर्मों से (उन्हें) परावृत्त कर कभी भी उन्हें बन्धन से मुक्त न करे। अन्यत्र परस्पर द्वेष का त्याग कर परस्पर की सुखोन्नति के लिये सर्वदा ही प्रयत्न करते रहना चाहिये।' इत्यादि, कथन भी अस्पष्ट होने के कारण सारहीन है। उसी अस्पष्टता को देखिये—जिसके हिंसन (विनाश) का निषेध किया जाता है, क्या उसे ओषधि का मूल (जड़) कहते हैं? इसी प्रकार 'मेरे द्वारा अनुष्ठित हुआ यज्ञ मेघ की ओर जाय' यह कथन भी मूल मन्त्र में 'यज्ञ' पद का प्रयोग न होने से सारहीन है। और यह भी सोचना चाहिये कि क्या कोई भी वस्तु, मनुष्य की इच्छा से अथवा उसकी आज्ञा से मेघ में पहुँच जायगी? यदि यह कहें कि अग्नि में हुत वस्तु, मेघमण्डल में प्राप्त हो ही जायगी, तब भी 'लोट्' लकार के प्रयोग को उसके अभिप्राय का अनुसरण व करने से व्यर्थ कहना ही होगा। सुगन्धि से विशिष्ट धूम का मेघमण्डल में गमन होने पर वायु और सूर्य के द्वारा उसकी छिन्नता एवं आकर्षण बताना भी प्रमाण रहित है।

करत्वं ततो महत्सुखसम्पादकत्वञ्चासिद्धमेव। दुष्टान्तं पाशशतैर्बन्धनमपि शासनाधीनमेव, न तस्य सामान्यमनुष्येच्छानुविधायित्वम्।

६ – शतपथश्रुतिस्तु सिद्धान्तपक्षीयमेव व्याख्यानं द्रढयति—

'देवाश्च वाऽसुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ते हस्म यद्देवा असुरान् जयन्ति ततो हस्मै वैतान् पुनरुपोत्तिष्ठन्ति।' (श० १।२।४।८) 'ते ह देवाऊचुः। जयामो वा असुरांस्ततस्त्वेव नः पुनरुपोत्तिष्ठन्ति कथं न्वेतानपजय्यं जयेमेति।' (श० १।२।४।९) 'सहाग्निरुवाच। उदञ्चो वैतः पलाय्य मुच्यन्त इत्युदञ्चो हस्मै वैषां पलाय्य मुच्यन्ते।' (श० १।२।४।१०)

७ – स्तम्बयजुर्हरणं विधित्सुस्तस्यासुरनिर्हरणलक्षणं प्रयोजनं वक्तुमाख्यायिकामाह—तत्रादितेः पुत्रा देवा दितेः पुत्रा असुरा अत उभये प्राजापत्याः। प्रजापतेर्द्वेस्त्रियौ दितिरदितिश्च। ते प्रजापतेः पुत्राः पस्पृधिरे स्पर्धां कृतवन्तः। यदा ते देवा असुरान् जयन्ति ततोऽनन्तरक्षणमेव एनान् देवानभिलक्ष्य पुनरसुरा उत्तिष्ठन्ति। 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' (पा० सू० १।३।२४) इति पर्युदासादिह चोर्ध्वकर्मत्वात् आत्मनेपदाभावः।

८—अथ देवैः कृतजयोपायचिन्तनमुपन्यस्यति—ते हेति। अनपजय्यं जेतुमशक्यं। एनानसुरान् केन प्रकारेण पुनरुत्थानरहितं जयेमेति विचारितवन्तः। अथाग्निनोपदिष्टं जयप्रकारं दर्शयति सहेति। नः अस्माकं सकाशात् उदङ्मुखाः सन्तः पलाय्यमुच्यन्ते। अग्निनोक्तं वाक्यं सत्यमिति श्रुतिः स्वयमेवानुवदति उदञ्चोहेति। सहाग्निरुवाच—अहमुत्तरतः पर्येम्यथ यूयमित उपसꣳरोत्स्यथ तान् संरुध्यैभिश्च लोकैरभिनिधास्यामो यदुचेमांल्लोकानतिचतुर्थं तत पुनर्न सꣳहास्यन्त इति' (श० १।२।४।११)

९—एवमुत्तरतोऽवस्थितान् असुरान् जेतुमग्निरेवोपायान् देवान् प्रत्युपदिशति। सहेति—अहमुत्तरतः पर्येष्यामि यूयमितः अस्माद् वेदिलक्षणात् स्थानात् उपसंरोत्स्यथ। उपसंरुद्धान् प्रतिबन्धगतानसुरान् करिष्यथ। अथान्तरमेव

उसका जल समूह शुद्धिकरत्व और उससे महत्सुख सम्पादकत्व भी अत्यन्त असिद्ध है। उसी प्रकार दुष्ट मनुष्यों को सैकड़ों पाशों से बाँधना भी शासन के अधीन रहता है, वह सामान्य मनुष्य की इच्छा पर निर्भर नहीं है।

६—शतपथ श्रुति ने सिद्धान्त पक्ष की व्याख्या का ही समर्थन किया है। 'देवाश्च वाऽसुराश्च' (श० १।२।४ ८-९१०)।'

७—स्तम्बयजुर्हरण के विधान करने का इच्छुक असुर निर्हरण लक्षण प्रयोजन बताने के लिये एक आख्यायिका बता रहा है—अदिति के पुत्र देव और दिति के पुत्र असुर (दैत्य) हैं, अतः दोनों प्राजापत्य हैं। प्रजापति की दो स्त्रियाँ—एक दिति और दूसरी अदिति। प्रजापति के वे पुत्र आपस में स्पर्धा करने लगे। जब देव असुरों को जीतते हैं, तब उसके अनन्तरक्षण में ही उन देवताओं को लक्ष्य कर असुर पुनः उठ खड़े होते हैं। 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' (पा० सू० १।३।२४) इस सूत्र से पर्युदास (निषेध) किये जाने के कारण और यहाँ पर ऊर्ध्व कर्म होने से आत्मने पद का अभाव है।

८—इसके बाद देवताओं ने अपने विजय का जो उपाय सोचा, उसे उपस्थित करते हैं—जीतने के लिये जो अशक्य है उसे 'अनपजय्य' कहते हैं। इन असुरों को किस प्रकार से हम बिना उत्थान के पुनः जीत सकेंगे, यह विचार देवता करने लगे। तब अग्नि के द्वारा उपदिष्ट जय प्रकार को दिखाते है। 'सहेति'। हमसे उत्तर की ओर मुख करके पलायन करने से मुक्त हो सकोगे। अग्नि के द्वारा उक्त वाक्य सत्य है, ऐसा श्रुति कहती है (श० १।२।४।११)।

९—इस प्रकार उत्तर की ओर अवस्थित असुरों को जीतने के लिये अग्नि हो देवों को अनेक उपायोंको बता रहा है। मैं उत्तर दिशा से जाऊँगा, तुम इस वेदिस्थान से असुरों को प्रतिबद्ध करो। उसी समय हम पुरोवर्ती

वयमेभि: पुरोवर्तिभि: पृथिव्यादिभिस्त्रिभिर्लोकै: अभिनिधास्याम: अभित: सर्वतो निरुद्धगतीन् निहितान् करिष्याम:। यद्वा अभितो नितरां क्षिप्तान् त्याजितान् करिष्याम:। इमांल्लोकानतिक्रम्य यच्चतुर्थं लोकजातमस्ति अस्माकमप्रत्यक्षम् तेनापि त्याजितान् करिष्याम:। ततोऽनन्तरमसुरा: पुनर्न संहास्यन्तो सङ्गता न भविष्यन्ति विशीर्णा बाधिता एव भवेयुरित्यर्थ:। (ओहाङ् गतौ) जुहोत्यादि:।

१०—'सोऽग्निरुत्तरत: पर्यैत्। अथेम इत उप समरुन्धंस्तान्त्सꣳ रुध्यैभिश्च लोकैरभिन्यदधुर्यदु चेमांल्लोकानतिचतुर्थं तत: पुनर्न समजिहत। तदेतन्निदानेन यत् स्तम्बयजु:। (श० १।२।४।१२) इत्थमग्निनोक्तं वाक्यं श्रुत्वा तथैव तेर्देवै: कृतमिति अग्निदेवसंवादरूपात् प्रतिनिवृत्य श्रुति: स्वेनैव रूपेणैवाह। अग्निरुत्तरत: उत्तरस्यां दिशि पर्यैत् पर्यगच्छत्। देवाश्चेत: वेदि: स्थानात् उपसमरुन्धन् तानुपरुद्धान् कृतवन्त:। संरुध्य चैभिर्लोकैर्न्यदधु:। यदु चेमांल्लोकानतिचतुर्थं तेन च न्यदधु:। तत: पुनर्न समजिहत। असुरा असङ्गता बाधिताएव जाता इत्यर्थ:। अग्निवाक्ये हि चिकीर्षितोपदेशनात् भविष्यदर्थवाचिनो लृट: प्रयोग:। श्रुतिवाक्ये तु निर्वृत्तार्थप्रतिपादनात् भूतानद्यतनवाचिनो लङ: प्रयोग:। यदत्र स्तम्बयजुर्हरणं करिष्यत एतन्निदानेन मूलकारणेन निरुप्यमाणं सत् देवै: कृतं तत् असुरनिरसनम् अतो यज्ञविघातकासुरनिर्हरणार्थं विधि: परिकल्पनीय: सयोऽसावग्नीदुत्तरत: पर्येति अग्नीदेवैष निदानेन तानध्वर्युरेवेत उपसꣳरुणद्धि। तान् संरुध्यैभिश्च लोकैरभिनिदधाति। यदु चेमांल्लोकानतिचतुर्थं तत: पुनर्न सञ्जिहते येन ह्येवैनान् देवा अबाधन्त तेनैवैतानप्येतर्हि ब्राह्मणे यज्ञेऽवबाधन्ते।' (श० १।२।४।१३)

११—स्तम्बयजुर्हरणसमये योऽसावाग्नीध्रो वेदेरुत्तरत: परीत्यवर्तते एष निदानेन मूलकारणेन निरुप्यमाणोऽग्निरेव योऽग्नि: पुराऽसुरान्निरोद्धुमुदक् पर्यैत् तदात्मक एवाग्नीध्र इत्यर्थ:। ननु तत्रोपसंरोधका देवास्तत्स्थानीयऋत्विजां मध्येक इति तं दर्शयति तानध्वर्युरेवैत उपरुणद्धि—येनोपायेन पुरा देवा असुरानबाधिषत तेनैवोपायेन यज्ञानुष्ठानसमये तद्विघातिनोऽसुरा बाधितव्या इति निगमयति—तस्मादप्येतर्ह्यसुरान् संजिहते। येन ह्येवैनान् देवा अबाबाधन्ते तेनैवैनानप्येतर्हि ब्राह्मणा यज्ञेऽवबाधन्ते। 'य उ यजमानायारातीयति यश्चैनं द्वेष्टि तमेवैतदेभिश्च लोकै-

---

पृथिवी आदि तीन लोकों से सब ओर उनकी गति को प्रतिबद्ध कर देंगे। अथवा तीनों लोकों को उनसे छुड़वा देंगे। इन तीनों लोकों के बाद जो चतुर्थ लोक है, जो हमसे भी प्रत्यक्ष नहीं है, उससे भी उन्हें हटा देंगे। तब ये असुर पुन: आपस में मिल नहीं पायेंगे। अर्थात् विशीर्ण हुए वे असुर अवश्य ही बाधित होंगे। (ओहाङ् गतौ जुहोत्यादि:) गति अर्थ में जुहोत्यादिगण का 'ओहाङ्' धातु है।

१०—'सोऽग्निरुत्तरत:' (श० १।२।४।१२) इस प्रकार अग्नि के वाक्य को सुनकर उन देवों ने उसी प्रकार किया। इस अग्नि और देवों के सम्वाद रूप से प्रतिनिवृत्त होकर श्रुति अपने ही रूप से कह रही है। अग्नि उत्तर दिशा की ओर गया, और देवों ने वेदिस्थान से उन असुरों को अवरुद्ध किया। तब पृथिवी आदि तीन लोकों ने तथा चतुर्थ लोक ने भी उन असुरों को छिन्न-भिन्न कर दिया। तब वे पुन: परस्पर सङ्गत न हो सके। इस प्रकार जब वे परस्पर सङ्गत न हो पाये तब वे बाधित हो ही गये। अग्नि के वाक्य में चिकीर्षित का उपदेश होने से भविष्यदर्थ वाचक 'लृट्' लकार का प्रयोग हुआ है। किन्तु श्रुति वाक्य में निवृत्त अर्थ का प्रतिपादन होने से भूतानद्यतनवाचो 'लङ्' लकार का प्रयोग किया गया है। यहाँ पर जो स्तम्बयजुर्हरण करने के लिये कहा गया है, उसी से देवों ने असुरों का निरसन किया है। असुरों के निरसन करने में वह 'स्तम्बयजुर्हरण' ही मूल कारण है। अत: यज्ञ के विघातक असुरों के निर्हरण (निरसन) के लिये ही विधि की कल्पना करनी चाहिये।

११—'स योऽसौ अग्नीदुत्तरत:' (श० १।२।४।१३) अर्थात् स्तम्बयजुर्हरण के समय जो यह 'आग्नीध्र' है, वह वेदि के उत्तर में स्थित है, इस कारण वह आग्नीध्र 'अग्नि' रूप ही है, जो अग्नि पूर्व ही असुरों को अवरुद्ध करने के लिये उत्तर दिशा में गया था। इस कारण आग्नीध्र को तदात्मक ही कहा गया है। यज्ञानुष्ठान के समय उन उपसंरोधक देवों के स्थानापन्न हुए ऋत्विजों में से कौन सा वह है ? उसे 'तानध्वर्युरेवैत' से बताया है— पूर्व समय में

रभिनिदधाति यदु चेमांल्लोकानतिचतुर्थमस्या एव सर्व ᳣ हरत्यस्या ᳣ हि सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः। किᳫ हि हरेद्यदन्तरिक्षᳫ हरामि दिवᳫ हरामीति हरेत्तस्मादस्या एव सर्व ᳣ हरति।' (श० १।२।४।१४)

१२—न केवलं स्तम्बयजुषोऽसुरहरणं प्रयोजनं किन्तु शत्रुहरणमपि इत्याह य उ इति। अरातिरिवाचरतीत्यरातीयति यश्चैनं यजमानं द्वेष्टि साक्षाद्बाधते तदुभयविधशत्रुमेभिर्लोकैरभिनिदधाति अन्यत् पूर्ववत्। पृथिव्या एव सकाशात् स्तम्बयजुर्हरति नान्तरिक्षादेरित्यभिप्रेत्याह—सर्वेलोका इति। पृथिव्यादिभिस्त्रिभिर्लोकैस्तदतिरिक्तेन चान्येन चतुर्थेन लोकेनासुरान्निरस्यन्नसावध्वर्युरस्याः पृथिव्याः सकाशात् सर्वं स्तम्बयजुर्हरति। नान्तरिक्षादेः। हि यस्मादस्यां भूम्यामिमेऽन्तरिक्षादयः सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः तस्मात् स्तम्बयजुर्हरणस्य प्रथमपर्यायवत् द्वितीयादिपर्यायाणामपि पृथिव्या एव सकाशात्तद्धरणं युक्तमित्यर्थः। एतदेव व्यतिरेकमुखेनोपपादयति—यदि अन्तरिक्षं हरामि दिवं हरामि इत्येवं स्तम्बयजुर्हरेत् तथा किं नाम हरेत्। अन्तरिक्षद्युलोकयोर्हर्तव्यस्य स्तम्बस्याभावात् न तत्र तद्धरणं सम्भवतीत्यर्थः। प्रागुक्तनिगमन स्तम्बयजुर्हरणान्तम्। प्रहरणादिपुरीषनिवापान्तं कर्म स्तम्बयजुः शब्देनोच्यते।

१३—'अथ तृणमन्तर्धाय प्रहरति नेदनेन न वज्रेण स ᳣ शिते पृथिवी ᳣ हिनसानीति तस्मात्तृणमाधाय प्रहरति।' (श० १।२।४।१५) 'स प्रहरति पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं माहि ᳣ सिषमित्युत्तरमूलामिव वा एनामेतत्करोत्याददानस्तामेतदाहौषधीनां ते मूलानि मा हि ᳣ सिषमिति व्रज गच्छ गोष्ठानमित्यभिनिधास्यन्ने-

---

जिस उपाय से देवों ने असुरों को बाधित किया था, उसी उपाय से यज्ञानुष्ठान के समय यज्ञविघातक असुरों को बाधित करना चाहिये। निष्कर्ष यह निकला कि जिस उपाय से देवों ने उन असुरों को बाधित किया, उसी उपाय से यज्ञ में ब्राह्मण भी उनका बाध करते हैं।

१२—'य उ यजमानायारातीयति' (श० १।२।४।१४, इससे यह कहा जा रहा है कि स्तम्बयजु का प्रयोजन केवल असुर निर्हरण ही नहीं है, किन्तु शत्रुहरण भी उसका प्रयोजन है। 'अरातिरिव आचरति इति अरातीयति' 'उपमानादाचारे' सूत्र से 'क्यच्' प्रत्यय किया गया है। शत्रु की तरह आचरण करने वाले को 'अरातीयति' कहते हैं। जो इस यजमान को साक्षात् पीड़ित करता है। दोनों प्रकार के शत्रुओं की गति को तीनों लोक प्रतिबद्ध कर देते हैं। अन्य सब अर्थ, पूर्व की तरह ही है। पृथिवी आदि तीन लोकों से तथा उससे भिन्न चतुर्थ लोक से असुरों को निरस्त करने वाला यह अध्वर्यु, इस पृथिवी से सम्पूर्ण स्तम्बयजु का हरण करता है। अन्तरिक्ष से नहीं, क्योंकि इस भूमि में ही ये अन्तरिक्षादि समस्त लोक प्रतिष्ठित हैं। इस कारण स्तम्बयजुर्हरण के प्रथम पर्याय की तरह द्वितीयादि पर्यायों में भी पृथिवी से ही उसका हरण करना उचित है। इसी को व्यतिरेक मुख से बताते हैं। यदि अन्तरिक्ष को हरण करता हूँ तो दिव (स्वर्ग) को ही हरण कर रहा हूँ इस बुद्धि से स्तम्बयजु का हरण करे, तब क्या हरण करेगा, क्योंकि अन्तरिक्ष और द्युलोक में हर्तव्य स्तम्ब के न होने से वहाँ उसका हरण करना सम्भव नहीं है। पूर्वोक्त निगमन स्तम्बयजुर्हरणान्त है। प्रहरण से लेकर पुरीषनिवापान्त कर्म को 'स्तम्बयजुः' शब्द से कहा जाता है।

१३—'अथ तृणमन्तर्धाय प्रहरति' (श० १।२।४।१५-१६) श्रुति ने तृणान्तर्धान विशिष्ट 'स्फ्य' से ग्रहण का विधान किया है। तृण से ढके हुए स्फ्यरूपापन्न तीक्ष्ण वज्र से पृथिवी हिंसित होगी। इसलिये हिंसा निवृत्त्यर्थ तृण को बीच में रखकर उस पर प्रहार करना चाहिये। इस प्रकार विहित प्रहरण का अनुवाद करके मन्त्र का विधान किया गया है। 'ओषध्यास्त इति इस मन्त्र भाग की व्याख्या करते हैं 'स्फ्य' को ग्रहण करने वाला अध्वर्यु इस पृथिवी को उपरि भाग पर अवस्थित मूल से युक्त हुई सी करता है। यह जो प्रहरण है, वह उत्तर मूल पर है। उसकी हिंसा की आशङ्का होने पर उसके अभाव की इससे प्रार्थना की गई है। मन्त्रगत ओषधि शब्द की जाति के अभिप्राय से एकवचनान्तता को ध्यान में रखकर व्याख्या करते हैं। प्रहरण से निष्पन्न तृण सहित पांसु (धूलि) के उपादान (ग्रहण) का अनुवाद कर 'व्रजं गच्छ' के द्वारा व्याख्या की गई है। यह अध्वर्यु चारों ओर पटकता हुआ उन

वैतदनपक्रमि कुरुते तद्वचनपक्रमि यद् व्रजेऽन्तस्तस्मादाह व्रजं गोष्ठानमिति वर्षतु ते द्यौरिति। यत्र वै अस्यै खनन्तः क्रूरीकुर्वन्त्युपघ्नन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः सन्दधाति तस्मादाह वर्षतु द्यौरिति वधान देवसवितः परमस्यां पृथिव्यामिति देवमेवैतत् सवितारमाहान्धे तमसि वधानेति यदाह परमस्यां पृथिव्यामिति शतेन पाशैरित्य-मुचेतदाह योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौगिति ब्रूयात् (श० १।२।४।१६)

१४—तृणान्तर्धानविशिष्टेन स्फ्येन ग्रहणं विधत्ते श्रुतिः—तृणानन्तर्धाने हि तीक्ष्णेन स्फ्यरूपान्नेन वज्रेण पृथिवी हिंसिता स्यात्। तस्मात्तद्धिंसानिवृत्तये तृणमन्तर्धाय तदुपरि प्रहर्तव्यमित्यर्थः विहितं प्रहरणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—स प्रहरतीति। ओषध्यस्त इति मन्त्रभागं व्याचष्टे—उत्तरमूलामिति। स्फ्यमाददानोऽध्वर्युः एनां पृथिवीम् उत्तरमूलां उपरिभागावस्थितमूलयुक्तामिव खल्वेतत्करोति। उत्तरमूलत्वेन प्रहरणम्। तद्धिंसाशङ्कायां तदभावोऽनेन-प्रार्थ्यते। मन्त्रगतौषधिशब्दस्य जात्यभिप्रायेणैकवचनान्ततामभिप्रेत्य व्याचष्टे ओषधीनामिति। प्रहरणनिष्पन्नस्य सतृणस्य पांसोरुपादानमनूद्य व्याचष्टे व्रजं गच्छेति। अभिनिधास्यन् अभितो निक्षेप्स्यन् खल्वध्वर्युः एतत् असुरजातम् अनपक्रमि अपक्रमणरहितमितस्ततो गमनरहितं कुरुते। तत्खलु अनपक्रमि यत् व्रजे गोष्ठेऽन्तर्निरुध्यते अतोऽस्य मन्त्र-प्रयोगस्यापक्रमणाभावः प्रयोजनमित्यर्थः। नोपस्पृशेत् पृथिव्यात्मानौ। तेन स्तम्बयजुर्हरिष्यन् वेद्यां तृणं निदधाति। उदक पृथिव्यौ वर्मासीति' (का० श्रौ० सू० २।६।७।८) स्तम्बयजुर्हरणं करिष्यन्नध्वर्युस्तेन वज्रेण पृथिवीमात्मानञ्च न स्पृशेत्।

१५—यस्मिन् देशे वेदिनिर्मापयिष्यते तस्मिन् देशे वेद्यामध्वर्युरुदगग्रं तृणं स्फ्येनसह गृहीतं निदध्यात्। 'पृथिवि देवयजनीति तृणेऽन्तर्हिते प्रहरति' (का० श्रौ० सू० २।६।८) व्रजं गच्छेति पुरीषमादत्ते' (का० श्रौ० सू० २।६।१०) व्रजं गच्छेति मन्त्रेण पुरीषं मृदं गृह्णीयात्। 'वर्षतु त इति वेदिं प्रेक्षते' (का० श्रौ० सू० २।६।११) 'वधानेत्युत्करे करोति' (का० श्रौ० सू० २।६।१२) वर्षतु त इति मन्त्रेण वेदिं प्रेक्षते, वधानेत्यनेन मृदमुत्करे क्षिपेत्। शतपथादिश्रुत्यनुसारीण्येवेमानि सूत्राणि, तदनुसार्येव च मन्त्रभाष्यम्, तदेव युक्तम्। पृथिव्यै वर्मासीति काण्वपाठः। तद्रीत्या हे तृण त्वं पृथिव्या वेदिस्थानरूपाया भूमेर्वर्मासि कवचस्थानमसि। यथा कवचेन शस्त्रप्रहारोपद्रवः परिह्रियते तथा स्फ्येन वेदिखननावसरे भूम्युपद्रवस्तृणेन परिह्रियते। पृथिवि देवयजनीति तृणेऽन्तर्हिते प्रहरति हे देव यजनि देवयागाश्रयभूते पृथिवि ते त्वदीयाया ओषध्यास्तृणरूपाया मूलं मा हिँसिषम् मा विनाशयामि। अत्रदेवयजनीति

असुरों को इधर-उधर चलने के अयोग्य कर देता है। 'अनपक्रमि' उसे कहते हैं, जो गोष्ठ के भीतर निरुद्ध किया जाता है। अतः इस मन्त्र प्रयोग का प्रयोजन 'अपक्रमणाभाव' है। 'नोपस्पृशेत् पृथिव्यात्मानौ। तेन स्तम्बयजुर्हरिष्यन् (का० श्रौ० सू० २।६।७-८) सूत्र कहता है कि स्तम्बयजुर्हरण करने वाला अध्वर्यु उस वज्र से पृथिवी और अपने को स्पर्श न करे।

१५—जिस स्थान पर वेदि का निर्माण होगा, उस स्थान पर वेदि में स्फ्य के साथ ग्रहण किये हुए तृण को उदगग्र (उत्तर की ओर तृण का अग्र भाग करके) रख दे। 'पृथिवि देवयजनि' (का० श्रौ० सू० २।६।१०-११-१२) सूत्रों ने बताया है कि 'पृथिवि देवयजनि' मन्त्र कहते हुए तृणान्तर्निहित पृथिवी पर प्रहार करे। 'व्रज गच्छ' मन्त्र से मृत्तिका का ग्रहण करे। 'वर्षतु त' मन्त्र से वेदि को देखे। 'बधान' मन्त्र से मृत्तिका को उत्कर में डाल दे। ये सब सूत्र शतपथादि श्रुति का ही अनुसरण करते हैं। और तदनुसारी ही मन्त्र भाष्य है, अतः वही उचित है। 'पृथिव्यै वर्मासि' यह काण्व पाठ है। उसके अनुसार हे तृण ! तुम वेदिस्थानरूप भूमि के कवच हो। जैसे—कवच के द्वारा शस्त्र प्रहार से होने वाले उपद्रव का परिहार किया जाता है, वैसे ही 'स्फ्य' के द्वारा वेदिखनन के समय भूमि को होने वाले उपद्रव (कष्ट) का तृण से परिहार किया जाता है। 'पृथिवि देवयजनि' मन्त्र से तृणान्तर्हित पृथिवी पर जब प्रहार किया जाता है, तब वह कहता है कि हे देवयागाश्रयभूते पृथिवि ! तुम्हारी तृण रूप ओषधि के मूल को मैं नष्ट नहीं कर रहा हूँ। पृथिवी को 'देवयजनि' विशेषण देकर यह बताया गया है कि वान्ति, लोहित आदि के कारण होने

विशेषणेन वान्तिलोहिताद्यापादिताशुचित्वं निवार्यते। तदुक्तम् तित्तिरिणा—'विषाद्वै नामासुर आसीत्। सोऽबिभेत्। यज्ञेनमादेवा अभिभविष्यन्तीति स पृथिवीमभ्यवमीत्। अमेध्योऽभवत्। अथो यदिन्द्रो वृत्रमहनत् तस्य लोहितम् पृथिवीमनुधावत्। अमेध्याभवत् पृथिविदेवयजनीत्याह—मेध्यामेनां देवयजनीं करोति। ओषध्यास्तेमूलं माहिᳬसिषमित्याह, ओषधीनामहिंसाया इति' (तै० १।१।६।३) विषमत्तीति विषात्। अतएवायं विषात् नामासुरो यज्ञेन देवकृताभिभवशङ्कया पृथिवीमभ्यवमीत्। तेन वृत्रलोहितेन च पृथिव्या अशुचित्वं जातम्। देवयजनीतिमन्त्रेण तन्निवार्यते।

१६—सर्वथापि शतपथादिश्रुतिसूत्रानुसार्येव मन्त्रव्याख्यानं युक्तम्। दयानन्दीयं व्याख्यानन्तु तन्न स्पृशत्येव। स्फ्यस्य प्रहारेण निष्पन्ना धूलिः पुरीषम् हे पुरीष त्वं व्रजं गच्छ व्रजन्ति गावो यत्रावस्थातुं यस्मिन् देशे स व्रजः। तं गच्छ। गोष्ठाने गवां स्थानम् गोभिरूपेतं देशं गोष्ठानं गच्छ। हे वेदि ते त्वदर्थं द्यौर्द्युलोकाभिमानी देवो वर्षतु जल सेचनं करोतु खननाद्युपद्रवपरिहारो वर्षणस्य प्रयोजनम्। बधानेति मृदमुत्करे करोति। उत्करो नाम वेदेरुत्तरभागे तृणधान्यादिपरित्यागप्रदेशः। हे देव सवितः परमस्यामन्तिमायां पृथिव्यां शतेन पाशैः शतसंख्याकाभिर्बन्धनरज्जुभिर्बधानास्मद्विरोधिनः स्फ्यानीतायां धूल्यां निगूढस्य बन्धनं कुरु। भूमेरन्तिमप्रदेशे योऽन्धतामिस्रो नरकोऽस्ति तस्मिन् वा बधान।

१७—अध्यात्मपक्षे—हे देवयजनि देवा इज्यन्ते यस्यां सा देवयजनी तत्सम्बुद्धौ हे देवयजनि ओषध्या ओषधीनां मूलं मूलभूतां त्वां मा हिंसिषम्। एतावता न केवलं मनुष्येषु किन्तु ओषधिमूलायाः पृथिव्या अपि हिंसा वार्यते सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वात्। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' (छा० उ० ३।१४।१) इति श्रुतेः। पृथिव्या देवयागाश्रयत्वेनौषधीनां यागसाधनत्वेन चाहिंसनीयत्वात्। यागाङ्गत्वेन यत्पृथिव्याः पांसुरुत्सार्यते तस्यापि गोभिरूपेते व्रजे प्रेषणम्। द्यौर्द्युलोकाभिमानी देवो वर्षतु तेन क्षतिपूर्तिः पृथिव्या ओषधीनाञ्च पुनः प्ररोहणम्।

वाली अपवित्रता का निवारण हो जाता है। इसी बात को तित्तिरि ने भी कहा है—'विषाद्वैनामासुर आसीत्। सोऽबिभेत्।……… ………ओषधीनामहिंसाया इति।' (तै०…… ……)। जो विष को भक्षण करता है उसे 'विषात्' कहते हैं। अत एव यह 'विषात्' नाम का असुर यज्ञ के द्वारा देवकृत अभिभव की आशङ्का से उसने पृथिवी पर वमन किये गये वृत्र और लोहित से पृथिवी अशुचि (अपवित्र) हो गई। उस अपवित्रता का निवारण 'देवयजनि' मन्त्र से हो जाता है।

१६—अतः श्रुति और सूत्र का अनुसरण करने वाला मन्त्र व्याख्यान ही सर्वथा उचित है। स्वामी दयानन्द का मन्त्र व्याख्यान तो श्रुति एवं सूत्र को स्पर्श तक नहीं कर रहा है। दयानन्द कहते हैं—स्फ्य के प्रहार से निष्पन्न हुई धूलि ही पुरीष है। इसलिये हे पुरीष! तुम व्रज में जाओ। गौएँ जहाँ रहने के लिये जाती हैं उस देश (स्थान) को व्रज कहते हैं। गौओं का जो स्थान है उसे गोष्ठान कहते हैं। गौओं से युक्त गोष्ठान देश को जाओ। हे वेदि! तुम्हारे लिये द्युलोकाभिमानी देव जल सेचन करे। खननादि उपद्रव का परिहार होना वर्षण का प्रयोजन है। 'बधान' मन्त्र से मृत्तिका को उत्कर में करता है। वेदी के उत्तर भाग में तृण धान्यादि के परित्याग प्रदेश को 'उत्कर' कहते हैं। हे देव सवितः। इस अन्तिम पृथिवी पर शतसंख्यक बन्धन रज्जुओं से हमारे विरोधियों को बाँध दे। अर्थात् स्फ्य से निकाली गई धूलि में छिपे हुए हमारे विरोधी को तुम रस्सियों से बाँध दो। अथवा भूमि के अन्तिम प्रदेश में जो अन्धतामिस्र नाम का नरक है, उसमें उन विरोधियों को बाँध के रखो।

१७—अध्यात्म पक्ष में—हे देवयजनि! देवों का अर्चन जिसमें होता है, वहदेवयजनी प्रदेश कहलाता है, उसका सम्बोधन रूप 'हे देवयजनि!' है। ओषधियों के मूलभूत तुम्हारी हिंसा हमसे न हो। इस कथन से केवल मनुष्यों में ही नहीं, किन्तु ओषधियों की मूलभूत पृथिवी की हिंसा का भी वारण किया गया है। क्योंकि सम्पूर्ण प्रपञ्च ही ब्रह्मात्मक है। छान्दोग्य श्रुति कह रही है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत्' (छा० उ० ३।१४।१) यह पृथिवी, देवयाग का आश्रय (आधार) है और ओषधियाँ याग साधन है, इस कारण वह अहिंसनीय है।

देवयजनस्थाने ओषधिबहुलप्रदेशे गावो यत्र प्रदेशे तिष्ठन्ति यत्र च वर्तन्ते तादृशस्य गोष्ठानस्य व्रजस्य प्रदेशस्य गवां मूत्रपुरीषादिप्रभावेण वृष्टिहेतुत्वम् वृष्टिवैषम्यनिवारणहेतुत्वञ्च भवति। चेतनाचेतनात्मकस्य सर्वस्यैव राष्ट्रस्य भूमण्डलस्य विश्वस्य च ब्रह्मात्मकत्वेन चैतन्यप्राधान्यम्। परस्पराहिंसनत्वेन परस्परोपकारहेतुत्वेन च सर्वं सर्वस्य मधु। चेतनानाममृतपुत्रत्वेनाचेतनानाञ्च तदुपकरणत्वेन तच्छक्तिमयत्वम्। एवं ब्रह्मात्मभावनायामपि यदि कश्चिदस्मान् द्वेष्टि तत एव यं वयं द्विष्मः तं बाधकं शत्रुं हे देव सवितः परमस्यामन्तिमायामन्धतामिस्रनरकादिरूपायां पृथिव्यां शतेनानन्तैः पाशैर्बधान। मा मौक् कदाचिदपि तं मा मुञ्च उग्रदण्डविधानस्यापि शान्तिसामञ्जस्यहेतुत्वात्। एवं यथायोग्यं शिष्टपरिपालनेन दुष्टनिग्रहेण च परस्पराहिंसनेन परस्परोपकार्योपकारभावेन मोदकत्वात् मधुरूपं सुखमयं भवति।

अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्या ँ शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्। अररो दिवं मा पप्तो द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन् व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्या ँ शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्॥ वा० सं० १।२६॥

पृथिवी की धूलि का उत्सारण, जिसे यागाङ्ग मानकर किया जाता है, उसे भी गौओं से युक्त व्रज में प्रेषित किया जाता है। द्युलोकाभिमानी देव वर्षा करे, उससे क्षति पूर्ति होगी अर्थात् पृथिवी पर ओषधियों का पुनः प्ररोहण होगा। ओषधिबहुल प्रदेश वाले देवयजन स्थान में जहाँ गौएँ खड़ी रहती हैं, वह व्रज प्रदेश, गोमूत्र पुरीष (गोबर) आदि के प्रभाव से वर्षा का हेतु तथा वृष्टि वैषम्य के निवारण का भी हेतु होता है। जड़–चेतनात्मक सम्पूर्ण विश्व ही ब्रह्मात्मक (ब्रह्म रूप) होने से चैतन्य-प्रधान है। परस्पर की अहिंसा से और परस्पर के उपकार का हेतु होने से सब सबका मधु है। सभी चेतन, अमृत के पुत्र हैं, और अचेतन (जड़) उसके उपकरण हैं, अतः उसकी शक्ति से वे पूर्ण हैं। इस प्रकार ब्रह्मात्म भावना में भी यदि कोई हमारा द्वेष करता है, उसी कारण जिसका हम द्वेष करते हैं, इस प्रकार ब्रह्मात्म भावना में बाधक होने वाले उस शत्रु को हे सविता देव! अन्धतामिस्र नामक नरक में जो पृथिवी का अन्तिम भाग है वहाँ रस्सियों से बाँध दो। और उसे कभी भी मत छोड़ो। इस प्रकार का उग्र दण्ड विधान भी शान्ति और सामञ्जस्य बनाये रखने में कारण होता है। एवं यथायोग्य शिष्ट परिपालन और दुष्ट निग्रहण के द्वारा परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव होने से वह आनन्दप्रद होता है तथा सुखमय (मधुरूप) होता है।

अर्थ—देवयागसाधनभूत पृथ्वी पर अर्थात् वेदी पर जो राक्षस संज्ञक अशुद्ध द्रव्य है उसे मैं दूर करता हूँ। हे अशुद्ध द्रव्य ! तुम गौएँ जहाँ निवास करती हैं वहाँ जाओ। हे वेदि ! तुम्हारे लिये द्युलोकाभिमानी देवता वृष्टि करे। हे सवितृ देव ! जो हमसे द्वेष रखता है और जिससे हम द्वेष करते हैं, उस शत्रु को सीमा की भूमि पर शत रज्जु पाशों से बाँध दो, और अन्धतामिस्र नरक से उसे कभी भी मुक्त मत होने दो। हे असुर ! (हे अशुद्ध द्रव्य !) तुम गौओं के निवास स्थान में जाओ। हे वेदि ! तुम्हारे लिये द्युलोकाभिमानी देवता वृष्टि करे। हे सवितृ देव ! हमारे द्वेष्य को अर्थात् जो हमसे द्वेष रखता है उस शत्रु को सीमा की भूमि पर शत रज्जु पाशों से बाँध दो और अन्धतामिस्र नरक से उसको कभी भी मुक्त मत होने दो ॥२६॥

१—'अपारुरमिति द्वितीयं प्रहरति' (का० श्रौ० सू० २।६।१४) पूर्ववदेव—पृथिव्यै देवयजनात् पृथिव्याः सम्बन्धिनो देवयजनाख्यात् वेदिस्थानात् अररुं अररुनामानमसुरम् अपवध्यासम् अपनीय यथा हतो भवति तथा करवाणि अनेन मन्त्रेण द्वितीयवारं पूर्ववदेव प्रहरेत्। स्फ्येनोद्धृतां मृदमुत्करे निःक्षिपेत् मन्त्रास्तदर्थाश्च पूर्ववदेव।

२—'अभिन्यस्यत्यग्नीदुत्करमररोदिवमिति' (का० श्रौ० सू० २।६।१५) अग्नीत् तन्नामक ऋत्विक् हस्तद्वयेनोत्करमभिमृशेत। हे अररो असुर दिवं द्युलोकं यागफलरूपं त्वं मा पप्तः मा गमः। स्वर्गे त्वया न गन्तव्यम्। (पत्लृ गतौ) इति धातोः लुङि 'पतः पुम्' (पा० सू० ७।१।१९) इति सूत्रेण पुमागमे पप्त इति रूपनिष्पत्तिः। 'द्रप्सस्त इति तृतीयमिति' (का० श्रौ० सू० २।६।१६) द्रप्सस्त इति मन्त्रेण तृतीयवारं प्रहरणादिकं कुर्यात्।

३—हे वेदि देवते ते तव पृथिवीरूपाया यो द्रप्स उपजीव्यो रसः द्यां द्युलोकं मास्कन् मास्कन्दतु मा स्कान्सीत् मा गच्छतु। व्रजं गच्छेत्यादीनां पूर्ववदेव व्याख्यानम् तूष्णीं चतुर्थं सतृण पुरीषमुत्करे प्रक्षिपेत्। 'तूष्णीं चतुर्थꣳ सतृणम्' (का० श्रौ० सू० २।६।१७)

४—स्वामिदयानन्दस्तु—'हे देव सवितर्भवत्कृपया वयं परस्परं विद्यामेवोपदिशामः। यथायं सविता देवः सूर्यलोकोऽस्यां पृथिव्यां शतेनपाशैर्बन्धनहेतुभिः किरणैराकर्षणेन पृथिव्यादीन् सर्वान् पदार्थान् बध्नाति तथैव त्वमपि

१—'अपारुरं पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासं व्रजं गच्छ' तथा 'अपारुरमिति द्वितीयं प्रहरति'—(का० श्रौ० सू० २।६।१४) का अर्थ पूर्ववत् ही है। पृथिवी के देवयजन नामक वेदिस्थान से 'अररु'संज्ञक असुर को हटाकर जैसे भी वह मारा जाय वैसा करें। इस मन्त्र से पूर्ववत् ही द्वितीय बार प्रहार करे। 'स्फ्य' से उद्धृत मृत्तिका को उत्कर में फेंक दे। मन्त्र और उसका अर्थ पूर्ववत् ही है।

२—'अभिन्यस्यत्यग्नीदुत्करमररोदिवमिति'—(का० श्रौ० सू० २।६।१५) अग्नीत् नाम का ऋत्विक् दोनों हाथों से उत्कर का स्पर्श करे। हे अररो असुर ! याग फल स्वरूप द्युलोक तुम्हें प्राप्त न हो। अर्थात् स्वर्ग में तुम मत जाओ। (पत्लृ गतौ) धातु का लुङ् लकार में 'पतः पुम्' (पा० सू० ७।१।१६) सूत्र से पुमागम करने पर 'पप्त' रूप बनता है। 'द्रप्सस्त इति तृतीयमिति'—(का० श्रौ० सू० २।६।१६) सूत्र कहता है कि 'द्रप्सस्त' इस मन्त्र से तीसरी बार प्रहरण आदि करे।

३—हे वेदि देवते ! तुम पृथिवी स्वरूप हो, तुम्हारा जो उपजीव्य रस (द्रप्स) है, वह द्युलोक में न जाय। 'व्रजं गच्छ' इत्यादि की पूर्व की तरह ही व्याख्या है। 'तूष्णीं चतुर्थꣳ सतृणम्'—(का० श्रौ० सू० २।६।१७) सूत्र से बताया है कि चौथा तूष्णीम् अर्थात् बिना मन्त्र के तृण सहित पुरीष को उत्कर में डाल दे।

४—किन्तु स्वामी दयानन्द कहते हैं—हे सविता देव ! आपकी कृपा से हम लोग परस्पर विद्या (ज्ञान) का ही उपदेश करते रहते हैं। जिस प्रकार यह सविता देव (सूर्य लोक) बन्धन के हेतुभूत अपने सैकड़ों किरणों से पृथिवी आदि सम्पूर्ण पदार्थों का आकर्षण कर उन्हें बाँधता है, वैसे ही तुम भी दुष्टों को बाँधकर शुभ गुणों को प्रकाशित

दुष्टान् बध्वा शुभगुणान् प्रकाशय। हे विद्वांसो यथाहं पृथिव्यां देवयजनादररुमपवध्यासं तथैव तं यूयमप्यपाघ्नत। यथाहं व्रजं गच्छामि तथैव त्वमप्येतं गच्छ। यथाहं गोष्ठानं वर्षामि तथैव भवानपि वर्षतु। यथा मम द्यौर्विद्याप्रकाश: सर्वान् प्राप्नोति तथैव ते तवापि प्राप्नोतु। यथाऽहं योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तं परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्नित्यं बध्नामि, कदाचितं न त्यजामि। तथैव हे वीर तं त्वमिमं बधान। तस्मात: कदाचिन्मा मौक्। योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतोबन्धनात् कोऽपि वा मुञ्चतु। एवं च तं प्रति सर्व उपदिशन्तु। हे अररो त्वं दिवोमा पप्त: तथाते तव द्रप्सो द्यां मास्कन्। हे सन्मार्गजिज्ञासो यथाहं व्रजं सन्मार्गं गच्छामि तथैव त्वमप्येतं गच्छ। यथेयं द्यौर्गोष्ठानं वर्षति तथैवेश्वरो विद्वान् वा ते तव कामान् वर्षतु। यथायं सविता देव: सूर्यलोक: परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्बन्धहेतुभि: किरणैराकर्षणेन पृथिव्यादीन् बध्नाति तथा त्वमपि च योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वय द्विष्मस्तं परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्बधान। यथाहं द्वेष्टारं शत्रुं शतेन पाशैर्बध्वा न कदाचिन्मुञ्चामि तथैव त्वमप्येनं बधान। कदाचिन्मा मौक्। लुप्तोपमालङ्कार:। ईश्वर आज्ञापयति हे मनुष्या युष्माभिर्विद्वत्कार्यानुष्ठाने विघ्नकारिणो दुष्टा: प्राणिन: सदाऽपहन्तव्या:। सत्समागमेन विद्यावृद्धिर्नित्यं कार्या। यथा अनेकोपायै: श्रेष्ठानां हानिर्दुष्टानाञ्च वृद्धिर्नस्यात् तथैवानुष्ठेयम्। सदा श्रेष्ठा: सत्कार्या: दुष्टास्ताड़नीया बन्धनीयाश्च परस्परं प्रीत्या विद्याशरीरबलं सम्पाद्य क्रियया कलायन्त्रै: कानि यानानि रचयित्वा सर्वेभ्य: सुखं देयम्। निरन्तरमीश्वरस्याज्ञापालनम् कर्तव्यम् स एव उपासनीयश्च इति। जल्पितवान्,

५—तदविचारितरमणीयम्, पदार्थासङ्गते:। अररुमित्यस्य असुरराक्षसस्वभावं शत्रुमित्यर्थे

करो। हे विद्वानों! जैसे मैंने पृथिवी पर देवयजन को अरुर नामक असुर को विनष्ट किया, वैसे ही तुम लोग भी उसे नष्ट करो। जैसे मैं व्रज में जाता हूँ, वैसे ही तुम भी उस व्रज को जाओ। जैसे मैं गोष्ठान पर वर्षा करता हूँ, वैसे ही तुम भी वर्षा कवो। जैसे मेरी विद्या का प्रकाश सबको प्राप्त होता है, वैसे ही तुम्हारी विद्या का प्रकाश भी सबको प्राप्त हो। जैसे मैं अपने द्वेष्टाओं को इस पृथिवी पर सैकड़ों पाशों से नित्य बाँधता रहता हूँ, कभी भी उन्हें नहीं छोड़ता हूँ. उसी तरह हे वीर! तू उसे बाँध, और उसे कभी भी उस बन्धन से मुक्त मत कर। जो हमारा द्वेष करता है, और जिसका हम द्वेष करते हैं, ऐसे उभय विध शत्रु को बन्धन से कोई भी न छुड़ावे। एवञ्च उसके प्रति सभी लोग उपदेश करें। हे अररो! तुम स्वर्ग में मत जाओ। तथा तुम्हारा उपजीव्य रस, स्वर्ग में न जाय। हे सन्मार्ग जानने की इच्छा करने वाले जैसे मैं सन्मार्ग (व्रज) पर चलता हूँ, वैसे ही तुम भी उस पर चलो। जैसे यह द्यौ: (स्वर्ग) गोष्ठान पर जल सेचन करती है, उसी तरह ईश्वर अथवा विद्वान् तुम पर तुम्हारे अभीष्ट फलों की वर्षा करे, अर्थात् तुम्हारे मनोरथों को पूर्ण करे। जैसे यह सविता देव सूर्यलोक इस पृथिवी पर उसके सब पदार्थों को अपनी सैकड़ों बन्धन कारक किरणों से आर्कषित कर बाँधता है, उसी तरह तुम भी इस पृथिवी पर अपने द्वेष्टाओं को सैकड़ों बन्धनों से बाँध दो जैसे मैं अपने द्वेष्टा शत्रु को सैकड़ों बन्धनों से बाँधकर पुन: उसे कभी छोड़ता नहीं हूँ उसी तरह तुम भी उसे बाँधो, कभी भी उसे मत छोड़ो। यहाँ लुप्तोपमालङ्कार है।

ईश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्यों! तुम लोग विद्वानों के कार्यों में विघ्न पहुँचाने वाले दुष्ट प्राणियों को सर्वदा नष्ट करो। और सत्समागम के द्वारा विद्या का संवर्धन नित्य किया करो। जितने भी उपायों से हो उन सभी उपायों से श्रेष्ठों की हानि और दुष्टों की वृद्धि जिस तरह न हो पाये, वैसा ही किया करें। श्रेष्ठों का सर्वदा सत्कार किया करो। और दुष्टों का ताड़न और बन्धन किया करो। परस्पर प्रीति पूर्वक विद्याबल और शरीरबल का सम्पादन करते हुए कलापूर्ण यन्त्रों से कतिपय यान आदि को बनाकर सबको सुख दिया करो। ईश्वर की आज्ञा का पालन निरन्तर करते रहना चाहिये। क्योंकि वही उपासनीय है।' इस प्रकार दयानन्द स्वामी ने जल्पन किया है।

५— जब तक उस पर विचार नहीं किया जाता, तभी तक वह रमणीय प्रतीत हाता है। क्योंकि पदार्थों की परस्पर कहीं कोई सङ्गति नहीं है। 'अररु' पद का असुर राक्षस

गौरवमेव। अररुपदस्य शतपथश्रुतौ राक्षसविशेषवाचकतया तदुपेक्ष्य राक्षससामान्यपरत्वाभ्युगमे श्रुतिविरोधात्। वथा कथञ्चित् राक्षससामान्यपरत्वेऽपि तत्स्वभावशत्रुपरत्वाभ्युपगमस्तु सर्वथाऽप्रामाणिक एव। तथैव व्रजशब्दस्य सत्सङ्गपरत्वमध्ययनाध्यापनव्यवहारपरत्वमपि न सङ्गतमनैकान्तिकत्वात्। गवां वाणीनां व्यवहारे गतिनिवृत्त्यसम्भवात्। वर्षतु इत्यस्यापि शब्दस्य विद्यावृष्टिनर्थः, जलसेचने तत्प्रसिद्धिविरोधात्। द्यौरित्यस्य विद्याप्रकाशोऽर्थोऽपि न सङ्गतस्तत्र शिष्टप्रयोगाभावात्। परमस्यामित्यस्य उत्कृष्टायां पृथिव्यामित्यस्य बहुप्रदायामित्यादि विवरणमप्यसङ्गतम्, बन्धनाधारत्वाय पृथिव्यामुत्कृष्टत्वबहुप्रदत्वादि विशेषणानपेक्षणात् परस्परमुपदेशोऽपि न सम्भवति, सामाजिकेष्वपि अध्यापकेभ्यश्छात्रकर्तृकोपदेशासम्भवात्।

६—किञ्च सूर्यलोको यथा बन्धनहेतुभिः किरणैः पृथिव्यादीन् पदार्थान् बध्नाति तथा त्वमपि दुष्टान् बध्वोत्तमान् गुणान् मे प्रकाशयेत्यपि न सङ्गतम् दृष्टान्तस्यैवाप्रसिद्धत्वात् पूर्वत्रनिरस्तत्वाच्च।

७—किञ्च दृष्टान्ते बन्धनंधारणरूपोऽनुग्रह एव, दार्ष्टान्ते तु निग्रहरूपं बन्धनं किरणानां बन्धकत्वञ्चाकर्षणाभ्युपगन्तृभिरपि नानुमन्यते।

८—किञ्च देवयजनशब्दस्य सङ्ग्रामोऽर्थ इति प्रमाणसापेक्षमेव। अहमीश्वरो यथा पृथिव्यां सङ्ग्रामात् दुष्टस्वभावान् शत्रून् हन्मि तथैव त्वमपि तं मारयेत्यपि न सङ्गतम्, ईश्वरस्य दुष्टैः सार्धं युद्धस्याप्रसिद्धत्वात्। नचाप्रसिद्धो दृष्टान्तः सम्भवति। विष्णु–राम–कृष्णादिरूपेणासुरादिभिः परमेश्वरस्य युद्धं सम्भवति तच्च युष्माभिर्नाभ्युपेयते। यथाहमुत्तमगुणज्ञापकैः सज्जनैः सङ्गतिं प्राप्नोमि तथा त्वमपि प्राप्नुहि इत्यपि न सङ्गतम् ईश्वरस्य सर्वज्ञस्य सत्सङ्गत्यनपेक्षणात्, तदप्रसिद्धेश्च। यथाहं पठनपाठनव्यवहारबोधकमेघगर्जनवेदवाण्योत्तमैः शब्दबिन्दुभिर्वर्षयामि

स्वभाव वाला शत्रु अर्थ करने पर गौरव दोष होता है। शतपथ श्रुति तो 'अररु' पद को राक्षस विशेष का वाचक बताती है। किन्तु उस अर्थ की उपेक्षा करके अररु' पद को राक्षससामान्य के अर्थ में स्वीकार करने पर श्रुति विरोध हो गया है। यथाकथञ्चित् राक्षस सामान्यपरक भी मान लिया जाय तब भी तत्स्वभाव शत्रु परत्व रूप अर्थ का स्वीकार करना तो अप्रामाणिक ही कहा जायगा। तथैव व्रज' शब्द का सत्सङ्गपरत्व और अध्ययनाध्यापनपरत्व कहना भी अनैकान्तिक होने से असङ्गत है। 'गो' अर्थात् वाणी के व्यवहार में गति निवृत्ति का होना सम्भव नहीं है। 'वर्षतु' का भी विद्या वृष्टि अर्थ नहीं है। जल सेचन अर्थ करने पर उसकी प्रसिद्धि का विरोध होता है। 'द्यौ' शब्द का भी विद्या प्रकाश अर्थ करना सङ्गत नहीं है, क्योंकि शिष्ट लोगों का वैसा प्रयोग नहीं है। 'परमस्याम्' तथा 'उत्कृष्टायां पृथिव्याम्' का 'बहुप्रदायां' यह विवरण करना भी असङ्गत है। बन्धनाधारत्व के लिये पृथिवी का उत्कृष्टत्व, बहुप्रदत्वादि विशेषणों की कोई अपेक्षा नहीं है। परस्पर उपदेश करना भी सम्भव नहीं है। समाज में भी अध्यापकों को छात्र उपदेश नहीं दिया करते हैं।

६—किञ्च सूर्य लोक जिस प्रकार बन्धन हेतुभूत किरणों से पृथिव्यादि पदार्थों को बाँधता है वैसे तुम भी दुष्टों को बाँधकर उत्तम गुणों को प्रकाशित करो, यह कथन भी असङ्गत है, क्योंकि दृष्टान्त ही कोई प्रसिद्ध नहीं है और पहले इस कथन का निरसन भी हो चुका है।

७—किञ्च दृष्टान्त में बन्धन धारण रूप अनुग्रह ही है, किन्तु दार्ष्टान्त में निग्रह रूप बन्धन और किरणों का बन्धकत्व, आकर्षण को स्वीकार करने वाले भी नहीं मानते हैं।

८—किञ्च 'देवयजन' शब्द का संग्राम अर्थ करना प्रमाण सापेक्ष ही है। मैं ईश्वर जिस प्रकार पृथिवी पर संग्राम करके दुष्ट स्वभाव वाले शत्रुओं को मारता हूँ, वैसे ही तुम भी उन्हें मार दो, यह कथन भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि ईश्वर का दुष्टों के साथ युद्ध करना कहीं प्रसिद्ध नहीं है। अप्रसिद्ध को दृष्टान्त के रूप में कहना कभी भी उचित नहीं होता। असुरादिकों से परमेश्वर का विष्णु, राम, कृष्ण के रूप में तो युद्ध करना सम्भव हो सकता है, किन्तु उसे तो आप स्वीकार नहीं कर सकते। जैसे मैं उत्तम गुणों के ज्ञापक सज्जनों से सङ्गति करता हूँ, वैसे तुम

तथा त्वमपि वर्षय यथा मद्विद्यायां या द्यौः शोभा सर्वदृष्टिगोचरा तथैव त्वदीयापि विद्या सुशोभितास्तु इत्यादिकमपि निःसारम्, निराकारस्य कण्ठताल्वाद्यभावेन मेघगर्जनतुल्यशब्दविन्दुवर्षणासम्भवात्। ईश्वरविद्याया शोभापि न सर्व-दृष्टिगोचरा, तथात्वे नास्तिक्यानापत्तेः। यथाहं—यो मूर्खोऽस्मान् विद्याप्रचारकान् द्वेष्टि यं च विरोधिनं जनं वयं द्विष्मस्तं परमस्यामुत्कृष्टायां सर्वपदार्थधारिकायां विविधसुखदात्र्यां पृथिव्यां बहुभिः पाशैर्बन्धनैर्नित्यं बध्नामि कदा-चिदपि न त्यजामि हे वीर तथैव त्वमपि तं बन्धय कदापि मा त्यज अर्थात् कोऽपि तादृशं पुरुषं न त्यजेदित्यादि सर्व-मेतत् निरर्थकम् दृष्टान्ताप्रसिद्धेः।

९—किञ्चोत्कृष्टायां सर्वपदार्थधारिकायां सर्वसुखदात्र्यां भूमौ दुष्टस्य बद्ध्वावस्थापनमपि सुखदाय्येव स्यात् तस्याः सर्वसुखदातृत्वात्।

१०—किञ्च वयं सर्वे तं दुष्टमुपदिशामः, हे अररो दुष्टपुरुष त्वं दिवं प्रकाशमुन्नतिं मा प्राप्नुहि। तथा तवानन्ददायकं विद्यारसं दिवमानन्दं मास्कन् मा प्राप्नुहि इत्यपि मूढजनजल्पितमेव दुष्टस्य उपदेशसाध्यत्वासम्भवात्। नहि कस्यचिदुपदेशात् कश्चिदुन्नतिप्राप्तेरानन्दप्राप्तेर्वा विरतो भवति। सिद्धान्ते तु परमेश्वरस्य देवानामृषीणाञ्चाज्ञा-वचनादुन्नतिरानन्दप्राप्तिश्च प्रतिबद्धयते नोपदेशात्। सर्वसाधारणस्याज्ञावशादपि न कस्यचिदुन्नतिरवरुद्धयते न च कोऽपि कश्चिदप्येवमुपदिशति त्वयोन्नतिर्न कर्त्तव्या आनन्दप्राप्तिश्च न कर्त्तव्येति। किमुत परमेश्वरः। यथाहं विद्वत्प्रा-

---

भी उनमें सङ्गति करो, यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ ईश्वर को सत्सङ्गति की क्या जरूरत ? और ईश्वर ने सत्सङ्गति की, यह कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। जैसे मैं पठन-पाठन व्यवहार बोधक मेघ गर्जन तुल्य वेद वाणी के उत्तम शब्द रूप विन्दुओं से वर्षा करता हूँ, वैसे तुम भी वर्षा करो, जैसे मेरी विद्या में जो शोभा (द्यौः) सबके दृष्टिगोचर होती है, वैसे ही तुम्हारी विद्या भी सुशोभित हो, इत्यादि कथन भी निःसार है। निराकार को कण्ठ-तालु आदि अवयव नहीं हुआ करते, अतः उससे मेघगर्जन तुल्य शब्द विन्दुओं की वर्षा होना सम्भव नहीं है। ईश्वर विद्या की शोभा भी सब के दृष्टिगोचर नहीं है। वैसा यदि हो तो नास्तिकता कहीं रहेगी ही नहीं। जैसे मैं, जो मूर्ख, हम विद्या प्रचारकों का द्वेष करता है और जिस विरोधी मनुष्य का हम द्वेष करते हैं उस शत्रु को समस्त पदार्थों को धारण करने वाली, तथा विविध सुखों को देने वाली इस पृथिवी पर अनेक पाशों से नित्य बाँधता हूँ, कभी भी उसे मैं उस बन्धन से मुक्त नहीं करता, उसी तरह हे वीर! तुम भी उसको बाँधो, कभी भी उसे मुक्त मत करो, अर्थात् कोई भी वैसे आदमी को न त्यागे, इत्यादि सभी कथन निरर्थक हैं, क्योंकि कोई दृष्टान्त ही प्रसिद्ध नहीं है।

९—किञ्च सकल पदार्थ धारिणी सर्वसुखदात्री उत्कृष्ट भूमि पर दुष्ट को बाँधकर रखना भी सुखदायी ही होगा, क्योंकि पृथ्वी (भूमि) सबको सुख देने वाली होती है।

१०—किञ्च हम सब उस दुष्ट को उपदेश करें कि हे अररो ! दुष्ट पुरुष ! तुम प्रकाश अर्थात् उन्नति को मत प्राप्त करो तथा तुम्हारा आनन्द दायक विद्या रस आनन्द को न प्राप्त करे। इत्यादि कथन भी मूढ़ जन के जल्पन की तरह ही है, क्योंकि दुष्ट, कभी भी उपदेश साध्य नहीं हुआ करता। और न कोई किसी के उपदेश से अपनी उन्नति या आनन्द प्राप्ति का त्याग करता है। सिद्धान्त की दृष्टि से तो परमेश्वर, देवता, और ऋषियों के आदेश से ही उन्नति एवं आनन्द प्राप्ति होती है, उपदेश से नहीं। सर्वसाधारण की आज्ञा से भी किसी की उन्नति अवरुद्ध नहीं हुआ करती और न कोई किसी को ऐसा उपदेश ही देता है कि तुम उन्नति मत करो, आनन्द को मत प्राप्त करो। जब साधारण मनुष्य भी इस प्रकार नहीं कहता, तो परमेश्वर ऐसा कहता है, यह कैसे माना जाय जैसे मैं विद्वानों के प्राप्त करने योग्य श्रेष्ठ मार्ग को प्राप्त करता हूँ वैसे तुम भी उसे प्राप्त करो, यह कहना भी निःसार है। क्योंकि श्रेष्ठ मार्ग तो परमेश्वर के द्वारा ही समुपदिष्ट है। उसको उस मार्ग के प्राप्त करने की क्या आवश्यकता ? सूर्य का प्रकाश जैसे—गोष्ठान, पृथिवीस्थान, अन्तरिक्ष को सिञ्चित करता है, वैसे ही ईश्वर अथवा विद्वान् तुम्हारी

त्तियोग्यं श्रेष्ठमार्गं प्राप्नोमि तथा त्वमपि तं प्राप्नुहि इत्यपि निःसारम्, श्रेष्ठमार्गस्य परमेश्वरेणैवोपदिष्टत्वेन तस्य तत्प्राप्त्यनपेक्षणात्। सूर्यप्रकाशो यथा गोष्ठानं पृथिवीस्थानमन्तरिक्षं सिञ्चति तथैवेश्वरो विद्वान् वा त्वदीयां कामनां वर्षतु पूरयतु इत्यप्यसङ्गतम्, अग्निना सिञ्चतीत्यादिवाक्यवदयोग्यत्वात् ईश्वरश्च कर्मानुसारेणैव वाञ्छापूरको भवति न स्वातन्त्र्येणेत्युक्तिरपार्थैव एवमन्यूदप्यूह्यम्।

११—शतपथविरुद्धञ्चैतत्। तथाहि—'अथ द्वितीयं प्रहरति अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद् वध्यासमित्यररुर्हवै नामासुरराक्षसमास। तं देवा अस्या अपाघ्नत। तथो एवैनमेनमेतदेषोऽस्या अपहते व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याᳩ शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौगिति। (श० १।२।४।१७) एवं स्तम्बयजुर्हरणस्य प्रथमपर्यायमभिधाय द्वितीयपर्यायार्थं प्रहरणादिकं समन्त्रक विधत्ते अर्थेति अररुर्नामासुरराक्षसं सुराणां विरोधि रक्षो बभूव। 'अनसन्तात्' (पा० सू० १।४।१०३) इत्यकारः समासान्तः। 'अररुर्वै नामासुर आसीत्। स पृथिव्यामुपप्लुतोऽशयत्। तं देवा अपहतोऽररुः पृथिव्या इति पृथिव्या अपाघ्नत।'(श०ब्रा०१।२ ४।१७)देवा अस्यै अस्याः पृथिव्याः सकाशात् अपाघ्नत अपहृतवन्तः। देववदेवेदानीन्तन एषोऽध्वर्यु रपाररुमिति मन्त्रेण पृथिव्याः सकाशात् तमपहन्ति। अररुनामकोऽसुरः पृथिव्यां वेदिस्थाने गुहाशये वृततमे तमररुं पृथिव्यै पृथिव्याः सम्बन्धिनो देवयजनाख्यात् वेदिस्थानात् अपवध्यासम्। अपनीय यथा हतो भवति तथा करवाणीत्यर्थः। व्रजं गच्छेत्यादिकस्य सर्वस्य द्वितीये पर्याये प्रयोज्यस्य प्रागुक्त एवार्थ इत्यभिप्रेत्यानुवदति व्रजं गच्छेति।

१२—'तमग्नीदभिनिदधाति अररो दिवं मापप्त इति। यत्र वै देवा अररुमसुरराक्षसमपाघ्नत स दिवमपिपतिषत्तमग्निरभिन्यदधाददररो दिवं मा पप्त इति। स नदिवमपप्तत्तथोऽएवैनमेतदध्वर्यु रेवास्माल्लोकादन्तरे दिवोऽध्यग्नीत्तस्मादेवं करोति।' (श० १।२।४।१८) उत्करे न्युप्तस्य स्तम्बयजुषोऽभिधानं समन्त्रकमाह—तमिति। अभिनिदधाति उपरि हस्तनिधानेनाधस्तात् क्षिपतीत्यर्थः। मा पप्त इति पतनाभावप्रार्थनं समर्थयितुं पुरावृत्रमुदाहरति स देवैरपहतो अररुः अपिपतिषत् दिवं पतितुं गन्तुमैच्छत्। तं तथाविधं पिपतिषुमररुमुत्तरतः परिगतोऽग्निः अभिन्यदधात्। उपरि

कामनाओं को बरसावे यानी पूर्ण करे। यह कहना भी असङ्गत है। क्योंकि 'अग्निना सिञ्चति' वाक्य की तरह उपर्युक्त कथन भी अयोग्य है। और ईश्वर, कर्मानुसार ही इच्छा पूरक होता है, उसमें उसकी स्वतन्त्रता नहीं है, यह कथन भी निरर्थक ही है, इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

११—तथा यह सब दयानन्दीय कथन शतपथ के विरुद्ध भी है। तथाहि—शतपथ ब्राह्मण (१।२।४।१७) स्तम्बयजुर्हरण के प्रथम पर्याय को बताकर द्वितीय पर्याय के लिये समन्त्रक प्रहरणादि का विधान किया गया है। अररु नाम का राक्षस था, जो देवताओं का विरोधी था। मन्त्र में 'असुररक्षसम्' पद है। 'रक्षः' शब्द से 'अनसन्तात्' (पा० सू० १।४।१०४) सूत्र के द्वारा अकार' समासान्त हुआ है। तित्तिरी ने भी कहा है कि देवों ने इस पृथिवी पर से उसका अपहरण किया। देवता के तुल्य ही इस समय का यह अध्वर्यु 'अपाररुम्' मन्त्र से उसका इस पृथिवी पर से अपहरण करता है। अररु नाम का असुर वेदि स्थान में जो छिपा हुआ है, उसे देयजन संज्ञक वेदि स्थान से हटाया, और हटाकर जैसे भी नष्ट हो जाय वैसा कर दिया। द्वितीय पर्याय में प्रयुक्त होने वाले 'व्रज गच्छ' इत्यादि का अर्थ पहले बता दिया है।

१२—शतपथ ब्राह्मण (१।२।४।१८) उत्कर में रखे हुए स्तम्बयजु के अभिनिधान को समन्त्रक बता रहा है। अभिनिधान का अर्थ है, ऊपर हाथ रखकर नीचे डाल देना। 'मा पप्तः' से पतनाभाव (न गिरने) की प्रार्थना (इच्छा) का समर्थन करने के लिये पुरावृत्त (इतिहास) बताते हैं। देवताओं के द्वारा अपहृत हुआ वह 'अररु, नीचे न गिरूँ' इस इच्छा से स्वर्ग लोक को जाने की इच्छा करने लगा। उस प्रकार इच्छा करने वाले उस अररु को उत्तर की ओर चारों ओर से व्याप्त हुए अग्नि ने उसकी गति को कुण्ठित कर दिया। ऊपर हाथ के रखने से उसे नीचे की ओर प्रेरित किया। यह कहते हुए प्रेरित किया कि हे अररो ! तुम द्यु लोक (स्वर्ग लोक) को मत जाओ। (गति के अर्थ

हस्तनिधानेनाधस्तात् प्रेरितवान् । किं ब्रुवन् हे अररो दिवं द्युलोकं मा पप्तः मा प्राप्नुहि । (पत्लृ गतौ) भ्वादिः । लुङि लृदित्वादङ् 'पतः पुम्' (पा० सू० ७।४।१६) इति पुमागमः । एवमग्निनाऽभिहिते सति सोऽररुः दिवं न प्राप्नोत् । तद्वदेवेदानीमपि अध्वर्युः स्तम्बयजुर्हरन् अस्माद् भूलोकात् एनमररुं अन्तरेति अन्तरितं व्यवहितं करोति । आग्नीध्रश्चैतन्मन्त्रकरणेनोत्कराभिनिधानेन दिवोऽन्तरिक्षात् तमसुरमन्तरितं करोति । अथ तृतीयं प्रहरति– द्रप्सस्ते द्यां मास्कन्नित्ययं वा अस्यैद्रप्सो यमस्या इम ᳫं रसं प्रजाउपजीवन्त्येषु ते दिवं मा पप्तदित्येवैतदाह—व्रज गच्छ । गोष्ठानं वर्षतु । ते द्यौर्बधान देवसवितः परमस्यां पृथिव्या ᳫं शतेनपाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौगिति ।' (श० १।२।४।१९) अथ तृतीयं पर्यायं विधत्ते—अथेति । मन्त्रं व्याचष्टे अयं वा इति । अस्याः पृथिव्याः सम्बन्धिनं यमिमं मधुरादिरसं सर्वाः प्रजाउपजीवन्ति अयं खल्वस्याः पृथिव्या द्रप्सः । तथा च हे पृथिवी ते त्वदीय एष रसः दिवं द्युलोकं मा पप्तत् मा पतत्विति इममर्थमेषमन्त्रो ब्रूत इत्यर्थः । अस्मिन् तृतीयेऽपि पर्याये व्रजं गच्छेत्यादिकं सर्व पूर्ववदेव प्रयोक्तव्यमित्यभिप्रेत्य तत्पठति व्रजमित्यादि । तस्माच्छतपथानुसारि सिद्धान्तमन्त्रसम्मतव्याख्यानमेव युक्तम् न दयानन्दाद्युक्तम् ।

१३—'स वै त्रिर्यजुषा हरति' (श० १।२।४।२०) इत्यादिना समन्त्रकं त्रिर्हरणमनूद्य प्रशंसति—इमे पृथिव्यादयस्त्रयो लोका त्रिष्कृत्वो हरणेन एभिस्त्रिभिरेवलोकैरेनमररुमभिनिदधाति अभितो निक्षिपति बाधत इति यावत् । यजुर्मन्त्रेण हरणस्य लोकत्रयस्य च साम्यमाह—पृथिव्यादयस्त्रयोलोका अद्धा प्रत्यक्षमेव त्रिर्यजुर्हरणञ्चाद्धा प्रत्यक्षमेव अनुष्ठेयार्थस्य साक्षात्प्रतिपादकत्वात् । एवं लोकानां यजुषाञ्च प्रत्यक्षत्वसाम्यात् तुल्यत्वं त्रिवारं यजुषा हरणेन लोकत्रयादेवाररोर्बाधो भवति ।

१४—तूष्णीं चतुर्थमिति ।' (श० १।२।४।२१) अमन्त्रकं चतुर्थं पर्यायं विधत्ते—तस्य प्रयोजनञ्चोक्तम्—इमान् प्रागुक्तान् त्रींल्लोकानतिक्रम्य यत् चतुर्थं लोकजातमस्ति तत् अस्ति न वा इति सन्दिग्धम् अत्यन्तविप्रकृष्टत्वेना-

---

में भ्वादिगण का 'पत्लृ' धातु है । लृदित होने से लुङ् लकार में 'अङ्' हुआ और 'पतः पुम्' (पा० सू० ७।४।१९) सूत्र से पुमागम किया । इस प्रकार अग्नि के कहने पर वह अररु स्वर्ग लोक को प्राप्त नहीं कर सका । उसी तरह इस समय स्तम्बयजुर्हरण करता हुआ अध्वर्यु भी इस भू लोक से अररु को अन्तरित (व्यवहित) करता है और आग्नीध्र भी इस मन्त्र से कराभिनिधान के द्वारा उस असुर को अन्तरिक्ष से अन्तरित (व्यवहित) करता है । उसके अनन्तर शतपथ ब्राह्मण (श० १।२।४।१९) से तृतीय पर्याय का विधान किया गया है । 'अयं वा' से मन्त्र की व्याख्या करते हैं—इस पृथिवी का जो मधुरादि रस है जिसके बल सम्पूर्ण प्रजा जीवित है, वह इस पृथिवी का उपजीव्य रस (द्रप्स) है । तथाच हे पृथिवि ! तुम्हारा यह उपजीव्य रस (द्रप्स) द्यु लोक (स्वर्ग लोक) में न जाय । इस अर्थ को यह मन्त्र बता रहा है । इस तृतीय पर्याय में भी व्रजं गच्छ' इत्यादि सबका पहले की तरह ही प्रयोग करना चाहिये । इसी अभिप्राय से 'व्रजम्' इत्यादि पढ़ा गया है । इस शतपथानुसारी सिद्धान्त मन्त्र सम्मत व्याख्यान ही युक्त है । दयानन्द कृत व्याख्यान उचित नहीं है ।

१३ 'स वै त्रिर्यजुषा हरति'—(श० १।२।४।२०) से समन्त्रक त्रिर्हरण का अनुवाद करके प्रशंसा की जा रही है । ये पृथिव्यादि तीन बार हरण करके वे स्वयं ही उस अररु को फेंक देते हैं । यजुर्मन्त्र के द्वारा किये हुए हरण का लोकत्रय से साम्य बताते हैं—पृथिव्यादि तीन लोक प्रत्यक्ष ही हैं । और त्रिर्यजुर्हरण भी प्रत्यक्ष हो है, क्योंकि अनुष्ठेयार्थ का प्रतिपादक है । इस प्रकार से लोक और यजुओं का प्रत्यक्षत्व समान होने से दोनों की तुल्यता है । तीन बार यजु के द्वारा हरण करने से ये लोकत्रय ही अररु का बाध करते हैं ।

१४—'तूष्णीं चतुर्थमिति' (श० १।२।४।२१) इससे चतुर्थ पर्याय का अमन्त्रक विधान किया गया है । उसका प्रयोजन भी बताया है—पहले कहे हुए इन तीन लोकों का अतिक्रमण कर जो चौथा लोक है, उसके होने, न होने में सन्देह है । क्योंकि वह अतीव दूरतर होने से अनुभव में नहीं आता है । इस चतुर्थ हरण से उसी सन्दिह्यमान लोक के

नुभवागोचरत्वात् । एतच्चतुर्थहरणात्तेनैव सन्दिह्यमानेन लोकजातेन विद्वेषं कुर्वन्तं शत्रुजातं बाधते । तदुपपादयति—तूष्णीं हरणस्य चतुर्थस्थानस्य च साम्यमुच्यते तूष्णीं हरणस्यापि अनुष्ठेयार्थप्रतिपादकमन्त्राप्रयोगादप्रत्यक्ष चतुर्थस्य स्थानस्य चाप्रत्यक्षत्वमिति ।

१५—अध्यात्मपक्षेऽपि पृथिव्याः सम्बन्धिदेवयजनात् अररुं तन्नामकमसुरराक्षसं भगवत्सम्बन्धिकर्मोपासनादिबाधकमपनीय वध्यासम् । व्रजं गच्छेत्यादिकं पूर्ववदेव व्याख्यातव्यम् । अररो दिवमन्तरिक्षं मा पप्तः मा गमः । हे पृथिवि द्रप्सस्ते त्वदीयो रसो द्यां दिवं मास्कन् मा गच्छतु । अर्थात् भगवदाराधनादिप्रतिबन्धकोऽसुरादिः सर्वतो रुद्धो नाशमेव गच्छतु । पृथिव्यास्तु—द्रप्सो रसो द्यां मा गच्छत द्रपनवत्यां पृथिव्यामेव ।

गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि । सुक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा चास्यूर्जस्वती चासि पयस्वती च ॥ वा० सं० १ । २७ ॥

अर्थ—हे विष्णो ! गायत्र, त्रैष्टुभ्, और जागत इन तीन छन्दस्संस्कारों से युक्त हुए स्फ्य के द्वारा गायत्र से दक्षिण दिशा में, त्रैष्टुभ् से पश्चिम दिशा में, और जागत से उत्तर दिशा में मैं तुम्हारा ग्रहण कर रहा हूँ । हे वेदि ! तुम्हारी भूमि अच्छी है अर्थात् खनन करके स्वच्छ की है, राक्षसों को हटा देने से (खदेड़ देने से) तू शान्त और सुख हेतु है । तथा तू बैठने के योग्य है । तुझमें (वेदी में) अन्न और दही आदि रखा है ।।२७।

१—'पूर्वं परिग्रहं गृह्णाति दक्षिणतः पश्चात् उत्तरतश्च स्फ्येन गायत्रेणेति प्रतिमन्त्रमिति' (का० श्रौ० सू० २।६।) यतोऽररुर्निष्काशितस्तत्र वेदेरियत्तां निश्चेतुं दक्षिणादिदिक्त्रये स्फ्येन रेखाकरणम् पूर्वः परिग्रहः । तं कुर्याद्ध्वर्युः । अत्र मन्त्रत्रयस्य विष्णुर्देवता ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन् (श० ब्रा० १।२।५-६) इति श्रुतेः ।

साथ द्वेष करने वाले शत्रु वर्ग को वह पीड़ा पहुँचाता है । उसी का उत्पादन करते हैं—तूष्णीं हरण और चतुर्थ स्थान दोनों का साम्य बताते हैं । तूष्णीं हरण भी अनुष्ठेयार्थ प्रतिपादक मन्त्र प्रयोग से रहित होने के कारण अप्रत्यक्ष है और चतुर्थ स्थान भी अप्रत्यक्ष है ।

१५—अध्यात्म पक्ष में भी—पृथिवी से सम्बन्धित देवयजन से भगवत्सम्बन्धि कर्मोपासनादि करने में बाधा पहुँचाने वाले अररु नामक असुर को हटाकर मार दिया है । 'व्रजं गच्छ' इत्यादि की व्याख्या पूर्ववत् ही करनी चाहिये । हे अररो ! अन्तरिक्ष में मत जाना । हे पृथिवि ! तुम्हारा रस स्वर्ग में न जाय अर्थात् भगवदाराधना के प्रतिबन्धक असुरादिकों का सब प्रकार से नाश हो । पृथिवी का रस स्वर्ग में न जाकर पृथिवी पर ही रहे ।

१—'पूर्वं परिग्रहं गृह्णाति' (का० श्रौ० सू० २।६।) चूँकि अररु को निष्काशित किया जा चुका है, अतः वेदि के परिणाम का निश्चय करने के लिये दक्षिणादि तीन दिशाओं में स्फ्य से रेखा करने को अपूर्व परिग्रह कहते हैं, उसे अध्वर्यु करे । श्रुति (श० १।२।५-६) ने बताया है कि यहाँ तीन मन्त्रों की देवता विष्णु हैं ।

२—तेन विष्णुरेवात्र सम्बोध्यते— हे विष्णो त्वा त्वां गायत्रेण छन्दसा गायत्र्यादिछन्दस्त्रयरूपतया भावितेन स्फ्येन दिक्त्रये परिगृह्णामि। एवं त्रैष्टुभेन छन्दसा त्रैष्टुभछन्दोरूपेण स्फ्येन त्वां परिगृह्णामि जागतेन छन्दो रूपेण छन्दसा त्वां परिगृह्णामि ततश्छन्दोदेवता दिक्त्रयेऽसुरेभ्यस्त्वां पालयिष्यन्ति पूर्व भाग आहवनीयः पालयिष्यति ।

३—ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य इत्यस्याः श्रुतेरियं कथानुसन्धेया—देवाश्चासुराश्च प्राजापत्याः परस्परं स्पर्धाञ्चक्रुः। देवान् पराजितान् मत्वाभूमिमसुरा बिभेजुः। तदानीं देवा वामन रूपं विष्णुमग्रे कृत्वाऽसुरानागत्यास्मभ्यमपि भूम्यंशोदातव्य इति तानयाचिषुः। असुरा असूयन्तोऽयं विष्णुर्यावति भूभागे शेते तावान् भवदीयोस्तु इत्यूचुः। देवास्तु बह्वेतदस्माकमित्युक्त्वा प्राञ्चं विष्णुं निपात्य गायत्रेणेत्यादिमन्त्रैर्यज्ञभूमिं जगृहुः। यज्ञो विष्णुर्यत्र तिष्ठति सैव यज्ञभूमिभूमिरिति तैर्विदितत्वात् ।

४—ततोऽध्वर्युर्वेद्यां प्रागायतास्तिस्रो रेखाः स्फ्येनोल्लिख्य त्रिः इति प्रेषमन्त्रं पठति। 'वेदिरिति भूमेर्नाम' (श० १।२।५।१-७) इति श्रुतेः। तत एव पूर्वं वेदिग्रहणं विधेयम्। ततोऽग्नीत् रेखाभ्यः पांसून् त्रिर्हृत्वोत्करे निःक्षिप्य लेखाः संस्पृशति संमर्शनेन समीकरोति। तत उत्तरपरिग्रहं परिगृह्णाति 'सूक्ष्मा स्योनोजस्वतीति' (का० श्रौ० सू० २।६।) वेदिकरणानन्तरं स्फ्येन पूर्ववत् दिक्त्रये रेखाकरणं उत्तरः पारिग्राहः। हे वेदे त्वं सूक्ष्मासि शोभना क्ष्माभूमिः सूक्ष्मोच्यते। खननेनाश्मादिदोषनिरसनेन भूमेः शोभनत्वं सम्पाद्यते। शिवासि उग्रस्यासुरस्य निष्कासनेन शान्तत्वम्। गुणद्वयस्यान्योन्यसमुच्चयार्थौ चकारौ। एकोऽयं मन्त्रः सूक्ष्माचासि शिवा चासीति। दक्षिणतः स्योनाचासि सुखदा चासीति पश्चिमतः। ऊर्जस्वती चासि पयस्वती चेत्युत्तरतः। स्योना सुखरूपा सुषदा सुष्ठु सीदन्ति देवा यस्यां

२—उस कारण यहाँ विष्णुरेखा को सम्बोधित किया जा रहा है— हे विष्णो ! गायत्री आदि तीन छन्दों के रूप में कल्पित किये गये स्फ्य से तीन दिशाओं में तुम्हारा स्वीकार कर रहा हूँ। उसी प्रकार त्रैष्टुभच्छन्द के रूप में कल्पित स्फ्य से तुम्हारा स्वीकार कर रहा हूँ, तथा जागत छन्द के रूप में कल्पित किये गये स्फ्य से तुम्हारा स्वीकार कर रहा हूँ। इस कारण ये छन्दो देवता तीनों दिशाओं में तुम्हारा पालन करेंगी। और पूर्व भाग में आहवनीय तुम्हारा पालन करेगा।

३—पूर्वोक्त 'ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य' श्रुति की इस कथा का अनुसन्धान कर लेना चाहिये। प्रजापति के पुत्र देव ओर असुर परस्पर स्पर्धा करने लगे। देवों को पराजित हुआ समझकर असुरों ने भूमि को बाँट लिया। तब देवों ने वामन रूप धारी विष्णु को आगे कर असुरों के पास आगमन किया, और हम देवों को भी भूमि का अंश मिलना चाहिये, इस प्रकार असुरों से उन्होंने याचना की। देवों से असूया रखने वाले असुरों ने कहा कि 'यह विष्णु (वामन रूप) जितने भूभाग पर सोता हो उतना भू भाग तुम लोगों का रहेगा। तब देवों ने कहा—हमारे लिये इतना बहुत है। और पूर्व दिशा की ओर विष्णु को लिटा कर 'गायत्रेण' इत्यादि मन्त्रों से यज्ञभूमि को अपने अधीन कर लिया। क्योंकि देव यह जानते थे कि 'विष्णु जहाँ स्थित रहता है, वही यज्ञ भूमि है।

४ यही कारण है कि अध्वर्यु नाम का ऋत्विज् वेदि में पूर्व दिशा की विस्तार वाली तीन रेखाओं का 'स्फ्य' से उल्लेखन करता है। और तीन बार प्रेष मन्त्र को पढ़ता है। 'वेदिरिति भूमेर्नाम' (श० १।२।५।१-७) इस शतपथ श्रुति के अनुसार ही प्रथमतः वेदिग्रहण करना चाहिये। उसके बाद अग्नीत् नाम का ऋत्विज्, पूर्वोल्लिखित तीन रेखाओं से धूलि को तीन बार लेकर उत्कर में डाल दे। पश्चात् लेखाओं का संमर्शन (स्पर्श करके उन्हें समान कर दे। उसके बाद 'उत्तर परिग्रह' का परिग्रह करता है। वेदिकरण के अनन्तर 'स्फ्य' से पूर्ववत् ही तीनों दिशाओं में जो रेखाकरण किया जाता है, उसे उत्तर परिग्रह कहते हैं। हे वेदे ! तुम सूक्ष्म हो। शोभन भूमि को सूक्ष्म कहते हैं। खनन आदि के द्वारा अश्मादि (पत्थर आदि) दोषों का निरसन करने से भूमि को शोभन बनाया जाता है। हे भूमि ! तुम शिवा हो, अर्थात् उग्र असुर के निष्कासन से तुम शान्त हो गई हो। उक्त दो गुणों के परस्पर समुच्चयार्थ दो 'च' कार मन्त्र में दृष्टिगत होते हैं। 'सूक्ष्मा चासि शिवा चासि' इतना एक मन्त्र है, दक्षिण दिशा में तथा पश्चिम दिशा में

सा सुषदाचासि। अत्रापि चकारौ समुच्चयार्थौ। द्वितीयो मन्त्रः। ऊर्ज: शब्दोऽन्नवाची। पयः शब्दस्तद्विकारदध्यादि-वाची। अन्नवती दध्यादिमती चासि। तृतीयोऽयं मन्त्रः।

५—अत्र स्वामिदयानन्दः—'येन यज्ञेनोत्तमैः पदार्थैः सह सुक्ष्मासि भवति येन कल्याणकारिभिर्गुणैर्मनुष्यैश्चेयं शिवासि भवति येन चानुत्तमैः सुखैः सहेयं स्योनासि भवति येन चोत्तमाभिः सुखकारिकाभिः स्थितिर्गतिभिः सहेयं सुषदासि भवति येन चोत्तमैर्यवादिभिरन्नैः सहेयमूर्जस्वती असि भवति येन चोत्तमैर्मधुरादिरसवद्भिः फलैर्युक्तेयं पयस्वती जायते अहं यज्ञविद्याविन्मनुष्यो गायत्रेण छन्दसा त्वा तं यज्ञ परिगृह्णामि। अहं त्रैष्टुभेन च्छन्दसा त्वा तमिमं पदार्थसमूहं परिगृह्णामि। अहं जागतेन छन्दसा त्वा तमिमं परिगृह्णामि' इत्याह।

६—भावार्थत्वेन तु—'वेदप्रकाशकेश्वरोऽस्मान् प्रत्यभिवदति युष्माभिर्नचान्तरेण वेदमन्त्राणां पठनं तदर्थज्ञानं यज्ञानुष्ठानं च

सुखफलं प्राप्तुं सर्वसुखगुणाढ्याः सुखकारिणोऽन्नजलवाय्वादयः पदार्थाः शुद्धाश्च कर्तुं शक्यन्ते। तस्मादेतेभ्यः त्रिविधस्य यज्ञस्य सिद्धिं प्रयत्नेन निष्पाद्य सुखे स्थातव्यम्। ये चास्यां वायुजलौषधिदूषका दुर्गन्धादयोदोषा दुष्टाश्च मनुष्याः सन्ति ते सर्वदा निवारणीयाः। इति वर्णितवान्,

७— तद्द्वयमपि निःसारम्, येन यज्ञेनेति पदयोर्मन्त्रासंस्पर्शित्वात्। उत्तमैः पदार्थैः कल्याण-कारिभिर्गुणैरित्यादीन्यपि मन्त्रबाह्यानेव। एवमेव गायत्रेण छन्दसा त्वा त यज्ञं परमात्मानं वा परिगृह्णामीति प्रतिज्ञा मात्रं न स्वं पोषयितुं क्षममुपपत्तिशून्यत्वात्। त्रिष्टुप् छन्दसा पदार्थसमूहं परिगृह्णामीत्यपि निर्युक्तिकमेव छन्द-

---

'स्योनाचासि सुखदाचासि'—यह द्वितीय मन्त्र है। और उत्तर दिशा में 'ऊर्जष्वती चासि पयस्वती च'—यह तृतीय मन्त्र है। तुम स्योना अर्थात् सुखरूपा हो और जिस पर देव अच्छी तरह से बैठते हैं, ऐसी सुखदा भी तुम हो। यहाँ पर भी दोनों 'च' कार समुच्चय बताने के लिये ही हैं। 'ऊर्जः' शब्द, अन्न का वाचक है। 'पयः' शब्द, उसके विकार दधि आदि का वाचक है। तात्पर्य यह है कि हे वेदि तुम अन्नवती, दध्यादिमती हो। यह तृतीय मन्त्र है।

५—इस पर स्वामी दयानन्द का व्याख्यान इस प्रकार है 'जिस यज्ञ के द्वारा उत्तम पदार्थों के साथ तुम सूक्ष्म होते हो और जिन कल्याणकारक गुण विशिष्ट मनुष्यों मे यह कल्याणकारिणी होती है, जिन अनुत्तम सुखों के साथ यह सुखपूर्ण होती है। और जिन उत्तम सुखकारक स्थिति-गतियों के साथ यह सुखप्रद होती है, जिन उत्तम यवादि अन्नों के साथ यह ऊर्जस्वती होती है और जिन उत्तम मधुरादि रस वाले फलों से युक्त होकर यह पयस्वती होती है। यज्ञ विद्या को जानने वाला मैं मनुष्य गायत्र छन्द से उस यज्ञ को स्वीकार करता हूँ। त्रैष्टुभ छन्द से मैं उस पदार्थ समूह को स्वीकार करता हूँ। जागत छन्द से मैं इसको स्वीकार करता हूँ।

६—इसका भावार्थ यह है—'वेद प्रकाशक ईश्वर हमसे यह कह रहा है कि तुम लोग वेद मन्त्रों के पठन के बिना, उसके अर्थ का ज्ञान हुए विना, और यज्ञ का अनुष्ठान किये बिना सुख रूप फल की प्राप्ति के लिये सर्व प्रकार के सुख गुणों से युक्त अन्न, जल, वायु आदि पदार्थों को शुद्ध नहीं कर सकते हो। इसलिये इनसे त्रिविध यज्ञ की सिद्धि को प्रयत्न पूर्वक प्राप्त कर सुर्ख से रहना चाहिये। इसमें वायु, जल, ओषधि को दूषित करने वाले जो दुर्गन्धादि दोष हों, उनका सर्वदा निवारण करना चाहिये। इस प्रकार दयानन्द ने वर्णन किया है।

७— किन्तु यह व्याख्या और भावार्थ दोनों ही सारहीन है। 'येन और यज्ञेन' ये दोनों पद, मन्त्र से सम्बद्ध नहीं हैं। 'उत्तम पदार्थों से तथा कल्याणकारी गुणों से' इत्यादि शब्द भी मन्त्र के बाहर के हैं। इसी प्रकार 'गायत्रेण छन्दसा' इत्यादि केवल प्रतिज्ञा मात्र है, उपपत्ति से रहित होने के कारण वह प्रतिज्ञा पुष्ट नहीं हुई है। 'त्रिष्टुप् छन्दसा' इत्यादि कथन भी युक्तिरहित है। क्योंकि 'छन्दसा' पद से आह्लाद

सेतिपदेन आह्लादकारित्वम् स्वातन्त्र्यानन्दप्रदत्वमत्यानन्दप्रकाशकत्वं कया व्युत्पत्त्या गृहीतमित्यस्यानुक्तत्वात्। 'इन्द्रियं वीर्यं छन्दांसि रसो वै छन्दांसि' (श० ७।३।१।३७) वीर्यं वै त्रिष्टुप् इत्याद्युद्धरणान्यपि प्रकृतार्थपोषणे नोपयुज्यन्ते। अन्तरेण वेदमन्त्राणां पठनम् तदर्थज्ञानं यज्ञानुष्ठानं सुखफलं प्राप्तुं न शक्यन्ते इत्यपि निर्मूलम् मन्त्र-बाह्यत्वात्।

८—भूमिकायां तु मन्त्राणां पठनमभ्यासार्थमेवाभ्युपगतमिह तु तद्विपरीतं तदन्तराफलमेव न प्राप्तुं शक्यत इत्युच्यते। लोके तु तद्विपरीतमेव दृश्यते। वेदबाह्याश्च वेदमन्त्रपठनमन्तरापि सुखप्राप्तिं वायुजलादिशुद्धिं चासादयन्त्येव। शतपथश्रुतिविरुद्धमप्येतत्। तथाहि—देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्या पस्पृधिरे। ततो देवा अनुव्यमिवासुरथहासुरा मेनिरेऽस्माकमेवेदं खलुभुवनमेवेदमिति' (श० प० १।२।५।१) ते होचुः। हन्तेमां पृथिवीं विभज्योपजीवामेति। तामौक्षणैश्चर्मभिः पश्चात् प्राञ्चो विभजमाना अभीयुः।' (श० १।२।५।२)

तद्वै देवाः शुश्रुवुः। विभजन्ते ह वा इमामसुराः पृथिवीं प्रेत तदेष्यामः। यत्रेमामसुरा विभजन्ते ततः स्याम यदस्यैनं भजेमहीति ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः।' (श०१।२।५।३)

९—इत्थं स्तम्बयजुर्हरणं तच्च स्तम्बरूपं स्फ्येन मित्वोत्करदेशे हरेत्' (तै० ब्रा० ३।२।९) यजुषा मन्त्रेण हरणीयः पांसुसहितः स्तम्बः स्तम्बयजुस्तस्य हरणम् (तै० सं० १।१।९) वेदिस्थानात्सतृणस्य पांसोर्मन्त्रेणान्यत्र हरणं स्तम्बयजुर्हरणम्। तदनन्तरं वेदिपरिग्रहं वक्तुमितिहासमुपन्यस्यति देवाश्चेति—

१०—उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे स्पर्धां कृतवन्तः। स्पर्धमानानां तेषां मध्ये देवास्ततस्तेभ्योसुरेभ्यः अनुव्यमिव अनुगमनं न्यग्भूमिं प्राप्ता इव बभूवुः। ततस्तेऽसुरा इदं खलु भुवनमस्माकमेवेति मेनिरे। ते होचुः हन्त हर्षस्थाने देवान्यग्भूता अतो निष्प्रत्यूहमिमां पृथिवीं विभजामहै विभज्य च यथाभागमुपजीवामेति। एवमुक्त्वा तां पृथिवीमौक्षणैरन-

---

कारित्व, स्वातन्त्र्यानन्दप्रदत्व, अत्यानन्दप्रकाशकत्व आदि अर्थ का स्वीकार किस व्युत्पत्ति से आपने किया है, वह नहीं बताया है। 'इन्द्रियं वीर्यं छन्दांसि रसो वै छन्दांसि' (श० ७।३।१।३७), और 'वीर्यं वै त्रिष्टुप्' इत्यादि उद्धरण जो दिये हैं, वे भी प्रकृत अर्थ के पोषक नहीं हैं। 'वेद मन्त्रों के पठन, उनके अर्थज्ञान, और यज्ञ के अनुष्ठान के बिना सुख फल प्राप्त नहीं किया जा सकता'—यह कथन भी निर्मूल है, क्योंकि मन्त्र से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् मन्त्रबाह्य है।

८—आपने भूमिका में तो मन्त्रों का पठन, अभ्यास के लिये ही माना है। किन्तु यहाँ पर उसके विपरीत 'उसके बिना, फल प्राप्ति ही नहीं हो सकती कह रहे हैं। लोक व्यवहार में उसके विपरीत भी देखते हैं—जो वेदबाह्य लोग हैं, वे वेदमन्त्रों का पाठ किये बिना भी सुख प्राप्त करते हैं। वायु, जल आदि की शुद्धि भी कर लेते हैं। किञ्च दयानन्द स्वामी का कथन, शतपथ श्रुति के विरुद्ध भी है। तथाहि—'देवाश्च वा असुराश्च'—(श० १।२।५।१), 'ते होचुः। हन्तेमां'—(श० १।२।५।२), 'तद्वै देवाः शुश्रुवुः। विभजन्ते'—(श० १।२।५।३), 'इत्थं स्तम्बयजुर्हरणं'—(तै० ब्रा० ३।२।९), 'यजुषा मन्त्रेण हरणीयः'—(तै० सं० १।१।९) इत्यादि।

९—वेदिस्थान से तृण सहित धूलि (पांसु) के अन्यत्र हरण (हटाना) करने की क्रिया को 'स्तम्बयजुर्हरण' कहते हैं। तदनन्तर वेदि परिग्रह को बताने के लिये एक इतिहास उपस्थित किया जा रहा है—'देवाश्चेति'।

१०—दोनों प्राजापत्य (प्रजापति के पुत्र—देव और दैत्य) परस्पर स्पर्धा करने लगे। स्पर्धा करते हुए उन देव-दैत्यों में से देव, उन दैत्यों (असुरों) की अपेक्षा कुछ निर्बल से पड़ गये। तब उन असुरों ने यह समझ लिया कि 'यह सम्पूर्ण भुवन निश्चित रूप से अब हमारा ही है।' वे (असुर) बोले—बड़े हर्ष की बात है कि देव पराजित हो गये हैं। अतः इस पृथ्वी को अब हम निर्विघ्नतया आपस में बाँट लेंगे। बाँटकर अपने अपने भाग को प्राप्त करके

डुत्सम्बन्धिभिश्चर्मभि: पश्चात् प्रतीचीं दिशमारभ्य प्राञ्चः प्राङ्मुखा विभजमाना अभीयुः अभिजग्मुरित्यर्थः। तद्वै देवाः शुश्रुवुः असुरा इमां पृथिवीं विभजन्त इति। अधुनास्माकं तूष्णीमवस्थानमनुचितमस्माभिरपि तद्विषये प्रयतितव्यम् इति परस्परमभिमुखीकृत्य प्रतिपाद्यते–हे देवाः प्रेत यूयं गच्छत प्रोत्सहध्वम्, यत्रासुरा विभजन्ते तत्स्थानं गन्तव्यम्। गत्वाचासुरान् अस्यां पृथिव्यां नोऽस्मानेव अन्वाभजत संयोजयत भागेन। अस्माकमप्यस्यां पृथिव्यां भागोऽस्त्विति होचुः। ते हासुरा असूयन्त इव अनादरमेवं कुर्वाणा यावन्तं देशं व्याप्यैष विष्णुः शेते तावत्परिमाणं स्थानं युष्मभ्यं प्रयच्छामेत्युक्तवन्तः। असुरैस्तथोक्ते देवास्तदङ्गीचक्रुः। विष्णुर्हि तदानीं वामनः खर्वो बभूव। अतएवासुरास्तेनाक्रान्तं स्थानं प्रयच्छाम इत्यब्रुवन्। अथापि तत् असुरैरुक्तम् देवा नजिहीडिरे नह्यनाहतं चक्रुः किन्त्वाद्रियन्तेस्मेत्यर्थः। (हेडृ अनादरे) भ्वादिः। नोयज्ञसम्मितं स्थानं दत्तवन्तो यत् महद्वै तत् दत्तवन्त इति। एवं विचार्य ते यज्ञात्मकं विष्णुं प्राञ्चं प्राक्शिरसं निपात्य दक्षिणतः पश्चात् उत्तरतश्च गायत्र्यादिछन्दोभिः सर्वतः पर्यगृह्णन्। तं विष्णुं छन्दोभिरभितो गायत्र्यादिभिश्छन्दोभिः परिगृह्य पुरस्तात् पूर्वस्यां दिश्याहवनीयमग्निं समाधाय प्रज्वाल्य तेन विष्णवात्मकेन यज्ञेन अर्चयन्तः पूजयन्तः परमेश्वरं श्राम्यन्तः कर्मानुष्ठानजनितं श्रमं प्राप्नुवन्तः चेरुः। पूर्ववत् ववृतिरे। चरित्वा च तेन यज्ञात्मकस्याधारभूतेन स्थानेन देवाः सर्वामिवेमां पृथिवीं सम्यगलभन्त। अतोविद्यते लभ्यतेनेनेति यज्ञस्थानस्य वेदीरिति नामधेयं जातम्।

गत्वा च यत् यदि अस्यै अस्याः पृथिव्याः सम्बन्धिस्थानं न भजेमहि न प्राप्नुयामः ततस्तर्हि वयमभागिनः के स्याम के भविष्यामः? न केऽपि अर्थात् सर्वथा नगण्या एव भविष्याम इत्यर्थः। एवमालोक्य ते यज्ञरूपमेव विष्णुं पुरस्कृत्य पुनर्जग्मुः।

११—ते होचुः अनु नोऽस्यां पृथिव्यामाभजतास्त्वेव नोऽप्यस्यां भाग इति। तेहासुरा असूयन्त इवोचुर्यावदेवैष विष्णुरभिशेते तावद्वो दद्म इति।' (श० प० १।२।५।४)

अपनी उपजीविका चलायेंगे। ऐसा कहकर उस पृथ्वी को बैल के चर्म से पश्चिम दिशा से आरम्भ कर पूर्व दिशा तक नापकर उन्होंने उसे बाँट लिया। इस बात को देवों ने सुना कि असुरों ने इस पृथ्वी को आपस में बाँट लिया है। इस समय हमारा चुपचाप (निष्क्रिय) होकर बैठना उचित नहीं है। अत हमें भी उस विषय में प्रयत्नशील होना चाहिये। इस प्रकार एक दूसरे के सन्मुख होकर कहने लगे। हे देवों! तुम लोग उत्साह धारण करके चल पड़ो, जहाँ असुर लोग इस पृथ्वी को बाँट रहे हैं, उस जगह चलो। उन असुरों के पास चलकर कहें कि इस पृथ्वी पर हमारा भी भाग रखो। इस पृथ्वी में हमारा भी हिस्सा (भाग) रहे, ऐसा देवों ने कहा। तब उन असुरों ने असूया से भरकर बड़े अनादर भाव से कहा कि जितने स्थान को व्याप्त कर यह विष्णु सो सकता है उतना परिमित स्थान तुम लोगों को हम देंगे। इस प्रकार असुरों के कहने पर देवों ने उसे स्वीकार कर लिया। उस समय विष्णु ने अपने को वामन (बौना) बना लिया। इसीलिये विष्णु के द्वारा व्याप्त होने वाले स्थान को देना असुरों ने स्वीकार कर लिया। असुरों ने जो देने के लिये कहा उसका देवों ने भी अनादर नहीं किया। हमारे लिये यज्ञ परिमित स्थान जो असुरों ने दिया, वह बहुत दे दिया है। ऐसा सोचकर उन देवों ने यज्ञात्मक विष्णु को पूर्व दिशा को ओर सिर से लिटाकर दक्षिण, पश्चिम और उत्तर तक गायत्री आदि छन्दों के सहारे सब ले लिया। गायत्री आदि छन्दों के द्वारा विष्णु को सब ओर व्याप्त कर दिया। पूर्व दिशा में आहवनीय संज्ञक अग्नि को प्रज्वलित कर उसे विष्णु रूप यज्ञ से पूजन किया। कर्मानुष्ठान से हुए परिश्रम से श्रान्त हो गये। इस प्रकार यज्ञात्मक विष्णु के आधारभूत स्थान के द्वारा देवों ने सम्पूर्ण पृथ्वी को अच्छी तरह से प्राप्त कर लिया। यज्ञस्थान को 'वेदि' नाम देने का यही रहस्य है—'विद्यते लभ्यते अनेन इति वेदिः'। जिससे सम्पूर्ण पृथ्वी का लाभ होता है, उसे 'वेदि' कहते हैं। असुरों के पास जाकर यदि पृथिवी का भाग प्राप्त न हो, तो हमसे बढ़कर कौन अभागा होगा। अर्थात् कोई नहीं होगा। सब तरह से हम नगण्य ही हो जायेंगे। यह सोचकर यज्ञरूप विष्णु को अगुआ बनाकर पुनः चल पड़े।

१२—'वामनो ह विष्णुरास । तद्देवा न जिहीडिरे महद्वै नोऽदुर्येनो यज्ञसम्मितमदुरिति ।' (श० १।२।५।५)

१३—'ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन् । गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामीति । दक्षिणतस्त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीति । पश्चाज्जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीत्युत्तरतः ।' (श० १।२।५।६)

१४—'तं छन्दोभिरभि तः परिगृह्य अग्निं पुरस्तात् समाधाय तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः तेनेमां सर्वां पृथिवीं समविन्दन्त । तद्यदेनेनेमा ँ सर्वा ँ समविन्दन्त तस्मात् वेदिर्नाम । तस्मादाहुर्यावती पृथिवीत्येत या ही मा ँ सर्वा ँ समविन्दन्तैवं ह वा इमा ँ सर्वा ँ सपत्नाना ँ संवृङ्क्ते निर्भजत्यस्यै सपत्नान् य एवमेतद्वेद ।' (श० १।२।५।७)

१५—तदेदन्निर्वचनं श्रुत्या प्रदर्श्यते तद्यदेति—नेमा ँ सर्वा ँ समविन्दन्त तस्माद्वेदिर्नाम । तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवी । एतया इमां सर्वां समविन्दन्देति ।

१६—इत्थं पुरावृत्तमुपन्यस्य प्रकृते योजयति—यथैव हि वेदिपरिग्रहात् देवा असुरसकाशात् कृत्स्नां पृथिवीमपहृतवन्तः, एवमेवायं यजमानोऽपि शत्रुसम्बन्धिनीं सर्वां भूमिमपहरति तांश्च शत्रून् अस्याः पृथिव्या निर्भजति भागरहितान् करोति । तस्माद् गायत्रेणेत्यादिभिर्मन्त्रैः स्फ्येन वेदिं दक्षिणतः पश्चादुत्तरतश्च रेखया परिगृह्णीयादित्यर्थः । यस्माद् भूप्रदेशादररुर्निष्कासितस्तस्मिन् भूप्रदेशे वेदेरियत्तां निश्चेतुं दक्षिणादिदिक्त्रये स्फ्येन रेखात्रयं कुर्यात् । हे वेदि त्वा गायत्र्यादिछन्दस्त्रयरूपतया भावितेन स्फ्येन दिक्त्रये परिगृह्णामि तत्तच्छन्दोदेवतादिक्त्रये त्वामसुरेभ्यः पालयिष्यामि । पूर्वस्यां दिश्याहवनीयाग्निरेव पालकोऽस्तीत्यभिप्रायः ।

१७—तैत्तिरीयरीत्यापि पुरा कदाचिदसुराणां विजये सत्येषा पृथिवी कृत्स्नापि तेष मेव स्वभूतासीत् देवानां भूम्यंशः कोऽपि स्वभूतो नासीत् किन्तु यो देवो यत्र यदोपविष्टो यावद्दूरं पश्यति तत्र तावान् देशस्तस्य देशस्य स्वाधीनोऽभवत् । ततो देवा असुरान् अयाचन्त युष्मदधीनायामस्यां पृथिव्यां कोऽप्यंशो नियताऽपेक्षितः तत्र तत्र कियत्स्थानमस्मभ्यं

११—'ते होचुः अनुनोऽस्यां'—(श० १।२।५।४), वामनो ह विष्णुरास'—(श० १।२।५।५), 'ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य' (श० १।२।५।६), 'तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य' (श० १।२।४।७)

१५—इस निर्वचन को श्रुति के द्वारा प्रदर्शित किया गया है ।

१६—इस प्रकार पुरावृत्त का उपन्यास करके प्रकृत में उसकी योजना कर रहे हैं—जैसे वेदि परिग्रह के व्याज से देवों ने असुरों से सम्पूर्ण पृथिवी का अपहरण कर लिया, उसी प्रकार यह यजमान भी शत्रु की समस्त पृथ्वी का अपहरण कर लेता है । और उन शत्रुओं को इस पृथिवी के भाग से रहित कर देता है । इसलिये 'गायत्रेण' इत्यादि मन्त्रों को कहकर 'स्फ्य' के द्वारा दक्षिण पश्चिम और उत्तर की रेखाओं को करते हुए वेदि का परिग्रह (स्वीकार) करे । जिस भूप्रदेश से 'अररु' को निष्कासित किया है, उस भूप्रदेश में वेदि की इयत्ता को निश्चित करने के लिये दक्षिणादि तीन दिशाओं में 'स्फ्य' से तीन रेखाओं को करे । हे वेदि ! गायत्री आदि तीन छन्दों के रूप में भावित किये हुए स्फ्य से तीन दिशाओं में तुम्हारा स्वीकार कर रहा हूँ । तत्तच्छन्दों की देवताएँ तीन दिशाओं में तुम्हारा पालन करेंगी । पूर्व दिशा में आहवनीय अग्नि ही पालक है ।

१७—तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार भी पहले किसी समय असुरों का विजय होने पर सम्पूर्ण पृथिवी ही उनकी अपनी हो गई । भूमि का कोई भी अंश देवों का अपना नहीं रहा । किन्तु जो देव जहाँ जब बैठा और जितनी दूर तक वह देख पाया वहाँ तक का देश उसके स्वाधीन हो गया । तब देवों ने असुरों से याचना की तुम्हारी अधीन हुई इस पृथिवी पर कोई भी अंश नियत होना चाहिये, उसमें कितना स्थान हमें दोगे ? जितना तुमने परिगृहीत किया होगा उतना देंगे, ऐसा असुरों ने कहा । इसलिये यह वेदि परिग्रह असुरों का हुआ, और बैठा हुआ देव जहाँ तक

दास्यथेति। ततोऽसुरा यावद्भिः परिगृहीतं तावद् दास्याम इत्यवोचन्। तस्मादयं वेदिपरिग्रहः असुराणां वा इयमग्र आसीत् यावदासीनः परापश्यति तावद्देवानाम्। ते देवा अब्रुवन् कस्त्वेव नोऽस्यामपीति कियत्सेयं स्वांशोऽन्योदास्यथेति यावत्स्वयं परिगृह्णीथेति श्रुतेः। तत्र वेदिखननात् पुरा क्रियमाणः पूर्वपरिग्रहः पश्चात् क्रियमाण उत्तरपरिग्रहः। अन्यत्रूक्तमेव सिद्धान्तव्याख्याने। नात्र दयानन्दोक्तेर्मनागपि शतपथव्याख्यानेन सम्बन्धः।

१८—सोऽयं विष्णुर्ग्लानः छन्दोभिरभितः परिगृहीतोऽग्निः पुरस्तान्नापक्रमणमास। स तत एवौषधीनां मूलान्युपमुम्लोच।' (श० १।२।५।८)

१९—वेदेः खननं विधित्सुः प्रकृतमितिहासशेषमनुक्रामति--स यज्ञात्मको विष्णुः दक्षिणतः पश्चादुत्तरतश्च छन्दोभिः परिगृहीतत्वात् पूर्वस्याञ्च दिश्यग्नेरवस्थानादितस्ततश्चलितुमशक्यत्वात् ग्लानः श्रान्तः सन् अपक्रमणमपगमनं नास न जगाम। 'अस गतिदीप्त्यादानेषु भ्वादिः। इत्यस्माल्लिटि रूपम्। यद्वा अस्तेरेव लिटि छान्दसो भूभावाभावः। ग्लानस्य तस्य विष्णोरपगमनं न बभूवेत्यर्थः। स सर्वतो गृहीतो विष्णुः तत एव तस्मिन्नेव स्थाने ओषधीनां मूलान्युपेत्य भूम्यन्तर्गतः सन् मुम्लोच अस्तं गतः अदृश्यो बभूव।

२०—'तेह देवा ऊचुः क्व नु विष्णुरभूत् क्व नु यज्ञोऽभूदिति ते होचुश्छन्दोभिरभितः परिगृहीतोऽग्निः पुरस्तान्नापक्रमणमस्त्यत्रैवान्विच्छतेति। तं खनन्त इवान्वीषुस्तं त्र्यङ्गुलेऽन्वविन्दंस्तस्मात् त्र्यङ्गुला वेदिः स्यात् तदुहापि पाञ्चिस्त्र्यङ्गुलामेव सौम्यस्याध्वरस्य वेदिं चक्रे।' (श० १।२।५।९)

२१--'तदु तथा न कुर्यात्। ओषधीनां वै समूलान्युपाम्लाचत्तस्मादोषधीनामेव मूलान्युच्छेत्तवै ब्रूयाद्यन्वेवात्र विष्णुमन्वविन्दंस्तस्माद्वेदिं चक्रे।' (श० १।२।५।१०)

२२—देवा विष्णुमपश्यन्तो वितर्कितवन्तः विष्णु क्व कुत्राभूत् तदात्मको यज्ञश्च क्वाभूत्। एवं वितर्क्य तैर्निर्णीतमर्थं श्रुतिर्दर्शयति--चतसृषु दिक्षु परिवृतत्वेन गमनासम्भवात् अत्रैव स्थाने तस्य विष्णोरन्वेषणं कुरुतेत्यर्थः।

देख रहा था, वहाँ तक का भाग देवों का हुआ तब देव कहने लगे कि तुम्हारे समान हमारा भी इस भूमि पर कौन सा भाग है ? कितना और अंश हमें दोगे ? जितना तुम स्वयं ले रहे हो। वेदि के खनन करने के पूर्व किया जाने वाला पूर्व परिग्राह है, और पश्चात् किया जाने वाला उत्तर परिग्रह है। शेष सब सिद्धान्त व्याख्यान में कह चुके हैं। इस दयानन्दोक्ति में शतपथ व्याख्यासे किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है।

१८—'सोऽयं विष्णुर्ग्लानः'—(श० १।२।५।८) वेदि के खनन का विधान करने की इच्छा से प्रकृत शेष इतिहास को बता रहे हैं। दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाएँ छन्दों के द्वारा परिगृहीत होने के कारण और पूर्व दिशा में अग्नि के स्थित रहने से इधर-उधर चलना शक्य न होने से वह यज्ञात्मक विष्णु श्रान्त होता हुआ वहाँ से निकल नहीं पाया। 'आस' यह क्रिया पद 'अस' गतिदीप्त्यादानेषु भ्वादि गण के धातु के लिट् लकार में होता है। अथवा 'अस्' धातु के ही लिट् लकार में यह रूप है, यहाँ भूभाव का अभाव छान्दस है। अभिप्राय यह है कि ग्लान हुए विष्णु का वहाँ से अपक्रमण (निर्गमन) नहीं हुआ। सब ओर से परिवृत (घिरा हुआ) हुआ विष्णु उसी स्थान में भूमि के भीतर चला गया और अदृश्य हो गया।

२०—'तेह देवा ऊचुः'—(श० १।२।५।९), 'तदु तथा न कुर्यात्'—(श० १।२।५।१०)।

२२—उक्त शतपथ बता रहा है कि जब देवों ने विष्णु को नहीं देखा तब वे सोचने लगे कि विष्णु कहाँ गया ? विष्णु रूप यज्ञ कहाँ गया ? इस प्रकार सोचते हुए उन्होंने जो निर्णय किया, उसे श्रुति बता रही है—चारों दिशाओं में परिवृत (घिरा हुआ) होने से यहाँ से उसका निकल जाना तो सम्भव नहीं है। अतः इसी जगह उस विष्णु का अन्वेषण (खोज) करो। इस प्रकार परस्पर निश्चय कर भूमि को खोदते हुए विष्णु का अन्वेषण करने लगे।

इत्थं परस्परं निश्चित्य भूमिं खनन्त इव विष्णुमन्विष्टवन्तः। अन्विष्य तं भूम्यन्तस्त्र्यङ्गुले अन्वविन्दन् अलभन्त। वत एवमत इदानीमपि यज्ञलाभाय वेदेस्त्र्यङ्गुलमात्रं खननं कर्त्तव्यमिति विधत्ते—तस्मात् त्र्यङ्गुलमिति, तस्मात् त्र्यङ्गुलपरिमाणेन खाता वेदिर्भवेदित्यर्थः वेदेस्त्र्यङ्गुलखननमृषिसंवादेन दृढयति—पाञ्चिर्नाम कश्चित्। स खलु सोमयागस्यापि त्र्यङ्गुलखातामेव वेदिं कृतवान्। अतोऽत्रापि त्र्यङ्गुलखाता वेदिर्युक्तेति।

२३—तमिमं पक्षं निषिध्य पक्षान्तरमाह—स विष्णुरोषधीनां खलु मूलानि उपेत्यान्तर्हितोऽभवत्। तस्माद्यावद्देशे भूम्यामन्तरौषधीनां मूलानि प्रसरन्ति तावत्पर्यन्तं खात्वा तन्मूलान्येवोच्छेत्तुं ब्रूयात्। 'तुमर्थे सेसेनसे' (पा० सू० ३।४।९) इति वै प्रत्ययः। पूर्वं कृत्स्नपृथ्वीलाभहेतुतया वेदि नाम निरुक्तम्। यज्ञाधिकरणस्य विष्णोर्लाभाधिकरणतयापि तन्निर्वक्ति—यज्ञरूपविष्णुमन्वविन्दन्। तस्माद् वेदिर्नाम तमनुविद्योत्तरेण परिग्रहेण पर्यगृह्णन् सुक्ष्मा चासि शिवा चासीति।

२४—तमनुविद्योत्तरेण परिग्रहेण पर्यगृह्णन् सुक्ष्मा चासि शिवाचासि। दक्षिणत इमावेवैतत् पृथिवी ᳪ संविद्य सुक्ष्मा ᳪ शिवामकुर्वन् स्योना चासि सुषदा चासीति। पश्चादिमामेवैतत् संविद्य रसवतीमुपजीवनीयामकुर्वन्।' (श० १।२।५।११)

२५—'स वै त्रिः पूर्वपरिग्रहं परिग्रह्णाति त्रिरुत्तरम्। तत् षट्कृत्वः षड् वा ऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेतत् परिगृह्णातीति।'(श० १।२ ५।१२)

२६—वेदेरुत्तरपरिग्रहः कर्त्तव्य इतीतिहासमुखेन विधिमुन्नयति तं विष्णुमनुविद्य लब्ध्वोत्तरेण परिग्रहेण पर्यगृह्णन् देवाः, गायत्रेण त्वा च्छन्दसेत्यादिभिः प्राकृतः पूर्वपरिग्रहः, तदपेक्षयास्योत्तरत्वम्। सुक्ष्मा चासि शिवा चासीति यजुषा वेदेर्दक्षिणतः स्फ्येन लेखया गृह्णीयात्।

२७—मन्त्रतात्पर्यमाह—इमामेवैतत् पृथिवी ᳪ संविद्य सुक्ष्मां शिवामकुर्वन् स्योनाचासि सुषदा चासीति मन्त्रेण पश्चात् वेदेः पश्चिमायां दिशि स्फ्येन रेखया परिगृह्णीयात्।

खोदते हुए उन्होंने भूमि के तीन अंगुल भीतर उसे पा लिया। यही कारण है कि आज भी यज्ञ के लाभार्थ (यज्ञात्मक विष्णु की प्राप्ति के लिये) वेदि का तीन अंगुल मात्र खनन करने का विधान 'तस्मात् त्र्यङ्गुलमिति' उपलब्ध होता है। अर्थात् त्र्यंगुल परिमाण तक वेदि का खनन करना चाहिये। किसी ऋषि के सम्वाद से भी वेदि के त्र्यंगुल खनन का समर्थन हुआ बता रहे हैं—'पाञ्चि' नाम के एक ऋषि थे। उन्होंने सोमयाग के लिये भी त्र्यंगुल खाता ही वेदि की थी। अतः यहाँ भी त्र्यंगुलखाता वेदि का बनाना ही उचित है।

२३—उक्त पक्ष का निषेध कर एक दूसरे पक्ष को बता रहे हैं—वह विष्णु ओषधियों के मूल (जड़) तक पहुँच कर अन्तर्हित (अदृश्य) हो गया। इसलिये भूमि के भीतर जितने स्थान तक ओषधियों के मूल (जड़ें) फैली हों, वहाँ तक खोदकर ओषधियों के मूल को ही उखाड़ने के लिये कहे। 'तुमर्थे सेसेनसे'—(पा० सू० ३।४।९) से 'तवै' प्रत्यय किया गया है। 'वेदि' के नाम की निरुक्ति जो पहले बताई थी, वह सम्पूर्ण पृथिवी के लाभार्थ बताई थी। अब यज्ञात्मक विष्णु के लाभ का स्थान (अधिकरण) ही वह होने से उसका 'वेदि' शब्द से नामकरण किया गया है, यह बात 'यन्न्वेवात्र' से बताई गई है। इस प्रकार देवों ने यज्ञ रूप विष्णु को प्राप्त किया।

२४—'तमनु विद्योत्तरेण'—(श० १।२।५।११) 'स वै त्रिः पूर्वपरिग्रहं' (श० १।२।५।१२) 'वेदि का उत्तर परिग्रह करना चाहिये' इस विधि की कल्पना इतिहास के आधार पर की जा रही है। उस विष्णु को पाकर देवों ने उत्तर परिग्रह से उसको स्वीकार किया। 'गायत्रेण त्वा छन्दसे' इत्यादि के द्वारा किया जाने वाला प्राकृत पूर्व परिग्रह है। उसकी अपेक्षा से यह उत्तर है। 'सूक्ष्माचासि, शिवा चासि' इस यजुर्मन्त्र से वेदि के दक्षिण की ओर 'स्फ्य' से रेखाओं को करते हुए ग्रहण करे। यही उत्तर परिग्रह का स्वरूप है।

२८--मन्त्राभिप्रायमाह--इमामेवैतत् पृथिवीं संविद्य स्योनां सुषदामकुर्वन् । सोऽध्वर्यु रनेन मन्त्रेणेमां पृथिवीं देवोपवेशन योग्यां करोति । 'ऊर्जस्वती चासि पयस्वती चे'ति मन्त्रेणोत्तरतस्तथैव स्फ्येन लेखया गृह्णीयात् ।

२९—तदभिप्रायश्चाह श्रुतिः--इमामेव पृथिवीं संविद्य मन्त्रेण स्फ्येन लेखया परिगृह्य रसवतीमुपजीवनीयामकुर्वत। अर्क् शब्देन बलकरो रसो विवक्षितः--पयस्वतीत्यस्य व्याख्यानम् उपजीवनीयां करोतीति--पयस्विनी हि गौर्लोके उपजीव्यते ।

३०—पूर्वोत्तरयोः परिग्रहयोः संख्यां समुच्चित्य प्रशंसति--स वै त्रिः पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति त्रिरुत्तरं तत् षट्कृत्वः । षड्वा ऋतवः संवत्सरस्य--षड्तुसमुदायात्मकं संवत्सरात्मकं यज्ञमेव सम्पादयति--सवत्सरात्मकः प्रजापतिः । संवत्सरकालभरणेन जातत्वादभेदोपचारः । 'तमेतावन्तं कालमबिभर्यावान् संवत्सरः, तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजते' (बृ० उ० १।२४) तिश्रुतेः । 'ओश्रावय' 'अस्तु श्रौषट्' 'यज' 'ये यजामहे' 'वषट्' इति सप्तदशाक्षरसाध्यत्वात् 'एष वै सप्तदशः प्रजापतिर्यज्ञमन्वायत्त' (तै० सं० २।६।११) इति श्रुतेर्यज्ञश्च सप्तदशात्मकः यज्ञः यावान् यत्परिमाणविशिष्टः अस्य यज्ञस्य मात्रा परिमाणं च यावत् तत्परिमाणविशिष्टमेवैतं यज्ञं षट्संख्यात्वसम्पादनेन परिगृह्णाति स्वीकरोतीत्यर्थः ।

३१—'षड्भिर्व्याहृतिभिः पूर्वपरिग्रहं परिगृह्णाति षड्भिरुत्तरं तद् द्वादशकृत्वो द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः । स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतत् परिगृह्णाति ।' (श० १।२।५।१३)

३२—पूर्वोत्तरपरिग्रह्योर्मन्त्रावयवसंख्यामनूद्य समुच्चित्य प्रशंसति--षड्भिर्व्याहृतिभिः पूर्वपरिग्रहं गृह्णाति षड्भिरुत्तरमिति । व्याह्रियन्ते इति व्याहृतयो मन्त्रावयवाः । ते च पूर्वपरिग्रहे षट् गायत्रेण त्वा त्रैष्टुभेन त्वा जागतेन

२७--मन्त्र के द्वारा इसी तात्पर्य को बताते हैं--'इमा मेवैतत् पृथिवी ७ संविद्य' मन्त्र से वेदि के पश्चिम दिशा में 'स्फ्य' से रेखा करते हुए परिग्रह करे ।

२८--मन्त्र का अभिप्राय इस प्रकार है--अध्वर्यु इस मन्त्र से उस पृथिवी को देवों के बैठने योग्य करता है । 'उर्ज्जस्वती चासि पयस्वती च' इस मन्त्र से वेदि की उत्तर दिशा में पूर्वोक्त प्रकार से ही 'स्फ्य' से रेखाकरण करते हुए परिग्रह करे ।

२९—उसी का अभिप्राय, श्रुति कह रही है--मन्त्रोच्चारण करते हुए 'स्फ्य' से रेखाकरण के द्वारा इस पृथिवी को रसवती और उपजीवनीय बनावे । 'अर्क्' शब्द से बलकारक रस विवक्षित किया गया है । 'पयस्वती' की व्याख्या 'उपजीवनीयां करोति' उपजीवनीय बनाता है, की गई है। लोक व्यवहार में भी पयस्विनी गाय ही उपजीव्य कही जाती है ।

३०—पूर्व और उत्तर दोनों परिग्रहों की संख्या की सम्मिलित प्रशंशा की जा रही है--'स वै त्रिः पूर्वं परिग्रहं' के द्वारा । अभिप्राय यह है कि षड्तुसमुदायात्मक संवत्सरस्वरूप यज्ञ का ही सम्पादन संवत्सरात्मक प्रजापति कर रहा है । संवत्सर काल का भरण करने से उत्पन्न होने के कारण यह अभेदोपचार दिखाया गया है । बृहदारण्यक श्रुति (बृ० उ० १।२।४) ने भी इसका समर्थन किया है । ओश्रावय', 'अस्तु श्रौषट्', 'यज', 'ये यजामहे', 'वषट्' इन सप्तदश (सत्रह) अक्षरों से साध्य होने से तथा तैत्तिरीय श्रुति (तै० सं० १।६।११) के बताने से भी 'यज्ञ' को सप्तदशात्मक यज्ञ कहते हैं । जितना परिमाण इस यज्ञ का है, उसकी मात्रा का परिमाण भी, उतनी ही परिमाण का होगा, इस प्रकार के उस यज्ञ की षट् संख्या का सम्पादन करके उसको स्वीकार किया जाता है ।

३२—पूर्वोत्तर परिग्रहों की मन्त्रावयव संख्या का अनुवाद कर दोनों की सम्मिलित प्रशंसा 'षडभिर्व्याहृति०' (श० १।२।५।१३) इस ब्राह्मण के द्वारा की जा रही है । छह व्याहृतियों से पूर्व परिग्रह का ग्रहण करता है और

त्वेति त्वान्तास्त्रयः छन्दसा परिगृह्णाति गृह्णाम्यन्तास्त्रयः 'उत्तरपरिग्रहे च सुक्ष्मासीत्येवमस्यन्ताः षड् व्याहृतयः। तद् द्वादशकृत्वो द्वादशमासाः संवत्सरस्य भवन्ति। शेषं पूर्ववत्।

३३—'व्याम मात्री पश्चात् स्यादित्याहुः। एतावान् वै पुरुषः। पुरुषसम्मिता हि त्र्यरत्निः प्राचो त्रिवृद्धि यज्ञो नात्र मात्रास्ति यावतीमेव स्वयं मनसा मन्येन तावतीं कुर्यात्।' (श० १।२।५।१४) गार्हपत्याहवनीययोर्मध्ये सा वेदिरायाश्रतो यजमानमात्री। सा च पश्चात् विस्तृत्या चतुररत्निः पुरस्तात् त्र्यरत्निः कार्येति विधत्ते—व्याम-मात्रीति। प्रसारितकरद्वयान्तराललक्षणा त्रिभिररत्निभिर्विस्तृता प्राग्भागे त्रिवृद्धि यज्ञः। सवनत्रयादिरूपेण यज्ञस्य त्रिवृत्त्वम्। अथवा नात्र वेद्यां परिमाणं नैवास्ति। यावतीं यत्परिमाणविशिष्टामेव वेदिं स्वयं मनसा हविरासादनादि-कार्यपर्याप्तां मन्येत तत्परिमाणविशिष्टां वेदिं कुर्यात्। तथैव कात्यायनोऽप्याह पक्षद्वयम् व्याममात्रीं पश्चात् त्र्यरत्निं प्राचीमपरिमितां वा। सा वै अभितोऽग्निम ७ँ सा उन्नयति। यो षा वै वेदिः, वृषाग्निः परिगृह्य वै योषा वृषाण ७ँ शेते मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते तस्मादभितोऽग्निम ७ँसा उन्नयति।' (श० १।२।५।१६)

३४—वेद्यंसयोराहवनीयस्य स्पर्शं विधत्ते—अग्निमभित आहवनीयस्य दक्षिणोत्तरपार्श्वयोर्वेद्यंसौ उन्नयति ऊर्ध्वं प्रापयति तदेतत्प्रशंसति योषा वै वेदिर्वृषाग्निरिति। लोके हि योषित् पुमांसमंसाभ्यां परिष्वज्य शेते। अतो वेदेरंसाभ्यामग्नेः परिष्वङ्गो युक्त एवेतिभावः। मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते। तस्मादभितोऽग्निमंसा उन्नयति। सा वै पश्चात् वरीयसी स्यात् मध्ये स ७ँ ह्वारिता पुनः पुरस्तादुर्व्येवमिह योषां प्रशंसन्ति। पृथुश्रोणिर्विमृष्टान्तरां सा मध्ये सङ्ग्राह्या जुष्टामेवैनामेतद्देवेभ्यः करोति।' (श० १।२।५।१६)

छह व्याहृतियों से उत्तर परिग्रह का ग्रहण करता है। 'व्यवह्रियन्ते इति व्याहृतयः' अर्थात् जो व्यवहृत होती हैं उन्हें 'व्याहृति' कहते हैं। एवञ्च 'व्याहृति' का अर्थ है—'मन्त्रावयव'। पूर्व परिग्रह में मन्त्रावयवों (व्याहृतियों) की संख्या छह है। (१) गायत्रेण त्वा, (२) त्रैष्टुभेन त्वा, (३) जागतेन त्वा, इस प्रकार से तीन तो 'त्वान्त हुए। और 'छन्दसा परिगृह्णामि' जैसे 'गृह्णाम्यन्त' तीन हुए, दोनों मिलकर छह होते हैं। तथा उत्तर परिग्रह में 'सूक्ष्मासि' इस प्रकार 'अस्यन्त', छह व्याहृतियाँ हैं। इस प्रकार पूर्वोत्तर परिग्रह की मिलकर बारह व्याहृतियाँ ही एक संवत्सर (वर्ष) के बारह मास कहलाते हैं। बाकी सब पूर्ववत् ही है।

३३—'व्याममात्री पश्चात् स्यात्' (श० १।२।५।१४) यह ब्राह्मण वेदि निर्माण के प्रकार को बता रहा है। गार्हपत्य और आहवनीय के मध्य मे उस वेदि को आयाम (लम्बाई) में यजमान के परिमाण की और पश्चात् भाग में चार रत्नी विस्तृत (चौड़ी) और पूर्व भाग में (सामने) तीन अरत्नि के परिमाण की करना चाहिये। फैलाये हुए दो हाथों के मध्य भाग को 'व्याम' कहते हैं। अर्थात् फैलाये हुए दो हाथों के बीच परिमाण के समान तीन अरत्नि की विस्तृत (चौड़ी) वेदि, प्रग्भाग में बनानी चाहिये। यह यज्ञ त्रिवृत् है। यज्ञ की त्रिवृत्ता, तीन सवनों के रूप में है। कतिपय ऋषियों का कहना है कि उक्त ब्राह्मण के द्वारा वेदि का परिमाण नहीं बताया गया है। स्वयं ही अपने मन से हविरासादनादि कार्य के लिये पर्याप्त जितनी भूमि समझे उतने ही परिमाण से युक्त वेदि का निर्माण करे। कात्यायन ने भी इसी तरह दो पक्षों को बताया है—'व्याममात्रीं पश्चात् त्र्यरत्निं'—(श० १।२।५।१५) इति।

३४—'अग्निमभित आहवनीयस्य'—(श० १।२।५।१६) ब्राह्मण से वेदि के दोनों अंस प्रदेशों में आहवनीय के स्पर्श का विधान किया जा रहा है। 'योषा वै' से लौकिक स्त्री की तरह सिद्धवत् कहे गये स्त्रीत्व का उपपादन कर 'सा वा' से उसकी प्रशंसा की गई है। 'व्याम मात्री पश्चात्' से उस वेदि को विस्तीर्णतर बताया गया है। 'त्र्यरत्नि प्राची' यह विधान होने से पश्चित भाग के अनन्तर रहने वाले बीच के भाग में संकुचित और पूर्व भाग में विस्तीर्ण बनाई जाती है। इस प्रकार से वेदि के स्वरूप को बताकर उसकी समानता योषित् (स्त्री) में जोड़ दी गई है। 'विमृष्टान्तरां सा' से पृथु श्रोणि वाली, विपुल नितम्ब वाली, और उसके दोनों अंसों का मध्य भाग अत्यन्त न्यून

३५—योषा वै इति सिद्धवदुक्तं स्त्रीत्वं लौकिकस्त्रीत्वसामान्येनोपपाद्य प्रशंसति सा वा इति सा वै वेदिः वरीयसी उरुतरा विस्तीर्णतरा उक्तं व्याममात्री पश्चादिति। मध्ये प्रत्यग्भागानन्तरभाविनि मध्यदेशे संहारिता सङ्कुचिता पुरः पूर्वभागे उर्वी विस्तीर्णा त्र्यरत्नि प्राचीतिविधानात्। एवं वेदिस्वरूपमभिधाय तत्साम्यं स्त्रियां योजयति विमृष्टान्तरां सेति श्रोणितो विमृष्टं पृथुश्रोणिर्विपुलनितम्बा न्यूनमन्तरवकाशो ययोस्तौ विमृष्टान्तरौ तथा-विधावंसौ यस्याः सा तथोक्ता मध्यदेशे हस्तेन सङ्ग्रहीतुं शक्या कृशोदरी एवं प्रशस्तयोषिदाकारां वेदिं कुर्वन् देवेभ्यो जुष्टां प्रियां करोति।

३६—'सा वै प्राक् प्रवणा स्यात् प्राची हि देवानां दिगथो उदक्प्रवणोदीची हि मनुष्याणां दिक् दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहत्येषा वै दिक् पितॄणा ँ सा यद्दक्षिणप्रवणा स्यात् क्षिप्रेह यजमानोऽमुं लोकमियात्तथो ह यजमानो ज्योग्जीवति तस्माद् दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहति पुरीषवतीं कुर्वीत पशवो वै पुरीषं पशुमतीमेवैनामेतत्कुरुते।' (श० १।२।५।१७)

३७—अथ सा वेदिः प्राक् प्रवणा उदक् प्रवणा वा कार्येति विधत्ते--प्राक् प्राच्यां दिशि प्रवणं निम्नं यस्याः सा तथोक्ता, प्राच्या दिशो देवसम्बन्धित्वं दिग्विभाजनसमये तस्या देवैरात्मीयतया स्वीकारात्। 'देवमनुष्या दिशो व्यभजन्त। प्राचीं देवाः' (तै० ६।१।१।१) इति श्रुतिप्रसिद्धेः। अथो उदक्प्रवणा वा कार्या, उदीच्या मनुष्यसम्बन्धः शान्तरूपत्वात्। 'एषा वै देवमनुष्याणां शान्ता दिक्।' (तै० ब्रा० २।१।३ ५)

३८—वेदेर्दक्षिणभागस्य पांसुभिरौन्नत्यकरणं विधीयते--दक्षिणतः पुरीषं खातं पांसुं प्रत्युदूहति प्रतिक्षिपति। विहितमर्थमुपपादयितुं विपक्षे बाधकमुपन्यस्यति--एषा वै दक्षिणा दिक् पितॄणां स्वभूता। तथा च सा वेदिर्यदि दक्षिण-प्रवणा स्यात् दक्षिणतो निम्ना स्यात् तदा तत्रावस्थितोदकवत् यजमानोऽपि दक्षिणतोऽवस्थितं पितृलोकं क्षिप्रे क्षिप्र-मियात् प्राप्नुयात्। प्राचीनप्रवणायान्तु नैष दोषः। तथा सति स यजमानो ज्योक् चिरं जीवेत्। तस्माद्दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहति। खाता वेदिर्नोऽद्भिः श्लक्ष्णी करणीया किन्तु पांसुलैवकार्येति विधत्ते पुरीषवतीं कुर्वीत।

(सूक्ष्म) ऐसा होना चाहिये जैसे कृशोदरी स्त्री का मध्य भाग (कमर) हाथ के भीतर समा जाता है। इस प्रकार प्रशस्त स्त्री के आकार की वेदि का निर्माण करके उसे देवता के लिये प्रिय बना दे।

३६—'सा वै प्राक् प्रवणा स्यात्' (श० १।२।५।१७) 'अथ सा वेदिः प्राक् प्रवणा उदक् प्रवणा वा कार्या' ऐसा विधान होने से पूर्व दिशा की तरफ वेदि को प्रवण (निम्न) करनी चाहिये। प्राची दिशा (पूर्व दिशा) देवों से सम्बन्धित होती है, क्योंकि दिग्विभाजन के समय उसका देवों ने अपने लिये स्वीकार किया है। इसी बात को तैत्तिरीय श्रुति ने भी कहा है—'देवमनुष्या दिशो व्यभजन्त। प्राचीं देवाः' (तै० ६।१।१।१), अथवा उत्तर दिशा की तरफ उसे निम्न (प्रवण) करनी चाहिये, क्योंकि शान्त रूप होने से उदीची (उत्तर दिशा) के साथ मनुष्यों का सम्बन्ध है। इसी बात को तैत्तिरीय श्रुति ने भी कहा है—'एषा वै देवमनुष्याणां शान्ता दिक्— (तै० ब्रा० २।१।३।५)

३८—वेदि के दक्षिण भाग को धूलि (पांसु) से उन्नत बनाने का विधान होने से वेदि के दक्षिण भाग में (दक्षिण दिशा में) वेदि से खोदी गई मिट्टी को डाल देना चाहिये। विहित अर्थ के उपपादनार्थ विपक्ष में बाधक का का उपन्यास किया गया है--वह दक्षिण दिशा पितरों की अपनी है। तथा च वह वेदि यदि दक्षिण की ओर निम्न रहे, तो निम्न स्थल स्थित जल के समान, वहाँ अवस्थित यजमान भी दक्षिण दिशा में स्थित पितृ लोक में शीघ्र प्राप्त हो जायगा। किन्तु वेदि के प्राचीन प्रवण रहने पर यह दोष नहीं है। प्राचीन प्रवण रहने पर वह यजमान चिरजीवी होगा। इसलिये दक्षिण की ओर पुरीष को डालना चाहिये। खुदी हुई वेदि को जल से श्लक्ष्ण (चीकनी) नहीं करनी चाहिये, किन्तु पांसुल (धूलि युक्त) ही करनी चाहिये, यह 'पुरीषवतीं कुर्वीत' से बताया गया है। 'पशवो

तत्प्रशंसति--पशवो वै पुरीषं पशुप्राप्तिहेतुत्वात् पुरीषस्य पशुत्वम् पुरीषैः पांसुभिः वेदिं कुर्वन् पशुभिर्युक्तामेवैनां कुरुते।

३९—तथा च दिक्त्रये गायत्र्यादिभिः पुरस्तादग्निना पूज्यदेवेन च त्वामसुरेभ्यः पालयामि। मन्त्रैरेभिः स्रुवेण कुशेन रेखात्रयं कुर्यात्।

४०—अध्यात्मपक्षेऽपि--ध्यानभजनादिसाधनोपयुक्तां भूमिं परिगृह्णीत हे भूमे गायत्रेण छन्दसा छन्दोरूपतया भावितेन स्रुवेण त्वां साधनानुष्ठानाय परिगृह्णामि स्वायत्तीकरोमीति दक्षिणतः त्रैष्टुभेन छन्दसा तद्रूपतया भावितेन परिगृह्णामि पश्चात् जागतेन छन्दसा तद्रूपतया भावितेन स्रुवेण त्वा परिगृह्णामि। हे साधनभूमे! त्वं सुक्ष्मासि शोभनभूमिरूपासि। सैव भूमिः शोभना यत्र भगवदाराधनध्यानादिकं सम्यक् सम्पद्यते। शान्तिदायकत्वात् भूमेः शान्तत्वं स्योना सुखरूपा चासि भगवद्ध्यानानन्दजनकत्वात् स्योनशब्दस्य सुखनामसु पाठात्। सुषदां सम्यगुपवेशनयोग्याम्—यद्वा सुष्ठु सीदन्ति देवा अस्यामिति सुषदा ऊर्जस्वती निष्ठादाढर्च्यरूपबलप्रदा पयस्वती पयस् शब्दः क्षीरस्य रसहेतोर्जलस्य च वाचकः, तदुभययुक्तासि पयोवत् भगवन्माधुर्यानुभावयित्री रसहेतुजलवत्प्राणप्रदा च—

'पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नुदादाय पृथिवीं जीवदानुम्। यामैरयंश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तासु धीरासोऽअनुदिश्य यजन्ते। प्रोक्षणीरासादय द्विषतो वधोऽसि'॥ वा० सं० १। २८॥

वै पुरीषम्' से उसकी प्रशंसा की गई है। पशु प्राप्ति में हेतुभूत होने से पुरीष पर पशुत्व का आरोप किया गया है। मिट्टी (पुरीष, पांसु) से वेदि बनाने वाला मानो उसे पशुओं से ही युक्त करता है।

३९—तथाच तीनों दिशाओं में गायत्री आदि छन्दों के द्वारा पहले अग्नि और पूज्य देव से तेरा असुरों से पालन करता हूँ इन मन्त्रों से स्रुव और कुश के द्वारा तीन रेखा करे।

४०—अध्यात्म पक्ष में भी ध्यान, भजन आदि साधनों के उपयुक्त भूमि का स्वीकार करे। 'हे भूमे! गायत्र छन्द से अर्थात् छन्दोरूप में भावित किये गये स्रुव से साधनों के अनुष्ठानार्थ तुम्हारा स्वीकार करता हूँ, अर्थात् अपने अधीन कर रहा हूँ' यह कह कर दक्षिण की ओर, त्रैष्टुभ छन्द के रूप में भावित किये गये स्रुव से तुम्हें अपने स्वाधीन करता हूँ' कहकर पश्चिम की ओर, जागतच्छन्द के रूप में भावित किये गये स्रुव से तुम्हें अपने अधीन करता हूँ। हे साधन भूमे! तुम शोभन भूमि रूप हो। वही भूमि शोभन कहलाती है, जहाँ भगवान् की आराधना ध्यानादि का सम्यक्तया सम्पादन किया जा सकता है, शान्तिदायक होने से ही भूमि का शान्तत्व है, और भगवद्ध्यान का आनन्द देने वाली होने से तुम सुख स्वरूप हो, 'स्योन' शब्द का सुखवाचक नामों में पाठ किया है: 'सुषदां'—सम्यग् उपवेशन (बैठने) के योग्य हो, अथवा देवता जिस पर अच्छी प्रकार से बैठते हैं ऐसी तुम हो। तथा 'ऊर्जस्वती' अर्थात् निष्ठा, दृढ़ता रूप बल को देने वाली हो, एवं 'पयस्वती' अर्थात् पय की तरह भगवन्माधुर्य का अनुभव कराने वाली हो, और रस के हेतुभूत जल की तरह प्राणप्रदात्री हो। 'पयस्' शब्द क्षीर और रसहेतुभूत जल का वाचक है। भाव यह है कि तुम उर्जस्वती और पयस्वतो दोनों ही हो।

अर्थ—हे वेदत्रयी रूप शब्द करने वाले वेदि रूप विष्णो ! पृथ्वी पर जब महान् युद्ध होने की सम्भावना हुई, तब उसका सारभूत भाग निकाल कर वेद के सहित उस भाग को देवताओं ने चन्द्र में रख दिया। बुद्धिमान् लोग उसी भाग पर याग करते हैं। उसी सारभूत भाग को 'वेदी' कहते हैं। हे आग्नीध्र ! तुम प्रोक्षणी जल को वेदी पर रखो। हे स्फ्य ! तुम शत्रुओं के हिंसक हो ॥२८॥

१—निदानवानयं मन्त्रः। निदानवताञ्च मन्त्राणां पूर्वं निदानं वक्तव्यं पश्चाद् व्याख्यानं कार्यम्, तथा सति सुखावगमो भवति मन्त्रः—तदुच्यते।

२—कदाचिद् देवानामसुरैः सह सङ्ग्रामः प्रवृत्तस्तदा देवैर्मिथो विचारितं यदस्या भूमेरुत्कृष्टं देवयजनस्थलं तच्चन्द्रे संस्थाप्य युद्धं कुर्मः। तत्र यद्यस्माकं पराजयः स्यात् तदा देवयजने यागं विधाय पुनर्दैत्यपराजयं करिष्यामहे इति समन्त्र्य भूमेः सारभागं देवयजनं चन्द्रे स्थापयामासुः। तदेव कृष्णवर्णमिदानीमपि दृश्यते। तदेवाख्यानं मन्त्रो ब्रूते।

३—'पुरा क्रूरस्येत्यनुमार्ष्टि' (का० श्रौ० सू० २।६।३३), पुरा क्रूरस्येति त्रिष्टुप्चन्द्रदैवत्या विविधं रक्षति वेदत्रयेण शब्दं करोतीति विरप्शी तत्सम्बुद्धौ हे विरप्शिन् वेदित्वं प्राप्तो यज्ञो विष्णुः सम्बोद्धयते—यज्ञगतानामृत्विजामृगादिमन्त्राणां पठनात् यज्ञे तच्छब्दकरत्वोपचारः, वेदैर्निर्वर्त्यमानो विविधं रप्सति शब्दं करोति—हे विष्णो हे विरप्शिन् विष्णो परमेश्वर त्वं शृणु अनुगृहाणेतिशेषः। संग्रामो वै क्रूरम्' (श० १।२।५।१६) इति श्रुतेः। क्रूरस्य विसृप इति पञ्चम्यर्थे षष्ठ्यौ। विविधं सर्पन्ति योधा अस्मिन्निति विसृपस्तस्मात् विविधयोद्धृयुतात् क्रूरात् संग्रामात् पुरा पूर्वं देवा जीवदानुं जीवं ददातीति जीवदानुस्तां जीवदानुं जीवदात्रीं सारभूतां पृथिवीमुपादाय ऊर्ध्वं गृहीत्वा स्वधाभिर्वेदैः सह चन्द्रमसि ऐरयन् निःक्षिप्तवन्तः स्वधाशब्दो यद्यप्यन्नवाचकस्तथाप्यत्र लक्षणया यज्ञादिक्रमेणान्नहेतुभूतां वेदत्रयीं बोधयति। 'यां चन्द्रमसि ब्राह्मणा दधुः' (श० १।२।५।१८) इति श्रुतेः। ब्रह्मणा वेदेन सार्धमित्यर्थः।

१—यह मन्त्र निदानवान् है। निदानवान् मन्त्रों का निदान पहले कहना चाहिये, पश्चात् उनका व्याख्यान करना चाहिये—वैसा करने पर मन्त्र सुखबोध्य होता है। उसी को बताते हैं—

२—एक समय असुरों के साथ देवों का संग्राम (युद्ध) होने को था। तब देवताओं ने आपस में विचार किया कि इस भूमि (पृथ्वी) के उत्कृष्टभूत 'देवयजन स्थल' को चन्द्र के पास रखकर युद्ध करें। यदि युद्ध में हमारी पराजय भी हो जाय, तो देवयजन स्थल में याग करके पुनः दैत्यों को हरा देंगे। इस प्रकार आपस में मन्त्रणा करके धूमि के देवयजन रूप सार भाग को चन्द्र में स्थापित कर दिया। वही कृष्ण वर्ण (काला धब्बा) अभी भी दिखाई देता है। उसी आख्यान को मन्त्र बता रहा है।

३—'पुराक्रूरस्येत्यनुमार्ष्टि'—(का० श्रौ० सू० २।६।३३)। 'पुराक्रूरस्य' यह मन्त्र कह रहा है कि त्रिष्टुप् और चन्द्र देवताओं से सम्बन्ध रखने वाली यह ऋक् तीन वेदों के द्वारा शब्द करती है। 'विविधं रप्शति' इति विरप्शी, तत्सम्बुद्धौ हे विरप्शिन् ! वेदित्व को प्राप्त हुआ यज्ञ रूप विष्णु सम्बोधित किया जा रहा है। यज्ञगत ऋत्विजों के द्वारा ऋगादि मन्त्रों के पठन करने के कारण यज्ञ को उपचार से तच्छब्द कर कहा गया है। वेदों के द्वारा निष्पन्न विविध रीति से या विविध प्रकार के शब्द करने वाले हे विष्णो ! हे परमेश्वर ! तुम सुन लो अर्थात् अनुग्रह करो। 'संग्रामो वै क्रूरम्'—(श० १।२।५।१८) इस श्रुति ने भी यही बताया है। 'क्रूरस्य', विसृपः' ये दोनों षष्ठियाँ, पञ्चमी के अर्थ में हैं। 'विविधं सर्पन्ति योधा अस्मिन् इति विसृपः तस्मात्' अर्थात् विविध योधाओंसे युक्त हुए क्रूर संग्राम से पूर्व देवताओं ने जीवनदात्री (जीवदानु) सारभूत पृथ्वी को लेकर अर्थात् ऊपर (ऊर्ध्वं) उठाकर वेदों (स्वधाओं) के साथ चन्द्रमा में उसे स्थापित कर दिया। 'स्वधा' शब्द यद्यपि अन्न का वाचक है, तथापि यहाँ पर लक्षणा से यज्ञादि क्रम के द्वारा अन्न की हेतुभूत वेदत्रयी का बोधन करता है। इसी भाव को 'यां चन्द्रमसि ब्राह्मणा

धीरासः धीरा मेधाविनः तामु तामेव (उ एवार्थकः) चन्द्रस्थां पृथिवीमनुदिश्य सैव भूमिरस्यां वेद्यां वर्तत इति भावयित्वा यजन्ते यागं कुर्वन्ति। अनेन मन्त्रेण खातायां वेद्यां लोष्टकृतवैषम्यनिवृत्तये समीकरणरूपं मार्जनं कुर्यात्। प्रोक्षणीरासादयेति अग्नीध्रं प्रति प्रैषः। प्रोक्ष्यन्त आभिरिति प्रोक्षण्य आपस्ता आसादय वेद्यां स्थापय। 'द्विषतो वध इति स्फ्यमुदञ्चं प्रहरतीति' (का० श्रौ० सू० २।६।४२)

४—प्रेषार्थमुद्यतं वज्रमध्वर्युरुदगग्रमुत्करे क्षिपति। मन्त्रार्थस्तु—हे स्फ्य त्वं द्विषतः शत्रोर्वधोऽसि हन्तासि।

५—अत्र स्वामिदयानन्दः—'हे रत्नादिपदार्थविरञ्चिन् जगदीश्वर भवानेव यां स्वधामियुक्तां जीवदानुं जीवनदात्रीं पृथिवीमुदाराय चन्द्रमसि चन्द्रसमीपे स्थापयितवानस्ति तस्माद् धीरास्तामिमां पृथिवीं प्राप्य भवन्तमनुदिश्यानुसृत्य नित्यं यजन्ते यथा चन्द्रमस्यानन्देन वर्तमाना धीरासः यां जीवदानुं पृथिवीमनुदिश्याश्रित्य सेनां शस्त्राण्युदादाय विसृपः क्रूरस्य संग्रामस्य मध्ये शत्रून् जित्वा राज्यमैरयत् प्राप्नुवन्ति यथा चैवं कृत्वा धीरासः पुरा प्रोक्षणीश्चासादितवन्तस्तथैव हे विरञ्चिन् त्वमपि उ इति वितर्के तां प्राप्येश्वरं यज प्रोक्षणीश्चासादय यथा च द्विषतो भवेत् तथा कृत्वानन्दे नित्यं प्रवर्तस्वे'त्याह।

६—तदपि यत्किञ्चित्, स्थापितवानसीति क्रियापदस्य मूलेऽभावात्। एवं 'विसृपः क्रूरस्य सङ्ग्रामस्य मध्ये शत्रून् जित्वा राज्यमैरयते'त्यपि निर्मूलं, मूले तादृशपदाभावात्। सेनाशस्त्रादि चर्चापि मन्त्रे नास्त्येव। प्रोक्षणीरासादयेत्यपि अप्रकृतप्रक्रियैव। सिद्धान्ते तु श्रुतिसूत्रोक्त। रीत्या सङ्गतिः।

दधुः' (श० १।२।५।१६) इस श्रुति ने भी बताया है। 'ब्रह्मणा' अर्थात् वेद के साथ—यह अर्थ किया गया है। धीर अर्थात् मेधावी लोग 'तामु' अर्थात् 'तामेव' उसी को ('उ' शब्द, एष के अर्थ में है) यानी जो चन्द्रस्थ पृथिवी है, वही पृथिवी (भूमि) इस वेदि में है, इस प्रकार की भावना करके वहाँ याग करते हैं। इस मन्त्र से खनन की हुई वेदि में लोष्टकृत वैषम्य के निवृत्त्यर्थ समीकरण रूप मार्जन करना चाहिये। 'प्रोक्षणीरासादय' इस प्रकार आग्नीध्र को प्रैष दिया जाता है। 'प्रोक्ष्यन्ते आभिः इति प्रोक्षण्यः' अर्थात् जल, उस जल को 'आसादय' यानि वेदि में स्थापित करो (रखो)। 'द्विषतो वध इति स्फ्यमुदञ्चं प्रहरति इति' (का० श्रौ० सू० २।६।४२)

४—प्रैष देने के लिये उठाये हुए वज्र को अध्वर्यु, उत्कर में उदगग्र रख देता है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे स्फ्य ! तुम शत्रुहन्ता हो।

५—स्वामी दयानन्द इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—'हे रत्नादिपदार्थ विरञ्चिन् ! जगदीश्वर ! अपने ही स्वधाओं से युक्त, जीवनदात्री जिस पृथिवी को चन्द्र के समीप स्थापित किया है, उस कारण धीर लोग उस पृथिवी को प्राप्त कर आपका अनुसरण करते हुए नित्य याग हैं, जैसे चन्द्रमा में आनन्द से विद्यमान रहने वाले धीर लोग जीवनदात्री जिस पृथिवी का आश्रय करके सेना और शस्त्रों की सहायता से क्रूर संग्राम के मध्य में शत्रुओं को जीतकर राज्य को प्राप्त करते हैं। और जिस प्रकार धैर्यशाली लोगों ने इस प्रकार से प्रोक्षणियों को पाया था उसी प्रकार से हे विरञ्चिन् ! तुम भी ('उ' शब्द वितर्क अर्थ में है) उसे प्राप्त करके ईश्वर की पूजा करो और प्रोक्षणियों को प्राप्त करो, और जिस प्रकार शत्रुओं का पराजय हो सके वैसा प्रयत्न करके नित्य आनन्द का अनुभव करो।'

६—किन्तु इस प्रकार अर्थ करना नितान्त सारहीन है। क्योंकि 'स्थापितवानस्ति' यह क्रिया पद, मूल में नहीं है। उसी प्रकार 'विसृपः क्रूरस्य सङ्ग्रामस्य मध्ये शत्रून् क्षित्वा राज्यमैरयत्' यह कथन भी निर्मूल है, क्योंकि मूल में वैसे पद ही नहीं है। सेना, शस्त्र आदि की चर्चा भी मन्त्र में नहीं है। 'प्रोक्षणीरासादय' यह कहना भी अप्रकृत प्रक्रिया ही है। किन्तु सिद्धान्त में श्रुति और सूत्र के अनुसार सङ्गति स्पष्ट है अतः सैद्धान्तिक अर्थ ही उचित है। दयानन्दोक्त अर्थ असङ्गत है।

७—अत्र भावार्थत्वेन यदुक्तम् तेन—'येनेश्वरेणान्तरिक्षे पृथिव्यास्तत्समीपे चन्द्रस्तत्समीपे पृथिव्योऽन्योन्यं समीपस्थानि नक्षत्राणि सर्वेषां मध्ये सूर्यलोका एतेषु विविधाः प्रजाश्च रचयित्वा स्थापिताः सर्वैस्तत्रत्यैर्मनुष्यैः स एवोपास्योऽस्ति। यावन्मनुष्या बलक्रियाभ्यां युक्ता भूत्वा शत्रून् न विजयन्ते नैव तावत्स्थिरं राज्यसुखं प्राप्नुवन्ति कुतो नैव युद्धबलाभ्यां विना शत्रवो बिभ्यति, नैव विद्यान्यायविनयैर्विना यथावत् प्रजाः पालयितुं शक्नुवन्ति तस्मात् सर्वैर्जितेन्द्रियैर्भूत्वैतत्समासाद्य सर्वेषां सुखं कर्तुमनुलक्ष्य नित्यं प्रयतितव्यम्।'

८—इति, तदपि न सङ्गतम्, दूरतोऽपि मन्त्राक्षरासम्बन्धात्। परमेश्वरेण चन्द्रसूर्यादयो रचयित्वा स्थापिता इत्यस्यार्थस्य बोधकानि कानिचिदपि पदानि प्रकृतमन्त्रे न सन्त्येव। तत्रत्यैर्मनुष्यैः स एवोपासनीय इत्यस्याप्यर्थस्य बोधकं पदमत्र नास्ति। यथा कश्चित् क्वचिदेकं रजतताम्रादिखण्डमालोक्यात्रामुकस्य राज्ञो राजधान्यासीत् तस्य चतस्रो भार्याः शतं पुत्रा आसन्नित्यादिकमिति वृत्तं कल्पयेत् तद्वदेव 'पृथिवीं यामैरयंश्चन्द्रमसी' त्यादि पदानि दृष्ट्वा परमेश्वरेण सूर्यादयो रचयित्वा परस्परसमीपे स्थापयिता इति, 'क्रूरस्य विसृपः' इति पदे दृष्ट्वा सङ्ग्राम इति, 'यजन्ते' इति दृष्ट्वा तदुपासना कर्त्तव्येति, 'प्रोक्षणीरासादये'दिति दृष्ट्वा यज्ञेन्द्रियनिग्रहादि इति, 'द्विषतोवध इति दृष्ट्वा शत्रुविजयेन स्थिरं राज्यमित्यादिकल्पनम् कृतम्। नात्र कश्चन सम्बद्धो गम्भीरोऽर्थः। वस्तुतस्तु अध्याहार-व्यत्ययादिस्वातन्त्र्येणैवमेव तद्विरुद्धा अपि बह्व्यः कल्पनाः कर्तुं शक्यन्ते। ऐरयन्निति बहुवचनस्य द्विषतोवधोऽसीति मध्यमपुरुषप्रयोगस्य च का गतिरिति नैव विचारितम्।

९—शतपथव्याख्यानस्य सङ्केतः प्रतिमन्त्रं क्रियते किन्तु तद्विरुद्धमेव व्याख्यायन्ते मन्त्रा इत्याश्चर्यमेव।

७—यहाँ पर भावार्थ के रूप में जो कहा गया है, उससे—'जिस ईश्वर ने अन्तरिक्ष में अर्थात् पृथिवी के समीप चन्द्र, उसके समीप पृथिवियाँ, परस्पर समीप रहने वाले नक्षत्र, सबके मध्य में अनेक सूर्यलोक, और उनमें विविध प्रजाओं को रचकर स्थापित किया, अतः वहाँ रहने वाले सभी मनुष्यों का वही उपास्य है। जब तक मनुष्य, बल और क्रियाशील होकर शत्रुओं को नहीं जीतते हैं, तब तक वे स्थिर राज्यसुख को प्राप्त ही नहीं कर पाते। क्योंकि युद्ध और बल के बिना शत्रु भयभीत नहीं हुआ करते, और न ही विद्या, न्याय, विनय के बिना प्रजा का पालन यथावत् कर पाते हैं, इस कारण सभी लोग जितेन्द्रिय होकर उपर्युक्त सभी बल, क्रिया, विद्या आदि साधनों को प्राप्त करें और सभी को सुखी बनाने के लिये प्रयत्न करें।'

८—यह दयानन्दोक्त भावार्थ भी असङ्गत है, क्योंकि मन्त्राक्षरों से उसका कोई किसी प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं है। 'परमेश्वर ने चन्द्र, सूर्य आदि की रचना करके उन्हें स्थापित किया'। इस अर्थ का प्रतिपादन करने वाला एक भी शब्द, प्रकृत मन्त्र में नहीं है। 'वहाँ रहने वाले मनुष्य, उसी की उपासना करे' इस अर्थ का भी कोई पद, इस मन्त्र में नहीं है। यह कथन तो उसी प्रकार की गप्प मारने के समान है. जैसे किसी ने कहीं पर एकाध चाँदी या ताँबे के टुकड़े को पाकर कल्पना कर ली कि यहाँ पर अमुक राजा की राजधानी थी, उसकी चार रानियाँ थी और सौ पुत्र थे। ठीक उसी तरह 'पृथिवीं यामैरयंश्चन्द्रमसी' इत्यादि कुछ पदों को देखकर 'परमेश्वरेण सूर्यादयो रचयित्वा परस्परसमीपे स्थापिता इति', कल्पना कर लेना उसी तरह 'क्रूरस्य विसृपः' इन दो पदों को देखकर 'संग्राम' की कल्पना कर लेना—'यजन्ते' पद को देखकर 'तदुपासना कर्तव्या' की कल्पना कर लेना, 'प्रोक्षणीरासादयेत्' को देख कर 'यज्ञ, इन्द्रियनिग्रह आदि की कल्पना करना, 'द्विषतो वधः' को देखकर 'शत्रु विजयेन स्थिरं राज्यम्' इत्यादि कल्पना कर लेना आदि यह सब स्वामी दयानन्द जी की केवल कपोलकल्पना ही कही जायगी, क्योंकि न तो मन्त्राक्षरों से सम्बद्ध कोई है, और न उसमें कोई गम्भीरता ही है। वस्तुतस्तु अध्याहार, व्यत्यास आदि की स्वतन्त्रता से तो कितनी ही उसके विरुद्ध कल्पनाओं को भी किया जा सकता है। 'ऐरयन्' इस बहुवचन की और 'द्विषतो वधोऽसि' इस मध्यम पुरुष के प्रयोग की क्या गति होगी विचार नहीं किया।

९—शतपथ ब्राह्मण की व्याख्या का संकेत तो प्रत्येक मन्त्र में किया गया है, किन्तु उसके विरुद्ध ही मन्त्रों

निदानवतां मन्त्राणां पूर्वं निदानं वक्तव्यं पश्चान्मन्त्रार्थस्तथा क्षिप्रावगमो भवतीत्युव्वटाचार्याः। निदानविचारमन्तरैव दयानन्दीयं व्याख्यानमतएव विश्रृङ्खलम्। शतपथे च निदानमुक्तम्—तां प्रतिमार्ष्टि देवा ह वै सङ्ग्राम ७ँ सन्निधास्यन्तस्ते होचुर्हन्त यदस्यै पृथिव्या अनामृतं देवयजनं तच्चन्द्रमसि निदधामहै। यदि न इतोऽसुरा जयेयुस्तत एवार्चन्तः श्राम्यन्तः पुनरभिभवेमेति। स यदस्यै पृथिव्या अनामृतं देवयजनमासीत्तच्चन्द्रमसि न्यदधत। तदेतच्चन्द्रमसि कृष्णम्। तस्मादाहुश्चन्द्रमस्यस्यै पृथिव्यै देवयजनमित्यपि ह वा अस्यैतस्मिन् देवयजनं इष्टं भवति। तस्माद्वै प्रतिमार्ष्टि।' (श० १।२।५।१८)

पुरा क्रूरस्येति मन्त्रेण यद्वेदेर्मार्जनं विधत्ते तत्प्रशंसार्थमितिहासमाह— देवाहेति। पुरा खलु देवा असुरैः सह योत्स्यमाना एवमवोचन् किमिति—अस्याः पृथिव्याः सम्बन्धि अनामृतम् आसमन्तान्मृतं सर्वदा नश्वरमामृतं तद्विपरीतं सर्वदा बाधविधुरम् ईदृग्विधं यद्देवयजनम् देवयागाधिकरणं स्थानं तत् चन्द्रमसि चन्द्रमण्डलमध्ये निक्षिपामः स इति व्यत्ययेनैकवचनम्। तेऽसुरा यदि नोऽस्मान् इतोऽस्मात् स्थानात् जयेयुः तदा वयमेतत्स्थानं परित्यज्य तत एव चन्द्रमसि निहिते तस्मिन् स्थान एव पुनर्यज्ञं कुर्वाणा अर्चन्तः श्राम्यन्तस्तेन यज्ञेनासुरान् पुनरभिभवामेति ईदृग्विधोपाय ज्ञानजनित हर्षद्योतको हन्त शब्दः। एवं विचार्य तथैव तैः कृतमिति दर्शयति श्रुतिः सयदिति। व्यत्ययेन पुल्लिङ्गता तद्यदस्याः पृथिव्याः सम्बन्धि अनामृतं तच्चन्द्रमसि न दधत निहितवन्तः। तत् निहितं देवयजनमिदानीं चन्द्रमसि कृष्णवर्णं सत् कलङ्कात्मतया दृश्यते। उक्तेऽर्थे लोकप्रसिद्धिमुदाहरति--तस्मादाहुः यस्मादेव पृथिव्या अनामृतं देवयजनं यच्चन्द्रमसि निःक्षिप्तं तस्मादेव कारणादस्याः पृथिव्याः सम्बन्ध्युदीरितलक्षणं देवयजनं चन्द्रमसि विद्यत इत्यभिज्ञाः कथयन्ति। यदीदृग्विधं देवयजनम् एतस्मिन्नेव पुरा क्रूरस्येति मन्त्रेण प्रतिमार्जनं कुर्वतोऽस्य यजमानस्यापि यज्ञेनेष्टं भवति।

की व्याख्या की गई है, यह एक आश्चर्य ही है। 'निदान वाले मन्त्रों का पहले निदान बताना चाहिये, उसके पश्चात् मन्त्रार्थ करना चाहिये, ऐसा करने से ज्ञान शीघ्र होता है, इस प्रकार उव्वटाचार्य ने कहा है। किन्तु दयानन्द का व्याख्यान, निदान का विचार किये बिना ही हुआ है, अतएव वह विश्रृङ्खल है। शतपथ में निदान बताया गया है— 'तां प्रतिमार्ष्टि देवा ह वै'—(श० प० १।२।५।१८)। 'पुरा क्रूरस्य' मन्त्र से जो मार्जन का विधान किया गया है, उसकी प्रशंसा करने के लिये इतिहास बता रहे हैं—'देवा हेति'। पहले किसी समय देवगण, असुरों के साथ जब युद्ध करने के लिये तैयार हुए, तब यह कहने लगे कि इस पृथिवी का जो अनामृत भाग है, अर्थात्—समस्त बाधाओं से रहित देवयजन (देवयागाधिकरण) स्थान है, उसे चन्द्र मण्डल में रख देंगे।

(आमृत—आसमन्तात् मृतं सर्वदा नश्वरं, तद्विपरीतं अनामृतम्, सर्वदा बाधरहितम्) 'सः' यह व्यत्यय से एक वचन है। वे असुर यदि हमें इस स्थान पर जीत लेंगे, तो हम इस स्थान को छोड़कर चन्द्र मण्डल पर रखे हुए उस स्थान पर हो पुनः यज्ञ (अर्चन) करेंगे, और उस यज्ञ के द्वारा पुनः असुरों को पराजित करेंगे। (यहाँ पर 'हन्त' शब्द असुरों के पराभवार्थ उपाय ज्ञान से होने वाले हर्ष का सूचक है)। इस प्रकार विचार करके उसी तरह उन्होंने किया इसे 'सयदिति' श्रुति ने दिखाया है। (यहाँ पर लिङ्ग व्यत्यय है)। इस पृथिवी का जो अनामृत भाग है, उसे चन्द्र मण्डल में रख दिया गया है। चन्द्र मण्डल में रखा हुआ पृथिवी का जो भाग (देवयजन) है, वही चन्द्रमा में कृष्ण वर्ण कलङ्क के रूप में दिखाई देता है। इस उक्त अर्थ के समर्थन में लोकप्रसिद्धि को भी दिखा रहे हैं—इसीलिये कहते हैं कि जिस कारण से पृथिवी के इस प्रकार के देवयजन रूप अनामृत भाग को चन्द्रमा में रख छोड़ा है, उसी कारण विद्वान् लोग कहा करते हैं कि इस पृथिवी से सम्बन्धित जो देवयजन भाग है, वह चन्द्रमा में स्थित है। इस प्रकार का का वह देवयजन, यज्ञानुष्ठान के समय 'पुराक्रूरस्य' मन्त्र से प्रति मार्जन करने वाले यजमान का अभीष्ट भी यज्ञ के द्वारा सिद्ध कर देता है।

१०—'स प्रतिमार्ष्टि पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्निति सङ्ग्रामो वै क्रूरꣳ सङ्ग्रामे क्रूरं क्रियते हतः पुरुषो हतोऽश्वः शेते पुराह्य तत्सङ्ग्रामान्न्यदधत् तस्मादाह पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नित्युदादाय पृथिवीं जीवदानु-मित्युदादाय हि यदस्यै पृथिव्यै जीवमसिस्तच्चन्द्रमसि न्यदधत् तस्मादाहोदादाय पृथिवीं जीवदानुमिति यामैरयंश्चन्द्र-मसि ब्रह्मणा दधुरित्येवैतदाह तामुधीरासोऽनुदिश्य यजन्त इत्येतेनोह तामनुदिश्य यजन्ते ह वा अस्यै तस्मिन् देवयजनं इष्टं भवति य एवमेतद्वेद।' (श० १।२।५।१९)

११—विहितं प्रतिमार्जनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते स इति। पुरा क्रूरस्येतिमन्त्रगतक्रूरशब्दस्यार्थमाह सङ्ग्रामो वै क्रूरमिति। कथं सङ्ग्रामस्य क्रूरशब्दवाच्यतेत्याशङ्क्योपपादयति—सङ्ग्रामे हि क्रूरं कर्म क्रियते हतः पुरुषो हतोऽश्वः शेते। पुरुषोदश्चतुरङ्गबलस्य तत्र हननलक्षणक्रूरकर्मकरणात् तदधिकरणभूतः सङ्ग्रामोऽपि क्रूरशब्देन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। क्रूरस्य सङ्ग्रामस्य विसृपः विसर्पणादागमनात् पुरा इति मन्त्रवाक्यार्थ इत्यभिप्रायः।

१२—मन्त्रस्य द्वितीयं भागमनूद्य जीवदानुपदस्य विवक्षितमर्थं दर्शयन् व्याचष्टे—उदादायेति, अस्याः पृथिव्याः जीवं जीवनरूपं जीवात्मभूतं यदनामृतं देवयजनमासीत् तथा च जीवदानुं जीवनप्रदां जीवभूतां पृथिवीमितिमन्त्रपदा-भिप्रायो वर्णितो भवति। वैयाकरणास्तु जीवेस्तदानुः इति जीवदानु पदं व्युत्पादयन्ति। तथैव तैत्तिरीयकैराम्ना-तम्—'अभिन्नो धर्मो जीरदानुः' इत्यादि (तै० सं० १।५।१०) जीरं जीवनं पुरोडाशद्वारेण यज्ञस्य ददातीति तत्र सायणाचार्यः।

१३—मन्त्रस्य भागान्तरमनूद्य व्याचष्टे—यामिति, एतेनेदानीन्तनेन देवयजनेन तां चन्द्रमस्यवस्थितामना-मृतां पृथिवीमनुदिश्य तदेवेदमिति तादात्म्येनानुसन्धाय यजन्ते। तद्वेदनं प्रशंसति—अपि ह वा अस्यैव वेदिन एतस्मिन् देवयजन इष्टं भवति।

१४—अत्र सायणः काण्वभाष्ये—'कदाचित्किल देवानामसुरैः सह सङ्ग्रामः प्राप्तः। तत्र ब्रह्मादयो देवा

१०—'स प्रतिमार्ष्टि पुराक्रूरस्य विसृपः'—(श० १।२।५।१९) यह ब्राह्मण, प्रतिमार्जन का अनुवाद करके मन्त्र का विधान कर रहा है। 'पुराक्रूरस्य' इस मन्त्र में आये हुए 'क्रूर' शब्द के अर्थ को 'सङ्ग्रामो वै क्रूरम्' से बता रहे हैं। 'सङ्ग्राम' को 'क्रूर' शब्द से क्यों कहा जाता है ? इस प्रकार आशङ्का करके उपपादन कर रहे हैं—क्योंकि संग्राम में क्रूर कर्म किया जाता है। उसमें चतुरङ्ग सेना का हनन लक्षण क्रूर कर्म किया जाता है, उस कारण तदधिकरणभूत संग्राम को भी 'क्रूर' शब्द से कहा जाता है। (पुरा क्रूरस्य विसृपः का अर्थ है कि संग्राम के उपस्थित होने के पूर्व)।

१२—अब मन्त्र के द्वितीय भाग का अनुवाद करके 'जीवदानु' पद के विवक्षित अर्थ को बताते हुए 'उदादाय' इत्यादि से व्याख्या की जा रही है। इस पृथिवी का जीवन रूप जो अनामृत देवयजन था। तथा च 'जीवदानु' का अर्थ 'जीवन प्रद जीवभूत पृथिवी को' यह अभिप्राय मन्त्रगत जीवदानु पद का बताया गया है। वैयाकरण विद्वान् 'जीवेरदानुक्' सूत्र से जीवदानु पद का व्युत्पादन करते हैं। उसी तरह तैत्तिरीयकों ने भी कहा है—'अभिन्नो धर्मो जीरदानु' इत्यादि—(तै० सं० १।५।१०) इस पर सायणाचार्य कहते हैं कि पुरोडाश के द्वारा यज्ञ को जीवन (जीर) देती है, इसलिये उसे जीरदानु कहा गया है।

१३—मन्त्र के भागान्तर का अनुवाद कर 'यामि'ति से व्याख्या करते हैं इस समय (यागानुष्ठान कालीन) देवयजन के साथ चन्द्रमण्डल में अवस्थित अनामृत पृथिवी का तादात्म्यानुसन्धान करके यज्ञ करते हैं। उस तादात्म्या-नुसन्धान की 'अपि ह वा' से प्रशंसा की गई है।

१४—इस प्रसङ्ग पर काण्व भाष्य में सायण कह रहे हैं—'किसी समय देवों का असुरों के साथ संग्राम होने

इत्थं सम्मन्त्र्येदं चक्रु: देवासुरसङ्ग्रामे सति तेषां रुधिरादिभिरियं भूर्दूषिता देवयजनानर्हा भविष्यति अतोभुव: सूक्ष्मरूपं सारभूतमादाय चन्द्रमण्डले स्थापयिष्याम:। तदेव मध्यन्दिनवत् कण्वोऽपि दर्शयामास—देवा ह वै असुरै: सङ्ग्रामं सन्निधास्यत इत्यादिना—

१५—तथा च मन्त्रार्थ:—विसृप: क्रूरस्येति षष्ठ्यौ पञ्चम्यर्थे। विविधं सर्पन्ति योधा अस्मिन्निति विसृप् सङ्ग्राम:। क्रूरात्सङ्ग्रामात्पूर्वं तदुक्तं पुरा सङ्ग्रामादित्येवैतदाहेति विरप्शिन्निति महत: परमेश्वरस्य सम्बोधनं महन्नाम सुपाठात् जीवदानुं जीवस्यदात्रीं यां पृथिवीमुदादाय जीवात्मभूतामत्यन्तसारभूतां पृथिवीं संक्षिप्याद्धृत्यादाय चन्द्रमस्यैरयन् चन्द्रमण्डले देवा: प्रक्षिप्तवन्त:। केन साधनेन प्रक्षिप्तवन्त इति तदुच्यते स्वधाभिरिति। यद्यपि स्वधा-शब्दोऽन्ननामसु पठितस्तथापि तेन शब्देन तत्साधनभूतां वेदत्रयगता मन्त्रविद्योच्यते 'ब्रह्मणा दधु'रिति मध्यन्दिन श्रुते:। अर्थात् पृथिव्या: सारांशस्य चन्द्रमण्डले यत्स्थापनं तद्वेदत्रयरूपेण साधनेनैव।

१६—यद्वा 'अस्या जीवममन्यन्त तच्चन्द्रमसि न्यदधत यामैरयंश्चन्द्रमसि स्वधाभिरिति या मधुश्चन्द्रमसि ब्रह्मणेत्येवैतदाहेति काण्वश्रुते:। चन्द्रमण्डले मृगरूप: कृष्णवर्णो य: कलङ्को दृश्यते सोऽयं भूमे: सारांश: पुरा द्यावा पृथिव्यौ सहैवास्थिते सत्यौ यदा परस्परं वियुज्येते स्म तदानीमन्योन्यसरांशं यज्ञयोग्यमन्योऽन्यस्वरूपेण स्थापितवत्यौ तत्र भूमे: सारांशश्चन्द्रमसि दृश्यमान: कृष्णरूपमित्येव तित्तिरिराह—द्यावापृथिवीसहास्यां ते वियती अब्रूतां अस्त्येषनौ सह यज्ञियमिति। यदमुष्यायज्ञियमासीत् तस्यामदधात् तदुषा अभवत् यदस्या यज्ञियमासीत्तदमुष्यामदधात् ततश्चन्द्र-मसि कृष्णमिति (तै० ब्रा० १।१।३।२) तैत्तिरीयब्राह्मणश्रुते:। यदमुष्यादिवो यज्ञियमासीत्तत्स्यां पृथिव्यामदधात्। तदुषा अभवत्। यदस्या: पृथिव्या यज्ञियं रूपमासीत् तदमुष्यां दिवि अदधात्। ततश्चन्द्रमसि कृष्ण धीरासो धीरा बुद्धिमन्तो यजमानास्तां चन्द्रम:स्थितां कृष्णवर्णभूमिमुद्दिश्य वेद्यामस्यां विद्यत इति कथयित्वा तादात्म्येनानुसन्धाय वा

की था। उस समय ब्रह्मादि देवगणों ने इस प्रकार मन्त्रणा (सलाह) कर यह तय किया कि देवासुर संग्राम होने पर उनके रुधिरादि से यह पृथिवी दूषित हो जायगी, जिससे वह यज्ञ के योग्य नहीं रहेगी। अत: पृथिवी के सूक्ष्म (सारभूत) भाग को चन्द्र मण्डल में रख देंगे। इसी भाव को मध्यन्दिन के समान कण्व ने भी 'देवा ह वै' से प्रदर्शित किया है।

१५—तथा च मन्त्र का अर्थ इस प्रकार हुआ। 'विसृप:' और 'क्रूरस्य की षष्ठी विभक्तियाँ, पञ्चमी के अर्थ में हैं। 'विविधं सर्पन्ति योधा अस्मिन्निति 'विसृप्'=सङ्ग्राम:। 'विरप्शन्' यह परमेश्वर का सम्बोधन है। जीवन दात्री अत्यन्त सारभूत पृथ्वी को उठाकर चन्द्रमण्डल में स्थापित कर दिया। किस उपाय (साधन) से स्थापित किया? ऐसी जिज्ञासा करने पर कहा कि 'स्वधा' के द्वारा। यद्यपि 'स्वधा' शब्द का पाठ अन्न के नामों में किया गया है। तथापि उस शब्द से तत्साधनभूता वेदत्रयगता मन्त्र विद्या बताई गई है। यह बात मध्यन्दिन श्रुति 'ब्रह्मणा दधु:' से कही गई है। अर्थात् पृथिवी के सारभूत अंश का चन्द्र मण्डल में जो स्थापन है, वह वेद त्रय रूप साधन के द्वारा ही किया गया है।

१६—अथवा 'अस्या जीवममन्यन्त' इस काण्व श्रुति ने भी यही बताया है। चन्द्र मण्डल में मृग रूप कृष्ण वर्ण जो कलङ्क दिखाई देता है, वह पृथ्वी का सारभूत भाग ही है। पहले किसी समय द्यावा पृथिवी एक साथ ही रहती थीं, जब वे परस्पर वियुक्त हुईं, तब एक दूसरे के सारभूत यज्ञयोग्य अंश को एक दूसरे के स्वरूप में स्थापित किया गया। उनमें से चन्द्र में दिखाई देने वाला भूमि का सारभूत अंश कृष्ण रूप है। इसी को तित्तिरि ने बताया है—'द्यावापृथिवी सहास्यां' (तै० ब्रा०)। द्यु लोक का जो यज्ञिय भाग था, उसे पृथिवी में रख दिया। वही उषा के रूप में परिणत हो गया। अर्थात् उसे 'उषा' कहने लगे। और जो इस पृथिवी का यज्ञिय रूप था, उसे द्यु लोक में स्थापित कर दिया। तब बुद्धिमान् यजमानों ने चन्द्रमा में स्थित कृष्णवर्ण भूमि को इस वेदि में मानकर उसका तादात्म्यानुसन्धान करके यज्ञ करना प्रारम्भ किया। 'पुरा क्रूरेण' इस मन्त्र से खोदी हुई इस भूमि के लोष्टकृत

यजन्ते यज्ञं कुर्वन्ति पुरा क्रूरेणेतिमन्त्रेण खातायां वेद्यामस्यां लोष्टकृतवैषम्य परिहाराय समीकरणरूपं मार्जनं कुर्यात्। हे विरप्शिन् हे परमेश्वरेति सम्बोधनस्य अनुगृहाणेति पदमध्याहृत्यान्वयः कार्यः।

१७—'अथाह प्रोक्षणीरासादयेति। वज्रो वै स्फ्यो ब्रह्मणश्चेममं पुरा यज्ञमभ्यजुगुपतां वज्रो वा आपस्तद्वज्रमेवैतदभिगुप्त्या आसादयति। स वा उपर्युपर्येव प्रोक्षणीषु धार्यमाणास्वथ स्फ्यमुद्यच्छति—अथ यन्निहित एव स्फ्ये प्रोक्षणीरासादयेत् वज्रो ह समृच्छेयातां तथोह वज्रौन समुद्यच्छेते तस्मादुपर्युपर्येव प्रोक्षणीषु धार्यमाणास्वथ स्फ्यमुद्यच्छति।' (श० १।२।५।२०) वेदिकरणानन्तरं कर्त्तव्यं विधत्ते—प्रोक्षणीरासादयेत्यादिकं प्रैषं ब्रूयादित्यर्थः। प्राक्षत्यभिरिति प्रोक्षण्य आपः। तासामासादनं यज्ञरक्षार्थमिति व्याचष्टे वज्रो वै स्फ्य इति। स्फ्यस्तावद् वज्रः तदशपरिणामरूपत्वात्। तस्य स्फ्यस्तृतीयं वा यावद्वा इति पूर्वमाम्नातत्वात्। ब्राह्मणोऽपि वज्ररूपः तद्वन्मन्त्रसामर्थ्येन हन्तृत्वात्। तौ खलु पुरेमं यज्ञं अभ्यजुगुपताम् अभितोऽरक्षिष्टाम्। गुपू रक्षणे' भ्वादिः, इत्यस्माल्लुङि 'गुपेश्छन्दसि' (पा० सू० ३।१।५०) चङि रूपम्। 'आयादय आर्धधातुके वा' (पा० सू० ३।१।३१) इत्याय प्रत्ययो विकल्प्यते। वज्रो वा आप इत्यपामपि वज्रत्वं पूर्वमुक्तम् वज्ररूपाणां तासामासादनं यज्ञस्याभितो रक्षार्थं सम्पद्यते। प्रोक्षणीनामासादनसमये आग्नीध्रकर्तृकं स्फ्योद्यमनं विधत्ते—स वा उपर्युपरि समीपे उपरिदेशे आसाद्यमानासु प्रोक्षणीषु धार्यमाणासु सतीषु अथानन्तरमासादनसमकालमेवाग्नीध्रः स्फ्यमुद्यच्छति धारयति। उपर्यध्यधसः सामीप्ये' (पा० सू० ८।१।७) इतिसूत्रेणोपरि शब्दस्य द्विर्वचनम्। उपर्युपरि समीप उपरिदेश इत्यर्थः।

१८—विपक्षे बाधकमाह—अथा यन्निहित एव—स्फ्य प्रोक्षणीरासादयेत् वज्रौ समृच्छेयाताम् उद्यमनमकृत्वा पूर्वं वेदिमध्ये निहितस्य स्फ्यस्योपरिसादने स्फ्याब्लक्षणौ वज्रौ सङ्गतौ भवेताम्। तथा च वज्रद्वयसङ्गमाद् यजमानस्य बाधः स्यात् स्वपक्षे तद्दोषाभावं दर्शयति तथोहेति। तथा च स्फ्यस्य वेदेः सकाशादुद्यमने सति वज्रौ न समृच्छेते तस्मात्

वैषम्य का परिहार करने के लिये समीकरण रूप मार्जन किया जाता है। हे विरप्शिन्' इस सम्बोधन पद का अन्वय 'अनुगृहाण' इस अध्याहृत पद से किया जाता है।

१७—'अथाह प्रोक्षणीरासादयेति। वज्रो वै स्फ्यो'— (श० १।२।५।२०) यह ब्राह्मण वेदिकरण के पश्चात् कालीन कर्तव्य का विधान कर रहा है। अर्थात् 'प्रोक्षणीरासादय' इत्यादि प्रैष को बोले। उसकी व्याख्या करते हुए बता रहे हैं कि 'प्रोक्षति आभिः इति प्रोक्षण्यः आपः' जिनसे प्रोक्षण किया जाता है, उन्हें 'प्रोक्षणी' यानी जल कहते हैं, उनका स्थापन, यज्ञ की रक्षा के लिये किया जाता है। 'स्फ्य' वज्र स्वरूप है। क्योंकि वह, वज्र के अंश का ही परिणाम है। और 'तस्य स्फ्यस्तृतीयं वा यावद् वा' (का० १, प्र० २, ब्रा० २, कं० १) से भी यही पहले कहा जा चुका है। उसी तरह मन्त्र सामर्थ्य से हनन करने का सामर्थ्य होने से ब्राह्मण भी वज्र स्वरूप है। इन दोनों ने पहले किसी समय इस यज्ञ की सब तरह से रक्षा की थी। (अजुगुपताम् शब्द की सिद्धि 'गुपू रक्षणे' इस भ्वादिगणीय धातु से लुङ् लकार में 'गुपेश्छन्दसि'—(पा० सू० ३।१।५०) से 'चङ्' करने पर होती है। 'आयादय आर्धधातुके वा'—(पा० सू० ३।१।३१) से 'आय' प्रत्यय वैकल्पिक होता है। 'वज्रो वा आपः' कहकर जल को भी वज्र पहले (कां० १, प्र० १, ब्रा० १, कं० १७) कह चुके हैं। वज्र रूप उन जलों का आसादन (स्थापन) यज्ञ की सब प्रकार से रक्षा करने के लिये ही है। प्रोक्षणी के आसादन के समय ही आग्नीध्र कर्तृक स्फ्य के उद्यमन का विधान 'स वा' के द्वारा किया जा रहा है। आग्नीध्र के द्वारा समीप में ही ऊपर की ओर प्रोक्षणी के स्थापन करने पर अनन्तर ही अर्थात् आसादन सम काल में ही आग्नीध्र स्फ्य को उठाता है। 'उपर्यध्यधसः सामीप्ये'—(पा० सू० ८।१।७) सूत्र से 'उपरि' शब्द को दो बार कहा गया है। (उपरि-उपरि का अर्थ है समीपे उपरिदेशे)।

१८—विपक्ष में बाधक बताते हैं। स्फ्य को बिना उठाये पहले से ही वेदि में रखे हुए स्फ्य के ऊपर आसादन (स्थापन) करने पर स्फ्य और अप् (जल) ये दोनों वज्र परस्पर मिलते हैं। तथा च दो वज्रों के परस्पर मिलने से यजमान का बाध हो सकता है। किन्तु स्वपक्ष में यह उक्त दोष नहीं है। तथा च स्फ्य को वेदि में से उठा लेने पर,

प्रोक्षणीषु धार्यमाणासु स्फ्यमुद्यच्छति तां वाचं वदति प्रोक्षणीरासादयेध्मं बर्हिरुपसादय स्रु्चःसम्मृढि पत्नीं सन्नह्या-ज्येनोदेहीति सम्प्रैष एवैष स यदि कामयेत ब्रूयादेतद्यद्युकामयेतापि नाद्रियेत स्वयमुह्येवैतद्वेदेदमतः कर्म कर्त्तव्यमिति ।' (श० १।२।५।२१)

१९—प्रतीकग्रहणेन विहितसम्प्रैष मन्त्रं साकल्येनानुवदति अथैतामिति हे आग्नीध्र प्रोक्षणार्था अप आसादय—अग्निसमिन्धनार्थमिध्मम् वेदिस्तरणार्थं बर्हिः आहवनीयसमीप आसादय जुह्वाद्याः स्रुचः सम्मार्जनसंस्कारेण संस्कुरु। यजमानस्य या पत्नी तां योक्त्रेण सन्नह्य यत्प्रागग्नावधिश्रितमाज्यं तेन उदेहि आगच्छेति सम्प्रैषमन्त्रार्थः। एवमेष मन्त्रः परप्रत्यायनाय प्रयुक्तत्वात् सम्प्रैष एव न तु मन्त्रान्तरवददृष्टैकप्रयोजन इत्याह सम्प्रैष इति। यदीत्यादि प्रोक्षण्यासादनादिकं यदि कामयेत तदा एतत् सम्प्रैषवाक्यम् ब्रूयात्। यदि तथा न कामयेत तदा एतन्नाद्रियेतापि। तत्रोपपत्तिमाह—स्वयमेवेति। अतोऽस्मात्कर्मणोऽनन्तरमिदं कर्म कर्त्तव्यं स्वयमेवैतद्वेद तस्मात् परं प्रत्यज्ञातज्ञापनार्थः सम्प्रैषो निरर्थक इत्यर्थः।

२०—अथोदञ्चं स्फ्यं प्रहरति—अमुष्यै त्वा वज्रं प्रहरामीति यद्यभिचरेत् वज्रो वै स्फ्यस्तृणुते हैवैनेन।' (श० १।२।५।२२)

२१—द्विषतो वध इति मन्त्रेण स्फ्यस्य बहिर्वेदि उदङ्निरसनं विधत्ते यद्यभिचरेत् चतुर्थ्यन्तं शत्रोर्नाम निर्दिशेत्। वज्रो वै स्फ्यः स्तृणुते ह्येवैन शत्रुं मन्त्रार्थस्तु—हे स्फ्य द्विषतः शत्रोर्वधोऽसि हिंसकोऽसि यं द्वेष्यं प्रहरामित्येवं प्रहरणकाले मनसा भावयेत्।

२२—स येहाग्र ईजिरे तेहस्मावमर्शं यजन्ते ते पापीया ७ं स आसुरथ येनेजिरे ते श्रेया ७ं स आसुस्तः

दोनों वज्रों का परस्पर सम्मिलन नहीं हो पाता। इस लिये प्रोक्षणी के आसादन सम काल में ही स्फ्य को उठा लिया जाता है। 'तां वाचं वदति' (श० १।२।५।२१)

१९—प्रतीक ग्रहण के द्वारा विहित सम्प्रैष मन्त्र का सम्पूर्णतया अनुवाद करते हैं—हे आग्नीध्र! प्रोक्षणार्थ जल का आसादन करो, अग्नि को प्रज्वलित करने के लिये इध्म को, वेदि में आस्तरण के लिये बर्हि को, आहवनीय के समीप रखो। जुह्वादि स्रुगादि पात्रों का सम्मार्जन संस्कार से संस्कार (शोधन) करो। यजमान पत्नी को मेखला (योक्त्र) पहना कर, प्रागग्नि (आहवनीयाग्नि) पर अधिश्रित आज्य को लेकर आओ। यह सम्प्रैष मन्त्र का अर्थ है। इस प्रकार यह मन्त्र पर प्रत्यायन (दूसरे व्यक्ति को बताने के लिये) के लिये प्रयुक्त किया होने से सम्प्रैष मन्त्र ही है, अन्य मन्त्रों की तरह इसका अदृष्ट मात्र प्रयोजन नहीं है। प्रोक्षणी का आसादनादि कार्य यदि आग्नीध्र के द्वारा कराने की इच्छा हो तो इस सम्प्रैष वाक्य को बोले, और यदि स्वयं ही उस कार्य को करने की इच्छा हो तो इस मन्त्र को न बोले। क्योंकि अमुक कर्म के अनन्तर अमुक कर्म करने का ज्ञान तो स्वयं को है ही, तब दूसरे के प्रति अज्ञातज्ञापनार्थ प्रयुक्त किया हुआ सम्प्रैष निरर्थक ही होगा।

२०—'अथोदञ्चं स्फ्यं प्रहरति'—(श० १।२।५।२२) इसके द्वारा 'द्विषतो वधः' इस मन्त्र से वेदि के बाहर स्फ्य का उदङ् निरसन (उत्तर की ओर त्याग) बताया जा रहा है, यदि अभिचार करना हो तो शत्रु के नाम को चतुर्थी विभक्ति लगाकर निर्दिष्ट करे। स्फ्य, प्रत्यक्ष वज्र है, वह उस शत्रु को नष्ट कर देता है। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—हे स्फ्य! तुम द्वेष्टा शत्रु के घातक (हिंसक) हो, प्रहरण करते समय अपने मन में 'अपने द्वेष्य शत्रु पर प्रहार कर रहा हूँ'—ऐसी भावना करनी चाहिये।

२२—'स येहाग्र ईजिरे तेह स्मा वमर्शं यजन्ते' (श० १।२।५।२४) इस ब्राह्मण के द्वारा, शृत (परिपक्व हुए) हवियों का याग करने से पूर्व और निर्माण की हुई वेदि में बर्हिस्तरण के पूर्व स्पर्श का निषेध करने का विधान

तोऽश्रद्धामनुष्यान् विवेद ये यजन्ते पापीया ७ँ सस्ते भवन्ति य उ न यजन्ते श्रेया ७ँ स्स्ते भवन्तीति ततइतो देवान् हविर्न जगामेत: प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति ।' (श० १।२।५।२४)

२३—मृतानां हविषां यागात्प्राङ् निर्मिताया वेदेश्च बर्हिस्तरणात् पूर्वं स्पर्शनिषेधं विधित्सुस्तत्सिद्धयर्थमितिहासमाचष्टे—पूर्ववद्बहुवचनस्थाने स इत्येकवचनम् । ये प्रसिद्धा यजमाना अग्रेपुरा ईजिरे इष्टवन्त: ते खलु यागसमये श्रृतानि हवींषि क्लृप्तां वेदिं च अवमर्श अवमृश्य यजन्तेस्म । ते च तेनावमर्शजनितेन दोषेण पापीयांसो निकृष्टा बभूवु: । यागमकुर्वाणास्तु अवमर्शजनितदोषविरहात् श्रेष्ठा एव बभूबु: । ततोऽनन्तरमेवावमर्शनस्य दोषहेतुत्वमजानानान् मनुष्यान् अश्रद्धा यागविषयारुचि: विवेद प्राप्नोति । तामेवाश्रद्धां दर्शयति ये यजन्ते पापीयांसस्ते य उ न यजन्ते श्रेयांसस्ते । ततोऽश्रद्धाप्राप्त्यनन्तरं केनचिदपि प्रागस्याननुष्ठानात् इत: अस्माद् भूलोकात् देवान् प्रति हविश्चरुपुरोडाशादिकं न जगाम । ननु मा गमद्धवि: अमृतोपजीविनां देवानां किं तेनेत्यत आह — इत: प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति अस्माल्लोकात् प्रदीयमानं यद्धविस्तस्माद् देवा उपजीवन्ति । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (पा० सू० ३।३।११३) प्रपूर्वाद्दातेः कर्मणि ल्युट् ।

२४—ते ह देवा ऊचु: । बृहस्पतिमाङ्गिरसमश्रद्धा वै मनुष्यानविदत्तेभ्यो विधेहि यज्ञमिति । स हेत्युवाच बृहस्पतिराङ्गिरस कथा न यजध्व इति होचु: किं काम्या यजेमहि ये येजन्ते पापीया ७ँ सस्ते भवन्ति । य उ न न यजन्ते श्रेयांसस्ते भवन्ति ।' (श० १।२।५।२५)

२५—तत्रेतिहासमाह—हविरागमनाभावेन निराहारा देवा अङ्गिरस: पुत्रं बृहस्पतिमुक्तवन्त: अश्रद्धावै मनुष्यानविदत् यागविषया अश्रद्धा मनुष्यान्प्राप्नोति तत्तां निरस्य तेभ्यो यज्ञं बिधेहि यजध्वमिति विधिं कुर्या इत्यर्थ: ।

करने की इच्छा से एक इतिहास बताते हैं—पहले की तरह बहुवचन के स्थान में एकवचन किया गया है। जिन प्रसिद्ध यजमानों ने पहले यज्ञ किया था, उन्होंने याग के समय परिपक्व हवियों को और निर्मित वेदि को स्पर्श करके याग किया था। उस स्पर्श (अवमर्श) जनित दोष से वे निकृष्ट हो गये। किन्तु जिन्होंने याग नहीं किया वे अवमर्श (स्पर्श) जनित दोष से रहित रहे, उस कारण वे श्रेष्ठ हुए। उसके अनन्तर ही दोष का हेतु अवमर्श (स्पर्श) होता है, इस रहस्य को न जानने वाले लोगों में याग विषयक अश्रद्धा (अरुचि) पैदा हुई। अर्थात् जो याग करते हैं, वे पापी हैं, और जो याग नहीं करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं, यह समझने लगे। यही अश्रद्धा का स्वरूप है। इस प्रकार जब याग के प्रति अश्रद्धा हो गई तब कोई भी यागानुष्ठान नहीं करने लगा। उस कारण इस भूलोक से देवताओं को हवि, चरू, पुरोडाश आदि का प्राप्त होना बन्द हो गया। इस पर यदि कोई यह कहे कि भले ही देवताओं को हवि–चरू–पुरोडाश आदि की प्राप्ति न हो, देवता तो अमृतोपजीवी होते हैं, उन्हें हवि–चरु–पुरोडाश आदि की क्या आवश्यकता ? इसके उत्तर में यह कहा गया है कि 'इत: प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति' अर्थात् इस भू लोक से दिया जाने वाला जो हवि है, उससे देवतागण जीवित रहते हैं। 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (पा० सू० ३।३।११३) इस सूत्र से प्रपूर्वक 'दद्' धातु से कर्मणि ल्युट् किया गया है।

२४—'ते ह देवा ऊचु: । बृहस्पतिमाङ्गिरसमश्रद्धा'—(श० १।२।५।२५) इतिहास बताया जा रहा है कि हवि की प्राप्ति न होने से निराहार रहने वाले अङ्गिरस आदि देवताओं ने अपने पुत्र बृहस्पति से कहा—मनुष्यों को याग के प्रति अश्रद्धा हो गई है, उनसे उस अश्रद्धा को हटाकर उनसे यज्ञ करने के लिये कहो तब बृहस्पति ने यहाँ आकर मनुष्यों से कहा—हे मनुष्यों ! तुम लोग यज्ञ का अनुष्ठान क्यों नहीं करते हो। 'था हेतौ च छन्दसि'—(पा० सू० ५।३।२६) सूत्र से 'था' प्रत्यय हुआ है। बृहस्पति के इस प्रकार पूछे जाने पर मनुष्यों ने कहा—'किं काम्यायते मही' अर्थात् किस फल की इच्छासे यज्ञ करें। जो लोग यज्ञ करते हैं, वे पापी होते हैं, और जो लोग यज्ञ नहीं करते वे कल्याण को प्राप्त करते हैं।

स वृहस्पतिरागत्य मनुष्यानुष्यानुक्तान्--हे मनुष्याः कथा कथं कस्माद्धेतोर्न यजध्वे। 'था हेतौ च छन्दसि' (पा० सू० ५।३।३६) इति था प्रत्ययः। एवं पृष्टैस्तैरुक्तम्, किंकाम्या यजेमहीत्यादि स्पष्टम्।

२६--सहोवाच वृहस्पतिरङ्गिरसो यद्वै शुश्रुम परिषूतं तदेष यज्ञो भवति यच्छृतानि हवींषि क्लृप्ता वेदिस्तेनावमर्शमाचारिष्ठ तस्मात् पापीया ᳪ सो भूत तेनानवमर्शं यजध्वं तथा श्रेया ᳪ सो भविष्यथेत्या कियत इत्या वर्हिषस्तरणादिति बर्हिषा ह वै खल्वेषा शाम्यति। स यदि पुरा बर्हिस्तरणात्किञ्चिदापद्येत बर्हिरेव तत् स्तृणन्नपास्येदथ यदा बर्हिस्तृणन्त्यपि यदाभितिष्ठन्ति स यो हैवं विद्वाननवमर्शं यजते श्रेयान् हैव भवति। तस्मादनवमर्शमेव यजेत।' (श० १।२।५।२६)

२७—एवं यागानुष्ठानत्यागकारणमुक्तवत्सु तेषु वृहस्पतिरयथानुष्ठानजनितमेव तत्पापीयस्त्वं न तु सम्यक् यागानुष्ठानजमिति बोधयंस्तेषां विपर्यस्ततां निरस्यति श्रुतिः-- सहोवाचेति—यद्वै शुश्रुम यत् खलु देवानामर्थं परिषूतं परिगृहीतं शुश्रुम तत एतदात्मक एव यज्ञः तत्साध्यत्वात्। सामान्येनोक्तं विशिनष्टि—यच्छृतानि पक्वानि पुरोडाशादीनि हवींषि पूर्वपरिग्रहादिभिः क्लृप्ता वेदिर्निर्मिता वेदिरिति यदस्ति एतत्साध्यो देवार्थो यागोऽनेनैवेदृग्विधेन यज्ञेन हे मनुष्या यूयमवर्शं अवमृश्य यागात्प्राक् पक्वानि हवींषि बर्हिस्तरणात्पूर्वं वेदिञ्च संस्पृश्य अचारिष्ट आचरणं कृतवन्तः। यागसाधनस्य च मनुष्यसंस्पर्शो न मुक्तः। अतस्तस्मादेवावमर्शनात् हे मनुष्या यूयं पापीयांसो भूत न तु यागात् अतोऽवमर्शं परित्यज्य यजध्वम्। तथा च श्रैष्ठ्यं वो भविष्यति।

२८--एवं वृहस्पतिना बोधितेऽवमर्शनपरित्यागस्यावधिं पृच्छति आकियत इति कियत्कालपर्यन्तं संस्कृतां वेदिं न स्पृशेत् एतच्च हविषामप्युपलक्षणम्। अतः पक्वानि हवींष्यपि यागात्पूर्वं न स्प्रष्टव्यानि। सूत्रितं च कात्यायनेन 'प्राक् स्तरणात् वेदिं नावमृशेत्। शृतानि च हवींष्याप्रचरणात्' (का० श्रौ० सू० २।१७९–१८०) वेद्यां बर्हिस्तरणात्प्राक् तस्याः स्पर्शो न कार्यः।प्रधानयागावदानात् पूर्वं पक्वहविषाञ्च स्पर्शो न कार्यः। 'अङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां मा ᳪ सरहिताभ्यामवद्यन्त्येकैका' (का० श्रौ० सू० २।१८१) मांससम्बद्धाभ्यामनखलग्नाभ्यामनखलग्नाभ्यामर्थात्

२६—'स होवाच वृहस्पतिरङ्गिरसो यद्वै शुश्रुम'—(श० १।२ ५।२६) इस ब्राह्मण के द्वारा यह कह रहे हैं कि मनुष्यों ने इस प्रकार जब याग का अनुष्ठान न करने का कारण वृहस्पति को बताया तब वृहस्पति ने उन्हें समझाया कि पाप भागी होने का कारण है कि यज्ञ का यथा विधि (शास्त्र विधि के अनुसार) अनुष्ठान न करना। सम्यक् यागानुष्ठान से पाप भागी नहीं होता। इस प्रकार समझाते हुए उनकी विपर्यस्त हुई बुद्धि को श्रुति ने दूर किया। श्रुति कह रही है कि जो वस्तु देवताओं के लिये स्वीकृत की गई सुना गया है, वह यज्ञ है, क्योंकि उसी से वह साध्य होता है। सामान्यतया बताये गये अभिप्राय को ही अब विशेष रूप से बता रहे हैं—परिपक्व हुए पुरोडाशादि हवि, पूर्वपरिग्रहादि से निर्मित वेदि आदि जो पदार्थ हैं, उनसे ही साध्य (सम्पन्न होने वाला) यह देवतार्थ यज्ञ है। इस प्रकार के ही यज्ञ से हे मनुष्यों! तुम लोग, याग के पूर्व पक्व हुए हवियों को, तथा बर्हिस्तरण से पूर्व वेदि को स्पर्श (अवमर्श) करके तुमने अपने आचरण को भ्रष्ट किया। याग के साधनभूत पदार्थों का स्पर्श करना मनुष्य को उचित नहीं है। अतः उसी अवमर्शन (स्पर्श) से हे मनुष्यों! तुम पाप के भागी बने हो, याग के अनुष्ठान से नहीं। अतः अवमर्श को त्यागकर यज्ञ का अनुष्ठान करो। उससे तुम्हारी श्रेष्ठता होगी।

२८—इस प्रकार वृहस्पति के द्वारा बोधित किये जाने पर, उन्होंने अवमर्शन (स्पर्श) के परित्याग करने की अवधि को पूछा, अर्थात् कितने समय तक स्पर्श न किया जाय। तब उत्तर दिया कि बर्हिस्तरण तक संस्कृत वेदि का स्पर्श न करे। यह हवियों का भी उपलक्षण है, यानी पक्व हवियों का भी याग से पूर्व स्पर्श न करे। अतएव कात्यायन ने भी कहा है--'प्राक्स्तरणात् वेदिं नावमृशेत्', 'शृतानि च हवींष्याप्रचरणात्'—(का० श्रौ० सू० २।१७९–१८०)। उसे स्पर्श न करना उचित भी है क्योंकि बर्हिःस्तरण के पूर्व अशान्त रहने वाली वह वेदि, स्तरण किये जाने वाले बर्हि से शान्त हो जाती है। अतः अशान्त वेदि का स्पर्श करने पर पूर्वोक्त दोष का होना उचित ही है बर्हिःस्तरण के

काष्ठादिकं विना साक्षादेवाङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां केचिदवदानं कुर्वन्ति सामर्थ्यात् स्वधितिं मांसे द्रवद्रव्ये स्रुवः स्मृतः हस्तकाष्ठे पुरोडाशमवदातुं प्रकल्पिते (मी० सू० १।४।१९) युक्तञ्चैतदित्याह बर्हिषेति बर्हिषस्तरणात्पूर्वमशान्ता वेदिः, स्तीर्यमाणेन बर्हिषा खलु शान्ता भवति। अतोऽशान्तायाः स्पृष्टौ प्रागुक्तो दोषो युज्यत इत्यर्थः। स यदीति—बर्हिषः स्तरणात् पूर्वं यदि वेदिमध्ये किञ्चित् तृणादिकमापद्येत तदा तन्निरासार्थमपि न स्पृशेत् किन्तु बर्हि स्तृणन् स्तरणसमये बर्हिषः स्तरणं कुर्वन्नेव तत् तृणादिकं निरस्येत्। स्तरणप्रभृति वेदिस्पर्शो न दोषायेत्यभिप्रेत्याह—अथेति यदा बर्हिर्मुष्टिं स्तृणन्त्यध्वर्यवः तदानीं पदा पादेनाप्यधितिष्ठन्ति अतस्तस्मिन् समये स्पर्शो न दुष्यति।

२९—एवमितिहासमुखेन प्रतिपादितमर्थमिदानीमनुष्ठेयत्वेन विधत्ते--स य एवं विद्वान् उक्तमितिहासं जानन्ननवमशमेव यजेत, नायं विधिर्मन्त्रेण ज्ञातुं शक्यते तस्मान्मन्त्रो ब्राह्मणश्च वेद इति। अत एव च मन्त्रब्राह्मण-सूत्रैरेव वेदार्थो व्यज्यते त्रिधा बद्धो वृषभोरोरवीति। नैतत्सर्वं प्रत्यक्षानुमानाभ्यां ज्ञातुं शक्यम्। सावमर्शेन यागेन पापीयस्त्वं फलासिद्धिश्च। श्रृतहविषां वेदेश्चानवमर्शेन श्रैष्ठ्यं फलसम्पत्तिश्चेति। 'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य देवता॥' (मी० श्लो० वा० १।) इति दयानन्दीयो वेदार्थस्तु सर्वथास्याः प्रक्रियाया बहिर्भूत एव।

३०—अध्यात्मपक्षेऽपि--हे विरप्शिन् निरतिशयबृहत्परमेश्वर क्रूरस्य सर्वसंहारकस्य कालस्य विसृपो विसर्प-णात्पुरा जीवदानुं जीवदात्रीं पृथिवीं भूमिरूपां सोपाधिकां चितिं उदादायानात्मतादात्म्यविच्छेदेनोर्ध्वमुत्थाप्य यां चन्द्रमसि सुशीतले निरुपाधिके ब्रह्मणि स्वधाभिः गुरुवेदान्तोपदेशसंस्कारैः ऐरयन् ये स्थापयन्ति भेदापोहेनैक्यमनुभवन्ति धीरासो धीरा निगृहीतचित्ताः साधकाः तामु सोपाधिकामात्मचितिं निरुपाधिकब्रह्माभेदानुसन्धानेन ये यजन्ते ब्रह्मयज्ञ-

---

पूर्व यदि वेदि में कुछ तृणादि गिरा रहे, तब भी उसे हटाने के लिये उसे न छूए; किन्तु बर्हिस्तरण करते हुए ही उस गिरे हुए तृणादि को हटावे। जिस समय अध्वर्यु बर्हिर्मुष्टि का वेदि में स्तरण करता है, उस समय वह उसमें पैर रख कर भी खड़ा रहता है। अतः उस समय का स्पर्श रोषावह नहीं होता है।

२९—इस प्रकार इतिहास के द्वारा प्रतिपादित अर्थ को अब अनुष्ठेय के रूप में बताते है—विद्वान् उक्त इतिहास को जानकर अनवमर्श (अस्पर्श) पूर्वक ही याग करे। इस विधि का ज्ञान, मन्त्र से होना सम्भव नहीं इसलिये मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को 'वेद' शब्द से कहा गया अतएव मन्त्र, ब्राह्मण और सूत्रों से ही वेदार्थ व्यक्त होता है इसी अभिप्राय को 'त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति' से बताया गया है। यह सब प्रत्यक्ष और अनुमान से जान लेना शक्य नहीं है। सावमर्श (स्पर्श सहित) याग से पापीयस्त्व (पापभागि) और फल की अप्राप्ति बताई गई है। किन्तु परिपक्व हवि के और वेदि के अनवमर्श से श्रेष्ठता तथा फल का लाभ होता है। वार्त्तिककार भट्टपाद ने भी कहा है कि 'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता। (मी० श्लो० वा० १) दयानन्दीय वेदार्थ तो इस उक्त प्रक्रिया के सर्वथा बहिर्भूत है।

३०—अध्यात्मपक्ष में भी—हे विरप्शिन्! अर्थात् निरतिशय बृहत् परमेश्वर! क्रूरस्य सर्वसंहारक काल के विस्तृत विसर्पण से पूर्व जीवदानुं जीवनदात्री पृथिवी अर्थात् भूमि रूप सोपाधिक चिति को उदादाय जड़ के साथ तादात्म्य का विच्छेद करते हुए ऊपर उठाकर चन्द्रमसि सुशीतल निरूपाधिक ब्रह्म में स्वधाभिः गुरु-वेदान्तोपदेश के संस्कारों से ऐरयन् स्थापित करते हैं अर्थात् भेद का निरसन कर ऐक्य का अनुभव करते हैं, ऐसे धीरासः निगृहीत चित्त वाले धीर साधक तामु सोपाधिक आत्मचिति (आत्मचैतन्य) का निरूपाधिक ब्रह्म (ब्रह्मचिति-चैतन्य) के साथ अभेदानुसन्धान करते हुए यजन्ते ब्रह्मयज्ञ परायण होकर अभ्यास करते हैं, उन्हें हे प्रभो! प्रोक्षणीः शोधिका ब्रह्मा-कारावृत्ति को प्राप्त कराओ, अर्थात् उनकी ब्रह्माकार वृत्ति कर दो। तुम द्विषतः अज्ञान और उसके जगत् रूप कार्य के वधोऽसि घातक (विनाशक) हो। तुम सर्वसाधक होते हुए भी महावाक्य जन्य परब्रह्माकार वृत्ति में अभिव्यक्त

परायणा अभ्यस्यन्ति हे प्रभो प्रोक्षणीः शोधिका ब्रह्माकारावृत्तीरासादय प्रापय। त्वं द्विषतोऽज्ञानतत्कार्यस्य जगतो वधोऽसि घातकोऽसि सर्वसाधकोऽपि त्वं महावाक्यजन्यपरब्रह्माकारवृत्त्यभिव्यक्तः सन् सर्वव्यापकोऽसि। 'ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च' (श्री० भ० गी० १३।१६) इति गीतावचनात्। यथा तूलराशिप्रकाशकोऽपि सौरालोकः सूर्यकान्तमणियोगेन स्फुरज्ज्वालाजटिलोऽनलः सन् तूलराशिनाशको भवतीति तद्वत्।

प्रत्युष्ट ँ रक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्त ँ रक्षो निष्टप्ताऽअरातयः। अनिशितोऽसि सपत्नक्षिद्वाजिनं त्वा वाजेध्यायै संमार्ज्मि। प्रत्युष्ट ँ रक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्त ँ रक्षो निष्टप्ताऽअरातयः। अनिशितासि सपत्नक्षिद्वाजिनीन्त्वा वाजे ध्यायै संमार्ज्मि॥ वा० सं० १।२९॥

अर्थ—अग्नि पर स्रुवा का प्रतपन करे। इस स्रुवा के तपाने से उसमें स्थित राक्षस और प्रतिबन्धक शत्रु, जल जाते हैं। उसी तरह उसमें गुप्त रूप से स्थित राक्षस और प्रतिबन्धक शत्रु भी पूर्ण रूप से जल गये। हे स्रुव! तुम, हम पर अत्यन्त तीक्ष्ण नहीं होते हो। तुम शत्रु नाशक हो, इसलिये मैं तुम्हें धोकर शुद्ध करता हूँ। तुम यज्ञ के द्वारा अन्न के उत्पादक हो। यज्ञ प्रकाशनार्थ मैं तुम्हारी शुद्धि करता हूँ। इस स्रुवा के तपाने से उसमें स्थित रहने वाले राक्षस और प्रतिबन्धक समस्त शत्रु जल गये। उसी प्रकार इसमें गुप्त रूप से रहने वाले राक्षस और प्रतिबन्धक शत्रु पूर्णतया जल चुके। हे स्रुक्! हम पर तीक्ष्ण मत होना। तुम शत्रुओं के नाशक हो। अतः मैं तुम्हें शुद्ध करता हूँ। तुम यज्ञ के द्वारा अन्नोत्पादक हो। अतः यज्ञ प्रकाशनार्थ मैं तुम्हारी शुद्धि करता हूँ॥२९॥

१—'स्रुवं प्रतप्य पूर्ववदिति' (का० श्रौ० सू० २।६।३९) अध्वर्युर्गार्हपत्यस्य पश्चादुपविश्य पूर्ववत् (यथा शूर्पाग्निहोत्रहवण्योः प्रत्युष्टप्तमिति प्रतपनं कृतं तथैव) प्रत्युष्टं रक्ष इतिमन्त्रेण स्रुवं प्रतप्य किञ्चिदिव प्राग्देशं गत्वा

होकर सब के व्यापादक (विनाशक) हो श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है—'ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च'—(श्री० म० गी० १३।१५)। जैसे तूलराशि (रुई का ढेर) का प्रकाशक होता हुआ भी सौरालोक (सूर्यप्रकाश), सूर्यकान्त मणि के सम्बन्ध से उद्दीप्त ज्वालाओं से परिपूर्ण अग्नि का रूप धारण कर समस्त तूलराशि का नाशक होता है, उसी तरह वह ब्रह्म चैतन्य, सम्पूर्ण अज्ञान और उसके कार्य का विनाश कर देता है।

१—'स्रुवं प्रतप्य पूर्ववत् इति'—(का० श्रौ० सू० २।६।३९), अध्वर्यु, गार्हपत्य के पीछे (पश्चिम में) बैठकर पूर्ववत् (जैसे शूर्प और अग्निहोत्रहवणी का 'प्रत्युष्टप्तम्' मन्त्र से प्रतपन (गरम) किया था, उसी तरह) 'प्रत्युष्ट ँ रक्षः' इस मन्त्र से स्रुव को तपाकर किञ्चिन्मात्र प्राग्देश में जाकर स्रुव को बाँये हाथ में लेकर वेद (कुश मुष्टि) के अग्र भागों की प्रतिपत्ति का विधान रहने से छेदन करने के कारण वेद (कुश मुष्टि) से पृथक् हुए उन अग्र भागों से स्रुव के मूल से आरम्भ कर उसके मुख तक ऊपर की ओर उसका (स्रुव का) 'शिता' इस मन्त्र से सम्मार्जन करना

स्रुवं वामहस्ते कृत्वा वेदाग्राणां प्रतिपत्तिविधानात् छेदनेन वेदात् पृथग्भूतैर्मूलमारभ्य मुखपर्यन्तमुपरिदेशे स्रुवं सम्मार्ष्टि अनिशिता इति मन्त्रेण। पुनः किञ्चित् प्राग्गत्वा अग्रादारभ्य मूलपर्यन्तं वेदमूलैरनिशित इति सम्मृज्यात् स्रुवः।

२—न निशितोऽनिशितः। हे स्रुव त्वमनिशितोऽसि नितरां शितस्तीक्ष्णीकृतो निशितः, न निशितोऽनिशितः। अस्मद्विषये तीक्ष्णो न भवसि तथापिसपत्नक्षित् सपत्नान् क्षिणोतीति सपत्नक्षित्। (क्षिणु हिंसायाम्) सपत्नहन्तासि अत एव त्वां सम्मार्ज्मि सम्यक् शोधयामि। कीदृशं त्वाम् वाजिनम् यज्ञवन्तम् यज्ञद्वाराऽन्नहेतुत्वादन्नवन्तम्। अन्यत्र वाजशब्दोऽन्नवचनस्तथाप्यत्र 'यज्ञो हि देवानामन्न' (श० ५।१।१।२) मिति श्रुत्यनुसारेण यज्ञवचनः। तथा यज्ञाख्यमन्नमर्हतीति वाजिनम् अहर्थिक इन् प्रत्ययः। किमर्थं सम्मार्ज्मि वाजेध्यै (ञिइन्धी दीप्तौ) इन्धनमिन्ध्या दीप्तिः। वाजस्येध्या यज्ञो ज्वलनम् तस्यै वाजेध्यायै यज्ञस्य दीप्त्यै यज्ञप्रकाशनार्थं शोधितेन स्रुवेणाज्ये गृहीते हुते च सति दीप्यतेऽग्निः। तद्दीप्त्याहुतिफलभूतमन्नं प्रकाशितं भवतीत्यर्थः। तथा च यज्ञप्रकाशनार्थं स्रुवसम्मार्जनम्। 'प्रतप्य प्रतप्य प्रयच्छत्यनिशितेति स्रुचः' (का० श्रौ० सू० २।६।४१) अर्थात् अनिशितेतिमन्त्रेण स्रुचस्तिस्रो जुहूप्रभृद्ध्रुवास्तथैव स्रुवं सम्मृज्य प्रत्येकं प्रत्युष्टं रक्ष इति प्रतप्य प्रतप्य वेद्यां स्थापनार्थमध्वर्यवे प्रयच्छेत् मन्त्राः पूर्ववदेव व्याख्यातव्याः। तत्र 'योषा वै स्रुक् वृषा स्रुवः' (श० १।३।१।९) इति श्रुत्या स्रुवस्य पुंस्त्वात् स्रुचः स्त्रीत्वादादौ स्रुवस्य सम्मार्जनम्। जुह्वादीनां स्रुचां स्त्रीलिङ्गत्वात् तद्विशेषणत्वात् मन्त्रे अनिशितासि वाजिनोमिति स्त्रीत्वमुक्तमन्यत् समानमेव। स्रुवस्रुग्जुहूपभृद्ध्रुवा यजमानं तदृत्विजः प्रति अनिशिता अतीक्ष्णस्वभावाः सौम्या हितावहास्तच्छत्रूणान्तु तीक्ष्णाः

चाहिये। पुनः किञ्चित् प्राग्गमन कर स्रुव के अग्रभाग से लेकर मूल तक उन कुश मूलों से 'अनिशित' इस मन्त्र से उसका (स्रुव का) सम्मार्जन करना चाहिये।

२—जो निशित (तीक्ष्ण) नहीं है, उसे अनिशित कहते हैं। हे स्रुव ! तुम अनिशित हो। 'नितरां अत्यन्त शितः तीक्ष्ण किया गया निशित कहलाता है, जो ऐसा नहीं है, वह 'अनिशित' कहलाता है। हमारे विषय में तीक्ष्ण नहीं हो, तथापि हमारे शत्रुओं (सपत्नों) के तुम घातक (विनाशक) हो अर्थात् तुम सपत्नक्षित् हो। हिंसा के अर्थ में 'क्षिणु' धातु है। अत एव मैं तुम्हारा शोधन करता हूँ। क्योंकि तुम यज्ञ के द्वारा अन्न के हेतु रहने से अन्नवान् हो। यद्यपि 'वाज' शब्द अन्यत्र अन्न का वाचक है तथापि यहाँ पर 'यज्ञो हि देवानामन्नम्'—(श० ५।१।१।२) इस श्रुति के अनुसार यज्ञ वाचक है। तथा च यज्ञाख्य अन्न के योग्य है इसलिये वह वाजी कहलाता है। 'वाजिन्' में अहर्थिक 'इन्' प्रत्यय है। किसलिये स्रुव का सम्मार्जन किया जा रहा है ? तो बताते हैं कि 'वाजेध्यै' (ञि इन्धि दीप्तौ) दीप्ति अर्थ में 'ञि इन्धि' धातु है। 'इन्धनम्-इन्ध्या'=दीप्तिः। वाजस्य इध्या अर्थात् यज्ञ की दीप्ति यानी ज्वलन, तस्यै वाजेध्यै अर्थात् यज्ञ की दीप्ति के लिये अर्थात् यज्ञ के प्रकाशनार्थ शोधन किये हुए स्रुव से आज्य (घृत) के ग्रहण और हवन करने पर अग्नि प्रदीप्त होती है। उसके प्रदीप्त होने से हवन का फलभूत अन्न प्रकाशित होता है। तथा च यज्ञ के प्रकाशनार्थ स्रुव का सम्मार्जन किया जाता है। 'प्रतप्य प्रतप्य प्रयच्छत्यनिशितेति स्रुचः'—(का० श्रौ० सू० २।६।४१) अर्थात् 'अनिशित' इस मन्त्र से तीनों स्रुचाओं (जुहू, उपभृत्, ध्रुवाओं) का उसी तरह स्रुव का सम्मार्जन कर (शोधन कर) प्रत्येक का 'प्रत्युष्टं रक्षः' मन्त्र से प्रतपन करके वेदी में उन्हें रखने के लिये अध्वर्यु को दे। मन्त्रों की व्याख्या पूर्व के समान ही करनी चाहिये। 'योषा वै स्रुक् वृषा स्रुवः' (श० १।३।५।९) इस श्रुति के अनुसार 'स्रुव' का पुंस्त्व और 'स्रुक्' का स्त्रीत्व प्रतीत होने से प्रथमतः स्रुव का सम्मार्जन किया जाता है। जुहू आदि स्रुचाओं का स्त्रीलिङ्ग रहने से उसके विशेषण भूत 'अनिशित' और 'वाजिन्' में भी स्त्रीत्व प्रदर्शित किया गया है, और सब समान ही है। स्रुवा, स्रुक्, जुहू, उपभृत्, ध्रुवा ये सभी यजमान और उसके ऋत्विजों के प्रति तीक्ष्णता से रहित, (अनिशित) उनके हितकारक होते हैं, किन्तु उनके शत्रुओं के प्रति तीक्ष्ण और शत्रु घातक ही होते हैं। जैसे भगवान् नृसिंह उग्र होते हुए भी एवं हिरण्यकशिपु का अपने तीक्ष्ण नखों से विदारण करते हुए भी प्रह्लाद के प्रति

सपत्नक्षित: शत्रुघातका एव यथा नृहरिरुग्रोऽपि हिरण्यकशिपुं तीक्ष्णैर्नखैर्विदारयन्नपि प्रह्लादं प्रति परमकारुणिकस्तद्वत् । नह्यत्र जडा: स्रुवादय: प्रार्थ्यन्ते किन्तु तदन्तर्यामी भगवानेव प्रार्थ्यते ।

३—यत्तु स्वामिदयानन्देन–'येनाहमनिशितेन सपत्नक्षित् सपत्नक्षितासङ्ग्रामेण प्रत्युष्टं रक्ष: प्रत्युष्टा अरातय: निष्टप्तं रक्ष: निष्टप्ता अरातय: असि भवन्ति त्वा तं वाजिनं वाजेध्यायै युद्धाङ्गानि सम्मार्ज्मि । अहं यया सपत्नक्षिता अनिशितया सेनया प्रत्युष्टं रक्ष: प्रत्युष्टा अरातय: निष्टप्तं रक्ष: निष्टप्ता अरातय: अस्ति भवन्ति तां वाजिनीं सेनां शिक्षया वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि इत्येकोऽर्थ: । अहं येन अनिशित: अनिशितेन सपत्नक्षिता यज्ञेन प्रत्युष्टं रक्ष: असि भवन्ति त्वा तं वाजिनं यज्ञं वाजेध्यायैसम्मार्ज्मि एवं यया सपत्नक्षिता अनिशितया क्रियया प्रत्युष्ट रक्ष:....... असि भवन्ति तां वाजिनीं वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि तथैव भवन्तोऽप्येतं सम्मार्जयन्तु । भावार्थस्तु—ईश्वर आज्ञापयति सर्वैर्मनुष्यैर्विद्याशुभगुणदीप्त्या दुष्टशत्रुनिवारणाय नित्यं पुरुषार्थ: कर्त्तव्य: सुशिक्षया शस्त्रास्त्रपुरुषाढयसेनया श्रेष्ठानां रक्षणं दुष्टानां ताड़नं नित्यं कर्त्तव्यम् अतोऽशुद्धिक्षयात् सर्वपवित्रता प्रवर्तेते'त्युक्तम् ।

४—तन्न मनोज्ञम्, वेदबाह्यानामपि तथाभिप्रायदर्शनात् । इयं च राजनीतिरेव मनुशुक्रादिभिरपि तथैवाभिप्रेतत्वात् । मन्त्रव्याख्यानमपि विभक्तिप्रत्ययपुरुषवचनव्यत्ययबहुलम् क्लिष्टकल्पना प्रायम् यथा प्रत्युष्ट प्रति दग्धव्यम् रक्ष: विघ्नकारी प्राणी इत्यत्रापि मुख्यार्थ त्यागो गौणार्थस्वीकार:, रक्षोबन्धनेन रक्षयितव्यमित्यपि निर्मूलम् प्रसिद्धार्थत्यागे कारणाभावात् । सत्यविरोधिनोऽरातय: विद्याविरोधिनोऽरातय: इत्यत्रापि स्वेच्छामूलक एवार्थो गृहीत: । शाब्दनयेनेच्छास्वातन्त्र्यम्, अव्याहृतप्रसरत्वात्तस्या: । न विद्यते नितरां शिता तीक्ष्णक्रिया यस्मिन् स सङ्ग्रामो यज्ञपात्रं वा इत्यप्यशुद्धम्, सङ्ग्रामे छेदनभेदनादि रूपायास्तीक्ष्णाया: क्रियाया: सत्त्वात् ।

५—यत्तु—'सङ्ग्रामो न केवलं दण्डेनैवापितुसामदानभेदैर्वशीकारेऽपि जेतव्य इति भाव' इति, तत्तुच्छम्, सामदानादिभिरिष्टसिद्धौ सङ्ग्रामाप्रवृत्तिरेव भवति न सङ्ग्रामजय: ।

परम कारुणिक रहते हैं, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिये । यहाँ पर स्रुवादि जड़ पदार्थों की प्रार्थना न होकर उन के अन्तर्यामी भगवान् की प्रार्थना की गई है ।

३—स्वामी दयानन्द ने जो लिखा है—'येनाहमनिशितेन...सम्मार्जयन्तु ।' उसका भावार्थ इस प्रकार है—'ईश्वर आज्ञा दे रहा है कि सभी मनुष्यों को अपनी विद्या एवं सुन्दर गुणों के प्रकाश से दुष्ट शत्रुओं का निवारण करने के लिये पुरुषार्थ नित्य करना चाहिये । शस्त्रास्त्र की अच्छी शिक्षा प्राप्त किये पुरुषों की सेना से श्रेष्ठों का रक्षण और दुष्टों का ताड़न नित्य करना चाहिये । उससे अशुद्धि का क्षय होकर सर्वत्र पवित्रता होगी ।'

४—किन्तु यह स्वामी दयानन्द का कथन उचित प्रतीत नहीं हो रहा है । इस प्रकार अभिप्राय तो वेदबाह्यों का भी दिखाई देता है । और यह तो राजनीति है. उसमें मनु, शुक्र आदि राजनीति के आचार्यों का भी यही अभिप्राय है । दयानन्दोक्त मन्त्र व्याख्यान में भी विभक्ति प्रत्यय, पुरुष, वचन आदि में व्यत्यय बहुलता है । और क्लिष्ट कल्पना भी है । जैसे—'प्रत्युष्टं प्रतिदग्धव्यम्, रक्ष: विघ्नकारी प्राणी' यहाँ पर भी मुख्यार्थ का त्याग और गौणार्थ को स्वीकार किया गया है । 'रक्षोबन्धनेन रक्षयितव्यम्' यह कथन भी निर्मूल है । क्योंकि प्रसिद्धार्थ के त्याग में कोई कारण नहीं हैं । 'सत्य के विरोधी शत्रु और विद्या के विरोधी शत्रु' यहाँ पर भी स्वेच्छामूलक अर्थ का ही ग्रहण किया है । शाब्द व्यवहार में इच्छा की स्वतन्त्रता नहीं हुआ करती, क्योंकि इच्छा की गति तो अप्रतिहत रहती है । 'अनिशित' का अर्थ किया है कि 'नहीं है अत्यन्त तीक्ष्ण क्रिया जिसमें उसे संग्राम या यज्ञपात्र कहते हैं । किन्तु यह अर्थ करना भी अशुद्ध है, क्योंकि संग्राम में तो छेदन-भेदनादि रूप तीक्ष्ण क्रिया हुआ करती है ।

५—यह जो कहा है कि 'संग्राम केवल दण्ड से ही नहीं अपितु साम, दान, भेद के द्वारा वशीकार करने में

६—यत्तु—'किञ्च निशिता पदेन तीक्ष्णा क्रियोच्यते' इति, तदपि निर्मूलम्, प्रमाणविरहात्। पात्रे च तीक्ष्णत्वाप्राप्त्या निशितेति विशेषणं व्यर्थमेव।

७—यदपि—'सपत्नान् शत्रून् क्षयति येन सः, अत्र 'कृतो बहुलम्' (पा० सू० ३।३।११३) इति वार्तिकेन करणकारके क्विप् (शि शये) इत्यस्य रूपम्, एतदुव्वटमहीधराभ्यां क्षिणु हिंसायामित्यस्य भ्रान्त्या व्याख्यातम्' इति, तदप्यशुद्धम्, प्रकृते कर्तृकारकस्य विवक्षितत्वेन करणकारकस्याविवक्षितत्वात्।

८—यत्तु—क्षिणु हिंसायाम्' क्विपि झल्परत्वाभावात् (अनुदात्तोपदेशवनति) पा० सू० ६।४।३७ इत्यादिनाऽनुनासिकलोपो न सम्भवति इति तदपि तुच्छम्, 'तनु वनु क्षणु क्षिणु ऋणु तृणु घृणु वनु मनु तनोत्यादिषु क्षिणोतेर्ग्रहणेन क्विपि सपत्नक्षिदिति सिद्धौ बाधाभावात्। न च क्विपः सर्वापहारिलोपेन झल्परत्वाभावात् नानुनासिकलोपः सम्भवतीति वाच्यम्, लोपेऽपि स्थानिवद्भावमाश्रित्य झल्परत्वानपायात्। अन्यथा 'सुकृत्, कर्मकृत्, मन्त्रकृत् इत्यादौ क्विपो लोपे पित्कृत्परत्वाभावेन 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (पा० सू० ६।२।७१) इति सूत्राप्रवृत्त्या कथमेतेषां रूपाणां सिद्धिः स्यात्। 'गमः क्वौ' (पा० सू० ६।४।४०) इति स्थलीयस्य गमादीनामिति वक्तव्यम् इहापि यथा स्यात् परीतत् सहकुण्डिकया संयत् परीतत्' इति महाभाष्यस्यानुरोधेन क्षिणोतेरप्यनुनासिकलोपापत्तेः।

९—यत्तु भाष्ये क्षिणोतेरपरिगणनात् न गमादित्वं तस्येति, तत्तुच्छम्, परिगणनासिद्धेः। परीतत् संयत् आदिप्रयोगस्तूपलक्षणमेव क्षिणोतेरपीति मन्तव्यम्। प्रकृते हिंसार्थस्यैव विवक्षितत्वेन (क्षि क्षये) इत्यसङ्गतेः।

भी होता है, अर्थात् किसी तरह भी जीतना चाहिये यह अभिप्राय है।' किन्तु यह अभिप्राय भी तुच्छ है। क्योंकि साम-दानादि के द्वारा इष्टसिद्धि होने पर न तो संग्राम में प्रवृत्ति होती है और न संग्राम में विजय कहा जाता है।

६—और जो यह कहा है—'किञ्च निशिता' पद से तीक्ष्ण क्रिया बतायी गई है' वह भी निर्मूल है, क्योंकि कोई प्रमाण नहीं है। और पात्र में तीक्ष्णता की प्राप्ति न रहने 'निशिताः यह विशेषण देना व्यर्थ ही है।

७—उसी तरह 'सपत्नान् शत्रून् क्षयति येन सः' यहाँ पर 'कृतो बहुलम्'—(पा० सू० ३।३।१३) इति वार्तिक से करण कारक में 'क्विप्' प्रत्यय करने पर ('शि' शये) धातु का रूप, दयानन्द जी ने कहकर उव्वट-महीधर को भ्रान्त बताया है, क्योंकि उन्होंने 'क्षिणु हिंसायाम्' का रूप है, यह अपनी व्याख्या में कहा है।' किन्तु दयानन्द, उव्वट-महीधर को भ्रान्त सिद्ध करते हुए स्वयं अपने को ही भ्रान्त सिद्ध कर बैठे। दयानन्द जी को सोचना चाहिये था कि प्रकृत में 'कर्तृकारक की विवक्षा रहने से 'करणकारक' अविवक्षित है।

८—तदनन्तर यह जो कहा है कि 'क्षिणु हिंसायाम्' क्विप् में झल् परत्व न होने से 'अनुदात्तोपदेशवनति' (पा० सू० ६।४।३७) से अनुनासिक लोप का होना सम्भव नहीं है। वह भी ठीक नहीं है। 'तनुवनु क्षणुक्षिणुऋणतृणुघृणु वनु मनु तनोत्यादि में 'क्षिणु' का ग्रहण होने से क्विप् करने पर 'सपत्नक्षित्' की सिद्धि में कोई अड़चन नहीं है। यदि यह कहो कि 'क्विप्' का सर्वापहारी लोप होने पर झल् परत्व न रहने से अनुनासिक लोप का होना सम्भव नहीं होगा। तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि लोप होने पर भी स्थानिवद्भाव का आश्रय करने पर झल्परत्व कायम रहता है। अन्यथा 'सुकृत्, कर्मकृत्, मन्त्रकृत्, इत्यादि स्थलों में 'क्विप्' का लोप होने पर भी कृत्परत्व न होने से 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (पा० सू० ३।३।) सूत्र की प्रवृत्ति होने से इन रूपों की सिद्धि कैसे होगी ? 'गमः क्वौ' (पा० सू० ६।४४०) इस सूत्र के महाभाष्य 'गमादीनामिति ······ ·· ········संपत् परीतत्—के अनुरोध से 'क्षिणोति' के अनुनासिक का भी लोप होने लगेगा।

९—यह जो कहना है कि 'भाष्य में 'क्षिणु' का परिगणन न होने से उसमें गमादित्व नहीं है' वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि परिगणन असिद्ध है। 'परीतत्, सम्पत्' आदि प्रयोगों को तो 'क्षिणोति' का भी उपलक्षण समझना

अत एव 'सपत्नान् क्षिणुयात्' (श० १।३।१।६) इति श्रुतौ क्षिणोतेरेव प्रयोगः। एवमेव 'प्रत्युष्टं तापनीयं निष्टप्तं निःसारणीयमित्यपि न सङ्गतम्, धात्वर्थाननुगमात्। 'अनिशिता अति विस्तीर्णा सेना वेदिर्वा' इत्यप्यसङ्गतम्, (शो तनूकरणे) इत्यस्य विशेषतो नि पूर्वस्य तीक्ष्णीकरणार्थत्वमेव। नञोऽपि तदभावबोधपर्यवसायित्वमेव। अतएव—'अहं येनाऽनिशितेनाऽतिविस्तृतेन सपत्नक्षिता शत्रुनाशकेन सङ्ग्रामेण प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः विघ्नकारी प्राणी सत्यविरोधिनश्च दाहरूपेण दण्डेन दग्धाः, येन बन्धनेन निष्टप्तं रक्षः बन्धार्हो निष्टप्ता अरातयः विद्याविघ्नकारिणः सन्तप्ता भवन्ति त्वा तं वेगवन्तं सङ्ग्रामं वाजेध्यायै अन्नादि पदार्थैर्बलवत्त्वकरणयोग्यसेनार्थयुद्धसाधनानि सम्मार्ज्मि सम्यक् शोधयामि तदीयदोषान्निस्सारयामि। अहं यया शत्रुविनाशिन्या अनिशितयाऽतिविस्तीर्णया सेनया परसुखासहा मनुष्या द्यूतादिरता अपगुणाश्च मनुष्या निष्टप्ताः सन्ताप्यन्ते तां वाजिनीं बलवेगादिगुणशालिनीं सेनां वाजेध्यायै बहुभिः साधनैः प्रकाशनीयायै सत्यनीत्यै सम्मार्ज्मि उत्तमोत्तमशिक्षाभिः शोधयामि' इति, तदपि प्रलापमात्रम्, मन्त्राक्षरासम्बन्धात्। मन्त्रे सङ्ग्राम-सेनाबोधकपदाभावात्।

१०—ननु–अनिशित-सपत्नक्षिदितिपदयोस्तद्बोधकत्वं न सम्भवति, करणकारकक्विपः खण्डितत्वात्, अनिशित इति प्रथमान्तविरोधात्, असीतिमध्यमपुरुषक्रियाविरोधाच्च। न च व्यत्ययेन विभक्तिपुरुषविपरिणामौ युक्तौ, यथाश्रुतार्थबाधएव व्यत्ययाश्रयणोपपत्तेः। 'वाजशब्दोवेगादिगुणपर' इत्यपि निर्मूलम्, प्रमाणानुपलम्भात्। 'अहम् अनिशिताभिर्बृहतीभिः क्रियाभिः प्राप्तुं योग्यं सपत्नक्षिद्भिः दोषाणां शत्रूणां वा नाशकैर्यज्ञैः विघ्नकारिणः सत्यविरोधिनश्च दण्डेन दग्धा येन बन्धनार्हो विद्याविघ्नकारिणः सन्तापिता तं वाजिनं यज्ञ वाजेध्यायै अन्नाद्यभिव्यङ्ग्यायै क्रियायै सम्मार्ज्मि शोधयामि। सपत्नक्षिता शत्रुनाशिकयाऽतिविस्तीर्णया क्रियया प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टाः अरातयः विघ्नकारिणः प्राणिनः दुःखदौर्गन्ध्यादयो दोषाश्च नश्यन्ति त्वा त वाजिनीं सत्क्रियां वाजेध्यायै अन्नादिपदार्थैः प्रकाशनीयाय सत्यनीत्यै सम्मार्ज्मि सम्यक् साधयामि' इत्यपि विसङ्गतमेव पूर्वोक्तदोषदुष्टत्वात्।

चाहिये। प्रकृत में हिंसार्थ की ही विवक्षा होने से 'क्षि क्षये' धातु का रूप बताना असङ्गत ही है। अतएव 'सपत्नान् क्षिणुयात्'—(श० १।३।१।६) इस श्रुति में 'क्षिणोति' का ही प्रयोग किया गया है। उसी तरह 'प्रत्युष्टं तापनीयम्, निष्टप्तं निःसारणीयम्'—यह कथन भी असङ्गत है। क्योंकि धात्वर्थ का अनुगम नहीं हो रहा है। उसी तरह 'अनिशिता अतिविस्तीर्णा सेना वेदिर्वा'—यह कथन भी सङ्गत नहीं हो रहा है। 'शो तनूकरणे' धातु का 'निस् या निर्' उपसर्ग लगने पर विशेषतः तीक्ष्णीकरण ही अर्थ हुआ करता है। 'नञ्' का भी उसके अभाव बोधन में ही पर्यवसान है। अत एव 'अहं येनाऽनिशितेनाऽतिविस्तृतेन............शोधयामि'—यह दयानन्दीय व्याख्या केवल प्रलाप मात्र है। क्योंकि मन्त्र के अक्षरों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। मन्त्र में संग्राम, सेना आदि का बोधक कोई पद नहीं है।

१०—करण कारक अर्थ में क्विप् का खण्डन हो जाने से 'अनिशित और सपत्नक्षित्' ये दोनों पद उपर्युक्त अर्थ के बोधक नहीं हो सकते। तथा प्रथमान्त अनिशित पद से विरोध भी होगा। एवं 'असि' इस मध्यम पुरुष की क्रिया के साथ भी विरोध होगा। व्यत्यय से विभक्ति और पुरुष में विपरिणाम करना भी उचित नहीं होगा, क्योंकि व्यत्यय का आश्रय वहीं किया जाता है, जहाँ यथाश्रुत अर्थ का बाध उपस्थित होता हो। 'वाज' शब्द को वेगादि गुण परक बताना भी निर्मूल है, क्योंकि ऐसा करने में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। 'अहं अनिशिताभिः बृहतीभिः क्रियाभिः...सम्यक् साधयामि' यह व्याख्यान भी पूर्वोक्त दोष से दूषित होने के कारण विसङ्गत ही है।

अदित्यै रास्नासि विष्णोर्वेष्पोऽस्यूर्जे त्वाऽदब्धेन त्वा चक्षुषाव पश्यामि। अग्नेर्जिह्वासि सुहूर्देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुषे

॥ वा० सं० १ । ३० ॥

अर्थ—हे योक्त्र ! (यजमानपत्नी की कमर में बाँधी गई मूँज की डोरी को योक्त्र कहते हैं) तुम पृथ्वी की करधनी हो। हे दक्षिण पाश ! तुम यज्ञ के व्यापक हो। हे घृत ! उत्तम रस की प्राप्ति के लिये तुझे मैं पतला कर रहा हूँ। हे घृत ! मैं उपद्रव रहित नेत्रों से नीचे की ओर ग्रीवा करके तुम्हें देख रही हूँ। तुम अग्नि की जिह्वा हो। और देवताओं के हविर्भाग हो। इस कारण मेरे भिन्न-भिन्न याग स्थानों में पृथक्-पृथक् यज्ञों की सिद्धि के लिये तुम वहाँ प्राप्त होना ॥३०॥

१—'पत्नी ᳪ सन्नह्यति प्रत्यग्दक्षिणतः उपविष्टां गार्हपत्यस्य मुञ्जयोक्त्रेण त्रिवृत्ता परिहरत्यधोवासो अदित्यै रास्नासीति' (का० श्रौ० सू० २।७।१)

२—अध्वर्युर्गार्हपत्यनिर्ऋतिकोणे पूर्वतः समुपविष्टामीशानाभिमुखीं यजमानपत्नीं त्रिगुणितेन मुञ्जनिर्मितेन योक्त्रेण नाभेरधः कटिप्रदेशे बध्नाति अदित्यै इतिमन्त्रेण परिहितवाससो बहिरुपरि तद्योक्त्रं परिवेष्टयेत् पत्नीसंस्कारत्वादेव तत्प्रतिपत्ति कर्त्तव्यं सति पत्नीबहुत्वे।

३—मन्त्रार्थस्तु—हे योक्त्र अदित्यै अदित्या भूमेस्त्वं रास्नासि रशनासि। योक्त्राधिष्ठातृदेवतस्य भूम्या नियामकत्वेनैव भूमेरचलत्वम् योक्त्रेण यजमानपत्न्या अपि यज्ञानुष्ठानं यावदचलत्वम्।

४—'दक्षिणं पाशमुत्तरे प्रतिमुच्योर्ध्वमुद्गूहति विष्णोर्वेष्पो इति न ग्रन्थि करोतीति' (का० श्रौ० सू० २।७।२-३) अत्रपरम्पराप्राप्तः पाठो वेष्प इति पकारान्तो ज्ञेयः। 'पानीविषिभ्यः पः' (उ० सू० ३।३०३) इत्युणा

१—'पत्नी ᳪ सन्नह्यति प्रत्यग्दक्षिणतः···············रास्नासीति'—(का० श्रौ० सू०२।७।१)।

२—अध्वर्यु, गार्हपत्य के नैर्ऋत्य कोण में पूर्व की ओर बैठी हुई, ऐशान्य दिशा की ओर मुख की हुई यजमान पत्नी की नाभि के नीचे कटि प्रदेश में पहने हुए वस्त्र पर मुञ्ज से निर्मित त्रिगुणिक मेखला को 'आदित्यै' मन्त्र से परिवेष्टित करता है। यह मेखला परिवेष्टन, पत्नी का संस्कार स्वरूप होने से अनेक पत्नियों के रहने पर प्रत्येक पत्नी का मेखला येष्टन करना चाहिये।

३—मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे मेखले ! तुम भूमि की रशना स्वरूप हो। मेखला (योक्त्र) की अधिष्ठात्री देवता रूप भूमि की नियामक होने से ही भूमि की अचलता कही जाती है। अतः, उस योक्त्र के परिवेष्टन के कारण यजमान पत्नी को भी यज्ञानुष्ठान तक अचल रहना चाहिये।

४—उसके दाहिने छोर को उत्तर की ओर निकाल कर 'विष्णोर्वेष्पो' मन्त्र से ऊपर उसे उरस दे, गाँठ न लगावे इसे कात्यायन ने 'दक्षिणं पाशमुत्तरे'—(का० श्रौ सू २।७.२-३) सूत्र से बताया है। यहाँ मन्त्र में परम्परा

सूत्रेण विषेः पकारादेशेन रूपसिद्धिः। अध्वर्युः योक्त्रस्य दक्षिणाग्रस्थितं पाशमुत्तराग्रस्थितस्य पाशस्य मध्ये उपरितः प्रवेश्य अध आकृष्य शङ्कुस्थानीये प्रोतयित्वा (ततः सामर्थ्यात् पाशं द्विगुण वेष्टयित्वा) दक्षिणं पाशमूर्ध्वमुद्गूहति योक्त्रमध्य एव प्रेरयति। ऊर्ध्वं योक्त्रमध्ये गूहनसामर्थ्यात् द्विर्वेष्टनम् एकवेष्टने उद्गूहनस्याशक्यत्वात् इति देवयाज्ञिकः। हे दक्षिणपाश त्वं विष्णोर्यज्ञस्य वेष्पो व्यापकोऽसि। (विष्लृ व्याप्तौ) इतिधातोस्तद्रूपनिष्पत्तेः। दक्षिणपाशस्य यावद्यज्ञं नियामकत्वात्तस्य यज्ञव्यापकत्वोक्तिः। (वेष्ट वेष्टने) इत्यस्माद्वा वेष्पशब्दनिष्पत्तिः। यज्ञस्य वेष्टनं वा त्वमसि। पत्नीवेष्टनेन यज्ञ एव वेष्टितो भवति। आवर्तो वा वेष्पः त्वं यज्ञस्य विष्णोरावर्तोऽसि।

५—'ऊर्जे त्वेत्याज्यमुद्वास्येति' (का० श्रौ० सू० २।७।४) ऊर्जे त्वाम् उद्वासयामि इत्यध्याहारयुक्तेन मन्त्रेणाध्वर्युः आज्यमुद्वास्य पत्नीमवेक्षयेत्। हे आज्य त्वामुद्वासयामीति शेषः। किमर्थम् ऊर्जे उत्तमरसलाभाय, विलापितघृतस्य सुस्वादुत्वात्।

६—'पत्नीमवेक्षयत्यदब्धेनेतीति' (का० श्रौ० सू० २।७।) पत्न्याज्यमवेक्षस्वेति अध्येषणापूर्वकमाज्यमावेक्षयेत। हे आज्य अदब्धेन अनुपहिंसितेन चक्षुषा त्वामवपश्यामि ; अवाचीनं यथा तथा अधोमुखी पश्यामि। त्वमग्नेर्जिह्वासि। आज्यहोमावसरे जिह्वातुल्यज्वालोत्पत्तेः। सुहूः देवेभ्योऽर्थाय सुष्ठु हूयन्ते इति सुहूः। पुंस्त्वमत्रछान्दसम् अथवा सुहूरिति जिह्वाया विशेषणम्। सुष्ठु हूयन्ते अनयेति सुहूर्जिह्वा। ज्वालां दृष्ट्वा देवा आयान्तीत्यर्थः।

प्राप्त पाठ 'वेष्प' ऐसा पकारान्त ही समझना चाहिये। 'पानी विषिभ्यः पः' (उ० सू०) इस उणादि सूत्र से 'वषि' को पकारादेश करने से 'वेष्प' रूप सिद्ध होता है। अध्वर्यु, योक्त्र के दक्षिणाग्र स्थित पाश को उत्तराग्र स्थित पाश के मध्य ऊपर की ओर प्रवेश कराकर और उसे नोचे खींचकर शङ्कु स्थान में पिरोकर (उसके सामर्थ्य से पाश को द्विगुण लपेट कर) दक्षिण पाश को ऊपर उरस देता है अर्थात् योक्त्र में ही उसे उरस देता है। योक्त्र में ऊपर की ओर उसको उरसने से (गूहन सामर्थ्य से) दो वेष्टन हो जाते हैं, एक वेष्टन में गूहन करना शक्य नहीं है। ऐसा देवयाज्ञिक कहते हैं। हे दक्षिण पाश ! तुम यज्ञ के व्यापक हो, (विष्लृ व्याप्तौ) धातु से इस 'वेष्पः' रूप की निष्पत्ति हुई है। यह दक्षिण पाश, यज्ञ समाप्ति तक उसका (यज्ञ का) नियामक रहने से उसे (पाश को) यज्ञ व्यापक कहा गया है। अथवा 'वेष्ट' वेष्टने धातु से 'वेष्प' शब्द की निष्पत्ति होती है। तब यज्ञ के तुम वेष्टन हो, यह अर्थ होगा। पत्नी के वेष्टित होने से यज्ञ ही वेष्टित हुआ समझा जाता है। अथवा 'वेष्प' शब्द का अर्थ 'आवर्त' भी हो सकता है। तुम यज्ञ रूप विष्णु के आवर्त हो।

५—'ऊर्जे त्वा इति आज्यमुद्वास्य'—(का० श्रौ० सू० २।७।४), 'ऊर्जे त्वाम् उद्वासयामि' इस अध्याहार से युक्त हुए मन्त्र से अध्वर्यु आज्य का उद्वासन कर पत्नी का अवेक्षण करे। 'हे आज्य ! त्वामुद्वासयामि' यह शेष लगना चाहिये। किसलिये ? तो ऊर्ज में उत्तम रस के लाभ के लिये। क्योंकि तरल किया हुआ (तपाया हुआ) घी सुस्वादु होता है।

६—'पत्नीमवेक्षयत्यदब्धेनेतीति'—(का० श्रौ० सू० २।७।) 'पत्नि ! आज्यमवेक्षस्व' इस प्रकार अध्येषणा पूर्वक (आदर पूर्वक कहने पर) पत्नी आज्य को देखे। हे आज्य ! अनुपहिंसित अर्थात् निर्दुष्ट (अदब्ध) नेत्रों से अधोमुखी होती हुई तुम्हें देख रही हूँ। तुम अग्नि की जिह्वा हो। आज्य से होम करने के अवसर पर जिह्वा के तुल्य ज्वालाओं की उत्पत्ति होती है। 'सुहूः' – देवताओं के लिये अच्छी प्रकार से जो हवन की जाती है, उसे 'सुहूः' कहते हैं। यहाँ पर पुंस्त्व, छान्दस समझना चाहिये। अथवा 'सुहूः' यह जिह्वा का विशेषण है। 'सुष्ठु हूयन्ते अनया इति सुहूः जिह्वा'। ज्वाला को देखकर देवताएँ आती हैं। अतः तुम तत्तद् यागफलोपभोग स्थान सिद्धचर्थ बनो। 'यजुष्' शब्द, यहाँ पर याग परक है। 'फलेन युज्यते इति यजुर्यागः' फल के साथ युक्त होता है इस कारण 'यजु' को याग भी कह सकते हैं। अतः 'यजुषे यजुषे' का अर्थ तत्तद्यागसिद्धचर्थ हुआ, उसके लिये तुम बन जाओ। क्योंकि

अतो मे मम धाम्ने धाम्ने भव तथा यजुषे यजुषे भव। धामस्थानम्। तत्तद्यागफलोपभोगस्थानसिद्धचर्थं भव। यजुष्शब्दोऽत्र यागपर:। फलेन युज्यते इति यजुर्याग:। यजुषे यजुषे तत्तद्यागसिद्धचर्थं भव, आज्यसाध्यत्वाद्यागस्य यागलभ्यफलस्थानस्यापि च। तत्साध्यत्वादाज्याधिष्ठातृदेवतमत्र प्रार्थ्यते। पत्न्यावेक्षितस्यैव संस्कृतत्वादाज्यस्य याग उपयोग:। आज्यावेक्षणञ्चैकयैव पत्न्या कार्यम् द्रव्यसंस्कारत्वात्। एकावेक्षणेनोपपत्तौ अन्यस्य नैरर्थक्यात्।

७—स्वामिदयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर यस्त्वमदित्यै अदित्या रास्नासि रसहेतुभूतक्रियासि, विष्णोर्विष्णुरसि सर्वस्य वेष्पोस्यग्नेर्जिह्वासि देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने यजुषे यजुषे सुहूरसि एवं भूत त्वामहमदब्धेन चक्षुषा ऊर्जे आदित्यै धाम्ने धाम्ने यजुषे यजुषे त्वा अवपश्यामि। स च त्वमस्माभि: कृपया विदित: पूजितश्च भव।

८—यद्वा यतोऽयं यज्ञ: अदित्या अन्तरिक्षस्य रास्ना रसादिपदार्थानां क्रियाकारणमस्ति। विष्णोर्यज्ञसम्बन्धिकार्याणां वेष्पो व्यापकोऽसि अग्नेर्भौतिकस्य जिह्वासि, देवेभ्यो दिव्यगुणेभ्यो धाम्ने धाम्ने कीर्तिस्थानजन्मभ्य:, यजुषे यजुषे यजुषामाशयज्ञानाय सुहू: सम्यक् प्रशंसायै मे भव। अतस्त्वा त यज्ञमहं तस्मात्तमहमदब्धेन चक्षुषोर्जेऽवपश्यामि। तथात्वादित्यै देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने यजुषे यजुषे हितायावपश्यामि। सर्वैर्मनुष्यैरयं जगदीश्वर: प्रतिवस्तुषु स्थित: प्रतिमन्त्रं प्रतिपादित: पूज्यश्च भवतीति मन्तव्यम्। तथाचायं यज्ञ: प्रतिमन्त्रेण सम्यगनुष्ठित: सर्वप्राणिभ्य: प्रतिवस्तुषु पराक्रमबलप्राप्तये भवतीति' प्रोक्तवान्, एतदपि यत्किञ्चित्, यथेच्छव्यत्ययमूलकत्वात्।

९—यत्तु अदितिपदार्थवर्णनप्रसङ्गे 'अनेन गमनागमनव्यवहारप्राप्तिहेतुरवकाशोऽन्तरिक्ष गृह्यते' इति तन्न,

---

याग का होना आज्य पर निर्भर रहने से याग, आज्य से साध्य है, और याग लभ्य फल स्थान भी आज्य से ही साध्य होने से आज्य की अधिष्ठात्री देवता की यहाँ प्रार्थना की गई है। पत्नी के द्वारा अवेक्षण संस्कार किया हुआ आज्य ही संस्कृत कहलाता है। तभी उस आज्य का याग में उपयोग हो पाता है। आज्य का अवेक्षण एक ही पत्नी करे। क्योंकि वह द्रव्य का संस्कार है। एक के अवेक्षण करने से ही जब संस्कार उपपन्न हो जाता है तब अन्य के द्वारा निरीक्षण करना निरर्थक है।

७—स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ किया है, वह उनका प्रलाप मात्र है, क्योंकि उन्होंने उसमें अपनी मनगढ़न्त व्यत्ययादि की कल्पना की है। स्वामी दयानन्द का अर्थ इस प्रकार है—'हे जगदीश्वर! तुम अदिति की रस हेतुभूत क्रिया हो, तुम विष्णु हो, तुम अग्नि की जिह्वा हो, देवताओं के लिये प्रत्येक जगह तुम सुहू रूप हो, इस प्रकार के तुम को अदब्ध नेत्र से देखते हैं। इस प्रकार के तुम हमारे लिये कृपा करके विदित और पूजित हो जाओ।

८—अथवा क्योंकि यह यज्ञ अन्तरिक्ष के रसादि पदार्थों की क्रियाओं का कारण है। यज्ञ से सम्बन्धित कार्यो में व्यापक है। तुम भौतिक अग्नि की जिह्वा रूप हो, दिव्य गुण वालों के लिये स्थान स्थान पर कीर्ति को पैदा करने वाले हो, यजुओं के आशय को जानने के लिये सुहू अर्थात् मेरी सम्यक् प्रशंसा के लिये बनो। अत: उस यज्ञ को मैं अदब्ध नेत्र से देख रही हूँ। उसी प्रकार देवताओं के लिये प्रत्येक स्थान पर तथा प्रत्येक यजु के हित के लिये देखती हूँ। यह जगदीश्वर प्रत्येक वस्तु में स्थित है, प्रत्येक मन्त्र में उसे बताया गया है वह पूजनीय है, ऐसा सभी मनुष्यों को मानना चाहिये। तथा च यह यज्ञ प्रत्येक मन्त्र के द्वारा सम्यक् प्रकार से अनुष्ठित होने पर समस्त प्राणियों को प्रत्येक वस्तुओं में पराक्रम और बल की प्राप्ति के लिये होता है। उसी प्रकार अदिति पदार्थ के वर्णन के प्रसङ्ग में 'इससे गमनागमन व्यवहार प्राप्ति में हेतुभूत 'अवकाश' शब्द से अन्तरिक्ष का ग्रहण किया है' इति। यह भी उचित नहीं है, क्योंकि काल, आकाश आदि को समस्त कार्यों के प्रति साधारण कारण माना गया है, अत: उस में विशेष कारणत्व उपपन्न नहीं हो सकता।

९—उसी प्रकार 'रास्ना' को रस हेतुभूत क्रिया कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि जो सर्वसाधारण के प्रति

कालाकाशादीनां सर्वकार्यं प्रति साधारणकारणत्वेन विशेषहेतुत्वानुपपत्तेः। यदपि रास्ना रसहेतुभूतक्रियेति तदपि न,सर्वकारणस्य सर्वहेतुभूतक्रियावत्त्वेन वैशेष्यायोगात्। एवं चक्षुषा विज्ञानेन प्रत्यक्षप्रमाणेनेत्यपि निर्मूलम् इन्द्रियविशेषे रूढस्य चक्षुःशब्दस्य विज्ञानादिपरत्वायोगात्। शतपथविरुद्धञ्चैतत्। तथाहि—

१०—'अथ पत्नीं ७ँ सन्नह्यति। जघनार्धो वा एष यज्ञस्य यत्पत्नी प्राङ्मे यज्ञस्तायमानो यादिति युनक्त्येवैनामेतत् युक्तामेव यज्ञमन्वासाता इति' (श० १।३।१।१२)

११—प्रैषक्रमप्राप्तपत्नीसन्नहनं विधत्ते—अथेति। जघनार्धो वा गार्हपत्यानुष्ठेयेषु पत्नीसंयाजादिषु पत्न्याः सम्बन्धात् सा यज्ञस्यापरार्धः। किं तत् इत्याह प्रागिति। मदीयो यज्ञः प्रागपवर्गं तायमानः विस्तार्यमाणो यात गच्छेत। अतः परार्धमारभ्य यज्ञो विस्तारयितव्यः इत्यनेनाभिप्रायेण पत्नीं सन्नह्येदित्यर्थः। यदेतत्सन्नहनं तदेतत् रथे अश्वादीनामिव पत्न्या यज्ञेन सार्धं योजनं बन्धनमित्याह युक्ता, योक्तुरभिप्रायाविष्करणम्। युक्ता च सा मदीयं यज्ञमनुलक्ष्य यज्ञसमाप्तिपर्यन्तम् आसातै आसीत नह्ययुक्तो रथो नियमेनास्ते।

१२—योक्त्रेण सन्नह्यति योक्त्रेणहि योग्यं युञ्जन्त्यस्ति वै पत्न्या अमेध्यं यदवाचीनं नाभेरथैतदाज्यमवेक्षिष्यमाणा भवति। तदेवास्या एतद्योक्त्रेणान्तर्दधात्यथ मेध्येनैवोत्तरार्धेनाज्यमवेक्षते तस्मात् पत्नीं सन्नह्यति। (श० १।३।१।१३)

१३—एवं विहितं सन्नहनं प्रशस्य तत्साधनं विधत्ते योक्त्रेणेति। रथाद्यवयवस्य युगस्य धुरि बलीवर्दादि नियोजनार्थं दाम योक्त्रं सन्नह्यते। लौकिकोदाहरणेनैतत् द्रढयति योक्त्रेण योग्यं योजनीयमनडुदश्वादिकम् तच्च सन्नहनं नाभिदेशे कार्यमित्याह—अयज्ञियस्य पत्न्या नाभेरधोभागस्य यज्ञियस्योपरिभागस्य च मध्ये सन्नहनेन साङ्कर्यनिवारणात् यज्ञियेनैवोपरिभागेन विधास्यमानमाज्यावेक्षणं साधुकृतं भविष्यतीत्यर्थः।

कारण है, उसमें विशेष कारणता अनुपपन्न है। उसी प्रकार 'चक्षुषा विज्ञानेन' अर्थात् प्रत्यक्ष प्राणी से कहना भी निर्मूल है। क्योंकि 'चक्षुष्' शब्द, इन्द्रिय विशेष में रूढ़ (प्रसिद्ध) है, उसे विज्ञानादि परक मानना ठीक नहीं है। और उसे विज्ञान परक बताना, शतपथ के विरुद्ध भी है। तथाहि—

१०—'अथ पत्नी ७ँ सन्नह्यति। जघनार्धो वा............यज्ञमन्वासाता' इति (श० १।३।१।१२)।

११—इस ब्राह्मण के द्वारा प्रैषक्रम से प्राप्त पत्नी सन्नहन का विधान किया जा रहा है। 'जघनार्धो वा' गार्हपत्य के अनुष्ठेय पदार्थों में अर्थात् पत्नी संयाजादिकों में पत्नी का सम्बन्ध रहने से, वह (पत्नी) यज्ञ का अपरार्ध भाग है। 'प्राक्' से उसी को बताया जा रहा है। मेरा यज्ञ, 'प्राक्' अपवर्ग तक विस्तार को प्राप्त करने वाला बने। अतः परार्ध से आरम्भ कर यज्ञ का विस्तार करना चाहिये। इसी अभिप्राय से पत्नी का सन्नहन करे। यह जो सन्नहन है, वह रथ में अश्वादिकों की तरह पत्नी का यज्ञ के साथ बन्धन (योजन) है। इसे युक्ता शब्द से बताया गया है, अर्थात् योक्ता के अभिप्राय को प्रकट किया गया है। यज्ञ के साथ युक्त हुई वह पत्नी मेरे यज्ञ को ध्यान में रखकर यज्ञ की समाप्ति तक स्थिर रहे, क्योंकि बिना जुता रथ, नियमित नहीं रहता।

१२—'योक्त्रेण सन्नह्यति............पत्नीं सन्नह्यति'—(श० १।३।१।१३)

१३—इस प्रकार विहित सन्नहन की प्रशंसा करके उसके साधन का विधान 'योक्त्रेण' से किया जा रहा है। रथादि के अवयवभूत युग की धुरा में बलीवर्दादि (बैल आदि) के नियोजनार्थ योक्त्र (दाम) अर्थात् रस्सी को बाँधे। इस लौकिक उदाहरण से यह दृढ़ किया जा रहा है कि योक्त्र (रस्सी) से अनडुह, आदि योग्य वाहक की योजना करनी चाहिये। उस सन्नहन को नाभिदेश में करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि पत्नी की नाभि का अधोभाग अयज्ञीय है, और उसका उपरि भाग यज्ञिय है, उन दोनों भागों के बीच में सन्नहन करने (बाँधने) से साङ्कर्य नहीं हो पाता। यज्ञिय उपरि भाग से विधान किया जाने वाला आज्यावेक्षण उचित (सम्यक्) होगा, यह अर्थ है।

१४—स वा अधिवासः सन्नह्यति । ओषधयो वा वासो वरुण्या रज्जुस्तदोषधीरेवैतदन्तर्दधाति तथो हैनामेषा वरुण्या रज्जुर्नहिनस्ति तस्मादधिवासः सन्नह्यति ।' (श० १।३।१।१४)

१५—स सन्नह्यात् । अदित्यै रास्नासीतीयं वै पृथिव्यदितिः । सेयं देवानां पत्न्येषा वा एतस्य पत्नी भवति तदस्या एतद्रास्नामेव करोति न रज्जु ँ हिरो वै रास्ना तामेवास्या एतत्करोति ।' (श० १।२।१।१५)

१६—परिहितस्य वासस उपरि तत्सन्नहनं कार्यमिति विधत्ते स वा इति योक्त्रपत्नीशरीरयोर्वाससा व्यवधानं प्रशंसति—ओषधयः..................वै वास इति । सूत्रकार्पासादीनामोषधिप्रसूतत्वात् ओषधिवाससोस्तादात्म्यव्यपदेशः । वरुणसम्बन्धिनी वरुण्या रज्जुः । स च वरुणपाशो निग्रहहेतुर्भवति, तस्य केनचिद् व्यवधानेन भाव्यमिति वासोलक्षणौषधिभिर्व्यवधानं युक्तम् । तस्य प्रयोजनमाह—तथो हेति । तथा सत्येषा वरुण्या रज्जुर्नैनां यजमानपत्नीं हिनस्ति, तस्मादधिवासः वासस उपरि सन्नह्यति । विहितं सन्नहनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते स सन्नह्यति अदित्यै रास्नासीति मन्त्रेण मन्त्रं व्याचष्टे—इयं वै अदितिः अखण्डनीया देवानां पत्नी या पृथिवी सा चैषापि योषित् । एषा वा यजमानस्य पत्नी। पृथिव्या इवास्या रास्ना रशनामलङ्कारार्थां मणिमुक्तादिखचितां मेखलामेव बध्नाति न रज्जुमिति मन्त्रप्रयोगाभिप्रायः । उक्तार्थपरतां रास्नाशब्दस्य दर्शयति हिरो वै रास्नेति । हिरशब्दोमेखलापर्यायः । तामेवास्याः करोति । योक्त्रे रज्जुबुद्धिमपोह्य अदितेर्मणिमुक्तादिखचितमेखलाबुद्धिः कार्येत्यर्थः ।

१७—'स वै न ग्रन्थि कुर्यात् । वरुण्यो वै ग्रन्थिः । वरुणोहपत्नीं गृह्णीयात् यद्ग्रन्थि कुर्यात् । तस्मान्न ग्रन्थि कुर्यात् । (श० १।३।१।१६)

१८—वरुणपाशो हि ग्रन्थिमान् । अतो ग्रन्थिरपि वरुणसम्बन्धी । तत्करणे वरुणः पत्नीं गृह्णीयात् बाधेत, तस्मान्न ग्रन्थि कुर्यात् ।

१४—'स वा अधिवासः सन्नह्यति । ओषधयो वा वासो...... ...सन्नह्यति ।' (श० १।३।१।१४)

१५—'स सन्नह्यति । आदित्यै रास्नासीतीयं.......... एतत्करोति ।' (श० १।३।१।१५)

१६—परिधान किये हुए वस्त्र के ऊपर उस सन्नहन को करने का विधान 'स वा इति' से किया जा रहा है। योक्त्र और पत्नी शरीर दोनों के बीच में वस्त्र से हुए व्यवधान प्रशंसा 'ओषधयः..............वा वासः' से किया गया है। क्योंकि सूत्र कार्पास आदि ओषधि प्रसूत होने से ओषधि और वस्त्र का तादात्म्य व्यपदेश (व्यवहार) किया गया है । 'वरुण्या रज्जु' वरुण से सम्बन्धित है । वह वरुणपाश निग्रह करने में कारण होता है । अतः उसमें किसी व्यवधान का होना आवश्यक है, इसलिये वस्त्रात्मक ओषधियों से व्यवधान रहना उचित है । उस व्यवधान के रहने से यह वरुण्या रज्जु, इस यजमान पत्नी की हिंसा नहीं कर पाता, इसलिये वस्त्र के ऊपर सन्नहन किया जाता है । उक्त सन्नहन का अनुवाद करके 'स सन्नह्यति' मन्त्र का विधान किया गया है । 'अदित्यै रास्नासि' इस मन्त्र से मन्त्र की व्याख्या कर रहे हैं—यह पृथिवी अखण्डनीय (अदिति) है, वह (पृथिवी) देवताओं की पत्नी है, यह यजमान की पत्नी भी पृथिवी के समान है, उसे अलंकृत करने के लिये मणि मुक्तादि रत्नों से जटित रशना (मेखला) ही पहनाता है, उसे रज्जु से बाँध नहीं रहा है, यह मन्त्र प्रयोग का अभिप्र य है । 'रास्ना' शब्द की उक्तार्थ परता को 'हिरो वै रास्नेति' से प्रदर्शित कर रहे हैं । 'हित' शब्द से मेखला का पर्याय है । उस मेखला को ही उसे पहनाता है । योक्त्र में रज्जु बुद्धि का त्याग कर अर्थात् योक्त्र को रज्जु न समझे । वह अदिति की मणि–मुक्तादि खचित मेखला है, ऐसा समझना चाहिये ।

१७—'स वै न ग्रन्थि कुर्यात् । वरुण्यो वै ग्रन्थिः ।..तस्मान्न ग्रन्थि कुर्यात् ।' (श० १।३।१।१६)

१८—क्योंकि वरुण, ग्रन्थिमान् है । अतः ग्रन्थि भी वरुण से सम्बन्धित है । ग्रन्थि लगाने पर वरुण उस पत्नी का ग्रहण करेगा और उसे बाधा पहुँचावेगा । इसलिये ग्रन्थि नहीं लगानी चाहिये ।

१९—उर्ध्वमेवोद्गूहति। विष्णोर्वेष्पोऽसीति सा वै न पश्चात् न प्राची देवानां यज्ञमन्वास्ते तद्धेमामभ्यारोहेत् सा पत्नी क्षिप्रेऽमुं लोकमियात्तथोह पत्नी ज्योग्जीवति। तदस्या एवैतन्निह्नुते। तथो हैनामियं न हिनस्ति। तस्मादु दक्षिण इवेवान्वासीत' (श० १।३।१।१७)

२०—ननु ग्रन्थिकरणाभावे विस्रस्तं स्यादित्यत आह—योक्त्रस्य मूलाग्रे संयोज्य एकीकृत्य ऊर्ध्वमुद्गूहेत उपरिष्टात् लम्बयेत दक्षिणं पाशमुत्तरे प्रतिमुच्योर्ध्वमुद्गूहते।' का० श्रौ० सू०)

२१—सन्नहनसमये गार्हपत्यस्य नैर्ऋत्यां दिशि पत्न्या अन्वासनं विधित्सुः साक्षात् पश्चात् प्राङ्मुखोपवेशनं निषेधति–सा वा इति। तदुपपादयति इयं वेति। इयं हि पृथ्वी देवानां पत्नी। सा गार्हपत्यस्य पश्चात् प्राङ्मुखी सदोपविशति। अतस्तत्रान्वासीनामिमामेव देवपत्नीमन्वारोहेत। तथा च यो बाधस्तं दर्शयति—सा पत्नी क्षिप्रे अल्पकाल एव अमुं लोकमियात् गच्छेत्। तथोहेति—पश्चादुपवेशनत्यागे सति उक्तदोषाभावाच्चिरकालं पत्नी जीवति तेन पश्चादासनत्यागेनास्या देवपत्न्या यदुपवेशनस्थानं तत् निह्नुते अपलपति। तत्स्थानवर्जनेन तां प्रीणयति। तथा चेयं पृथिवी—अपि एनां पत्नीं न हिनस्ति। तस्मात् देवपत्नी स्थानात् दक्षिणतो दक्षिणभागे गार्हपत्यस्य नैर्ऋत्यां दिशीत्यर्थः, अन्वासीत।

२२—तदेव कात्यायनेन सूत्रितम् 'पत्नीं सन्नह्यति प्रत्यग्दक्षिणत उपविष्टां गार्हपत्यस्य मुञ्जयोक्त्रेण (का० श्रौ० सू० २।१९४)

२३—'अथाज्यमवेक्षते। योषा वै पत्नी रेत आज्यं मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते तस्मादाज्यमवेक्षते।' (श० १।३।१।१८)

२४—सावेक्षते। अदब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामीत्येवैतदाह अग्नेर्जिह्वासीति। यदा वै एतदग्नौजुह्वत्यथाग्ने-

---

१९—'ऊर्ध्वमेवोद्गूहति। विष्णोर्वेष्पोऽसीति..............इवेवान्वासीत्।'—(श० १।३।१।१७)।

२०—यदि कोई शङ्का करे कि ग्रन्थि न लगाने पर वस्त्र (पहना वस्त्र) नीचे खिसक जायगा (छूट जायगा) तो इस शङ्का के समाधान में यह कहा गया है कि योक्त्र के मूलाग्रों को एक करके ऊपर की ओर उरस देना चाहिये। कात्यायन ने भी कहा है—'दक्षिणं पाशमुत्तरे प्रतिमुच्योर्ध्वमुद्गूहते'—(का० श्रौ० सू०)

२१—सन्नहन के समय गार्हपत्य की नैर्ऋत्य दिशा में पत्नी के अन्वासन (बैठना) विधि की इच्छा से साक्षात् पश्चात् प्राङ्मुख होकर बैठने का निषेध 'सा वा इति' से किया गया है। उसी का उपपादन 'इयं वेति' से कर रहे हैं। यह जो पृथिवी है, वह देवों की पत्नी है। वह गार्हपत्य के पश्चात् प्राङ्मुखी होकर सर्वदा बैठती है। अतः वहाँ पर बैठी हुई उसी पर देवपत्नी का अन्वारोहण होगा। उस कारण जो हानि होगी उसे बताते हैं—वह पत्नी अल्प काल में ही उस लोक को चली जायगी। किन्तु गार्हपत्य के पश्चात् भाग में जब नहीं बैठेगी तो उक्त दोष के न होने से चिर काल तक जीवित रहेगी। गार्हपत्य के पश्चात् भाग में आसन का त्याग करने से इस देवपत्नी को जो बैठने का स्थान है, उसे छोड़ देने से उस देवपत्नी का जो बैठने का स्थान है, उसे छोड़ देने से उस देवपत्नी को वह प्रसन्न कर लेती है। तथा च यह पृथिवी भी इस पत्नी की हिंसा नहीं करती है। इसी कारण देवपत्नी के स्थान से दक्षिण भाग में अर्थात् गार्हपत्य की नैर्ऋत्य दिशा में वह (यजमान पत्नी) बैठे।

२२—इसी बात को कात्यायन ने भी अपने सूत्र में कहा है—'पत्नीं सन्नह्यति..............मुञ्जयोक्त्रेण'—(का० श्रौ० सू० २।१९४)

२३—'अथाज्यमवेक्षते। योषा वै पत्नी रेत आज्यं.............मवेक्षते।'(श० १।३।१।१८)

जिह्वा इवोत्तिष्ठन्ति तस्मादाहाग्नेर्जिह्वासीति । सुहूर्देवेभ्य इति साधुदेवेभ्य इत्येवैतदाह— धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुषे इति सर्वस्मै मे यज्ञायैधीत्येवैतदाह ।' (श० १।३।१।१९)

२५—विहितमवेक्षणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते सेति मन्त्रगतमदब्धेनेतिपदं व्याचष्टे अनार्तेनेति । आर्तिर्हिंसा तद्रहितेन चक्षुषा त्वा त्वामवपश्यामि । अग्नेर्जिह्वासि—आज्यस्य जिह्वारूपत्वमुपपादयति— यदा वै एतदाज्यमग्नौ जुह्वति तदाग्नेर्जिह्वा जिह्वासदृशज्वालाहेतुत्वादाज्यं जिह्वेत्युच्यते । मन्त्रगत सुहूरिति पद व्याचष्टे सुष्ठु हूयमानत्वात् सुहूः । अनेन होमानुगुण्येन साधुत्वं लक्ष्यत इत्यर्थः । धाम्ने धाम्ने इति मन्त्रशेषं व्याचष्टे सर्वस्मै मे यज्ञाय एधीत्येवैतदाह धाम्ने धाम्ने तत्तद्देवताशरीराय यजुषे यजुषे तत्तद्ग्रहणमन्त्राय च पर्याप्तं भवेति मन्त्रार्थः । अतः सर्वस्मै यज्ञाय एधि भवेति तदर्थप्रतिपादनं मन्त्रेण क्रियते ।

२६—'अथाज्यमादाय प्राङुदाद्रवति आहवनीयेऽधिश्रयति यस्याहवनीये हवींषि श्रपयन्ति सर्वो मे यज्ञ आहवनीये शृतोऽसदित्यर्थः । यदमुत्राग्रे अधिश्रयति पत्नी ७ ँ ह्यवकाशयिष्यन् भवति नहि तदवकल्पते यत्सामि प्रत्यग्घरेत पत्नीमवकाशयिष्यामीत्यथ यत् पत्नीं नावकाशयेदनारियाद्ध यज्ञात् पत्नीं तथोह यज्ञात् पत्नीं नान्तरेति तस्मात् सार्धमेव विलाप्य प्रागुदाहरत्यवकाश्य पत्नीं यस्योपपत्नी न भवत्यग्र एव तस्याहवनीयेऽधिश्रयति तत्रत आदत्ते तदन्तर्वेद्यासादयति ।' (श० १।३।१।२०)

२७—पुरस्ताद्धरणं विधत्ते अथ पत्न्यवेक्षणानन्तरं पुनस्तस्याज्यस्याहवनीयाधिश्रयणं विधत्ते तदाहवनीये अधिश्रयतीति । हविःश्रपणमाहवनीयगार्हपत्ययोर्विकल्पितम् । तत्राहवनीयाधिश्रयणपक्षे पत्न्यवेक्षणानन्तरं पुरस्ताद्धृत्वा आहवनीयेऽधिश्रयेत् । एवं कुर्वतोऽभिप्रायमाह सर्व इति । सर्वो मे यज्ञ आहवनीये शृतोऽसदित्यादि । यागसाधनत्वाद्धविरत्र यज्ञशब्दार्थः । सर्वं मदीयं हविराहवनीये संस्कृतमिति—अस्मिन्नपि पक्षे प्रथमतो गार्हपत्याधिश्रयणे कारणमाह—अथ यदमुत्रेति । अमुत्र गार्हपत्ये अग्रे पशुपुरोडाशाधिश्रयणकाले पत्नीमवकाशयिष्यन् पत्न्याज्यावेक्षणा-

---

२४—'सावेक्षते । अदब्धेन त्वा चक्षुषा··············त्येवैतदाह ।'(श० १।३।१।१९)

२५—विहित अवेक्षण का अनुवाद करके 'सेति' से मन्त्र का विधान किया जा रहा है। मन्त्रगत 'अदब्धेन' पद की व्याख्या 'अनातेन' से करते हैं। 'आर्ति' शब्द का अर्थ है हिंसा। अतः हिंसा रहित चक्षुषा से तुम्हें देखता हूँ। तुम अग्नि की जिह्वा हो। आज्य की जिह्वा रूपता का उपपादन करते हैं—जब आज्य भाग (दो आज्य भाग) की आहुति देने हैं, तब अग्नि की जिह्वा के समान ज्वाला का हेतु होने से आज्य को जिह्वा शब्द से कहा जाता है। मन्त्रगत 'सुहूः' पद की व्याख्या करते हैं—'सुष्ठु हूयमानत्वात् सुहूः' अच्छी तरह हूयमान होने से 'सुहूः' कही जाती है। होम के इस आनुगुण्य (आनुकूल्य) से साधुत्व लक्षित होता है। 'धाम्ने धाम्ने' इस मन्त्र शेष की व्याख्या करते हैं—मेरे सम्पूर्ण यज्ञ के लिये आओ। इसी बात को बता रहे हैं 'धाम्ने धाम्ने' तत्तद् देवता शरीर के लिये और 'यजुषे यजुषे' तत्तद् ग्रहण मन्त्र के लिये पर्याप्त हो जाओ। यह मन्त्रार्थ है। अतः सम्पूर्ण यज्ञ के लिये तुम बने रहो, इस अर्थ का प्रतिपादन मन्त्र से किया गया है।

२६—'अथाज्यमादाय प्राङुदाद्रवति··············तदन्तर्वेद्यासादयति ।'—(श० १।३।१।२०)

२७—'अथेति' ब्राह्मण से पुरस्तात् (सामने से) हरण का विधान किया गया है। 'अथ' शब्द का अर्थ पत्नी के द्वारा अवेक्षण करने के अनन्तर है। पुनः आहवनीय पर उसके अधिश्रयण का विधान 'तदाहवनीये' इत्यादि ब्राह्मण से किया गया है। हविःश्रपण, आहवनीय पर अथवा गार्हपत्य पर करने का विकल्प है। आहवनीय पर श्रपण करने के पक्ष में पत्नी के द्वारा आज्यावेक्षण कर चुकने पर ही उस आज्य को सामने (पुरस्तात्) रखकर आहवनीय पर रखे (अधिश्रित करे)। इस प्रकार करने का अभिप्राय 'सर्वो मे यज्ञ' से कह रहे हैं। याग का साधन होने से 'हवि'

र्हेतोस्तत्सन्निधानाय गार्हपत्येधिश्रयणं कर्त्तव्यमित्यर्थः। प्रथमत एवाज्यास्याहवनीयेऽधिश्रयणे दोषमाह—नहीति। पुरोडाशाधिश्रयणकाल एव आहवनीये यद्याज्यमधिश्रयेत तदा गार्हपत्यसमीपेऽन्वासीनायाः पत्न्यास्तदन्वावेक्षणं न घटते भिन्नदेशत्वात्। यदि च पत्नीमवकाशयिष्यामि अवेक्षयिष्यामि इति तदर्थं सामि संस्कारमध्ये तत् प्रत्यक् पश्चात् पत्न्याः समीपमाहरेत् तदा संस्कारविघातः स्यात् तदपि न युज्यते। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया पत्नीं नावेक्षयेतेति। तस्याः पत्न्या यज्ञादन्तरायो भवति तस्माद् गार्हपत्ये हविःश्रपणपक्षे ह्याज्यमपि तत्रैवाधिश्रीयते इति समीपोपविष्टायाः पत्न्यास्तदवेक्षणं घटते इति न काप्यनुपपत्तिः। आहवनीयश्रपणपक्षे प्रथमत एवाज्यस्यापि तत्रैवाधिश्रयणे पूर्वोक्तदोषः प्रसज्यते। कथ तर्हि तस्मिन् पक्षे कार्यमिति चेत् उच्यते—प्रथमतो गार्हपत्येऽधिश्रित्य पत्न्यवेक्षणानन्तरमाहवनीयसमीपं नीत्वा तत्राधिश्रयेत। तथासत्युक्तदोषो न भविष्यति। तथाह यज्ञात्पत्नी नान्तरेति—तस्मादु सार्धमेव विलाप्य प्रागुदाहरत्यवकाश्य पत्नीमिति। यस्मादेवमाहवनीये प्रथमतोधिश्रयणे दोषस्तस्मात् पत्न्या सार्धं गार्हपत्ये प्रथमाज्यस्य विलापनम्। यस्य तु पत्न्या रजोदर्शनादिनिमित्तवशेनासन्निधानात् तदीयकर्माण्याज्यावेक्षणादीनि न क्रियन्ते तस्योक्तदोषाभावात् प्रथमत एवाहवनीय आज्याधिश्रयण कार्यम्।

२८—'तदाहुर्नान्तर्वेद्यामासादयेदतो वै देवानां पत्नीः संयाजयन्ति—अवसमा आह—देवानां पत्नीः करोति परः पु ७ं सो ह्यस्य पत्नी भवतीति। तदुहोवाच याज्ञवल्क्यो यथादिष्टं पत्न्या अस्तु कस्तदाद्रियेत यत्परः पु ७ं सा पत्नी स्यात्। यथा वा यज्ञो वेदिर्यज्ञ आज्यं यज्ञाद्यज्ञं निर्मिमा इति तस्मादन्तर्वेद्येवासादयेत्।' (श० १।३।१।२१)

को यहाँ पर 'यज्ञ' शब्द से कहा गया है। मेरा आज्य—पुरोडाशादि रूप सभी हवि, आहवनीय पर संस्कृत हो, इस अभिप्राय से यह कहा गया है। इस पक्ष में भी प्रथमतः गार्हपत्य पर अधिश्रयण करने का कारण 'अथ यदमुत्र' इत्यादि से बताते हैं। 'अमुत्र' गार्हपत्य पर, 'अग्रे' पशु पुरोडाश का अधिश्रयण करते समय 'पत्नीमवकाशयिष्यन्' पत्नी उसे देख सके इस निमित्त उसके सन्निधान के लिये गार्हपत्य पर उसका अधिश्रयण करना चाहिये। प्रथमतः ही आहवनीय पर आज्य का अधिश्रयण करने पर 'न हि' इत्यादि से दोष बताते हैं। पुरोडाशाधिश्रयण काल में ही आहवनीय पर यदि आज्याधिश्रयण करें तो दोनों का देश भिन्न रहने से गार्हपत्य के समीप बैठी हुई पत्नी उसे अच्छी तरह से देख नहीं सकेगी। और पत्नी को 'अवकाशयिष्यामि' अवेक्षण करा दूँगा (दिखा दूँगा) 'इति' इस इच्छा से 'सामि' संस्कार के मध्य में उसे 'प्रत्यक्' गार्हपत्य के पश्चात् भाग में बैठी हुई पत्नी के समीप यदि ले जाय तो संस्कार का विघात हो जायगा, तो वह (संस्कार का विघात होना) भी उचित नहीं है। यदि संस्कार विघात रूप दोष का परिहार करने की इच्छा से पत्नी को उसे न दिखाया जाय तो उस पत्नी का यज्ञ में कोई प्रयोजन ही नहीं रहेगा। तात्पर्य यह है कि गार्हपत्य पर हविश्रपण पक्ष में आज्य का गार्हपत्य पर ही अधिश्रयण होने से और उसी के समीप पत्नी के बैठे रहने से वह उसे अच्छी प्रकार से देख सकती है, देखने में उसे कोई बाधा नहीं रहती। किन्तु आहवनीय श्रपण पक्ष में प्रथमत एव आज्य का भी उस पर अधिश्रयण करने पर उक्त दोष की प्रसक्ति होगी। अतः इस पक्ष में कैसे करना होगा? ऐसी जिज्ञासा होने पर बताया गया है कि प्रथमतः गार्हपत्य पर अधिश्रयण करके पत्नी के द्वारा अवेक्षण किये जाने पर आहवनीय के समीप ले जाकर उस पर उसे अधिश्रित करे। ऐसा करने पर उक्त दोष नहीं होगा। निष्कर्ष यह है कि आहवनीय पर प्रथमतः अधिश्रयण करने पर दोष होता है। इस कारण पत्नी के साथ प्रथमतः गार्हपत्य पर आज्य का विलापन किया जाता है किन्तु रजोदर्शनादि के कारण जिसकी पत्नी का सन्निधान नहीं रहता, उस समय पत्नी सम्बन्धित आज्यावेक्षणादि कर्म का अनुष्ठान नहीं किया जाता उस समय अनवेक्षण जनित दोष के न हो पाने से आहवनीय पर प्रथमतः ही आज्याधिश्रयण करने के लिये 'यस्योपत्नी' इत्यादि ब्राह्मण से बताया गया है।

२८—तदाहुर्नान्तर्वेद्यामासादयेदतो……………सादयेत।'—(श० १।३।१।२१)

२९—तस्याज्यस्यान्तर्वेद्यासादनं केषाञ्चिन्मतेन निषेधति तदाहुरिति। निषेधाभिप्रायमाह—अत: अस्मादेव खल्वाज्यात् देवपत्नीनां याग:, अतस्तत्सम्बद्धस्याज्यस्यान्तर्वेद्यासादने सति तदैव देवपत्नी: अवसमा अवगतजनसमूहा: करोति यष्टव्यदेवसङ्घस्य वेद्यामवस्थानात्। अह इति निपातो विनिग्रहे। अस्तु तथात्वं देवपत्नीनां किं तत इत्यत आह—देवपत्नीनां समाप्रापणात् अस्य यजमानस्य पत्न्यपि पर:पुंसा भवति। परस् इत्ययं सकारान्त: शब्द: परस्तादर्थे स्वपुरुषादन्यत्र राजवीथ्यादौ पुरुषसमूहं प्राप्ता: पर:पुंसा इत्युच्यते 'अचतुरविचतुरे' (पा० सू० ५।४।७७) त्यादि सूत्रे स्त्रीपुंसेति निपातितत्वात् पर:पुंसेत्युप् पदान्तरेऽपि समासान्तोऽच्प्रत्यय:। इत्येकीयमतसमाप्त्यर्थं याज्ञवल्क्यमतेनान्तर्वेद्यासादनमेव निगमयति श्रुति: तदिति। यथादिष्टं यथादेशनं यथाशास्त्र पत्न्या: सम्बन्धि कार्यमस्तु अत: पत्नीसंयाजार्थमन्तर्वेद्यासादनमिति न युक्तम् पत्न्यपि पर:पुंसा वा भवतु प्रयाता यथा तथा वा भवतु तथापि किं प्रयोजनम् अत: पर:पुंसेति दूषणं को वा आद्रियेतेत्यर्थ:। एवमुक्तदूषणं निरस्य वेद्यासादनपक्षमुपपादयति यज्ञो वेदि:। वेदिराज्यञ्चोभयमपि यज्ञसाधनत्वात् यज्ञ:। तथा च वेद्यासादने वेदिरूपाद्यज्ञादाज्यरूपं यज्ञं निर्मिमे निर्मितवान् भवतीत्यभिप्रायेण तत्रैवासादयेदित्यर्थ:। तस्मादन्तर्वेद्यै वासादयेत्।

३०—एवं श्रुतिसूत्रानुसारेण मन्त्रार्थ: स्पष्टो भवति। हे योक्त्ररज्जो त्वमदित्यैभूम्या रास्नासि रशना मेखला भवसि। यद्वा अदित्या इन्द्राण्या सन्नहनं वस्त्रस्योपरि सम्यग्बन्धनहेतुसौवर्णदामस्थानीयमसि। तमेतं मन्त्रं तित्तिरिरपि स्पष्टं व्याख्याति—अदित्यैरास्नासि इयं वा अदिति:। अस्मा एतद्रास्नां करोति इन्द्राण्यै सन्नहनमित्याह—'इन्द्राणी वा अग्रे देवताना ᳇ सन्नह्यत आर्ध्नोदितिश्रुते:। हे योक्त्र पाश त्वं विष्णोर्व्यापकस्य यज्ञस्य वेष्पो वेष्टनरूपोऽसि।

२९—कुछ लोगों के मत से अन्तर्वेदि में उस आज्य के आसादन (स्थापन) करने का निषेध किया गया है। निषेध करने का अभिप्राय यह है कि इसी आज्य से देव पत्नियों के लिये याग करना है, अत: तत्सम्बन्धित आज्य का अन्तर्वेदी में आसादन करने पर, उसी समय देव पत्नियों को जन समूह से अवगत कराया जाता है, क्योंकि यष्टव्य देव समूह वेदी में अवस्थित रहता है। विनिग्रह के अर्थ में 'अह' निपात है। यह सब करने से देव पत्नियों को क्या लाभ हुआ ? उसे बता रहे हैं—देव पत्नियों को प्राप्त कराने से इस यजमान की पत्नी भी पर: पुंसा होती है। 'परस्' शब्द सकारान्त 'परस्तात्' के अर्थ में है। राजवीथ्यादि मार्ग में स्वपुरुष के अतिरिक्त पुरुष समूह में प्राप्त होने वाली को 'पर: पुंसा' कहते हैं। 'अचतुरविचतुर' (पा० सू० ५।४।७७) सूत्र में 'स्त्री पुंस' ऐसा निपातन करने के कारण 'पर: पुंसा में उपपद का व्यवधान रहने पर भी समासान्त 'अच्' प्रत्यय किया गया है। इस प्रकार किसी एक के मत की समाप्ति का प्रदर्शन करने के लिये 'इति' शब्द कहा गया गया है। अब याज्ञवल्क्य के मत से भगवती श्रुति 'तदिति' से अन्तर्वेद्यासदन करने को ही बता रही है। शास्त्र के आदेशानुसार अर्थात् शास्त्र ने जैसा विधान किया हो तदनुसार ही पत्नी सम्बन्धित कार्य होना चाहिये। अत: पत्नी संयाजार्थ अन्तर्वेदी में आज्यासादन करना उचित नहीं है। यजमान पत्नी भी पर: पुंसा हो अथवा जो कुछ भी हो, तथापि उससे कौन सा प्रयोजन सिद्ध हो रहा है। अत: 'पर: पुंसा' इस दूषण का आदर कौन करेगा। इस प्रकार उक्त दूषण का निरसन करके वेद्यासादन पक्ष का 'यज्ञोवेदिरिति' से उपपादन करते हैं। वेदि और राज्य दोनों ही यज्ञ के साधन रहने से 'यज्ञ' रूप हैं। तथा च वेद्यासादन में वेदि स्वरूप यज्ञ से आज्य स्वरूप यज्ञ निर्मित होता है, इस अभिप्राय से वेदि में ही आज्यासादन करना चाहिये। एवञ्च अन्तर्वेदि में ही आज्यासादन करे।

३० —इस प्रकार श्रुति और सूत्र के अनुसार मन्त्र का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। हे योक्त्र अर्थात् हे रज्जो ! तुम भूमि की रशना (मेखला) हो, अथवा 'आदित्या:' इन्द्राणी के 'सन्नहनं' वस्त्र के ऊपर सम्यग्बन्धन की हेतुभूत सुवर्ण की रशना स्वरूप तुम हो। तित्तिरि ने भी इस मन्त्र की स्पष्ट व्याख्या की है— अदित्यै रास्नासि इयं वा अदिति:। 'इन्द्राण्यै सन्नहनम्' से उसके लिये इसकी रस्ना (रशना) करता है। क्योंकि 'इन्द्राणी वा अग्रे' इस श्रुति ने कहा है। हे योक्त्र पाश ! तुम 'विष्णो:' व्यापक यज्ञ के 'वेष्प:' वेष्टन रूप हो। 'विष्लृ व्याप्तौ', 'वेष्ट वेष्टने' इन दो

'विष्लृ व्याप्तौ' (वेष्ट वेष्टने) इत्यनयोरूपम् । हे आज्य विलापनाय पूर्वं वह्नावधिश्रितं त्वा त्वामिदानीमूर्जे अधिकपाकाभावे स्वादुतमरसलाभाय बह्निप्रदेशाद्बहिरुद्वासयामीति शेषः । हे आज्य अदब्धेन हिंसारहितेन चक्षुषा त्वा त्वामवपश्यामि । अवाचीनं यथास्यात्तथा अधोमुखी सती पश्यामि, आज्यमग्नौ यदा जुह्वति तदाग्नेर्जिह्वेव ज्वालोत्पद्यते अतस्तन्निमित्तत्वादग्नेर्जिह्वासि । किञ्च हे आज्य त्वं सुहूः देवेभ्योऽर्थाय सुष्ठु हूयसे इति सुहूः पुंस्त्वं छान्दसम् । यद्वा जिह्वाविशेषणम्—सुष्ठु हूयन्ते आहूयन्ते देवा अनया सा सुहूर्जिह्वा । अतो हे आज्य मे धाम्ने धाम्ने भव धामस्थाने तत्तद्यागफलोपभोगस्थानसिद्धयर्थं भव । यजुषे यजुषे तत्तद्यागसिद्धये योग्यं भव ।

३१—अध्यात्मपक्षेऽपि—हे परचितिरूपे त्रिपुरसुन्दरि त्वम् अदित्या इन्द्राण्या रास्नासि मेखलोपलक्षितसर्वालङ्कारभूतासि । हे श्रुतिसीमन्तसिन्दूरीकृतपादाब्जधूलिके विष्णोर्व्यापकस्य यज्ञस्य विष्णोर्वा वेष्पो वेष्पासि पुंस्त्वमार्षं वेष्टनरूपासि व्यापकरूपासि सर्वाधिष्ठानरूपत्वात् । हे देवि त्वां अदब्धेनानुपहिंसितेन (अनुपहतेन) अर्थात् सानुरागेण चक्षुषा ज्ञानचक्षुषा त्वदनुग्रहोपेतेन बाह्यचक्षुषा चावपश्यामि । अन्तर्मुखः सन् पश्यामि । त्वमग्नेरग्न्युपलक्षितानां सर्वदेवानां जिह्वासि जिह्वादिवत् सर्वरसादिग्राहयित्री असि, श्रोत्रस्य श्रोत्रम् चक्षुश्चक्षुरित्यादिश्रुतेः । त्वं च देवेभ्यो हिताय सुहूः सुष्ठुतया सर्वैर्हूयसे स्तूयसे इति सुहूः । यद्वा देवेभ्यः सुष्ठु हूयतेऽनयेति सुहूः स्वाहा असि । स्वाहाकारस्य देवतृप्तिहेतुत्वात् । हे चिद्रूपे सा त्वं धाम्ने धाम्ने प्रतिदिव्यस्थान यजुषे यजुषे प्रतियाग प्राप्यतया इज्यतया च त्वमेव भव ।

धातुओं से यह 'वेष्पः' रूप बना है । हे आज्य ! विलापन (पिघलाने) के लिये वह्नि पर अधिश्रित किये तुम्हें अब मैं 'ऊर्जे' अत्यधिक पाक के अभाव में अत्यन्त सुस्वादु रस प्राप्ति के लिये अग्नि पर से बाहर उसे निकालता हूँ । हे आज्य ! हिंसा रहित चक्षु से तुम्हें मैं देख रहा हूँ । और अधोमुख होकर मैं तुम्हें देखती हूँ । दो आज्य भागों का जब हवन करते हैं तब अग्नि की जिह्वा की तरह ज्वाला उत्पन्न होती है । उस कारण तुम अग्नि की जिह्वा रूप हो । किञ्च हे आज्य ! तुम सुहू स्वरूप हो । देवताओं के उद्देश्य से अच्छी तरह से तुम्हारा हवन किया जाता है इस कारण तुम्हें 'सुहू' कहा जाता है । यहाँ पुंस्त्व प्रयोग छान्दस है । अथवा उसे जिह्वा का विशेषण भी कह सकते हैं । अच्छी प्रकार से बुलाये जाते हैं देवता जिससे ऐसी सुहू अर्थात् जिह्वा अतः हे आज्य ! मेरे धाम स्थान में अर्थात् तत्तद् धाम फलोपभोग स्थान की प्राप्ति के लिये तुम कारण बनो । उसी प्रकार तत्तद् याग सिद्धि कराने के योग्य तुम बन जाओ ।

३१—अध्यात्म पक्ष में भी—हे परचितिरूपे त्रिपुर सुन्दरि ! तुम इन्द्राणी की रास्ना स्वरूप हो । अर्थात् मेखला के रूप में उसके सम्पूर्ण अलङ्कार स्वरूप हो । हे श्रुतिसीमन्त सिन्दूरी कृत पादाब्ज धूलिके । इस व्यापक यज्ञ के अथवा विष्णु के वेष्प हो यानी वेष्टन रूप हो, सर्वाधिष्ठान रूप होने से व्यापक रूप हो । यहाँ पुंस्त्व का प्रयोग आर्ष है । हे देवि ! मैं तुम्हें अनुपहत (अदब्ध) यानी सानुराग चक्षु से (ज्ञान चक्षु से) और तुम्हारे अनुगृहीत बाह्य चक्षु से भी देख रही हूँ । अन्तर्मुख होकर देख रहा हूँ । तुम अग्नि से उपलक्षित हुए समस्त देवताओं की जिह्वा के समान सम्पूर्ण रस आदि की ग्रहण करने वाली हो । क्योंकि श्रुति ने तुम्हें श्रोत्र की भी श्रोत्र और चक्षु की भी चक्षु बताया है । और तुम देवताओं के हित के लिये सुहू रूप हो । सभी लोगों के द्वारा सुष्ठुतया तुम स्तुत होती हो इस कारण तुम्हें 'सुहू' कहा गया है । अथवा देवताओं के लिये सुष्ठुतया इससे हवन किया जाता है इसलिये तुम सुहू यानी स्वाहा रूप हो । स्वाहाकार से देवताओं की तृप्ति हुआ करती है । हे चिद्रूपे ! प्रत्येक दिव्य स्थान में और प्रत्येक याग में प्राप्त होने योग्य और यजन के योग्य तुम ही हो जाओ ।

सवितुस्त्वा प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः।

सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण ÷ सूर्यस्य रश्मिभिः।

तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धामनामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि

॥ वा० सं० १।३१ ॥

अर्थ—हे आज्य ! प्रेरक सूर्य देवता की प्रेरणा से मैं छिद्र रहित पवित्र और सूर्य किरणों के द्वारा तुम्हें शुद्ध कर रहा हूँ। उसी तरह हे प्रोक्षणी जल ! यज्ञ निवास स्थान भूत सूर्य की किरणों से और छिद्र रहित पवित्र से मैं तुम्हें प्रेरक देवता की प्रेरणा के कारण शुद्ध कर रहा हूँ। हे आज्य ! तुम शरीर की कान्ति को देने वाले तेज हो और प्रकाशक हो और अविनश्वर हो। उसी तरह हे आज्य ! तुम समस्त देवताओं के स्थान हो, सबको झुकाने वाले हो और देवताओं के द्वारा तिरस्कार न करने के कारण तुम उनके प्रिय हो। और तुम देवताओं के याग के साधन हो, इसलिये मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ ,।३१।।

१—अध्वर्युः पवित्राभ्यामाज्यं प्रोक्षणीश्चोत्पुनाति सवितुर्व इति मन्त्राभ्याम्। 'सवितुस्त्वेत्याज्यमुत्पुनातीति' (का० श्रौ० सू० २।७।७) सवितुर्देवस्य प्रसवे आज्ञायां वर्तमानोहं त्वा त्वां उत्पुनामि शोधयामि। 'प्रोक्षणीश्च पूर्ववत्' (का० श्रौ० ०सू २।७।८) वः युष्मान् उत्पुनामि। आज्यमवेक्षते तेजोऽसीति।' (का० श्रौ० सू० २।७७) हे आज्य त्वं तेजोऽसि। शरीरकान्तिहेतुत्वादाज्यस्य तेजस्त्वम्। शुक्रमसि दीप्तिमदसि। स्निग्धरूपत्वात् दीप्तिमत्त्वं अमृतमसि विनाशरहितमसि बहुदिनावस्थानेऽपि ओदनादिवत् पर्युषितत्वादिदोषाभावादमृतत्वम् भक्षण-दान-हवनादिभिराज्यं तेजस्वित्वदीप्तिमत्वामृतत्वादीनि सम्पादयति।

२—'स्रुवेणाज्यग्रहणं चतुर्जुह्वां धाम नामेति सकृन्मन्त्रम्' (का० श्रौ० सू० २।७।११-१२) स्रुवेण जुह्वां चतुर्वारमाज्यं गृह्णीयात्। चतुरः स्रुवान् पूर्णान् गृह्णीयात्। अतएव मन्त्रः प्रथमस्रुवग्रहणे प्रयोज्यः। हे आज्य त्वं

१—'स्त्वा' और 'सवितुर्वः' इन दो मन्त्रों से अध्वर्यु दोनों हाथों में परस्पर असंसृष्ट पवित्र रखकर उनसे आज्य और प्रोक्षणी स्थित जल का उत्पवन करे। 'सवितुस्त्वेत्याज्यमुत्पुनाति'—(का० श्रौ० सू० २।७।७)—सविता देव की आज्ञा में रहने वाला मैं तुम्हारा शोधन करता हूँ। 'प्रोक्षणीश्च पूर्ववत्' मैं तुम्हारा उत्पवन करता हूँ।' 'आज्यमवेक्षते तेजोऽसीति'—(का० श्रौ० सू० ३।७।८) हे आज्य ! तुम तेजोरूप हो। शरीर की कान्ति का उत्पादक होने से आज्य को 'तेज' कहते हैं। तुम शुक्र स्वरूप हो, दीप्तिमान् हो। स्निग्ध रूप होने से उसमें दीप्तिमत्ता है। तुम अमृत रूप हो यानी विनाश रहित हो। बहुत दिनों तक रहने पर भी ओदन (भात) आदि की तरह उसमें पर्युषितत्वादि दोष न होने के कारण उसे अमृत कहा जाता है। भक्षण, दान, हवन आदि के द्वारा आज्य, तेजस्वित्व, दीप्तिमत्व अमृतत्व को सम्पन्न करता है।

२—स्रुवेणाज्यग्रहणं चतुर्जुह्वां धाम नामेति सकृन्मन्त्रम्' (का० श्रौ० सू० २।४।११-१२) स्रुव से जुहू में चार बार आज्य का ग्रहण करे। आज्य से पूर्ण हुई चार स्रुवाओं को ग्रहण करे। अतएव प्रथम स्रुव के ग्रहण में मन्त्र

धाम स्थानमसि। धीयते स्थाप्यते चित्तवृत्तिर्दैवैरत्रेति धाम। भोग्यत्वेन देवानामपि त्वद्विषयिणी बुद्धिर्धीयते त्वयि। तथा त्वं नामासि नामयति स्वात्मानं प्रति सर्वाणि भूतानीति नाम। आज्यदर्शनेन सर्वेऽप्यत्तुं नमन्ति। तथा देवानां प्रियमिष्टमसि त्वं तथा अनाधृष्टमनभिभूतं गतरसत्वादिना पुरोडाशादिवदतिरस्कृतम्, चिरस्थित्या चरुपुरोडाशादिकं यथा गतसारं भवति न तथाज्यमित्यर्थः। यद्वा अनाधृष्टं अधर्षितम् अप्रतिहतं रक्षोभिः। देवयजनमसि देवा इज्यन्तेऽनेनेति देवयजनमर्थात् देवयजनसाधनमसि त्वमित्यतस्त्वां गृह्णाम्युत्पुनामि च।

३—स्वामिदयानन्दस्तु—'यतोऽयं यज्ञस्तेजोऽस्यस्ति शुक्रमस्यस्ति धामास्यस्ति देवानां प्रियमनाधृष्टं देवयजनमसि तेनानेन यज्ञेनाहं सवितुः प्रसवे अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिर्वा युष्मानेतान् सर्वान् पदार्थांश्चोत्पुनामि।

४—अथवा यो यज्ञः अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः सह सर्वान् त्वा तं यज्ञं यजमानं वाहमुत्पुनामि। एवञ्च सवितुः प्रसवेऽच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिर्वा युष्मानेतांश्च पदार्थान् यज्ञेनोत्पुनामि। हे ब्रह्मन् यतस्त्वं तेजोऽस्यमृतमसि धामासि नामासि देवानां प्रियतममस्यनाधृष्टमसि तस्मात्त्वामहमाश्रयामि।

५—ईश्वरो यज्ञविद्याफलं ज्ञापयति—युष्माभिर्यदनुष्ठितो यज्ञः सूर्यस्य रश्मिभिर्विहरति स्वकीयेन पवित्रेणाच्छिद्रेण गुणेन सर्वान् पदार्थान् पवित्रयति स च तद्द्वारा सूर्यस्य रश्मिभिः तेजस्विनः शुद्धान् अमृतरसहेतुकान् प्रसन्नताजनकान् दृढान् यज्ञहेतून् पदार्थान् करोति यतस्तद्भोजनाच्छादनद्वारा वयं शरीरपुष्टिबलादीन् शुद्धगुणांश्च सम्पाद्य नित्यं सुखयाम इति।

का प्रयोग करना चाहिये। हे आज्य ! तुम धाम अर्थात् स्थान रूप हो। 'धीयते' स्थापन की जाती है चित्तवृत्ति, देवताओं के द्वारा जहाँ पर उसे 'धाम' कहते हैं। देवता भी तुम्हें योग्य समझ कर तुममें बुद्धि रखते हैं। उसी प्रकार तुम अपनी ओर सबको नवाते हो, इसलिये तुम्हें 'नाम' कहा जाता है। क्योंकि आज्य (घृत) को देखकर सभी लोग उसके भक्षणार्थ अपने को नँवाते हैं। तथा देवताओं के लिये तुम प्रिय (इष्ट) हो, तथा अनभिभूत (अनाधृष्ट) हो, अर्थात नष्ट रस हुए पुरोडाश की तरह तिरस्कृत नहीं हो। तात्पर्य यह है कि दीर्घ काल तक रहने से चरु, पुरोडाश आदि जैसे सारहीन हो जाते हैं, वैसे आज्य नहीं होता है। अथवा राक्षसों के द्वारा अप्रतिहत अर्थात् अधर्षित (अनाधृष्ट) हो। तथा तुम देवयजन हो, 'देवताएँ पूजी जाती हैं जिससे उसे देवयजन कहते हैं', अर्थात् देवयजनके साधन रूप हो, इसलिये मैं तुम्हारा ग्रहण और उत्पवन करता हूँ।

३—किन्तु स्वामी दयानन्द उक्त मन्त्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—'क्योंकि यह यज्ञ, तेजोरूप है, शुक्र रूप है, धाम रूप है, देवताओं को प्रिय है, अनाधृष्ट है, देवयजन रूप है, इसलिये इस यज्ञ से मैं सविता के प्रसव में अच्छिद्र पवित्र से अथवा सूर्य की रश्मियों से इन सब पदार्थों का उत्पवन करता हूँ।

४—अथवा जो यज्ञ, सूर्य की अच्छिद्र पवित्र रश्मियों के साथ तुम सबको, उस यज्ञ को या यजमान को मैं शुद्ध करता हूँ। एवञ्च सविता के प्रसव में सूर्य की अच्छिद्र, पवित्र रश्मियों से तुम्हें और इन समस्त पदार्थों को यज्ञ के द्वारा शुद्ध करता हूँ। हे ब्रह्मन् ! क्योंकि तुम तेजो रूप हो, अमृत, धाम, नाम स्वरूप हो, देवताओं के प्रियतम हो, तथा अनाधृष्ट हो, इसलिये मैं तुम्हारा आश्रय लेता हूँ।

५—ईश्वर यज्ञ विद्या के फल को बता रहा है—तुम लोगों के द्वारा अनुष्ठित हुआ यज्ञ, सूर्य की रश्मियों के साथ विहरण करता है और अपने पवित्र अच्छिद्र गुण से समस्त पदार्थों को पवित्र करता है और उसके द्वारा वह सूर्य की रश्मियों की सहायता से तेजस्वी, शुद्ध, अमृत रस की हेतुभूत, प्रसन्नता देने वाले, सुदृढ़, यज्ञ के साधनभूत पदार्थों को करता है। क्योंकि उसके भोजन, आच्छादन द्वारा हम लोग शारीरिक पुष्टि, बल आदि शुद्ध गुणों का सम्पादन कर नित्य सुख प्राप्त करते हैं।

६—ईश्वरेणास्मिन्नध्याये मनुष्यान् शुद्धकर्मानुष्ठातुं दोषांश्च निवारयितुं यज्ञक्रियाफलं ज्ञातुं सम्यक् पुरुषार्थं कर्तुं विद्या विस्तारयितुं धर्मेण प्रजाः पालयितुं धर्मानुष्ठाने निर्भयतया स्थातुं सर्वैः सह मित्रतामाचरितुं वेदाध्ययनाध्यापनाभ्यां सर्वविद्याग्रहीतुं ग्राहयितुं च शुद्धये परोपकाराय प्रयतितुमाज्ञा दत्तास्ति। सेयं सर्वैर्मनुष्यैर्यथावदनुष्ठातव्येति' इत्याह।

७—तदेतत्सर्वं विसङ्गतमेव निष्प्रमाणत्वात्, व्यत्ययादिमूलकत्वाच्च।

८—किञ्च तद्रीत्या यज्ञः शुक्रादिकमस्ति। तेन च परमेश्वरः सर्वानुत्पुनात्येव, तदा सर्वे शुद्धाः सुखिन एव भवेयुः। न च तथा दृश्यते, न वा तत्सम्भवति तथात्वे जीवपुरुषार्थवैयर्थ्यापत्तिः।

९—यो यज्ञः अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः सह सर्वान् पदार्थान् पुनाति तं यज्ञं यजमानं वाहमुत्पुनानीत्यत्र कः कर्ता? न जीवो यजमानः, तस्य कर्मत्वेन निर्देशात्। नापीश्वरः पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात्। हे ब्रह्मन्निति सम्बोधनमपि निर्मूलं मन्त्रे तादृशापदाभावात्। मन्त्रसम्बन्धितश्रुतिसूत्राद्यबोधितत्वाच्च। वस्तुतस्तु त्वदीयो यज्ञोऽप्याकाशकुसुमायित एव श्रुतिसूत्रादिसम्मत याज्यापुरोऽनुवाक्यावद् वषट्कारप्रधानस्य विहितदेवतोद्देश्यकद्रव्यत्यागलक्षणस्य यागस्य त्वयानवगमात्तदनभ्युपगमाच्च भौमिकेन बह्निना सूर्यस्य रश्मिभिश्चानभीष्टा अभीष्टा नानापदार्थरसा उह्यन्त एव दोषदौर्गन्ध्यादिनाशकाश्चानेके आधुनिकाः पदार्थाः सन्ति यैर्होममन्तरापि पदार्थरसादयः शुद्धचन्त्येव पावित्र्यमपि किमिति युष्माभिर्न निर्णेतुं शक्यते। न च स्वच्छतैव पवित्रता म्लेच्छाद्युच्छिष्टसीसकीयचीनीयपात्रादिषु व्यभिचारात्। गोमूत्रादिष्वव्याप्तेश्च। 'योऽयं वातः पवते' 'आपः पुनन्तु' इत्यादिभिर्वचनैः प्रत्यक्षानुमानैश्च वायुजलाग्न्यादीनां स्वतः शोधकत्वमाधुनिकैः शास्त्रप्रामाण्या-

---

६—ईश्वर ने इस अध्याय में मनुष्यों को शुद्ध कर्मों का अनुष्ठान करने की दोषों का निवारण करने की, यज्ञ क्रिया के फल को जानने की, सम्यक् पुरुषार्थ करने की, विद्या विस्तार करने की, धर्म से प्रजा पालन करने की, धर्मानुष्ठान में निर्भय होकर स्थित रहने की, सबके साथ मित्रता का व्यवहार करने की, वेद के अध्ययनाध्यापन के द्वारा समस्त विद्याओं को ग्रहण करने और कराने की, शुद्धि और परोपकारार्थ प्रयत्न करने की आज्ञा दी है। उसकी इस आज्ञा का पालन सभी मनुष्यों को यथावत् करना चाहिये।

७—दयानन्दोक्त यह सम्पूर्ण मन्त्रार्थ, प्रमाण रहित होने से विसङ्गत ही है, इस प्रकार अर्थ करने में व्यत्ययादि का आश्रय भी उन्हें करना पड़ा है।

८—किञ्च—तुम्हारे कथनानुसार यज्ञ शुक्रादि रूप होने से परमेश्वर ने सबको शुद्ध कर ही दिया है, तब सभी को शुद्ध और सुखी हो जाना चाहिये था, किन्तु संसार में वैसा दिखाई नहीं देता, और न सभी का सुखी होना सम्भव ही है। अन्यथा जीव का पुरुषार्थ करना ही व्यर्थ होगा।

९—दयानन्द जी ने जो अर्थ (यो यज्ञः अच्छिद्रेण पवित्रेण ....यजमानं वाऽहमुत्पुनामि) किया है, उसमें कर्ता कौन है? जीव या यजमान को कर्ता नहीं कह सकते, क्योंकि उसका तो कर्म के रूप में निर्देश किया है। ईश्वर को भी कर्ता नहीं कह सकते, अन्यथा पूर्वोक्त दोषापत्ति होगी। 'हे ब्रह्मन्!' यह सम्बोधन भी निर्मूल है, क्योंकि मन्त्र में वैसा कोई पद नहीं है। और मन्त्र सम्बन्धित किसी श्रुति या सूत्र आदि के द्वारा वैसा बोधित भी नहीं हुआ है। वस्तुतस्तु तुम्हारा यज्ञ भी आकाश पुष्प की तरह ही है। क्योंकि याग तो वही होता है, जिसमें श्रुति-सूत्रादि सम्मत याज्यापुरोऽनुवाक्या होती है, वषट्कार की प्रधानता रहती है, और विधि विहित देवता के उद्देश्य से विधि विहित द्रव्य का त्याग किया जाता है। इस प्रकार का त्याग ही याग का स्वरूप है। इस प्रकार के उक्त लक्षण वाले याग को तो तुम मानते नहीं हो, और न तुम्हें उसका ज्ञान ही है। तुम तो पार्थिव वह्नि और सूर्य की रश्मियों से

नुपगन्तृभिरपि अभ्युपगमात् युक्तिभिस्तत्सिद्धेः शास्त्रप्रामाण्याभ्युपगमेऽपि श्रुतिसूत्रादिभिः सनातनिसम्मत एवार्थोभ्युपगन्तव्यःस्यात्।

१० एतेन प्रथमाध्याये ईश्वरेण शुद्धं कर्माद्यनुष्ठातुमाज्ञा दत्तेत्याद्यपि निर्मूलं तत्र तत्र मन्त्राणां तथार्थस्य खण्डितत्वात् शतपथश्रुतिविरोधाच्च। तथाहि—

११—'प्रोक्षणीषु पवित्रे भवतः। ते तत आदत्ते। ताभ्यामाज्यमुत्पुनात्येको वा उत्पवनस्य बन्धुर्मेध्यमेवैतत्करोति।' (श० १।३।१।२२)

१२—तस्याज्यस्योत्पवनं विधत्ते—प्रोक्षणीष्विति। प्रोक्षण्युत्पवनं याभ्यां पवित्राभ्यां कृतं ते तत आदाय ताभ्यामेवाज्यस्योत्पवनं कार्यमित्यर्थः। उत्पवनविधिस्तावकं वृत्रो ह वा इदं सर्वमित्यादिकं प्रागाम्नातं ब्राह्मणमाज्योत्पवनस्यापि समानमित्यत आह एको वा उत्पवनस्य बन्धुः।

१३—पर्यवसितमर्थमाह मेध्यमेवैतत्करोति। स उत्पुनाति—सवितुस्त्वां प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिरिति सोऽसावेव बन्धुः। (श० १।३।१।२३)

१४—विहितमुत्पवनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—स उत्पुनातीति। आज्यस्य एकत्वात् त्वा इत्येकवचनान्ततैव प्रोक्षण्युत्पवनमन्त्रतोऽस्य विशेषः। अतस्तन्मन्त्रव्याख्यानरूप सविता वै देवानां प्रसविता इत्यादिकं ब्राह्मणमत्रातिदिशति सोऽसावेव बन्धुरिति।

अनभीष्ट तथा अभीष्ट अनेक पदार्थ रसों की कल्पना करते हो, उसी प्रकार दोष, दुर्गन्ध आदि के नाशक आधुनिक अनेक पदार्थ हैं, जिनसे बिना होम किये भी पदार्थ रस आदि शुद्ध हो ही जाते हैं। पवित्रता का भी निर्णय तुम नहीं कर सकते। केवल स्वच्छता ही पवित्रता नहीं है, म्लेच्छादि लोगों के उच्छिष्ट शीशे के या चीनी के पात्र भी स्वच्छ रहते है किन्तु वे पवित्र नहीं रहते। गोमूत्र आदि स्वच्छ न रहने पर भी पवित्र रहते हैं। 'योऽयं वातः पवते', 'आपः पुनन्तु' इत्यादि वचनों से और प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणों से वायु, जल, अग्नि आदि पदार्थों में स्वतः शोधकता को शास्त्र प्रामाण्य का स्वीकार न करने वाले आधुनिकों ने भी स्वीकार किया है। शास्त्र प्रामाण्य के स्वीकार करने पर भी युक्ति से भी उनकी शोधकता सिद्ध होती है। अतः श्रुति सूत्रादि से प्रमाणित सनातनिसम्मत अर्थ ही स्वीकार करने योग्य होगा।

१०—अतः 'प्रथमाध्याय में ईश्वर ने शुद्ध कर्मादि के अनुष्ठान करने की आज्ञा दी है' इत्यादि कथन निर्मूल है, क्योंकि मन्त्रों के तथाविध अर्थ का खण्डन हो जाता है और शतपथ श्रुति से तथाविध अर्थ का विरोध भी है।

११—'प्रोक्षणीषु पवित्रे भवतः……………तत्करोति।'—(श० १।३।१।२२)

१२—इस शतपथ ब्राह्मण के द्वारा आज्य के उत्पवन का विधान किया गया है। जिन पवित्रों से प्रोक्षणी का उत्पवन किया है, उन पवित्रों को उससे लेकर उन्हीं से आज्य का उत्पवन करना चाहिये। उत्पवन विधि का स्तावक ब्राह्मण 'वृत्रो ह वा इदं सर्वं' इत्यादि, जो पहले पढ़ा गया है, वही आज्योत्पवन में भी समझना चाहिये। इसीलिये 'एको वा उत्पवनस्य बन्धुः' कहा गया है।

१३—सम्पूर्ण निष्पन्न अर्थ को 'मेध्यमेवैतत्करोति' से बताया गया है।

१४—'स उत्पुनाति…………सोऽसावेव बन्धुः'—(श० १।३।१।२३) विहित उत्पवन का अनुवाद करके 'स उत्पुनाति' से मन्त्र का विधान किया जा रहा है। 'आज्य के एक होने से 'त्वा' को एकवचन में ही रखा गया है।

१५—तद्यदाज्यलिप्ताभ्यां पवित्राभ्यां प्रोक्षणीरुत्पुनाति तदप्सु पयोदधाति । तदिदमप्सु पयो दधाति तदिदमप्सुपयोहितमिद ँ हि यदा वर्षत्यथौषधयो जायन्त ओषधीर्जग्ध्वा अपः पीत्वा ततएषरसः सम्भवति तस्माद् रसस्यैव सर्वत्वाय । (श० १।३ १।२५)

१६ – आज्यलेपसहिताभ्यां पवित्राभ्यां प्रोक्षण्युत्पवनमुपपादयति तत् तत्र यत् इदमाज्यलिप्ताभ्यां पवित्राभ्यामुत्पवनं तेन पय एवाप्सुदधाति स्थापयति संयोजयति आज्यस्य पयः कार्यत्वात् । अप्सु हि परम्परया तत्कार्यत्वात् पयः प्रतिष्ठितम्, एतदेवोपपादयति—यदा वर्षति अथानन्तरमोषधयो जायन्ते । ओषधीर्जग्ध्वापः पीत्वा ततएषपयोरूपो रसो जायते । यस्मादेवं गव्यं पयः परम्परयोदकपरिणामरसरूपं तस्मात्कारणात् तत्कार्यस्याज्यस्यापाञ्च यदुत्पवने संसर्जनं तद्रसस्यैव सर्वत्वाय कात्स्न्र्याय भवति ।

१७—'अथाज्यमवेक्षते तद्धैके यजमानमवख्यापयन्ति' (श० १।३ १।२६)

१८—इहाध्वर्योराज्यावेक्षणं विधत्ते—केचिच्छाखिनस्तु यजमानमेवावख्यापयन्ति अवेक्षयन्ति, तच्च याज्ञवल्क्यरीत्या निरस्यति यतो यजमानाः स्वयमेवाध्वर्यवो न भवन्ति न वा स्वयमेव होतारो भूत्वा याज्यानुवाक्यादीनि अनुब्रुवन्ति यत्राध्वर्यवादौ तत्करणमन्त्रैर्बहुतरा इवाशिषः फलप्रार्थनाः क्रियन्ते तादृक्फलप्रतिपादकमन्त्रविशिष्टमाध्वर्यवादिकञ्च स्वयमेव कथं न कुर्वन्ति आज्यावेक्षणमेव कुतो यजमानेनैव कर्त्तव्यमित्याग्रहः? वस्तुतस्तु दक्षिणापरिक्रीतत्वात् ऋत्विग्भिर्यत्फलमाशास्यते तद् यजमानस्यैव भवति तेन न पृथगाशासनं कार्यम् अतोऽध्वर्युरेवावेक्षेतेति। प्रकृते शाखान्तरनिन्दनं स्वशाखीयकर्मप्रशंसार्थमेव नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते किन्तु विधेयं स्तोतुमिति सिद्धान्तात् ।

प्रोक्षण्युत्पवन मन्त्र से इस मन्त्र में कुछ विशेषता है । अतः उस मन्त्र के व्याख्यान रूप 'सविता वै देवानां प्रसविता' इत्यादि ब्राह्मण का यहाँ पर 'सोऽसावेव बन्धुः' कहकर अतिदेश किया गया है।

१५—'तद्यदाज्यलिप्ताभ्यां पवित्राभ्यां ....चैव सर्वत्वाय'(श० १।३।१।२५) ।

१६—आज्य लेप सहित दो पवित्रों से प्रोक्षणी के उत्पवन का उपपादन करते हैं—आज्य लिप्त पवित्रों से जो उत्पवन किया जा रहा है, उससे यह प्रतीत होता है कि पय को ही जल में स्थापित किया जा रहा है । क्योंकि 'आज्य' पयस् का ही कार्य है । यह पयस् परम्परया जल का ही कार्य है, अतः वह जल में प्रतिष्ठित रहता है । जब वर्षा होती है, तब उससे ओषधियाँ पैदा होती हैं ; ओषधियों को खाकर जल पीकर उससे यह पयोरूप रस उत्पन्न होता है । जबकि इस प्रकार से गाय का पय (दूध) परम्परया उदक (जल) परिणाम भूत रस रूप है, उस कारण कार्य भूत आज्य का और जल का उत्पवन करने में जो संसर्जन (सम्बन्ध) है, वह उसके रस को सम्पूर्णता के लिये ही है ।

१७—'अथाज्यमवेक्षते....... ......ख्यापयन्ति' (श० १।३।१।२६) ।

१८—इस ब्राह्मण से अध्वर्यु के आज्यावेक्षण का विधान किया गया है । कुछ अन्य शाखा वाले विद्वान् यजमान का ही अवेक्षण करते है। किन्तु याज्ञवल्क्य ने उसका निरसन किया है। क्योंकि जो यजमान रहते हैं वे स्वयं अध्वर्यु नहीं होते और न ही स्वयं होता बनकर याज्या अनुवाक्या आदि कहते हैं । जिस आध्वर्यव आदि कर्म में करण मन्त्रों के द्वारा अनेक फल प्रार्थना की जाती है, उस फल प्रतिपादक मन्त्र विशिष्ट आध्वर्यवादि कर्म को स्वयं ही क्यों नहीं करते ? आज्यावेक्षण के सम्बन्ध में ही यह आग्रह क्यों है कि उसे यजमान ही करे। वस्तुतस्तु दक्षिणा के द्वारा परिक्रीत होने से ऋत्विजों द्वारा जो फल माँगा जाता है, वह यजमान के लिये ही होता है, इसलिये अध्वर्यु को अपने लिये पृथक् फल माँगने की आवश्यकता नहीं होती । अतः अध्वर्यु ही अवेक्षण करे । 'न हि निन्दा निन्द्यं' इस सिद्धान्त के अनुसार शाखान्तर की निन्दा, उसकी निन्दा के लिये न होकर स्व शाखीय कर्म की प्रशंसार्थ ही है ।

१९—सोऽवेक्षते ।' (श० १।३।१।२७)

२०—इति तदवेक्षणमनूद्य प्रशंसति—अवेक्षणस्य कारणं चक्षुः, तच्च यथाभूतमेव वस्तु विषयीकरोतीति तत्सत्यम् । यद् विवदमानयोर्द्वयोर्मध्ये यश्चक्षुषा दृष्टवानस्मीति वदति तद्वचनमेव श्रद्धार्हं भवति न तु श्रुतवानस्मीति वक्तुर्वचनम् तथा श्रद्धेयं तस्मात् सत्यं वै चक्षुः ।

२१—सोऽवेक्षते । तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसीति स एव मन्त्रस्तेजो ह्येतच्छुक्र ँ ह्येतदमृत ँ ह्येतत्सत्येनैव तत्समर्धयति ।' (श० १।३।१।२८)

२२—विहितमवेक्षणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—तेजोऽसि शुक्रमसीत्यादिमन्त्रेणाध्वर्युराज्यमवेक्षेतेत्यर्थः । योऽय तेजोऽसीतिमन्त्रः स एष सत्यः यथार्थ एव विद्यमानार्थप्रकाशकत्वात् न गौणार्थ इत्यर्थः,कुत इत्यत आह—हि यस्मात् एतदाज्यं तेजः तद्धेतुत्वात् तथा शुक्रं निर्मलम् अमृतम् यागादिद्वारा अमरणसाधनत्वात् अमृतवत्पुष्टिकारकत्वाच्च । एवमाज्यस्यैवं रूपत्वात् विद्यमानार्थप्रकाशकत्वात् मन्त्रः सत्य इति युक्तमेव । तथाचाध्वर्युरुक्तमन्त्रेण सत्यात्मकेन चक्षुषाज्यमवेक्षमाणः सत्येनैव तदाज्यं तत्साध्यं कर्म च समृद्धियुक्तमेव करोति ।

२३—'पुरुषो वै यज्ञः' (श० १।३।२।१)

२४—अत्र जुहूपभृद्ध्रुवासु एतस्याज्यस्य स्रुवेण ग्रहणं विधित्सुः तत्समुदायस्य पुरुषावयवकल्पनया स्तुत्यर्थं तत्साध्यस्य यज्ञस्य पुरुषतादात्म्यमुक्तम् । पुरुषप्रयत्ननिर्वर्त्यत्वात् यज्ञस्य पुरुषत्वम् अतएव यज्ञस्तायमानो विस्तार्यमाणो यदवयवपरिमाणविशिष्टः पुरुषः तादृगवयवपरिमाणविशिष्ट एव विधीयते ।

१९—'सोऽवेक्षते'—(श० १।३।१।२७)

२०—उस अवेक्षण का अनुवाद कर प्रशंसा करते हैं—अवेक्षण का कारण चक्षु होता है, वह यथाभूत वस्तु को अपना विषय बनाता है, इसलिये उसे सत्य कहा जाता है । विवाद करते हुए दो व्यक्तियों में से जो यह कहता है कि मैंने चक्षु से देखा है, उसी का वचन श्रद्धेय समझा जाता है । मैंने सुना है, यह कहने वाले का वचन वैसा श्रद्धेय नहीं माना जाता है, इसलिये चक्षु ही सत्य है ।

२१—'सोऽवेक्षते । तेजोऽसि ....समर्धयति ।'(श० १।३।१।२८)

२२—विहित अवेक्षण का अनुवाद करके मन्त्र का विधान किया गया है । 'तेजोऽसि शुक्रमसि' इत्यादि मन्त्र से अध्वर्यु आज्य का अवेक्षण करे । जो यह 'तेजोऽसि' मन्त्र है, वह सत्य है, अर्थात् विद्यमान अर्थ का प्रकाशक (प्रतिपादक) होने से यथार्थ है । वह गौणार्थ प्रतिपादक नहीं है । क्योंकि वह तेज का उत्पादक होने से स्वयं तेज ही है । उसी तरह वह निर्मल (शुक्र) है और याग आदि के द्वारा अमरण का साधन होने से तथा अमृत के समान पुष्टिकारक होने से वह अमृत है । आज्य का स्वरूप उपर्युक्त प्रकार का होने से यानी विद्यमान अर्थ का प्रकाशक होने से मन्त्र को सत्य कहना उचित ही है । तथा च अध्वर्यु उक्त मन्त्र से सत्यात्मक चक्षु के द्वारा आज्य का अवेक्षण करता हुआ सत्य के द्वारा ही उस आज्य को और तत्साध्य कर्म को समृद्धि से युक्त करता है ।

२३—'पुरुषो वै यज्ञः'—(श० १।३।२।१)

२४—यहाँ पर जुहू[1], उपभृत् और ध्रुवा में स्रुव के द्वारा आज्य के ग्रहण करने का विधान करने की इच्छा

---

१. ये सब यज्ञ के काष्ठमय पात्र हैं । 'खादिरः स्रुवो भवति, पर्णमयी जहूर्भवति, आश्वत्थी उपभृत्, वैकङ्कती ध्रुवा भवति, एतद्वै स्रुचां रूपम्'—(तै० सं० ३।५।७)

२५—'तस्येयमेव जुहूः। इयमुपभृदात्मैव ध्रुवा। तद्वा आत्मन एवेमानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्ति। तस्माद् ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति।' (श० १।३।२।२) तादृगवयवक्लृप्तिमभिनयेन दर्शयति—या जुहूः सा इयम्। अयं दक्षिणो बाहुः छान्दसस्त्रीत्वं तथा या उपभृत् सा इयं वाम बाहुः ध्रुवा आत्मा मध्यदेहः जुहूर्दक्षिणो हस्तः उपभृत् सव्यः आत्माध्रुवः' (तै० ब्रा० ३।३।१) इति श्रुतेः। ध्रुवाया आत्मत्वमुपपादयति आत्मनो मध्ये देहादेवेमानि हस्तपादादीन्यङ्गानि सर्वाणि प्रभवन्ति। ध्रुवायाश्च कृत्स्नो यज्ञः प्रभवति ध्रुवास्थस्याज्यस्य सर्वयागसाधारण्यात्। तत्र प्रमाणञ्च ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवतीति श्रुतिरेव।

२६—प्राण एव स्रुवः। सोऽयं प्राणः सर्वाण्यङ्गान्यनुसञ्चरति, तस्मादुस्रुवः सर्वा अनुस्रुचः सञ्चरति।' (श० १।३।२।३) जुह्वादि सर्वासु स्रुक्षु स्रुवस्य सञ्चरणमुपपादयितुं तस्य प्राणरूपतामाह सोऽयमिति। देहमध्येऽवस्थितः प्राणो यस्मात् सर्वाण्यङ्गानि नाडीभिः क्रमेण व्याप्नोति तथैव स्रुवोऽपि तदात्मकः। जुह्वाद्याः सर्वाः स्रुचः अनुलक्ष्यक्रमेण सञ्चरति।

२७—तस्यासावेव द्यौर्जुहूः। अथेदमन्तरिक्षमुपभृदियमेव ध्रुवा। अस्या एवेमे सर्वे लोकाः प्रभवन्ति। तस्माद् ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति।' (श० १।३।२।४)

२८—पुरुषावयवादिकल्पनया जुह्वादिसमुदायं प्रशस्य लोकतादात्म्यप्रतिपादनेनापि तत्प्रशंसति—तस्य यज्ञस्यासौ द्यौर्जुहूः इदमन्तरिक्षमुपभृत् इयमेव भूमिध्रुवा जुह्वादयो लोकत्रयात्मका यथा अस्या भूमेः सकाशात् सर्वे लोकाः प्रभवन्ति पृथिवीस्थमनुष्यकर्मसाध्यत्वात् ध्रुवायास्तदात्मिकायाः सर्वो यज्ञः प्रभवति।

से पुरुषावयब की कल्पना करके यज्ञिय पात्र समूह की स्तुति के लिये तत्साध्य यज्ञ में पुरुष का तादात्म्य बताया है। पुरुष प्रयत्न से सम्पन्न होने के कारण यज्ञ को भी पुरुष कहा गया है। अतएव विस्तीर्ण किये जाने वाले यज्ञ का परिमाण पुरुष के अवयव परिमाण के जैसा ही करने का विधान किया गया है।

२५—'तस्येयमेव जुहूः। इयमुपभृदात्मैव ध्रुवा.......... ... यज्ञः प्रभवति।'—(श० १।३ २।२) निर्णीत की हुई पुरुषावयव की कल्पना को अभिनय के द्वारा प्रदर्शित कर रहे हैं—जो 'जुहू' है, वह यह दक्षिण बाहु है, मूल ब्राह्मण वाक्य में 'इयम्' यह स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त किया है, उसे छान्दस समझना चाहिये। तथा जो 'उपभृत्' है, वह यह वाम बाहु है, 'ध्रुवा' यह आत्मा अर्थात् मध्य देह है। इसी बात को तैत्तिरीय श्रुति ने स्पष्ट बताया है—'जुहूर्दक्षिणो हस्तः, उपभृत् सव्यः, आत्मा ध्रुवेति'—(तै० ब्रा० ३ ३।१)। 'ध्रुवा' को आत्मा कहने का उपपादन इस प्रकार है—मध्य देह रूप आत्मा से ही ये चारों ओर विद्यमान हस्त-पादादि समस्त अङ्ग उत्पन्न होते हैं। लोकसृष्टि के समान ही यज्ञ सृष्टि में भी ध्रुवा को आत्मा यानी मध्य देह बताकर उसी से सम्पूर्ण यज्ञ की उत्पत्ति बताई गई है। इस कथन से यह निष्पन्न हुआ कि ध्रुव पात्र में स्थित आज्य, सर्वसाधारण होता है।

२६—'प्राण एव स्रुवः। सोऽयं प्राणः...............सञ्चरति।'—(श० १।३।२।३)।जुहू आदि समस्त स्रुचाओं में स्रुव के सञ्चरण का उपपादन करने के लिये उसकी प्राण रूपता बता रहे हैं—शरीर में अवस्थित प्राण जबकि सभी अङ्गों को नाडियों के माध्यम से क्रमशः व्याप्त करता है, तथैव स्रुव भी तदात्मक यानी प्राण रूप है। अतः वह भी जुहू आदि सभी स्रुचाओं में क्रम से सञ्चार करता है।

२७—'तस्यासावेवे द्यौर्जुहूः। अथेदमन्तरिक्ष..............प्रभवति'—(श० १।३।२।४)

२८—इस प्रकार पुरुषावयवादि की कल्पना करके (आध्यात्मिक दृष्टि से छां० उ० १।२) जुह्वादि समूह की प्रशंसा करके, अब लोकतादात्म्य बताकर भी उसकी प्रशंसा कर रहे हैं। दूर देश में अवस्थित द्यौ ही यज्ञ की जुहू है। यह अन्तरिक्ष ही उपभृत् है, यह भूमि ही ध्रुवा है। तात्पर्य यह है कि जुहू आदि यज्ञिय पात्र लोक त्रय रूप है। जिस

२९—'अयमेव स्रुवो योऽयं पवते। सोऽयमिमांल्लोकाननु पवते तस्मात् स्रुवः सर्वा अनुस्रुचः सञ्चरति (श० १।३।२।५) अनेनापि वायुवत्स्रुवस्य तदात्मकस्य लोकत्रयात्मिकासु स्रुक्षु युक्तमित्यर्थः।

३०—स एष यज्ञस्तायमानो देवेभ्यस्तायते ऋतुभ्यश्छन्दोभ्यो यद्धविस्तद्देवानां यत् सोमोराजा यत्पुरोडाशस्तदादिश्य गृह्णात्यमुष्यै त्वा जुष्टं गृह्णामीत्येवमुहैतेषाम्।' (श० १।३।२।६)

३१—तासु स्रुक्षु आज्यग्रहणं विधित्सुस्तस्य पुरोडाशादिहविरन्तरवत्प्रसक्तं देवतादेशनपूर्वकत्वं निवारयितुमाह—स एष इति स एष यज्ञस्तायमानः प्रथममग्न्यादिभ्यः प्रधानदेवेभ्यः, तादर्थ्ये चतुर्थी। (पा० सू० १।४।४४) इति स्थलीयेन वार्तिकेन प्रयाजदेवताभ्यः देवतार्थं तायते ऋतुभ्यो वसन्तादिभ्यः छन्दोभ्यो गायत्र्यादिभ्योऽनुयाजदेवताभ्यश्च तायते। पुरोडाशादिलक्षणं यद्धविस्तद्देवानां स्वभूतम्, अतस्तद्देवानामादेशनपुरःसरं ग्रहीतव्यम्। कुत एतदित्याह—एवमेव हि तेषामग्न्यादिदेवतानां दर्शपूर्णमासादिषु सोमयागादिषु च नामादेशविशिष्टा मन्त्राः समाम्नाताः— 'अग्नये त्वा जुष्टं गृह्णामि' (वा० सं० १।१०) 'अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं गृह्णामि' (वा० सं० ७।८) पुरोडाशनिर्वापे सोमरसग्रहणेष्वैन्द्रवायवादि उपयामगृहीतोऽसि वायवइन्द्रवायुभ्यां त्वा' (वा० सं० ७।८)

३२—'अथ यान्याज्यानि गृह्यन्ते ऋतुभ्यश्चैव तानि छन्दोभ्यश्च गृह्यन्ते तत्तदनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति। स वै चतुर्जुह्वां गृह्णात्यष्टौकृत्व उपभृति।' (श० १।३।२।७)

प्रकार भूमि से हो सम्पूर्ण लोक उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वे सब लोक पृथिवी स्थित मनुष्य कृत कर्मों से साध्य होते हैं। उसी प्रकार भूमि स्वरूप ध्रुवा से ही सभी यज्ञ उत्पन्न होते हैं। इस कथन से भी ध्रुवा स्थित आज्य की सर्वयाग साधारणता सिद्ध होती है।

२९—'अयमेव स्रुवो योऽयं पवते.........स्रुचः सञ्चरति।' –(श० प० १।३।२।५) इस ब्राह्मण से भी यही कहा गया है कि स्रुव भी वायु रूप होने से वायु की तरह लोकत्रय रूप स्रुचाओं से सम्बद्ध है।

३०—'स एष यज्ञस्तायमानो..............हैतेषाम्।'—(श० १।३।२।६)।

३१—उन स्रुचाओं में आज्य ग्रहण का विधान करने की इच्छा से उसमें पुरोडाशादि अन्य हवि के समान प्रसक्त देवतादेशन पूर्वकत्व का निवारण उक्तब्राह्मण से किया गया है। विस्तार किया जाने वाला वह यज्ञ, प्रथमतः प्रधानभूत अग्नि आदि देवताओं के लिये विस्तीर्ण किया जाता है। 'देवेभ्यः' का अर्थ 'देवतार्थ' है, क्योंकि (पा० सू० १।४ ४४) सूत्रस्थ वार्तिक से तादर्थ्य में चतुर्थी की गई है। तथा 'तायते' में भी 'तनु विस्तारे' (त० उ० १) धातु से कर्मणि 'यक्' (पा० सू० ३।१।६७), पश्चात् 'तनोतेर्यक्' (पा० सू० ६।४।४४) सूत्र से 'आत्व' होकर 'तायते' रूप बनता है। तदनन्तर प्रयाज देवता रूप वसन्तादि ऋतुओं के लिये उसे विस्तीण किया जाता है, तदनन्तर गायत्री आदि अनुयाज देवताओं के लिये उसे विस्तीर्ण किया जाता है। पुरोडाशादि लक्षण जा हवि है वह उन देवताओं का 'स्वभूत' है अर्थात् स्वीकय धन है। अतः तत्तद् देवताओं के नाम ग्रहण पूर्वक उस हवि का ग्रहण करना चाहिये। इसमें कारण यह बताया गया है कि दर्शपूर्णमासादि इष्टियों में और सोमयाग आदि में अग्नि आदि देवताओं का नाम ग्रहण करते हुए मन्त्र पढ़े गये हैं। जैसे— अग्नये त्वा जुष्टं गृह्णामि' (वा० सं० १।१०), 'अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं गृह्णामि'—(वा० सं० ७।८) ये मन्त्र पुरोडाश निर्वाप के लिये पढ़े गये हैं। सोमरस का ग्रहण जिनमें किया जाता है, उन ऐन्द्रवायवादि पात्रों के ग्रहण करते समय 'उपयामगृहीतोऽसि वायव इन्द्रवायुभ्यां त्वा'—(वा० सं० ७।८।१२) मन्त्र पढ़े गये हैं।

३२—'अथ यान्याज्यानि गृह्यन्ते ऋतुभ्यश्चैव..............कृत्व उपभृति।' (श० १।३।२।७)

३३—अथ तस्मिन् यज्ञे यदाज्यग्रहणं तत्प्रयाजानुयाजदेवतार्थं चशब्दात् स्विष्टकृद्यागार्थं च। तत् तथासति तत् आज्यदेवतानामनादिश्य आज्यसम्बन्धिनैव रूपेण गृह्णाति। आज्यसम्बन्धिरूपञ्च देवताया अनादेशनम्, नवा एतत् कस्यै चन देवतायै हविर्गृह्णन्नतिदिशति यदाज्यमित्यनादेशनस्थतद्धर्मतया प्रागाम्नातत्वात्। (श० १।२।१।२२) अथ जुहूपभृतोराज्यग्रहणं विधत्ते सवा इति। जुह्वां चतुर्वारं स्रुवेणाज्यं गृह्णीयात् उपभृत्यष्टवारम्। जुहूस्थमाज्यं किमर्थमित्याशङ्क्य तत्प्रयोजनमुक्तम्-ऋतुभ्यस्तद्गृह्णाति, के पुनस्तदृत्व इत्याह-प्रयाजदेवताहि ऋतवोवसन्ताद्याः। तेषाञ्च नामादेशनरहितमेवाज्यं ग्रहीतव्यम्, तदनूद्य तस्य प्रयोजनमुक्तम्-तदनादिश्य ग्रहणमजामितायै जामितादोषराहित्याय सम्पद्यते। हविर्ग्रहणाज्यग्रहणयोर्देवतादेशने सत्येकरूपेणाजामिता स्यात्,तमिम दोष विपक्षे दर्शयति-जामि वा एतत्कुर्यात् यद्वसन्तायत्वा ग्रीष्मायत्वेति गृह्णीयात् तस्मादनादिश्यैव आज्यस्यैव रूपेण गृह्णीयात्।

३४—'अथ यदष्टौकृत्व उपभृति गृह्णाति। छन्दोभ्यस्तद्गृह्णाति। अनुयाजेभ्यस्तद्गृह्णाति।' (श० १।३।२।९)

३५—'यच्चतुर्ध्रुवायां गृह्णाति सर्वस्मै तद्यज्ञाय गृह्णाति तदनादिश्याज्यस्येव रूपेण।' (श० १।३।२।१०)

३६—'यज्जुह्वां गृह्णाति प्रयाजेभ्यस्तत् यदुपभृति प्रयाजानुयाजेभ्यः। सर्वस्मै वा तद् यज्ञाय गृह्यते यद्ध्रुवायामाज्यम्' (तै० ब्रा० ३।३।५।५) इति श्रुतेः।

३३—उस यज्ञ में प्रयाज-अनुयाज की देवता के लिये आज्य ग्रहण बताया गया है और 'च' शब्द से ही स्विष्टकृत् यागार्थ भी वह है। इस उल्लेख से यह अवगत होता है कि 'वह आज्य देवताओं के लिये हैं', ऐसा न कहकर आज्यस्वरूप सम्बन्धी के रूप में ही उसका ग्रहण किया गया है। देवता का कथन न करना (अनादेशन) ही आज्यका स्वरूप है।' और न ही यह किसी देवता के लिये हविर्ग्रहण करते हुए अतिदेश करता है। क्योंकि ब्राह्मण ने 'यत् आज्यम्' इस प्रकार का अनादेशन किया है, जो इसका धर्म बताया गया है (श० प० १।२।१।२२)। तदन्तर 'स वै०' ब्राह्मण से जुहू और उपभृत् में आज्यग्रहण का विधान किया गया है। जुहू में स्रुव से चार बार आज्यग्रहण करे और उपभृत् में आठबार आज्यग्रहण करें। जुहूपात्र में स्थित आज्य का प्रयोजन बताया है कि ऋतुओं के लिये वह आज्यग्रहण किया गया है। वे कौनसी ऋतुएँ हैं, जिनके लिये जुहूस्थित आज्य का भाग है। वे ऋतुएँ—प्रयाजदेवता वसन्त ऋतु आदि हैं। उनके लिये नामादेशन के विना ही आज्यग्रहण करना बताया गया है। वह जामितादोष की अनुत्पत्ति के लिये किया जाता है। हविर्ग्रहण और आज्यग्रहण दोनों में उनकी देवताओं के नाम बोलें तो, निरन्तर बोलते रहने से जामिता (आलस्य) दोष होने की सम्भावना हो सकती है। अतः तत्तद् देवताओं के नाम न बोलकर केवल स्वरूपतः ही आज्य का ग्रहण किया जाता है।

३४—'अथयदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति। ....तद्गृह्णाति।'—(श० प० १।३।२।९)।

३५—'यच्चतुर्ध्रुवायां.................रूपेण।'—(श० प० १।३।२।१०) उपभृत् में स्थित आज्य का विनियोग (उपयोग) बताया गया है। वह आज्य छन्दस् (छन्द) के लिये है। ये गायत्री आदि छन्द ही अनुयाज देवता हैं। अतः अनुयाज के लिये ही उपभृत् में आज्य ग्रहण किया गया है। यहाँ पर भी देवता नाम का अनादेशन पहले के समान ही जामिता (आलस्य) दोष की अनुत्पत्ति के लिये ही है। ध्रुवा में जो आज्यग्रहण किया जाता है, वह भी देवतानादेशनरूप आज्यधर्म से ही करना है। यह बताकर यहाँ पर देवतादेशन की प्रसक्ति ही नहीं है, क्योंकि ध्रुवास्थित जो आज्य है, वह यज्ञ में जितनी देवताएँ हैं, उतनी सभी देवताओं के लिये विभक्त करके लिया जाता है। अतः सर्व देवताओं के लिये वह साधारण होने से किसी देवताविशेष का उद्देशन करना सम्भव नहीं है।

३६—अतएव तैत्तिरीय श्रुति कहती है—'यज् जुह्वां गृह्णाति प्रयाजेभ्यस्तद्, यदुपभृति प्रयाजानूयाजेभ्यस्तत् सर्वस्मै वा एतद् यज्ञाय गृह्यते ध्रुवायामाज्यम्' (तै० ब्रा० ३।३।५।५)।

३७—यजमान एव जुहूमनु योऽस्मै अरातीयति स उपभृतमन्वत्तैव जुहूमन्वाद्य उपभृतमन्वत्तैव जुहराद्य उपभृत्स चतुर्जुह्वां गृह्णात्यष्टौकृत्व उपभृति (श० प० १।३।२।११)।

३८—स यच्चतुर्जुह्वांगृह्णाति अत्तारमेवैतत् परिमिततरं करोति कतीयां ᳪ संकरोति यदष्टौकृत्व उपभृति गृह्णात्याद्यमेवैतदपरिमिततरं भूयाᳪ सं करोति तद्धिसमृद्धं यत्रात्राकतीयानाद्योभूयान् ॥' (श० १।३।२।१२)

३९—भोक्तृणामल्पीयस्त्वं भोग्यजातस्य भूयस्त्वम्। तत्खलु समृद्धम्। तत्रापि जुहूपभृतोर्धर्मविशेषो विहितः। बहुतरमधिकमाज्यं जुह्वां यथाभवति तथासम्यक् पूर्वेण स्रुवेण कर्त्तव्यम्। अल्पतरमुपभृति गृह्यमाण यथा-स्यात्तथार्धपूर्णस्रुवेण कार्यमति ग्रहणसंख्याह्रासेन भोक्तारं भोग्यजातादल्पीयांसं करोति। भूयोग्रहणेन च भोक्तरि अधिकंवीर्यं स्थापयति। अल्पीयस आज्यस्य ग्रहणेनाद्यमवीर्यं बलरहितं करोति तस्मादेवाद्यवर्गोबलरहितोभवति। तस्मादेव सार्वभौमोराजा अपारां निरवधिकां विशं प्राप्यापि जिनाति स्वाधीनं करोति। तदेतद्राज्ञः सामर्थ्यम् एतेनैव बीर्येण जनितम् यद्वीर्यं जुह्वां भूयोग्रहणेन भोक्तुर्निष्पन्नम्। तत्रापि जुहूपभृद्धृतयोराज्ययोर्जुह्वैव होमः कर्त्तव्य इति विधत्ते। 'स यत् जुह्वां गृह्णाति जुह्वैवतज्जुहोति यदुपभृति गृह्णाति जुह्वैवतज्जुहोति।' (श० १।३।२।१४)

३७—'यजमान एव जुहूमनु। योऽस्मा..................कृत्व उपभृति।'—(श० प० १।३।१।११)।

इस ब्राह्मण के द्वारा जुहू और उपभृत् में किये गये आज्यग्रहण की चतुष्ट्वादि संख्याविशेष का उपपादन किया गया है। जो 'जुहू' है, वह यजमान का ही भाग है। जुहूमनु' यहां पर 'भाग' अर्थ मे 'अनु' है। 'लक्षणेत्थंभू-ताख्यान भागवीप्सासु'— (पा० सू० १।४।९०) सूत्र से 'अनु को कर्मं प्रवचनीय संज्ञा होने पर, 'कर्मप्रवचनीययुक्ते०' (पा० सू० २।३।८) सूत्र से 'जुहू' में द्वितीया विभक्ति की गई है। तथा जो यजमान से शत्रु की तरह आचरण करता है (जो यजमान का शत्रु है) उसका (शत्रुका भाग उपभृत् है। इसी बात को तैत्तिरीयश्रुति ने भी कहा है—'यजमान-देवत्या वै जुहूः—भ्र तृव्यदेवत्योपभृत्'—(तै० ब्रा० २।५।४)। तथा भोक्ता और भोग्य के क्रमशः जुहू और उपभृत भाग हैं। उनका भाग होने से उनके साथ उन पात्रों का तादात्म्य बताया गया है।

३८—'स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति। अत्तारमेवैतत् परिमिततर..................भूयान्' (श० प० १।६।२।१२)।

३९—इस ब्राह्मण के द्वारा जुहू में चतुर्ग्रहण का अनुवाद करके संख्या के अल्पीयस्त्व की प्रशंसा की गई है। 'जुहू' अत्तृ (अत्ता) स्वरूप होने से अष्ट संख्या की अपेक्षा चतुः संख्या का अल्पीयस्त्व होने से अत्ता को ही परिमित-तर है, अतः उसमें स्वल्प आज्य किया गया है। और उपभृत् में आज्यग्रहण की संख्या का अनुवाद करके उसके भूयस्त्व की प्रशंसा की गई है। उपभृत् आद्य (भक्ष्य) रूपा है। जुहू भोक्तृरूपा है। संख्या बाहुल्य के कारण 'आज्य' अर्थात् भोग्यवस्तुसमूह ही अधिकतर (अपरिमिततर) होता है। अतएव उसे अतिशय अधिक करते हैं। भोक्ताओं का जो अल्पीयस्त्व है और भोग्यवस्तु समुदाय का जो भूयस्त्व है, उसी को समृद्ध कहते हैं। 'स वै चतुर्जुह्वां गृह्णन्। भूय अज्यं गृह्णात्यष्टौ..................।' (श० प० १।३।२।१३)

इस ब्राह्मण के द्वारा आज्यग्रहण करने में जूहू और उपभृत् के धर्मविशेष का विधान कर रहे हैं। जुहू में अधिकतर आज्य जैसे हो सके उस तरह पूर्ण स्रुव से करे, और उपभृत् में अल्पतर आज्य जैसे हो सके वैसे अर्धपूर्णस्रुव से करे।

'स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णन्। भूय आज्यं गृह्णत्यत्तारमेवैतत्..................
..................जुह्वैव तज्जुहोति।'—(श० प० १।३।२।१४)।

जुहूस्थित विहित आज्य के भूयस्त्व का अनुवादकर उसकी प्रशंसा की गई है। ग्रहणसंख्या के ह्रास को दिखाकर भोग्यपदार्थ समूह से अल्पतर हुए भोक्ता में भूयोग्रहण के द्वारा अधिक सामर्थ्य और उसके हेतु भूत बल की स्थापना की गई है। उसी तरह उपभृत् में स्थित विहित आज्य के अल्पीयस्त्व का अनुवाद कर उसकी प्रशंसा की

जुहूवदुपभृतोऽपि होमसाधनत्वे सत्युपभृतोऽपि स्वातन्त्र्यादन्नस्थानीया इमा: सर्वा: प्रजा: राज्ञ: सकाशात् स्वतन्त्रा एव भवेयु: । तथा च राजा नैवशास्तास्यात् राज्यमपि नैवं भोग्यं स्यात् अत औपभृतमाज्यं जुह्वामानीय तथैव होमे तु नोक्तदोष: । यस्मादेव होमाय जुहूमपेक्षमाणायामुपभृत्याज्यं गृह्यते तस्मादेव कारणात् क्षत्रियस्य वशे रक्षार्थं क्षत्रियाधीनत्वे सत्येव वैश्यं पशवोगवाद्या उपतिष्ठन्ते । उपभृतिग्रहणाद्वैश्यस्य धनसमृद्धिर्भवति । अद्यत्वे यद्यपि प्रजातन्त्र शासनं तथापि कार्यपालिकायां शासनपरिषदि तत्रापि प्रधानमन्त्रिणि राष्ट्रपतौ वा शासनशक्ति: पर्यवस्यति । यस्मादौ-पभृतमाज्यं जुह्वां जुहोति तस्मादेव यदोत क्षत्रिय: कामयतेथाहवैश्य यत्तोपरो निहितं तदाहरोति त जिनाति ।

'तानिवा एतानिछन्दोम्य आज्यानि गृह्यन्ते । सयच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति गायत्र्यै तद्गृह्णात्यथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति त्रिष्टुब्जगतीभ्यां तद्गृह्णात्यथ यच्चतु ध्रुवायां गृह्णात्यनुष्टुभेन तद्गृह्णाति अनुष्टुब्बाचोवाइदꣳ सर्वंप्रभवति तस्माद् ध्रुवायां सर्वोयज्ञ: प्रभवति ।' (श० १ ३ २।१६) ध्रौव्यस्याज्यस्य प्रागुक्तं सर्वयज्ञसाधारण्यं द्रढ़यितुं जुह्वादि-ष्वाज्यग्रहणं प्रकारान्तरेण प्रशंसति तानि वा इति । तानिवाछन्दोभ्य आज्यानि गृह्यन्ते । सामान्योक्तं विवृणोति । स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णातीति । गायत्र्यै तद्गृह्णाति । ननुत्रिपदा गायत्रीति चतु:संख्यायोगो नोपपद्यते इतिचेन्न, अष्टाक्षरै: पादै: त्रिपदा षडक्षरै: पादैश्चतुष्पदा तस्मात् प्राथम्यात् संख्या चतुष्ट्वयोगात् जुह्वांग्रहणं गायत्र्यर्थम् अत एवाम्नायते 'सैषा चतुष्पदा षड्विधागायत्री' (साम० छा० ब्रा० ५।१२।५) त्रिष्टुब्जगत्योर्मिलितयो: पादानामष्टसंख्या तथा

जा रही है। संख्या की अधिकता बताकर भोग्य पदार्थ को अपरिमित करते हुए अल्पतर आज्य का ग्रहण कर उस आद्य (भोग्य) को वीर्यरहित और बलरहित करता है। इस रीति से जब कि आद्य (भोग्य) वर्ग बलरहित है, उसी कारण सार्वभौम होता हुआ भी राजा अर्थात् निरवधिक राज्य प्राप्त करके भी उसे एक गृह के रूप में ही अपने स्वाधीन करता है। एक:एक वस्तु (प्रत्येक वस्तु) को जैसे वह चाहता है, वैसे-वैसे ही वह पाता है। यहां पर 'त्वत्' शब्द 'एक' के अर्थ में है। ऐसा 'उत त्व: पश्यन्न ददर्श वाचम्' (ऋ० सं० मं० १०।७१।४) ऋचा में देखा गया है। अथवा 'त्वत्' यह निपात'च' के अर्थ में है (निरु० १।३।५)। राजा का यह सामर्थ्य, इसी वीर्य से उत्पन्न हुआ है , जो वीर्य जुहू में भूयोग्रहण से भोक्ता में निष्पन्न होता है। जुहू और उपभृत् में रखे आज्यों का जुहू से ही होम करना चाहिये।

'तदाहु: । कस्मा उ तह्यु र्पभृति·· तद्वीर्येण ।' (श० प० १।३।२।१५) ।

यदि 'उपभृत्' होमसाधन नहीं है तो उस में आज्यग्रहण क्यों किया गया है, यह आक्षेप 'तदाहु:' से किया गया है। उपभृत् में आज्यग्रहण करना तो उचित है, किन्तु उस उपभृत् को होम का साधन माना जाय तो जुहू को समान उपभृत् की भी स्वतन्त्रता कही जायगी, तब अन्नस्थानीय समस्त प्रजा, राजा से स्वतन्त्र ही होंगी । उस कारण राजा 'अत्ता' (भोक्ता) अर्थात् शास्ता ही नहीं रहेगा और राज्य भी 'भोग्य' नहीं रहेगा। परन्तु उपभृतस्थित आज्य को जुहू में लेकर, उस जुहू से होम करने पर उक्त दोष नहीं होगा। क्योंकि होम करने के लिये जुहू की अपेक्षा रखने वाली उपभृत् में आज्य का लिया जाता है, उसी कारण संरक्षणार्थ क्षत्रिय की अधीनता रहने पर ही गवादि पशु उपस्थित रहते हैं। तात्पर्य यह है कि उपभृत् में आज्यग्रहण करने से ही वैश्य की धनसमृद्धि होती है। आज के युग में यद्यपि प्रजातन्त्र शासन है, तथापि शासन शक्ति (सामर्थ्य) कार्य पालिका के शासन परिषद् की उसपर भी प्रधानमन्त्री की अथवा राष्ट्रपति की ही रहती है। जिसकारण से औपभृत आज्य का होम जुहू से ही किया जाता है, उस कारण क्षत्रिय धर्मपरतन्त्र अपनी इच्छानुसार वैश्य से जो चाहता है, उस मांगकर ले लेता है। इस रीति से वैश्यादि प्रजावर्ग को वह अपने स्वाधीन रखता है।

'तानि वा एतानि····· ·· ······················ ·········प्रभवति ।'—(श० प० १।३।२।१६) । पहले बताई हुई ध्रौवाज्य की सर्वयज्ञसाधारणता को दृढ़ करने के लिये जुहू आदि में किये गये आज्यग्रहण की प्रकारान्तर से प्रशंसा कर रहे हैं। सामान्यतया उक्त का ही 'स यत्' के द्वारा स्पष्ट विवरण किया गया है। प्राथम्य की समानता और चतु: संख्या

चाष्टौकृत्व उपभृति ग्रहणं ताभ्यामर्थे सम्पद्यते। एवमेव पादसंख्यासाम्यात् ध्रुवायां चतुर्ग्रहणमनुष्टुबर्थं भवति। अनेन ध्रुवाया अनुष्टुबर्थत्वोपजीवनेन तत्स्थस्याज्यस्य सर्वयज्ञसाधारण्यमभिप्रेत्याह-वाग्वा अनुष्टुप् वाचोवा इदं सर्वं प्रभवति अनुष्टुप् च सप्तदशश्च समभवता ७ं सानुष्टुप् चतुरुत्तराणि छन्दा ७ं स्यसृजत षडुत्तरान् स्तोमान् सप्तदशः' इति सामताण्डयब्राह्मणे। सर्वेषां छन्दसामनुष्टुप् सकाशात् सृष्टेराम्नातत्वात् सावागात्मिका। वाचः शब्दस्य सकाशात् सर्वमिदमर्थजातं प्रभवति 'अनादिनिधनंब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतोयतः।' (वा० प० १।१) 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥' (वा० प० १) 'शब्द इतिचेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' (ब्र० सू० १।१) इत्याद्याप्तवचनेभ्योवाचः सर्वजगदुत्पत्तिहेतुत्वात् तत्सम्बन्धिन्याध्रुवाया अपि सर्वयज्ञहेतुत्वं युक्तमेव। इयंवा अनुष्टुप् इति एवं विहितमाज्यग्रहणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते स गृह्णाति धामनामासिप्रियं देवनामित्येतद्वै देवानां प्रियतमं धाम यदाज्यम् तस्मादाह धामनामासि प्रियं देवानामित्यनाधृष्टं देवयजनमसीति।' (श० १।३।२।१७)

स एतेन यजुषा सकृज्जुह्वां गृह्णाति त्रिस्तूष्णीमेतेनैव यजुषा सकृदुपभृति गृह्णाति सप्तकृत्वस्तूष्णीमेतेनैव यजुषा सकृद्ध्रुवायां गृह्णाति त्रिस्तूष्णीम्। तदाहुस्त्रिस्त्रिरेव यजुषा गृह्णीयात् त्रिवृद्धि यज्ञः इति तदनु सकृत् सकृदेववाचोह्येष त्रिगृहीत ७ं सम्पद्यते।' (श० १।३।२।१८) मन्त्रगतस्य धामशब्दस्य विवक्षितमर्थयाह-एतद्वा इति। धामशब्दस्तेजोवाची। (नि० ९।३) तद्धेतुत्वादाज्यमपिधामोच्यते। अतएव 'तेजोवै घृतम्' इति श्रुतिः। मन्त्रशेषमनूद्य तत्रानाधृष्टपदस्य तात्पर्यगम्यमर्थमाह-अनाधृष्टमिति हि यस्मादाज्यं वज्रः घृतंखलु वै देवा वज्रं कृत्वा सोमघ्नन्' इति श्रुतेः। वज्रश्च धर्षितुमशक्यत्वात् अनाधृष्टेः, तदात्मकत्वादाज्यमप्यनाधृष्टम्।

(चार संख्या) की समानता को देखकर पादचतुष्टय से युक्त जो आज्यग्रहण जुहू में किया गया है, वह गायत्री के के लिये है। शंका—गायत्री तो त्रिपदा (तीन पादवाली) है, तब उसके साथ चतुःसंख्या का सम्बन्ध कैसे किया जा रहा है ? समा—जो शंका की गई है, वह ठीक है। आठ अक्षरों की दृष्टि से त्रिपदा गायत्री और छह अक्षरों की दृष्टि से चतुष्पदा भी गायत्री होती है। अतएव अन्यत्र यह कहा गया है—'सैषा चतुष्पदा षड्विधागायत्री'— इति (सा० छां० ब्रा० ५।१।२।५) त्रिष्टुब्-जगती को मिला देने पर पादों की संख्या आठ हो जाती है। तथा च उपभृत् में जो आठ बार आज्यग्रहण किया गया है, वह त्रिष्टुब-जगती छन्द के लिये है। उसी तरह पादसंख्या के साम्य से ध्रुव में जो चतुर्ग्रहण आज्य का किया जाता है,वह अनुष्टुब् छन्द के लिये है। इस विवेचनसे यह निष्पन्न हुआ कि 'ध्रुवा' अनुष्टुब् के लिये होने से उस में स्थित आज्य सर्वयज्ञसाधारण है। इसी अभिप्राय को 'वाग्वाअनुष्टुब्' से बताया गया है। इसी प्रकार सामब्राह्मण में (तां० म० ब्रा० १० प्र० २ खण्ड) 'अनुष्टुप् च सप्तदशश्च समभवता ँ सानुष्टुप्चतुरुत्तराणि छन्दा ँ स्यसृजत षडुत्तरान्स्तोमान्सप्तदशः' इति से कहा गया है। समस्त छन्दों में से जो अनुष्टुब् छन्द है, उसी से सृष्टि का होना बताया गया है, वहीं 'वाक्' सृष्टि है। 'वाचः' शब्द से यह सम्पूर्ण अर्थजात (पदार्थ समूह) उत्पन्न होता है। अतएव 'जगत्' (सृष्टि) को शब्द का विवर्त कहते हैं—'अनादिनधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥'-(वा० प० १।१), उसी तरह न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिन ज्ञानं सर्वं शब्देन गम्यते॥' इति॥ (वा० प० १) शब्दानुवेध (शब्द से सम्बद्ध) होने के कारण सम्पूर्ण अर्थ प्रपच्च (सृष्टि) उस शब्द का ही कार्य है। 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्'—(ब्र० सू० १।१।) इत्यादि आप्तवचनों से वाक् (वाणी-शब्द) को ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का हेतु (कारण) कहा गया है। उससे (वाणी से) सम्बन्धित ध्रुवा को भी समस्त यज्ञ का हेतु कहना उचित ही है। इसी अभिप्राय को 'इयं वा अनुष्टुप् इत्यादि से कहा गया है।

इस प्रकार विहित आज्यग्रहण का अनुवाद कर 'स गृह्णाति' से मन्त्र का विधान किया गया है। 'स एतेन यजुषा०'—(श० प० १।३।२।१६) 'एतद्वै देवानम्' से मन्त्रगत 'धाम' शब्द के विवक्षित अर्थ को बताया गया है। 'अनाधृष्टं देवयजनमासि०' से अनाधृष्टपद के तात्पर्यगम्य अर्थ को बता रहे हैं। क्योंकि 'आज्य' जो है, वह वज्र है।

अनेन मन्त्रेण ग्रहणे विशेषमाह तच्च स्पष्टमेव। तस्माच्छ्रुतिसूत्रसम्मतोऽयं मन्त्रः—हे आज्य त्वं तेजोऽसि अविनाशशरीरकान्तिहेतुत्वात्तेजोऽसि। त्वं शुक्रमसि दीप्तिमदसि स्निग्धरूपत्वाद्दीप्तिमत्त्वम्। अमृतमसिविनाश रहितमसि बहुदिनावस्थानेप्योदनादिवत् पर्युषितत्वादिदोषाभावादविनाशित्वमौपचारिकम्। यद्वा पारम्पर्येणामृतयाग फलहेतुत्वादविनाशित्वम्।

हे आज्य त्वं धाम स्थानमसि धीयते स्थाप्यतेऽत्रेति धामशब्दव्युत्पत्तेः। यद्वायागफलोपभोगस्थानप्राप्तिहेतुत्वात् धामासि नमयति सर्वाणि भूतान्यात्मानं प्रति प्रणतानि करोतीत्याज्यस्य नामत्वम्। तथैतदाज्य देवानां प्रियम्। तात्प्रियत्वञ्च तित्तिरिराह—'प्रजापतिर्देवेभ्यो यज्ञान्यादिशत्। स आत्मन्याज्यमधत्त। त देवा अब्रुवन् एषवाव यज्ञोयदाज्यमप्येव को चास्त्वितीति श्रुतेः। यदा प्रजापतिर्यज्ञहवींषि देवेभ्यो विभज्यददौ तदानीमाज्यं स्वकीयत्वेन स्वीचकार। तद्दृष्ट्वा देवा यज्ञे सारंहविराज्यमेवेति वदन्तोऽस्माकमाज्ये भागोऽस्त्वित्यपेक्षितवन्त इत्यर्थः। तच्चेदमनाधृष्टम् गतसारत्वादिदोषेणकदाचिदप्यतिरस्कृतम्। एतदपितित्तिरिणा प्रश्नोत्तराभ्यां स्पष्टमुक्तम् ब्रह्मवादिनो वदत्य कस्मात् सृत्या यातयामान्यन्यानि हवींष्ययातयाममाज्यमिति। प्रजापत्यमिति ब्रूयादयातयामो हि देवानां प्रजापति रितीति चरुपुरोडाशादीन्यचिरावस्थानेन यातयामानि गतसाराणि आज्यं तु न तथा तत्र हेतुः प्रजापतिदेवताकत्वमित्यर्थः। देवयजनं देवानुद्दिश्ययागसाधनम् ईदृशस्त्वमतस्त्वां गृह्णामीति शेषः।

श्रुति कह रही है कि 'घृतं खलु वैदेवा वज्रं कृत्वा सोममघ्नन्'। वज्र का घर्षण करना शक्य न होने से 'आज्य' भी अनाधृष्ट है। उक्त मन्त्र से ग्रहण में जो विशेष कहा गया है, वह स्पष्ट ही है। तस्मात् श्रुति और सूत्र से सम्मत यह मन्त्र है। हे आज्य ! तुम तेजोरूप हो, कभी नष्ट होने वाली शरीरकान्ति के हेतु रहने से तुम 'तेज' हो। तुम 'शुक्र' अर्थात् दीप्तिमान् हो, अर्थात् स्निग्धरूप होने से तुम में दीप्तिमत्त्व है। तुम 'अमृत' अर्थात् विनाशरहित हो, क्योंकि अधिक दिनों तक तुहें रखने पर भी 'ओदन' आदि की तरह तुम में पर्युषितत्वादि दोष नहीं पैदा होता, इसलिये तुम में औपचारिक अविनाशित्व कहा गया है। अथवा परम्परया अमृत (अविनाशी) यागफल के हेतु रहने से तुम्हें अविनाशी कहा जाता है।

हे आज्य ! तुम 'धाम' अर्थात् स्थानरूप हो। क्योंकि 'धीयते स्थाप्यते अत्र इति धाम'—स्थापन किया जाता है जहां पर उसे 'धाम' कहते हैं, यह 'धाम' शब्द की व्युत्पत्ति है। अथवा यागफलोपभोगस्थान की प्राप्ति कराने में हेतुभूत होने से तुम्हें 'धाम कहा गया है। 'आज्य' को 'नाम' भी कहते हैं, क्योंकि वह सभी भूतों (प्राणियों) को अपनी ओर नमाता है, अर्थात् झुकाता (प्रणत करना) है, इसलिये 'आज्य' को 'नाम' कहा गया है, यह आज्य देवताओं को प्रिय है। उसकी प्रियता को तित्तिरि ने बताया है—'प्रजापति र्देवेभ्यो यज्ञान्यादिशत्०' इत्यादि। जब प्रजापति ने यज्ञहवियों को विभक्त करके देवताओं के लिये दिया, तब उन्होंने उस आज्य हवि को स्वकीय मानकर उसका स्वीकार किया। अर्थात् उस आज्य को देखकर देवगण कहने लगे कि यज्ञ में सारभूत हवि तो आज्य ही है, हमारा भाग (हिस्सा) आज्य में ही रहे, यह चाहने लगे। यह जो 'आज्य' है, वह अनाधृष्ट है, क्योंकि गतसारत्व (सारहीनता) आदि दोष से कभी भी वह तिरस्कृत नहीं किया जाता। इस अभिप्राय को भी तित्तिरि ने प्रश्नोत्तर के माध्यम से स्पष्ट किया है—'ब्रह्मवादिनो वदन्ति कस्मात् सृत्या०' चरु पुरोडाश आदि को चिरकालतक रखनेपर यातयाम (सारहीन) हो जाते हैं, किन्तु आज्य वैसा (सारहीन) नहीं होता। क्योंकि वह प्रजापति देवता का है। देवगणों में 'प्रजापति' अयातयाम रहता है। तुम देवयजन हो, अर्थात् देवताओं को उद्देश्यकर याग करने के साधनस्वरूप हो, इन विशेषताओं से पूर्ण रहने वाले तुम्हारा मैं ग्रहण करता हूँ।

अनुष्ठान का प्रकार यह है—प्रणीता और आह्वनीय के बीच में प्रोक्षणीपात्र के रख देने पर 'शर्माऽसि' मन्त्र से अध्वर्यु कृष्णाजिन को अपने हाथ से उठाता है। तदन्तर स्थापित यज्ञपात्रों से दूर जाकर अर्थात् उत्कर देश पर जाकर 'अवधूत ँ रक्षः' मन्त्र से कृष्णाजिन को झार देता है यानी फटकारता है अर्थात् उसमें लगी धूल आदि

अनुष्ठानप्रकारस्तु-ततोऽध्वर्युः शर्मासीति मन्त्रेण कृष्णाजिनं हस्तेन गृह्णाति। तत आसादितपात्रेभ्यः परतो गत्वा कृष्णाजिनमवधूनोति "अवधूत ७ं रक्ष" इतिमन्त्रेण, उदकोपस्पर्शनम् तत उत्तरेण गार्हपत्यमुत्करदेशे प्रत्यग्ग्रीवं कृष्णाजिनमास्तृणाति "अदित्यास्त्वगसी" तिमन्त्रेण द्वाभ्यांहस्ताभ्यां विस्तारयति सव्येन हस्तेनाविमुक्तेन कृष्णाजिने दक्षिणेन हस्तेनोलूखलमाहृत्य कृष्णाजिनस्योपरिनिदधाति आहरासि वानस्पत्य इति मन्त्रेण 'ग्रावासि पृथुबुघ्न'इतिमन्त्रेण-वा प्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्त्विति-उभयोर्मन्त्रयोः शेषः कार्यः। ततः शूर्पे पृथक् स्थापितं हविर्द्वयं मिश्रीकृत्य सव्येनाविमुक्तेनोलूखलमध्ये अग्नेस्तनूरिति मन्त्रेण शूर्पेणैव हविरावपति। ततोऽध्वर्युयजमान योर्वाग्विसर्गः। ततोऽध्वर्युर्बृहद्ग्रावेतिमन्त्रेण मुसलं हस्तेन गृह्णाति। ततः स्वयमेवकण्डने प्रवृत्तः कण्डनं कुर्वन्नेव हविष्कृदेहीति त्रिर्हविः कण्डनकर्त्रीं पत्नीमाग्नीध्रं वाह्वयति। अत्रवातयोर्वाग्विसर्गः। यदाध्वर्युर्हविष्कृदाह्वानं करोति तदानीमेवाग्नीध्रः कुक्कुटोऽसीति मन्त्रेण शम्ययाद्विदृषदं कुट्टयति मनन्त्रावृत्त्या, उपलां तेनैवैकवारम्। तदनन्तरं पत्नी आग्नीध्रोवाकण्डनं करोति। वितुथेषुव्रीहिषु "वर्षवृद्धमि" ति मन्त्रेणाध्वर्युर्हस्तेनशूर्पं गृह्णाति। ततः प्रतित्वावर्षवृद्धमिति मन्त्रेण कण्डितं हविरुलूखलान्निष्काश्य तूष्णीं शूर्पे निदधाति। ततः परापूतमितिमन्त्रेण शूर्पेणनिष्पुनाति। तुषान् पृथक्करोति। ततोऽप उपस्पृश्य "वायुर्व" इति मन्त्रेण तण्डुलानकण्डितान् व्रीहींश्च विविनक्ति ततः कण्डितान्निधाय अकाण्डितान् पुनरुलूखले निक्षिप्य कण्डनं कृत्वा पुनर्निष्काश्य शूर्पे कृत्वा तुषान् पृथक्कुर्यात्। ततः सर्वान् "अपहत ७ं रक्ष" इतिमन्त्रेणोत्करदेशे निरस्येत्। उदकस्पर्शः। ततः शूर्पस्थांस्तण्डुलान् पात्र्यां प्रक्षिप्य देवोवः सवितेत्यभिमन्त्रयते। तण्डुलाननामिकाग्रेण स्पृशन् विलोकयन् मन्त्रं पठतीत्यर्थः।

को कृष्णाजिन को कम्पित करके उत्कर में गिराता है। तदन्तर उदकोपस्पर्श यानी आचमन करके गार्हपत्य के उत्तर की ओर उत्कर देश में प्रतीची (पश्चिम) दिशा की ओर जिसकी ग्रीवा है, अर्थात् प्रत्यग् ग्रीव किये हुए कृष्णाजिन को 'आदित्यास्त्वगसि०' मन्त्र से वह अध्वर्यु बिछाता है। दोनों हाथों से उसे फैलाता है, वाम (बाँये) हाथ से कृष्णाजिन स्पर्श किये हुए ही दक्षिण (सीधे) हाथ से उलूखल को लेकर (उठाकर) 'अद्रिरसि०' अथवा 'ग्रावाऽसि' मन्त्र से स्थापित करता है। उक्त दोनों मन्त्रों में 'प्रतित्वाऽदित्यास्त्वग्वेत्तु' को जोड़ देना चाहिये। तदनन्तर शूर्प में अलग-अलग रखे हुए दोनों हवियों को एक-दूसरे से मिलाकर। (मिश्रणकर) बाये हाथ से थामे हुए शूर्प से ही हविः प्रक्षेप उलूखल में 'अग्नेस्त नूः' मन्त्र से करे। उलूखल में हविः प्रक्षेप करने के बाद अथवा हविष्कृदाह्वा न के समय अध्वर्यु और यजमान दोनों अपना वाग् विसर्ग यानी मौन खोल दें। तदन्तर अध्वर्यु 'बृहद्ग्रावासि' मन्त्र से मुसल को हाथ से उठा ले, और स्वयं ही कण्डन-करने के लिये प्रवृत्त होकर अर्थात् कण्डन करते हुए ही—'हविष्कृदेहि' इस मन्त्र से तीन बार (त्रिवार), हविःकण्डन करने वाली पत्नी को अथवा हविष्कर्ता आग्नीध्र को बुलावे। जब अध्वर्यु हविष्कृत् का आह्वान करता है, उसी समय आग्नीध्र 'कुक्कुयेक्कुऽसि' मन्त्र को दो बार कहकर शम्या से दृषद् पर दो बार और उपला पर एक बार मन्त्र बोलकर आघात करे। तदन्तर पत्नी अथवा आग्नीध्र कण्डन करता है। व्रीहियाँ के तुषरहित होने पर 'वर्षवृद्धिम्०' मन्त्र कहकर हाथ में शूर्प लेता है। तदनन्तर 'प्रति त्वा वर्षवृद्धम्' मन्त्र को बोलकर कण्डित हुए हवि को उलूखल से निकालकर शूर्प में चुपचाप (मन्त्ररहित) रखता है। उसके बाद 'परापूतम्०' मन्त्र बोलकर शूर्प से कण्डित व्रीहियों को पखाड़ता है। तुषों को व्रीहियों से अलग करता है। पश्चात् जलस्पर्श (आचमन) करके 'वायुर्व०' मन्त्र कहकर अकण्डित तण्डुलों को और व्रीहियों को अलग-अलग करता है। तब कण्डित चावलों को रखकर और अकण्डितों को पुनः उलूखल में डालकर और उन्हें कण्डितकर पुनः निकालकर सूप में रखकर तुषों को पृथक् करे। तदनन्तर सम्पूर्ण तुषों को 'अपहत ७ं रक्षः' मन्त्र बोलकर उत्कर देश में डाल दे। और जलस्पर्श (आचमन) करे। उसके पश्चात् शूर्पस्थित तण्डुलों को पात्री में उलट कर 'देवो वः सविता०' मन्त्र से उन्हें अभिमन्त्रित करे। अर्थात् तण्डुलों को अनामिका के अग्रभाग से स्पर्श करते हुए और उनकी ओर देखते हुए मन्त्र पढ़े।

तदनन्तर तीन बार फलीकरण करना चाहिये, अर्थात् तीनबार कण्डन करके सूक्ष्म कणों को उनसे पृथक् कर उन्हें उज्ज्वल (निर्मल) करे। पहले उलूखल में हवि को डालकर, उसको कूटकर, फिर उसे निकालकर, रूप से

ततस्त्रिः फलीकरोति त्रिःकण्डने सूक्ष्मकणिकाभ्यो वियोज्योज्ज्वलान् करोति पूर्वमुलूखले हविरूप्य कण्डयित्वा निष्काश्य सर्वाणि निष्पूय कणान्निदधाति। एवमेववारत्रयं फलीकरणं कणनिधानञ्च कर्त्तव्यम्। ततः पेषणोपधाने सहभवतः। एकस्य युगपदुभयकर्तृत्वासम्भवेनाध्वर्युः पेषणंकरोति। अग्नीच्च कपालोपधानं प्रथमं कपालानि प्रक्षालयति गार्हपत्यस्य पश्चादुपविश्य 'धृष्टिरसी'ति मन्त्रेणोपवेषं हस्तेन गृह्णाति। ततोऽग्नेऽग्निमिति मन्त्रेणोपवेषेण श्रपणस्याङ्गारान् स्वस्थानात्प्राच्यां प्रेरयति खरमध्य एव यथाङ्गारस्थानेऽतितप्तभूमौ कपालान्युपधीयन्ते। ततो यज्ञमित्युपवेषेणैव प्राक्प्रेरिताङ्गारमध्यात् एकं गार्हपत्यस्य पश्चाद्भागे दक्षिण पुरोडाशस्थानस्य मध्ये आनयति। ततोध्रुवमसीत्यनेन-मन्त्रेण तस्यानीतस्याङ्गारस्योपर्युत्तानं मध्यमं कपालमुपदधाति। तत्राभिचारं कुर्वन् भ्रातृव्यस्य वधायेत्यत्र भ्रातृव्यस्येति पदस्य स्थाने अमुकस्य वधायेति शत्रोर्नाम गृह्णीयात्। तदोदकस्पर्शः। अभिचारबुद्धयभावे उदकस्पर्शाभावः। ततः सव्यहस्तस्यांगुल्याऽशून्ये स्पृष्टे मध्यमकपाले एकमङ्गारं दधाति अग्नेब्रह्मेति। ततारुणमसीति मन्त्रेण मध्यमकपालस्य

पखाड़कर किसी पात्र में कणों को रखे। इसी प्रकार तीन बार फलीकरण और कणनिधान करे। अर्थात् तूष्णीं (बिना मन्त्र पढ़े) तीन बार कण्डन, सूर्पादान, हविरुद्वपन, निष्पवन, विवेकीकरण, और कणनिधान करे। फलीकरण से यह तात्पर्य है कि हविष्करण, कण्डन, उद्वाप, निष्पवन, विवेचन, कणनिष्काशन करे। तदनन्तर पेषण और उपधान का युगपत् अनुष्ठान किया जाता है। अर्थात् तण्डुल का पेषण और कपालों का उपधान एक ही समय में एक साथ ही करना चाहिये। उसमें भी अन्तरंग होने से पेषण अध्वर्यु करे, और बहिरंग होने से कपालोपधान अग्नीत् करे। क्योंकि एक ही समय में और एक साथ दो कार्यों को एक व्यक्ति नहीं कर सकता। प्रथमतः कपालों का प्रक्षालन करता हैं, गार्हपत्य के पश्चात् भाग में बैठकर 'धृष्टिरसि०' मन्त्र से 'उपवेष' को हाथ से उठाता है। अङ्गार को सरकाने में समर्थ, हाथ के आकार वाले काष्ठविशेष को उपवेष' कहते हैं। हाथ में 'उपवेष' को लिया हुआ अग्नीत् उस उपवेष से गार्हपत्यखर में स्थित अपर भागीय अङ्गारों को खर के पूर्वभाग में 'अपाग्ने अग्निम्०' मन्त्र कहकर प्रेरित करे अर्थात् खिसकावे। खर में ही अङ्गार स्थान की अत्यन्त तप्त भूमि पर कपालों को रखा जाता है। तदनन्तर 'आदेवयजंवह' मन्त्र से पूर्व दिशा में खिसकाये हुए अङ्गारोंमें से वे एक अङ्गार को गार्हपत्य के पश्चिम भाग में दक्षिण पुरोडाश श्रपण करने की जगह उपवेष से लाकर स्थापित करे, और उस लायंहुवे अङ्गार के ऊपर 'ध्रुवमसि०' मन्त्र से मध्यम कपाल को रखे। उस समय यदि अभिचार करने की इच्छा हो ता 'ध्रुवमसि०' मन्त्र में वैरिवाचक 'भ्रातृव्य' शब्द के स्थान में षष्ठयन्त शत्रु (वैरी) के नाम का उच्चारण करे। अर्थात् 'भातृव्यस्य वधाय' में 'भ्रातृ-व्यस्य' पद के स्थान में 'अमुकस्य वधाय' इस प्रकार शत्रु के नाम को ले। तदनन्तर उदक (जल) स्पर्श (आचमन) करे। अभिचार की इच्छा न हो तो उदकस्पर्श करने की आवश्यकता नहीं है। वैरिमरणानुकूल व्यापार को 'अभिचार' कहते हैं। सव्य (बाँये) हाथ की अंगुली से स्पर्श किये हुए मध्यम कपालपर 'अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व' मन्त्र बोलकर एक अङ्गार को रखे। यह अङ्गारनिधान कपाल का संस्कार है, अतः प्रत्येक कपाल के लिये उसे पुनः करना चाहिये। तदनन्तर 'धरुणमस्यन्तरिक्षं दृꣳह ब्रह्म०' मन्त्र बोलकर मध्यम कपाल के पश्चात् भाग में द्वितीय कपाल को पहले रखे हुए कपाल से सटाकर रखे। तदनन्तर 'धर्वमसि दिवं दृꣳह ब्रह्मव०' मन्त्र से मध्यम कपाल के पूर्वभाग में तृतीय कपाल को उससे सटाकर रखे। उसके बाद 'विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि' मन्त्र से प्रथम कपाल के दक्षिणभाग में उससे संश्लिष्टकर चतुर्थ कपाल को रखे। उसके बाद 'चितस्थोर्ध्वचितः' मन्त्र बोलकर चतुर्थ कपाल के पूर्वभाग में पञ्चम कपाल को और चतुर्थ कपाल के ऊपर (पश्चिम) भाग में षष्ठ कपाल को तथा चतुर्थ कपाल के उत्तरभाग में दो कपालों को प्राक् संस्थ रखे। तात्पर्य यह है कि आठ कपालों में से चार को तो पहले ही रखा गया था, तदनन्तर अवशिष्ट चार रहे, तब उनका सम विभाग करके 'चितस्थेति' मन्त्र से दो दक्षिण भाग में और दो उत्तर भाग में प्रत्येक के साथ मन्त्र बोलकर प्रादक्षिण्येन उनका उपधान करे। अर्थात् एक को चतुर्थ से पूर्व और दूसरे को चतुर्थ से अपर में रखे। उसके बाद उत्तर की ओर पश्चात् भाग में एक और पूर्वभाग में द्वितीय (दूसरे) को रखे। अथवा चारों का उपधान करने के बाद अवशिष्ट जो चार बचे हैं, उन सभी कपालों का उपधान तूष्णीं ही करे, अर्थात्

पश्चात् द्वितीयं कपालमुपदधाति मध्यमकपालस्य पुरस्तात् तृतीयं कपालमुपदधाति धर्त्रमसीति मन्त्रेण। ततो 'विश्वाभ्य' इति मन्त्रेण मध्यमकपालस्य दक्षिणतश्चतुर्थं कपालमुपदधाति। ततश्चित: स्थेति चतुर्थात् पूर्वं पञ्चमं चतुर्थादपरं षष्ठं उत्तरतोद्वे प्राक्संस्थे पञ्चमप्रभृतीनां सर्वेषां चित: स्थेत्युपधानमन्त्र:। तूष्णीं वा पञ्चमादीनामुपधानम्। एवमेकादशकपालानि अग्नीषोमीयस्पोपदधाति तैरेवमन्त्रैः। तत्रैवं पूर्वं मध्यमं तत: पश्चात् द्वितीयं तत: पुरस्तात् तृतीयं मध्यमात् दक्षिणं चतुर्थं चतुर्थात्पूर्वमेकस्य कपालस्यान्तरालं परिशिष्य पञ्चमं चतुर्थपञ्चमयोरन्तराले षष्ठं चतुर्थस्य पश्चात् सप्तमम् तस्य पश्चादष्टमम् सर्वेभ्य उत्तरतो नवमदशमैकादशानि प्राक्संस्थानि। ततोभृगूणामित्यनेन ज्वलद्भिरङ्गारैः सर्वाणि कपालान्याच्छादनीयानि। ततस्तदैवोपसर्जनीरग्नीदेव गार्हपत्येऽधिश्रयति। पिष्टसयवनर्थां आप उपसर्जन्य:।

अथ पेषणम्-तत्राध्वर्युः शर्मासीति कृष्णाजिनमादाय अवधूतमिति पूर्ववद्धूनोति। ततोऽप उपस्पृश्य प्रत्यग्ग्रीवमदित्या इत्यास्तीर्य सर्वस्तेनाविमुक्ते कृष्णाजिने दक्षिणेन हस्तेन प्रागग्र दृषदं कृष्णाजिनस्योपरि निदधाति धिषणासीति। १।१२ ततोदिव: स्कम्भनीरिति १।११ दृषद: पश्चाद्भागे अधस्तादुदगग्रां शम्यां प्रेरयति। यथा दृषद: प्राचीनप्रवणता ज्ञायते ततोधिषणासि पार्वतेयीत्युपलां १।१० दृषद उदगग्रामुपदधाति। ततोधान्यमसीति १।२० दृषदि तण्डुलानोप्य प्राणायत्वेति १।२० प्रतिमन्त्रं पिनष्टि। पिष्यमाणेषु तण्डुलेषु कपालेषु भृगूणामिति ताप्यमानेषु यजमानो महीनामिति १।२० पात्रान्तरादाज्यमाज्यस्थाल्यां प्रक्षिपति। ततो वेदोऽसीतिमन्त्रेण वेदं करोति तत्र पशुकामो यजमान: प्रदक्षिणवृत्तं वत्सजानुसदृशं प्रादेशमात्रं वेदं करोति ब्रह्मवर्चसकामस्त्रिवृतं मूताकार करोति। मूतस्तृणपत्रादिनिर्मितधान्यावपनस्थानम्। कामाभावेऽपि त एव वेदस्याकारा भवन्ति निष्कामस्याकारान्तरानुपदेशात्। ततोऽध्वर्युर्दीर्घानुप्रसितिमिति १।२० दृषद उपरि वर्तमानानि पिष्टानि कृष्णाजिने प्रोहति। ततश्चक्षुषेत्वेति कृष्णाजिने पतितान पिष्टानि विलोकयति। तत पवित्रे पात्र्यां कृत्वा कृष्णाजिनात् पिष्टान्यादाय सपवित्रायां पात्र्यामावपति। कृष्णाजिनमुत्पाद्य तेनैवावपेदिति हरिस्वामिन:। देवस्य त्वेति संवपामीत्यन्तेन मन्त्रेण संवाप:। तत उत्थाय गार्हपत्यस्य पश्चा

'चितस्थेति' मन्त्र को न कहे। अग्नोषोमीय पुरोडाश के एकादश कपालों का उपधान भी इसी प्रकार से करना है। अर्थात् अष्टाकपालोपधान के समान ही चारों का मन्त्र से और अवशिष्ट सातों का तूष्णीं उपधान करना है। उसका प्रकार यह है प्रथमत: मध्यम कपाल, उसके पश्चात् द्वितीय कपाल, और पुरस्तात् तृतीयकाल, तथा मध्यम के दक्षिण से चतुर्थकपाल, चतुर्थ से पूर्व एक कपाल के अन्तराल को छोड़कर पञ्चम को और चतुर्थ पञ्चम के अन्तराल में षष्ठ को तथा चतुर्थ के पश्चात् सप्तम्, उसके पश्चात् अष्टम और उसके उत्तरभाग में नवम, दशम और एकादश कपालों को प्राक्संस्थ रखना चाहिये। एकादश कपालोपधान में विशेषता यह है—अष्टाकपालोपधान की तरह चार कपालों का उपधान करने के बाद अवशिष्ट सात कपालों को सम विभक्त करनेके समय जिस अधिक सप्तम कपाल का विभाग नहीं कर पाते हैं, उस सप्तम कपालका उपधान दक्षिण भागमें करदेना चाहिये। अर्थात् चार कपालोंका उपधान करनेके बाद दक्षिण भागमें चार कपाल होते हैं,और तीन कपाल उत्तरभागमें रखे जाते हैं। इस रीतिसे एकादश कपालों का उपधान किया जाता है। इस प्रकार उपहित किये गये कपालों को 'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' मन्त्र बोलकर अङ्गारों से तपाना चाहिये। अर्थात् अङ्गारों से कपालों को आच्छादित कर देना चाहिये (ढक देना चाहिये)। जहाँ एक कपाल हो वहाँ मन्त्र में 'तप्यस्व' और जहाँ दो कपाल हों, वहाँ 'तप्येथाम्' इस प्रकार से ऊह किया जाता है। तदनन्तर उसी समय अग्नीत् संज्ञक ऋत्विज् उपसर्जनी को गार्हपत्य पर चढ़ाता (अधिश्रित करता) है। पिष्ट संयवनार्थ (चावल का आटा माँड़ने के लिये) जो जल होता है, उसे 'उपसर्जनी' कहते हैं। उपसर्जनी का गार्हपत्य पर अधिश्रयण और पेषण दोनों का समान काल है। अत: पेषणकार्य में अध्वर्यु के व्यापृत होने से उपसर्जना का अधिश्रयण आग्नीध्र को करना पड़ता है। चर्विष्टि आदि में जहाँ पेषण नहीं है, वहाँ उपसर्जनी का अधिश्रयण अध्वर्यु ही करता है।

अब पेषण का प्रकार बताते हैं—अध्वर्यु 'शर्मासीति' मन्त्र बोलकर कृष्णाजिन को उठाता है और 'अवधूतमिति' मन्त्र से उसे झटकारता है। तदन्तर जलस्पर्श करता है। तदनन्तर उसे प्रत्यग् ग्रीव करके (पश्चिम की

दुपविशति वेदिमध्येवा। तत आग्नीध्रः स्फ्यं सव्यहस्ते गृहीत्वोपासर्जनीरुद्धास्याध्वर्योर्दाक्षिणेनानीय पिष्टानामुपरि धृतस्य सपवित्रस्याध्वर्योर्हस्तस्योपरिनिनयति। ततोध्वर्युरग्नीधा निनीयमाना उपसर्जनीर्दक्षिणहस्तधृताभ्यां पवित्राभ्यां प्रतिगृह्णाति समाप ओषधीभिरिति। अग्नीधा च तथा निनयनं कार्यं यथाध्वर्योर्मन्त्रान्ते ग्रहणं सम्पद्येत। जनयत्यैत्वेति १।२१ मन्त्रेणोदकं पिष्टानि संयौति। समं विभज्य द्वौपिण्डौ कृत्वा पात्र्यामुदक्संस्थौ निधाय क्रमेणालभते इदमग्नेरिति १।२२ प्रथमं इदमग्नीषोमीयमिति द्वितीयम्। ततोऽग्नीद्वेदं सव्यहस्ते गृहीत्वा इषेत्वेति १।२२ दक्षिणत आज्यमधिश्रयति। अध्वर्युः सहैवाष्टासु कपालेषु प्रथमंपुरोडाशमधिश्रयति धर्मोऽसीति। स्फ्योपग्रहेण तत एकादशसु द्वितीयं पुरोडाशमधिश्रयति धर्मोसीति सतउरुप्रथा-इति यावत्कपालं पुरोडाशं प्रथयति ; अतिपृथुं न कुर्यात्, एवमेव द्वितीयम्। ततोऽग्निष्टे त्वचमिति मन्त्रेण पुरोडाशमद्भिरभिमृशति सकृद्वात्रिर्वा मन्त्रः सकृदेव। एवं द्वितीयमपि श्लक्ष्णयति प्रथमे क्रियमाणे यत्र क्वचनविदीर्णं तत्सन्दधाति। ततः पात्र्यामंगुलोनां प्रक्षालनम्। ततोगार्हपत्यादङ्गारमानीयान्तरितं ऌ रक्ष इति पर्यग्निकरणम्। आज्यस्थाली पुरोडाशान् परितः प्रदक्षिणमङ्गारं परिह्यति। ततोऽङ्गारं गार्हपत्ये प्रक्षिप्य हस्तस्याप्रादक्षिण्येनानयनम्। उदकस्पर्शः। ततोदेवास्त्वेति मन्त्रेण ज्वलद्भिर्दर्भतृणैः प्रथमं पुरोडाशं श्रपयति। एवमेव-द्वितीयम्। ततः शृताशृतज्ञानाय माभेर्मा संविक्था इति १।२३ क्रमेण द्वौ पुरोडाशावालम्भते। अशृतौचेत् पुनः श्रपण प्रक्षेपः। शृतौचेत् अतमेरुरिति मन्त्रेण वेदेनोपवेषेण वा तप्ततरेणाङ्गारमिश्रेण भस्मनाच्छादयति। ततः पात्र्यंगुलि प्रक्षालनजलं पात्रोस्थमेव गार्हपत्यादीप्तैस्तृणैर्ज्वलद्भिस्तापयित्वा विहारस्योत्तरतः स्फेयन तिस्रोलेखाः प्राक्संस्थाः कृत्वा परस्परं संसर्गमप्राप्नुवत् त्रितायाश्यायत्वेति प्रतिमन्त्रं निनयति इदं द्वितीयाध्याय त्वा इदमेकतायाद्यायेति-त्रयभ्यागा।

तरफ उसकी ग्रीवा करके) 'अदित्या इति' मन्त्र से उसे बिछाता है और सब्य (बाँये) हाथ से उसे स्पर्शकर (उसे पकड़े हुए) दक्षिण (दाहिने) हाथ से दृषद (सिल) के प्रागग्र करके 'धिषणाऽसि' मन्त्र बोलकर कृष्णाजिन पर उसे रखे। इस प्रकार कृष्णाजिन पर शिला रखने के बाद 'दिव स्कम्भनीरसि' मन्त्र बोलकर उस दृषद् (शिला) के पश्चात् भाग में (दृषद् के अधोभाग में) द्वादशाङ्गुलवाली उदगग्र शम्या को अध्वर्यु रखे। इस प्रकार शम्या को दृषद् के नीचे लगाने से वह शिला पश्चात् भाग से उँची और अगले भाग से निम्न (नीची) हो जाती है। तदनन्तर पेषण करने के लिये 'धिषणाऽसि' मन्त्र से दृषद् (शिला के ऊपर उपला (शिलापुत्रक) को उदगग्र स्थापित करे। उसके बाद 'धान्यमसि धिनुहि देवान्' मन्त्र बोलकर शिलापर तण्डुलों को उड़ेलकर 'प्राणायत्वा' इत्यादि प्रत्येक मन्त्र से पेषण करना चाहिये। उक्त पेषण मन्त्रों में 'पिनष्मि' का अध्याहार किया जाता है। अर्थात् 'प्राणाय त्वा पिनष्मि, उदानाय त्वा पिनष्मि, व्यानाय त्वा पिनष्मि' कहना होगा। उसी तरह 'धान्यमसि धिनुहि देवान्' में भी 'देवम्,' 'देवौ' इस प्रकार जहां जैसी आवश्यकता हो उस प्रकार विकृति में ऊह करते हैं। पितृयज्ञ में 'पितृन्' ऐसा ऊह किया जाता है। तण्डुलों के पीसे जाने पर और 'भृगूणामिति' मन्त्र से कपालों के तपाये जाने पर ब्रह्मा 'महीनां पयोऽसि' मन्त्र कहकर पात्रान्तर से आज्यस्थाली में आज्य उड़ेलता है। तदनन्तर 'वेदोऽसि' मन्त्र कहकर 'वेद' बनाता है। यदि यजमान पशु काम हो तो प्रदक्षिणवृत्त वत्सजानु के आकार का प्रादेश परिणाम वाला वेद बनावे। यदि ब्रह्म-वर्चसकाम हो तो त्रिवृत मूताकार बनावे। तृण-पत्र आदि से निर्मित धान्यावपन स्थान की 'मूत' कहते हैं। यजमान यदि निष्काम हो तब भी वेद को उन्हीं आकारों में बनाना चाहिये। क्योंकि निष्काम के लिये किसी अन्य आकार का विधान नहीं किया गया है। उसके अनन्तर अध्वर्यु 'दीर्घामनु प्रसितिम्०' मन्त्र कहकर दृषद् पर विद्यमान पिष्ट को कृष्णाजिन पर गिरा दे।

कृष्णाजिन पर गिरायेगये पिष्ट को 'चक्षुषं त्वा ईक्षे' मन्त्र कहकर देखे। यहां हर 'चक्षुषे त्वा' मन्त्र में 'ईक्षे' का अध्याहार किया जाता है। चर्विष्टि में तण्डुलों का भी ईक्षण किया जाता है। तदनन्तर अध्वर्यु प्रोक्षणी-पात्र से दोनों पवित्रों को लेकर इडा पात्री में उन्हें उदगग्र रखकर उस सपवित्रक इडापात्री में कृष्णाजिनपर स्थित पिष्ट को 'देवस्य त्वा' मन्त्र कहकर कृष्णाजिन से ही डालता है। इडापत्री में पिष्ट का जो आवपन (डालना)

तदुक्तम्—'आदौ द्रव्यपरित्यागः पश्चाद्धोमो विधीयते । प्रयोगमिदमिन्द्राय नममेति यथार्थतः । अवत्तं तु त्यजेदन्नं मनसा वचसापि च । ततश्च प्रक्षिपेदग्नाविति धर्मः सनातनः ॥' प्रणवपूर्वकः त्यागः कार्यः । चतुर्णामृत्विजां तृप्तिपर्यन्तभोजनसमर्थं दक्षिणाग्नावधिश्रयति । श्रपणार्थमत्रावसरे ग्रहणम् ततो वेदिमानम् प्रथमं पश्चात्तिर्यग्व्यामात्रीं मिमीते चतुर्भिररत्निभिर्व्यामो भवति । ततो मध्ये त्र्यरत्निं प्राचीं मिमीते । ततः पुरस्तात् त्र्यरत्निं मिमीते वरुणप्रघासेषु त्रयः पुरस्तादिति ५।३।१३ पुरस्तात् माने त्र्यरत्निदर्शनाच्च । ततः श्रोण्योरारभ्य दक्षिण उत्तरतश्च वेदिं मध्यसङ्गृहीतां कुर्यात् । ततोऽग्निमभितो सौत्रं कुर्यात् ततोऽग्नीद्वेदेः परिसमूहनं कृत्वा गार्हपत्याहवनीययोरन्तरालस्योत्तरपूर्वं तृतीये उत्करं तृणधूल्यादिराशिं करोति । ततोऽध्वर्युर्देवस्य त्वा आददेऽध्वरकृतमिति १।२४ मन्त्रेणासादिततृणसहितस्फ्यमादाय सव्ये हस्ते कृत्वा सतृणं स्फ्यं निधाय दक्षिणेन हस्तेनालभ्येन्द्रस्य बाहुरिति स्वरेण जपति । अत्र हस्तमार्जनेन स्फ्यस्य तीक्ष्णीकरणम् । स ७ँ श्यत्वेवैनमेनदिति (१।२।४।७) श्रुतेः । तेन वज्रेण स्तम्बयजुर्हरणादर्वाक् पृथिव्यात्मनोः स्पर्शो न कार्यः । अभिचरतोद्विषत इति स्थाने अमुष्य शत्रोर्नाम गृह्णीयात् । उदकोपस्पर्शः । तदभावे तदभावः । ततः "पृथिव्यै वर्मासी" तिमन्त्रेण तं तृणं वेद्यामुदगग्रं निदधाति । पृथिवि देवयजनी १।२५ तिमन्त्रेण तृणस्याधस्तात् भुवि स्फ्येन प्रहरति । ततो व्रजं गच्छेति प्रहरणेनोत्खातं पुरीषं पांसुहस्तेन गृह्णाति । ततो वर्षतुत इति प्रहरणदेशे प्रेक्षते । ततो वधान देवेतितद्गृहीतं पुरीषमुत्करे प्रक्षिपति । अत्राप्यभिचारतो नामौगित्यत्र तमिति

किया जा रहा है, वह संयवन के लिये किया जा रहा है । अतः चर्विष्टि में संयवन के न होने से तण्डुलों को इडापात्री में नहीं डाला जाता, तथापि पवित्रों को प्रोक्षणी से निकाल कर इडापात्री में अदृष्टार्थ रखा जाता है । वहाँ से उठकर गार्हपत्य के पश्चात् भाग में अथवा वेदी में बैठता है । तदनन्तर आग्नीध्र अपने वाम हस्त में 'स्फ्य' को लेकर और तपी हुई उपसर्जनी (जल) को गार्हपत्य से उठाकर उसे अध्वर्यु के दक्षिण भाग से लाकर पिष्ट के ऊपर रखे हुए अध्वर्यु के सपवित्र हाथ पर डालता है । आग्नीध्र के द्वारा समानीत उपसर्जनी को दक्षिण हाथ से धारण किए हुए दो पवित्रों से 'समापऽओषधीभिः' मन्त्र कहने के बाद अध्वर्यु लेता है । उपसर्जनी का आनयन चरु में भी होता है, क्योंकि वहाँ भी उदक की आवश्यकता रहती है । गृहमेधीयादि इष्टि में 'समाप' के स्थान पर 'सम्पय'—ऐसा विपरिणाम किया जाता है । उसी प्रकार जहाँ दधि और घृत हो वहाँ पर भी विपरिणाम समझ लेना चाहिये । आग्नीध्र को उसी प्रकार निनयन करना चाहिये, जिससे मन्त्र समाप्त होने पर अध्वर्यु उस जल (उपसर्जनी) को ले सके । 'जनयत्यै त्वा०' मन्त्र बोलकर उदक और पिष्ट दोनों को मिश्रित करे । तब जल से मिश्रित किये पिष्ट के दो समान विभाग करके उन से दो पिण्ड तयार करे । और उन्हें इडापात्री में उदक् संस्थ रखकर क्रम से दो मन्त्र बोलकर दो पिण्डों का स्पर्श करे । अर्थात् 'इदमग्नेः' मन्त्र कहकर प्रथम पिण्ड को और 'इदमग्नीषोमीयम्०' मन्त्र कहकर द्वितीय पिण्ड को स्पर्श करे । यह आलंभ (स्पर्श) देवता निर्देशरूप दृष्टप्रयोजन के लिये है । अतः जहां देवता अधिक हों, वहीं पर तत्तद्देवताओं का निर्देश करने के लिये विभाग और आलम्भन की आवश्यकता है, इस कारण जहाँ एक ही देवता हो वहाँ न विभाग किया जाता है और न देवतानिर्देश ही किया जाता है । देवतानिर्देश करने के बाद ब्रह्मा (आग्नीध्र वाम हस्त में वेद को लेकर) 'इषेत्वाऽधिश्रयामि०' मन्त्र कहकर गार्हपत्य के दक्षिण भाग में आज्य का अधिश्रयण करे । यहां पर 'इषे त्वा०' ये मन्त्र पद साकांक्ष रहने से 'अधिश्रयामि' का अध्याहार किया जाता है । श्रौतसूत्र कार ने आज्याधिश्रयण का कर्ता 'अन्य' शब्द से बताया है । अतः ऋत्विजों में से वह अन्य 'ब्रह्मा' ही होगा, क्योंकि अध्वर्यु पुरोडाशाधिश्रयण में व्यापृत है । जब अध्वर्यु किसी विहित कार्य में व्यापृत न हो तब (विकृतीष्टि में) वह स्वयं ही आज्याधिश्रयण करे । अध्वर्यु और आग्नीध्र दोनों एकसाथ ही 'धर्मोऽसीति' मन्त्र बोलकर आग्नेय अग्नीषोमीय पुरोडाशों का अधिश्रयण करते है । उनमें अध्वर्यु आग्नेय पुरोडाश का ओर अग्नीत्, अग्नीषोमीय पुरोडाश का अधिश्रयण करता है । वह हविष्कवाली इष्टि में अन्य ऋत्विज् भी अधिश्रयण कर सकते हैं । अध्वर्यु और अग्नीत् अपने-अपने आग्नेय और अग्नीषोमीय पुरोडाशों का प्रथन करते हैं । अर्थात् 'उरु-प्रथा उरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्'मन्त्र बोलकर कपालका जितना परिमाण हो उतना ही प्रथन अधिश्रित पुरोडाशका करे,

स्थानेऽमुकमिति शत्रुनाम गृह्णीयात् । उदकोपस्पर्शः । तदभावेऽभावः ततोऽपारुरुमिति १।२६ मन्त्रेण पूर्वप्रहृतादुत्तरतस्तृणस्याधस्तात् स्फ्येन द्वितीयं प्रहरति । उदकस्पर्शः । मन्त्रस्यासुरत्वात् पूर्ववत्पुरीषादानवेदिप्रेक्षणपुरीषक्षेपणानि ततोऽग्नीत् स्फ्यं गृहीत्वा द्वाभ्यां पाणिभ्यामुत्करमभिन्यस्यति पाणिभ्यामुत्पीडयतीत्यर्थः ।

उदकोपस्पर्शः । "ततो द्रप्सत" (१।२६) इति मन्त्रेण द्वितीय प्रहृतादुत्तरतस्तृणस्याधस्तात् तृतीयं प्रहरति । अत्रापि पुरीषादानादीनि । ततस्तृतीयप्रहृतादुत्तरतष्तृणस्याधस्तात् तूष्णीं चतुर्थं प्रहरति । तूष्णीमेव सतृणं पुरीषादानम् । तूष्णीमेवोत्खातप्रदेशप्रक्षेपणं सतृणस्य पुरीषस्योत्करे प्रक्षेपस्तूष्णीमेव । ततो ब्रह्मन् पूर्वपरिग्रहं परिग्रहीष्यामीति ब्रह्माणं पृच्छति । ततो ब्रह्मा बृहस्पते परिगृह्णीतेमं मन्त्रं धेहीत्यन्तमुपांशु पठित्वा ओम् परिगृहाणेत्युच्चैरध्वर्युमनुजानीते । ततोऽनुज्ञातोऽध्वर्युः स्फ्येन श्रोणेरारभ्य दक्षिणतो गायत्रेण त्वेति १।२७ वेदिं परिगृह्णाति । आहवनीयखरपर्यन्तां रेखां करोति त्रैष्टुभेनेति दक्षिणश्रोणेरारभ्योत्तरश्रोणिं यावत् परिगृह्णाति । ततजागतेनेत्युत्तरश्रोणेरारभ्योत्तरपार्श्वे परिगृह्णाति आहवनीयखरंयावत् । ततोवेद्यां प्रागायता उदक्संस्थास्तिस्रो लेखास्तूष्णीं स्फ्येन लिखित्वा हर त्रिरित्यग्नीधं प्रतिब्रूयात् । ततोऽग्नीत्ताभ्यो लेखाभ्यः पांसुमुद्धृत्योत्करे प्रक्षिप्य ता लेखाः संमृशेत् मार्जनेनस्फोटयेत् । ततोऽभ्रिमादाय प्रदक्षिणं सर्वतो वेदिं खनति त्र्यङ्गुलमू ओषधिमूलोच्छेदपर्यन्तं वा । अस्मिन् पक्षे ओषधीनां मूलोच्छेत्तवे इति प्रेषमध्वर्युरग्नीधं प्रति ब्रूयात् । स च प्रेषितो मूलोच्छेदपर्यन्तं खननं करोति । ततो ब्रह्मन् उत्तरं परिग्रहं परिग्रहीष्यामीति ब्रह्माणं पृच्छति । ब्रह्मा च पूर्ववत् बृहस्पते परिगृहाणेति पठित्वा ओम् परिगृहाणेति प्रस्तौति । ततः पूर्ववत् स्फ्येन दक्षिणपश्चिमोत्तरपार्श्वेषु वेदिं परिगृह्णाति सुक्ष्माचासीति दक्षिणतः । स्योनाचासीति पश्चात् ऊर्जस्वतीत्युत्तरतः । ततः स्फ्येन दक्षिणां दिशं प्रति वेदिपुरीषमुदुह्य पुरा क्रूरस्येति १।२८ मन्त्रेणानुमार्ष्टि प्राक्संस्थं पुरस्तादारभ्य प्रतीचीं दिशं प्रति पुराक्रूरस्येति मन्त्रेणानुमार्ष्टि । प्रत्यक्संस्थमनुमार्जनमुक्तमस्तीति तथैवानुष्ठेयम् । स्वशाखायां विशेषानुपदेशात् । अनुमार्जनश्चात्र खननेन समीकरणम् । पशुकामस्य यजमानस्य प्रागनुमार्जनाद्वेदि-

---

उस से अधिक नहीं । श्रौतसूत्रकार ने 'यावत् कपालमनतिपृथुम्' कहा है । किन्तु यावत्कपालं कहने से ही अनतिपृथुत्व सिद्ध हो ही जाता है, तब भी 'अनतिपृथु' कहने का तात्पर्य यह है कि कपालों का परिमाण, श्रुत्युक्त ही होना चाहिये । जिस पुरोडाश का जिसने अधिश्रयण किया हो, वही उसका प्रथनादि अभिमर्शनान्त कार्य करे । 'अग्निष्टे त्वचं माहिर्ठं सीत्' मन्त्र कहकर जलार्द्र हाथ से पुरोडाश का सब ओर से या तीनवार स्पर्श करे, किन्तु मन्त्र एक ही बार कहना होगा । उसी प्रकार दूसरे को भी जलार्द्र हाथ से श्लक्ष्णित करे । ऐसा करने से जहाँ कहीं प्रथन करते विस्तीर्ण-फैलाते) समय यदि विदीर्ण हो गया हो तो उसका सन्धान हो जाता है । इस अभिमर्शन के अनन्तर पात्री प्रक्षालन और अंगुलि प्रक्षालन करने के लिये यद्यपि नहीं कहा है, तथापि पिष्टलिप्त पात्री प्रक्षालन और पिष्टलिप्त अंगुलि-प्रक्षालन यहाँ पर अवश्य करना होगा, क्योंकि आगे चलकर सूत्रकार ने इस प्रक्षालन जल की प्रतिपत्ति का विधान किया है । यदि उत्पत्ति ही न हो तो प्रतिपत्ति का होना सम्भव ही नहीं होगा । अतः यहाँ पर अनुक्त रहने पर भी पात्री तथा अंगुली का प्रक्षालन तदनन्तर गार्हपत्य से अंगार लाकर 'अन्तरित र्ं० रक्षोऽन्तरिता अरातयः' इस मन्त्र को बोलकर पर्यग्निकरण करे । अर्थात् आज्यस्थालो और पुरोडाशों के चारों ओर प्रदक्षिण करते हुए अंगार को घुमावे । पश्चात् अंगार को गार्हपत्य में डालकर हाथ को अप्रदक्षिण करते हुए लावे । तब उदकस्पर्श करे । तदनन्तर 'देवस्त्वा सविता' मन्त्र कहकर जलते हुए दर्भतृणों पर प्रथम पुरोडाश का श्रयण करे । उसी प्रकार दूसरे पुरोडाश का श्रयण करे । तदनन्तर उनकी पक्वता अपक्वता को जानने के लिये 'मा भेर्मासंविक्था:' (वा० सं० १।२३) मन्त्र बोलकर क्रम से दोनों पुरोडाशों का स्पर्श करे दोनों का स्पर्श करने के लिये दो बार मन्त्र बोलना होगा । यह अभिमर्शन (स्पर्श) शृताशृत परिज्ञानार्थ होने से चरु में भी होगा । धाना में नहीं होगा, क्योंकि उनको देखने से ही उनके पाक का ज्ञान हो जाता है । यदि शृत (पक्व) न हुए हों तो उन्हें पुनः श्रपणार्थ-डाल दें यदि शृत (पक्व) हो गये हों तो 'अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजाभूयात्'—(वा० सं० १।२३) मन्त्र बोलकर वेद से अथवा उपवेष से तप्ततर अंगार मिश्रित भस्म लेकर उस से उन पुरोडाशों को आच्छादित कर दे । चरु पर भस्म से अभिवासन

पुरीषं निष्काश्योत्करे प्रक्षिप्यान्यपुरीषमानीय वेदेः पूरणम् ततोऽनुमार्जने समीकरणम्। ततोऽग्नीत्प्रोक्षणीर्गृहीत्वा वेदेरुपरिष्टात् समीप एव धारयति।

ततो धार्यमाणासु प्रोक्षणीष्वध्वर्युः स्फ्यमुद्यम्य सर्वं प्रैषजातमाह प्रोक्षणीरासादय। इध्मंबर्हिरूपसादय। स्रुचः सम्मृड्ढि। पत्नीं सन्नह्याज्येनोदेहीति। अनेकपत्नीकेऽपि पत्नीशब्दस्य नोहः। यदि प्रेषणेच्छाभवेत्तदा प्रेषणं कुर्यात्। यदि नेच्छेत् तदा अप्रेषितोऽप्याग्नीध्र एव कुक्कुटाहनादिवत् प्रोक्षण्यासनादिपदार्थान् कुर्यादिति हरिस्वामिनः। अप्रैषपक्षेऽप्यध्वर्युः करोतीत्यपरे। ततो द्विषतो वध इति मन्त्रेण स्फ्यमुत्करे प्रक्षिपति। अभिचरतोऽमुष्मै वा वज्रं प्रहरामीति विशेषः। अमुष्मै इत्यत्र शत्रोश्चतुर्थ्येकवचनान्तं नामग्रहणम्। ततोपामुपस्पर्शः। तदभावेऽभावः। ततोऽध्वर्युः स्फ्यं गृहीत्वोत्करे पाणी प्रक्षाल्य प्रणीतानां पश्चात् प्रागग्रमुदगग्रं वा स्फ्यं निदधाति। ततोऽग्नीद्वेदिमध्ये उदगग्रामग्निहोत्रहवणीमासाद्य प्रणीतानां पश्चात् स्फ्यस्योत्तरतः प्रागग्रमिध्ममासाद्येध्मादुत्तरतोबर्हिः प्रागग्रमासादयति। अथवा

(आच्छादन) नहीं किया जाता। तदनन्तर पिष्टलिप्त पात्री प्रक्षालन जल और पिष्टलिप्त अंगुली प्रक्षालन जल को पात्री में ही गार्हपत्य से लाये हुए उल्मुक (जलते हुए तृणों) से तपाकर पूर्व से आरम्भ कर पश्चिम तक उत्कर के समीप विहार के उत्तर में भूमि पर स्फ्य से प्राक्संस्थ तीन रेखाओं को कर परस्पर संसर्ग जिस तरह न हो पाये उस तरह 'त्रितामाप्त्यायत्वा' मन्त्र बोलकर त्रितादि तीन देवताओं के लिये अध्वर्यु उसका निनयन करे। अर्थात् त्रित-आप्त्य आदि देवतारूप होने से उन्हें उद्देश्य कर त्याग करे। यहां तीनों मन्त्रों में 'निनयामि' का अध्याहार करना चाहिये, यानी 'त्रिताय त्वा निनयामि, द्वितायत्वा निनयामि, एकताय त्वा निनयामि' इस प्रकार मन्त्र कहे।

कहीं पर कहा भी है - पहले द्रव्य का त्याग करे तदनन्तर होम करे। 'इदमिन्द्राय न मम' यही अपने अर्थ के अनुरूप त्याग पदार्थ है। मन और वाणी से भी अवत्त (गृहीत) अन्न का त्याग करे, तदनन्तर अग्नि में उसका प्रक्षेप करे। यही सनातन धर्म है। त्याग हमेशा प्रणव पूर्वक करना चाहिये। तदनन्तर अन्वाहार्य ओदन का दक्षिणाग्नि पर अधिश्रयण करे। दर्शपूर्णमासेष्टि में दक्षिणार्थ जो ओदन (भात) है, उसे 'अन्वाहार्य' कहते हैं। चार ऋत्विजों की तृप्ति करने में पर्याप्त उस अन्वहार्य संज्ञक दक्षिणार्थ ओदन का अधिश्रयण अध्वर्यु दक्षिणाग्नि पर करे। इस ओदन का पाक प्रणीता के जल से अथवा लौकिक जल से किया जाता है। किन्तु प्राशित्र प्रहरणपात्र का प्रक्षालन और अध्वर्यु के हाथ का प्रक्षालन प्रणीता के जल से ही करना चाहिये, क्योंकि वह सर्वार्थ होता है।

तदनन्तर वेदिखनन किया जाता है। उसके खनन करने का प्रकार यह है—पूर्व दिशा में अरत्निमात्र, चतुरस्र, द्वादशाङ्गुल उच्च और चतुरङ्गुल विस्तीर्ण मेखला वाले आहवनीयखर का निर्माण कर उसके पश्चिम में तीन अंगुल के खातवाली, और पूर्व तथा अपर भार में तीन अरत्नि प्रमाण की विस्तीर्ण, उसी तरह पश्चिम में चार अरत्नि परिमाण की दक्षिण तथा उत्तरभार में आयत (विस्तीर्ण), विषम चतुरस्र वाली वेदी का निर्माण अध्वर्यु करे। अथवा उक्त प्रमाण के बजाय यजमान कल्पित प्रमाण से पूर्वभाग या उत्तरभाग में किञ्चित् निम्ना और मध्य में अखात संग्रहवती वेदी को अध्वर्यु बनावे। यजतिस्थान और जुहोतिस्थान की 'संग्रह' शब्द से कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रथमतः पश्चिम भागे तिर्यक् व्याममात्र परिमाण और मध्यभाग में पूर्व को त्र्यरत्नि परिमाण रखना चाहिये। चार अरत्नियों का व्याम होता है। तदनन्तर सामने तीन अरत्नि परिमाण रखे। वरुण प्रघासेष्टि में 'त्रयः पुरस्तात्' (का० श्रौ० सू० ५।३।१२) पुरस्तात् भाग में में तीन अरत्नि परिमाण दृष्टिगोचर होता है। तदनन्तर दोनों श्रोणियों से आरम्भ कर दक्षिण और उत्तर वेदी को मध्य संगृहीत करे। तदनन्तर सूत्रोक्त प्रकार से अग्नि के चारों ओर अनुष्ठान करे। अग्नीत् नाम का ऋत्विज् कुशाओं से वेदि का परिसमूहन करके गार्हपत्य और आहवनीय के बीच में आहवनीय के उत्तर और वेदि के पूर्वभाग के वितृतीय देश (स्थान) में अर्थात् संग्रह स्थान में तीन अंगुल का वृत्ताकार और छह अंगुल का विस्तार जिसका हो ऐसे एक अंगुल के गर्त अर्थात् पांसु आदि के प्रक्षेप

इध्मं प्रणीत दक्षिणेन प्रदक्षिणामाहृत्य प्रणीतानां पश्चादेव प्रथममासादयति। ततो बर्हिः। तत आग्नीध्रः। खादिरं स्रुव मादाय प्रत्युष्टं रक्षः, निष्ट प्रमितिवा मन्त्रेण गार्हपत्ये प्रतप्य उपस्पृश्याग्निसमीपात् प्राच्यां गत्वा वेदाग्नेरन्तरतः प्राञ्चं संमार्ष्टि। मूलादारभ्याग्रपर्यन्तं अनिशितोऽसीति १।३० मन्त्रेण ततो वेदमूलैर्बर्हिः प्रदेशे स्रुवपुष्करस्य ब्रुध्नादारभ्य मूलपर्यन्तं प्रत्यञ्चं संमार्ष्टि अनेनैव मन्त्रेण। ततोऽग्निसमीपे गत्वा पूर्ववत्प्रतप्याप उपस्पृश्याध्वर्यवे समर्पयति। ततो जुहूमादाय प्राङुत्क्रम्यानिशितासीति स्रुवमन्तरतो वाह्यतश्च मन्त्रेण संमृज्य पूर्ववत्प्रतप्याप उपस्पृश्याध्वर्यवे प्रयच्छति। एवमेवोपभृतं ध्रुवाञ्च संमृज्यप्रतप्य प्रयच्छति। प्रततस्तूष्णीं प्राशित्रहरणे शृतावदानं पुरोडाशपात्रीं च प्रत्येकं प्राङुत्क्रम्य तूष्णीमन्तर्बहिश्च संमृज्याग्निसमीपमागत्य तूष्णीं प्रताप्याध्वर्यवे प्रयच्छति। तत्र रक्षोदैवतमन्त्रोचारणा भावादुदकस्पर्शाभावः। ततः सम्मार्जनानि उत्करे प्रक्षिपत्याहवनीयेवा। उत्ताना धारयमाणः स्रुचः संमार्ष्टि। संमृष्टान्यसंमृष्टैः स्पर्शयति। यथास्थानमुत्तानाः स्रुचः सादयति। शाखान्तरीया अत्रविशेषाः। इडापात्रीषडवत्तयोस्तु न संमार्गः क्वचिदपि सूत्रेऽदर्शनात्। पुरोडाशपात्री च द्वयोः पुरोडाशयोः साधारणी एकैव भवति पात्रीमित्येकवचनात्।

ततः पत्नी संनहनम्। तत्राग्नीध्रोयोक्त्रमादाय गार्हपत्यान्नैर्ऋत्यां दिशीशानाभिमुखीमुपविष्टां पत्नीं परिधानवस्त्रात् बहिर्योक्त्रेण प्रदक्षिणं वेष्टयति अदित्यै रास्नासीति (१।३०) मन्त्रेण। ततो दक्षिणं पाशमुत्तरे शङ्कुस्थानीये प्रतिमुच्य सामर्थ्याद्धि वेष्टयित्वा योक्त्रस्यान्तमूर्ध्वमुदूहति विष्णोर्वेष्योसीति मन्त्रेण ग्रन्थि न करोति। ततो

करने के लिये एक गड्ढा करे। इसी गर्त को 'उत्कर' संज्ञा दी गई है। गार्हपत्य मध्य शंकु और आहवनीयमध्य शंकु से बँधी हुई रज्जु के मध्यवर्ती चिन्हों के पूर्वस्थान में रज्जु को लेकर उत्तर की ओर खीच ने में जहां चिन्ह होता है, उसे 'वितृतीय' देश कहते हैं। यही उत्कर स्थान कह लाता है। उसके बाद अध्वर्यु 'देवस्यत्वा स० म्। आददेऽध्वरकृतं देवेभ्यः' —(वा० सं० १।२४) मन्त्र से आसादित तृण के सहित स्फ्य को उठाकर उसे वामहस्त में रखकर वामहस्तस्थित उस सतृण स्फ्य को दक्षिण हस्त से स्पर्श कर 'इन्द्रस्य बाहुरसि०' मन्त्र को सस्वर जपे। इसी समय उस पर हस्त मार्जन करते हुए उस स्फ्य को तीक्ष्ण करे। 'स ७ँ श्यत्येवैनमेनत्' ऐसा श्रुति कह रही है। पितृयज्ञ में मन्त्रगत 'देवेभ्यः' के बजाय 'देवपितृभ्यः' यह विपरिणाम करना चाहिये। यह स्फ्यादान और जप, स्तम्बयजुर्हरणार्थ होने से उसके अभाव में नहीं किया जाता। प्रहरण से लेकर पुरीषनिवपनान्त कर्म को 'स्तम्बयजुर्हरण' शब्द से कहा जाता है। स्तम्बयजुर्हरण से पूर्व उस वज्र से पृथिवी और आत्मा का स्पर्श न करे। 'अभिचरतो द्विषतः' के स्थान में 'अमुष्य' अर्थात् शत्रु का नाम कहना चाहिये। तदनन्तर उदक स्पर्श करे। यदि अभिचार न करना हो तो उदकस्पर्श न करे तदनन्तर 'पृथिव्यै वर्मासि' मन्त्र बोलकर भावी वेदी में अर्थात् जिस में वेदी का निर्माण किया जायेगा, उस देश में अध्वर्यु स्फ्य के साथ ग्रहण किये हुए तृण को उदगग्र रख दे तदनन्तर 'पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिंठं० सिषम्'—(वा० सं० १।२५) मन्त्र बोलकर तृण से अन्तर्हित भूमिपर वज्र से प्रहार करे। तृण पर ही प्रहरण करने का सम्प्रदाय है। वज्र के द्वारा प्रहार करने से उद्धृत मृत्तिका को यानी उसके पुरीष को 'वज्रं गच्छ गोष्ठानम्' मन्त्र बोलकर हाथ से ग्रहण करे। तदनन्तर 'वर्षतु ते द्यौः' मन्त्र बोलकर वेदी की ओर अर्थात् जहां प्रहरण किया है, उस स्थान को देखे, और ग्रहण की हुई मृत्तिका (पुरीष) को 'बधान देव सवितः०' मन्त्र बोलकर उत्कर में डाल दे। यहाँ पर भी यदि अभिचार करना हो तो मन्त्रगत 'बधान देव..................मा मौक्' में 'तम्' के स्थान में अमुकम् अर्थात् शत्रु का नामग्रहण करे। तब उदकस्पर्श (आचमन) करे। यदि अभिचार न करना हो तो उदकस्पर्श नहीं करना होगा। शतपथ ब्राह्मण ने प्रहणादि निक्षेपान्त कार्य के लिये 'पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते०' मन्त्र का यद्यपि अविशेषेण उपदेश किया है, तथापि अन्यशाखा (तै० ब्रा० ३।२।९) में विशेष रूप से बताया गया है, अतः विशेष (तत्तत्) कार्य में ही तत्तत् मन्त्र को कहना उचित हैं, क्योंकि 'सामान्यविधिरस्पृष्टः संह्रियेत विशेषतः'—(तं० वा० ३।४।४७) न्याय से अवयवशः ही उक्त मन्त्र का तत्तत् विशेष कार्य में विनियोग है। तात्पर्य यह है कि 'पृथिवि देवयजनि०' में चार मन्त्र हैं। उनमें प्रथम मन्त्र प्रहरण में, द्वितीय मन्त्र पुरीषादान में, तृतीय मन्त्र वेदिप्रेक्षण में और चौथा मन्त्र उत्कर में पांसु प्रक्षेपण में विनियुक्त है। तदनन्तर 'अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासम्'—

वेदोपग्रहेणोर्जे त्वेत्याज्यस्थालीमुत्तरत उद्वास्य पत्न्या अग्रे निधाय पत्न्याज्यमवेक्षस्वेति वक्ति सा पत्नी "अदब्धेने" ति-मन्त्रेणाज्यमवेक्षते। अनेकासु पत्नीषु सर्वासां योक्त्रबन्धनं पत्नीसंस्कारत्वात्। आज्यावेक्षण त्वेकयैव कार्यम् आज्य संस्कारत्वात्। ततोऽग्नीत् पत्न्या अग्रत आज्यं गृहीत्वा वेदिमध्ये प्रोक्षणीभ्योऽपरं सादयत्युपविश्य ततोऽध्वर्यु र्वेदं गृहीत्वा प्रोक्षणीभ्यः पवित्रैगृहीत्वा आज्यलिप्ताभ्यामेवताभ्यां सवितुर्वः प्रसव इति मन्त्रेण प्रोक्षणीरुत्पुनाति। ततस्तेजोऽसीति १।३१ मन्त्रेणाज्यमवेक्षतेऽध्वर्यु र्वा यजमानोवा वेदोपग्रहेण। ततोऽध्वर्युः सव्येन जुहूं वेदं च गृहीत्वा दक्षिणेन स्रुव-मादाय तेनाज्यस्थाल्याः सकाशात् तूष्णीमाज्यमादाय जुह्वां निनयति धामनामासीति। जुह्वां चतुरः स्रुवान् गृह्णाति तत्रैकवारं मन्त्रेण त्रिस्तूष्णीम्। केचित्तु त्रिर्मन्त्राः सकृत्तूष्णीम्। तत उपभृत्यष्टौ कृत्वा घृतं गृह्णाति। अत्रापि स्वक्कद्धा मनामेति मन्त्रः सप्तकृत्वस्तूष्णीं केचित्तु त्रिर्मन्त्रः पञ्चकृत्वस्तूष्णीमित्याहुः। अष्टकृत्वो गृह्णन्नपि जौहवादाज्या-दल्पतरं यथा स्यात्तथा गृह्णीयात्। जुह्वां चतुरः स्रुवान् पूर्णान् गृह्णीयात्। उपभृति तु अपूर्णान् स्रुवान् गृह्णाति।

(वा० सं० १।२६) मन्त्र बोलकर पूर्व प्रहृतस्थान से आगे तृण के नीचे भूमिपर स्फ्य से द्वितीय प्रहार करे। तदनन्तर उदकस्पर्श करे। मन्त्र की असुरता होने से पूर्ववत् पुरीषादान वेदिप्रेक्षण, पुरीषक्षेपण आदि कार्यों को करे। तदनन्तर अग्नीत् स्फ्य को लेकर दोनों हाथों से उत्कर को 'अररो दिवं मा पप्तः'—(१।२६) मन्त्र कहकर पीटे, जिससे धूल दब जाये।

तब उदकस्पर्श करे। तदनन्तर 'द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन्'—(१।१६) मन्त्र कहकर द्वितीय बार प्रहृत किये गये स्थान से आगे तृण के नीचे की भूमिपर तृतीय प्रहार करे। और उत्करकरणान्त कार्य करे। अब तृतीय प्रहार के बाद तूष्णीं (बिना मन्त्र कहे) चतुर्थवार प्रहरण और उत्करकरणान्त कर्म करे। पुरीष को तृण के साथ ही चतुर्थ-बार में तूष्णीं रहकर ही डाल दे। उसके बाद 'ब्रह्मन् पूर्वपरिग्रहं परिग्रहीष्यामि' इस प्रकार ब्रह्मा से पूछे' तब ब्रह्मा, 'बृहस्पते परिगृह्णीत' इस मन्त्र को 'धेहि' तक उपांशु पढ़कर 'ॐ परिगृहाण' इतना उच्चस्वर से बोलकर—अध्वर्यु को अनुज्ञा देता है। अनुज्ञापाया हुआ अध्वर्यु स्फ्य के द्वारा श्रोणी से आरम्भकर वेदी के दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में 'गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि०' त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परि०', 'जागतेन त्वा छन्दसा परि०' मन्त्र कहकर उसका पूर्व परिग्रह करे। वेदी की इयत्ता का निश्चय करने के लिये दक्षिणादि तीनों दिशाओं में स्फ्य से जो रेखा-करण किया जाता है, उसे पूर्व परिग्रह कहते हैं। तात्पर्य यह है कि 'त्रैष्टुभेन' मन्त्र कहकर आहवनीय खर तक रेखा करता है, अर्थात् दक्षिण श्रोणि से आरम्भ कर उत्तरश्रोणि तक रेखा करे। तदनन्तर 'जागतेन०' मन्त्र कहकर उत्तरश्रोणि से आरम्भकर उत्तर पार्श्व में आहवनीय खर तक परिग्रह करे। इसके बाद वेदि में प्राक् आयत एवं उदक् संस्थ तीन रेखाओं को स्फ्य से तूष्णीं करके अग्नीध को अध्वर्यु 'हर त्रिः' यह प्रैष दे। 'हर त्रिः' इस प्रकार त्रि शब्द घटित ही मन्त्र विवक्षित है। इसी कारण वरुण प्रघास आदि में जहां दो वेदी हों वहां 'त्रि' शब्द का विपरि णाम किये विना ही 'हर त्रिस्त्रिः' इस प्रकार मन्त्र पढना चाहिये। 'त्रि' शब्द के स्थान में 'षट् कृत्वः' ऐसा ऊह नहीं होगा। तदनन्तर अग्नीत्, उन रेखाओं से पांसुओं को तीन वार लेकर उत्कर में उसे डालकर रेखाओं का संमर्शन से समीकरण करे, अर्थात् जल सिंचनकर लेप दे।

अथवा लेखाहरण और संमर्शन पितृयज्ञ और अग्निचयन में करे, यहाँ नहीं। क्योंकि उन दोनों में ही विधान दिखाई देता है। 'लिखति, हरति यत् हार्यं भवति'—(श० ब्रा० २।६।१।१२) इति पितृयज्ञे, लिखित्वाऽऽह हर त्रिरिति, हरति त्रिराग्नीध्र'—(श० ब्रा० ७।२।२।१) इति चयने च। किन्तु कर्काचार्य का कहना है कि यहाँ पर यद्यपि लेखाहरण और संमर्शन का विधान श्रुति ने नहीं किया है, तथापि विकृतियाग में दोनों का अनुष्ठान होता है, अर्थात् दोनों का विधान है, अतः प्रकृतियाग में उन दोनों के उपदेश का अनुमान कर लिया जाता है। इसलिये प्रकृति में उन दोनों का अनुष्ठान करना ही चाहिये। तदनन्तर अभ्रि (कुदाल) को लेकर वेदि को तीन अंगुल या ओषधि के मूलोच्छेद तक सब ओर से प्रदक्षिण खोदे। इस पक्ष में 'ओषधीनां मूलोच्छेत्तवे' यह प्रैष अग्नीध को

ततोध्रुवायां चतुराज्यं गृह्णाति सकृन्मन्त्रेण त्रिस्तूष्णीम्। तत आज्यस्थलीं सुगुप्तेस्थले निदधाति। यदष्टौ कृत्वो-गृह्णाति उपभृति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तगृह्णाति' (तै० ब्रा० ३।३।५) इति प्रयाजानुयाजोभयार्थत्वादर्धं प्रयाजेषु अर्धमनु-याजेषूपयुज्यते। यत्रानुयाजाभावो यत्र वा पृषदाज्यादिना अनुयाजा विहितास्तत्र चतुर्गृहीतमेवाज्यं ग्राह्यम्। चतुरन्यत्र प्रति विभागात्' (का० श्रौ० सू० २।७।११) इति प्रमाणात्।

अध्यात्मपक्षे तु—भगवान् वेद आत्मानं सम्बोधयति—हे जीव सवितुः प्रपञ्चोत्पादयितुः परमेश्वरस्य देवस्य स्वप्रकाशस्य प्रसवे आज्ञायां वर्तमानोऽहं त्वा त्वामच्छिद्रेण निर्दोषेणापास्तसमस्तसंशयविपर्ययादिना पवित्रेण पावकेन

अध्वर्यु दे। तब वह प्रैष पाया हुआ अग्नीध मूलोच्छेदतक खनन करे। तब 'ब्रह्मन् उत्तरं परिग्रहं परिग्रहीष्यामि' इस प्रकार ब्रह्मा से पूछे। और ब्रह्मा पूर्व की तरह 'बृहस्पते परिगृहाण' ऐसा बोलकर 'ॐ परिगृहाण'—हाँ, परिग्रह करो–कहता है। तब वह (अध्वर्यु) पहले की तरह स्फ्य से दक्षिण, पश्चिम और उत्तर के भागो में वेदि परिग्रह करता है। 'सूक्ष्माचासि' मन्त्र से दक्षिण भाग का और 'स्योनाचासि०' मन्त्र से पश्चिम भाग का तथा 'ऊर्जस्वती' मन्त्र से उत्तर भाग का परिग्रह करे। वेदिकरण के अनन्तर स्फ्य से पूर्ववत् तीनों दिशाओं में रेखाकरण करने को 'उत्तर परिग्रह' कहते हैं। तदनन्तर स्फ्य से दक्षिण दिशा में वेदिपुरीष को फेंक कर 'पुराक्रूरस्य' (वा० सं० १।२८) मन्त्र से पूर्व से पश्चिम दिशा तक वेदी का प्राक् संस्थ समीकरण करे। स्वशाखा में कोई विशेष (भिन्न) बात नहीं कही गई है। यहां पर अनुमार्जन का अर्थ है खोद कर एक सा करना।' यजमान यदि पशुकामनावान् हो तो वह अनुमार्जन करने के पूर्व वेदी के पुरीष को निकालकर उसे उत्कर में पटककर अन्य पुरीष से वेदी को भरकर तब अनुमार्जन से उसका समीकरण करे। तदनन्तर अग्नीत् (अध्वर्यु) वेदि के ऊपर अर्थात् वेदी के समीपमें ही दोनो हाथो से प्रोक्षणी को धारण करे। तब अध्वर्यु (अग्नीत्) वज्र उठाकर अध्वर्यु के प्रति चार प्रैषों को लगातार (सतत) दे।

वे चार प्रैष इस प्रकार हैं—(१) प्रोक्षणीरासादय, (२) इध्मं बर्हिरुपसादय, (३) स्रुचः सम्मृड्ढि, (४) पत्नीं-सन्नह्य आज्येनोदेहि। इध्म और बर्हिः शब्द जातिवाचक होने से वरुणप्रघास में उन में विपरिणाम नहीं किया जाता। गृहमेधीयेष्टि में स्रुक् एक रहने से 'स्रुचं सम्मृड्ढि' ऐसा विपरिणाम किया जाता है। वरुणप्रघास में 'प्रोक्षणीरासादयतम्' ऐसा विपरिणाम किया जाता है। अनेक पत्नियों के रहने पर भी 'पत्नी' शब्द में विपरिणाम (ऊह) नहीं किया जाता। मन्त्रगत 'आज्य' शब्द, आज्य जाति का वाचक है, अतः जहाँ वरुण प्रघास आदि में आज्य अनेक रहते हैं वहाँ भी 'आज्येनोदेहि' इसी प्रकार मन्त्र का प्रयोग किया जाता है। द्विवचन में उसका विपरिणाम् नहीं किया जाता कात्यश्रौतसूत्रकार ने 'यदीच्छेत्' (२।६।२६) कहा है, इस कारण प्रैषकरण वैकल्पिक है। यदि प्रैष देने की इच्छा न हो तो बिना प्रैष प्राप्त किये ही आग्नीध्र, कुक्कुटाह्वान के समान प्रोक्षणी आसादनादि पदार्थो को करे—यह हरिस्वामी का कथन है। अप्रैषपक्ष में भी अध्वर्यु इन पदार्थों को करे—ऐसा अन्य लोग कहते हैं। तदनन्तर 'द्विषतो वधः' यह मन्त्र बोलकर स्फ्य को उदगग्र करके उत्कर में डाल दे। यदि अभिचार करना हो तो 'अस्मै वा वज्रं प्रहरामि' यह कहना होगा। 'अमुष्मै' की जगह शत्रु का चतुर्थ्येकवचनान्त नाम कहना चाहिये। तदनन्तर जलस्पर्श करे। यदि अभिचार न हो तो जलस्पर्श नहीं है। तदनन्तर अध्वयु स्फ्य को लेकर उत्कर में दोनों हाथों को धोकर प्रणीता के पश्चात् भाग में प्रागग्र अथवा उदगग्र करके स्फ्य को उदगग्र करके रखे। तदनन्तर आग्नीध्र वेदी में उदगग्र रखी हुई अग्नि होत्र हवणी को स्थापन कर प्रणीता के पश्चात् भाग में और स्फ्य के उत्तरभाग में इध्म को प्रागग्र रखकर, इध्म के उत्तर भाग में बर्हि को प्रागग्र रखे। पलाशादि वृक्षों की अरत्निमात्र परिमाण की अठारह समिधाओं को 'इध्म' कहते हैं। अथवा इध्म को प्रणीता के दक्षिण से प्रदक्षिण लेकर प्रणीता के पश्चात् भाग में ही प्रथमतः स्थापन करे, तदनन्तर बर्हि को स्थापन करे। तदन्तर अध्वर्यु (अग्नीत् ?) गार्हपत्य के पश्चात् भाग में बैठकर 'प्रत्युष्टम्०' अथवा 'निष्टप्तम्०' मन्त्र कहकर खादिर स्रुवा को गार्हपत्याग्नि पर तपावे। और

ज्ञानेन उत्पुनामि उत्कर्षेण पुनामि सूर्यस्य स्वप्रकाशस्य ज्ञानसूर्यस्य रश्मिभिस्तदनुगुणैर्विचारैश्च समस्तोपाधिनिरसनेन परिशोध्य ब्रह्मात्मतादात्म्ययोग्यतामापादयामि। सवितुर्देवस्य प्रसवे वो युष्मान् अच्छिद्रेण संशयाद्यनास्कन्दितेन ज्ञानेन सूर्यस्य तस्यैव ज्ञानसूर्यस्य रश्मिभिश्च उच्चैः पुनामि पवित्रयामि शोधयामि। हे जीव तेजोऽसि परमात्मालम्बनं तेजोऽसि। 'येन तेजसेद्धः सूर्यस्तपतीति श्रुतेः। शुक्रं दीप्तिमदसि ज्योतिष्मदसि। अमृतमसि मर्त्यं यद्देहेन्द्रियादिकं

बैठा हुआ ही किञ्चिन्मात्र पूर्व दिशा की ओर जाकर स्रुव को वामहस्त में लेकर छेदन करके वेद से पृथक् हुए वेदाग्रों से उस स्रुव को मूल से आरम्भकर मुख पर्यन्त ऊपर की ओर 'अनिशितोऽसि०' मन्त्र कहकर सम्मार्जन (स्वच्छ) करे। तदनन्तर वह (अध्वर्यु) किञ्चित् पूर्व की ओर जाकर उसी खादिर स्रुव को बाहरीभाग में विपर्यास से अर्थात् अग्र से आरम्भकर मूल पर्यन्त 'अनिशितोऽसि०' मन्त्र बोलकर वेद के मूल भागों से स्वच्छ करे। यह जो उत्क्रमण है,वह सम्मार्जनार्थ नहीं है। प्रतपनार्थ नहीं है तदनन्तर अध्वर्यु 'प्रत्युष्टम्'मन्त्र कहकर पुनः स्रुवका प्रतपन कर वेदी में रखने के लिये अग्नीत् (अध्वर्यु ?) को दे, यह प्रतपन अध्वर्यु अपने स्थान पर वापस आकर करे। क्योंकि पूर्वोक्त प्राक् उत्क्रमण संमार्ग मात्रार्थ था। तदनन्तर जुहू, उपभृत्, ध्रुवा को भी प्राय उत्क्रमण मन्त्र बोलकर वेदाग्र और वेद मूल से भीतर-बाहर क्रम-व्युत्क्रम से स्वच्छ कर प्रतपन करके अग्नीत् को दे। तदनन्तर मन्त्र को बिना बोले ही (तूष्णीं) प्राशित्रहरण, श्रृतावदान, दो पुरोडाशपात्री और इडा पात्री का संमार्जन प्रतपन करना चाहिये। यहाँ प्राक् उत्क्रमण नहीं करना है। तूष्णीं प्रतपन करके वेदी में स्थापन करने के लिये अग्नीत् को दे देना है। इस समय रक्षोदैवत मन्त्रोच्चारण न होने से उदकस्पर्श भी नहीं करना है। तदनन्तर संमार्जन साधनभूत वेदाग्रों को उत्कर में अथवा आहवनीय में डाल दे। स्रुचाओंको उत्तान कर उसका संमार्जन करना चाहिये। संमृष्टों (स्रुचाओं) को असंमृष्टों से स्पर्श करावे। और यथास्थान स्रुचाओं को उत्तान स्थापित करे। शाखान्तर में इस प्रसंग पर कुछ विशेष कहा है। इडापात्री और षड् अवत्तों का संमार्ग किसी सूत्र में दृष्ट न होने से उसे नहीं करना चाहिये। सूत्र में 'पात्रीम्' इस एक वचन के प्रयोग से दोनों पुरोडाशों की एक ही साधारण पुरोडाश पात्री होती है।

तदनन्तर पत्नींसंनहन किया जाता है। अध्वर्यु गार्हपत्य के निर्ऋति कोण में पहले से बैठी हुई ईशान दिशा की ओर मुख की हुई यजमान पत्नी को उसके पहने हुए परिधान वस्त्र (साड़ी) के ऊपर से मुञ्ज संज्ञक तृण-विशेष से निर्मित त्रिगुणित योक्त्र (मेखला) से नाभि के नीचे कटि प्रदेश में 'अदित्यै रास्नाऽसि' मन्त्र कहकर प्रद-क्षिण लपेट देता है। यह पत्नी सन्नहन, पत्नी का संस्कार होने से अनेक पत्नीयों के रहने पर प्रत्येक पत्नी का वह संस्कार करना चाहिये। उस योक्त्र के दक्षिणाग्रस्थित पाश को उत्तराग्रस्थित पाश के मध्य में से ऊपर की ओर प्रवेश कराकर पुनः उसे नीचे खींचकर शंकुस्थान में उसे पोकर उस दक्षिण पाश को ऊपर की ओर उरस दे अर्थात् योक्त्र में ही उसे अटकादे। योक्त्र के मध्य में से ऊर्ध्वगूह न बताने से प्रतीत होता है कि दो बार योक्त्र से वेष्ट न करना चाहिये, क्योंकि एक वेष्टन में उद्गूहन करना शक्य नहीं है ऐसा देवयाज्ञिक कहते है। 'विष्णोर्वेष्पोसि०' मन्त्र से उस में ग्रन्थि न लगावे। 'उर्जेत्वा०' मन्त्र में 'उद्वासयामि' ऐसा अध्याहार करके अध्वर्यु आज्य का उद्वासन (निकाल) कर 'अदब्धेन०' मन्त्र कहकर यजमान पत्नी को दिखावे। 'अवेक्षयति' इस णिजन्त प्रयोग के कारण 'पत्न्याज्यमवेक्षस्व' यह अध्येषणा करनी चाहिये। अनेक पत्नियों के रहने पर भी आज्यावेक्षण एक ही पत्नी करे, क्योंकि वह द्रव्यसंस्कार है, पत्नीसंस्कार नहीं है। पत्नी के अभाव में अध्वर्यु ही अवेक्षण करे। तदनन्तर अध्वर्यु (अग्नीत् ?) पत्नी के सामने से आज्य को लेकर उसे आहवनीय पर रखकर पुनः उस से निकालकर वेदि में प्रोक्षणी के पश्चिम भाग में रख दे तदनन्तर अध्वर्यु वेद का ग्रहण कर और प्रोक्षणी से पवित्रों को लेकर आज्य लिप्त हुए उन्हीं पवित्रों से 'सवितुस्त्वा०' और 'सवितुर्वः' इन दो मन्त्रों से आज्य और प्रोक्षणीजल का उत्पवन करे। तदनन्तर 'तेजोऽसि०' मन्त्र बोलकर अध्वर्यु अथवा यजमान वेद का ग्रहण कर आज्य को देखे। तत्पश्चात् अध्वर्यु सव्य (वाम) हस्त में जुहू और वेद को लेकर और अपसव्य (दक्षिण) हात में स्रुव लेकर उस से आज्यस्थाली में से तूष्णीं

तद्भिन्नोऽसि । धामासि धीयते चित्तवृत्तिर्यस्मिंस्तत् धाम परब्रह्मलक्षणं सर्वाश्रयस्वरूपमसि 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं ममे (श्रीभ० गी० १५।६) ति वचनात् । नामासि नमयति सर्वाणि भूतानि स्वात्मानं प्रतीति नाम सर्वाधिष्ठानम् तद्रूपमसि । देवानामिन्द्रियमनोबुद्धिरूपाणां ज्योतिषामिन्द्रादीनां च प्रियं परप्रेमास्पदं ब्रह्मासि । अनाधृष्टमप्रधृष्यं 'महद् भयं वज्र मुद्यतम्' 'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः' इत्यादि श्रुतिभ्यः । देवयजनमसि देवैरपीज्यते यत् तत् देवयजनम् असीति ।

।। इति प्रथमोऽध्यायः ।। ।। वेद पुरुषाय नमः ।। ।। श्रीरस्तु ।।

(मन्त्र रहित) आज्य लेकर 'धाम नामासि' मन्त्र बोलकर जुहू में डाले । स्रुव से जुहू में चार बार आज्य ग्रहण करे , चारों बार स्रुव को पूर्ण भरकर ले । उनमें से प्रथम आज्य ग्रहण के समय ही मन्त्र बोलना चाहिये, और तीन बार तूष्णीं आज्य ग्रहण करना चाहिये । कुछ लोगों का कहना है कि तीन बार आज्य ग्रहण समन्त्रक करना चाहिये और एक बार तूष्णीं करना चाहिये । तदनन्तर उपभृत् में आठबार घृत (आज्य) का ग्रहण करना चाहिये । यहाँ पर भी 'धामनामासि०' मन्त्र कहकर सकृत् (एक बार) आज्यग्रहण करे, और सात बार अमन्त्रक (तूष्णीं) आज्य ग्रहण करे । कुछ लोगों का कहना है कि तीनबार समन्त्रक ग्रहण करे और पाँच बार अमन्त्रक ग्रहण करे । आज्य द्रव्यक अनुयाजसहित कर्म में स्रुव को अपूर्ण भरकर उपभृत् में आठ बार आज्य ग्रहण करे । औपभृत आज्य प्रयाज अनुयाज दोनों के लिये होता हैं । उपभृत् में अष्टगृहीत आज्य का अर्ध भाग प्रयाज में उपयुक्त किया जाता है और अवशिष्ट अर्धभाग अनुयाज में उपयुक्त होता है । तात्पर्य यह है कि 'जुहू में लिये हुए आज्य से उपभृत् में अल्पतर आज्य ग्रहण करना चाहिये । जुहू में चार स्रुव पूर्णभरकर लिये जाते हैं, किन्तु उपभृत् में अपूर्ण भरे हुए स्रुवों से आज्य ग्रहण किया जाता है । तत्पश्चात् ध्रुवा में एक बार समन्त्रक और तीन बार तूष्णीं आज्यग्रहण करे । तदनन्तर आज्यस्थाली को सुगुप्त स्थान में रखे । जहाँ अनुयाज नहीं होते अथवा पृषदाज्य आदि द्रव्यान्तर से ग्रहण करना कहा गया हो वहाँ (विकृति में) आज्य को चार बार ही ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि श्रौतसूत्रकार ने अष्टगृहीत आज्य का प्रयाज—अनुयाज के लिये विभाग कर दिया है ।

अध्यात्म पक्ष में तो भगवान् वेद, आत्मा को सम्बोधित कर रहे हैं कि हे जीव ! प्रपञ्च के उत्पादक-स्वप्रकाश परमेश्वर की आज्ञा में रहने वाला मैं, तुम्हें संशय—विपर्ययादि दोषों से रहित पवित्र ज्ञान से उत्कृष्टतया पावन कर रहा हूँ । अर्थात् स्वप्रकाश ज्ञान सूर्य की रश्मियों से यानी तदनुरूप विचारों के द्वारा समस्त उपाधियों का निरसन कर परिशोधन करते हुए तुझ में ब्रह्मतादात्म्य प्राप्त करने की योग्यता पैदा कर रहा हूँ। हे जीव ! तुम, परमात्मा का आलम्बन करने वाले तेज के स्वरूप हो । तुम दीप्तिमान् ज्योतिष्मान् हो, तुम अमृत हो यानी देह, इन्द्रिय आदि जो मर्त्य (नश्वर) है, उससे भिन्न हो, तुम धाम हो यानी जिस में चित्त की वृत्ति को स्थापित किया जाता है, उस परब्रह्म के स्वरूप अर्थात् सर्वाश्रय स्वरूप हो । "यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'—जहाँ पहुँचकर जीव वापस नहीं आता, वही मेरा परम धाम है—(गी० १५।६) ऐसा भगवद् वचन है । तुम नाम हो, अर्थात् समस्त प्राणियों को जो अपने प्रति नमा लेता हैं, उसे 'नाम' कहते हैं, यानि सर्वाधिष्ठानरूप तुम हो । इन्द्रिय, मन बुद्धिरूप देवताओं और इन्द्रादि ज्योतियों के परम प्रेमास्पद ब्रह्म, तुम ही हो । 'महद् भयं वज्र मुद्यतम्', 'भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः' इत्यादि श्रुतियों ने तुम्हें अनाधृष्ट अर्थात् अप्रधृष्य बताया है । देवता भी जिसका यजन करते हैं, वह देवयजन तुम ही हो ।

।। इति प्रथमोऽध्यायः ।। ।। वेद पुरुषाय नमः ।। ।। श्रीरस्तु ।।

शुद्धि-पत्रम्

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१	५	प्रार्पयतु	प्रार्पयतु
	,,	कर्मण	कर्मण
	६	इन्द्राय	इन्द्राय
	,,	प्रजावती	प्रजावती
	,,	र्षजमानस्य	र्यजमानस्य
	,,	पशून्	पशून्
	१२	उद्देश	उद्देश्य
२	११	दध्यङ् हृणाआथर्वण	दध्यङ् ह वाथर्वण
	१३	चितीनाँमार्षेन्यं	चितीनामार्षेयं
	१७	वागोश	वागीश
	२६	अनूपूर्वी	आनुपूर्वी
३	१	योध्वा	यो ह वा
	,,	र्षेयछन्दो	र्षेयच्छन्दो
	,,	वर्छति	वर्च्छति
	३	निर्वीर्य	निर्वीर्यं
	,,	वर्छति	वर्च्छति
	६	युगं	युग
	,,	जिघृक्षायां	जिघृक्षया
	११	मुवांचेत्थं	मुवाचेत्थं
	१२	त्यर्पयत्	त्यार्पयत्
	,,	गह्णीत	गृह्णीत
	१७	अथवा यज्ञ करता	अथवा यज्ञ कराता
४	५	पौतिमार्षा	पौतिमाषी
	,,	व्राह्मणो	व्रह्मणो
	१३	याज्ञवल्वये	याज्ञवल्क्ये
	२६	प्रज्ञानम्बल	प्रज्ञानं ब्रह्म
४	२६	की बल	ही ब्रह्म
	२९	वह	उसकी
५	२	शयाञ्च	शयाच्च
	६	ऽध्तव्य:	ऽध्येतव्य:
	८	दृष्टार्थ	ददृष्टार्थ
	२३	अध्याय	अध्याय:
	३१	याम	याग
६	४	साधुकृत्याम्	साधुकृत्यम्
	,,	पापकृत्याम्	पापकृत्यम्
	१०	हीन	हान
	३४	प्रशंशा	प्रशंसा
७	१	निनौष्येत	निनीष्येत
	२	दूहूंत्सु	दुहूंत्सु
	,,	च्छ्रुततत्वात्	च्छ्रुतत्वात्
	६	निष्प्रत्ति	निष्पत्ति
	८	दृदृष्ट	दृदृष्ट
	२५	(अध्ययन के)	(अध्ययन का)
	,,	रूप	रूप फल
८	१२	पश्प	पस्प
९	२८	अभिप्राय:	अभिप्राय
१०	१	विधयपि	विधयापि
	२	बुद्धया	बुद्धया
	६	दादाधन	दाराधन
	१३	व्यापाद्य	ण्यापाद्य
	१६	'ब्रह्मज्ञान' भी	ब्रह्मज्ञानार्थी
११	२	शब्दविद्यया	शब्दविधया
	७	साक्षत्कार	साक्षात्कार
	९	मांर्गे	मार्गे
	,,	दियितु	दयितु
	१०	निरोधार्थ	निरोधार्थं
	१३	शासकैश्च ।	शासकैश्च
	१४	सुदृढ़ा	सुदृढा
	१६	पद्धत्ति	पद्धति

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
११	२२	एव	एवं
	३१	आकर्ष्यित	आकर्षित
१२	५	पूर्वक	पूर्वकं
	,,	तस्मात्कम	तस्मात्कर्म
	६	सहिता	संहिता
	,,	वमेवा	वा
	७	सहिता	संहिता
	८	ग्न्युपस्थान्	ग्न्युपस्थान
	१७	अभिचारिक	आभिचारिक
१३	१	प्रवर्ग्थः	प्रवर्ग्यः
	११	प्रथमायाति	प्रथममायाति
	१३	विनियोंज्य	विनियोज्य
	१८	दृष्टियों	इष्टियों
	२०	रहना	रहता
१४	१	याज्यां	याज्या
	४	पाध्याये	याध्याये
	६	त्यादस्तु	त्यादयस्तु
	१९	तिर्थास्तोत्र आदि" को	×
१५	१	मध्यमाना	मथ्यमाना
	२	हविर्धानाभ्यां	हविर्धानाभ्यामनुब्रूहि
	५	गायन्नस्ते	गायन्नास्ते
	८	व्यवस्थाद्	व्यवस्था
	१५	………	तथा प्रोह्यमाणाभ्यामनुब्रूहि
	२३	वया	गया
	२४	कों	को
१६	१२	त्वमृ	त्वम्
	२७	यक्षत्	यक्षद्
१७	२४	शाखा	२७—शाखा
१८	२	षर्णो	पर्णो
	८	युक्ते	युंक्ते
	,,	छिनद्भी	छिनद्मी
	९	शमा	शमी
	१२	छन्दसं	छान्दसं
१९	४	वाक्यो	वाक्ययो
	९	अर्ग्रयो	ऊर्ग्रसो
	२७	पूर्ण	पर्ण
२०	२	प्रार्पयतु	प्रार्पयतु
२०	२	श्रेष्ठतमाय	श्रेष्ठतमाय
	,,	आप्या	आप्या
	३	ईशत	ईशत
	४	बह्वी	बह्णी
		पशून्पाहि	पशून्पाहि
	,,	छिनद्मि	छिनद्मि
	१५	त्वाः	त्वा
२१	३	प्रकर्वेण	प्रकर्षेण
	६	इष मे वोर्जं	इषमेवोर्जं
	,,	दधति	दधाति
	९	प्रदानावै	प्रदानाद्
	३०	प्रदानावै	प्रदानाद्
२२	६	पशव	पशवो
	१६	यो	वो
	२६	प्रकष	प्रकर्ष
२३	६	वर्धयद्ध्वेम्	वर्धयद्ध्वम्
	,,	चोरो	चौरो
	३२	के	को
२४	५	ब्राह्मणैव	ब्रह्मणैव
	,,	रक्षार्थ	रक्षार्थं
	१२	संस्कृतान्त	संस्कृतान्न
	२७	अस्त	अस्तु
	३४	ईषे	इषे
	,,	गते	गत
	,,	'ग'	त्वा
२५	११	त्वों	त्वो
	१९	पठतम्	पठितम्
	२५	१—इषे	४२—इषे
	३५	ईशत्	ईशत
२६	१	स्यात्	स्यात
	,,	बह्यः	बह्न्यः
	४	स्थं	स्थ
	६	परमेंश्वर	परमेश्वर

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२६	६	स्यात्	स्यात
२७	१२	के	में
	३०	का	की
२८	३	तानि	तानि
	४	द्वितोय	द्वितीय
	२४	कर्म	कर्म
	३१	जीवन	जीव
२९	३	पदार्थ	पदार्था
	२८	की	भी
३०	३	धोर्मा	धोमा
	१४	नानां	नाना
	२३	प्रयोव	प्रयोग
३१	१	नि	ति
	७	तमेषा	समेषा
	१०	लेमो	लेध्मो
	१२	वर्सति	वच्छंति
	२०	के	से
	२१	कुविदङ्गे	कुविदङ्ग
	२८	महर्षि कण्व	५८—महर्षि काण्व
	३३	सराहनीय	असराहनीय
३२	३	अन्न	अत्र
	३३	है	हैं
	३४	हैं	है
३३	१	तात्वत्वं	तावत्वं
	६	प्रसुष्टति	प्रसुष्टुति
	१०	न्द्वन्तु	न्द्रन्तु
	१६	परो	पारो
	१८	सर्वान	सर्वानु
	२५	प्रसुप्टुतिः	प्रसुष्टुतिः
	२७	ख्यन	ख्यान
	३५	पूर्व	पूर्वक
	,,	स्वेच्छा	इच्छा
३४	१	भ्यूहोऽभ्यूढो	भ्यूहाभ्यूढेना
	२	क्षयम	क्षम
	,,	तात्वं	तात्व
	८	न	नु
	,,	तर्कं	तर्कं

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
३४	६	घार्ष	द्यार्ष
	२१	उसे भी	उसे
	,,	हो जाय	नहीं होता
	२३	परोपवर्य	पारोवर्य
	,,	परो	पारो
	२५	क्रामस्तु	क्रामत्सु
	३३	योग	योगः
३५	४	धितुं	धयितुं
	,,	तिम्	तितम्
	१४	वदतां	वदता
३६	५	ऽपिं	ऽपि
	७	अर्थ	अथर्व
	१५	नभि	नाभि
३७	१	ऊर्ज	ऊर्जे
	३	मानं	मान
	७	वैकः	वैक
	११	नौ	न्नौ
	१२	दि्म	द्मि
	१६	नियम	नियमः
	२८	प्रथञ्च	प्रथस्व
	३१	दि्भ	द्मि
३८	११	ऽर्थ	ऽर्थ
	२२	हैं।	हैं,
३८	२३	किसो	किसी
	२५	सविशयक	सविषयक
	२६	त्तिर्या	त्तियाँ
३९	२	निर्णयै	निर्णये
	३	षद्विध	षड्विध
	५	र्थतां	र्थता
	७	। बहिरङ्ग	„ बहिरङ्ग
	,,	चित्यानू	चित्यात्
	८	एष	इष
	२४	अपेक्षा	की अपेक्षा
४०	५	तुं	तु
	१०	सवत्र	सर्वत्र
	१५	दिध्रयन्ते	द्ध्रियन्ते
४१	८	याज्ञंस्य	याज्ञस्य

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
४२	१	वेदं	वेद
४३	२	कौ	को
	१३	स्मिन्‌	स्मिन्
	२५	का	की
	२६	सबकी	सभी
४४	६	छान्दसं	छान्दस
४५	२	तचरादि	तृस्वरादि
	,,	सूत्रेणां	सूत्राणां
	४	त्वम्, आमन्त्रित	आमन्त्रित
	११	विजम्भि	विजृम्भि
	१६	वचनान्त्	वचनान्त
	२०	उपादन	उपपादन
४६	५	अयनं	अयनम्
	८	लुड	लुङ
	६	रङ्गा	रङा
४७	१	प्राप्ति	न प्राप्ति
	७	गर्हि	गार्हं
	८	दृढ़	दृढ
	,,	कद्रू	कद्रू:
	,,	कम्बल	कम्बलो
	१०	पुण्य	पण्य
	३७	कह	कहा
४८	१३	नित्येत्व	नित्यत्व
	१५	सूत्र	(पा० सू० ६।१।२०३)
	१८	सूत्र में	सूत्र से
	३०	कृतिवेदे	कृतिर्वेदे
४६	३०	श्रति	श्रुति
५०	११	वर्धायितु	वर्धयितु
५१	१	रोग त्वेन	रोगत्वेन
	५	धुं त्वान्	धुत्वात्
५२	१२	सख	सुख
	१४	याज्ञिकं	याज्ञिक
	२६	क्यें	क्यों
५३	८	जड़	जड
५४	१	माकं	स्माकं
५६	१७	पायगी	पायगा
	२६	एषे	इषे
	३३	कुविदङ्गं	कुविदङ्ग

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
५७	४	कण्व	काण्व
	२६	साम	सामसे
५८	७	प्रणोत	प्रणीत
	३२	यास्कने यथा ने	यास्क ने
५६	४	एक हो	एक ही
	८	श्रोत	श्रौत
	१०	नकुल	नुकूल
	१७	क्यै:	वचै:
	१८	उच्चाक्य	उच्चावच
६१	१	परमेण	परमेण
		——	— –
	१६	त्याधि	त्यधि
	१८	पूर्वयति	श्वयति
६२	२	निष्ठस्य	न्निष्ठस्य
	३	दाढर्य	दाढर्य
	१०	भवन्ति:	भवन्ति
	१५	बन्धी	बध्नी
	१८	तंत्क	तत्क
	१६	हृत्येवै	हेत्येवै
६३	१४	मनिन	मनिन्
	१७	विशेषणाञ्च	विशेषणाच्च
	१८	शब्दस्यं	शब्दस्य
	१६	सुखं	सुख
		—	|
६४	३	त्वा	त्वा
		|	|
	४	धारेण	धारेण
	२०	क्विमात्रानां	विद्यमानानां
	२२	वैर	वैत
६५	२	जयं	जपं
	,,	यमान	यजमान
	५	सर्वत्रेव	सर्वत्रैव
	२४	सहस्रधा प्रकार से	सहस्रधा
६६	२	सन्ति:	सन्ति
	१६	र्यानेन	र्दानेन
६७	१	र्सोमिन	सोमेन
	४	वशिष्टः	वशिष्ठः
	६	नापि दधा	नापिद्धा

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
६७	१६	प्रश्ना	प्रश्नो
	,,	मद्भिः	मद्भिः सत्वादिगुणैः
	१७	मपि	मपि
६८	५	स्वल्पानः	स्वल्पाः
६९	५	चरिष्यामि	चरिष्यामि
	६	पैमि	पैमि
	७	इदह	इदमह
	१३	सं ज्ञात्वेन	संज्ञात्वेन
७०	६	रङ्गेन	रङ्गेण
	१०	धोपेयात्	वोपेयात्
	२४	परा	पदा
७२	४	णात्हव	णाहव
	८	दाह्वनीय	दाहवनीय
	,,	ह्वनीय	हवनीय
	१०	ह्वनीय	हवनीय
	१५	नुष्ठेचा	नुष्ठेया
७३	१४	ह्लियन्ते	ह्लियन्ते
	१५	अंनिरुक्त	अनिरुक्त
	२२	गच्छत्यश्च	गच्छतश्च
	२७	अवथ	अथ
७४	२	ञ्चो लूख	ञ्चोलूख
	७	वांव	वाव
	९	राडयज्ञ	राड्यज्ञ
	१२	ञ्चादते	ञ्चादत्ते
	१६	दानन्	दानम्
	१७	शूपे	शूर्पे
७६	५	पन्नेन	पनेन
	७	निःशेपेण	निःशेषेण
	९	दिभि	दिभिः
	१८	काग्न्ये	काग्र्ये
७७	४	ह्ययावृत्तिः	ह्यावृत्तिः
	१३	प्रैतिं	प्रैति
	१५	हविनि	हर्विनि
	२२	अथं	अथ

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
७७	२४	ह्वणी	हवणी
	२६	अप्राप्त प्रामाण्य	अप्राप्त अप्रामाण्य
७८	४	इक्ष्यते	ईक्ष्यते
	८	तीतिञ्च	तीतञ्च
	१४	क्त्वा	क्त्वा
	१६	त्यक्तवता	त्याज्यता
७९	६	धूरो	धुरो
	१४	घुर्वी	थुर्वी
८०	६	वह्लिम्	वह्लि
	,,	वह्नि	वह्नि
	१४	ह्वात्	ह्वातृ
	२६	ह्'	४
८१	२	अह्नु	अह्लृ
	३	स्तौत्मु	स्तौत्यु
	,,	द्रात	ध्रात
	६	प्यय	प्यमं
	७	तयत्वा	तमत्वा
	९	हरण	ह्वरण
	१४	भगंवद	भगवद
	३५	हिंसा	हिंसा
८२	१३	अ ह्लृ	अह्ल
	,,	यज्ञपति	यज्ञपति
	१४	यच्छन्तां	यच्छन्तां
	१५	ह्लृत	ह्लव
	,,	ह्नह्वो	ह्लृ ह्वरे
	१९	स्वरूपके	स्वरूप
८३	१	ह्नु	ह्लृ
	१६	कारित्वा	कारित्वा
	१७	भवाति	भवति
	१८	वैनत्	वैतत्
	२४	ह्वी	ह्णी
	२८	प्रथमेन प्रथमेन	प्रथमेन
८४	४	व्यांख्यं	व्याख्यं
	१०	यद्य	यद्यु

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
८४	२०	वीक्षण	वीक्षण का	९१	३१	विग्रह	निग्रह
	२२	अथगा	अथवा	९२	१	अह्नुत	अह्नुत
	२७	आच्छादित	आच्छादन		२	ह्नुत	ह्नुत
८५	१	पदस्य	पयस्या		६	अह्नुत	अह्नुत
	३	अह्नु	अह्नु		,,	पदःर्थो	पदार्थों
	८	दृंहंस्व	दृंहस्व		१४	वृद्धचर्थता	वृंद्धचर्थता
	,,	दृढ़ी	दृढी		१६	अह्नुत	अह्नुत
	६	सत्	सन्		१६	दृ ⌒ ह	दृ ँह
	१५	अह्नु	अह्न		,,	घ्रात	द्घ्रात
८६	३	दृंह तां	दृंहतां		,,	गृह्वानी	गृह्णानी
	५	तांमिति	तामिति		२०	वारयितुं	वारयितु
	१३	अह्नुत	अह्नुत		२१	नार्थ	नार्थं
	१४	तत्रा	तत्र		२४	अह्नुत	अह्नुत
	२०	आयु	वायु		३२	दयानन्द जी	दयानन्दजी ने
	३२	अह्न	अह्नु	९३	१	घ्रातं	ध्रातं
८७	१	अतसः	अनसः		२	ह्वा	ह्णा
	३	ग्रहणे	ग्रंहणे		८	एषां	एषा
	१६	भस्त्रायैः	भस्त्रायै		१५	व्राह्मणा	व्रह्मणा
	२८	अभिर्धान	अभिधान		१७	वमृशे	नाभ्यवमृशे
८८	२	धुरो	धुरि		१६	द्यज्ञने	द्यज्ञनै
	५	सफ्य	स्फ्य	९४	१०	संस्कार	संस्कारं
	१२	ह्नसीयः	ह्लसीयः		२४	सम्भित	सम्मित
	१५	सामन्यात्	सामान्यात्	९५	५	मासं	मांसं
	१७	धुर्यो	धुंर्यो		६	ह्नुत	ह्नुत
	२६	वर्दं	वर्द		१०	दृढ़ी	दृढी
	२७	अय	अथ		१७	प्युद्यै	प्युच्चै
८६	१६	धूवति	धूर्वति		१८	भगवन्त	भगवन्तं
	२०	द्वरसि	द्वूरसि		३०	कुठिल	कुटिल
	२४	कस्तम्भो	कस्तम्भी	९६	५	बाह्य	बाह्य
९०	३	त	तं		७	अह्नुत	अह्नुत
	१५	प्यत्मत्वात्	प्यात्माचात्		२१	सन्तानों	सेवकों
९१	१	अह्नुत	अह्नुत		३६	हो	हों
	३	त्वेन	न्तत्वेन	९७	१५	न्याज	व्याज
	५	अह्नुतं	अह्नुत		१६	ददाधन	दाराधन
	७	दृंहता	दृंहतां		१८	कात्यान	कात्यायन
	१५	अह्नुत	अह्नुत		२१	मिश्राण	मिश्रण
	२८	त्यजे	त्यजेः	९८	६	जुष्टं	जुष्ट

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
९८	८	व्यासज्य	व्यासज्य
	१३	ष्यग्नये	रग्नये
	३६	विद्य	वि
९९	६	सम्यक	सम्यक्
	१२	अध्वर्यू र	अध्वर्यू
	१३	गृह्णांतीति	गृह्णातीति
१००	६	साती	सती
	१७	त त्वा	तत्वा
	१७	जिमीषता	निनीषता
	२१	बाहुभ्याम्	बाहुभ्याम्
१०१	४	द्युत	द्युति
	६	रेचकेण	रेचकेन
	१०	र्मातृद	मातृकादि
	११	पात्रषु	पात्रेषु
	१९	पिवस्वद्द्युत	विवस्वद्द्युति
	२०	करमल	कश्मल
	३४	श्रौत्र	श्रोत्र
१०२	१	विधस्तपो	विधैस्तपो
	१३	रुचतं	रुचितं
	,,	नेत्राभ्यां	नेत्राभ्या
१०३	१०	स्वर	स्वर
		—	|
	,,	व्याम्	व्या
	११	उर्व	मुर्व
		—	— u
१०४	९	स्वर	स्वर्
	१०	स्वर	स्वर्
	२७	सग्रह	संग्रह
१०५	१४	बाधक	बाधके
	१५	त्यादित्या	त्यदित्या
१०६	५	गुंप्त्या	गुप्त्या
१०८	५	मृत्	मत्
१०९	१५	कृपणताय	कृपणतायै
	१७	धातक	धातुक
	२७	को	की
११०	११	दृजनास्त्र	द्रजनास्त्र
	१४	दान	दानं
	२९	दिक	वैदिक

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१११	९	वैष्णव्यौ	वैष्णव्यौ
		— –	—।
		|	|
	११	सुधातु	सुधातु
		|	|
	,,	यज्ञपति	यज्ञपति
		–	—
		|	|
	,,	देवयुवम्	देवयुवम्
		–	–
	१५	श्रिङ्गत	द्विङ्गत
	२४	रैकड़ों	सैकड़ों
११२	१	कुशैछि	कुशैश्छि
	२	पर-	परः
	७	वंत्वान्	वत्वात्
	८	न्याय	न्याय्य
११३	१४	र्होत्र	होत्र
	७	द्रमे	इमे
	८	तदेवा	त्तदेवा
	,,	हनूपथ	हन्त्यथ
	१०	प्रस्तुतो	प्रस्तुतो
	११	स्य	स्म
	१२	प्राप्राः	प्राप्ताः
	१४	ङ्गयवि	ङ्गयति
	,,	राय	राप
	१६	दिङ्कने	दिङ्गने
	,,	सव्यो	सव्ये
	१९	नयत्	नयत
	२०	प्रवर्तयत्	प्रवर्तयत
	३०	चाहिपे	चाहिये
११४	१	ववौ	क्वौ
	३	देवा	देव
	,,	देवायु	देवयुः
	,,	देवायुः	देवयुः
	१०	पुवोऽगे	पुवोऽग्रे
	१५	नायां	नापां
	१६	सनुद्र	समुद्र

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
११४	२०	इम यज्ञ	इमं यज्ञं
	,,	न यत	नयत
	२५	इत्युवङ्	उवङ्
	२८	इदयु: इद	इदंयु:इदं
	२९	देवायु	देवयु
११५	१	वृत्र तूर्ये	वृत्र तूर्ये
	,,	प्रोक्षिता:स्थ:	शोक्षितास्स्थ:
	२	अग्नये	अग्नये
	१५	मपराध	मपराधं
	१६	निहुते	निह्नुते
	१७	अचलपति	अपलपति
	२२	शुन्धध्व	शुन्धध्वं
	२४	शुचित्व	शुचित्वं
	,,	तदिद	तदिदं
११६	१४	रन्त:	रान्त:
	१७	मल	मत्र
	२१	त्यस्य	इत्यस्य
	,,	षोच्छिद्रं	षोऽच्छिद्रं
	२२	श्रुतिमयां	श्रुतिभ्यां
	,,	भितृभेद:	भिरभेद:
	२४	पात्रा	पात्रो
११७	२	प्रसिद्धे	प्रसिद्धे:
	४	मंद्य	मद्य
	५	मग्ने	मग्रे
	१८	नयत:	नयत
११८	६	ता	तत्
	१२	ववतुं	वक्तुं
	१६	यथाभूत	यथाभूतं
	१७	मामेत्	मायेत्
११९	८	यथाकाल	यथाकालं
	१०	पत्त्री	पत्नी
	२६	कावचन	वचन
१२०	१	अशुद्धि	अशुद्धि
	३	एव भूता:	एवं भूता:
	६	तुर्ये	तूर्ये
	७	तुर्ये	तूर्ये
१२०	८	यज्ञ	यज्ञं
	२०	लग	लोग
	२४	अवगत	अनवगत
१२१	५	सम्बन्ध	सम्बन्धं
	७	मासं	मांसं
	११	तुर्ये	तूर्ये
	१५	द्विवि	दिवि
	१६	कीर्घ	कीर्ण
	१७	तत्र	तत्त
	१८	थर्म	धर्म
	,,	बद्ध	बौद्ध
	२३	उसो	उसी
	२७	शब्दार्थ	शब्दार्थसम्बन्ध
	३१	तुर्ये	तूर्ये
१२२	१	नाशे	काशे
	,,	मेव	मेवाय
	५	कथ	कथं
	७	निमित्त	निमित्तं
	८	मण्डल	मण्डले
	९	कथ	कथं
	१२	तुर्ये	तूर्ये
	१२	त	तं
	१४	जयांश्च	अपदार्थांश्च
	१७	द्वि	दि
	२१	ईये	इये
१२३	३	तुर्ये	तूर्ये
	१६	वर्धन	वर्धनं
	२९	अग्नो	अग्नी
१२४	९	छिन्द्य	छिद्य
	१४	उपपत्ति ए	उपपत्ति
	१७	यूष्मा	युष्मा
	,,	तुर्य	तूर्य
	,,	तुय	तूर्य
	१८	प्रोक्षण	प्रोक्षणं
	,,	रे	स्वे
१२५	१	शुद्धी:	शुद्धा:
	,,	न्त्रशुद्ध	मत्राशुद्ध

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१२५	२	तस्म	तस्मा
	,,	ऽशुद्धीः	ऽशुद्धाः
	३	ख्यान	ख्यानं
	१०	उत	उत्
	१४	धिष्ठान	धिष्ठानं
	१६	य	यतोहि
	२१	लिङ्ग	लिङ्ग
१२६	१	त्मनः	त्मानः
	८	वात्मनः	वात्मानः
	,,	तुर्ये	तूर्ये
	९	तुर्ये	तूर्ये
	१०	तुर्ये	तूर्ये
	२५	सरवायाः	सखाया
१२७	८	भगवन्तं	येभगवन्तं
	,,	नित्यप्राप्तस्य	तेषां नित्यप्राप्तस्य
	३२	हाना	होना
१२८	१३	तुर्ये	तूर्ये
	१४	युद्धस्य	युद्धस्या
	१५	युयुधुः	पाण्डवसेनया युयुधुः
	१६	पाण्डवसेनया स्थ	स्थ
	२९	कामा	काम
१२९	४	वैज्ञानिका	वैज्ञानिकाः
	,,	तुर्ये	तूर्ये
	,,	णूद्जनास्त्रा	णूद्रजनास्त्रा
	६	प्राप्त्यथ	प्राप्त्यर्थ
	८	रुचिचित	रुचित
	२४	तुर्य	तूर्य
	,,	शत्रओं	शत्रुओं
	२५	उद्जना	उद्रजना
	२७	गया है	है
१३०	२	बुध्नङ	बुध्नः
	,,	वेत्तु	वेंत्तु
	१२	दात्ले	पात्ले
	१३	दात्ले	पात्ले
	१७	त्नोम्नो	लोमो
१३१	७	रसयिति	रसदिति
	,,	स्कन्दान्त	स्कन्दात्त
१३२	३	स्थूलमूल	स्थूलमूलः।
१३२	६	कण्व	काण्व
	७	वानस्पत्य	वानस्पत्यः
	९	पृथिक	पृथिव्य
	१०	स्व	स्वः
	११	ह्नि	हिन
	१४	ततत्तुतिः	तत्स्तुतिः
	१५	जन	जनं
	२१	शते	विशते
	३०	परस्पा	परस्परा
	३२	ही यदि	ही
१३३	१२	देवला	लोकप्रसिद्धत्वा
	१३	रूप	रुप
	१६	लोम्नां मृ	लोम्नामृ
	१८	धूननं	वधूननं
१३४	११	रिक्ष	रिक्षं
	२१	नस्पत्य	नस्पत्यो
	२३	दृढ़	दृढ
१३५	३	राजान	राजानं
	,,	त्यद्भय	त्यद्रय
	५	जिनायत्त	जिनाय च
	,,	सात्	सात
	,,	विधाने	निधाने
	८	ग्रावसा।	ग्रावसा-
१३६	१	यामि	याभि
	२	न्न	न
	,,	मनुष्यां	मनुष्या
	१०	बुध्न	बुध्नं
	२१	सैकडों	सैकड़ों
१३७	१	पवाम्बा	पराम्बा
	१०	पत्यड़	पत्यः
	,,	हविड़	हविः
१३८	३	यच्छेति	यच्छेदिति
	७	क्षिप्त	क्षिप्तं
	११	नीतये	वीतये
१३९	१२	कण्वो	काण्वो
	२८	सस्कार	संस्कार
१४०	१	द्वभि	द्वद्भि
	१०	वाधिक	वाधिकं

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१४०	१२	वार	वारं
	२७	हौम	होम
	३२	सहि	एहि
१४१	८	बहूलं	बहुलं
	,,	वत्वा	क्त्वा
	,,	त्यशुद्ध	त्यशुद्धं
	६	र्मिति	मिति
	१४	मूढ़	मूढ
	२७	महा-	महाभाष्य-
	३०	पाणिनि	पा० सू०
१४२	८	प्रासारितो	प्रसारितो
	,,	तद्विव	तद्वि
	१०	सपदि	सयदिदं
	११	ह्व	हवि
	१२	इद	इदं
	१७	गोवा	ग्रावा
	१६	सस्क	संस्क
	२२	सस्कु	संस्कु
	३४	उससे	उसमें
१४३	३	समर्थ्य ते	समर्थ्यते
	७	ह्णान	ह्णानं
	८	उद्धा	उद्वा
	१०	रूपाय	रूपाया
	१६	बुद्धवैव	बुद्ध्वैव
	१८	हेत	हैत
	,,	वण	वर्ण
१४५	२	सापेक्षय	सापेक्ष
	५	कितबो	कितवो
	११	जूषं	लूषं
	२६	नपूत्रीय	नप्त्रीय
	२८	एव	एवं
१४६	२	र्जन	र्जनं
	४	मह	महं
	,,	ह्यामि	हयामि
	३१	प्रत्प्रक्ष	प्रत्यक्ष
१४७	१	कुक्कुटो	कुक्कुटो

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१४७	१	जिह्वःइष	जिह्वऽइष
	२	अरातयः ।'	अरातयो
	३	अप	प
	६	हेशूर्प	हेहविः
	१३	अंगुठियाँ	अँगूठियाँ
	२३	सधन	साधन
१४८	४	भावद	मावद
	६	कदाचि	न कदाचि
	१४	षर्भणेति	र्षभेणेति
	१६	छित्व	द्वित्व
	२२	विशेष	विशेषं
१४६	५	त्यस्याः	तस्याः
	६	यज्ञ	यज्ञं
	३६	मोदत्ते	मादत्ते
१५०	३	शर्पू न	शूर्पेण
	८	करण	करणम्
	११	तूषतीमि	वितुषीकृतानि
	१७	बह्वृ	बह्वृच्
	२०	रुद	रुद्व
	२६	व पुर्वः	वायुर्व
१५१	२४	अस्ति अर्थात्	असि अर्थात्
१५२	१२	नडा	नडाना
१५३	१२	अय	अयं
१५४	६	वैश्वदेव	वैश्वदेवं
	७	मन्त्र	मन्त्रं
	८	सर्वथ पि	सर्वथापि
	,,	गना	मना
	१७	शब्दमां	शब्दमा
	१६	तुण्डुल	तण्डुल
	२३	मे	से
	२६	भवनादि	सवनादि
१५५	६	प्रेष्यति	प्रेषयति
	२०	नादमृत	नादामृत
	२३	उन्त	उत्तर

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१५५	३४	अज्ञा	आज्ञा
	३५	देहि	धेहि
१५६	६	हवणि स्फ्यकपाल	हवणी स्फ्यकपालं
	८	नामनि	नानि
	९	ययोः	द्वयोः
	१०	शकटः	कटः
	१५	मुत्त ७ँ	मुत्तरां
	२८	पवित्रच्छेनामक	पवित्रच्छेदन
	,,	पवित्र में	पवित्र
	,,	धृष्टि यानी	धृष्टि
	३१	षडक्त	षडवत्त
	,,	शकट	कट
	३६	प्रतयन	प्रतपन
१५७	२	रक्षं	रक्ष
	७	शकेट	शकटे
	८	षां	ष
	१४	उर्वन्तर	उर्वन्तरि
	१८	मसि	नामसि
१५८	३	शेषभि	शेषाभि
	५	ग्नौ	ग्रौ
	६	हवणौ	हवणी
	१७	शकट हो	शकट न हो
	२७	द्दिङ्गन	दिङ्गन
	३०	यज्ञ	यज्ञं
१५९	१२	कुट्टर्यत	कुट्टयति
	,,	वर्षवृद्धय	वर्षवृद्धम
	१८	सञ्जरण	सञ्चरण
	१९	दिलावे	हिलावे
१६०	५	जहि	जहि
	१४	मापाय	मादाय
	२०	योग्प्रता	योग्यता
	,,	सज्ञौ	संज्ञौ
	२४	कौ	को
१६१	१	आमद	आमाद
	४	ग्नीन	ग्नीत
१६१	२२	अमात्	आमात्
	७	मानि	मग्नि
	३१	क्रव्यात् है	क्रव्यात्
१६३	१३	तस्मदा	तस्माद
	१९	अमात्	आमात्
	३३	भ्रतृव्य	भ्रातृव्य
	३४	ब्रह्मण	ब्राह्मणं
१६४	३	निष्क्रव्याद्	निष्क्रव्यादं
	४	दाहक	दाहकं
	,,	प्रत्यक्ष	प्रत्यक्षं
१६५	८	ञ्चास्ति	ञ्चात्ति
	,,	द्युत्पद्यते	दुत्पद्यते
	९	या	यो
१६६	१	चान्ये	यान्ये
	,,	एत	एता
	७	यज्ञा	यज्ञ
	,,	दान्ये	यान्ये
	१०	नाग्नि	नाग्नि
	,,	वोपचारति	वोपचरति
	१६	ष्टीय	ष्टि
	२१	क्रव्याद	क्रव्यादं
१६७	१४	यन्त्रेण	मन्त्रेण
	१६	पृथिम्या	पृथिव्या
	२०	णेव	णैव
	२२	ब्राह्म	ब्रह्म
	२३	ब्राह्म	ब्रह्म
१६८	७	दृढ़ी	दृढी
	९	भृत	मृत
	१३	ववमेबत्ति	ववमेवात्ति
	,,	व्या	त्या
	१५	दृढ़ी	दृढी
	१९	क्यो	क्यों
१६	१	रक्षणाद	रक्षणार्थं
१६९	१५	त्यग्रे	त्यग्ने
	१७	कमदानी	कर्मदानी
१७०	५	वेलायां	पाकबेलायां

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१७०	६	ढयार्थं	ढ्चार्थं
	१६	हिꣳ	हि
	,,	रक्षसां	रक्षसाꣳ
१७१	३	वाशिष्टं	अवशिष्टं
	१०	तरन्ती	तपन्ती
	१५	पूण	पूर्ण
	१७	वध	वर्ध
	,,	एव	एवं
	३०	मैं	हे
१७२	४	यथार्थं	जीवनार्थं
	५	धेदो	वेदो
	६	विशिष्ट	विशिष्टं
	१३	सो	रसो
	,,	द्धय	द्धच
	१९	अर्थ	जीवन
१७४	५	श्वय	श्वर्य
	९	न ष्ट्रा	नाष्ट्रा
	१६	ꣳ तृतीयं	तृतीयं
१७५	२	म्यस	न्यस
	८	संज्ञा	संज्ञाना
	२२	आसन्	असन्
	२७	चादिन्	चारिन्
१७६	२	ग्राह्य	ग्राहय
	,,	ग्राह्य	ग्राहय
	४	नर	नरस्य
		।	।
	१४	धिषणासि	धिषणासि
		—	—
१७७	२१	प्रतिदिन	प्रतिदिनं
	२६	दृषद्	दृषदं
	३५	पेषणाथ	पेषणार्थ
१७८	१	दृषद	दृषदम्
	६	त	तं
	८	स्वभि	स्वाभि
	१७	पाव	पार्व
	३४	वणी	वाणी
१७९	१०	पर्वणे	पर्व
१७९	१६	त्या	त्वा
	२८	पर्वणे	पर्व
१८०	६	स्पष्ट	स्पष्टं
	१३	समन्यक	समन्यकं
१८१	९	स्वामी	स्वात्मी
	१२	जड़	जड
१८२	७	धान्य	धान्य
		– –	–[illegible]
	८	पाणिडः	पाणिः
		–	–
	२६	छिनु	धिवु
१८३	१०	दीर्घा प्रासितिः	दीर्घा प्रसितिं
	१६	जालं	जलिं
१८४	१	ममु	मनु
	२	युष्यैव	युष्पस्यैव
	१४	भोवतृ	भोक्तृ
	१५	पुण्य	पुष्य
	२१	उसको स्थापन करने	उस पर बैठने
	३०	भाग्य	भोग्य
	३१	पुण्य	पुष्प
	३२	पर	पद
१८५	१	वय	वप
	४	याद	यद
	१८	उडेल	उड़ेल
१८६	१	व्या	र्व्या
	१०	अनु	अनू
	१२	पदे न	पदेन
	२९	पद का	पद का अर्थ
	३५	अचय	अन्वय
१८७	१	त्वे नोक्तं	त्वेनोक्तं
	४	तस्या	तस्याः
	७	ज्ञान	ज्ञानं
	९	शून्यं	शून्य
	१५	पेषण	पेषणं
	३५	वीण	प्रीण
	,,	ताआ	ताओं
	३६	महै	महैं

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१८८	१	विलक्षणो	विलक्षणो
	७	तच्च सु	तच्चक्षु
	१६	अङ्गारै	अङ्गारैः
	२३	त्वेत्	त्वेति
१८९	३	नामं	नाम
	८	जुष्ट	जुष्टं
	९	भवति।	भवति,
	१३	मन्त्र	मन्त्रं
१९०	२	यथ	यथा
	१०	र्धि	धि
	३०	मैं	में
	३५	प्रदि	प्रति
			|
१९१	१	सवेश्विनो	सवेश्विनो
		—	—uu
	,,	भ्याम्	भ्याम्॥
	२	।सऊं	॥सऊं
		–	
	,,	भिङं	भिः
	३	मती	मती
			–
	,,	मती	मती
		–	
	१०	ज्जन	ज्ज्वल
	२५	अग्नोत्	अग्नीत्
१९२	४	प्रकाशे वा चाश्वि	प्रकाशे चाश्वि
	,,	दृढ़	दृढ
	१४	वृष्टि	वृष्टि
	१७	धीयाँ	धियाँ
	३१	लोग	लोगों को
१९३	४	ववै	सावे
	५	पात्र्य	पात्र्या
	१५	न्तर	न्तरा
	१७	सृजन्य	सर्जन्य
१९४	६	अपो	आपो
	२४	औषधयः	ओषधयः
	३०	व्राहि	व्रीहि
१९५	१	पूष्णाः	पूष्णः
	,,	किन्तु छन्दोरूपाः रेवती	रेवती
	६	नत्वेन	न्त्वेन
	८	धर्मो	धर्मो
		– –	— [
	२५	तदन	तदन्
	२६	अपादान	आपादन
१९६	१३	श्रुतैः	श्रुतेः
	१८	दम्पत्ती	दम्पती
	२४	यदि मेलन होग	मेल न हो
	३१	जब	जिससे
१९७	७	मऊं ये	माप्त्ये
	१०	थथा	यथा
	१४	वार्षि	वर्षि
	१९	प्रस्तृत	प्रसृत
	२५	अनुस्त्य	अनुक्त
	३०	चारु	चरु
१९८	३	त्वां	त्वा
	४	पूय	यूय
	६	एव	एवं
	१५	कणञ्च	कथञ्च
	३१	उसकी	उसको
१९९	१३	मि	इ
	३३	मि	इ
२००	१	सौ	सं
	२	वृत्यो	वृक्तो
	४	संवन	संयवन
	१४	द्वित्व	द्वित्वं
	१६	नानत्वम्	नानात्वम्
	२४	अष्ट्रा	अष्टा
२०१	५	मर्थो	मर्धो
	११	द्वा	दृवा
	१४	अर्क	ऊर्क्
	१५	मन्त्रे	मन्त्रेण
	३०	णक्तिः	णक्ति
	३३	विश्ववायु	विश्वायु
२०२	१४	घ्न	घ्न

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२०२	३४	द्वा	द्‌वा
२०३	६	ग्नि	ग्नि
२०४	२	त्रो	त्रा
	१३	यप्रवर्ग्य	प्रवर्ग्य
	३१	अर्थात् अभिलषपीय	अभिलषणीय
	३६	भस्रा:	भस्त्रा:
२०५	८	यितु	यतु
	६	। भि	त्रि
	१६	धो	धों
२०६	२	धानासू	धानासु
	४	भिवा	वभिवा
	८	७ ं ये	प्त्ये
	,,	न्तमान	न्दमानं
	६	ङ्गलि	ङ् गुलि
	११	ता	तात्वं
	१६	मिति	रिति
	२७	आरत्य	आप्त्य
२०७	१	तद	तदा
	२	लेमिरे	लेभिरे
	२६	अह	अहं
	२६	लिसे	लिये
२०८	१३	न्तात्तरं	न्ततारं
	,,	न्प	म्प
	३४	बैंस	वैंसे
२०९	५	मंत्वेन	मत्वेन
	१३	नच्चो	नञ्चो
	१४	निनयन	निनयनं
	३०	शोधते	शोध्यते
२१०	७	घं	द्यं
	८	णत्	णत
	,,	मीषा	भीषा
	,,	ऽयः	ऽपः
	६	ऽमि	ऽभि
	,,	४ पू	ष्ठ्यू
	१२	मार्ग्नि	मर्गिन
	१३	मते	गते
	२१	पूव	पूर्व
२११	१	यथेवं	यथेदं
	५	वदप	वध्य
	६	उप	उष
	६	वेषु	वैषु
	१०	जनं	जन
	१७	दक्षिणेन	ऽदक्षिणेन
	१६	अप्त्यों	आप्त्यों
	२३	उप	उष
	३५	यजवे	यजते
२१२	२	भोति	भीति
	११	स्वा	स्या
	१३	मेघो	मेधो
	१४	मेघं	मेधं
	१६	पहूँ	पहुँ
	३१	मेघ	मेध
	३२	मेघ	मेध
	३३	मेघको	मेधको
	,,	मेघके	मेधके
	३४	मेघवत्	मेधवत्
२१३	२	हिः	हि
	,,	थास्ति	थास्थि
	,,	पिष्य	यिष्य
	३	धार	घाट
	,,	मज्जा न	मज्जानं
	,,	संपश्चत	संपद्य
	७	ह्य ते	हैते
	१६	यद	यदा
	१८	मेघ	मेध
	२०	मेघके	मेधके
		।	।
२१४	१	प्रसवेऽश्वि	प्रसवेऽश्वि
		— ——	—uu
	,,	म्याम्	म्याम् ।।
	३	वधः	व्वधः
			–
	१०	हरणर्थ	हरणार्थं
	,,	तद्‌भावे	तदभावे

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२१४	१३	लभ्यं	लभ्य
	१५	भृष्ट	भृष्टि
२१५	१	ग्नि	नि
	७	पदाथै	पदार्थ
	१०	दुखानां	दु:खानां
	१२	मविशिष्ट	विशिष्ट
	३४	बाहु	बाहुसे
२१६	७	तृतीाद्	तृतीयाद्
	१२	यत	यत्
	२०	कर	कह
२१७	१	भ्यां पूषाभाग- दुह्यस्तत्तस्यैव	भ्यामश्विनाव- ध्वर्यू तत्तयोरेव
	३	स्मा	मा
	३१	जा	जो
२१८	२३	के	से
२१९	१	यजामे	षस्वजाते
	३	सख्य	संख्य
	६	तेजो	तेजस्त्वं
	१२	परभ	परम
	,,	शतेनपाशैर्यो – – – –	शतेनपाशैर्यो – – –uu
२२०	८	वज्र	व्रजं
	१०	वज्र	व्रजं
२२१	३	यसा	यज्ञा
	४	ऽस्था:	ऽस्या:
	३१	जड	जड़
२२२	१	दुष्टान्तं	दुष्टानां
२२३	१६	बाधन्ते	बाधन्त
२२४	६	गे	रे
	१०	निगमन	निगमनं
	१३	व्रज	व्रजं
२२५	५	पान्नेन	पापन्नेन
	१५	दिनि	दिर्नि
	१६	च्चेति	च्छेति
	२६	व्रज	व्रजं
२२६	८	गोष्ठाने	गोष्ठानं
	२१	वृत्र और	और वृत्र के
२२७	७	कार	कारक
	८	गोष्ठानं –	गोष्ठानं – –
	९	पाशैर्यो ‿‿‿	पाशैर्यो – uu
	११	पाशैर्यो –‿–	पाशैर्यो – uu
२२८	६	नादृधृतां	नोद्धृतां
	१३	वार	वारं
	१५	सतृण	सतृणं
	२४	हा	हो
२२९	४	कदाचितं	कदाचित्तं
	५	मुञ्चतु	नमुञ्चतु
	८	त	तं
	९	द्वेष्टार	द्वेष्टारं
	१२	ताड़	ताड
	१३	कानि	कानिचित्
२३०	२	वथा	यथा
	२२	करनेपर	में
२३१	११	चे	चि
	१७	निसार	नि:सार
२३२	१	त्ति	प्ति
	२	ष्ऽय	ष्त्य
	८	मन्त्रक	मन्त्रकं
	२३	(१।२।४।१७)	(१।२।४।१७) से
	२६	तित्तिरी	तित्तिरि
	२९	व्रज	व्रजं
२३३	५	व्रज	व्रजं
	६	सर्व	सर्वं
	२४	बल	बलसे
	२७	इस	इसलिये
	३०	पृथिव्यादि	पृथिव्यादि तीन लोक हैं।
२२४	२	प्रत्यक्ष	प्रत्यक्षं
	७	द्रपन	द्रप्स
	८	त्वे	त्वै
	१९	उत्पादन	उपपादन
	२७	परिणाम	परिमाण

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२३४	२८	अपूर्व	पूर्व
२३५	३	भाग	भागे
	५	भूं	भू
	६	हा	स वै
	११	सूक्ष्मा	सुक्ष्मा
	,,	जस्व	र्जस्व
	१२	पारि	परि
	३६	सूक्ष्मा	सुक्ष्मा
२३६	६	विधा	विद्या
	८	पटनं	पठनं
	१४	नेव	न्येव
	,,	त	तं
	१६	ष्वती	स्वती
	१७	सुखदा	सुषदा
	२६	जा	जो
२३४	३	शक्यन्ते	शक्यते
	,,	मेंव	मेव
	७	त्येव	न्त्येव
	८	भूवन	भुवन
२३८	१०	अचयन्तः	पूजयन्तः
	१८	ददम्	दद्रुम
२३९	१	जिहीडिंरे	जिहीडिरे
	,,	न्देति	न्तेति
	१५	ष्यामि	ष्यन्ति
२४०	३	यूक्त	मोक्त
	८	शवय	शक्य
	१३	ङ्गु	ङ्गं
	१५	म्ला	म्लो
	१७	विष्णु	विष्णुः
	१८	ते	तै
	२१	ग्राह	ग्रह
२४१	,,	। वत	।
	२	एवमत	अतएव
	७	पूर्व	पूर्वं
	३३	छन्दसे	छन्दसा
	३४	सूक्ष्मा	सुक्ष्मा
२४२	४	अर्क	ऊर्क्
२४२	१५	ग्रह्यो	ग्रहयो
	२३	अर्क्	ऊर्क्
	२६	प्रशंशा	प्रशंसा
	३१	उतनी	उतने
२४३	१	गृह्णाति	गृह्णामि
	४	मन्येन	मन्येत
	५	श्रतो	मतो
	६	यो षा	योषा
	,,	वैं	वै
	१४	रां सा	रांसा
	१६	व्यव	व्या
	,,	व्यव	व्या
	१९	सूक्ष्मा	सुक्ष्मा
	२०	सवत्सर	संवत्सर
	२२	स्यत्	स्यात्
	२४	रत्नी	अरत्नि
	२६	प्रग्	प्राग्
	२७	वैदि	वेदी
	३३	पश्चित	पश्चिम
	३५	रां सा	रांसा
२४४	१	वैदिः	वेदिः
	४	रां सेति	रांसेति
	३०	बाधक का	बाधक
२४५	४	ण	ण
	१३	तासु	तामु
		–	–
	,,	द्विष	द्विष
		—	–
	१४	वधोऽसि	वधोसि
		⌣⌣	⌣L
	२५	सुषदां	सुषदा
२४६	७	स्थल	स्थलं
	६	समन्त्य	सम्मन्त्य
	१७	मिः	मि
	२४	थूमि	भूमि
२४७	३	अग्नीध्रं	आग्नीध्रं
	७	पयित	पित

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२४७	१४	। रीत्या	रीत्या
	२५	याग हैं	याग करते हैं
	३२	क्षित्वा	जित्वा
	११	दिवि	ति
२४८	१३	बह्यः	बह्व्यः
	२५	करे	करें
	२७	थी	थीं
	२८	मसी	मसि
	३०	दयेत्	दय
२४९	१३	नदधत	न्यदधत
	१५	निः	नि
	२१	जा	जो
	२६	लगे	लेंगे
	२७	हा	ही
	२९	सपदिति	स यदिति
२५०	३	मसिस्त	मासीत्त
	,,	ह	ऽपि ह
	८	पुरुषोद	पुरुषादे
	९	वाक्याथे	वाक्यार्थ
	१२	स्तदानुः इति	रदानुः इति
	,,	जीवदानु	जीरदानु
	२०	सङ्गो	सङ्गा
	२८	दानुक्	दानुः
२५१	५	ग्रामां	ग्रामा
	६	महन्नाम स्नु	महन्नामसु
	,,	प्यादृधृत्या	प्योदृधृत्या
	८	भूतां	भूता
	१२	सरांशं	सारांशं
	१३	स्थां	सा
	१५	यज्ञय	यज्ञिय
	१६	कृष्ण	कृष्णं
२५२	३	ब्रह्म	ब्राह्म
	,,	ममं	मं
	,,	जुगु	जूगु
	५	मुद्यच्छे	मृच्छे
	६	प्रोक्षणा	प्रोक्षणी
	,,	त्यादिक	त्यादिकं
२५२	७	प्राक्षत्य	प्रोक्षत्या
	,,	तदश	तदंश
	९	जुगु	जूगु
	,,	गूपू	गुपू
	२६	अजुगुपताम्	अजूगुपताम्
२५३	१	तां	। अथैतां
	११	अमुष्यै	अमुष्मै
	,,	हैवै वै	हैवै
	१४	ह्य वेन	हैवैनं
	,,	मन्त्रार्थस्तु	। मन्त्रार्थस्तु
	,,	मित्येवं	मीत्येवं
	१६	आसुस्तः	आसुस्त—
	१८	तां	अथैतां
	२०	वेद	वेदी
	,,	को,	को
	३०	स्पय,	स्पय
२५४	१३	रस	रसः
	,,	होचुः	ते होचुः
	,,	येज	यज
	,,	उन न	उ न
	१४	न्ति	न्तीति
	३०	वाले अङ्गिरस आदि	वाले
	,,	अपने	अङ्गिरस
	३४	यते	यजे—
	३५	मही	महि
२५५	१	मनुष्यानुष्यानुक्तात्	मनुष्यानुक्तवान्
	३	रङ्गि	राङ्गि
	,,	परिषूतं	देवानां परिषूतं
	४	माचारिष्ठ	मचारिष्ट
	,,	मर्शे	मर्शं
	५	स्तर	षष्तर
	१०	नष्ट	नष्टि
	१२	वर्शे	वमर्शं
	,,	स्तर	षस्तर
	२३	मुक्तः	युक्तः
	,,	भूत	ऽभूत
	२९	मांस	मांसा

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२५५	१६	नखलग्नाभ्यामर्थात्	र्थात्
	२०	रङ्गि	राङ्गि
	२२	है कि	है
२५६	८	मश	मर्ष
	,,	नाय	नायं
	११	इति	इति ।
	१६	रोषा	दोषा
	२४	(पापभागि)	पापभागिता
२५७	६	द्वा	द्वा
			—
	८	ध्यायै	ध्यायै
		‿	–
	१९	सूयै	सूर्य
	२६	"शिता"	"अविशितोऽसि
२५८	२५	इन्ध्या	इध्या
	,,	ध्यै	ध्यायै
२५९	४	ष्टप्त	ष्टप्तं
	६	ष्ट	ष्टं
	७	ष्ट	ष्टं
	९	ताड़	ताड
	१०	कत्त	कर्त
	१२	ष्ट	ष्टं
	१४	रतय:	रातय:
	२१	जयन्तु	जंयन्तु
	३१	हूँ	है
२६०	२	निशि	अनिशि
	३	भूव	भून्
	,,	कृतो	कृत्यल्युटो
	,,	वार्तिकेन	सूयेण
	४	"शिशये"	'क्षि क्षये'
	७	घृणु	घृणु
	१८	निशिता	से अविशिता
	२०	कृतो	कृत्यल्युटो
	,,	इति	इस
	२१	बार्तिक	सूत्र
	,,	शिशये	क्षि क्षये
२६१	२	र्थां	र्था

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२६१	६	वर	वंर
	१५	नार्हो	नार्हा
	१७	याय	यायै
२६२	१	स्पो	ष्पो
		—	⌊।
	,,	ऽद	ऽद
		—	
	११	मितेन	मितेन
	२०	णिक्	णित
	,,	आदित्यै	अदित्यै
२६३	२	गुण	गुणं
	१५	वसि	विषि
	,,	राग्न	राग्र
२६४	३	च ।	च
	,,	सस्कृ	संस्कृ
	७	भूत	भूतं
	,,	आदित्यै	अदित्यै
	११	त	तं
	१५	रिक्ष	रिक्षं
२६६	१६	आदित्यै	अदित्यै
	२६	मन्त्रासे	मन्त्रसे ।
	३०	शब्दसे	शब्द
२६७	२	ह्न ते	ह्नुते
	३	इवे	इवै
	८	धर	ध
	१०	ह्न ते	ह्नुते
	१८	इवे	इवै
	२१	मुञ्चो	मुच्यो
	२८	देनेसे उस देवपत्नी का जो बैठने का स्थान है उसे छोड़ देनेसे उस	देने से उस
२६८	५	पद	पदं
	६	द्रव	हर
	,,	हव	तदाहव
	१०	थं: ।	थ
	११	दना	दन्त
	१२	स्मात	स्माद

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
	१२	यस्योये	यस्य
	,,	तस्त्र	तत्र
	२१	नातेन	नार्तेन
	,,	चक्षुषा	चक्षु
२६९	५	पत्यै	पत्ये
	८	पत्नी	पत्नीं
	२८	श्रयण	श्रवण
२७०	६	त्युप्	त्युप
	७	शास्त्र	शास्त्रं
	२६	हा	ही
	२९	राज्य	आज्य
	३३	आदित्याः	अदित्या
	३५	से	से।
	,,	उसके लिये	इसके लिये इस
		इसकी रसना	रास्ना को
२७१	१	व्याप्तो	व्याप्तौ
	६	सिद्ध्ये	सिद्धये
	११	चक्षु	चक्षुष
	१३	स्थान	स्थानं
	,,	याग	यागं
		।	।
२७२	३	तेजोऽसि	तेजोसि
	११	पुनाति	पुनाति सवितुस्त्वा
	१९	स्त्वा	सवितु स्त्वा
२७३	१	दैवै	देवै
२७४	१०	तादृशा	तादृश
२७५	१२	रूप	रूपं
२७६	१४	अतौ	अतो
	२९	का ही अवक्षेण	यजमान से ही
		करते	अवेक्षण कराते
२७७	४	वंचनम्	वँचनम्
	७	ऽय	ऽयं
२७९	१	तस्मात्	तस्मादु
	४	मुष्यै	मुष्मै
	८	देवा	देव
	२५	तीण	तीर्ण

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२७९	२६	जा	जो
	२७	स्वीक	स्वकी
२८०	२	नाम	नामा
	३	स्थ	स्य
	७	मिमदोष	मिमं दोषं
	३४	नू	नु
	४	यत्रात्रा	यत्रात्ता
	६	माण	माणं
	१४	मे	में
	१८	भ्रतृ	भ्रातृ
	२३	है	कहा है
२८२	२	नैव	नैवं
	६	जुहोति	व्रतज्जुहोति
	६	देवय	द्य
	७	म्य	भ्य
	८	ह्वा	हणा
	,,	भेन	भे
	९	द्	दु
	,,	ढ़	ढ
२८२	६	यत्ते	मयि यत्ते
	,,	ह्रोति त	ह्वरेति तं
	१०	ग्रहण	ग्रहणं
	,,	शसति	शंसति
	११	ह्वा	हणा
	१२	जुह्वांम	जुह्वाम
	१३	रहो	रही
	२३	फो	के
	२७	का	को
	३१	उस	उससे
२८३	१	स'	सं
	६	द्	द्द
	८	इति	इति
	१९	समां	से
	,,	ठीक है	ठीक नहीं है
२८४	२	दृसि	दृमि
	७	तात्	तत्
	,,	त	तं

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
२८४	१०	वद	वदं
	११	प्रजा	प्राजा
	१४	घर्षण	धर्षण
	१६	होने	न होने
	२४	करना	करता
	२८	अज्य	आज्य
	३४	आह्व	आह्वव
२८५	६	युर्यजमानयो	युर्यजमानयो
	८	ह्वयति	आह्वयति
	९	मनन्त्रा	मन्त्रा
	१८	आदित्या	अदित्या
	,,	वह अध्वर्यु	अध्वर्यु
	२२	स्त नूः	स्तनूः
	,,	ह्वा न	ह्वान
	२६	कुक्कुयेक्कुऽसि	कुक्कुटोऽसि
	२८	वर्षवृद्धिम्	वर्षवृद्धम्
	३६	रुप से	शूर्प से
२८६	१	पूर्वै	पूर्वं
	५	प्रेरयत	प्रेरयति
	४	ततोऽग्नेऽग्नि	ततोऽपाग्नेऽग्नि
	९	ततोरुण	ततोधरुण
	१०	रख्खे	रखे
	५	ततो याज	ततो आदेवयज
	२०	यजव्व	यजंव
	२१	लायं	लाये
	२८	ह० व्रह्म०	हव्रह्म
	२९	धर्वमसि	धर्व मसि
२८७	३५	प्रादक्षिष्येन	प्रदक्षिष्येन
	३	तोद्वे	तो द्वे
	,,	नमू	नम्
	७	सयव	संयव
	८	पूववद्ध	पूर्ववद्धू
	१४	निमित	निर्मित
	१६	तान	तानि
२८८	२	रग्नीधा	राग्नीध्रा
	३	अग्नीधा	आग्नीध्रा
	५	धि	धि—
	८	त्रिर्वां	त्रिर्वा
	९	रितं ꣳ	रितꣳ
	११	दभं	दर्भ
	१५	याद्या	याध्या
२९०	१	पारुरु	पारु
	५	प्रहरात	प्रहरति
	६	क्षेपण	क्षेपणं
	५	तष्तृ	तस्तृ
	६	व्रह्मन्	व्रह्मन्
	,,	व्रह्माण	व्रह्माणं
	९	तता	ततो
	११	समृ	संमृ
	१२	त्र्यङ्गलमू	त्र्यङ्गुलम्
	१३	ग्नीधं	ग्नीध्रं
	३६	मरु	मेरु
२९१	५	पढा	पदा
	८	ग्नि	ग्नि—
	१९	णाडिन	णाग्नि
	२०	अन्वहार्य	अन्वाहार्य
	२८	की	को
	२९	भागे	भाग में
	३१	में में	में
	३५	अथीत्	अर्थात्
२९२	१	स्रुव	स्रुव
	३	व्रध्ना	बुध्ना
	६	ध्रुवाञ्च	ध्रुवञ्च
	,,	प्रतत	तत
	८	णा	णा—
	९	माष्टि	मार्ष्टि
	१४	खीचने	खींचने
	१९	कग्ना	करना
	३४	संप्ह्रियेत	संह्रियेत
२९३	३	र्यवेद	युर्वेदं
२९४	२	गृहाति	गृह्णाति
	४	मणात्	माणात्
	१७	प्रे ''षों	प्रैषों
	२५	कात्यश्रौत	कात्यायनश्रौत
२९५	३	च्चैः	उच्चैः
	२१	मुज्ज	मुँज्ज
	३६	हात	हाथ
२९६	२	ममे	मम
	२८	यानि	यानी